पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[प्रथम खण्ड]

3889

हेराल्ड एम० विनाके

भारत सरकार की मानकग्रंथ-योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 3889
Book No. 950
वि पू I

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रमांक 3889
प्राप्ति तिथि 27.2.70
State Museum, Library, Lko.

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रमांक ——
प्राप्ति तिथि ——
State Museum, Library, Lko.

[illegible]

पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[प्रथम खण्ड]

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या 3889
प्राप्ति तिथि 27.2.70
State Museum, Library, Lko.

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—९४

पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[प्रथम खण्ड]

लेखक

हेराल्ड एम्० विनाके, पी० एच्० डी०

प्राध्यापक, सिनसिनाटी विश्वविद्यालय

अनुवादिका

कुमारी मिसला मिश्र, एम्० ए०

हिन्दी समिति, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६४

[Translated from *A History Of The Far East In Modern Times* by Harold M. Vinacke, PH. D. Professor of International Law and Politics, University of Cincinnati, Published by Appleton-Century-Crofts, Inc. New York, 1950.]

950
वि पू I

मूल्य
आठ रुपये, पचास नये पैसे
८.५०

State Museum Library Lucknow
3889

मुद्रक—नरेन्द्र भार्गव, भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक-से-अधिक संख्या में तैयार किये जायँ। शिक्षा मंत्रालय ने यह काम अपने हाथ में लिया है और इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रन्थों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से आरम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य शिक्षा-मन्त्रालय स्वयं अपने अधीन करा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग प्रदान कर रहे हैं। अनूदित और नये साहित्य में भारत सरकार की शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके अंग्रेजी संस्करण के लेखक सिनसिंनाटी-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हेराल्ड एम्० विनाके पी. एच. डी. हैं और इसका हिन्दी अनुवाद कुमारी मिसला मिश्र ने किया है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थों के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायेगा।

मुहम्मद अली करीम चागला

शिक्षा मन्त्री

भारत सरकार

क्रम संख्या 3889
प्राप्ति तिथि 27.2.79
State Museum Library

प्रकाशकीय

पूर्वी एशिया के देशों का आधुनिक इतिहास प्रायः उस समय से आरम्भ होता है जब से वे पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आये। चीनी शक्ति को कमज़ोर पाकर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि ने किस तरह विविध कूटनीतिक दांवपेंच अपनाकर उससे आर्थिक और व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं और किस तरह पहले पूँजी लगाने का अवसर तलाश कर बाद में उसकी रक्षा के बहाने सैनिक बलप्रयोग द्वारा उसे घुटने टेकने के लिए विवश किया, प्रतिक्रियास्वरूप किस तरह वहाँ विद्रोह हुए, क्रान्ति हुई और क्रमशः एक शक्तिसम्पन्न पूर्ण सत्ताप्राप्त राज्य की स्थापना हुई, इसका वर्णन विद्वान् लेखक ने अपने ढंग से किया है।

चीन की अपेक्षा जापान ने पश्चिमी सम्पर्क में आकर अधिक तेजी से उन्नति की और १८९५ में उसने चीन को तथा १९०५ के युद्ध में रूस-जैसे विशाल देश को परास्त कर दिया। लगभग एक शती के इन देशों के इतिहास से, जिसमें मंचूरिया तथा कोरिया पर प्रभाव स्थापित करने के लिए चीन, जापान और रूस की पारस्परिक होड़ एवं जापान के प्रशान्त सागरिक उत्कर्ष की कहानी भी शामिल है, हमें यथेष्ट शिक्षा मिल सकती है।

इसमें राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ पूर्वी एशिया की उन आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का भी विवेचन किया गया है जिन्होंने चीन और जापान को उन्नति-सोपान के ऊँचे स्थान तक पहुँचाने में सहायता की है। अंग्रेजी में इस पुस्तक की अच्छी ख्याति है। हिन्दी के पाठक भी इससे लाभ उठा सकें, इसी उद्देश्य से यह अनुवाद दो खण्डों में हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। पहला खण्ड आप के सामने है। दूसरे में चीन-जापान के द्वितीय युद्ध, प्रशान्तसागरीय महायुद्ध तथा हिन्द-चीन, थाईलैण्ड, हिन्देशिया, फिलिपीन्स आदि का वर्णन रहेगा। उसे भी यथासंभव शीघ्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जायगा।

आशा है, इसमें समाविष्ट तथ्यों तथा निष्कर्षों से देश में राष्ट्रीय एकता की जड़ें मजबूत करने, अपनी कमजोरियों को समझने तथा कृषि के आनुषंगिक उद्योग के रूप में कुटीर-शिल्पों की ओर अधिक ध्यान देने में हमें यथेष्ट सहायता और प्रेरणा मिलेगी।

ठाकुर प्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

विषय-सूची

पहला अध्याय १

चीन, मंचू शासन-काल में

देश और उसके आर्थिक साधन १; लोग, पूर्व–आधुनिक समाज ३; सांस्कृतिक जीवन १६; राजनीतिक प्रणाली १८।

दूसरा अध्याय ३१

चीन का विदेशों से संपर्क-स्थापन

पश्चिम से प्राचीन संबंध ३१; कैण्टन व्यापार ३४; आंग्ल-चीनी सम्बन्ध; आंग्ल-चीनी युद्ध के कारण और परिणाम ४६; संधि संबंधों की स्थापना ५०; संधि-पुनरीक्षण ५४।

तीसरा अध्याय ५९

विदेशी संघट्टन (१८६०–१८९४)

विद्रोह की पूर्ववर्ती परिस्थितियाँ ५९; विदेश संबंध ५९; चीनी उत्प्रवास ६३; विदेशियों के प्रति अभिवृत्ति ६६; विदेशी शक्तियों के हित तथा नीतियाँ ६९; आंतरिक राजनीतिक परिस्थितियाँ ७१; परिवर्तन का आरम्भ ७८।

चौथा अध्याय ८४

जापान का खुलना

सुदूर पूर्व के इतिहास में सन् १८९४ का महत्त्व ८४; देश और लोग ८५; प्रत्यावर्तन-पूर्व राजनीतिक प्रणाली ८८; जापानी समाज व संस्कृति ९२; प्रारम्भिक विदेशी संपर्क ९५; तोकूगावा शोगुनों के काल में आंतरिक परिस्थितियाँ ९६; कमोडोर पेरी का आगमन ९९; पश्चिम से संपर्क-स्थापन १०३; एकान्त समाप्ति के आंतरिक प्रभाव १०४।

पाँचवाँ अध्याय १९०

जापान, संक्रमण काल में (१८६८–१८९४)

मीइजी की पुनस्संस्थापना ११०; सामन्ती व्यवस्था का अन्त ११२; अहलकारी समाज में मतभेद ११५; वैधानिक आन्दोलन १२०; १८८९ का विधान १२३; विधान के अन्तर्गत शासन, परराष्ट्र-संबंध १२६; सामाजिक व आर्थिक विकास १२८।

छठा अध्याय १३६

कोरिया के लिए प्रतियोगिता

आधुनिक युग से पूर्व के कोरिया से चीन व जापान के संबंध १३६; कोरिया का द्वार उन्मुक्त होना १३८; कोरिया की आन्तरिक परिस्थिति १४२; कोरिया पर आधिपत्य का संघर्ष १४५; सन् १८९४–१८९५ के चीन-जापान युद्ध के कारण १५१; युद्ध-क्रम १५७; शिमोनोसेकी की संधि १५८।

सातवाँ अध्याय १६२

"चीनी साम्राज्य की लूट-खसोट"

युद्ध के परिणाम १६२; रूस का दक्षिण प्रयाण १६३; जर्मनी का बढ़ाव १६५; 'रिआयतों की लड़ाई' १६६; दिलचस्पी के क्षेत्र १६७; अमरीका की दिलचस्पी व दृष्टिकोण १७०; 'उन्मुक्त द्वार' नीति १७२; सुधार के "१०० दिन" १७५; मुक्का-आन्दोलन १७८; मुक्केबाजी का परिणाम १८१।

आठवाँ अध्याय १८३

रूस-जापान युद्ध

रूस और जापान—स्वाभाविक शत्रु, सन् १९०० में मंचूरिया की स्थिति १८३; मंचूरिया में रूस १८५; जापान के हित १८६; सन् १९०० व उसके बाद की रूसी नीति १८७; सन् १९०२ का आंग्ल-जापानी समझौता १९२; कोरिया का प्रश्न १९६; कोरिया व मंचूरिया के प्रश्नों का एकरूपीकरण १९८; रूस-जापान युद्ध १९९; पोर्ट्स माउथ की संधि २०२।

नवाँ अध्याय २०५

चीन में पूँजीगत साम्राज्यवाद

चीन की विजय के ढंग २०५; चीन में प्रारम्भिक पश्चिमी दिलचस्पी २०६; पूँजी व राजनय के संबंध २०८; चीन की वित्तीय समस्याओं की विशेषताएँ २१०; विदेशों की पूँजी लगाने की काररवाइयाँ (१८९५–१९०८) २११; पूँजी में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग २१९; यूरोपीय युद्ध व क्रान्ति के प्रभाव २२१; रेलवे-निर्माण चीन का दृष्टिकोण व दिलचस्पी २२३।

दसवाँ अध्याय २२६

चीन में क्रान्ति व सुधार

परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत सुधार हुए २२६; सुधार का प्रथम दौर २२८; वैधानिक आन्दोलन २३०; क्रान्ति के कारण २३५; क्रान्तिकारी गुटों का प्रभाव २३८; विद्रोह के तात्कालिक कारण २४०; सन् १९११ की क्रान्ति २४२; शान्ति के लिए समझौता २४६; समझौता २४७।

ग्यारहवाँ अध्याय २४९

छाया गणतंत्र (१९१२–१९२६)

सन् १९१२ की आंतरिक परिस्थितियों की समीक्षा २४९; क्रान्ति का अर्थ २५१; नयी सरकार २५५; सरकार की समस्याएँ २५६; संसद् बनाम युआन शिह-का'ई २५९; राष्ट्रपति की तानाशाही २६४; परराष्ट्र संबंध २६६; राजतंत्र आन्दोलन २६७; गणतंत्र का पुनरुज्जीवन २७१; सैनिक सत्तारोह २७३।

बारहवाँ अध्याय २७८

चीन की प्रगति—आर्थिक और सामाजिक (१९००–१९३१)

राजनीतिक स्थिरता प्रगति के लिए पूर्ण पूर्व-आवश्यकता नहीं २७८; विदेशी व्यापार २७९; कृषि जीवन में परिवर्तन २८३; औद्योगिक विकास २९०; औद्योगिक विकास का व्यापारिक संघ-पद्धति पर प्रभाव २९३; श्रमसंगठन और समस्याएँ २९६; चीनी उद्योग में विदेशी साझेदारी का प्रभाव २९९।

पाँचवाँ अध्याय ११०

जापान, संक्रमण काल में (१८६८–१८९४)

मीइजी की पुनस्संस्थापना ११०; सामन्ती व्यवस्था का अन्त ११२; अहलकारी समाज में मतभेद ११५; वैधानिक आन्दोलन १२०; १८८९ का विधान १२३; विधान के अन्तर्गत शासन, परराष्ट्र-संबंध १२६; सामाजिक व आर्थिक विकास १२८ ।

छठा अध्याय १३६

कोरिया के लिए प्रतियोगिता

आधुनिक युग से पूर्व के कोरिया से चीन व जापान के संबंध १३६; कोरिया का द्वार उन्मुक्त होना १३८; कोरिया की आन्तरिक परिस्थिति १४२; कोरिया पर आधिपत्य का संघर्ष १४५; सन् १८९४–१८९५ के चीन-जापान युद्ध के कारण १५१; युद्ध-क्रम १५७; शिमोनोसेकी की संधि १५८।

सातवाँ अध्याय १६२

"चीनी साम्राज्य की लूट-खसोट"

युद्ध के परिणाम १६२; रूस का दक्षिण प्रयाण १६३; जर्मनी का वढ़ाव १६५; 'रिआयतों की लड़ाई' १६६; दिलचस्पी के क्षेत्र १६७; अमरीका की दिलचस्पी व दृष्टिकोण १७०; 'उन्मुक्त द्वार' नीति १७२; सुधार के "१०० दिन" १७५; मुक्का-आन्दोलन १७८; मुक्केबाजी का परिणाम १८१ ।

आठवाँ अध्याय १८३

रूस-जापान युद्ध

रूस और जापान––स्वाभाविक शत्रु, सन् १९०० में मंचूरिया की स्थिति १८३; मंचूरिया में रूस १८५; जापान के हित १८६; सन् १९०० व उसके वाद की रूसी नीति १८७; सन् १९०२ का आंग्ल-जापानी समझौता १९२; कोरिया का प्रश्न १९६; कोरिया व मंचूरिया के प्रश्नों का एकरूपीकरण १९८; रूस-जापान युद्ध १९९; पोर्ट्स माउथ की संधि २०२ ।

नवाँ अध्याय २०५

चीन में पूँजीगत साम्राज्यवाद

चीन की विजय के ढंग २०५; चीन में प्रारम्भिक पश्चिमी दिलचस्पी २०६; पूँजी व राजनय के संबंध २०८; चीन की वित्तीय समस्याओं की विशेषताएँ २१०; विदेशों की पूँजी लगाने की काररवाइयाँ (१८९५–१९०८) २११; पूँजी में अन्तरराष्ट्रीय सहयोग २१९; यूरोपीय युद्ध व क्रान्ति के प्रभाव २२१; रेलवे-निर्माण चीन का दृष्टिकोण व दिलचस्पी २२३।

दसवाँ अध्याय २२६

चीन में क्रान्ति व सुधार

परिस्थितियाँ जिनके अन्तर्गत सुधार हुए २२६; सुधार का प्रथम दौर २२८; वैधानिक आन्दोलन २३०; क्रान्ति के कारण २३५; क्रान्तिकारी गुटों का प्रभाव २३८; विद्रोह के तात्कालिक कारण २४०; सन् १९११ की क्रान्ति २४२; शान्ति के लिए समझौता २४६; समझौता २४७।

ग्यारहवाँ अध्याय २४९

छाया गणतंत्र (१९१२–१९२६)

सन् १९१२ की आंतरिक परिस्थितियों की समीक्षा २४९; क्रान्ति का अर्थ २५१; नयी सरकार २५५; सरकार की समस्याएँ २५६; संसद् बनाम युआन शिह-का'ई २५९; राष्ट्रपति की तानाशाही २६४; परराष्ट्र संबंध २६६; राजतंत्र आन्दोलन २६७; गणतंत्र का पुनरुज्जीवन २७१; सैनिक सत्तारोह २७३।

बारहवाँ अध्याय २७८

चीन की प्रगति—आर्थिक और सामाजिक (१९००–१९३१)

राजनीतिक स्थिरता प्रगति के लिए पूर्ण पूर्व-आवश्यकता नहीं २७८; विदेशी व्यापार २७९; कृषि जीवन में परिवर्तन २८३; औद्योगिक विकास २९०; औद्योगिक विकास का व्यापारिक संघ-पद्धति पर प्रभाव २९३; श्रमसंगठन और समस्याएँ २९६; चीनी उद्योग में विदेशी साझेदारी का प्रभाव २९९।

तेरहवाँ अध्याय ३०२

चीन की प्रगति—बौद्धिक और सांस्कृतिक

राजनीतिक क्रान्ति तथा बौद्धिक जागृति का द्वन्द्वकाल ३०२; शैक्षणिक विकास ३०३; समाचार-पत्र तथा बौद्धिक जागृति ३०९; साहित्यिक क्रान्ति ३१०; बौद्धिक उफान ३१२; विद्यार्थी-आन्दोलन ३१३; परिवार पद्धति में परिवर्तन ३१६; धार्मिक शंकावाद ३१९; चीनी कलाएँ और भवन-निर्माण-विद्या ३२५; नाटचगृह और मनोरंजन ३२६।

चौदहवाँ अध्याय ३३०

जापान की बौद्धिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति

नेतृत्व पर विश्वास २३०; लोगों के जीवन में परिवर्तन ३३१; शिक्षा ३३३; महिलाओं का समाज में स्थान ३३४; परिवार-पद्धति ३४०; वर्ग-विभेद की समाप्ति ३४१; साहित्य और समाचार-पत्र ३४६; जापानी कला-कौशल ३५१; धर्म ३५४।

पन्द्रहवाँ अध्याय ३५९

जापान की आर्थिक व राजनीतिक प्रगति (१८९५–१९३१)

राजनीतिक दलों का विकास ३५९; राजनीतिक दल व सरकार ३६३; राजनीतिक विकास का पुनरारम्भ ३६४; राजनीतिक विकास पर युद्ध का प्रभाव ३६७; आर्थिक विकास ३६९; औद्योगिक विकास के प्रभाव ३७३; श्रमिक समस्याएँ ३७६; आवादी की समस्या ३७६; कृषक जीवन ३७९;

सोलहवाँ अध्याय ३८६

सुदूर पूर्व में जापानी प्रभुत्व का दावा

जापान के अधीन क्षेत्र—फारमोसा व कोरिया ३८६; मंचूरिया में जापान ३९०; प्रवास का प्रश्न ३९६; जापान का प्रथम विश्वयुद्ध में प्रवेश ३९९; इक्कीस माँगें ४०३; सन् १९१५ की संधियाँ ४०६; सन् १९१७ की गुप्त संधियाँ ४०९; लैनसिंग—इशी-समझौता ४११।

सत्रहवाँ अध्याय ४१३

चीन और प्रथम विश्वयुद्ध

तटस्थता के परिणाम ४१३; तटस्थता समाप्त करने के लिए आन्दोलन ४१४; युद्ध-घोषणा के तात्कालिक परिणाम ४१८; चीन के युद्ध प्रवेश का राजनीतिक प्रभाव; पेरिस-सम्मेलन के समय राजनीतिक स्थिति ४२३; पेरिस-सम्मेलन व सुदूर पूर्व ४२५; वार्साई-संधि में सुदूर पूर्वीय व्यवस्था ४२७; अन्तरराष्ट्रीय बैंक-संगठन का पुनरुज्जीवन ४२८; संधि की चीनी अस्वीकृति के परिणाम ४२९।

अट्ठारहवाँ अध्याय ४३२

रूस, सुदूर पूर्व में

साइबेरिया के साधन व क्षेत्र ४३२; साइबेरिया पर अधिकार ४३३; साइबेरिया में बस्तियाँ ४३५; रूसी क्रांति का साइबेरिया पर प्रभाव ४३८; विदेशी हस्तक्षेप का प्रस्ताव; आन्तरिक संघर्ष ४४२; सोवियत् रूस व जापान ४४५; सोवियत् रूस व चीन (१९१९-१९३३) ४४७।

उन्नीसवाँ अध्याय ४५५

वाशिंगटन-सम्मेलन और उसके बाद

सम्मेलन की पृष्ठ भूमि ४५५; शस्त्र समझौते और उनका सुदूर पूर्व पर प्रभाव ४६३; चीन-संबंधी नव राष्ट्रों की संधि ४६५; शानतुंग के प्रश्न का समाधान ४७१; संधि-पुनरीक्षण ४७३।

बीसवाँ अध्याय ४८१

राष्ट्रीय क्रान्ति

कुओमिनतांग (१९१२–१९२४) ४८१; दल के सिद्धान्त ४८४; कैण्टन में शक्ति के लिए संघर्ष (१९२४–१९२६) ४८६; उत्तर की ओर अभियान ४८८; हैनकाऊ और नानकिंग ४९०; राष्ट्रीयतावादियों द्वारा देश में एकता की स्थापना ४९२; राष्ट्रीय सरकार की स्थापना ४९३; घरेलू राजनीति (१९२९–१९३३) ४९४; साम्यवादी आन्दोलन ४९७; राष्ट्रीय सरकार की आंतरिक उपलब्धियाँ ४९८; परराष्ट्र संबंध-क्षेत्र में उपलब्धियाँ ५००।

इक्कीसवाँ अध्याय ५०७

पूर्व और पश्चिम (१८३०–१९३०)

पूर्व में पश्चिम की दिलचस्पी ५०७; चीन व जापान के विकास की तुलना ५०८; सुदूर पूर्व का आर्थिक विकास ५१५; सुदूर पूर्व में राष्ट्रीयता ५१८; सुदूर पूर्व में शक्ति-संबंध ५२०; फिलिपिनी द्वीप-समूह ५२४; ब्रिटेन की स्थिति व हित ५३०; डच पूर्वी द्वीप-समूह ५३४; सुदूर पूर्व में फ्रांस ५३६; संक्षेप ५३८।

परिशिष्ट (पाद-टिप्पणियाँ) ५३९

(पाद-टिप्पणी के लिए परिशिष्ट देखें)

पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास

[प्रथम खण्ड]

पहला अध्याय

चीन, मंचू शासन-काल में

(१) देश और उसके आर्थिक साधन

सुदूर पूर्व के देशों का आधुनिक इतिहास तब से आरम्भ होता है, जब से वे अपने दीर्घकालीन एकान्त से निकल कर पश्चिमी संसार के सम्पर्क में आये। इस इतिहास का निर्माण अधिकांशत: उन बाहरी शक्तियों द्वारा हुआ है जिनसे इनमें से प्रत्येक देश की पुरातन संस्कृतियों तथा प्राचीन और दृढ़ता से स्थित संस्थाओं का सुधार तथा रूप परिवर्तन हुआ है। यह ऐतिहासिक विकास तथा तज्जनित परिवर्तन समझने के लिए आधुनिक युग के प्रारम्भ में समाज की सामान्य परिस्थिति समझ लेना आवश्यक है। फलत: सन् १८४२ के बाद के चीन के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए आधुनिक-युग के पूर्व चीन के बहुमुखी जीवन का वर्णन करना आवश्यक है।

पूर्व के पश्चिम से समागम के प्रारम्भ में चीनी साम्राज्य के अंग थे—(१) १८ प्रान्तों वाला मुख्य चीन, (२) मंचूरिया, जो अब तीन प्रान्तों में विभाजित है, (३) तिब्बत, मंगोल्यिा तथा सिक्यांग-जैसे अधीन क्षेत्र, जिनसे सघन पर्यवेक्षणीय संबंध स्थापित थे, तथा (४) कोरिया और अनाम-जैसे केवल नाम भर के सामन्त राज्य। इन सामन्त राज्यों को छोड़कर, किन्तु अधीन राज्यों को लेकर, चीन का कुल क्षेत्रफल ४२,७७,१७० वर्गमील था—यह संहत क्षेत्र पोर्टो रीको, हवाई तथा अलास्का शामिल करके भी अमरीकी संयुक्त राज्य के क्षेत्रफल से ७,०५, ९४७ वर्गमील अधिक है। इस क्षेत्र की भौगोलिक और एक सीमा तक जलवायु-संबंधी स्थिति यह कहने से भी स्पष्ट हो जायगी कि उत्तर में वेंकूवर और दक्षिण में मैक्सिको नगरों के उष्ण और शीत जलवायु की पराकाष्ठाएँ वहाँ उपलब्ध हैं। इस प्रकार स्पष्ट हो जायगा कि चीन का बड़ा भाग उत्तरी शीतोष्ण कटिबंध में स्थित है, पर वहाँ उष्ण तथा अतिशीत कटिबंधों का जलवायु भी प्राप्त है।

इस भौगोलिक व जलवायु वैविध्य से चीन के कृषि जीवन में भी यथासम्भव अनेकता है और चावल, कपास, चीनी, चाय, गेहूँ, जौ, मोटे अनाज व दूसरे अन्न आदि की उपज उपलब्ध हैं। इस उत्पादन विविधता के फलस्वरूप चीनियों ने न केवल अपना भोजन

प्राप्त किया, वरन् वस्त्र, औजार, आभूषण आदि की सीमित आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए औद्योगिक क्रियाओं का भी विकास कर लिया। संवहन के सीमित साधनों में जितना व्यापक व्यापार संभव था उसका विकास भी हुआ।

यदि इस संपन्नता में पृथ्वी के गर्भ में छिपी संपदा भी जोड़ दें तो चीन की आत्मनिर्भरता के कारण तत्काल स्पष्ट हो जाते हैं। कोयला और लोहा, टीन, सीसा, चाँदी, सुरमा—चीन में ये सभी खनिज पदार्थ प्राप्त थे और पूर्व-आधुनिक काल में जनता की आदिम आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनका पर्याप्त प्रयोग होता था। इस प्रकार, आर्थिक दृष्टि से, साम्राज्य स्वावलंबी था और इसीलिए प्राचीन काल के यूरोपीय यात्रियों व व्यापारियों को इससे कुछ ईर्ष्या भी होती थी। आधुनिक युग से पहले चीन ने अपनी वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कभी विदेशों की ओर नहीं ताका, जबकि, दूसरे लोग बीच-बीच में लगातार चीन से व्यापार-संबंध स्थापित करने के लिए आतुर रहे। दूसरों की इस दिलचस्पी से, चीन के प्राकृतिक साधनों की समृद्धि, निर्विवाद रूप से, वास्तविकता से अधिक ही आँकी गयी, किन्तु अतिशयोक्ति छोड़ कर भी, यह वास्तविकता का सही अंदाज़ था कि चीन, मूल रूप में, समृद्धिशाली देश है।

कृषि उत्पादन की विविधता केवल जलवायु के परिवर्तनों से ही संभव नहीं हुई, चीन के भौतिक और भौगोलिक लक्षणों में भी उतनी ही व्यापक विविधता है जितनी कि अमरीकी संयुक्त राज्य में। एक ओर उत्तरी-पश्चिमी चीन और मंगोलिया के रेगिस्तान और चरागाहें हैं तो साथ ही उत्तर के पवनोढ़ मिट्टी के उपजाऊ मैदान भी हैं जो "चीन के शोक", पीत नद से सींचे जाते हैं और बहुधा आप्लावित भी होते रहते हैं। पीत नद के दक्षिण में मध्यक्षेत्र है जिसके जल का निकास चीन के सबसे बड़े और संसार के सबसे बड़ों में एक, जलमार्ग, यांग्त्सी नद द्वारा होता है। इससे भी दक्षिण में पश्चिम नद तथा उसकी सहायक नदियों का क्षत्र है। इन तीन नदियों के पात्र, तीन प्राकृतिक, भौगोलिक क्षेत्र हैं जो एक ओर चीनी जनता के जीवन में अपना विशिष्ट योगदान करते हैं और दूसरी ओर उनमें अनेक समानताएँ भी हैं। इन समानताओं में सबसे प्रमुख है भूमि की प्रबल उर्वरा शक्ति जो उत्तर से दक्षिण तक समान रूप से फैली हुई है। . .

इन मैदानों की एकरूपता का शमन होता है उन पर्वत श्रेणियों से जो पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम की ओर ऊँची होती हुई हिमालय शृंखला तक जा पहुँचती हैं। पर्वतों की चार मुख्य शृंखलाएँ हैं—तिएनशान, क्वानलुन, हिनगन, हिमालय—जो नदियों की भाँति विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों को विभाजित करती हैं। देश के जीवन में इन पर्वतों का दूसरा बड़ा योग है खनिज संपदा का। किन्तु जहाँ नदियाँ समागम और संवहन का साधन हैं, वहीं पर्वत श्रेणियाँ उनमें अवरोध उपस्थित करती हैं। इस प्रकार, जेचुआन

प्रान्त, शेष चीन के निरंतर और प्रभावकारी संपर्क से कटकर स्वयमेव एक साम्राज्य-सा बन गया है। इसी प्रकार, दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तों से घनिष्ठ संपर्क और उनके नियंत्रण में ये पर्वत श्रेणियाँ व्यवधान उपस्थित करती हैं। दूसरी ओर, पर्वतों की पश्चिमी श्रृंखला मुख्य चीन और पश्चिम के क्षेत्रों के बीच एक अवरोध बनी हुई हैं।

(२) लोग

सन् १८४२ में चीन न केवल दुनिया का सबसे बड़ा भौगोलिक-राजनीतिक क्षेत्र था, वरन् सबसे अधिक जनसंख्या का देश भी था। जनसंख्या के केवल अनुमान मात्र प्राप्त हैं क्योंकि गणना के ढंग सदोष थे, किन्तु, सन् १८१२ की आबादी ३६,२४,७३,१८२ काफी ठीक मानी जा सकती है।[1] आबादी के घनत्व और अत्यधिक भार के कारण सामान्यतः जनता गरीब थी और आधुनिक पश्चिमी मान के अनुसार रहन-सहन का स्तर नीचा था, यद्यपि सर्वसाधारण के लिए यह स्तर सत्रहवीं व अट्ठारहवीं शताब्दी के यूरोप के मुकाबले में, विशेष नीचा नहीं था।

आज जो लोग सामूहिक रूप से चीनी जान जाते हैं, उनमें निर्विवाद रूप से उन विभिन्न वंशों का सम्मिश्रण है जो प्रारम्भ में मध्य एशिया तथा कालान्तर में उत्तर-पश्चिम से चीन में आये। अनुमान है कि सबसे पहले आये प्रवासी पीत नद की घाटी में बस गये और वहां के आदिवासियों को दक्षिण की ओर धकेल दिया। इन वंशों और इनकी संतानों को बाद में आनेवाले वंशों की लहरों ने दक्षिण की ओर खदेड़ दिया। वंशों की यह हलचल समाप्त होने के बाद सम्मिश्रण प्रारम्भ हुआ, या पूर्णता की ओर अग्रसरण हुआ। अब, आदिवासियों के अवशिष्ट वंशज, जैसे मिआओ लोग, दक्षिणी-पश्चिमी चीन में पाये जाते हैं; दूसरे आदिवासी, दक्षिण की ओर खदेड़े जाने पर, मलेशिया, हिन्दचीन, स्याम् में स्थान पा गये। उत्तरी और दक्षिणी चीनियों में अब भी स्पष्ट शारीरिक अंतर है; अंशतः जलवायु के अंतर के कारण और अंशतः अपूर्ण वंश-सम्मिश्रण के कारण क्योंकि प्रवासी समूह एक दूसरे को अन्यत्र खदेड़ते गये, एक दूसरे के साथ रहे नहीं। मंचू विजय के समय सांस्कृतिक आत्मीकरण शारीरिक व आकृतिक सम्मिश्रण से आग बढ़ चुका था।

(३) पूर्व-आधुनिक समाज

सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से जनता पाँच वर्गों या व्यावसायिक समूहों में विभाजित थी। समाज के सबसे ऊँचे स्तर पर थे विद्वान् या पंडित जिनसे अधिकारी वर्ग छाँटा जाता था। उनके बाद आते थे किसान जो संख्या की दृष्टि से सबसे बड़े वर्ग के थे और आत्मनिर्भर राज्य में जीवन चलाने की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थ। शिल्पी तीसरे वर्ग में थे और व्यवसायी व व्यापारी चौथे वर्ग में। समाज के

सबसे नीचे वर्ग में आते थे सिपाही व भृत्य। चीन में एक कहावत है जिसका अर्थ है कि श्रेष्ठ लोहे से कीलें नहीं बनतीं और न भले लोगों से सिपाही बनते हैं।

अंशतः तो इस कारण कि आधिकारिक अधिमान्यता और प्रतिष्ठा का पथ विद्वत्ता और पठन-पाठन ही था, किन्तु इस कारण भी कि शिक्षा और विद्वत्ता को सर्वमान्य प्रतिष्ठा प्राप्त थी, चीनी समाज में शिक्षित वर्ग का मान सबसे अधिक था। सभी सन्त-मनीषियों ने उन विद्वज्जनों की प्रतिष्ठा पर बल दिया जिनकी सफलता से संपूर्ण समाज की श्री-वृद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त, शिक्षा का मार्ग कठिन, कठोर और श्रमसाध्य था। शिक्षित की उपाधि के इच्छुकों में इन कठिनाइयों के कारण अनेक मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे और इसीलिए सफल व्यक्तियों की प्रतिष्ठा और अधिक होती थी।

किन्तु, समाज में शिक्षा को मिलने वाली इस प्रतिष्ठा और बल से चीन में न तो उस अर्थ में 'स्कूलों' की ही स्थापना हुई जिसमें वे आज पश्चिम में जाने जाते हैं और न ज्ञान का प्रगतिशील प्रसार ही हुआ। वस्तुतः, साम्राज्य में ज्ञान के प्रसार में शिक्षा एक बड़ा अवरोध बन गयी। इसका एक बड़ा कारण तो केवल प्राचीन मनीषियों के विचारों और कृतियों—कहावतों के हू-ब-हू पुनरुत्पादन मात्र पर अत्यधिक बल दिया जाना था। दूसरा कारण यह भी था कि शिक्षा का ध्येय परीक्षाओं के लिए तैयारी मात्र था।[२] ये परीक्षाएँ केवल चिरप्रतिष्ठित शास्त्रीय संस्थापनाओं (क्लैसिक) पर आधारित होती थीं और छात्र जानते थे कि इस संस्थापित साहित्य के अतिरिक्त और कुछ पठन-पाठन में समय लगाना समय नष्ट करना ही है।

विगत पर बल देकर शिक्षा-प्रणाली ने स्थायित्व प्रदान किया और फलतः उस स्थायी समाज का हितसाधन किया जिसे अपनी संस्कृति के पूर्णत्व की चेतना थी। जहाँ तक शिक्षा-प्रणाली सच्चाई से लागू होती थी, तथा केवल पुनरुत्पादन का प्रशिक्षण विकसित हुआ, इस प्रणाली में जनसेवाओं के लिए योग्यता-संपन्न व्यक्तियों को आकर्षित करने की क्षमता थी, तथा परीक्षाओं से वह प्रतिभा प्रकट होती थी जो जन-सेवाओं के कार्यान्विय के अनुकूल होती थी। उस समय के मानदण्डों के अनुसार इस प्रणाली से परिश्रमशील अतिपरिष्कृत अध्येता उत्पन्न हुए। किन्तु इसकी अच्छाइयों के बावजूद और इस बात के होते हुए भी कि विकसित सामाजिक जीवन के सर्वोत्तम गुणों के परिरक्षण और स्थायित्व में उपादेयता के बावजूद, इस तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि इस प्रणाली में एक एसे समाज की आवश्यकता पूर्त्ति की पूरी क्षमता नहीं थी जो नये विचारों और व्यवहारों को आत्मसात् करना चाहता है।

इस पंडित या अध्येता वर्ग की सदस्यता से जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई थी, अनेक व्यक्ति उसे प्राप्त करने की आकांक्षा करते थे या इन अनेक व्यक्तियों के परिवार उन्हें यह

प्रतिष्ठा दिलाने की अभिलाषा करते थे। जिस प्रकार अन्य देशों में परिवार का एक बालक गिरजाघरों में धर्म-पुरोहिताई करने के लिए अभिषिक्त कर दिया जाता था, उसी प्रकार बहुधा हर परिवार शिक्षा-दीक्षा के लिए एक बालक छाँट लेता था। ऐसे सौभाग्य-शाली बालक का भरण-पोषण पूरे परिवार द्वारा होता। यदि बालक मेधावी हुआ और उसके परिवार के साधन ऐसे न हुए कि उसे शिक्षा दिला सकें, तो पूरा गाँव का गाँव उसके भरण-पोषण का दायित्व उठा लेता। सात या आठ वर्ष की वय में वह गाँव की पाठशाला ज़ाता (इन संस्थाओं को वे लोग चलाते थे जिनके बच्चे पढ़ते थे); और जब उसके भाई खेलते होते या काम करते होते, वह प्रातःकाल से रात में देर तक किताबों में जुटा रहता। निश्चित ग्रंथों को रट लेना उसका काम था। यह कार्य सामान्यतः, "ट्राइमीट्रिकल क्लासिक" से प्रारम्भ होता था और उसके बाद दूसरी प्रारम्भिक पुस्तक "Thousand Character Classic" सहस्राक्षर ग्रंथ होती थी। इसके उपरान्त छात्र कन्फूशियस की 'साहित्य चतुर्थी' Four Books पर पहुँचता था और फिर...."Great Learning" "Doctrine of the Mean" और Mencius के कार्य। इनका काव्यशास्त्र (Poetical Classic) द्वारा अनुसरण होता था, फिर इतिहास का ग्रन्थ (Book of History), Book of Changes, और Spring and Autumn Annals पढ़ी जाती थीं। छात्र से अपेक्षा की जाती थी कि वह धीरे-धीरे इन पुस्तकों को कण्ठस्थ कर ले; विषयों की उसकी समझ अधूरी ही रहती और उनके अर्थ वह लगभग नहीं के बराबर ही जानता होता था। इन क्लासिक ग्रंथों की असंख्य टीकाओं में पारंगत होना शिक्षा का अगला कदम था। इसी के साथ-साथ यह प्रारम्भिक शिक्षार्थी शिक्षा की अगली मंज़िल में पहुँचने के लिए अनिवार्य पूर्वांग के रूप में अक्षर बनाना भी सीखता जाता था। सबसे छोटी उपाधि की परीक्षा के लिए भी निबन्ध-रचना में पारंगत होना आवश्यक होता था और यही शिक्षा की दूसरी मंज़िल होती थी।

तीन वर्ष में एक बार या पाँच वर्ष में दो बार पेकिंग से परीक्षक हर प्रान्त में आते थे। इन परीक्षकों के आगमन के पहले ही प्रान्त के कई-कई ज़िलों के छात्रों की एक परीक्षा हो ज़ाती थी जिसमें प्रान्तीय परीक्षाओं में शामिल होने के लिए छात्र छाँटे जाते थे। ज़िले की परीक्षा में लगभग पांच सौ छात्र शामिल होते थे। पहले दिन छात्रों को तीन विषय दे दिये जाते—इनमें से दो पर छात्रों को क्लासिक शैली में निबन्ध रचने होते और एक पर कविता लिखनी होती थी। प्रातःकाल से ही छात्र परीक्षा में जुट जाते और उनमें से कुछ ही, शाम को तीन या चार बजे तक काम पूरा कर पाते, कुछ आधी रात तक जटे रहते थे और जो मन्द होते, उन्हें अवसर मिलता तो, दूसरे दिन प्रातः तक लिखते रहते। परीक्षा का परिणाम जाँचने में दो-एक दिन लगते और उसके बाद परीक्षा फिर

जारी हो जाती और इस बार परीक्षार्थियों की संख्या घट जाती, कभी-कभी आधी रह जाती। ज़िला स्तर की परीक्षा चार बार अलग-अलग दिन होती और हर बार कुछ-न-कुछ परीक्षार्थी छाँट दिये जाते।

ज़िला परीक्षाओं में सफल छात्र प्रधान नगर में होने वाली अगली प्रतियोगिता में भाग लेते थे। प्रधान नगर के हर ज़िले से आये इन परीक्षार्थियों की संख्या हजारों तक पहुँचती थी। परीक्षा पद्धति और प्रणाली ज़िला परीक्षा के समान ही होती थी, केवल ज्ञान का स्तर ऊँचा होता और निबन्ध के विषय और कठिन होते थे। प्रधान नगर की परीक्षा में उत्तीर्ण होन पर उपाधि मिलती थी––सिउ त्साइ या स्नातक की उपाधि।

सिउ त्साई उपाधिधारी चू-जेन नामक उपाधि के लिए होने वाली प्रान्तीय परीक्षाओं में भाग लेने के अधिकारी हो जाते थे। जिन्हें चू-जेन की उपाधि मिल जाती थी, वे सरकारी पद पाने का अधिकार पा जाते थे और साथ ही, चिन शिह उपाधि के लिए होने-वाली केन्द्रीय परीक्षा में सम्मिलित हो सकते थे। चौथी और सबसे ऊँची उपाधि होती थी हानलिन, पर वह पद के रूप में होती थी, क्योंकि इससे साम्राज्य की विद्वत्परिषद् या अकादमी की सदस्यता मिलती थी और वेतन भी मिलता था।

इस शिक्षा से छात्र को, परीक्षाओं में सफल होने पर, सरकारी पद तो मिल सकता था, किन्तु आधुनिक जीवन की जटिल समस्याओं के संतोषजनक समाधान के लिए छात्र को तैयार करने में यह शिक्षा असफल थी। परीक्षा में असफल होने पर, या उन लोगों में होने पर जो सरकारी पद पाने के अधिकारी तो थे, किन्तु पदों की संख्या से अधिक छात्र छाँटे जाने के कारण बेकार थे, इन विद्वानों के पास जीविका कमाने के केवल दो ही साधन होते थे––अध्यापक या लिपिक का काम। शिक्षा के लिए प्रतिष्ठा और सम्मान होने के बावजूद अध्यापकों का वेतन कम था। इसके अतिरिक्त, हर पाठशाला के लिए कई अभ्यर्थी होते थे और पाठशाला के संरक्षक अध्यापक पर होनेवाले खर्च को कम करने के लिए एक अभ्यर्थी को दूसरे से लड़ा कर वेतन कम करवा सकते थे।

इस प्रकार, सरकारी पद न मिलने पर, सफल अध्येता का जीवन भी चिन्ताओं से परे न होता था। सिद्धान्तों के बावजूद सरकारी पद प्राप्त करने के लिए सामान्यतः समृद्धि या प्रभाव आवश्यक होते थे, क्योंकि पद देनेवाले पद के लिए पुरस्कार की अपेक्षा करते थे। फलतः पंडित वर्ग में भी बड़ी संख्या में लोग, प्रतिष्ठा के बावजूद घोर आर्थिक कठिनाइयों में जीवन-यापन करते थे। भौतिक दृष्टि से अध्यापन द्वारा इन विद्वानों को बहुत थोड़ा वेतन मिलता था। हाँ, उनके कुछ विशेषाधिकार अवश्य होते थे; यदि वे अपराधी सिद्ध हो जाते, तब भी उन्हें बाँस से पीटा नहीं जाता था; दण्डनायक के कार्यालय में भी विद्वानों के अधिकार सामान्य जन से अधिक होते थे।

पहली बार सोचने पर आश्चर्य होता है कि चीनियों द्वारा शिक्षा और ज्ञान पर इतना जोर देने पर भी, वहाँ विज्ञान का विकास नहीं हो पाया, या समाज में बड़े व्यावसायिक वर्ग नहीं बन पाये; पर वस्तुस्थिति वास्तव में यही थी। चिकित्सा अधिकांशतः झाड़-फूँकवाली नीमहकीमी थी, क्योंकि वह प्रयोगों द्वारा संचित ज्ञान पर आधारित नहीं थी; वकालती पेशे का अस्तित्व ही नहीं था; यांत्रिक या अभियांत्रिक ज्ञान आशाजनक प्रारम्भ के उपरान्त अविकसित अवस्था में छूटा हुआ था। उदाहरणार्थ, फेंग शुइ[3] (वायु व जल का सिद्धान्त) में भवन-निर्माण की समस्याओं का समाधान कम था, इमारतों की स्थिति और बनावट संबंधी व्याख्या अधिक थीं। यह बात फिर दोहरायी जा सकती है कि ज्ञान की हर शाखा में अवरुद्ध विकास की जो स्थिति थी, वह मूलतः उस शिक्षा-प्रणाली के कारण थी जो (१) प्राचीन उपदेशों में सर्वकालीन ज्ञान के समुच्चय के आधार पर स्थित थी, और जो (२) दार्शनिकों की सूक्तियों की हू-ब-हू पुनरावृत्ति और निबन्ध-रचना की क्षमता को मुख्य योग्यता मान कर अफसरों की नियुक्ति की दृष्टि से परीक्षाओं के लिए छात्रों को तैयार करने की प्रेरणा पर आधारित थी। अवरुद्ध विकास की इस स्थिति का एक कारण उन समाजों से समागम का अभाव भी था, जो चीन के समकक्ष ही विकसित हो चुके थे। इस समागम-संपर्क से विचार-व्यवहार की तुलनाएँ होतीं और विकास की प्रेरणा मिलती; इस प्रेरणा का वहाँ अभाव था। संभवतः, अवरुद्ध विकास का यह भी उतना ही मूलभूत कारण था जितना कि शिक्षा-प्रणाली में कुछ बातों पर अनुचित बल दिया जाना। स्थिति को समझने के लिए दोनों ही कारणों को समझना होगा।

चीन की ८० प्रतिशत जनता खेती में लगी थी, किन्तु किसान अपने खेतों पर नहीं रहते थे जैसा कि अमरीका में होता है वरन्, गाँवों में रहते थे जहाँ कहीं तो कुछ ही घर होते थे और कहीं कई सौ तक। जहाँ इतनी बड़ी जनसंख्या खेती में लगी हो, यह अनिवार्य ही था कि कुछ क्षेत्रों में एक गाँव के खत्म होते ही दूसरा गांव शुरू हो जाय। किसी अमरीकी यात्री को चीनी भू-दृश्य में जो विलक्षणता दिखाई दी वह गाँवों के बाहर घरों का पूर्ण अभाव था।

चूंकि आबादी का इतना बड़ा भाग गाँवों में रहता था, इसलिए यहाँ ग्राम-समाज का संगठन और जीवन संक्षेप में समझ लेना उचित होगा। सामान्यतः, गाँवों के नाम एक-दो परिवारों के नाम पर ही रखे जाते थे, और चूँकि इन नामों की संख्या सीमित थी, चुआंग या गाँवों के नामों में चेंग, वैंग, ली आदि की बहुलता थी। किन्तु, कभी-कभी किसी गाँव का नाम प्राचीन काल में बने गाँव के मंदिर पर भी पड़ जाता था, या दण्डनायक की राजधानी से दूरी पर नाम पड़ जाता था। कभी-कभी गाँव के असली नाम की

जगह चिढ़ाने के लिए कोई उपनाम पड़ जाता और वही सरकारी व गैर-सरकारी तौर पर प्रयुक्त होने लगता था।[४]

गाँव के जीवन का केन्द्र होता था मंदिर––वह चाहे प्राचीन, पुश्तैनी हो या बौद्ध––यद्यपि वहाँ कोई प्रभावशाली पुरोहित-वर्ग नहीं था जो जनता का मार्ग-दर्शन करता या भर्त्सना करता। मंदिरों से लगी भूमि पर ही, सामान्यतः, साप्ताहिक या अर्द्ध-साप्ताहिक हाट लगती थी, जहाँ लोग अपनी पैदावार की बचत लाते थे और उन चलते-फिरते व्यापारियों से सामान लेते थे जो एक हाट से दूसरी हाट घूमते रहते थे। इसी भूमि पर जनता के मनोरंजन के लिए नाटकों आदि का आयोजन होता था और यहीं वह "तटस्थ-क्षेत्र" होता था जहाँ व्यक्तियों या परिवारों के पारस्परिक विवाद निपटाने के लिए "सुलह की बात करने वाले" मिलते थे।

सामाजिक दृष्टि से चीन व्यक्ति के आधार पर नहीं, परिवार के आधार पर संगठित था। स्वभावतः, यही संगठन गाँवों में भी व्याप्त था। चीनी परिवार केवल पति, पत्नी व बच्चों तक ही सीमित नहीं होता था। युवक विवाह के बाद पत्नी को अपने माता-पिता के घर लाता जहाँ माता-पिता के माता-पिता भी रहते थे। इस प्रकार एक ही घर में पर-बाबा, बाबा, पिता, पुत्र, सभी रहते थे। घर पर निमंत्रण सबसे बड़े-बूढ़े मर्द का या पर-बाबा या बाबा के मर जाने पर दादी या पर-दादी का होता था। तीस, चालीस, पचास साल तक की उम्र का व्यक्ति भी अपनी उम्र के बल पर घर का मालिक नहीं हो सकता था।

जहाँ भी इस प्रकार का पितृसत्तात्मक समाज होता था यह स्वाभाविक ही था कि परिवार के सनातन स्थायित्व और परिवार के भीतर पारस्परिक संबंधों पर विशेष बल दिया जाय। इस प्रकार व्यक्ति को विवाह करने या न करने की स्वतंत्रता नहीं थी; वंश चलाने के लिए छोटी उम्र में ही उसका विवाह तय कर दिया जाता था, और व्यक्ति का एक विशेष उत्तरदायित्व यह होता था कि वह पुत्र उत्पन्न कर वंश की शृंखला कायम रखे। चूंकि वंश-परंपरा केवल पुत्रों से ही चल सकती थी, पुत्रों को पुत्रियों की तुलना में वरीयता मिलती थी। पुत्र-जन्म खुशी मनाने का अवसर होता था जबकि पुत्री-जन्म चुपचाप गुज़र जाता था (यदि शोक न किया गया तो)। पुत्र और पुत्री के बीच का यह भेद इस बात से और भी मुखर हो उठता था कि विवाह के बाद कन्या अपने कुल से पूरी तरह संबंध-विच्छेद कर पति के परिवार में पूरी तरह अपने को मिला देती थी। इस प्रकार लड़कियाँ अपने परिवारों का वंश तो चला ही नहीं पाती थीं, उनके परिवार उनके श्रम के लाभ से भी शीघ्र वंचित हो जाते थे। लड़कियों को शिक्षा-दीक्षा या अन्य सुविधाएँ देने का केवल एक ही लाभ था, और वह यह कि लड़की को अच्छे परिवार का अच्छा वर मिले और इस प्रकार लड़की के कुल का नाम ऊँचा हो।

परिवार के इस मत का प्रचलन तलाक़ के लिए माने गये कारणों में भी प्रकट है। पति को पत्नी से निम्नलिखित कारणों में से किसी पर भी पत्नी से छुटकारा मिल सकता था—बांझपन, लम्पटता, पति के माता-पिता की अवहेलना, वातूनीपन, चोरी की प्रवृत्ति, ईर्ष्यालु या शंकालु स्वभाव तथा स्थायी दुर्बलता। किन्तु तलाक़ तभी संभव था जब पत्नी के माता-पिता जीवित हों जिनके पास वह लौट सके, यदि वह पति के माता-पिता के लिए रीति-अनुकूल अवधि में शोक-संतप्त न हो चुकी हो, या वह अपने पति के साथ निर्धनता से सम्पन्नता की स्थिति में न आ चुकी हो। दूसरी ओर, चरम पराकाष्ठा वाले मामलों को छोड़ कर, पत्नी के पास केवल एक चारा था––उसके हितों की रक्षा के लिए उसके अपने परिवार का दबाव। वस्तुतः तलाक़ बहुत ही कम होते थे।

पितृ-परंपरा और पितृपूजा के विकास ने पुत्र प्राप्ति और पुत्र विवाह को और बल दिया। जो व्यक्ति पुत्रहीन मर जाता उसे मरने के बाद भेंट अर्पित नहीं होती और इसीलिए वह अपने पिता व बाबा के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं निबाह पाता। इस प्रकार, परिवार पर बल देने की एक धार्मिक परंपरा बन गयी और इस परंपरा ने परिवार के गौरव को बल दिया।

वंश चलाने के दायित्व से रखैल या उप-पत्नी रखने की परंपरा चली और उसे तर्क-संगत माना गया। पत्नी के बाँझ होने पर या पुत्र उत्पन्न न कर सकने पर समृद्ध पति एक या एक से अधिक उप-पत्नियाँ रख सकता था। उप-पत्नियों की हैसियत और पद, कानून और घर के अधिकार, दोनों दृष्टियों से पत्नी से कम होते थे। आज्ञापालन और मृत्यु पर शोक-संताप मनाने की दृष्टियों से उनके बच्चे पत्नी के बच्चे ही माने जाते थे।

परिवार के भीतर स्वभावतः पिता की आज्ञा पालने पर बहुत ज़ोर दिया जाता था, किन्तु पति-पत्नी, भाई-भाई, भाई-बहिन के पारस्परिक संबंध परिवार के बुजुर्ग के निर्देशन और अनुशासन में नियंत्रित होते थे। आशा की जाती थी कि इससे सौहार्द्र, स्नेह और पारिवारिक शांति होगी, किन्तु संभवतः जीवन की एकरसता के कारण, अंशतः पारिवारिक घर में अनेक व्यक्तियों के मौजूद रहने से एकान्त के अभाव के कारण, मतभेद बहुधा होते ही रहते थे। यदि कलह सतह पर आ जाती तो पड़ोसी भी उसमें आकृष्ट हो जाते थे (इस सिद्धान्त के आधार पर कि किसी का काम हर एक का काम है); क्योंकि स्वयं पारिवारिक जीवन भी एकान्त में निर्वाह नहीं होता था, जो एकान्त पश्चिम में स्वाभाविक माना जाता है।

गाँव के मुखिया के निर्देशन में, गाँव के बुजुर्गों की ज्येष्ठि-परिषद् द्वारा गाँव के भीतर अंतर-पारिवारिक संबंध अन्य मामलों की भाँति परिचालित होते थे। पूरी परिषद् कभी एक बार विधिवत् चुनी नहीं जाती थी, वरन् विभिन्न परिवारों के बुजुर्ग उसमें शामिल होते रहते थे, या कुछ ऐसे लोग ही इस परिषद् में ले लिये जाते थे जिन पर सामान्यतः

सबका भरोसा होता था कि वे गाँव की समस्याओं को सुचारु रूप से सुलझाते रहेंगे। देश के विभिन्न भागों में इस प्रथा के रूप बदलते रहते थे। बहुधा कठिनाइयों को "सुलह कराने वालों" के प्रयत्नों द्वारा हल करा लिया जाता था; ये सुलह कराने वाले या तो छाँट लिये जाते थे, या वे लोग होते थे जो स्वयं विशिष्ट विवादों में दोनों पक्षों में समझौता कराने का बीड़ा उठा लेते थे। सामान्यतः उनकी सेवाओं के लिए उन्हें दावतों द्वारा पुरस्कृत किया जाता था।

गाँव के बाहर, भूमि गाँव वालों के व्यक्तिगत स्वामित्व में होती थी। एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी में बराबर बँटते रहने के कारण जोतें छोटी थीं और बहुधा बिखरी हुई होती थीं। अतएव अमरीकी दृष्टि से बिलकुल अपर्याप्त जोतों से बहुत-से व्यक्तियों का पेट भरना होता था। इसलिए चीनी किसान आदिम औज़ारों से भी भूमि से, अत्यंत कुशल श्रम-प्रधान कृषि द्वारा काफी उपजा लेता था। किन्तु इसके लिए सभी के अनवरत परिश्रम और अनेक छोटी-मोटी आर्थिक परियोजनाओं को भूमि पर लागू करना आवश्यक होता था। पीढ़ी-दर-पीढ़ी खेती होती रहने से भूमि की उर्वरा शक्ति क़ायम रखने का काम जारी रहता था। सारा कूड़ा-करकट सहेज कर इकट्ठा किया जाता और खाद बनाने के काम आता। पश्चिम में आधुनिक विज्ञान ने भूमि की उर्वरा शक्ति क़ायम रखने के लिए जो प्रक्रियाएँ अब बतानी शुरू की हैं वे चीनियों को पूर्वजों के अनुभवों से पहले ही प्राप्त हो चुकी थीं।

किन्तु इस सारे लाघव और कौशल के बावजूद चीनी किसान अपनी छोटी जोत से मुश्किल से जीवनयापन के साधन भर जुटा पाता था। अधिकांश किसान साल भर के आगे सोच भी नहीं सकते थे, साल-ब-साल, जैसे-तैसे, बीज का प्रबन्ध, औज़ारों की मरम्मत, शादी-समी का इन्तज़ाम, कभी किसी दावत में शामिल होने, गाँव के नाटकों के लिए चन्दा देने आदि भर के लिए ही साधन जुटा पाते थे, किन्तु भविष्य में दैन्य-विपन्नता को देशनिकाला देने के लिए काफी बचा लेना कठिन था। यदि बाढ़ या सूखे के कारण फ़सल ख़राब हो गयी या औसत से कम पैदावार हुई तो इस कठिन स्थिति का सामना करन का कोई उपाय नहीं होता था। बस, अकाल पड़ जाता और उसके साथ आने वाली भयावह स्थिति पैदा हो जाती—जड़ों और पत्तियों पर निर्वाह, परिवारों का विघटन, पुत्रियों का दासियों के रूप में विक्रय और अनेक लोगों के लिए भुखमरी।

सामान्यतः अच्छे वर्षों में भी कुछ ऐसे लोग होते थे जिनका निर्वाह कठिन होता था और वे परिवार के अधिक सौभाग्यशाली सदस्यों के आश्रित होते थे (यदि परिवार में ऐसे संपन्न सदस्य हुए तो)। कभी वे फ़सल कट जाने के बाद खेतों में पड़े बचे-खुचे अनाज पर गुज़ारा करते थे और कभी, अवसर मिलने पर, फ़सल कटने के पहले ही कुछ अनाज

चुरा लाते थे। चोरी की इस आशंका के कारण हर किसान अपनी फ़सल की तब तक चौबीसों घण्टे चौकसी करता था जब तक वह कट कर घरों में न आ जाती थी। बहुधा सारा गाँव मिल कर रखवाले नौकर रख लेता या गाँववाले बारी-बारी पहरा देते थे। पकड़े जाने पर, गाँववाले चोरों को कठोर दण्ड देते थे।

इस प्रकार, भूमि की उर्वरा-शक्ति किसान के कौशल और परिश्रम के कारण थी। चीन के प्राकृतिक साधनों की बहुलता के बावजूद वहाँ का किसान-समाज बड़ा अस्थिर और अनिश्चित जीवन बिताता था। संतानोत्पत्ति को वरीयता देने के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या जीवन के इस संघर्ष के लिए उत्तरदायी थी। संघर्ष जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता था, विलास की सामग्री जुटाने के लिए नहीं। मिट्टी की दीवारें, छप्परों की छतें, सजावट और गर्म रखने की सुविधाओं से वंचित घर, ठंढे कपड़े और जाड़ों के लिए रुई भरे कपड़े, निर्वाह योग्य भोजन और सतत अनवरत परिश्रम—अधिकतर लोगों के लिए यही जीवन का स्वप्न था और विगत व भविष्य में वे इसी जीवन की कल्पना कर पाते थे।

और तब भी लोगों का जीवन न तो निराशामय था और न बिलकुल रागहीन। श्रम की एकरसता भंग करने के लिए कभी नाटक द्वारा मनोरंजन हो जाता। दावतों के लिए हर बहाना ढूँढ़ निकाला जाता—भोजन आनन्द का मुख्य साधन था। यद्यपि हार से अपार कष्ट होता था फिर भी लोग जुआ खेलने के अवसर उत्सुकतापूर्वक ढूँढ़ते थे।

किसानों के बाद शिल्पी या कारीगरों का वर्ग आता था। चूँकि उद्योग दस्तकारी या हस्तशिल्प की मंज़िल तक ही पहुँचा था, इस वर्ग में मालिक या पूँजीपति और मज़दूर या क़ारीगर-जैसे कोई स्पष्ट विभाजन नहीं हुए थे, जैसे कि अधिकांश पश्चिमी देशों में आजकल है। सारा काम छोटे-छोटे घरों में होता था जो दूकान भी होते थे और घर भी। बहुधा दूकान सड़क पर या गली में खुलती थी ताकि आने-जाने वाले कारीगरों को काम करते देख सकें। इन उद्योग-संस्थानों में मालिक, शिल्पकार और शिक्षार्थी होते थे। सांमान्यतः इन शिक्षार्थियों को सात साल तक काम सीखना पड़ता था जिसके बाद वे धन्धे में कारीगर या मालिक की हैसियत से शामिल हो सकते थे। धन्धों के नियमों के अनुसार हर कारीगर के नीचे काम करनेवाले शार्गिदों की संख्या नियत होती थी, इसलिए इस बात की आशंका नहीं थी कि उद्योग आवश्यकता से अधिक विकसित हो जायगा, या शिक्षार्थियों या कारीगरों का बाहुल्य हो जायगा। काम सीखने के बाद शिक्षार्थी दूकान में ही लगा रहकर अपने काम के लिए वेतन पा सकता था और शार्गिर्दी का गुज़ारा खत्म कर सकता था। या वह किसी दूसरी दूकान में नौकरी कर सकता था। या फिर

वह अपनी दूकान स्वयं खोल सकता था। किन्तु, वास्तव में शागिर्द, उसी दूकान में, जहां वे काम सीखते थे, कारीगर बनने के बाद भी काम करते रहते थे

बड़े संस्थान दो या अधिक व्यक्तियों की साझेदारी में चलते थे यद्यपि सामूहिक या मिश्रित पूंजी संगठन-जैसे संस्थानों का तब अस्तित्व नहीं था। संस्थान के काम और देने-पावने के लिए साझेदार सामूहिक व व्यक्तिगत दोनों रूप से उत्तरदायी होते थे। और इस प्रथा को इस प्रचलित प्रणाली से बल मिलता था कि परिवार के सदस्यों का दायित्व परिवार का होता था। चीनियों की ईमानदारी की तो कहावतें बन गयी थीं कि चीनी की बात उतनी ही पक्की होती है जितने उसके दस्तखत। इससे पता चलता है कि वैयक्तिक व्यावसायिक मान अपेक्षतया ऊँचे थे। किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि इन ऊँचे मानों की स्थापना और उन्हें कायम रखने में पारिवारिक उत्तरदायित्व वाले सामाजिक संगठन तथा संवृत्त आर्थिक संगठन से बहुत सहायता मिली।

पूरा उद्योग गिल्ड या श्रेणी में संगठित होता था। शिक्षार्थियों को छोड़ शेष सभी लोग श्रेणी के सदस्य होते और उसे चलाते थे। श्रेणी संगठन में वार्षिक चुनावों के द्वारा एक अध्यक्ष, एक मंत्री तथा एक कार्यकारिणी समिति गठित होती थी। मंत्री पंडितवर्ग का उपाधिधारी होता था और श्रेणी का सारा प्रशासनिक कार्य भार उसी पर होता था।

श्रेणी कीमतों को स्थिर करती थी, उद्योग के उत्पादन की किस्म निर्धारित करती थी और उद्योग में लगे लोगों के वेतन तय करती थी। वार्षिक बैठकों में निम्नतम कीमत, वेतन व उत्पादन के मान स्थिर कर दिये जाते थे। यद्यपि मालिकों को अपने विवेक से निम्नतम वेतन बढ़ाने का भी अधिकार था, किन्तु व्यवहार में ऐसा कदाचित् ही होता था। इस नियंत्रण से अनुचित प्रतियोगिता रुक जाती थी और उद्योग में एक स्थायित्व आ जाता था; जैसे शिक्षार्थियों की संख्या नियत करने से आता था।

श्रेणी के सदस्यों के बीच, मालिक और कारीगर के बीच, या एक श्रेणी व दूसरे उद्योग के बीच के विवादों को तय करने का काम भी महत्त्वपूर्ण था। श्रेणी मध्यस्थ समिति के फ़ैसलों के विरुद्ध कदाचित् ही कोई अपील दण्डनायक तक पहुँचती थी, क्योंकि दण्डनायक समिति के पंच फ़ैसले से लगभग हमेशा ही सहमत होना इष्टकर मानते थे। फ़ैसला स्वीकार कर दण्ड भोगने के अलावा कोई चारा नहीं था, सिवा संगठन से अलग हो जाने के; और क़दम लोग कभी नहीं उठाते थे क्योंकि इससे व्यक्ति अपने प्रतियोगियों की दया का आश्रित हो जाता था। ये प्रतियोगी उसके कारीगरों को फुसला लेने, उसके रास्ते में अनके छोटी-मोटी बाधाएँ डालने, समस्त मालिक और कच्चे माल के आढ़तिये मिलकर अपनी सामूहिक शक्ति द्वारा उसे व्यवसाय से बाहर खदेड़ देने को स्वतंत्र हो जाते थे।

औद्योगिक विवाद और अन्तर-उद्योग कठिनाइयों को श्रेणी-सहायता से हल करने

के अलावा दण्डनायक व उद्योग के बीच संपर्क रखने का काम भी महत्त्वपूर्ण था। जैसा कि अभी कहा गया है उद्योग स्वयं अपना विनियमन कर लेता था, किन्तु कभी-कभी श्रेणी के सदस्य दण्डनायक के कार्यालय ऐसे मामले लेकर पहुँच जाते जिनका संबंध शांति और व्यवस्था से होता था और जो श्रेणी के निर्णय पर नहीं छोड़े जा सकते थे और जिन्हें दण्डनायक उपेक्षित नहीं कर सकता था। ऐसे मामलों में पूरा संगठन अपने सदस्य के बचाव के लिए सन्नद्ध होता। श्रेणी का उपाधिधारी मंत्री दण्डनायक के कार्यालय में प्राप्त सुविधाओं के आधार पर यह निश्चित कर लेता था कि दण्डनायक का निर्णय मनमाना न हो। वह दण्डनायक को स्थानीय जन-भावना से भी अवगत करा देता था ताकि वह कोई ऐसा निर्णय न कर बैठे जिससे बाद में कठिनाई हो। इस प्रकार, अधिकारियों से काम पड़ने पर, श्रेणी-सदस्य होने के नाते व्यक्ति को एक ऐसी सहायता प्राप्त हो जाती थी जो किसी अन्य सूत्र से मिलना कठिन था। चीन के जीवन में यह आर्थिक रूप में सामूहिक हित की सुदृढ़ता उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी कि सामाजिक परिवार-हित की सुदृढ़ता।

दण्डनायक भी नये कर लगाने, परंपरागत करों में वृद्धि करने, या उद्योग से संबंधित कोई क़दम उठाने से पहले श्रेणी से परामर्श कर लेना इष्टकर समझता था। यदि श्रेणी के पदाधिकारियों से विवाद के संबंध में बात करके पहले से ही दण्डनायक समझौता नहीं कर लेता तो उसके निर्णय का विरोध होने पर व्यर्थ का झगड़ा शुरू होता। व्यापार बन्द हो सकता था, उत्पादन ठप हो सकता था। ऐसे भी अवसर आ सकते थे जब भीड़ इकट्ठी कर दण्डनायक के कार्यालय पर धावा बुलवाया जा सकता था, उसका घर लूटा जा सकता था और उसकी जान पर भी ख़तरा आ सकता था। फलतः, सफल दण्डनायक श्रेणी के पदाधिकारियों से मिल-जुलकर काम चलाता था, आवश्यकता पड़ने पर श्रेणी के नियम पालन कराने और दण्ड दिलाने में सहायता करता था और इन पदाधिकारियों के सहयोग से अपने पद का कार्य संचालन करता था।

बैठकें करने और सामाजिक प्रयोजनों के लिए बहुत-सी श्रेणियों के अपने भवन होते थे; जो श्रेणियाँ संपन्न और महत्त्वपूर्ण होती थीं वे बड़ी सिव्बकियाँ रखते थे। यहाँ सदस्यों की दावतें और उनके मनोरंजन के लिए नाटक आदि होते थे। छोटी और आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर श्रेणियाँ बड़ी श्रेणियों से उनके भवन किराये पर ले लेती थीं ताकि अपनी बैठकें और मनोरंजन कर सकें; यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि श्रेणियाँ न केवल आर्थिक संगठन थीं, वरन् सामाजिक संगठन भी होती थीं। श्रेणियों के परोपकारी कृत्य भी महत्त्वपूर्ण होते थे, यद्यपि प्रान्त या व्यापार श्रेणियों के मुक़ाबिले में उनके परोपकारी काम इतने बड़े नहीं होते थे।

सौदागरों और व्यापारियों के संगठन भी उसी प्रकार बनते थे जैसे कि कारीगरों के।

स्थानीय रूप से पैदा की हुई वस्तुओं के व्यापारी कारीगर भी होते थे और अपनी दूकान में वह माल बेचते भी थे जो दूकान के पीछे तैयार होता रहता था। किन्तु जो व्यापारी किसी स्थान पर ऐसा विशिष्ट उत्पादन करते थे जो साम्राज्य के दूसरे भागों में बिकता था, उन्हें किसी संगठन की सदस्यता की आवश्यकता पड़ती थी। यह संगठन प्रान्तीय श्रेणी या क्लब का रूप लेता था जिसमें विभिन्न आर्थिक समुदायों के लोग होते थे, पर ये सभी एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी होते थे। इस प्रकार, फकीन या शानतुंग के लोग टींटसीन, पीकिंग या शंघाई में एक ही क्लब में हो जाते, चाहे वे सरकारी अधिकारी होते या सौदागर। इस प्रकार के संगठन की उपादेयता समझ में आ जायगी यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि ज़िले-ज़िले और प्रान्त-प्रान्त में बोलियों में भेद होता जाता था और बहुधा यह भेद भाषा का अंतर बन जाता था; फिर रहन-सहन, आचार-व्यवहार और प्रथाओं में भी महत्त्वपूर्ण अंतर होता जाता था। कोई कैण्टन नगर का निवासी यदि उत्तरी क्षेत्र में जाता तो बिलकुल विदेशी हो जाता, न वह वहाँ की बोली समझता, न वहाँ वाले उसकी बोली समझते और न वह उस क्षेत्र की प्रथाएँ ही समझता था। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह बात थी कि उससे अजनबी देश में एक विदेशी जैसा व्यवहार किये जाने की आशंका थी। ऐसी स्थिति में यह कोई विलक्षण बात नहीं थी कि वह ऐसे लोगों से संपर्क बनाये जो उसी-जैसी स्थिति में होते थे और इस प्रकार संगठन द्वारा अपने और उस समाज के बीच एक व्यवधान बना ले। इस संगठन से उसे एक और सहायता यह मिलती थी कि अधिकारी, जो अजनबी व्यक्ति से अशिष्टता का बरताव कर सकते थे, संगठन से अशिष्ट होने की हिम्मत नहीं करते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश का समस्त आर्थिक जीवन सुसंगठित और अधिकांशतः स्व-नियंत्रित था—गाँव में किसान और श्रेणियों में कारीगर, व्यापारी, सौदागर। श्रेणी संगठन कितने प्रकार के होते थे इसका अनुमान कुछ नाम गिनाने भर से हो जायगा; साम्राज्य के विभिन्न भागों में बुनने-कातने वालों की श्रेणियाँ थीं, महाजनों की श्रेणियाँ व एक प्रान्तीय क्लब भी था, क्योंकि महाजन शांसी प्रान्त से ही आते थे, रेशम की श्रेणी थी, ठेके पर सामान तैयार करनेवालों की श्रेणी थी, सुनारों, गाड़ी वालों की थीं, चोरों और भिखमंगों के संगठन थे, हर बड़े नगर में प्रान्तीय क्लब थे।

चूँकि चीन में व्यापारी थे, यह निष्कर्ष उचित है कि वहाँ व्यापार भी था और इसी प्रकार संचार साधन भी। आधुनिक युग के पूर्व के चीन में अंतर्देशीय व्यापार, संचार साधनों की कमी के बावजूद, व्यवसाय की धमनियों (सड़कों) के विकास और बढ़िया रख-रखाव के कारण था। समुद्र तटों पर स्थित एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल ढोया तो जाता था, पर उसमें जोखिम भी रहता था क्योंकि औसत चीनी छोटी नावें लम्बी

यात्रा या तूफानों का सामना करने योग्य नहीं होती थीं। कुछ नदियों में भीतर देश से समुद्र तट तक नावों में माल बख़ूबी ढोया जा सकता था। इस प्रकार, यांग्त्सी नदी में समुद्र तट से सोलह सौ मील भीतर तक नावें चल सकती थीं और उसकी सहायक नदियों में भी नावें चल सकती थीं; इससे पूरे, विशाल मध्य देश में व्यापार संभव हो गया था। पश्चिम नद ने इसी प्रकार दक्षिण प्रदेश की सेवा की थी और पी हो व पीत नद ने उत्तर में पूर्व से पश्चिम में वहाँ तक संचार संभव कर दिया था जहाँ तक इन नदियों में नावें चल सकती थीं। इन जल-मार्गों का नहरों द्वारा कृत्रिम विस्तार किया गया था और इस जलमार्ग-प्रणाली में सबसे बड़ी नहर थी जो पीकिंग से उत्तर में हैंग चाउ तक और दक्षिण में यांग्त्सी के दक्षिण तक आती थी। इस प्रकार उत्तर से दक्षिण के बीच एक जल-मार्ग बन गया था। मध्य और दक्षिण चीन में, विशेष कर वहाँ के पूर्वी प्रांतों में, बहुत-सी छोटी-छोटी नहरें थीं जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक माल ढोने के काम आती थीं। दुर्भाग्यवश, इन नहरों में से अनेक, जिनमें बड़ी पीकिंग नहर के भी कई अंग शामिल थे, मंचू साम्राज्य के उत्तरकाल में इतनी उपेक्षित रहीं कि वे प्रयुक्त ही नहीं होती थीं।

जिन स्थानों तक जल-मार्गों द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता था वहाँ संचार और परिवहन अधिक कठिन था। अच्छी सड़कें थी ही नहीं, क्योंकि शाही फौज और हरकारों के लिए जो बनी भी थीं वे बेमरम्मत रह कर ख़राब हो गयी थीं। उत्तर में ऊंट और गधा-गाड़ियों पर माल ढोया जाता था, पर जिन मार्गों से ले जाया या खींचा जाता था वे लीक भर ही थे और बीच-बीच में उनमें कई-कई फुट के गड्ढे होते थे; साल के कई महीने इन मार्गों पर यातायात असंभव था। मध्य और दक्षिण के प्रदेशों में यह मार्ग नहीं थे। उनकी जगह धान के खेतों के बीच की पगडण्डियों ने ले ली थी। उत्तरी मैदान व मध्य चीन में माल ढोने और कभी-कभी सवारियाँ ले जाने के लिए सामान्यतः रेढ़ी या एक पहियेका ठेला काम आता था। पहिया गाड़ी के बीच में होता था और माल दोनों ओर ऊँचाई से लाद दिया जाता था। माल ढोने के लिए रेढ़ी खींची भी जाती थी और धकेली भी, और इस तरह काफी माल ढो लिया जाता था। दक्षिण में थोड़ी दूरी के लिए ढुलाई मनुष्य की पीठ पर होती थी; बहँगी के बाँस के दोनों ओर माल लटकाकर कंधे पर बहँगी ले जायी जाती थी।

ऐसे आदिम परिवहन साधनों के होते हुए यही अद्भुत बात थी कि चीन में इतना अंतर्देशीय व्यापार हो पाता था। इस स्थिति में यह भी आश्चर्यजनक नहीं था कि लोग कम-से-कम यात्रा करते थे, उन अधिकारियों को छोड़कर जो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को जाते रहने को बाध्य थे। यातायात के साधनों की कमी लोगों को अपने घरों पर रखने में उतनी ही प्रभावकारी थी जितने कि पारिवारिक बन्धन; अतएव स्थानीय तथा प्रान्तीयता की भावनाएँ भी क़ायम रहती थीं।

अभी तक चीन और चीनियों की बात करते रहने में यह न भूलना चाहिए कि साम्राज्य में इतनी ही विविधता थी जितनी कि उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में। बोलचाल की भाषा के अंतर तथा प्रथा व परंपरा में एकरूपता के अभाव का विवरण ऊपर हो चुका है। यह विविधता, मुख्य अनाजों को छोड़ कर भोजन में, विशेषकर भोजन बनाने में, और दैनिक जीवन की सूक्ष्म बातों में भी परिलक्षित थी। यूरोपीय लोगों के चीन पहुँचने के पहले, लोग अपने-आपको स्थानीय या हद से हद प्रान्तीय सीमाओं तक बाँधते थे। इस प्रकार, कोई भी व्यक्ति सबसे पहले अपने-आपको अपने गाँव से संबद्ध करता था—जैसे, "मैं वांग परिवार के गाँव (वांग चुआंग-जेन) का रहने वाला हूँ"। उसकी समस्याएँ स्थानीय होती थीं और उनका समाधान स्थानीय लोगों के हित में ही होना होता था, फिर चाहे इस समाधान का प्रभाव-कुप्रभाव दूसरी जगह क्यों न पड़े। यह संभव था कि गाँववालों के साथ कोई गाँव वाला सहयोग करे या कोई व्यक्ति अपने नगरनिवासियों के साथ सहयोग करने को तैयार हो जाय, पर यह लगभग असंभव था कि किसी गाँववाले का किसी बाहरी व्यक्ति-समुदाय को सहयोग प्राप्त हो जाय। उदाहरण के लिए, पीत नद पर, बाढ़ रोकने के लिए उन योजनाओं के लागू करने में स्थानीय स्तर पर सहयोग प्राप्त हो जाता था जिनका प्रभाव दूसरे गाँवों पर विनाशकारी होता था। किन्तु सभी की समान समस्या के समाधान के लिए अंतरग्रामीण सहयोग दुर्लभ था। हर गाँव अपने हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहता था और चाहता था कि दूसरे गाँव अपने-अपने हितों की रक्षा अपने-आप करें।

(४) सांस्कृतिक जीवन

एकता के जिन बन्धों से चीन की एक इकाई के रूप में कल्पना सच होती थी वे वहाँ के राजनीतिक संगठन और बृहत्तर सांस्कृतिक जीवन में निहित थे। बोलचाल की भाषा की अनेकता लिखी जाने वाली भाषा की एकता से संतुलित होती थी। कैण्टनवासी उत्तरी क्षेत्र वालों से बात भले ही न कर पायें, लिखा-पढ़ी अवश्य कर सकते थे। लिपि में अक्षर नहीं थे, विशिष्ट वस्तु, विचार आदि के लिए पृथक् चिह्न होते थे जिनसे भाषा सार्वलौकिक साहित्य तथा विचारों, आदर्शों और संस्कृति के विराट् संगम का विकास और परिरक्षण करती थी। कनफूशियस की आचार-संहिता, जिसमें पारिवारिक संबंधों पर विशेष बल दिया गया था, तथा दूसरे महान् दार्शनिकों के सिद्धान्त समस्त साम्राज्य में एक ही रूप में पढ़ाये जाते थे और उन्हें सार्वजनीन स्वीकृति प्राप्त थी। बौद्ध धर्म स्थानीय मत नहीं था, लेकिन समस्त देश में प्रचलित था; उसे विदेशी धर्म नहीं माना जाता था, वरन् मूलतः चीनी मत समझा जाता था, क्योंकि विदेशी धर्म में मूलतः काफी लम्बे समय तक रूपान्तर

और हेर-फेर हुआ था। कोई भी दक्षिणवासी, यांग्त्सी के उत्तर में भी ताओ संप्रदाय के मंदिर में अपने को अजनबी नहीं मानता था। और सामान्य जनता शुभ और अशुभ प्रेतात्माओं के प्रति अन्धविश्वास में एक थी। यात्रा, विवाह, समाधि देने आदि के लिए कुछ दिन शुभ होते हैं, झाड़-फूँक से भूत भगाये जा सकते हैं, अशुभ प्रेतात्माएँ सीधे सामने चलती हैं, वायु की प्रेतात्माओं का मनुष्यों के प्रारब्ध पर प्रभाव पड़ता है—ये स्थानीय नहीं राष्ट्रीय विश्वास थे, यद्यपि स्थानीय परिस्थितियों की विशिष्टताओं के कारण इन विश्वासों के रूपभेद और रूपान्तर भी होते थे। देवताओं के नाम स्थान-स्थान पर बदलते रहते थे, पर उनकी विशेषताएं समान थीं और देवताओं के कोप से बचने के उपाय सारे साम्राज्य में एक-से ही थे।

बौद्ध धर्म के भारत से आये मूल मार्मिक, सूक्ष्म सिद्धान्तों को बिगाड़ कर, विपत्ति-काल में प्रयुक्त आराधना या शमनकारी कृत्यों की प्रणाली बना लेने के पीछे कोई सच्ची धार्मिक भावना नहीं, यही आन्धविश्वास था। प्राचीन दार्शनिक (लाओ त्ज़ू) के उपदेशों को संस्कार या विधि-विधान लाद कर ऐसा भ्रष्ट कर देना भी कि ताओ (पथ, मार्ग) से संबद्ध शुद्ध, धार्मिक जीवन-यापन के मूल सिद्धान्त दृष्टि से ओझल हो जायँ और व्यवहार से लुप्त हो जायँ, यह सब इसी अन्धविश्वास के कारण हुआ।

कनफूशियस के सिद्धान्त भी बदल दिये गये थे। यद्यपि कनफूशियस ने ईश्वर तथा इस जीवन के बाद किसी जीवन के संबंध में कुछ भी कहने से अपने को रोका ही था, और केवल सही ढंग से जीवन बिताने पर ही ध्यान केन्द्रित किया था, स्वयं उन्हें देवता बना दिया गया था और उनके दर्शन को धर्म बना दिया गया था। किन्तु तब भी कनफूशियस के सिद्धान्त इतने भ्रष्ट नहीं किये गये थे जितने कि बुद्ध या ताओ के, क्योंकि इसमें पूजा-आराधना के जो तत्त्व थे उन्हें, इस संसार में रहने से संबंधित उपदेशों के मुक़ाबिले, बहुत असावधानी से स्वीकार किया गया था। आज्ञा-पालन, पितृ-भक्ति, पड़ोसियों से उपयुक्त व्यवहार संबंधी उनके उपदेश जनता के जीवन और विचार-पद्धति में पूर्णरूपेण समा चुके थे। कनफूशियसवाद के दुर्भाग्यजनक निष्कर्ष विगत पर अत्यधिक बल देने के फल थे। इस महान् गुरु ने कोई नयी दर्शन-प्रणाली उत्पन्न करने का दावा नहीं किया, वह तो विगत के नैतिक अनुभवों को प्रणालीबद्ध कर उनकी पुनरुक्ति मात्र कर रहे थे। इस प्रकार उन्होंने नवीन मार्ग ढूंढ़ने और प्रयोग करने के स्थान पर प्राचीन व्यवहार को ही स्वीकार करने पर बल दिया था। उनका उपदेश था पीछे आदर्श जीवन पर लौटो, यह नहीं था कि आदर्श जीवन के लिए आगे बढ़ो। सन् १६४४ में मंचू विजय के उपरान्त अत्यन्त स्थायी समाज चीन में क़ायम रहा, इस समाज का सम्पर्क गैर-चीनी संसार के साथ नहीं था और इसी समाज ने कनफूशियस के मत की इतनी दीर्घकालीन स्वीकृति दी थी

(५) राजनीतिक प्रणाली

जो चीन सन् १८४२में सीमित विदेशी समागम के लिए खुला वहाँ सांस्कृतिक एकता के अतिरिक्त राजनीतिक एकता भी थी। यह सही है कि साम्राज्य प्रान्तों में बँटा हुआ था जो राज्य के प्रशासनिक व राजनीतिक भाग थे। और यद्यपि सारे प्रान्तीय अधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् करते थे, शाही आज्ञाओं के पालन में इतनी स्वच्छन्दता अवश्य मिलती थी कि वास्तव में वे अर्धस्वाधीन शासक ही होते थे। यातायात के साधनों की कमी तथा स्थानीय प्रथाओं और समस्याओं की विविधता देखते हुए ऐसा करना आवश्यक भी था। फिर भी, अधिकारियों की निष्ठा पीकिंग में ही निहित होती थी; वे एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को सारे साम्राज्य में तबादलों पर जाते रहते थे; प्रान्तों में शांति और व्यवस्था क़ायम रखने का समान दायित्व उन पर था और इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार के संचालनार्थ धन भेजने का काम भी इनका था, प्रांतीय अधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध अपील पीकिंग में ही होती थी।

प्रान्त उप-प्रान्तों (फू) में विभाजित थे और शासन की दृष्टि से उप-प्रान्तों को क्षेत्रगों (ताओ) में संगठिन कर दिया गया था। अट्ठारह प्रान्तों में लगभग एक-सौ चौरासी उप-प्रान्त और पच्चानवे क्षेत्रग थे। हर उप-प्रान्त कई-कई ज़िलों (ह्सीन) में बँटा था। पूरे देश में चौदह सौ सत्तर ज़िले थे। यद्यपि हर ज़िले में अनेक गाँव होते थे, प्रशासनिक और राजनीतिक इकाई ज़िला ही माना जाता था।

चारों ओर करद राज्य होने के कारण और यूरोपीय देशों से ऐसा संपर्क कम ही होने के कारण जिससे राष्ट्रीय भावना का विकास होता, चीन में राष्ट्रीय एकता के स्थान पर विविधता की प्रवृत्ति थी। निष्ठा और भक्ति स्थानीय, गाँव तक ही सीमित रहती थी और वहुत बढ़ती थी तो प्रान्त तक पहुँच जाती थी। जब तक पश्चिम के संपर्क से समता और असमानता की तुलना का नया आधार नहीं बना था, दूसरे गाँवों या प्रान्तों में जो भी घटता था उसमें केवल उस घटना से प्रत्यक्षतः प्रभावित होनेवाले लोगों की ही दिलचस्पी होती थी। विदेशी संपर्क के वाद के वर्षों में स्थानीयता के ऐतिहासिक फल पूरी तरह प्रकट हुए। किन्तु, यहाँ साम्राज्य में बाद में होनेवाली घटनाओं की एक व्याख्या पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए देश के क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण के महत्त्व पर बल देना आवश्यक है।

[इसी प्रकार, आधुनिक चीन और उससे प्रभावित सुदूरपूर्व के देशों के इतिहास को समझने के लिए, आधुनिक युग से पहले के चीन के राजनीतिक संगठन पर, पीकिंग (केन्द्र) तथा प्रान्तीय स्तर के संगठन पर, ध्यान देना आवश्यक है।]

एक जानकार लेखक ने चीनी साम्राज्य की राजनीतिक पद्धति का वर्णन करते हुए उसे "लोकतंत्र पर अध्यारोपित स्वेच्छाचारी एकतंत्र" कहा है। एक दृष्टि से, इस निरूपण की संगति साम्राज्य के राजनीतिक संबंधों के सिद्धान्त में परिलक्षित होती है। सिद्धान्ततः, सम्राट् को निरंकुश शासक के अधिकार प्राप्त थे। राज्य का वह सर्वोच्च विधि-निर्माता था, उसके नियंत्रण व निदेशन में प्रशासनिक व कार्यकारी कर्त्तव्य संपन्न होते थे, और, वही न्याय का स्रोत था। दूसरे शब्दों में, जनता और अधिकारी सम्पूर्ण सत्ता के एक व्यक्ति में पूर्ण केन्द्रीकरण के आदी थे। यद्यपि सैद्धान्तिक, किन्तु वास्तविक अर्थ में भी, सम्राट् "दैवी अधिकार" से शासन करता था, क्योंकि वह जनता या महत्त्वपूर्ण समुदायों के प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी नहीं था। शासन के लिए उसे ईश्वरीय निर्देश प्राप्त था और इस निर्देश के वापस हुए बिना ऐसी कोई सत्ता ही नहीं थी जिसके प्रति वह अपने कृत्यों के लिए उत्तरदायी हो। हाँ, व्यवहार में, उससे अपेक्षा की जाती थी कि वह नीति-शास्ता-परिषद् के सदस्यों तथा दूसरे उच्च-स्तरीय अधिकारी संगठनों की सम्मति पर उत्तरदायी ढंग से कार्य करेगा। अतः सम्राट् सीमित अर्थ में उत्तरदायी ढंग से काम करता भी था। ईश्वर-प्रदत्त स्वेच्छाचारी एकतंत्रीय अधिकारों के बदले में वह साम्राज्य में शांति, सुरक्षा तथा आपेक्षिक समृद्धि का उत्तरदायित्व वहन करता था। इस प्रकार, यदि कहीं व्यापक रूप से अकाल पड़ गया तो यह सम्राट् की किसी असफलता का परिणाम समझा जाता था। अकाल से, स्वाभाविक रूप में, लूट-मार भी शुरू हो सकती थी और बड़ी संख्या में सशस्त्र लोगों के एकत्र हो जाने पर साम्राज्य-सत्ता के विरुद्ध विद्रोह भी हो सकता था। सफल विद्रोह से राजवंश का अंत हो सकता था, जिसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता था कि ईश्वरीय या दैवी अधिकार वापस ले लिये गये। स्पष्टतः, यह सम्राट् के ही सच्चे हित में था कि नीतिशास्ता-परिषद्-जैसे शासन के अंगों द्वारा, जहाँ तक संभव हो, यह निश्चित करता रहे कि जनता की दशा ठीक है। वस्तुस्थिति यह है कि चीनी इतिहास में कई राजवंशों का अंत इसी ऊपर लिखी प्रक्रिया के रूपान्तर से ही हुआ, चाहे नये शासक देश के भीतर से ही आये हों या बाहर से विजय करने आये हों। किन्तु यह कहना भी संगत होगा कि अकाल-जैसे कठिन समय के साथ ही शासन सत्ता भी काफी ढीली हो तभी विद्रोह सफल हो सकते थे। सन् १९११ में मंचू वंश का बलात् पराभव हुआ क्योंकि राजवंशों से छुटकारा पाने का कोई नया तरीक़ा नहीं था। चीनी राजनीतिक सिद्धान्त में विद्रोह के अधिकार को स्पष्ट मान्यता थी और चीन सदैव विद्रोहों का देश जाना ही जाता था।

प्राचीन चीनी राजनीतिक संस्थाओं के दर्शन और सिद्धान्त समझने के लिए कनफूशियस के क्लैसिक ग्रंथों में से कुछ उद्धरण उपयुक्त होंगे--"जो जनता सुनती है, ईश्वर

सुनता है; जो जनता देखती है, ईश्वर देखता है।" फिर, "राजनीतिक राज्य में जनता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, संस्थाओं का महत्त्व उससे कम है, सबसे कम महत्त्व सम्राट् का है।" विद्रोह के सिद्धान्त और व्यवहार द्वारा कार्यान्वित जनता के महत्त्व की इस संकल्पना ने चीन को सचमुच ही "दैवी अधिकार" का एक कामचलाऊ सिद्धान्त प्रदान कर दिया, जिसके पूरे और ठीक कार्यान्वय से सुचारु रूप से चलनेवाला राज्य बन सकता था।

किन्तु सम्राट् के परम, निर्बाध अधिकारों पर कुछ अन्य सीमाएँ व प्रतिबन्ध भी थे। अपने पूर्ववर्ती सम्राटों की राजाज्ञाओं और शाही महल के कानूनों की सीमा सम्राट् द्वारा अपनी सर्वोच्च सत्ता के प्रयोग पर लागू रहती थी। शब्दशः इनका पालन करने को वह बाध्य नहीं था, किन्तु वे उसके व्यक्तिगत व शासन दोनों क्षेत्रों में व्यवहार के लिए बहुमूल्य मार्गदर्शन तो थे ही। फिर, निश्चय ही उस पर प्रथा और परंपरा के प्रतिबन्ध थे। प्रथा के विरुद्ध आदेश कर देने का अधिकार तो उसे था, पर कानून द्वारा प्रथा बदलना तो कभी संभव नहीं होता और यह बात जिस हद तक चीन के संबंध में सही है उस हद तक कहीं के लिए नहीं; चीन में परंपरा के महत्त्व का अत्यंकन असंभव है।

उन देशों में, जहाँ व्यक्ति का शासन चलता है, शुरू में तो निरंकुश शासक अपने अधिकारों का व्यापक प्रयोग करते हैं, किन्तु धीरे-धीरे, वंश आगे चलने पर, आगे आने वाले शासक राज्य के कार्यों में दिलचस्पी लेना कम कर देते हैं और असली सत्ता सलाहकारों के हाथों में आ जाती है। जब शासक महल और राजधानी में ही रहता है, तब उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि राज्य की नीतियाँ निर्धारित करने के लिए वह अधिकाधिक दूसरों के परामर्श पर निर्भर करे; और इस प्रकार वास्तविक शक्ति उन लोगों तक पहुँच जाती है जो शासक का विश्वास प्राप्त कर लेते हैं और वह विश्वास क़ायम रखते हैं; कभी-कभी ये लोग महल के सेवक भर होते हैं। हर दशा में निरंकुश शासक को अपने आदेशों का पालन कराने के लिए दूसरों का भरोसा करना ही होता है। यह भरोसा भी उसकी वास्तविक शक्ति में हेरफेर करता है।

अपने निर्णयों में चीन के सम्राट् को दो निकायों से सहायता मिलती थी, महासचिवालय और महापरिषद् से। सन् १७२९ के बाद महासचिवालय महाअभिलेखागार मात्र बन गया था और शासन में उसका कोई महत्त्व नहीं था। दूसरी ओर महापरिषद् अत्यधिक महत्त्व की परामर्श-समिति थी। सामान्यतः इसके छः सदस्य होते थे, वे सब केन्द्रीय सरकार के उच्च पदों पर होते थे, बहुधा प्रसाशकीय मंडलों के अध्यक्ष भी होते थे।

जहाँ तक पीकिंग का संबंध था, साम्राज्य का वास्तविक प्रशासन इन्हीं मंडलों द्वारा होता था। इन मंडलों की संख्या छः होती थी; सन् १९०१ के सुधारों के बाद इनकी संख्या बढ़ाकर ग्यारह कर दी गयी थी। मूल छः मण्डल थे——असैनिक नियुक्तियाँ जिसका

मुख्य काम था प्रश्रय—वितरण; माल जिसके अंतर्गत प्रान्तों से आये कर व अंशदान विभिन्न कार्य के लिए वितरित होते थे; रीति—जो समारोहों का नियंत्रण करता था और पूर्वीय दरबारों के इस महत्त्वपूर्ण काम को सम्हालता था; युद्ध—जो उस फ़ौजी व नौसैनिक संगठन की देखभाल करता था जो प्रान्तीय नियंत्रण में नहीं आता था या जिसके लिए कोई और व्यवस्था नहीं होती थी; दण्ड—जो न्याय विभाग का काम देखता था; तथा, निर्माण—जो सरकारी सड़कों, इमारतों, सरकारी संपत्ति आदि की देखभाल करता था।

केन्द्रीय सरकार के अंगों में नीतिशास्ता-परिषद् महत्त्वपूर्ण थी और उसे सम्राट् के "आंख और कान" कहना उचित ही था। इसके चौबीस पार्षद पीकिंग में होते थे और छप्पन प्रान्तों में। प्रान्तों के राज्यपाल और वाइसराय इसके अवैतनिक सदस्य होते थे। परिषद् का काम था आलोचना करना और उसके सदस्य यह काम खुल कर करते थे, यद्यपि सदैव यह आलोचना निष्पक्ष नहीं होती थी। पूरी शासन प्रणाली में ऊपर स्वयं सम्राट् से लेकर नीचे ज़िला दण्डनायक तक कोई भी ऐसा अधिकारी न था जिसकी आलोचना इस परिषद् में न हो सके। पिछली शताब्दी की अंतिम दशाब्दियों में ही चीन की शासक, विधवा सम्राज्ञी को एक आलोचक पार्षद ने एक स्मृतिपत्र भेजा जिसमें इस बात की कड़ी आलोचना की गयी थी कि सम्राज्ञी ने अब तक उत्तराधिकारी की व्यवस्था नहीं की थी जो मृत सम्राट् की पूजा का भार उठाता। इस आलोचना को भेजने के बाद पार्षद ने आत्महत्या कर ली ताकि उसकी आलोचना पर ध्यान केन्द्रित हो और उसे बल मिले और इसलिए भी कि सम्राज्ञी का कोपभाजन बनने से वह बच जाय। एक अर्थ में, प्रान्तीय पार्षद, प्रान्तीय अधिकारियों के कार्य-कलाप पर निगाह रखनेवाले भेदिये होते थे जो सम्राट् को इन अधिकारियों के अच्छे-बुरे कामों की सूचना देते रहते थे और जिस सूचना के आधार पर सम्राट् अच्छे काम करने वालों को पुरस्कार और कर्त्तव्य-अवहेलना करने वालों को दण्ड देता था। प्रान्तीय अधिकारियों पर अपना नियंत्रण रखने के केन्द्रीय शासन के जो उपाय थे, उनमें से एक यह भी था।

3889

यह बताया जा चुका है कि प्रान्त साम्राज्य की अर्ध-स्वायत्तशासी इकाइयां थीं। सामान्य नीतियों का निर्धारण पीकिंग में होता था, इनका कार्यान्वय होता था प्रान्तों में जहाँ स्थानीय परिस्थितियों और प्रथाओं तथा उच्च प्रान्तीय अधिकारियों की नीति पर प्रतिक्रिया के अनुरूप इनमें हेरफेर होता था। बौक्सर आंदोलन के विकास में इस बात का अच्छा उदाहरण मिलता है। जब अंततः विधवा सम्राज्ञी ने बाक्सरों के समर्थन का संकल्प कर लिया, प्रान्तों को गुप्त आदेश भेज दिये गये कि सभी विदेशी समुद्र में खदेड़ दिये जायँ। कुछ प्रान्तों में तो इस आदेश का पालन करने के प्रयत्न हुए, कुछ अन्य प्रान्तों में इस आदेश

की अवहेलना ही नहीं कर दी गयी, वरन् शाही आदेश के विपरीत अधिकारियों ने अपनी शक्ति भर विदेशियों की सुरक्षा भी की। जब आंदोलन समाप्त हो गया, तब इन अधिकारियों को, जिनमें यु आन शिहकाई और चांग चिह तुंग भी शामिल थे, शाही आदेश की अवहेलना पर दण्ड देने की जगह, बाहरी शक्तियों की मजबूती की बेहतर समझदारी के लिए सम्मानित किया गया। किन्तु, यद्यपि इस विशिष्ट घटना में अधिकारियों का विवेक ही सही साबित हुआ, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जब भी किसी नीति के साम्राज्य भर में एक साथ समान रूप से लागू करने की आवश्यकता होती, यही बात दुर्बलता का लक्षण बन जाती थी।

प्रान्त के शासन में सबसे ऊपर राज्यपाल या वाइसराय होता था। अधिकांश प्रान्तों के समूह बना कर उन्हें वाइसरायों के अधीन कर दिया गया था। इसमें अपवाद थे शानतुंग, शांसी, होनान जो राज्यपालों के अधीन थे। चिहली और ज़ेचुआन प्रान्तों को राज्यपालों के अधीन नहीं किया जाता था और उनके लिए वाइसराय नियुक्त होते थे। तीन प्रान्तों—किआंगसू, आनहुई तथा किआंगसी—के लिए एक वाइसराय होता था; शेष दस प्रान्तों में हर दो के लिए एक वाइसराय होता था।

उन जगहों को छोड़कर जहाँ वह अपने कार्यभार के अतिरिक्त किसी-किसी प्रान्त के राज्यपाल का काम भी अपने ऊपर ले लेते थे, जैसा कि कानसू, चिहली तथा ज़ेचुआन प्रान्तों में होता था, वाइसराय राज्यपाल के ज्येष्ठ सहयोगी होते थे और अपने अधिकार-क्षेत्र के प्रान्तों पर सामान्य देखभाल का काम करते थे। इन दोनों अधिकारियों का अपने-अपने क्षेत्रों से वही संबंध होता था जो सम्राट् का चीन से था। प्रान्त की स्थिति ठीक रखने और प्रान्तीय अंशदान पीकिंग तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व उन्हीं का होता था। इन सीमित कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए इन्हें व्यापक साधन उपलब्ध होते थे; सिद्धान्ततः अपने अधीन क्षेत्र में उन्हें परम अधिकार प्राप्त थे। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि इन अधिकारों के प्रयोग में वे ही सामान्य सीमाएं थीं, जो कि सम्राट् के लिए लागू होती थीं, अर्थात् प्रान्त की प्रथा व परंपराएँ और शान्ति, सुरक्षा व समृद्धि कायम करने की आवश्यकता। चूँकि वे केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष उत्तरदायी थे, वे तात्कालिक उत्तरदायित्व की भावना से काम करने को बाध्य थे। साथ ही, उनके अधिकारों की एक और सीमा यह भी थी कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त और उसीके अधीन काम करने वाले अनेक अधिकारी भी प्रान्तों में मौजूद रहते थे। ये अधिकारी राज्यपालों व परस्पर एक दूसरे पर एक प्रकार की रोक बने रहते थे। और अंत में, उच्च प्रान्तीय अधिकारियों की सत्ता उसी सीमा तक सर्वोच्च थी जिस सीमा तक पुराध्यक्ष तथा दण्डनायक उनकी आज्ञाओं को मानते और उन पर अमल करते थे।

प्रान्त के अन्य महत्त्वपूर्ण अधिकारियों में कोषाध्यक्ष होता था। "वह हर प्रान्त की असैनिक सेवा (सिविल सर्विस) का सांकेतिक अध्यक्ष होता है, जिसके नाम से सारा संरक्षण प्रदान किया जाता है, चाहे यह संरक्षण प्रत्यक्षतः राज्यपाल द्वारा ही क्यों न प्रदान किया जाय; वह प्रान्तीय कोष का कोषाध्यक्ष है और इस प्रकार केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यपाल पर, जो कि कोषाध्यक्ष के पद से सांकेतिक रूप से ऊँचा पद है, रखा गया एक निरोध है।"[5] अन्य अधिकारी थे——न्यायाधीश, जिनका अधिकार-क्षेत्र फौजदारी की अपीलें सुनने और फौजदारी के मामले निपटाने तक था, नमक नियंत्रक, जो नमक के "उत्पादन, यातायात व विक्रय का नियंत्रण" करता था (नमक का व्यापार सरकारी इजारेदारी में था), तथा अनाज-अधीक्षक जो गल्ले के रूप में मिलने वाले कर का संग्रह नियंत्रित करता था। इन अधिकारियों से मिलकर सामान्य प्रान्तीय अधिकारी प्रणाली बनती थी।

हर प्रशासकीय परिधि का अध्यक्ष होता था ताओ-ताई पदाधिकारी जिसके विशिष्ट प्रशासकीय कर्त्तव्य थे; उप-प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी प्रिफेक्ट या पुराधिपति होता था जो अपने प्रतिनियुक्त अधिकारियों की सहायता से शासन-प्रवन्ध करता था।

अधिकारियों की इस श्रृंखला में सबसे नीचे होता था दण्डनायक या ज़िला-अधिकारी जिसे ह्सीन कहते थे; साम्राज्य में असली प्रशासकीय अधिकारी यही होता था और कई दृष्टियों से पूरे संगठन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भी। उसके कार्य और कर्त्तव्य इतने अधिक और विस्तृत होते थे कि उनकी पूरी गिनती यहाँ करना असंभव है। शासन-प्रणाली में उसका स्थान व जनता के संबंध में उसकी स्थिति उसकी उपाधि "माई-बाप अफसर" से प्रकट है; इसी उपाधि से कभी-कभी वह पुकारा भी जाता था। उसके अपेक्षतया अधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों की ओर यहाँ इंगित कर दिया जाय। वह पुलिस दण्डनायक होता था और पुलिस द्वारा लाये गये सामान्य मामलों का फैसला करता था। सभी दीवानी और फौजदारी के मामले पहले-पहल उसकी अदालत में आते थे। वह अपमृत्यविचारक (कौरोनर), अभियोजन न्यायवादी (प्रौसीक्यूटिंग एटर्नी), नगर प्रमख (शेरिफ), कारागार संरक्षक (जेल वार्डन), राजस्व और अन्न-कर की वसूली के लिए केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि, भूमि-पंजीयक (रजिस्ट्रार), जिले का दुर्भिक्ष आयुक्त, निर्माण मण्डल तथा प्रान्तीय कोषाध्यक्ष का स्थानीय प्रतिनिधि, सरकारी भवनों का परिरक्षक भी होता था। इन अनेक कर्त्तव्यों के अलावा, दण्डनायक का महत्त्व यह भी होता था कि अधिकांश जनता केवल इसी अधिकारी को जानती थी और वही देश की राजनीतिक पद्धति और जनता के बीच की कड़ी होता

था। यह तथ्य कालान्तर में प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की राष्ट्रीय पद्धति स्थापित करने के जो प्रयास हुए उनके संदर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण है।

शाही युग की प्रान्तीय शासन-प्रणाली का विशद वर्णन इसलिए आवश्यक था कि इसी प्रणाली की आधारभित्ति पर गणराज्य की स्थापना होती थी। और इसी प्रणाली से क्रान्ति के बाद की वह स्थिति उत्पन्न हुई जिससे चीन में फौजी शासन हुआ––प्रान्तों पर नियंत्रण और उसे पीकिंग तक बढ़ा लेने वाला फौजी शासन।[६]

अधिकारियों की इस श्रृंखला या सोपान के सभी सदस्यों को सम्राट् या तो स्वयं ही या किसी उच्च पदाधिकारी की सिफारिश पर नियुक्त करता था। सम्राट् से अपेक्षा की जाती थी कि उन परीक्षाओं द्वारा छाँटे गये व्यक्तियों में से ही नियुक्तियाँ करेगा जो देशभर में निश्चित समय पर होती रहती थीं। असैनिक सेवा में नियुक्त होने के लिए उम्मीदवार जिले, उप-प्रान्त, प्रान्त की प्रतियोगिताओं में भाग लेते व उत्तीर्ण होते हुए केन्द्रीय सेवा के लिए पीकिंग में होनेवाली परीक्षा में भाग लेते थे। फौज या कुछ पेशों के लोगों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति इन परीक्षाओं में भाग ले सकता था। किन्तु परीक्षाओं में सफलता से नियुक्ति या नियुक्ति के बाद पदोन्नति निश्चित नहीं हो जाती थी। क्योंकि आगे बढ़ने के लिए उच्च पदाधिकारियों या दरबार में किसी से मित्रता आवश्यक थी; उत्तर मंचू शासन में किसी या अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों के लोभ-लालच को पूरा करने पर ही यह पदोन्नति या नियुक्ति संभव थी। वास्तव में, पदों के व्यापार की एक नियमित प्रणाली बनी हुई थी जो सम्राट् के महल से ही शुरू होती थी। सम्राट् के महल-कानूनों के अंतर्गत कंचुकी या नपुंसक महल-रक्षकों को राजनीति या प्रशासन में दिलचस्पी लेने का अधिकार नहीं था, किन्तु विधवा सम्राज्ञी के शासनकाल में वास्तविक सत्ता मुख्य कंचुकी के हाथों में आ गयी थी। मंचू शासन की अंतिम अर्धशती में जो राजनीतिक ह्रास हुआ उसका एक कारण यह स्थिति भी थी।

इस तथ्य के बावजूद इस परीक्षा-प्रणाली का यह अर्थ तो था ही कि उस समय के मानदण्ड के अनुसार अधिकारी वर्ग उन्हीं लोगों में से नियुक्त होता था जिन्हें संतोषजनक शिक्षा मिल चुकी होती थी। दुर्भाग्यवश, इन परीक्षाओं में प्रशासकीय क्षमता की जाँच बिलकुल नहीं हो पाती थी और न शासन की समस्याओं के ज्ञान की ही जाँच हो पाती थी, क्योंकि शिक्षा-प्रणाली कनफूशियस की संस्थापनाओं पर आधारित थी और परीक्षाओं में जिन योग्यताओं पर जोर दिया जाता था वे शास्त्रीय विषयों पर निबन्ध रचना से ही सबंधित थीं। किन्तु जब तक प्रशासक के कर्त्तव्य वास्तविक कम और सांकेतिक अधिक रहे और प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति प्रशासन में प्राविधिक प्रशिक्षण

की जगह सहज बुद्धि से ही हो जाती थी, तब तक इस प्रणाली से संतोषजनक रूप से काम चलता रहा।

सामान्य नियम के अनुसार सभी अधिकारी तीन साल के लिए नियुक्त होते थे; किसी अन्य पद पर स्थानान्तरण के पहले तीन साल की एक नियुक्ति के बाद उसी पद पर एक पुनर्नियुक्ति की संभावना रहती थी। किन्तु यह कोई अपरिवर्तनीय नियम नहीं था और कुछ महत्त्वपूर्ण पदों पर कुछ अधिकारी बहुत लम्बी अवधि के लिए रख लिये जाते थे। नियम का एक प्रसिद्ध अपवाद था टींटसिन के वाइसराय पद पर ली हुन-चांग का चौबीस वर्ष तक रखा जाना। किन्तु जिस नियम का अपवाद नहीं होता था वह था किसी भी राज्यपाल या दण्डनायक को उसकी पैदाइश के जिले या प्रान्त में नियुक्त न करना। इन नियमों, विशेषकर दूसरे नियम के लिए पर्याप्त कारण थे। उदाहरणार्थ, यदि किसी बुद्धिमान् और कुशल प्रशासक को उसकी पैदाइश के प्रान्त में राज्यपाल बनाकर लम्बी अवधि के लिए छोड़ दिया जाता तो वह केन्द्रीय सरकार से स्वतंत्र होकर अपनी स्थिति प्रान्त में मजबूत कर सकता था। यह इसलिए संभव था कि सफल प्रान्तवासी होने के नाते उसके स्थानीय अनुयायी तो होते ही थे और उसके पारिवारिक जीवन की जड़ें प्रान्त में ही होने के फलस्वरूप इन अनुयायियों-अनुचरों की संख्या और निष्ठा बढ़ती जाती थी। एक ऐसे नये प्रान्त में नियुक्ति जहाँ की स्थानीय प्रथाओं से वह अनभिज्ञ हो और थोड़े-थोड़े समय बाद नये स्थानों और वातावरणों में स्थानान्तरण द्वारा केन्द्रीय शासन राज्यपालों में स्वाधीनता की भावना पैदा होने से रोक देता था और साम्राज्य से प्रान्त के स्वतंत्र करने के प्रयास की संभावना भी रुक जाती थी। यह खतरा उन प्रान्तों में और भी अधिक था जो पीकिंग से बहुत दूर थे। ये दो रीतियाँ ऐसी थीं जिनके फलस्वरूप अधिकारियों को व्यापक विवेकाधिकार मिले रहने के बावजूद शाही शासन कायम रहा।

शाही शासन के कायम रहने का कारण यह प्रथा या रीति भी थी कि संरक्षण वितरण में विभिन्न गुटों या समुदायों में संतुलन रहे। पहले तो केन्द्रीय सरकार में, नियुक्ति के समय यह ध्यान रखा जाता था कि मंचू और चीनी लोगों के बीच संतुलन रहे; यह रीति गत शताब्दी के लगभग अंत तक पाली जाती रही जब मंचुओं का प्राधान्य शुरू हो गया। फिर इसी बीच, दो बड़े और मुख्य समुदायों को, जो अपने नेताओं के प्रान्तों के आधार पर चिहली और आनहुइ के लोगों के समुदाय कहे जाते थे, लगातार आपस में एक-दूसरे से लड़ाया जाता रहा ताकि उनमें से कोई प्रभुत्व पूर्ण या शक्तिशाली बन कर मंचुओं के लिए संकट न बन जाय। सन् १८९५ के बाद एक तीसरा, कैण्टनवासियों का समुदाय, जिससे अब तक हमेशा अधिकारी जीवन में भेदभाव बरता जाता रहा

था, सम्राट् के शासन-सुधार के प्रयास में समर्थ योग देकर प्रमुख बन गया ।[७] सुधार-आंदोलन की असफलता के बाद उनमें से अनेक निर्वासित कर दिये गये, और इस प्रकार कैण्टनवासी क्रान्तिकारी प्रचार से सम्बद्ध समझे जाने लगे । सन् १९११ के विद्रोह में दक्षिण के नेतृत्व का एक कारण यह भी था । एक गुट को दूसरे गुट के विरुद्ध संतुलित रखने के लिए प्रान्तीय ही नहीं, केन्द्रीय नौकरियों में भी नियुक्तियाँ इसी दृष्टि से की जाती थीं ।

शासन की अधिकारी पद्धति से हटकर, गैर-सरकारी या अधिकारियों के अतिरिक्त जो प्रणाली थी, उसका वर्णन करने के पहले अधिकारी-शृंखला में एक-दूसरे के संबंधों का कुछ विवरण दे देना उपयुक्त होगा । जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सम्राट् सारे देश के शासन के लिए उत्तरदायी था । किन्तु वह वाइसराय या राज्यपाल नियुक्त कर और उन्हें अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों के लिए उत्तरदायी बना कर अपना उत्तरदायित्व निभाता था । राज्यपाल उप-प्रान्त अधिकारी को उप-प्रान्त की स्थिति के संबंध में जिम्मेदार बनाता था और वह अपने अधीन जिलों के दण्डनायकों पर यह जिम्मेदारी लाद देते थे । दण्डनायक अपने क्षेत्रों के गाँवों के मुखियों को गाँवों की स्थिति के लिए उत्तरदायी बना देते थे । किन्तु इस उत्तरदायित्व वितरण या विकेन्द्रीकरण के बावजूद, कोई भी अधिकारी अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति न कर पाने पर यह बहाना नहीं कर सकता था कि उसके अधीनस्थ अधिकारियों ने कर्त्तव्य-अवहेलना की थी ।

पार्कर ने प्रशासकीय घोषणाओं का जो उदाहरण दिया है उससे उत्तरदायित्व को दूसरों को सौंपने की यह पद्धति काफी स्पष्ट हो जाती है—"दण्डनायक उप-प्रान्तपति से आदेश पाकर सम्मानित हुआ है; उप-प्रान्तपति ने ताओ-तर्ई के आदेश का हवाला दिया है; महामहिम राज्यपाल और वाइसराय के आदेश प्राप्त कर कोषाध्यक्ष व न्यायाधीश ने ताओ-ताई को निर्देशित किया था; वाइसराय और राज्यपाल उस विदेश मंडल के आदेश पर कार्य कर रहे थे जो सम्राट् के आदेश पाकर सम्मानित हुआ था..."

चीन के राजनीतिक जीवन के एक अन्य विशिष्ट लक्षण पर ध्यान देना शेष है । किसी भी अधिकारी को इतना वेतन नहीं मिलता था कि वह सम्यक् रूप से अपनी सिब्बदी का निर्वाह कर सके या अपने भविष्य के लिए कोई उपयुक्त प्रवन्ध कर सके । मोर्स ने दण्डनायक का वार्षिक वेतन सौ से लेकर तीन सौ ताएल तक बताया है, और इसी अनुपात में उच्च पदाधिकारियों का वेतन-क्रम बढ़ता हुआ बताया है; किन्तु ये वेतन बिलकुल ही कम और अनुपयुक्त थे । इस वेतन के अतिरिक्त उन्हें "अधिकारियों में ईमानदारी प्रोत्साहित करने का" भत्ता भी मिलता था जो वेतनों से कई गुना अधिक होता था । किन्तु इस भत्ते के बावजूद अधिकारियों की आय उनकी आवश्यकताओं

से कम रहती थी। इसका स्वाभाविक फल यह होता था कि वे हर उपलब्ध साधन द्वारा अपनी आय बढ़ाते रहते थे। साम्राज्य के आर्थिक प्रशासन की प्रणाली में अधिकारियों को अपने कम वेतनों को 'ऊपरी' आय से पूरा करने की छूट रहती थी।

केन्द्रीय शासन व्यक्तियों पर कर नहीं लगाता था, बल्कि प्रान्तों की उगाहने की क्षमता के आधार पर राजस्व की अपनी आवश्यकताएँ हर प्रान्त पर आरोपित कर देता था। इस प्रकार, राज्यपाल को सूचना प्राप्त हो जाती थी कि शाही कोष में उस प्रान्त से कितना धन पहुँचने की अपेक्षा की जाती थी। यह धनराशि केन्द्र पहुँच जाय तो फिर केन्द्र प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था में दिलचस्पी नहीं लेता था। चूँकि केन्द्र के खर्च अधिक नहीं थे, सामान्यतः प्रान्त राजस्व के सुस्थापित मदों से ही राजस्व-मण्डल की माँग से अधिक धन दे सकते थे। अतः यह प्रथा वहुत पहले ही शुरू हो गयी थी कि राज्यपाल केन्द्रीय माँग में वह राशि भी शामिल कर दे जो उसके बड़े अमले या सिब्वदी और वहुसंख्यक कर्मचारियों को रखने पर खर्च होती थी, पर जिसकी व्यवस्था अर्थ-प्रणाली में आधिकारिक रूप से नहीं होती थी और स्वयं राज्यपाल से जिसका खर्च भरने की अपेक्षा की जाती थी। यह बढ़ी हुई राशि वह विभिन्न उप-प्रान्तों में बाँट देता था। यदि उप-प्रान्तों से ये माँगें पूरी हो जाती थीं तो राज्यपाल का उत्तरदायित्व पूरा हो जाता था और वह यह जाँचने की कोशिश नहीं करता था कि प्रान्तीय कोष में वह पूरी राशि जमा हुई या नहीं जो नीचे के अधिकारियों द्वारा वसूल की गयी थी। पुराधिपति या उप-प्रान्तपति राज्यपाल द्वारा आँकी व माँगी गयी रकम में वह रकम भी जोड़ देता था जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चाहिए थी। यह बढ़ी हुई माँग जिलों पर बाँट दी जाती थी और दण्डनायक इसे वसूल करते थे। चूँकि दण्डनायक को केवल उसी राशि का हिसाब देना होता था जो उसके जिले पर आँकी गयी होती थी, वह व्यक्तियों पर उतना कर लगा देता था जितना कि विना अनावश्यक झगड़ा-झंझट के वसूल हो सके। ऊपर से माँगी गयी रक़म अदा कर देने के बाद शेष राशि वह अपने खर्च के लिए रख लेता था।

यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि गाँववालों से वसूल कर-राशि और केन्द्रीय कोष तक पहुँची राशि में बड़ा अन्तर होता था। इस अंतर के संबंध में जानकारी व्यापक थी और केन्द्रीय माँग में जोड़ी गयी विभिन्न राशियों की वसूली उचित और ठीक मानी जाती थी। तुर्की साम्राज्य में जिस प्रकार निश्चित एक मुश्त रकम लेकर मन-माना कर वसूल करने का ठेका लोगों को दे दिया जाता था, उसीसे मिलती-जुलती इस चीनी प्रणाली में यह आशंका हो सकती थी कि शीघ्र ही, व्यक्तियों पर करों का बोझ असहनीय हो उठता होगा। किन्तु यह आशंका इसलिए सही नहीं थी कि व्यक्ति उस

राशि से अधिक अदा करने में स्वभावतः ही अनिच्छा दिखाते थे जो उनके पूर्वज अदा करते आये थे, और कर वसूल करने वाले अधिकारी तथा किसान या ग्रामीण के बीच जो संघर्ष हर वर्ष होता था, उसमें प्रथा-परंपरा का बल किसान या ग्रामीण को प्राप्त हो जाता था। जिस समाज में हर विवाद में प्रथा के पक्ष में ही निपटारा हो, व्यक्ति के हित काफ़ी सुरक्षित रहते हैं। प्रत्यक्ष करों के स्रोत स्थिर और अपरिवर्तनीय थे और इनकी वसूली में प्रथा द्वारा नियत दर से बहुत अधिक जोड़ देने से उपद्रव की आशंका उठ खड़ी होती थी। चूँकि खुले उपद्रव से दण्डनायक की शासकीय क्षमता पर उँगली उठती थी, उसकी सामान्य प्रवृत्ति यही होती थी कि जहाँ पर व्यक्ति खुला प्रतिरोध करने को तैयार हो जाय उस सीमा को वह न लाँघे। वास्तव में, चीन जब विदेशों से समागम और संपर्क में आया तब करों का बोझ अत्यधिक नहीं था।

यही वित्त प्रणाली सीमा-शुल्क तथा नमक की इजारेदारी के प्रशासन में भी चालू थी, जिसमें पीकिंग को घाटा हो जाता था और अधिकारी व्यक्तिगत रूप में निश्चित लाभ में रहते थे। साम्राज्य भर में सबसे अधिक आय वाले कुछ पद वे थे जो कैण्टन में वैदेशिक व्यापार से संबंधित थे। इन पदों की प्राप्ति के लिए बड़ी-बड़ी रकमें अदा की जाती थीं, किन्तु अधिकारी इन पदों से स्थानांतरण के पहले सामान्यतः काफी दौलत इकट्ठी कर लेते थे। साम्राज्य से सामान के निर्यात या आयात पर सीमा-शुल्क की दरें निर्धारित नहीं थीं और विदेशी व्यापारियों से उतनी रक़म ऐंठ ली जाती थी जितनी वे दे सकते थे। इस तरह वसूली धनराशि का बड़ा भाग अधिकारियों की जेबों में चला जाता था।[८]

इस प्रकार पूरी वित्तीय व्यवस्था भर में भ्रष्टाचार व्याप्त था जिसके पक्ष में कम वेतनों का तर्क था, किन्तु जिससे अधिकारियों की ईमानदारी घटती थी।

जब तक केन्द्रीय सरकार की वित्तीय आवश्यकताएँ सीमित और स्थायी थीं, उपर्युक्त प्रणाली से काम चल जाता था। किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा विदेशी हर्जानों की अदायगी के लिए कोष से बढ़ती हुई माँगें करने, शस्त्रास्त्रों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति के लिए या विद्रोह या अकाल पड़ने पर प्रान्तों से धनराशियाँ आना बन्द हो जाने पर यह आवश्यक हो जाता था कि या तो राजस्व के मौजूद साधनों से ही अधिक वसूली की जाय, या नये साधन पैदा किये जायँ, या वास्तव में जो राशि वसूल होती थी उसका पहले से बड़ा भाग केन्द्रीय कोष में लिया जाय। किन्तु लगान की तरह मौजूद साधनों से अधिक वसूली एक सीमा तक ही की जा सकती थी, उसके आगे कर उगाहने वाले को प्रतिरोध का सामना करना पड़ता। जिस गति से आवश्यकताओं का विस्तार हो रहा था, उस गति से आय के नये साधनों का विकास हो नहीं सकता था, क्योंकि प्रक्रिया के

प्रथाबद्ध रूप अति शक्तिशाली थे, यद्यपि गत शताब्दी के उत्तरार्ध में लगाया और बढ़ाया गया पारवहन (ट्रैंसिट) कर से सरकार को पर्याप्त आय होने लगी थी; आय तेजी से न बढ़ सकने का एक कारण यह भी था कि विदेशी सीमा-शुल्क, जो कि किसी भी राज्य की आय के विकास का सबसे बड़ा साधन होता है, संधियों द्वारा बहुत पहले ही बहुत नीची दरों पर स्थिर हो गया था। सरकारी आय बढ़ाने का तीसरा विकल्प कार्यान्विय में असंभव साबित हुआ, क्योंकि अधिकारी अपनी आवश्यकताओं और माँगों को कम करके, वसूली हुई रकम का और बड़ा भाग केन्द्रीय कोष में भेजने को तत्पर नहीं थे। अतः मंचू शासन के अंतिम दिनों में वित्तीय समस्याएँ बढ़ती हुई कठिनाइयाँ पैदा करती रहीं।

अभी तक यहाँ विकेन्द्रित क्षेत्रीय प्रणाली के अन्तर्गत उस अतिकेन्द्रित प्रशासकीय प्रणाली का वर्णन हुआ है जिसका मुख्य लक्षण था कुछ महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक सुधारों के साथ निरंकुश, स्वेच्छाचारी प्रभुता। किन्तु राजनीतिक चीन की जो "लोकतंत्र पर आरोपित स्वेच्छाचारी शासन" व्याख्या की गयी है उसका सटीक होना यहाँ अभी तक साबित नहीं किया गया है, क्योंकि इस प्रणाली के लोकतांत्रिक लक्षणों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। ये लक्षण ग्राम, परिवार व श्रेणी (गिल्ड) प्रणाली में मिलते हैं जिनका कुछ वर्णन ऊपर हो चुका है। अधिकारी प्रणाली उस जगह समाप्त हो जाती थी, जहाँ से जनजीवन का सच्चा नियंत्रण आरम्भ होता था, अर्थात् जिले में दण्डनायक के नीचे की व्यवस्था। जनता कर देती थी और उसके बदले में सरकार से शांति और सुरक्षा बनाये रखने की अपेक्षा करती थी। कानून की दृष्टि से इसका अर्थ यह था कि अधिकारी फौजदारी कानून बनाते और लागू करते थे। श्रेणी संगठन व्यावसायिक कानून बनाते व लागू करते थे और व्यापार-संबंधी या श्रम-संबंधी विवाद सामान्यतः अदालतों के बाहर ही निपटा लिये जाते थे। बहुधा दण्डनायक कर भी स्वयं वसूल नहीं करता था और गाँव के मुखिया आकर सरकारी माँग की राशि भर जाते थे; मुखिया को गाँववाले ही चुनते थे, दण्डनायक नियुक्त नहीं करते थे।[९] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है,[१०] ग्रामजीवन का नियंत्रण विभिन्न परिवारों के बड़े-बूढ़ों की गुरुजन-परिषदों द्वारा होता था और देश की सच्ची मूल इकाई परिवार थी और वह आधुनिक पश्चिमी देशों के मुकाबले में, नियंत्रण का बहुत बड़ा निमित्त या अभिकरण होता था।

इससे यह स्पष्ट हो गया है कि चीन में सच्चा सामाजिक व आर्थिक जीवन सरकारी अधिकारियों के निर्देश के बिना ही चलता था और साथ ही उस जीवन में बड़े ऊँचे दरजे की संगठन व्यवस्था थी। जीवन के लगभग हर भाग में जनता आत्म-नियंत्रित थी। प्रान्तीय और व्यापारिक श्रेणियों तथा ग्रामीण व पारिवारिक संगठनों द्वारा उस सर-

कार से निभाव संभव था जो व्यावहारिक रूप में निम्नतम शक्ति प्रयोग करती थी। अधिकारी पद्धति की कलम परिवार और श्रेणी पद्धतियों पर लगी थी और जनता उसके साथ ऊपर लिखे कारणों से सहयोग करती थी। सरकार या शासन की ग़ैर-राजनीतिक या राजनीति से परे इस पद्धति में ही चीनी राज्य के लोकतांत्रिक तत्त्व मिलते थे और मुख्यतः स्थानीय प्रथा-परंपराओं को क़ायम रखने वाले इन तत्त्वों के फलस्वरूप ही अधिकारी प्रणाली के स्वेच्छाचारी लक्षणों का सुधार या नियंत्रण होता था। किन्तु इस तथ्य को ध्यान में रखना उचित होगा कि राजनीतिक अर्थ में यह लोकतंत्र नहीं था।

चीनी जीवन के इन लक्षणों में किस प्रकार सुधार हुआ, यह आधुनिक चीन के उस इतिहास का भाग है, जो पश्चिमी देशों के चीनी साम्राज्य से राजनीतिक संबंध स्थापित करने के प्रयासों से आरम्भ होता है।

दूसरा अध्याय

चीन का विदेशों से संपर्क-स्थापन

(१) पश्चिम से प्राचीन संबंध

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से सन् १८४२ तक चीनी साम्राज्य विदेशियों के लिए बन्द था, विदेशी केवल कैण्टन व मकाओ की "खिड़कियों" से चीन में झाँक भर पाते थे। सन् १७५७ से पहले चीनी सरकार ने विदेशियों के चीन में प्रवेश की अनुमति दे दी थी ; किन्तु यह विदेशियों के आगमन का सक्रिय प्रोत्साहन नहीं था, अनुमति मात्र थी। आधुनिक काल में समुद्री मार्ग से पाश्चात्य लोगों में सबसे पहले पुर्तगाली ही चीन पहुँचे। पुर्तगाली जहाज़ सबसे पहले सन् १५१६ में चीन पहुँचे थे और उसके बाद अन्य यूरोपीय देशों के लोग व्यापार की खोज में वहाँ पहुँचने लगे। स्पेन वाले सन् १५७५ में वहाँ पहुँचे, डच सन् १६०४ में, अंग्रेज सन् १६३७ में और अमरीकी सन् १७८४ में। इसी समय, जब इन देशों के जहाज़ चीन के दक्षिणी भागों में पहुँच रहे थे, रूस पूर्व में प्रशान्त सागर की ओर अपना क्षेत्र बढ़ा रहा था।[1] सन् १६८९ में रूस और चीन की सीमाएँ मिलने पर दोनों ओर के लोगों के सीमा के आर-पार आवागमन और व्यापार के नियंत्रण के लिए समझौता आवश्यक हो गया और उस वर्ष चीन ने आधुनिक युग की अपनी पहली संधि (नर्चिस्क की संधि) पर हस्ताक्षर किये। इसी संधि द्वारा रूस को अपना एक मिशन पीकिंग भेजने का अधिकार मिल गया और इस प्रकार अन्य देशों के मुकाबले में रूस का स्तर भिन्न हो गया।

अजनबियों के साथ सद्भावनापूर्ण आतिथ्य के व्यवहार की प्राचीन परंपरा के अनुरूप विदेशी व्यापारियों की राह में कोई बड़ी कठिनाई चीन में उपस्थित नहीं की गयी। फिर भी, विदेशियों के प्रति क्या नीति बरती जाय, इस प्रश्न को लेकर गंभीर संशय और संकल्प-विकल्प अवश्य ही उठे होंगे, क्योंकि पुर्तगालियों के भारत व मलेशिया में कार्य-कलाप, स्पेन द्वारा फिलिपींस पर अधिकार तथा अंग्रेजों व डचों के हमलों के समाचार पीकिंग तक अवश्य ही पहुँचे होंगे। इन समाचारों में अतिशयोक्ति नहीं थी, यह सबसे पहले चीन पहुँचने वाले विदेशियों के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया। पुर्त-

गाली ज़ाव्ते के व्यापार से अधिक लूटपाट में दिलचस्पी रखते थे और शीघ्र ही उनका संपर्क मकाओ तक ही सीमित कर दिया गया। स्पेन वालों को बहुत पहले ही चेतावनी दे दी गयी थी और उन्होंने व्यापार-संबंध स्थापित करने का कोई सच्चा प्रयास भी नहीं किया। डचों ने पहले-पहल अपने को पेस्काडोर द्वीपों और फिर फारमूसा में स्थापित करने का प्रयास किया और कुछ समय तक वे वहीं रहे भी। और चीनियों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध पक्षपात की भावना बन ही गयी थी, एक तो अंग्रेज़ों को व्यापार से अलग रखने की आशा में पुर्तगालियों द्वारा उन्हें बदनाम करने के कारण, और दूसरे स्वयं अंग्रेज़ों के फूहड़, असभ्य व खोटे व्यवहार के कारण। इन सब बातों के कारण विदेशियों के चीन से संपर्क का प्रारम्भ ही गड़बड़ हो गया और इनमें आपसी संघर्ष से अच्छे संबंध होने की संभावना बढ़ भी नहीं सकी।

इसी समय राजवंश को एक ओर उत्तर से मंचुओं का ख़तरा बढ़ रहा था, और दूसरी ओर बड़ी दीवार के दक्षिण में विद्रोह सिर उठा रहा था। इस स्थिति में कोई आश्चर्य नहीं था कि मिंग शासक पश्चिमी लोगों के आगमन से उत्पन्न जटिलता से डर गये; इन विदेशियों का व्यवहार बहुधा भयकारक होता भी था। देश पर आधिपत्य के उपरान्त, सन् १६८५ में मंचुओं ने शासनादेश द्वारा सभी तटीय बन्दरगाहों में विदेशियों को व्यापार करने की अनुमति दे दी, किन्तु अंततः संभवतः व्यापारियों को नियंत्रित करने के अपने अनुभवों के कारण भी, उन्होंने विदेशियों के देश के भीतर आने पर प्रतिवन्ध लगा दिया। सन् १७५७ में व्यापार निश्चित रूप से दक्षिण के अंतिम बन्दरगाह कैण्टन तक ही सीमित था।

जिस तरह व्यावसायिक संबंधों पर प्रतिबन्ध लगा, बिलकुल उसी तरह, चीनी सरकार पश्चिम से आये ईसाई धर्म प्रणिधियों के भव्य स्वागत के बाद, धीरे-धीरे मित्रता कम करने लगी और अंत में ईसाई धर्म प्रचार पर रोक लगा दी। रोमन कैथोलिक पादरियों के चीन में कार्य की पहली अवधि तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक थी। दूसरी अवधि सोलहवीं शताब्दी के मध्य से उस देश में मेतिओ रिक्की की स्थापना के समय तक फैली थी और इसके संबंध में कुछ विवरण देना उपयुक्त होगा क्योंकि यह अवधि पहली के मुकाबले अधिक फलदायक थी। सबसे पहले आनेवाले धर्म-प्रचारक जेसूट थे, जिन्होंने अधिकांशतः चीनियों के व्यवहार और पूर्वग्रहों के आधार पर अपने धार्मिक विश्वासों को ढाल कर अपने पैर जमा लिये थे, वे दार्शनिक व वैज्ञानिक बनकर आये, धर्म-प्रचारक नहीं। सन् १६०१ तक रिक्की पीकिंग में जम गया था जहाँ उसे उसके साथियों व उत्तराधिकारियों को दरबार से अनुग्रह प्राप्त हुए और उच्चाधिकारियों तक का धर्मपरिवर्तन किया। जेसूटों के प्रयत्नों के फलस्वरूप प्रान्तों में भी काफी धर्म-

परिवर्तन हुए। जेसूटों के उपरान्त, उनके विरोध के बावजूद, फ्रांसिस्की और डोमिनिकी धर्म-प्रचारकों ने आकर पैर जमाये।

कैथोलिक धर्म-प्रचारकों के मजबूती के साथ पैर जम जाने के बाद फिर उन्हें किसी गंभीर रुकावट का सामना तब तक नहीं करना पड़ा जब तक उनके विभिन्न मतों या पंथों में आपसी स्पर्धा नहीं शुरू हो गयी। प्रतिस्पर्धा की यह छूत उन चीनियों में भी फैल गयी जो मत-परिवर्तन कर ईसाई बन गये थे और इसका राजनीतिक महत्त्व इसलिए बढ़ गया कि कुछ पादरी-पुरोहित तो पीकिंग व प्रान्तों में पद पा गये थे और ईसाई मतावलम्बियों पर धार्मिक व अधार्मिक दोनों तरह का प्रभाव डालते थे। अतः यह आशंका प्रकट की गयी कि धर्म-प्रचार के उत्साह से गंभीर आंतरिक अशांति पैदा हो सकती है।

इससे भी अधिक गंभीर परिणाम उस विवाद का हुआ जो देशी ईसाइयों द्वारा पूर्वज-पूजा जारी रखने की वैधानिकता को लेकर उठ खड़ा हुआ था। इसी के साथ दूसरा विवाद ईश्वर की ईसाई कल्पना के लिए उपयुक्त चीनी शब्द के संबंध में उठा। इस विवाद के संबंध में याचिका चीन के सम्राट् को भी भेजी गयी और रोम को भी, और चूंकि उन दोनों के निर्णयों में अंतर था और उनके निष्कर्ष भिन्न थे, यह प्रश्न भी उठा कि उस धर्म के प्रचार का चीनी राज्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा जो दूर देश में बैठी एक बाहरी शक्ति को सर्वोच्च मानता है। "इसाई धर्म-प्रचारकों के मतों या पंथों के आपसी झगड़ों और विवादों, पूर्वज-संबंधी रीति-रिवाज़ के संबंध में सम्राट् की आज्ञाओं के कुछ उन चीनियों द्वारा प्रतिरोध जो मत-परिवर्तन कर ईसाई बन गये थे तथा अधिकारियों के इस अभिवेदन या शिकायत ने कि नया धर्म सम्राट् की प्रभुसत्ता की जड़ काट रहा है, इन पादरियों के कार्य-कलाप के संबंध में धीरे-धीरे सम्राट् की आँखें खोल दीं।"[२] अतः, सन् १७२४ में एक शासनादेश द्वारा "ईश्वर जो स्वर्ग में है" के धर्म के प्रचार पर रोक लगा दी गयी।

कुछ धर्म-प्रचारक कुछ दिनों के लिए पीकिंग में वैज्ञानिक पदों पर रहने दिये गये। कुछ पादरी देश निकाले के बाद भी प्रान्तों में विभिन्न स्थानों में छिप कर आ गये और अपना काम जारी रखा। इन पादरियों तथा चीनी ईसाइयों की मौजूदगी से बीच-बीच में उनका उत्पीड़न होता रहता था, किन्तु इसका असर यह नहीं हुआ कि ईसाई धर्म चीन से जड़-मूल से नष्ट हो जाता। "सन् १८२० के एक अनुमान के अनुसार चीन में उस समय २,१५,००० चीनी ईसाई, अस्सी चीनी पादरी, तेईस विदेशी धर्म-प्रचारक, छः बिशप तथा उनके दो सहायक मौजूद थे।"[३]

इस प्रकार चीन से पश्चिम के समागम की पहली दो शताब्दियों की पड़ताल से ज्ञात होता है कि चीनी साम्राज्य यदि विदेशियों के लिए बन्द कर दिया गया तो वह कोई

विदेशी-विरोधी मूल भावना के कारण नहीं, वरन् अनुभव और प्रयोग के आधार पर। निष्ठा की शपथ लेकर कुछ पादरी रह गये थे और यह भी सही है कि ईसाई धर्म भी चीन से उखाड़ फेंका नहीं गया था, किन्तु कैथोलिक मिशनों को अपना पुराना महत्त्व फिर से तब तक नहीं मिल पाया जब तक कि सन् १८४४ में रोक हटा नहीं ली गयी। कैण्टन और मकाओ द्वारा होने वाले सीमित प्रवेश को छोड़कर विदेशी व्यापारियों पर साम्राज्य भर में रोक लगी रही और यह रोक सन् १८४२ तक जारी रही। कैण्टन व मकाओ से भी केवल व्यावसायिक संबंधों की ही अनुमति दी गयी थी और विदेशी व्यापारी केवल चीनी सौदागरों से ही संपर्क स्थापित कर पाते थे। पुर्तगाल, हालैण्ड व इंग्लैण्ड ने पीकिंग से राजनीतिक संबंध स्थापित करने के लिए वहाँ राजदूत भेजने के प्रयत्न किये, पर हर प्रयत्न असफल रहा। राजदूतों को हमेशा करद-दूत माना जाता रहा और उनसे सम्राट् या सम्राट् के चित्र के सामने काओ-टाओ (नौ बार दण्डवत्) करने की अपेक्षा की जाती रही; अंग्रेज लगातार इससे इनकार करते रहे और डच करते भी रहे, पर कोई फल नहीं निकला। इन राजदूतों को अच्छा व्यवहार व आज्ञापालन पर लम्बे भाषण दिये जाते और फिर उनसे कह दिया जाता कि स्थापित प्रक्रियाओं को बदलने की कोई आवश्यकता सम्राट् को प्रतीत नहीं होती।

(२) कैण्टन व्यापार

विदेशी सौदागरों से कैण्टन में व्यापार तो होता था, किन्तु उन्हें पूरे वर्ष भर वहाँ रहने नहीं दिया जाता था। गर्मियों में या व्यापार के एक मौसम के खत्म होने और दूसरे के शुरू होने के बीच के समय में ये सौदागर मकाओ चले जाते थे जहाँ पुर्तगाल को पट्टा मिला हुआ था, यद्यपि चीनी अधिकार-क्षेत्र वहाँ भी कायम था। जब ये व्यापारी कैण्टन वापस लौटते थे तो अपने बीबी-बच्चों को मकाओ में ही छोड़ आने को बाध्य होते थे। इससे उनके कैण्टन निवास के अस्थायी और अनिश्चित रूप को प्रमुखता मिलती थी।

व्यापार की सभी शर्तें चीनी तय करते थे, किन्तु शुल्क या प्रभार बदलते रहते थे; प्रभार नियत करने का सिद्धांत यह था कि जो भी अधिकतम वसूली की जा सके, कर ली जाय। इस आय का एक बहुत छोटा भाग पीकिंग तक पहुँच पाता था, शेष कर वसूल करने वाले से लेकर वाइसराय तक के पेटों में पहुँच जाता था। टनमान, आयात व निर्यात-कर, अनेक प्रकार के सेवा प्रभार, सभी इस आय के अंग थे।

व्यापार से सफलतापूर्वक अधिकतम आय पैदा करने के लिए चीनियों ने एक इजारेदार संगठन स्थापित कर लिया और सारा व्यापार उसी के द्वारा होना अनिवार्य

कर दिया। सन् १७०२ में "सम्राट् का व्यापारी" नामक एक पदाधिकारी कायम कर दिया गया जो विदेशियों से व्यापार करने का एकमात्र आढ़तिया या एजेंट बना दिया गया। यह प्रथा भी संतोषजनक सिद्ध नहीं हुई और पचास वर्ष बाद, विदेश व्यापार में संलग्न चीनी सौदागरों की 'को-होंग' नामक श्रेणी (गिल्ड) स्थापित कर दी गयी और ये "सुरक्षा व्यापारी" सारा विदेशी व्यापार सम्हालने लगे। सन् १७७१ में को-होंग तोड़ दी गयी, किन्तु सन् १७८२ में फिर स्थापित कर दी गयी और सन् १८४२ तक कायम रही। को-होंग के पुनर्गठन से व्यापार की इजारेदारी समाप्त नहीं हुई, केवल उसमें यह सुधार हो गया कि इस व्यापार में भाग लेने वाले व्यावसायिक संघों की संख्या बढ़ायी गयी। यह संख्या बढ़कर पहले बारह हुई फिर तेरह कर दी गयी। हर विदेशी व्यापारी की जमानत या प्रतिभूति होंग का कोई व्यापारी लेता था। इसका अर्थ था कि होंग सदस्य के द्वारा ही यह विदेशी व्यापारी क्रय-विक्रय कर सकता था और होंग सदस्य निम्नतम मूल्य पर खरीदता था और अधिकतम मूल्य पर बेचता था। ये सुरक्षा-व्यापारी, अपनी ओर से अधिकारियों की समुचित पूजा कर देते थे और उन असंख्य छोटे-मोटे लेने-पावनों को भर देते थे जो अधिकारियों ने बना रखे थे; इस प्रकार विदेशी व्यापारी को अधिकारियों से नहीं निपटना पड़ता था। व्यापार का यह बोझ अंततः माल की उस क़ीमत में मुजरा हो जाता था जो समझौते से तय होती थी।

चीनी अधिकारी वर्ग और विदेशी समाज के बीच को-होंग व्यवधान का काम देती थीं। ये तेरह व्यापारी कारखानों और वाइसराय, राज्यपाल, दण्डनायक आदि के बीच संपर्क का एकमात्र साधन थे। यदि होंग व्यापारियों के विरुद्ध शिकायत हो तो भी वह, याचिका के रूप में, उन्हीं के द्वारा आगे बढ़ायी जा सकती थी। कुछ समय बाद यह तय हो गया कि याचिकाएँ सीधे अधिकारियों के पास भेजी जा सकेंगी, किन्तु इसका कोई आश्वासन नहीं था कि इस नियम का सदा पालन ही होगा। फिर दूसरे चीनी व्यापारी केवल को-होंग सदस्यों के द्वारा ही विदेश व्यापार में भाग ले सकते थे। इस प्रकार सारा आयात व निर्यात व्यापार इन्हीं सदस्यों के नियंत्रण में था; इसमें केवल अधिकारी ही हस्तक्षेप कर सकते थे और ऊपर से नीचे तक सभी अधिकारियों को "निचोड़" का अपना-अपना हिस्सा मिल जाने पर वे हस्तक्षेप करें, इसके उदाहरण बहुत कम थे। चतुर व्यापारियों की भाँति ये "सुरक्षा व्यापारी" इस ढंग से व्यवसाय चलाते थे कि उनका लाभ अधिकतम हो और क़ीमतें इस प्रकार निर्धारित करते थे कि विदेशियों को भी घाटा न हो और इजारेदारी नियंत्रण के बाद भी विदेशी व्यापारियों का मुनाफा इतना अधिक होता था कि वे व्यापार जारी रखने के लिए कोई भी परेशानी व

कठिनाई सहने को तैयार रहते थे। व्यापार कायम रखने की इस इच्छा को चीनी भली-भाँति समझते थे और विदेशी समुदाय से बर्ताव करने में इसी का लाभ उठाकर अपनी श्रेष्ठता कायम रखते थे।

कैण्टन नगर की चहारदीवारी के बाहर एक सीमित क्षेत्र में ये विदेशी व्यापारी रहते थे। गोदामों के ऊपर उनके घर होते थे और "कारखानों" में कार्यालय, विदेशी आस्थानों के स्थायी प्रतिनिधियों को कारक (फैक्टर) कहते थे और उसी से उनकी इमारतों को कारखाना कहा जाता था। विदेशी लिपिकों व अन्य सहायकों के अतिरिक्त विश्वासपात्र चीनी बिचवलिया भी इन विदेशी संस्थापनों में होता था जो अपने विदेशी व्यापारी और उसके "सुरक्षाव्यापारी" के बीच व्यवधान बनता था, इनके अतिरिक्त दुभाषिये व नौकर होते थे। विदेशी व्यापारी न भाषा जानते थे और न देश की व्यावसायिक आवश्यकताएँ और न ही वे स्वयं माल खरीद सकते थे, इसलिए वे विश्वासपात्र चीनियों को व्यापार का यह अंग सिपुर्द कर देते थे। व्यक्तिगत आवश्यकताओं तथा सुविधाओं की पूर्ति के लिए विदेशी चीनियों की सद्भावना पर आश्रित थे। वे जो चीनी नौकर रखते थे वह अधिकार के आधार पर नहीं, नियम अवहेलना के फलस्वरूप। उनका खाना-पानी चीनी नगर से आता था और मनोरंजन के उनके स्थान सीमित थे। चीनी नियमों और घोषणाओं के अनुसार विदेशी यूरोपीय स्थानीय जनता के मुकाबले निचले नैतिक स्तर के प्राणी गिने जाते थे और उनके साथ व्यवहार भी वैसा ही होता था। किन्तु यह बात ध्यान में रखनी होगी, जो अधिकारी ये घोषणाएँ जारी करते थे वे या तो विदेशियों को जानते ही नहीं थे या दूसरों से सुन-सुना कर ही जानते थे। जिन होंग व्यापारियों या अन्य लोगों के संपर्क में ये विदेशी आते थे उनसे उनके संबंध अति मैत्रीपूर्ण होते थे। और इन घोषणाओं की भाषा व स्वर पर विचार करते समय यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन व्यापारियों में सभी अपने-अपने देशों के सबसे बेहतर तत्त्वों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे।

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व ही कैण्टन के व्यापार में अंग्रेज अपने अन्य प्रतियोगियों से आगे बढ़ गये थे। सन् १७१५ में कैण्टन में ईस्ट इंडिया कम्पनी का कारखाना बन जाने के बाद व्यापार का बड़ा भाग इस कंपनी के नियंत्रण में आ गया, क्योंकि अंग्रेजी व्यापार की इजारेदारी कंपनी के हाथ में थी। दूसरे अंग्रेज कम्पनी से लैसंस पाकर ही व्यापार कर सकते थे और वह भी केवल अंशतः। कैण्टन में कम्पनी का प्रतिनिधित्व करते थे अधीक्षक जो काफी हद तक सारे विदेशी व्यापारियों के प्रवक्ता भी थे। चूँकि इन अधीक्षकों का अन्य विदेशी प्रतिनिधियों के मुकाबले में अंग्रेज व्यापारियों पर अधिक नियंत्रण था और चूँकि विदेशी व्यापारियों में अंग्रेजों का गुट सब से

बड़ा था, चीनी लोगों की प्रवृत्ति भी यही थी कि वे अंग्रेजों से ही व्यवहार रखें और व्यापार के विदेशी अंग के लिए अंग्रेजों को ही उत्तरदायी बनायें।

सन् १७८९ के बाद अमरीकियों ने अपनी स्थिति सुधारी और वे अंग्रेजों के बाद सबसे बड़े व्यापारी हो गये। सन् १८३२ तक सात सुस्थापित व्यापारिक संस्थान और बीस अमरीकी लगातार कैण्टन आने लगे। ये संस्थान या फर्म पूरे अमरीकी व्यापार के दलाल की हैसियत से काम करते थे; जो भी माल लाते थे उसे बेचते थे और बाहर ले जाने के लिए माल इकट्ठा करते थे। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अमरीकी व्यापारी व्यक्तिगत रूप से आये थे और इससे जहाँ एक ओर उन्हें अंग्रेज प्रतियोगियों से अधिक व्यापार-स्वतंत्रता प्राप्त थी, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी जैसी शक्तिशाली संस्था उनके पीछे न होना उनकी कमजोरी थी। यह सही है कि उन्हें एक वाणिज्य-दूत की सेवाएँ प्राप्त थीं; किन्तु इस दूत का चीनियों में वही रुतबा था जो किसी भी अन्य विदेशी व्यापारी का था। "यह दूत केवल एक व्यापारी भर होता था जिसे मुआविजे के रूप में पद की फीस प्राप्त होती थी; पद की प्रतिष्ठा तथा अपने प्रतियोगियों के व्यापार के संबंध में वह सूचना जो वह सरकारी प्रतिवेदनों तक पहुँचने के कारण पा जाता था।"[५] इस पद के लिए व्यापारी लालायित रहते थे, पर इसलिए नहीं कि वाणिज्य-दूत का अन्य व्यापारियों पर कोई प्रभाव होता था। सहमति के सिवा कोई समान नीति चलाने का उसके पास कोई उपाय नहीं था और इसलिए वह किसी सुसंगठित समुदाय के साधिकारी प्रवक्ता की हैसियत से चीनियों से बरताव नहीं कर सकता था। इस प्रकार, किसी नियंत्रक कंपनी के अनुशासन से मुक्ति होने से अमरीकियों को जो लाभ था वह चीनियों से संबंधों में घाटा बन जाता था।

प्रारम्भिक व्यापार में एक विशेषता यह थी कि वह एकतरफा था। चीनी लोग यूरोपीय माल लेने के इच्छुक नहीं थे, पर यूरोपीय लोग लम्बी-लम्बी समुद्री यात्राएँ करके आते थे और चीनी माल प्राप्त करने में जो अनिवार्य संकट थे उन्हें झेलते थे। अतः चीनियों में यह-धारणा बनने लगी कि यूरोप की जनता अपनी भलाई के लिए चीन पर आश्रित है। वह चीनी आयुक्त लिन के सन् १८३९ तक में किये उल्लेख से प्रकट है जिसमें कहा गया था कि चीन की "चाय और रेवन्द चीनी" बिना विदेशियों का काम नहीं चलता।

इस कारण चीनियों में विदेशी व्यापारियों से बर्ताव करने में शक्ति की एक भावना बन गयी। ऐसी धारणा बन गयी थी कि व्यापार रुक जाने से चीनियों की केवल जेबों पर ही असर पड़ता जब कि यूरोपीय व्यापारियों के देशों की जनता के कल्याण में भी रुकावट आ जाती। अतएव, विदेशी सौदागर को नियंत्रित करने के लिए वे व्यापार

बन्द कर देने की धमकी को बड़ा प्रभावकारी अस्त्र मानने लगे। व्यापार की अनुमति मिलती थी किसी विदेशी के अधिकार के रूप में नहीं, वरन् एक ऐसी विशिष्ट सुविधा के रूप में जो चीनी अधिकारियों की इच्छा या विवेक पर छीनी जा सकती थी। इस प्रकार, चीन के शेष संसार से संपर्क केवल व्यवसाय के क्षेत्र तक सीमित रहने के कारण, कैण्टन से व्यापार करने की छूट पाने के लिए विदेशी व्यापारियों के चीन द्वारा लगायी गयी लगभग हर शर्त मान लेने के कारण तथा इस भावना के कारण कि यह व्यापार विदेशियों का अधिकार नहीं है, वरन् उन्हें दी गयी एक सुविधा है, कैण्टनवासियों में विदेशियों को अनावश्यक रूप से हीन समझने की भावना और अपने को बड़ा समझने की दर्प पैदा हो गया जिससे अंततः उन्हीं का अहित हुआ।

शुरू में तो व्यापार बिलकुल एकतरफा था और चीनी माल के लिए सोना-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ दी जाती थीं, धीरे-धीरे माल का विनिमय चल गया । चाय, रेशम, नानकिन कपड़े तथा अन्य चीनी सामग्री के बदले में अमरीकी और अंग्रेज जड़ी (जिनसेंग) लाते थे जिसकी साम्राज्य में अच्छी खपत थी, अमरीका के पूर्वी व पश्चिमोत्तर तटों तथा सील मछली के शिकार से फर (कीमती खाल) लाते थे, चन्दन, सूती वस्त्र, चावल व दूसरे सामान लाते थे; उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों में सूती वस्त्र की खपत काफी बढ़ गयी थी। चीन जिन वस्तुओं का आयात करता था उनकी गणना से ही यह स्पष्ट हो जायगा कि यह व्यापार आपसी न होकर त्रिकोणात्मक था। व्यापारी अपना माल विभिन्न स्थानों में उस माल से बदलते थे, जिसकी चीन में खपत थी। अमरीकियों को न केवल माल ही जुटाना पड़ता था, बल्कि सोना-चाँदी भी इकट्ठा करना होता था ; क्योंकि चीनी आयात में अफीम की मात्रा काफी बढ़ने के पहले व्यापार का संतुलन बनाये रखने के लिए सोना-चाँदी ही देना पड़ता था।

चीन में अफीम की माँग बढ़ती ही गयी, यहाँ तक कि सन् १८३० में व्यापार-संतुलन चीन साम्राज्य के प्रतिकूल पड़ गया, चीन में जितनी अफीम का आयात हुआ उसका मूल्य, निर्यात के सभी माल के मूल्य से अधिक था। अफीम का अधिकांश भारत से आता था, कुछ अफीम ईरान से आती थी और बाद में अमरीकी तुर्की से कुछ अफीम लाने लगे थे। कैण्टन में जितने देशों के व्यापारी थे, उन सभी देशों से अफीम लायी जाती थी, यद्यपि सभी व्यापारी इस व्यापार में भाग नहीं लेते थे; शेष व्यापार की भाँति अफीम के व्यापार में भी अंग्रेज अग्रणी थे, यद्यपि अफीम का लदान "देशी" नावों पर होता था। इस व्यापार का उत्तरदायित्व ब्रिटेन पर सिर्फ इस कारण नहीं था कि अंग्रेज व्यापारी अफीम चीन में बेचते थे, बल्कि इसलिए भी था कि भारत में अफीम की खेती को प्रोत्साहन दिया जाता था, भारत में अफीम की बिक्री पर निर्यात की दृष्टि से

नियंत्रण था और भारत-सरकार इस व्यापार में आय के एक साधन के रूप में दिलचस्पी लेती थी।

अफीम के आयात में वृद्धि[६] इस बात का संकेत थी कि अफीम का प्रयोग करने वालों की संख्या बढ़ रही थी। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि अफीम या मदक पीना चीनियों का कोई स्वाभाविक दुर्गुण नहीं था, वरन् देश में लाया गया था। अफीम के औषधि के रूप में जो गुण थे वे बहुत पहले से ज्ञात थे, नशे के रूप में उसका प्रयोग बहुत बाद में शुरू हुआ। हुक्के या पाइप में तम्बाकू में मिलाकर अफीम पीने का चलन फारमूसा से आया लगता है, जहाँ सन् १६२४ में अस्थायी रूप से डचों का आधिपत्य हो गया था; स्वयं तम्बाकू भी चीन में विदेशियों द्वारा लायी गयी थी, बाद में तम्बाकू मिलाये बिना ही अफीम पी जाने लगी। एक बार शुरू होने पर अफीम पीने का चलन तेजी से बढ़ा और वह आम रिवाज बन कर राष्ट्रीय दुर्गुण के रूप में फैल गया। अनेक अधिकारी, सभ्य भद्र लोग और जो भी इस खर्चीले शौक का भार उठा सकते थे, इसके आदी हो गये।

अफीम के प्रयोग के विरुद्ध नैतिक तथा स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से ही बहुत पहले ही आवाज उठायी गयी थी। सन् १७२९ के शासनादेश में अफीम के प्रयोग के विरुद्ध डाँट-फटकार थी और सन् १८०० के शासनादेश में तो अफीम के आयात पर ही रोक लगा दी गयी थी। किन्तु, इस प्रतिबन्ध के बावजूद इस विदेशी माल का व्यापार बढ़ता ही गया, यद्यपि को-होंग व अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी, दोनों ने इसका व्यापार छोड़ दिया था। अधिकारियों को आदेश दिये गये कि इस व्यापार का उन्मूलन कर दिया जाय, किन्तु "निचोड़" के इस साधन को उन्होंने इतना लाभदायक पाया कि शासनादेशों से उन्होंने इस आयात से होने वाली आय को इतना अधिक बढ़ा लिया जो इसके गैर-कानूनी न होने पर असंभव होती। सन् १८२० के बाद, पीकिंग के आदेशानुसार, यह व्यापार कुछ समय के लिए कैण्टन में बन्द हो गया, पर इसका फल सिर्फ यह हुआ कि व्यापारी ऊपर तट पर जाकर अपना माल उतारने लगे। इसका यह भी फल हुआ कि अधिकारियों की 'निचोड़' इतनी कम हो गयी कि उन्होंने इस व्यापार की ओर आँखें मूँद लीं और व्यापारियों को लिण्टिन में आनेवाले जहाजों में जम जाने की अनुमति दे दी। सन् १८३८ तक नशाबंदी का कोई गंभीर प्रयास नहीं हुआ और सन् १८३८ के इस प्रयास के कारण ही वह संघर्ष हुआ जिससे युद्ध और फिर नानकिंग की संधि हुई।

मदक पीने की आदत को प्रोत्साहन देने में विदेशियों के उत्तरदायित्व को निगाह से ओझल नहीं किया जा सकता और न उसे कम करके ही देखना चाहिए। किन्तु केन्द्रीय सरकार की इस दुर्गुण की रोकथाम करने में अक्षमता को या उस अक्षमता के

कारणों को भी नहीं भूला जा सकता। आयात पर लगे प्रतिबन्ध सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो सके उसका मुख्य कारण 'निचोड़' की प्रथा थी। प्रशासन की विकेन्द्रित प्रणाली ने—जिसमें शाही आदेशों का पालन अधिकारियों के विवेक पर छोड़ दिया जाता था—अफीम की खपत पर आयात सीमित कर देने के सिवा रोक लगाना असंभव कर दिया था। साथ ही विदेश से आने वाली अफीम की मात्रा में दक्षिण-मध्य व पश्चिमी प्रान्तों में तेजी से बढ़ रही अफीम की उपज भी वृद्धि कर रही थी। अफीम के प्रयोग को सीमित करना था तो यह देशी उत्पादन बन्द करना ही था। किन्तु यह फसल बड़े मुनाफे की थी, क्योंकि सारे साम्राज्य भर में इसकी खपत थी; और जब तक अधिकारी काश्तकारों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई न करें उत्पादन बढ़ता ही। अधिकारी या तो सम्राट् के आदेश का पालन करते या इस आदेश से मुक्ति दिलाने, अर्थात् खेती निरापद बनाने के लिए बड़ी रकमें वसूल करते। सामान्यतः अधिकारियों ने बड़ी रकमें वसूल करने का रास्ता ही अपनाया। यह ध्यान देने की बात है कि अफीम के इस उत्पादन का अफीमचियों को अधिक मात्रा में अफीम उपलब्ध कराने के अलावा एक और महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि अन्न उपजाने का क्षेत्र कम हुआ और देश के कुछ भागों में इससे अन्न-उत्पादन पर कुप्रभाव पड़ा। आर्थिक महत्त्व के ये दोनों नतीजे ध्यान में रखने चाहिए।

अफीम के विदेशी व्यापार से एक अन्य आर्थिक तथ्य उत्पन्न हुआ जिससे अफीम के विरुद्ध सामाजिक आपत्तियों को बल मिला। अफीम का आयात बढ़ने से देश का सोना-चाँदी खिचकर कैण्टन आने लगा ताकि विपरीत व्यापार संतुलन को भरने के लिए सोने-चाँदी में भुगतान किया जा सके। देश की मुद्राप्रणाली और आर्थिक जीवन पर इसका संभाव्य प्रभाव अंततः क्या होगा, यह उच्च पदाधिकारियों ने शीघ्र ही भाँप लिया और स्मृति-पत्रों व याचिकाओं द्वारा सम्राट् का ध्यान इस ओर दिलाया। कुछ लोगों ने इसे नशाबन्दी के पक्ष में एक नया तर्क सिद्ध किया, जब कि कुछ अन्य लोगों ने इस व्यापार को नियंत्रित करने का सबसे आसान उपाय उसे वैध कर देना बताया। नशाबन्दी संबंधी शासनादेश लागू करने के अंतिम प्रयास से पहले, कुछ समय तक ऐसा लगा कि अफीम व्यापार को वैध करने के समर्थकों की ही पीकिंग में जीत होगी, किन्तु जीत के ठीक पहले सम्राट् ने सुस्थापित को लागू करने का संकल्प कर लिया। परिवर्तन की संभावना ने, जिसे कैण्टन में संभावना की जगह निश्चय माना गया, अंततः जो कदम उठाया उसे विदेशियों की निगाह में वास्तविकता से अधिक कठोर बना दिया गया।

यद्यपि अफीम की रफ्तनी में लगभग हर देश के व्यापारी लगे हुए थे, यह बता देना उपयुक्त होगा कि कुछ व्यापारियों को नशाबन्दी की नीति से सहानुभूति थी।

उनके लिए सामाजिक आपत्ति तर्कसंगत थी तथा कुछ अंग्रेज व अमरीकी व्यापारियों को लगा कि अफीम के बढ़ते हुए आयात से जाब्ते के आयात व्यापार के विकास में निश्चय ही बाधा पड़ेगी। तब भी अनेक व्यापारियों की चीन के बाजार के रूप में शोषण में उतनी ही दिलचस्पी थी जितनी कि चीन से माल पाने में। विदेशी सामान के बाजार के विकास में अफीम का आयात निश्चय ही बाधक था, क्योंकि एक तो अफीम का व्यापार बहुत सहूलियत और आसानी से चल जाता था, दूसरे चीन के लिए अफीम व अन्य आयातों के लिए सोना-चाँदी में भुगतान करना असंभव था। इस प्रकार विदेशियों में, आधुनिक युग से पूर्व के चीन से समागम की अवधि में, अफीम को लेकर हित-वैषम्य था।

(३) आंग्ल-चीनी संबंध (१८३४--१८४०)

किन्तु चीन और ब्रिटेन के बीच जो युद्ध हुआ अफीम उसका कारण नहीं, प्रसंग थी। इसे समझने के लिए कैण्टन में व्यापार की स्थिति पर हमें एक बार फिर ध्यान देना होगा। काफी लम्बे समय से स्वतंत्र अंग्रेज व्यापारी कैण्टन में ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी समाप्त करने के लिए आंदोलन कर रहे थे। व्यापार प्रतियोगिता में वे अन्य देशों के व्यापारियों, विशेषकर अमरीकियों की भाँति ही स्वतंत्र रूप से भाग लेना चाहते थे। भारत की उस समय की परिस्थिति तथा इस आंदोलन ने मिलकर अंततः ब्रिटिश सरकार को सन् १८३४ में यह इजारेदारी तोड़ देने को प्रेरित कर दिया। किन्तु इस समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार सुदूर पूर्व में अंग्रेजी हितों के विस्तार व संरक्षण के लिए कोई दूसरी व्यवस्था करने को बाध्य हो गयी। इस समाप्ति से चीन के लिए भी व्यापारियों के नियंत्रण की समस्या नये रूप में पैदा हुई। केन्द्रीय सरकार ने विदेशियों पर भी उत्तरदायित्व का सिद्धान्त लागू करने का प्रयास किया था और इन व्यापारियों के लिए अंग्रेज अधीक्षक को उत्तरदायी बनाया था और उसीके द्वारा उनसे संबंध व व्यवहार करने की नीति अपनायी थी। अतएव, दोनों पक्ष चाहते थे कि ऐसा कोई अधिकारी नियुक्त हो जाय जो कम्पनी के एजेण्टों या आढ़तियों के कर्त्तव्यों को अपने ऊपर ले लें। किन्तु चीनी व्यवसाय-एजेण्ट की नियुक्ति मात्र से संतुष्ट थे जिसे चीनी व्यापारियों से व्यापार-व्यवहार का अधिकार था।

दूसरी ओर अंग्रेजों ने ऐसे अधीक्षकों की नियुक्ति का फैसला किया जो एक व्यावसायिक कम्पनी की जगह ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करते। इन अधीक्षकों को वे ही अधिकार मिले थे जो ईस्ट इंडिया कंपनी के एजेण्टों के थे और इस सीमा तक चीनियों की इच्छापूर्ति इससे हो जाती थी। किन्तु लार्ड पामर्स्टन एक कदम आगे बढ़ गये और उन्होंने तीन व्यापार अधीक्षकों के प्रधान लार्ड नेपियर को उनकी सन् १८३४

में नियुक्ति के समय उन्हें निर्देश दिया कि, "अपने कैण्टन पहुँचने की घोषणा वाइसराय को पत्र लिख कर करना।" यह बात ध्यान में रखने से कि अभी तक आने वाले एजेण्ट केवल व्यवसाय एजेण्ट या व्यापारियों के एक समूह मात्र से संपर्क रखते थे और प्रान्त के अधिकारियों से केवल इन व्यापारियों के द्वारा ही संपर्क में आते थे, तथा वे एक व्यावसायिक कम्पनी के प्रतिनिधि थे, किसी सार्वभौम राष्ट्र के नहीं, पाठक देखेंगे कि केवल वाइसराय से, जोकि प्रान्त का सर्वोच्च अधिकारी होता था, संपर्क रखने के निर्देश से कितना बड़ा परिवर्तन हो गया।

संपर्क स्थापित करने की जो प्रणाली अब तक उनके लिए संतोषजनक रूप से चल रही थी उसमें परिवर्तन करने का कोई कारण चीनियों की समझ में नहीं आया। वाइसराय अंग्रेज प्रतिनिधि से सीधा संपर्क नहीं रखना चाहता था और चाहता भी तो संपर्क का ढंग उस व्यक्ति को बहुत संतोषजनक न लगता जो अपने को संसार के बड़े देशों में से एक का प्रतिनिधि मानता था। वाइसराय उससे व्यवसाय एजेण्ट-जैसा ही बरताव करता, जिसका रुतबा उससे बहुत छोटा होता था, ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि-जैसा नहीं। चूंकि लार्ड नेपियर, हर बात में चीन की बराबरी का दावा करनेवाले राज्य के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार पाने पर अड़ने को तैयार थे, उनकी नियुक्ति तथा तत्पश्चात् कैण्टन में आगमन से पश्चिमी संसार के राज्यों के चीन में बराबरी के दर्जे पर संस्थापनों का प्रश्न उठ खड़ा हुआ।

राज्यों की बराबरी का विचार भी चीन के लिए अजनबी ही था; और ऐसा होना भी था। उन देशों को छोड़कर जो उससे क्षेत्र, शक्ति व सभ्यता में कम थे, इतने लम्बे काल से चीन अन्य राज्यों से संपर्क बिना अपना एकान्त जीवन रखे जा रहा था, उसकी यह धारणा हो गयी थी कि वही एकमात्र सभ्य राज्य था जो चारों ओर से ऐसे राज्यों से घिरा था जो कम या बेश विकसित बर्बरता की स्थिति में थे। इसी धारणा के अधीन चीन अपने को "मध्य राज्य" (केन्द्र राज्य) कहता था। इससे पहले बराबरी के स्तर पर चीन से संबंध स्थापित करने के सारे प्रयास इसी धारणा के कारण असफल हो चुके थे और शताब्दियों के अविच्छिन्न एकाकी जीवन से उत्पन्न अपनी उत्कृष्टता की भावना एकाएक खत्म भी नहीं हो सकती थी। वास्तव में, बलप्रयोग और बार-बार साम्राज्य के अपमान के बाद ही चीन की केन्द्रीय सरकार संसार में अपनी सही स्थिति समझ सकी।

यह बात आसानी से समझ में आती है कि चीन के विरुद्ध बल-प्रयोग करने वालों में सबसे पहले अंग्रेज ही थे। कैण्टन में व्यापार करने वालों में वे प्रमुख थे और अपने व्यापार को उन्हें अर्ध-सरकारी समर्थन व सहायता प्राप्त थी। जब ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त की गयी, यह स्वाभाविक ही था कि कंपनी का स्थान औपचारिक रूप से सर-

कार ले ले। व्यापारियों में दूसरा बड़ा समुदाय अमरीकियों का था जिन पर सरकारी पर्यवेक्षण-निर्देशन का प्रतिबन्ध कम ही था। अमरीकी संपर्क गैर-सरकारी, गैर-राजनीतिक रहता रहा था और व्यापारी उसे इसी स्थिति में रखना भी चाहते थे ताकि अन्य व्यापारियों के साथ उनका कैण्टन में व्यापार पर जो थोड़ा-सा काबू था वह खत्म न हो जाय और उनका व्यापार बँट न जाय। तात्कालिक रूप से उनकी दिलचस्पी थी कि शांति रहे, चाहे जो कीमत भी उसके लिए चुकानी पड़े; और चीन के विदेशी समागम के लिए थोड़ा-बहुत खुल जाने पर भी अमरीकी नीति और दिलचस्पी शांति के लिए प्रयत्नशील रही। अंग्रेजों के कैण्टन छोड़ने के लिए बाध्य होने पर भी अमरीकियों ने अपना व्यापार जारी रखा; और वास्तव में उनकी उपस्थिति से अंग्रेज व्यापारियों का ही लाभ हुआ, क्योंकि अपनी सरकार की ओर से प्रतिवन्ध लग जाने पर भी वह अपना माल अमरीकी व्यापारियों द्वारा वहाँ उतारते रहे।

किन्तु औपचारिक रूप से सरकारी स्तर पर संपर्क स्थापित करने और व्यापार की और अधिक सुविधाएँ व अवसर प्राप्त करने पर अंग्रेजों के अड़ने का कारण ईस्ट इंडिया कंपनी की इजारेदारी खत्म होना ही नहीं था। सच तो यह है कि यह समाप्ति एक और बड़े व गहरे हित की ही अभिव्यक्ति थी। और यह हित था नये बाजारों का विकास और सारे गैर-यूरोपीय संसार से कच्चे माल की सप्लाई का द्वार खोलना। दूसरे देशों में यह हित इंग्लैण्ड के बाद विकसित हुआ और इस हित-साधन के लिए उन्होंने लगभग यही साधन अपनाये भी। व्यावसायिक क्रांति से यूरोप में पूर्व से व्यवसाय संबंध स्थापित करने की जो इच्छा जमी थी उसी के फलस्वरूप अमरीका की खोज हुई। और औद्योगिक क्रान्ति तथा तज्जनित व्यापार-विकास ने (क्योंकि कच्चे माल और नये बाजार की माँग बढ़ रही थी) यह निश्चित कर दिया कि यूरोप के औद्योगिक देश किसी भी व्यापार केन्द्र को केवल इसीलिए अशोषित न छोड़ेंगे कि वहाँ की सरकार या जनता अंतरराष्ट्रीय घटनाओं और मामलों की धारा से अलग रहना चाहती थी। यदि ब्रिटेन के पहले किसी अन्य देश में उद्योगीकरण हो गया होता तो वह देश पूर्व के देशों पर पश्चिम से संपर्क-समागम लादने में अगुआई करता। यदि सन् १८४०–१८४२ में ब्रिटिश शस्त्र-बल द्वारा चीन इस प्रकार के संपर्क के लिए खुल न जाता तो उसे ऐसे ही अन्य हमलों का सामना करना पड़ता, और इन सब हमलों की प्रेरणा होती यूरोप में विकसित अंतरराष्ट्रीय कानून के बुनियादी सिद्धान्तों के आधार पर अंतरराज्य संबंधों की स्थापना का हठ या आग्रह।

सन् १८३४ की जुलाई में लार्ड नेपियर[७] जब मकाओ पहुँचे, अपने निर्देशों और उनका जो अर्थ उन्होंने लगाया उससे वह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थिति में पड़ गये। एक

व्यावसायिक कम्पनी नहीं, वरन् इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि के रूप में अपने कैण्टन पहुँचने की सूचना उन्हें सीधे वाइसराय को देनी थी। प्राप्त निर्देशों की जो व्याख्या उन्होंने की उसके अनुसार वह होंग व्यापारियों के माध्यम का प्रयोग यह सूचना पहुँचाने में नहीं कर सकते थे और अपने देश व सम्राज्ञी की प्रतिष्ठा और सम्मान के संरक्षक की हैसियत से कार्य करने को बाध्य थे। किन्तु उनकी उपाधि वही थी जो ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रतिनिधियों की थी और उनके कर्त्तव्य भी वही थे जो इन प्रतिनिधियों के थे। और इसके आगे उन्हें आदेश थे कि चीनी पूर्वाग्रहों का वह विरोध न करें, सावधानी और सुलह का रवैया रखें और चीनियों से समझदारी और मित्रता के संबंध रखें ताकि व्यापार पर संकट न आये। किन्तु जो परिस्थितियाँ विद्यमान थीं उनमें उनके लिए यह असंभव था कि अपने पद के संबंध में उन्हें जो निर्देश थे, प्रारम्भ से ही उनके पालन में जैसा कि उन्होंने किया भी वह चीनी पूर्वाग्रहों को ठेस न पहुँचायें, उद्वेग न पैदा करें और कैण्टन में व्यापार संबंधों को संकट में न डालें। चीनियों को सूचना दिये बिना और उनसे अनुमति लिये बिना उनके कैण्टन आने से ही उत्पात शुरू हो गया। कैण्टन पहुँचने पर उन्होंने सीधे वाइसराय से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसमें कई बार बातचीत और समझौते की असफल कोशिशें हुईं, लार्ड नेपियर प्राप्त निर्देशों का पालन करना चाहते थे और उन्हीं के अनुसार व्यवहार कर रहे थे, चीनी प्राचीन प्रथाओं को कायम रखने की कोशिश कर रहे थे। विदेशियों से संपर्क-समागम से संबंधित सिद्धान्तों पर चीनी दृष्टिकोण को पेश करते हुए वाइसराय ने लिखा था––

इस उपर्युक्त बर्बर मुखिया (लार्ड नेपियर) का कैण्टन आने का उद्देश्य व्यावसायिक कार्य है। ईश्वरीय साम्राज्य नागरिक अधिकारियों को जनता पर शासन के लिए नियुक्त करता है, सैनिक अधिकारियों को दुष्टों को दण्ड देने व डराने के लिए नियुक्त करता है; किन्तु व्यवसाय के छोटे, ओछे मामले व्यापारियों के निर्देशन के लिए ही छोड़ दिये जाते हैं। अधिकारियों का ऐसे मामलों से कोई संबंध नहीं होता। उपर्युक्त बर्बरों के व्यापार में यदि कोई नियम-परिवर्तन होना है तो हर मामले में होंग व्यापारियों को परस्पर परामर्श कर सीमाशुल्क-अधीक्षक व मेरे कार्यालय में संयुक्त वक्तव्य देना चाहिए और तभी उन्हें औपचारिक रूप से सूचित किया जायगा कि उनके प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं या अस्वीकार········

ईश्वरीय साम्राज्य के महान् मंत्रियों को पत्र द्वारा विदेशी बर्बरों से व्यक्तिगत संपर्क करने की अनुमति नहीं है। यदि उपर्युक्त बर्बर मुखिया पत्र भेजता है, तो मैं वाइसराय, उन्हें स्वीकार नहीं करूँगा, उनकी ओर देखूँगा भी नहीं। जहाँतक नगरकोट या शहरपनाह के बाहर कम्पनी के बर्बर कारखाने का संबंध है, वह व्यापार के लिए कैण्टन

आये हुए बर्बरों के अस्थायी निवास का स्थान है। उन कारखानों में वे रह, खा, सो, खरीद, बिक्री कर सकते हैं। उन्हें बाहर जाकर घूमने-फिरने की अनुमति नहीं है। ये सब बातें नियंत और निश्चित कानूनों तथा विनियमों द्वारा निर्धारित होते हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

पूरी बात को संक्षेप में रखते हुए राष्ट्र के कानून हैं; ऐसा हर देश में है। इंग्लैण्ड में भी कानून हैं; हमारे ईश्वरीय साम्राज्य में कितने अधिक कानून हैं ! इसके नियम कानून, अध्यादेश कैसे ज्वलन्त और महान् हैं ! भयावह वज्र से भी अधिक दारुण !...

यह स्पष्ट है कि जब तक चीनी अधिकारी ऐसे विचारों के आधार पर कार्य करते, व्यापारिक आधार के स्थान पर अर्ध-राजनीतिक आधार भी बनाने के प्रयास असफल होने ही थे। वाइसराय से सीधा संपर्क स्थापित करने का लार्ड नेपियर का हर प्रयास विफल हुआ और कैण्टन में उनकी उपस्थिति मात्र अन्य व्यापारियों के लिए व्यग्रता व व्याकुलता का कारण बनी हुई थी, क्योंकि वे व्यापार में संकट आने की जगह पुरानी परिस्थिति अधिक पसन्द करते थे, चाहे पुरानी परिस्थिति कितनी भी असंतोषजनक क्यों न रही हो। अतः अपने उद्देश्य में, जैसा कि वह उसे समझते थे, सफल न होने पर और बीमार पड़कर, लार्ड नेपियर अंततः मकाओ चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। प्रथम प्रतिरोध में चीनियों की पूर्ण विजय हुई और वे कैण्टन में संपर्क-समागम की शर्तें तय करते रहे। ब्रिटिश प्रतिनिधि के वापस लौट जाने से विदेशियों से मनचाहा व्यवहार करने की अपनी योग्यता में उनका विश्वास बढ़ गया। इसका सीधा निष्कर्ष उन्होंने यही निकाला कि लार्ड नेपियर वाइसराय के आदेश, अंग्रेजों का व्यापार बन्द कर देने और अ-संपर्क की घोषणा के कारण ही वापस लौटे थे।

लार्ड नेपियर का स्थान एल. वी. डेविस ने लिया और उसके कुछ समय पश्चात् ही सर जार्ज बी. रौबिनसन ने ; ये दोनों नेपियर के सहयोगी थे। इनके उपरान्त मुख्य अधीक्षक के पद पर कप्तान ईलियट आये। अगले कुछ वर्षों तक अधिकारी-माध्यम से चीन के साथ सीधा संपर्क स्थापित करने का कोई गंभीर प्रयत्न नहीं किया गया। किन्तु बात छोड़ी नहीं गयी थी, केवल रुकी हुई थी। इस अवधि में व्यापार की देखभाल मकाओ-स्थित ब्रिटिश अधीक्षक ही करते रहे।

व्यापार के विनियमन का पूरा प्रश्न सन् १८३८ में फिर उठ गया जब सम्राट् ने अफीम के मसले को निपटाने के लिए एक विशेष आयुक्त नियुक्त कर दिया और उसे नशाबन्दी और अफीम के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने के आदेश और अधिकार दे दिये। आयुक्त, लिन त्से-ह्सू, ने कैण्टन आते ही उद्वेजक काररवाई आरम्भ कर दी। स्थिति के संक्षिप्त अध्ययन के बाद उन्होंने निश्चय किया कि प्रतिबन्धात्मक शासनादेश पालन

करने के लिए विदेशियों को बाध्य किया जाय। अतः उन्होंने आदेश निकाला कि व्यापारियों के पास जितनी अफीम हो वह सब अधिकारियों के हवाले कर दें और भविष्य में इस रफ्तनी में भाग न लेने का वचन दें। इस माँग की पूर्त्ति के लिए उन्होंने व्यापार बिलकुल बन्द करने की धमकी भी दे दी। अंग्रेजों ने अंततः अफीम संबंधी माँग को स्वीकार कर लिया और अमरीकी जहाजों पर लदी अफीम भी साथ ही साथ चीनी अधिकारियों को समर्पित कर दी; किन्तु उन्होंने यह वचन लिखित रूप में देने से इनकार कर दिया कि भविष्य में अफीम की रफ्तनी में वे हाथ न डालेंगे। फलतः इन कारखानों से संपर्क पूरी तरह से काट दिया गया; खाना, पानी, नौकरों की सेवा तक बन्द कर दी गयी। आखिरकार ब्रिटिश व्यापारी व्यापार-अधीक्षक के निर्देश से कैण्टन से हट आये और हांगकांग में आकर जम गये। अमरीकियों ने थोड़े-से संशोधन के बाद यह वचन ले लिया और उनके व्यापार-संबंध खुल गये। कुछ समय बाद अंग्रेज व्यापारियों ने अपना माल अमरीकियों के द्वारा उतारना शुरू कर दिया और इस तरह कैण्टन से हटने के बाद भी उन्हें बहुत क्षति नहीं पहुँची।

इन प्रतिबन्धात्मक शासनादेशों के कार्यान्वय के ढंग पर हुए विवाद तथा दूसरी कठिनाइयों से सक्रिय शत्रुता[१०] बढ़ गयी। पहले तो यह कैण्टन व उसके निकटवर्त्ती क्षेत्र में ही सीमित रही, किन्तु बाद में यह उत्तर में भी समुद्र तट पर फैल गयी; युद्ध तभी समाप्त हुआ जब अंग्रेजी जहाज यांग्त्सी नदी में कुछ दूर तक पहुँच चुके थे और साम्राज्य के पूर्वी भाग को दो हिस्सों में बाँट चुके थे और इस प्रकार पीकिंग की केन्द्रीय सरकार को स्थिति की उस गंभीरता को समझने को बाध्य कर चुके थे जो युद्ध के कैण्टन में सीमित रहते वह नहीं समझ रही थी।

(४) आंग्ल-चीनी युद्ध के कारण और परिणाम

चीनी दृष्टिकोण से विवादग्रस्त प्रश्न केवल अफीम के आयात का था और इसलिए चीनी समझते थे कि उनका पक्ष उच्च नैतिक कारणों पर आधारित है। संयुक्त राज्य अमरीका में भी विवाद और संघर्ष के संबंध में मुख्यतः यही दृष्टिकोण अपनाया गया; इंग्लैण्ड से परंपरागत शत्रुता अमरीका में अभी भी चली आ रही थी। इस समय और आगे आनेवाले कई वर्षों तक, चीन में ब्रिटेन ने जो भी कदम उठाया, अमरीकी उसे आक्रामक नीति की अभिव्यक्ति ही मानते रहे। अनेक लोग ऐसे भी थे जो शान्ति संधि और हांगकांग के अर्पण को चीन के टुकड़े-टुकड़े हो जाने की दिशा में पहला कदम मानते थे। इंग्लैण्ड के संबंध में आक्रामक होने और चीन पर जबरदस्ती अफीम थोपने के लिए संकल्पबद्ध होने की जो धारणा थी उसी के आधार पर सन् १८४२ से लेकर

दूसरे हमले तक अमरीका की नीति निर्धारित हुई। इस प्रकार, मैसेचुसैट्स की इतिहास-परिषद् में जॉन क्विसी एडम्स ने जो यह संबोधन किया उससे अमरीकी जनमत में वहुत अधिक उत्तेजना फैली जो कि संबोधन में प्रतिपादित सिद्धान्त के प्रतिकूल थी।

चीनी साम्राज्य का मूलभूत सिद्धान्त व्यवसाय-विरोधी है·······वह अन्य देशों से व्यावसायिक संपर्क स्थापित करने की कोई बाध्यता नहीं मानता। वह अन्य देशों को अपने बराबर या स्वाधीन भी मानने से इनकार करता है।...यही सत्य है, और मुझे लगता है, ब्रिटेन और चीन के राष्ट्रों व सरकारों के बीच केवल यही एकमात्र विवादग्रस्त प्रश्न है। यह आम, लेकिन मैं समझता हूँ बिलकुल गलत, धारणा है कि विवाद अफीम की उन कुछ पेटियों को लेकर है जो ब्रिटिश व्यापारियों ने चीन पहुँचायी हैं; यह तो विवाद में एक घटना मात्र है। किन्तु यह बात युद्ध का कारण बिलकुल नहीं है, जैसे कि बोस्टन बन्दरगाह में कुछ चाय का जहाजों से फेंक दिया जाना उत्तरी अमरीकी क्रान्ति का कारण नहीं था।[११]

अंग्रेजों के दृष्टिकोण से एडम्स का वक्तव्य ठीक था। अफीम का प्रश्न तो निश्चित रूप से साम्राज्य से राजनीतिक संबंधों की स्थापना के बड़े प्रश्न के अधीन ही था, जिसके फलस्वरूप ठोस बुनियाद पर व्यावसायिक संबंध स्थापित हो सकते थे। क्योंकि यह भी याद रखने की बात है कि व्यापार को एक ही बन्दरगाह, कैण्टन, तक सीमित रखने के प्रतिबन्ध तथा को-होंग के कुछ छँटे हुए व्यापारियों मात्र से व्यापार करने के अतिरिक्त प्रतिबन्ध के कारण व्यावसायिक संबंध असंतोषजनक थे। इसके अतिरिक्त, चीनियों और विदेशी व्यापारियों के बीच लेन-देन में उधार खाते का जो ढंग था उसमें ब्रिटिश व्यापारियों का वहुत-साधन बकाया पड़ा रहता था। बकाये की इन राशियों की अदायगी में होंग व्यापारी असफल रहे थे और ब्रिटिश सरकार ने इसे संघर्ष का एक अन्य कारण बताया था।

कैण्टन में उस समय जो संबंध थे उनमें अधिकार-क्षेत्र के प्रश्न भी शामिल हो गये और उनसे अधिकार-क्षेत्रों के पुनः संमजन के ब्रिटिश संकल्प को बल मिला। सन् १७८४में ही अधिकार-क्षेत्रका प्रश्न उठ चुका था जब लेडी ह्यूज नामक ब्रिटिश जहाज के तोपची द्वारा सलामी दागने से दुर्घटनावश एक चीनी मर गया था। दबाव डालने पर वह तोपची चीनी अधिकारियों के सिपुर्द कर दिया गया था और गला घोंट कर उसे प्राणदण्ड दे दिया गया था। इससे, सन् १७९३ के मैकार्टनी मिशन के समय, अंग्रेजों के लिए अपरदेशीय या क्षेत्रातीत अधिकार प्राप्त करने का प्रयास भी हुआ था। बाद में ऐसे ही मामले सामने आते रहे जिनमें कभी तो विदेशी सफलतापूर्वक अधिकार-क्षेत्र के चीनी दावों को चुनौती दे लेते थे और कभी, जैसा कि सन् १८२१ के टेरानोवा मामले में हुआ, जिसमें अमरीकी

फँस गये थे, उन्हें सफलता नहीं मिलती थी। इस प्रकार चीनी अधिकारियों द्वारा फौजदारी के मामलों में चीनी कानून लागू करने से अमरीकियों और अंग्रेजों दोनों में काफी असंतोष पैदा हुआ था।[१२]

अंग्रेजों द्वारा कैण्टन की नाकेबन्दी से सामरिक काररवाई शुरू हुई; किन्तु नौसेनापति (एडमिरल) जॉर्ज इलियट तथा कप्तान ईलियट के, जो पूर्ण अधिकारप्राप्त दूत थे, आदेश पर अंग्रेजी जहाज फौरन उत्तर की ओर बढ़ गये। आदेश यह था कि विवादग्रस्त प्रश्नों से संबंधित लार्ड पामर्स्टन का एक पत्र, पीकिंग पहुँचाने के लिए चीनी अधिकारियों के सिपुर्द कर दिया जाय। चुसान द्वीप स्थित तिंगहाई पर ६ जुलाई, १८४० को अधिकार कर लिया गया। इसके उपरान्त अंग्रेजों ने अमोय तथा निंगपो होते हुए पत्र पहुँचाने का प्रयत्न किया, पर वे असफल रहे। तब ब्रिटिश जहाजी बेड़ा सीधा पीइहो बढ़ गया जहाँ अंततः चिहली प्रान्त के वाइसराय से संपर्क स्थापित हुआ। कुछ विलम्ब के उपरान्त निर्णय हुआ कि समझौते के प्रयास झगड़े की जगह कैण्टन से ही किये जायँ।

कैण्टन में समझौते के प्रयास शुरू हुए और आशा बँधी कि कुछ सफलता मिलेगी; किन्तु अंततः यह समझौता वार्त्ता टूट गयी और फिर से युद्ध शुरू हो गया। सन् १८४१ में अंग्रेजों ने कैण्टन पर स्थायी रूप से अधिकार कर लिया; किन्तु ६० लाख डालर की अदायगी पर फौजें हटा ली गयीं; चीनियों ने यह अदायगी उस अफीम के लिए समझौता मानी जो आयुक्त लिन को समर्पित की गयी थी, किन्तु लगता है कि अंग्रेजों ने इसे युद्ध-व्यय के मद में दी गयी राशि समझा। कैण्टन के फिर से चीनी अधिकार में आने पर व्यापार फिर शुरू हो गया, यद्यपि उत्तर में युद्ध जारी रहा। अमोय, तिंगहाई, चिन हाइ तथा निंगपो, सब पर कब्जा हो गया और निगंपो से चिंक्यांग और नानकिंग की ओर बढ़ाव शुरू हुआ।

पूरे युद्ध के दौरान और दिशा से चीन की एक बहुत बड़ी दुर्बलता प्रकट हुई जो आगे आनेवाले अनेक वर्षों तक कायम रही। चीनी साम्राज्य, एक इकाई के रूप में, ब्रिटेन से युद्ध में नहीं फँसा, देश के विभिन्न भाग ही युद्धरत रहे, और वह भी तब जब सीधे उन पर ही हमला बोल दिया गया। जब तक स्वयं पीकिंग सरकार में युद्ध के परिणामस्वरूप उत्पन्न संकट की पूर्ण चेतना नहीं हुई, समझौते या व्यापार की शर्तों पर पूर्ण संतोषजनक समझौता असंभव था। यदि सन् १८४० में ही अंग्रेजों ने टींटसीन में इस प्रश्न पर जोर दिया होता और दक्षिण की ओर न हट गये होते तो आगे आनेवाले वर्षों की कठिनाइयाँ न पैदा होतीं।

जब यांग्त्सी नदी में अंग्रेजों के नानकिंग तक बढ़ जाने से, उत्तर व दक्षिण के बीच

यातायात की राह कट जाने से देश बँट गया तब समझौते की बातचीत शुरू हुई। २९ अगस्त, १८४२ को नानकिंगमें जिस संधि पर हस्ताक्षर हुए, उसमें शांति की शर्तें दी गयी थीं। चीन ने हांगकांग ब्रिटेन को अर्पित कर दिया। चीन ने २ करोड़ १० लाख डालर क्षतिपूर्ति के रूप में देना भी स्वीकार किया; इसमें से ६० लाख डालर कैण्टन में बरामद अफीम की कीमत के रूप में थे, ३० लाख डालर होंग व्यापारियों पर ब्रिटिश सौदागरों के पावने की मद में थे और १ करोड़ २० लाख डालर इस अभियान में हुए व्यय की मद में थे। पाँच बन्दरगाह—कैण्टन, अमोय, फूचाओ, निंगपो और शंघाई—व्यापार के लिए खुलने थे और विदेशी व्यापारियों को यहाँ रहने और हर बन्दरगाह में स्थानीय अधिकारियों से संपर्क के लिए वाणिज्य-दूतों की नियुक्ति का अधिकार भी मिल गया था। व्यापार की जो इजारेदारी कुछ चुने हुए चीनी व्यापारियों को मिली हुई थी, वह समाप्त होनी थी, और आयात-निर्यात पर समान और नरम शुल्क-पद्धति लागू होनी थी जिसके नियम बाद में बनने थे। यह समझ लिया गया था कि अभी लगी शुल्क-दर बाद में, आपसी समझौते के बिना, बढ़ायी न जायगी। २६ जून, १८४३ को सम्राट् ने एक 'घोषणा' के रूप में शुल्क की दरें निर्धारित कर लागू कर दीं। तब से सन् १९३० तक चीन अपने आयात-निर्यात शुल्क स्वेच्छा से तय करने में असमर्थ रहा। जहाँ तक शुल्कों की वसूली का संबंध था, संधि की शर्तों के अनुसार, अंग्रेज वाणिज्य-दूतों ने यह कर्त्तव्य अपने ऊपर ले लिया कि "ब्रिटेन की सम्राज्ञी की प्रजा पर जो भी उचित पावना या दूसरे पावने होंगे, जिनका आगे उल्लेख व निश्चय होगा, उनकी पूरी अदायंगी की जायगी।" ब्रिटिश प्रतिनिधि, सर एच पौटिंगर ने नाजायज आयात या रफ्तनी रोकने में सहयोग प्रदान करने का भी वादा किया।[13]

इस बात पर ध्यान जायगा कि नानकिंग संधि में उस विषय पर कुछ भी नहीं कहा गया था जो चीनी दृष्टिकोण से युद्ध का मुख्य कारण था। अफीम के व्यापार के संबंध में संधिपत्र मौन था यद्यपि चीनियों को उस अफीम के लिए हरजाना देने के लिए बाध्य होना पड़ा था जो उन्होंने अपने कब्जे में कर ली थी। अंग्रेजों की ओर से समझौते की बातचीत करने जो आये थे उन्होंने अनौपचारिक रूप से यह विश्वास अवश्य प्रकट किया कि बेहतर होगा कि चीन अफीम के आयात को कानूनी रूप दे दे और फिर उस आयात की मात्रा पर रोक लगा दे। यह सुझाव, जो सम्राट् को उनके कुछ सलाहकारों ने पहले ही दिया था, चीनी प्रतिनिधियों को अमान्य था, और चूँकि इंग्लैण्ड चीन के लिए उसकी नशाबन्दी नीति लागू करने को तैयार नहीं था, इस व्यापार के संबंध में संधि में कुछ नहीं कहा गया, यद्यपि अंग्रेज यह अवश्य कहते रहे कि जो भी अंग्रेज इस रफ्तनी में फँसेगा उसे कोई सहायता या संरक्षण नहीं दिया जायगा।

(५) संधि संबंधों की स्थापना

चीन का द्वार, अंशतः ही सही, बलात् खोल देने का दायित्व इंग्लैण्ड पर पड़ा। किन्तु इस प्रकार उत्पन्न नयी परिस्थिति का लाभ उठाने के लिए अन्य राष्ट्र तुरन्त तैयार हो गये। (नानकिंग संधि पर हस्ताक्षर होने के लगभग फौरन बाद ही) ८ अक्तूबर को अमरीकी कोमोडोर की अर्नी ने अमरीका के हितों की ओर ध्यान दिलाते हुए कैण्टन के वाइसराय, किकुंग से यह आशा प्रकट की कि अमरीका को भी "अधिकतम अनुग्रह का व्यवहार" प्राप्त होगा। अंग्रेजों से संधि की शर्तें तय करने वाले नानकिंग के वाइसराय क्रियिंग पहले ही इस संभावना पर विचार कर चुके थे कि अंग्रेजों के अतिरिक्त अन्य विदेशी भी यह नयी हैसियत पाना चाहेंगे। १९ जनवरी, १८४३ को पीकिंग पहुँचे एक अभ्यावेदन में उन्होंने लिखा था––"अंग्रेज़ों से (नानकिंग में) समझौते की बात करते समय गत अगस्त में ही मैंने इस संभावना पर सोचा था कि अन्य बर्बर भी वही सुविधाएँ (जो अंग्रेजों को प्राप्त हुई हैं) माँगेंगे। मैंने इस संबंध में अंग्रेजों से जानकारी चाही और उनका उत्तर था कि यदि अन्य समुद्री राष्ट्र तब भी केवल कैण्टन तक सीमित रहें तो उनकी ओर से वे (अंग्रेज) कोई माँग नहीं उठायेंगे, किन्तु यदि महान् सम्राट् अन्य राष्ट्रों को भी व्यापार के लिए फूकिन, चेक्यांग तथा क्यांगसू तक जाने देते हैं तो अंग्रेज इसमें संकीर्ण मनोवृत्ति से काम नहीं लेंगे; यदि अन्य राष्ट्रों के जहाज हांगकांग आयें-जायें तो अंग्रेज उस पर आपत्ति नहीं करेंगे।" किन्तु शाही शासन की प्रारम्भिक प्रतिक्रिया अंग्रेज़ों के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों को नयी और अतिरिक्त सुविधाएँ देने के प्रतिकूल थी। कैण्टन आने के बाद, शाही आयुक्त, इली पू व कियिंग ने संधिपूर्व के दिनों में कैण्टन में जो प्रथा थी, उसी के अनुकूल सभी राष्ट्रों को समान हैसियत देने के पक्ष में तर्क दिये जिसके बाद शाही शासन ने नानकिंग-संधि के लाभ सभी को उपलब्ध करने का निर्णय कर लिया। इस प्रकार कोमोडोर की अर्नी ने जो "उन्मुक्त द्वार" सिद्धान्त के अनुरूप अधिकतम अनुग्रह प्राप्त देश के समान व्यवहार की मांग की चीन ने उसे शुरू से ही स्वीकार कर लिया। किन्तु इस स्वीकृति के मुख्य कारण थे, दो चीनी (या कि दो मंचू) राजमर्मज्ञों, इलिपू व कियिंग के विचार और कार्य, जिन्होंने केवल अट्ठारहवीं शताब्दी की चीनी परंपराओं को कायम भर रखा था। नानकिंग में सर हैनरी पौटिंगर द्वारा अंग्रेजी रुख की घोषणा के बाद चीनी राजमर्मज्ञ अपनी समानता की नीति बरतने के लिए अपने को स्वतंत्र मानते थे। कोमोडोर लॉरेंस की अर्नी के राजनय के फलस्वरूप अमरीका का समानता का दावा चीनी सरकार के समक्ष विचारार्थ आ गया और उस पर नानकिंग-संधि के तत्काल बाद, विचार व निर्णय हो गया। और कैलब कशिंगने केवल पहले हो चुकी बातचीत को संधि का रूप दे दिया।[१६]

जब चीन और इंग्लैण्ड के बीच युद्ध जारी था तभी अमरीका में एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके फलस्वरूप चीन के लिए पहले अमरीकी मंत्री की नियुक्ति हुई। राष्ट्रपति टाइलर द्वारा दोनों देशों के बीच प्रथम संधि के लिए समझौते के नाजुक काम के लिए कैलब कशिंग को छाँटा गया और वह २४ फरवरी, १८४४ को मकाओ के बन्दरगाह पहुँचे। उन्हें निर्देश थे कि चीनी अधिकारियों से समझौते की बात पूर्णसमता के स्तर पर ही की जाय, चीनियों को स्पष्ट कर दिया जाय कि अमरीका की नीयत बिलकुल आक्रामक नहीं है, नानकिंग की ब्रिटिश संधि के समान, किन्तु संभव हो तो और अधिक पूर्ण शर्तों के साथ, संधि की जाय तथा पीकिंग पहुँच कर सम्राट्, या इसमें असफल होने पर केन्द्रीय शासन के किसी उच्चाधिकारी के हाथ में राष्ट्रपति का पत्र दिया जाय; वह पीकिंग तो नहीं पहुँच सके, किन्तु कुछ विलम्ब के बाद संधि समझौते में सफल हो गये।[१५] यह संधि ब्रिटिश संधि के समान ही थी, किन्तु कई विषयों में इसकी शर्तें अधिक व्यापक थीं; जो नयी शर्तें जुड़ी थीं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थी राज्यक्षेत्रातीतता के सिद्धान्त पर एक बिलकुल स्पष्ट वक्तव्य। सन् १८४४ की संधि की २१वीं धारा में व्यवस्था थी कि--

अमरीका के नागरिकों के विरुद्ध कोई अपराध करनेवाले चीनी लोगों को चीनी अधिकारी गिरफ्तार करेंगे और चीन के नियमों-कानूनों के अनुसार उन्हें दण्ड देंगे; चीन में अपराध करनेवाले अमरीकी नागरिकों पर अमरीका के राजदूत या अमरीकी अधिकारी द्वारा अमरीका के नियम-कानूनों के अनुसार मुकदमा चलाया जायगा और दण्ड दिया जायगा; अभक्ति और विवाद बचाने के लिए, दोनों पक्षों द्वारा निष्पक्ष रूप से और समान रूप से न्याय किया जायगा।

यह शर्त जो केवल फौजदारी के अपराधों तक सीमित थी, २४वीं और २५वीं धाराओं में दीवानी के मामलों में भी लागू कर दी गयी थी। फलतः चीनी सर्वोच्च सत्ता पर लगी जिन दो सीमाओं (अर्थात् न्यायिक सार्वभौमिकता और शुल्क की क्षति) को चीनी बहुत दिनों तक हटाने की कामना करते रहे, लेकिन वे सीमाएँ अमरीका और इंग्लैण्ड से हुई पहली संधियों में ही शामिल हो गयी थीं।[१६]

अमरीका के उपरान्त फ्रांस ने संधि की। फ्रांसीसी संधि में भी पहले की दो संधियों के समान ही शर्तें थीं, किन्तु फ्रांसीसी दूत ने चीन का दरवाजा और अधिक खोलने की दिशा में एक छोटा-सा कदम यह उठाया कि चीनी आयुक्त को इस बात पर राजी कर लिया कि सम्राट् को प्रज्ञप्ति भेजकर उनसे रोमन कैथोलिक धर्मप्रचारकों को संधि-बन्दरगाहों में गिरजाघर बनाने और वहाँ के देशी व विदेशी ईसाइयों के प्रति सहिष्णुता बरतने की प्रार्थना की जाय। इस तरह की कोई शर्त संधिपत्र में नहीं थी। सम्राट् ने

इस सुझाव को स्वीकार कर लिया और बाद में यह सीमित सहिष्णुता प्रोटेस्टेण्ट धर्मप्रचारकों के लिए भी लागू कर दी।

प्रोटेस्टेण्ट पादरी सन् १८०७ से ही इस देश में पैर जमाने की कोशिश करने लगे थे जब लन्दन की धर्मप्रचारक संस्था की ओर से रेवरेण्ड रॉबर्ट मॉरिसन कैण्टन आये थे। कैण्टन में सीमित सुविधाओं और अवसरों के कारण उनका काम सन् १८४४ तक बहुत नहीं बढ़ा था। वास्तव में मलय द्वीप समूह के चीनियों की ओर मुख्य चीन के निवासियों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया था। किन्तु प्रोटेस्टेण्ट धर्म प्रचारक समुदाय कुछ तो बढ़ा ही था और कुछ लोगों को ईसाई बनाया भी गया था। लेकिन प्रोटेस्टेण्ट धर्मप्रचारक का असली महत्त्व, इस समय तथा आनेवाले कुछ वर्षों तक, उसके धर्म नहीं भाषा संबंधी काम में था। राजनीतिक और व्यावसायिक एजेण्ट या दूत बहुत हद तक अनुवाद और दुभाषिये के काम के लिए इन्हीं पादरियों पर निर्भर रहते थे, और इस प्रकार कुछ पादरी बहुधा काफी प्रभावशाली हो जाते थे। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र के अग्रणियों ने, जिनका मॉरिसन से सिलसिला शुरू हुआ था, बाद में आनेवालों के लिए शब्दकोश तैयार किये तथा पश्चिमी पुस्तकों का चीनी में और चीनी पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद का काम शुरू किया; पश्चिमी पुस्तकों के अनुवाद में प्रारम्भ तो धार्मिक पुस्तिकाओं से हुआ, पर बाद में महत्त्वपूर्ण अधार्मिक ग्रंथों का भी अनुवाद किया गया। इस प्रकार उन्होंने इस क्षेत्र में और औषधि-विज्ञान के क्षेत्र में वह काम शुरू किया जिसने कालान्तर में पश्चिम व चीन, दोनों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। सन् १८४४ के बाद रोमन कैथोलिकों के समान इनकी स्थिति भी काफी हद तक सहनीय हो गयी थी और १८५८ की सधि द्वारा पूर्ण सहिष्णुता प्राप्त होने पर इनके काम की संभावनाओं में भी विस्तार हुआ।

नानकिंग की संधि, बोग की पूरक संधि तथा बाद की फ्रांसीसी व अमरीकी संधियों ने चीन तथा बाहर की दुनिया के बीच सीधे संपर्क-समागम के विकास के लिए एक पच्चड़ अवश्य ठोंक दी थी, किन्तु अब भी बहुत कुछ होना शेष था—क्योंकि इस पच्चड़ को और गहरा ठोंकने के लिए बार-बार प्रहार हुए तब कहीं जाकर चीन का द्वार उन्मुक्त हुआ।

यह पच्चड़ थी व्यापार के लिए पाँच बन्दरगाहों के खुलने की व्यवस्था और चीनी इजारेदारी के बीच में आये बिना स्वतंत्र रूप से व्यापार करने का अधिकार। यद्यपि यह सुविधा ब्रिटिश हथियारों के दबाव से चीन ने दे दी थी, किन्तु इसके प्रभावकारी होने में जो कठिनाइयाँ थीं वे तत्काल ही सामने आ गयीं। पहले तो इस सबके बावजूद, पीकिंग सरकार की बाहरी दुनिया से उत्कृष्ट होने की भावना में कमी नहीं आयी। दबाव

के सामने वह झुक गयी, किन्तु दबाव हटते ही उसने उन लोगों को मौन रूप से और खुले रूप से भी प्रोत्साहित किया जो पुरानी स्थिति फिर से लाना चाहते थे। समझौतों में वह झुकी, किन्तु संधि की शर्तों को प्रभावकारी बनाने में टालमटोल कर उसने खोये हुए अधिकार वापस पाने का प्रयत्न किया। दूसरे यदि केन्द्रीय सरकार अपने नये उत्तरदायित्वों को निबाहने के लिए हर संभव प्रयास करती भी, जो उसने नहीं किया, तो भी उसे उन्हें लागू करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, क्योंकि चीनी शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रान्तों व स्थानीय संस्थाओं को व्यापक सार्वभौम अधिकार प्राप्त थे और स्थानीय विरोध के समक्ष केन्द्र को इन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता।

कुछ स्थानों पर बन्दरगाहों में आवागमन, विदेशियों के निवास की सुविधा तथा व्यापार के लिए आवश्यक प्रबन्ध करने में किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। उदाहरणार्थ, शंघाई में शुरू से ही विदेशियों तथा स्थानीय अधिकारियों के बीच अपेक्षतया अच्छे संबंध थे। विदेशियों के रहने के लिए जमीन अलग छोड़ दी गयी और व्यापार में सुविधाएँ देने के लिए प्रयास हुए। शंघाई में निवास के ये प्रबन्ध संधि-बन्दरगाहों में विदेशियों को रियायतें देने और उनके अपने निवास-क्षेत्र बनाने की प्रणाली का प्रारम्भ था। शुरू में अंग्रजों ने जो बस्ती बनायी थी और जिसमें बाद में अमरीकी व्यापारी आ गये थे और अमरीकी वाणिज्य दूतावास बन गया था, वह अमरीकियों के जोर देने पर बाद में अंतरराष्ट्रीय बस्ती बन गयी। फ्रांसीसी अपने लिए अलग इलाका माँगने लगे। तभी से अब तक अंतरराष्ट्रीय बस्ती कायम है और उसका विस्तार हुआ है; इसीकी बग़ल में फ्रांसीसियों की बस्ती है। विदेशियों के इन समाजों ने फौरन वहाँ अलग-अलग नगरपालिकाओं का स्थानीय शासन चला दिया।

अमोय और निंगपो में संधि की शर्तों के अनुसार अपनी-अपनी स्थिति बनाने में विदेशियों को कोई कठिनाई नहीं हुई, यद्यपि अमोय में दासों के क्रय-विक्रय में विदेशियों के शामिल होने से, विशेषकर इन विदेशियों द्वारा राज्यक्षेत्रातीतता प्रणाली की आड़ में, उनके लिए काम करने वाले चीनियों के बचाव की कोशिश से खटपट और संघर्ष की स्थिति आ गयी थी। फूचाउ में सौहार्दपूर्ण संबंधों की स्थापना कुछ कठिन साबित हुई, अंशतः इसलिए कि वहाँ लाभकर व्यापार विकसित होने में समय लगा।

मुख्य बाधाओं का सामना कैण्टन में हुआ। अन्य बन्दरगाहों में पहले से चली आ रही कैण्टनवासियों की व्यापारिक इजारेदारी समाप्त करने में ही दिलचस्पी थी, किन्तु स्वयं कैण्टन में तो कैण्टनवासियों के श्रेष्ठ माने जाने और उनकी आज्ञाओं के पालन की स्थापित परंपरा थी; फिर वहाँ हाल में ही विदेशियों के विरुद्ध विद्वेष की जनभावना बन गयी थी; इस कारण स्थानीय जनता और अधिकारियों द्वारा नयी परिस्थितियों की स्वीकृति

बहुत कठिन थी। जबतक नानकिंग के चीनी सर्वाधिकारप्राप्त दूत मंचू किंयिंग केन्द्रीय आयुक्त रहे संबंध काफी संतोषजनक रहे, क्योंकि वह कम-से-कम संधि के शब्दों के अनुरूप तो काम करने की कोशिश करते ही थे; उनके हटने के बाद खटपट और मनमुटाव ही नहीं, संघर्ष भी उत्पन्न हो गया।

अधिकारियों ने हांगकांग और मुख्य चीनी क्षेत्र के बीच संपर्क को इस प्रकार नियंत्रित करने का प्रयास किया जिससे कि हांगकांग की बस्ती एकदम घुट कर रह जाय। उन्होंने या तो कैण्टन में निवास का अधिकार माना ही नहीं या उस अधिकार की प्राप्ति में अड़चनें डालीं।[१७] उन्होंने समता के आधार पर सीधे अधिकारी स्तर पर संपर्क की अनुमति नहीं दी; उन्होंने व्यापार को चीनी व्यापारियों की विस्तृत इजारेदारी में ही रखने की कोशिश की, और उन्होंने संधि की राज्यक्षेत्रातीतता संबंधी शर्तें मानने से इनकार कर दिया। सामान्यतः विदेशी और उनके प्रतिनिधि अपने व्यवहार में मैत्री और समझौते का रुख ही अपनाते थे, किन्तु कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति ऐसा व्यवहार कर बैठते थे जिससे चीनी वैमनस्य उभर आता था। विदेशियों के प्रतिनिधि लगातार इस बात पर जोर देते थे कि संधि की शर्तों को पूरी तरह लागू होना चाहिए।

(६) संधि-पुनरीक्षण

इसके अतिरिक्त, कालान्तर में संधि कार्यान्वय में कुछ ऐसे दोष प्रकट हुए जिन्हें विदेशी दूर करवाना चाहते थे। अमरीकी संधि में बारह वर्ष बाद पुनरीक्षण की शर्त थी और अन्य देश भी संधियों में मौजूद "परम मित्र राष्ट्र" धारा के अनुसार पुनरीक्षण का अधिकार माँग सकते थे। एक के बाद एक, कई अमरीकी आयुक्तों ने पुनरीक्षण की आवश्यकता समझाने का असफल प्रयास किया, इस प्रश्न पर केवल कैण्टन के चीनी आयुक्त येह को विचार करने का अधिकार था और अमरीकी आयुक्त उनसे भेंट तक न कर सके। अंग्रेजों के प्रयास भी इसी प्रकार असफल रहे। इस प्रश्न और कैण्टन के असंतोषजनक संबंधों के फलस्वरूप अनेक विदेशी समझने लगे कि चीन से संतोषजनक ढंग से व्यवहार करने का एक ही उपाय है—शक्ति के बल पर समझौता वार्त्ता।

असली संकट "लोरचा ऐरो" काण्ड से शुरू हुआ जिसमें कैण्टन में अधिकार-क्षेत्र पर विवाद था। लोरचा ऐरो एक जहाज था जिसका मालिक चीनी था, पर जो हांगकांग में निबन्धित हुआ था,[१८] जिस पर अंग्रेजी झण्डा लगा था और जिसका कप्तान एक अंग्रेज था। जब जहाज नदी में लंगर डाले हुए था, चीनी वाइसराय के आदेशानुसार कुछ चीनियों ने जहाज पर जाकर उसके बारह नाविकों को पकड़ लिया। अंग्रेजों ने माँग की कि ये नाविक वापस किये जायँ। चीनियों ने पहले तो यह माँग अस्वीकार कर दी, फिर इसे बड़े असंतोष-

जनक ढंग से माना। विवाद चलता रहा और अंततः सन् १८५६ में इसके कारण उत्पात हुआ और सन् १८५७ में कैण्टन नगर पर अंग्रेजों ने कब्जा कर लिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि अंग्रेज फिर चीनियों से युद्ध में फँस रहे हैं, किन्तु वास्तव में उपद्रव तब तक स्थानीय बना रहा, जब तक विदेशियों ने उत्तर की ओर बढ़कर संधि-पुनरीक्षण की माँग टींटसीन में पेश करने का फैसला न कर लिया। अन्य संधि बन्दरगाहों में अंग्रेजों के चीनी अधिकारियों व व्यापारियों से संबंध सामान्य और सौहार्दपूर्ण बने रहे; किन्तु जब प्रकट शत्रुता कैण्टन में समाप्त हुई और वहाँ व्यापार फिर शुरू हो गया तब स्थिति बदल गयी, क्योंकि अंग्रेज और फ्रांसीसी पीकिंग की ओर बढ़ रहे थे।

चीन से महत्त्वपूर्ण संपर्क में आनेवाले चारों देश इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस व अमरीका चाहते थे कि व्यापार व संपर्क की और अधिक संतोषजनक शर्तें तय हो जायँ। सन् १८४२ के बाद से अंग्रेजों की नीति मैत्रीपूर्ण रही थी, लेकिन सन् १८५६ से अंग्रेज १८४०-४२ वाले कार्यक्रम पर वापस पलट गये, अर्थात् शक्ति के प्रदर्शन व प्रयोग के आधार पर समझौते की बात आगे बढ़ाना। फ्रांस व्यापारिक शक्ति के रूप में महत्त्वहीन था और उसने प्रकट कर दिया था कि उसकी विशेष दिलचस्पी रोमन कैथोलिक पादरियों व गिरजाघरों की रक्षा है जिनके लिए उसने काफी हद तक सहिष्णुता प्राप्त कर रखी थी। सन् १८५६ –५७ के कैण्टन उत्पात के समय फ्रांसीसियों को चीन सरकार के विरुद्ध एबे चेपडेलेन की 'न्यायिक' हत्या के कारण शिकायत थी। सामान्य धर्म प्रचारकों की भाँति वह देश में भीतर तक घुस गया था; पहले तो उसका ठीक स्वागत हुआ, किन्तु बाद में उसे पकड़ लिया गया और अंततः एक चीनी दण्डाधिकारी के आदेश से उसकी हत्या कर दी गयी। क्षतिपूर्ति की माँग अस्वीकार होने पर फ्रांसीसी भी कैण्टन पर दूसरी बार की गोलाबारी और कब्जे में अंग्रेजों के साथ शामिल हो गये। सन् १८५८ में जब अंग्रेज और फ्रांसीसी सर्वसत्ताधिकारी दूतों, लॉर्ड एल्गिन व बैरन ग्रौस, का संयुक्त दल उत्तर गया तब भी यह सहयोग जारी रहा।[१९]

इस अंग्रेज-फ्रांसीसी अभियान में तो अमरीकी व रूसी मंत्री शामिल रहे, किन्तु युद्ध से अलग रहने के स्पष्ट आदेशों के कारण, उन्होंने शत्रुतापूर्ण काररवाइयों में भाग नहीं लिया। अमरीका की नीति अब भी शांतिपूर्ण समझौते की ही थी। अमरीका के जो प्रतिनिधि चीन में थे वे लगातार सिफारिश करते थे कि अमरीकी हितों की रक्षा व उनके विस्तार के लिए शक्ति का भय दिखाना चाहिए, और इस बार वाशिंगटन में ब्रिटिश राजदूत ने प्रस्ताव रखा कि चीन के विरुद्ध अमरीका, ब्रिटेन व फ्रांस त्रिगुट समझौता हो जाय। किन्तु, सन् १८५४ से १८५८ तक शक्ति का भय दिखाये बिना चीन की शाही सरकार से समझौते की हर कोशिश असफल होने के बावजूद अमरीका अपनी पूर्व नीति पर

अडिग रहा। चीन स्थित अमरीकी मंत्री को आदेश था कि ब्रिटेन के साथ हर शांतिमय तरीके में सहयोग दिया जाय, किन्तु चीन के विरुद्ध किसी भी शत्रुतापूर्ण प्रदर्शन में कोई भाग न लिया जाय। रूसियों को भी शांतिपूर्ण तरीकों तक सीमित रहने का निर्देश था। वास्तव में रूस उत्तर में प्रशान्त सागर की ओर लगातार बढ़ कर दबाव डाल ही रहा था। इस दबाव के फलस्वरूप सन् १८५८ की ऐगुन की संधि में उत्तर की क्षेत्रीय स्थिति में परिवर्तन हुआ। रूसी काउण्ट मुराबीव ने संधि समझौता किया था और उनके कृतित्व व लब्धियों के लिए नाम बदल कर आमुर्स्की कर दिया गया था। काउण्ट ने सीमा की नयी हदबन्दी का समझौता किया जिसके अनुसार आर्गुन और आमूर के मुहाने के उत्तर के क्षेत्र पर रूसी अधिकार स्वीकार कर लिया गया और उसुरी व समुद्र के बीच के क्षेत्र के स्वामित्व का प्रश्न बाद के परिसीमन के लिए स्थगित कर दिया गया। अंग्रेज-फ्रांसीसी अभियान के साथ गये काउण्ट पुटियाटीन के लिए केवल यही शेष रह गया था कि रूस के लिए अपेक्षतया महत्त्वहीन, चीन से समुद्र के रास्ते से व्यापार करने का अधिकार प्राप्त कर लें तथा अन्य विदेशियों के साथ चीन में जैसा व्यवहार होता था वही व्यवहार रूसियों के लिए भी हासिल कर लें।

अतएव फ्रांस और इंग्लैण्ड सैन्यबल के साथ उत्तर में टींटसीन की ओर बढ़े; उनके पीछे रूसी व अमरीकी समझौता-वार्त्ताकार थे; इस प्रकार पश्चिमी राज्य दो भागों में बँट गये थे। रूसी और अमरीकी प्रतिनिधि पहले ही शांति व मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किये हुए थे। टींटसीन में सन् १८५८ में पुराने समझौतों की जगह नयी संधियाँ हुईं। पहले की उपलब्धियों के अतिरिक्त संधियों में नयी व्यवस्था यह हुई कि चीन के नये ग्यारह बन्दरगाह, जिनमें कई यांग्त्सी नदी पर थे, व्यापार के लिए खुल गये, हैंकाउ नदी में नौसंचरण की सुविधा प्राप्त हो गयी और राजनयिक प्रतिनिधियों के पीकिंग में निवास का निर्णय हो गया। "परममित्र राष्ट्र" संबंधी संधि-धारा के अनुसार एक देश को मिली सुविधाएँ अन्य देशों को भी मिल ही जाती थीं। सीमा-शुल्क तालिका का भी पुनरीक्षण हुआ, जो अधिकतर विदेशियों के ही हित में था; इसके अनुसार प्रचलित मूल्यों के आधार-पर यथामूल्य पाँच प्रतिशत उगाही स्थिर कर दी गयी। इस पुनरीक्षण में अफीम के आयात पर कर लगा दिया गया जिससे अफीम का व्यापार वैध व नियंत्रित हो गया। यह बात ध्यान देने की है कि संधि के समय अफीम का सवाल अमरीकी मंत्री की विशेष प्रार्थना पर उठाया गया था और आयात को वैधता भी उन्हीं के आग्रह पर मिली थी। अफीम के व्यापार के संबंध में अब तक अमरीका की जो नीति और स्थिति थी, यह प्रार्थना उसके विपरीत थी। अमरीकी संधि में धर्म-प्रचारकों और ईसाई धर्म ग्रहण करनेवालों के प्रति सहिष्णुता बरतने की धारा थी, किन्तु इसमें उनके रहने व काम करने के स्थान का विवरण

नहीं था। इस प्रकार पादरियों का प्रश्न पहली बार संधिस्तर पर आ गया। अंग्रेजों से हुई संधि में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी, किन्तु, फ्रांसीसी संधि में एक धारा बढ़ गयी थी जिसमें देश के भीतर भी पादरियों की रक्षा की व्यवस्था थी। यहाँ यह कह देना संगत होगा कि सन् १८६० की पीकिंग की फ्रांसीसी उप-संधि में चीन सरकार से आशा की गयी थी कि वह साम्राज्य भर में घोषणा कर देगी कि धर्म-प्रचारकों की काररवाइयों को अनुमति दी गयी है और ईसाइयों को अविचारपूर्ण ढंग से पकड़नेवालों को दण्ड दिया जायगा; यह भी तय हुआ कि कैथोलिकों के चीन से निष्कासन के समय उनकी जो भू-संपत्ति जब्त कर ली गयी थी उसका मूल्य चुकाया जायगा। सन् १८६५ में केन्द्रीय सरकार ने १८६० की उपसंधि के चीनी मसौदे में चुपचाप जोड़ दी गयी उस धारा को भी स्वीकृति दे दी जिसमें ईसाई धर्म-प्रचारकों को साम्राज्य भर में भूमि खरीदने और उस पर इमारतें खड़ी करने का अधिकार दिया गया था।[२०]

अंग्रेजों की समझौता वार्ता पूरी होने के पहले अन्य देशों से हुई संधियों व लार्ड एल्गिन द्वारा की गयी ब्रिटिश संधि में और अंतर तो थे ही, एक विशेष अंतर यह था कि अन्य देशों के पीकिंग में स्थायी मिशनों की जगह राजदूतावास रखने की व्यवस्था थी। किन्तु "परममित्र राष्ट्र" सिद्धान्त के अनुरूप सभी देश एक स्तर पर आ जाते थे। यद्यपि रूस व अमरीका शक्ति प्रदर्शन के बिना ही संधि करने में सफल हो गये थे, उनका भी अनुभव यही था कि हर माँग को भरसक पूरा करते हुए भी चीन १८४२–४४ की संधियों का पुनरीक्षण नहीं करता यदि ब्रिटेन व फ्रांस का संयुक्त दबाव न पड़ता। ब्रिटिश दूत से, जो पीकिंग में निवास पर बहुत जोर दे रहा था, कहा गया कि वह अपनी सरकार से इस अधिकार के तत्काल कार्यान्वय पर जोर न देने का आग्रह करे। यह भी प्रयास किया गया कि संधि शर्तों के अनुसार संधिपत्रों का अनुसमर्थन पीकिंग में न कर कैण्टन या शंघाई में हो। जब यह प्रयास असफल हो गया तब टींटसीन के लिए कोशिश की गयी। अंततः अंग्रेजों व उनके मित्र फ्रांसीसियों ने फिर बलप्रयोग किया और सीधे पीकिंग तक बढ़ गये। उनका बढ़ाव रोकने की कोशिशें बेकार हुईं। पीकिंग पर कब्जा हो गया और मंचू दरबार उत्तर में जेहोल भाग गया; पीकिंग का ग्रीष्म-भवन कुछ बंदियों के साथ चीनियों द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने के प्रतिशोध में नष्ट कर दिया गया। समता के स्तर पर विदेशियों से संपर्क स्थापित करने के लिए चीन को बाध्य करने के लिए यह अंतिम कदम था जिसमें बलप्रयोग किया गया था।

पीकिंग की ओर बढ़ाव के समय और उस पर कब्जा हो जाने के बाद मित्रराष्ट्रों और शाही शासन के प्रतिनिधि स्वरूप राजकुमार कुंज के बीज समझौता वार्त्ता के समय रूसी बराबर चीन के मित्र होने का ढोंग करते रहे। जब शांति स्थापित हो गयी उन्हें

इस मित्रता के बदले उसुरी और प्रशान्त महासागर के बीच का क्षेत्र प्राप्त हो गया और इस प्रकार रूस का क्षेत्रीय संपर्क चीन व कोरिया से स्थापित हो गया तथा एशिया के उत्तरी तटपर स्थित द्वीपों में उसके हित बन गये।[२१]

पीकिंग पर आधिपत्य या सन् १८५८ की संधियों की स्वीकृति से चीनी जनता या केन्द्रीय सरकार के इस मत में कोई अंतर नहीं आया कि चीन अन्य देशों से अंतर्निहित रूप से श्रेष्ठ है और न उनके विदेशियों के प्रति विचार ही बदले। वे दबाव के फलस्वरूप झुके थे और उन्होंने केवल वही दिया था जो उन्हें विदेशी की माँगों का न्यूनतम भाग बताया गया था। जहाँ बलप्रयोग नहीं हुआ था वहाँ उन्होंने स्वेच्छा से कोई भी सुविधाएँ नहीं दी थीं। यदि सन् १८६० के बाद केन्द्रीय शासन ने नवस्थापित संबंधों को सद्‌भावना से स्वीकार किया होता, यदि चीन ने बाहरी दुनिया की जानकारी करने के लिए और अधिक व्यापक प्रयत्न किया होता और पश्चिम की भौतिक सभ्यता से और अधिक सीख कर अपने को सशक्त बनाने के अवसर का उपयोग करने का प्रयास किया होता और यदि विदेशों द्वारा की गयी प्रगति को निष्प्रभाव करने की फिर से कोशिश चीन ने न की होती, तो अगले साठ वर्षों का इतिहास बहुत भिन्न होता। किन्तु चीन ने यह नहीं किया। अपने को नयी दुनिया और नयी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के पूरे और खुले प्रयत्न की जगह वह अपने गौरवशाली अतीत की ओर आँखें लगाये रहा। और केवल साम्राज्य की सेना के आधुनिकीकरण की ओर ध्यान लगाया। विभिन्न देशों से स्थापित नये संबंधों के फलस्वरूप आये राजदूतों से पूर्ण समता[२२] के स्तर पर व्यवहार करने की जगह वह लगातार छोटे-छोटे अपमान करता रहा जो कि स्वयं उसके अहित का कारण बनते रहे। कुछ व्यक्तिगत उदाहरणों को छोड़कर चीन का रवैया मूलरूप से नहीं बदला, इसका आंशिक कारण वे परिस्थितियाँ थीं जिनमें पश्चिम से संबंध निश्चित और स्थापित हुए—परिस्थितियाँ जो नये संपर्कों की पूर्ण और सहज स्वीकृति की प्रेरक तो निश्चित रूप से नहीं ही थीं। अंशतः इसका एक कारण सन् १८६० के बाद का इन विदेशी सत्ताओं का रवैया भी था। किन्तु चीनी दृष्टिकोण का जो भी कारण रहा हो, तथ्य यही है कि नयी व्यवस्था को सहज रूप से स्वीकार न करने से सबसे अधिक अहित चीन का ही था, यद्यपि यह नयी व्यवस्था चीन पर थोपी ही गयी थी।[२३]

तीसरा अध्याय

विदेशी संघट्टन (१८६०–१८९४)

(१) विद्रोह की पूर्ववर्त्ती परिस्थितियाँ

"ईश्वरीय" साम्राज्य में हर वंश के अंत समय लम्बी अवधि तक भीतरी उद्वेलन होते रहे हैं। केन्द्रीय शाही शासन का नियंत्रण ढीला हो जाता है। अधिकारी जनकल्याण के प्रति उदासीन होकर लोभी और पैसे पर विकने वाले वन जाते हैं। अधिकारियों की साँठ-गाँठ से समृद्ध कुलीन किसान भूमि-कर देने से बचने लगते हैं। फलतः कर का बोझ छोटे और निर्धन किसानों पर बढ़ जाता है। कर अधिभार 'परिवर्तन शुल्क' उगाही-व्यय आदि अनेक नये भार जनता पर पड़ते हैं और उनकी मात्रा बढ़ती जाती है। इस बढ़े कर-भार को सह न सकने के फलस्वरूप 'छोटे परिवार' अपनी जमीन रोक नहीं पाते और इस तरह काश्तकार वर्ग बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे कर-भार बढ़ता है—केन्द्रीय शासन के हित में नहीं, वरन्, मुख्यतः प्रान्तीय अधिकारियों के लाभ के लिए—अशान्ति के आर्थिक व सामाजिक कारण उत्पन्न होते जाते हैं। फलतः केन्द्रीय सत्ता के निर्बल होने के साथ डाकू और जलदस्यु जोर पकड़ने लगते हैं।[1] बहुधा सूखे या बाढ़ या दोनों के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था और बिगड़ जाती है और अशान्ति की स्थिति और उग्र हो उठती है, जीविका के लिए डाकुओं के संगठित गिरोह पनपने लगते हैं। राज्यवंश-विरोधी गुप्त संस्थाएँ जन्म लेने और बढ़ने लगती हैं। कभी-कभी बाहरी आक्रमण भी हो जाता है जिसका ह्रासोन्मुख शासन मुकाबला नहीं कर पाता। तब राज्यवंश का पतन हो जाता है, क्योंकि राज्य करने का उसे मिला "ईश्वरीय आदेश" वापस हो जाता है—वापस होने का सबूत होते हैं सम्राट् की आंतरिक शांति क़ायम रखने में असफलता, जनता की अत्यधिक शोषण से रक्षा तथा बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा करने में अयोग्यता।

(२) विदेश संबंध

उन्नीसवीं शताब्दी के चीन में वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जो शासन-परिवर्तन के लिए आवश्यक मानी जाती हैं, यद्यपि मंचू सम्राट् के विदेशी शत्रु सीमा पार से नहीं बहुत दूर-दूर के देशों से आये थे। शताब्दी के मध्य तक विदेशी पहले अवरोध सफलता-

पूर्वक ध्वस्त कर चुके थे। उन्होंने अपने प्रतिनिधि पीकिंग में स्थापित कर दिये थे और कुछ क्षेत्र बलात् अपने स्वामित्व में ले लिये थे (इंग्लैण्ड को हांगकांग मिल गया था और रूस को उत्तरी इलाका)। साम्राज्य में व्यापार के लिए वे कैण्टन से आगे बढ़ गये थे और ईसाई धर्म-प्रचारकों को देश के भीतर जाकर काम करने की अनुमति थी और इन पादरियों पर केन्द्रीय सरकार का प्रभावकारी नियंत्रण भी नहीं रह गया था। उन्होंने साम्राज्य के विरुद्ध दो बार सफलतापूर्वक युद्ध छेड़ा था और एक बार राजधानी पर कब्जा कर सम्राट् को अस्थायी निर्वासन में भेज दिया था। यह अवश्य सत्य है कि उन्होंने देश का शासन अपने हाथ में लेने का प्रयत्न नहीं किया था और सम्राट् को फिर अपनी सत्ता बनाने दी थी।

वस्तुतः विदेशी यह मानकर चलने लगते थे कि पीकिंग में दूतावासों की स्थापना, बन्दरगाहों के खुलने तथा व्यापार बढ़ने और धर्म-प्रचारकों के लिए सहिष्णुता मिलने से स्वतंत्र संपर्क में जो भौतिक और मनोवैज्ञानिक अवरोध थे वे समाप्त हो जायँगे। किन्तु अनुभव से उन्हें पता लगा कि उनकी उपस्थिति अब भी खलती थी, उन्हें अपनी नवप्राप्त विशेष सुविधाओं को कायम रखने के लिए लगातार संघर्ष करना होता था और नये परिवर्तनों के सुझावों के प्रति सरकार और जनता दोनों उदासीन रहती थीं या उनका विरोध करती थीं।

सन् १८४२ से १८६० तक यूरोपीय शक्तियों को उन सभी जगहों में संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों व स्थितियों की व्याख्या प्राप्त करने के लिए स्थानीय अधिकारियों से बात करने को बाध्य होना पड़ता था जहाँ पैर जमाने भर की जगह उन्होंने प्राप्त कर ली थी। संधि-पुनरीक्षण जैसे सामान्य महत्त्व के प्रश्न पर विचार-विनिमय करने के लिए केवल कैण्टन का वाइसराय सक्षम था और वह पीकिंग से सबसे अधिक दूरी पर था। पीकिंग पहुँचने के पहले जहाँ और जब भी आवश्यकता हुई स्थानीय शासकों द्वारा दबाव डाल लिया गया था। आशा और अपेक्षा यह थी कि पीकिंग में निवास का अधिकार प्राप्त हो जाने का फल यह होगा कि शक्ति के केन्द्र से संपर्क होगा और स्थानीय शासनों पर दबाव अनावश्यक हो जायगा।

यह स्थानीय दबाव डालने में पहल की थी एक विदेशी शक्ति ने, किन्तु इससे जो सुविधाएँ मिलीं वे सभी विदेशी शक्तियों की हो गयीं और किसी भी विदेशी शक्ति ने स्वतंत्र नीति अपनाकर केवल अपने लिए विशेष सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयास भी नहीं किया। संभवतः रूस को छोड़ कर शेष सभी पश्चिमी शक्तियों का संयुक्त लक्ष्य केवल यही था कि एकान्त का युग समाप्त हो। सन् १८६० से लगभग सन् १८७५ तक पीकिंग में पश्चिम के प्रतिनिधि सामूहिक हितों के आधार पर ही सोचते और कार्य करते

रहे—उनकी नीति का आधार था एकान्त की दीवार में जो छेद हुआ है वह और बढ़े और दीवार हटे, किन्तु चीन ध्वस्त या बरबाद न हो। सन् १८६१ से सन् १८६७ तक पीकिंग में अमरीकी प्रतिनिधि थे एनसन बर्लिंगेम और वही मुख्यतः इस सहयोग की नीति को विशिष्ट और व्यावहारिक रूप में लागू करने के उत्तरदायी थे; उन्होंने इस संबंध में बहुत स्पष्ट और उचित वक्तव्य दिया[२]—

"जिस नीति पर हमारा मतैक्य है, संक्षेप में वह इस प्रकार है—यद्यपि हम अपने इस संधि अधिकार का दावा करते हैं कि हमें संधि-बंदरगाहों में, अपनी-अपनी सरकारों के व्यक्ति और संपत्ति संबंधी अधिकार-क्षेत्रों को खरीदने व बेचने और किराये पर लेने का अधिकार है; हम संधि-बन्दरगाहों में क्षेत्र स्वामित्व की न तो मांग करेंगे और न यह सुविधा स्वीकार करेंगे और न चीनी जनता पर चीनी सरकार के अधिकार क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप करेंगे और न ही चीनी साम्राज्य की क्षेत्रीय अखण्डता के लिए ही कोई खतरा बनेंगे। जहाँ तक अपने संधि अधिकारों को कायम रखने के लिए आवश्यक हो, उससे आगे चीन के आंतरिक संघर्ष में हम भाग न लेंगे। संधि अधिकारों की रक्षा हम संयुक्त रूप से करेंगे उन्हें छीनने वाला कोई भी हो। इस नीति के अनुरूप ताइपिंगों या विद्रोहियों से संधि-बन्दरगाहों की रक्षा करने की हमारी नीति स्पष्ट है; किन्तु यह रक्षा हम इस प्रकार करेंगे कि हमें चीनी जनता के बड़े भागों से, उन्हें देश के भीतर खदेड़ने में, युद्ध न करना पड़ जाय।

संयुक्त प्रयास की यह नीति धीरे-धीरे बदलती गयी और शक्तियाँ अपनी शिकायतें दूर करवाने या नयी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए अलग-अलग कदम उठाने लगीं और इस प्रकार सन् १८७५ के बाद, इन शक्तियों के बीच ध्येय की वह एकता नहीं रही जो पिछले दिनों चीन की सर्वोच्च सत्ता के सम्मान की स्वीकृति पर आधारित थी।

सन् १८६० के बाद पीकिंग में मुख्य राजनयिक प्रश्न था सम्राट् से साक्षात्कार। जिस अवधि की यहाँ समीक्षा की जा रही है, लगभग उस पूरी अवधि में विदेशी प्रतिनिधि केवल मात्र त्सुंगली यामेन के सदस्यों से ही संपर्क रखने को बाध्य रहे; त्सुंगली यामेन एक मंडल था जिसका परराष्ट्र समस्याओं के निराकरण के लिए सन् १८६१ में गठन हुआ था। धीरे-धीरे इस मंडल ने शाही मंत्रिपरिषद् का रूप ग्रहण कर लिया क्योंकि इसके निर्णयों का बड़ा महत्त्व था; केन्द्रीय सरकार को संधियों की शर्तें लागू करने में ही धीरे-धीरे प्रान्तीय शासनों में हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पड़ा था और अभी तक की प्रबोधन मात्र की भूमिका छोड़ कर आदेश देने की भूमिका अदा करनी पड़ी थी। त्सुंगली यामेन के सदस्य बहुत समय तक विदेशी मंत्रियों और सम्राट् के बीच व्यवधान बने रहे और उस साक्षात्कार में भरसक हर संभव बाधा डालते रहे जिसे विदेशी मंत्री अपना

अधिकार मानते थे और जिसके फलस्वरूप संबंधों के अधिक सहिष्णु आधार पर स्थापित होने में सहायता मिलती।

सम्राट् से भेंट न होने देने का एक अच्छा बहाना यह था कि वह अभी अवयस्क हैं और शासन उनके नाम से एक राज्य-परिषद् चलाती है। सन् १८७३ में जब सम्राट् वयस्क हुए विदेशी मंत्रियों ने उनसे भेंट करने का सवाल फिर त्सुंगली यामेन के सामने रखा। चूंकि भेंट टालने का अब कोई भी बहाना नहीं था, सम्राट् ने राजनयिक सेवा के इन प्रतिनिधियों से भेंट करना स्वीकार कर लिया। किन्तु यह भेंट उस भवन में हुई जहाँ सामान्यतः करद राज्यों के मिशनों से भेंट की जाती थी और फलतः चीनियों ने समझा कि उन्होंने कोई नयी सुविधा नहीं दी है। विदेशियों का अकेला लाभ यह हुआ था कि उन्हें नौ बार दण्डवत् प्रणाम करने की काउ-टाउ परंपरा से पहली बार छूट मिल गयी थी। पीकिंग में निवास का अधिकार मिलने के तीस वर्ष बाद जाकर कहीं सन् १८९३ में, विदेशी प्रतिनिधियों से उचित परिस्थितियों में और उपयुक्त ढंग से भेंट करने की अनुग्रहपूर्ण व्यवस्था स्वेच्छा से की गयी। यह सही है कि प्रथम साक्षात्कार और लक्ष्य की अंतिम प्राप्ति के बीच सन् १८७५ से सन् १८८९ तक एक और राज्य-परिषद् आ गयी थी, किन्तु तथ्य तो यह है ही कि सम्राट् की अवयस्कता का लाभ उठा कर मंचू सरकार ने संतोषजनक आधार पर यूरोप से वह संपर्क बनना टाल दिया जो यूरोपीय राज्य समाज के सदस्यों में सामान्य माना जाता है।

चीन के अपने एकान्त से पूरी तरह निकलने के लिए यह आवश्यक था कि जिस प्रकार विदेशी दूतावास पीकिंग में स्थापित थे, उसी व्यतिहारी आधार पर चीन स्वयं अपने प्रतिनिधियों को विदेश भेजे। यह स्वयं चीन के ही हित में था क्योंकि चीन से संबंधित प्रश्नों पर वह अपनी सम्मति सीधे विदेशी सरकारों के अध्यक्षों को दे सकता था। किन्तु सन् १८७७ तक, चीन ने यह नहीं किया और उस वर्ष पहली बार चीनी राजदूत ने अपना परिचयपत्र इंग्लैण्ड में पेश किया। सन् १८७७ के पहले इस बात का संकेत अवश्य दिया गया था कि चीनी शासन विदेशियों से उन्हीं की भूमि पर मिलेगा। चीनी समुद्री सीमाशुल्क विभाग के ब्रिटिश अध्यक्ष, सर रॉबर्ट हार्ट जब अवकाश पर सन् १८६६ में यूरोप लौटे तो वह चीन सरकार द्वारा जाब्ते से नियुक्त एक प्रतिनिधि को अपने साथ लेते गये। किन्तु इस प्रतिनिधि को "राजदूत का काम नहीं सौंपा गया था, बल्कि जो कुछ भी वह वहाँ देखे और पता लगाये उस पर एक प्रतिवेदन देने भर का काम"[३] उसके सिपुर्द था। इस प्रयास का कोई फल नहीं निकला क्योंकि इस दूत ने चीनी सभ्यता का कोई अनुकूल प्रभाव यूरोप पर नहीं डाला और न उसे कोई ऐसी अनुकूल बात दिखाई ही दी जिसे वह अपने प्रतिवेदन में शामिल करता।

सर रॉबर्ट हार्ट की सिफारिश पर ही, सन् १८६७ में फिर चीन सरकार ने अवकाश ग्रहण करनेवाले अमरीकी मंत्री, एनसन बर्लिंगेम, से कहा कि वह अपने नेतृत्व में एक मिशन पश्चिम के देशों में ले जायँ। चीन की सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता और अखण्डता कायम रखने के सिद्धान्त के आधार पर विदेशी शक्तियों के सहयोग के लिए बर्लिंगेम ने बहुत काम किया था। किन्तु यह सहयोग अधिकांशतः व्यक्तिगत था और बर्लिंगेम के पीकिंग से रवाना होने के पहले ही आंशिक रूप से समाप्त हो चुका था। इस नयी नियुक्ति में उनकी दिलचस्पी यह थी कि वह अपनी नीति का संचालन व्यक्तिगत स्तर के स्थान पर सरकारी स्तर पर कराना चाहते थे। यह मिशन पहले अमरीका गया, जहाँ जनता ने उत्साह से और सरकार ने सौहार्द से इसका स्वागत किया; सरकार अपनी पुरानी नीति के टींटसीन संधि की पूरक धाराओं के रूप में अधिकृत रूप से पुनःसंमर्थन से प्रसन्न थी। फ्रांसीसी सरकार का सौहार्द्र कुछ कम था और बिस्मार्क तो बर्लिंगेम से बातचीत के समय किसी हद तक कोई वचन देने से बचते ही रहे। सेण्ट पीटर्सबर्ग में मिशन के नेता की मृत्यु पर चीनी सदस्य वापस चीन लौट गये।

विदेशों में चीन के प्रति अभिरुचि पैदा कराने के लिए बर्लिंगेम बहुत ही उपयुक्त व्यक्ति थे। किन्तु पश्चिम के पदचिह्नों पर चलने के लिए चीन की तत्परता के संबंध में अपनी भाषण-प्रतिभा के फलस्वरूप उन्होंने बढ़ा-चढ़ा कर वक्तव्य दे डाले। इससे संभवतः लाभ के साथ हानि ही हुई। जो लोग चीन सरकार और उसके अधिकारियों के रवैये और दृष्टिकोण से परिचित थे वे यह पढ़ कर आश्चर्यचकित रह गये होंगे कि चीन "आप से कहता है कि वह अपनी प्राचीन सभ्यता पर आपकी सभ्यता की कलम लगाने को प्रस्तुत है। वह आपसे कहता है कि वह अपने अन्वेषण और उनके विकास को वापस लेने को तैयार है। वह आपसे कहता है कि वह आपके साथ व्यापार करने के लिए, आप का माल खरीदने और अपना आपको बेचने के लिए, व्यापार पर लगी बंदिशें तोड़ने में आपकी मदद करने के लिए तैयार है। वह आपके व्यापारियों व धर्म-प्रचारकों का स्वागत करता है। वह धर्म-प्रचारकों से कहता है कि वे आकर हर चोटी और हर घाटी में अपना ज्वलन्त क्रूस (सलीब) गाड़ दें। क्योंकि वह उचित तर्कों का स्वागत करता है।"[४]

(३) चीनी उत्प्रवास

चीन की अखण्डता व सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता के सम्मान की नीति के संबंध में जाव्ते के वक्तव्य के अतिरिक्त चीन व अमरीका के बीच हुई बर्लिंगेम संधि का महत्त्व इसलिए भी था कि उसमें चीनी मजदूरों को यह अधिकार प्राप्त हो गया था कि वे अमरीका में प्रवेश करें और परममित्र राष्ट्र के नागरिकों के समान उचित व्यवहार प्राप्त करें।

इस व्यवहार का आश्वासन उसी समय प्राप्त हुआ था जब कैलिफोर्निया में चीनी मजदूरों के विरुद्ध आंदोलन शुरू हो रहा था। वहाँ रहने वाले चीनियों की संख्या सन् १८५२ के २५,००० से बढ़कर सन् १८६७ में ५०,००० और सन् १८८२ में १,३०,००० हो गयी थी। प्रशान्त महासागर के अमरीकी तट पर सस्ते मज़दूरों की मांग के फलस्वरूप चीनी मजदूर वहाँ पहुँचे थे। शुरू में उनका उत्सुकतापूर्वक स्वागत किया गया; किन्तु जैसे-जैसे उनकी संख्या बढ़ती गयी वे अधिकाधिक अलोकप्रिय होते गये। उनके विरुद्ध भेदभाव बरतने वाला कानून बना लिया गया और व्यक्तियों तथा भीड़ों द्वारा उनके साथ खुला दुर्व्यवहार कर शत्रुता प्रकट की जाने लगी। कानून बर्लिंगेम संधि के विरुद्ध था और संधि में दी गयी गारण्टी के खिलाफ चीनी मज़दूरों के साथ दुर्व्यवहार किया जा रहा था। यह आंदोलन बढ़ते-बढ़ते अमरीका की सर्वोच्च विधायनी संस्था, कांग्रेस, तक जा पहुँचा और वहाँ कानून बना दिया गया कि किसी भी जहाज में पन्द्रह से अधिक चीनी प्रवासी अमरीका नहीं आ सकेंगे। अमरीकी राष्ट्रपति ने अपने विषेधाधिकार का प्रयोग कर यह कानून लागू होना तो रोक दिया, किन्तु उन्होंने एक आयोग चीन भेज दिया जिसका उद्देश्य संधि की उत्प्रवास संबंधी धाराओं में संशोधन कराना था ताकि उसके बाद चीनी प्रवासियों के संबंध में प्रतिबन्धात्मक कानून बनाया जा सके। आयोग ने चीन सरकार को इस बात पर राजी कर लिया कि संधि में संशोधन कर चीनियों के अमरीका प्रवेश को "सीमित, नियंत्रित या रद करने" का अधिकार दे दिया जाय, किन्तु पूरी तरह से रोकने का अधिकार न हो। जो चीनी अमरीका पहुँच चुके थे उनके साथ परममित्र राष्ट्र के नागरिकों के अनुरूप ही व्यवहार होना था।

अमरीकी कांग्रेस ने तत्काल (सन् १८८२ में) यह प्रतिबद्धात्मक कानून बना दिया कि दस वर्ष तक चीनी मजदूरों का अमरीका आना रद कर दिया जाय। किन्तु प्रशान्त तट पर चीनियों के साथ होने वाला दुर्व्यवहार जारी रहा और चीनी मंत्री को बार-बार अमरीकी सरकार से इस दुर्व्यवहार के निवारण के लिए माँग पेश करनी पड़ी। इसके अतिरिक्त, यद्यपि चीन की शाही सरकार विदेशों में रहनेवाली अपनी प्रजा के कल्याण के संबंध में विशेष व्यग्र नहीं थी, किन्तु अमरीका के कार्यकलाप व कैलिफोर्निया में रहनेवाले चीनियों के साथ हो रहे व्यवहार से उसकी न तो विदेशियों के प्रति श्रद्धा बढ़ी और न उनसे हुई संधियों के प्रति ही। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही था कि चीनी प्रतिनिधि द्वारा अमरीका में प्रवेश और सद्व्यवहार संबंधी संधि अधिकार प्राप्त करने के बाद इतनी जल्दी चीनी प्रवासियों के प्रश्न ने ऐसा उग्र रूप धारण कर लिया।

अमरीका और ब्रिटिश उपनिवेशों में चीनियों के उत्प्रवास से भी अधिक जटिल और गंभीर प्रश्न चीनी मजदूरों को क्यूबा, पेरू व अन्य देशों में भेजने के संबंध में उठ गया।

यद्यपि चीन के शाही कानून के अनुसार जनता उत्प्रवास से हतोत्साहित की जाती थी, अपेक्षया प्राचीन काल से ही कुछ चीनी अपना भाग्य परखने विदेश चले गये थे। शुरू में यह उत्प्रवास व्यक्तिगत स्तर पर स्वतंत्र रूप से होता रहा, जैसा कि अमरीका में भी हुआ था। किन्तु पिछली शताब्दी के मध्य में, सस्ते मजदूरों की माँग बढ़ जाने पर ठेके की मजदूरी की प्रथा विकसित हो गयी और इसके साथ ही गंभीर दुरुपयोग भी शुरू हो गया। अपनी इच्छा के विरुद्ध और झूठी बातें बताकर बहकावे से मजदूर भरती किये जाते थे; कुली ढोनेवाले विदेशी जहाजों में वे ठूँस दिये जाते थे और गंतव्य स्थानों पर पहुँच कर वे अपनी हालत गुलामों से भी बदतर पाते थे। परिस्थितियाँ इतनी बिगड़ गयीं कि चीन सरकार अंततः कुछ करने को बाध्य हो गयी। फ्रांस, इंग्लैण्ड और अमरीका चीन की शाही सरकार के साथ इस कुली-व्यापार को रोकने में सहयोग देने को तैयार थे, किन्तु ठेके के ये मजदूर अधिकांशतः मकाओ बन्दरगाह के पुर्तगाली अधिकार-क्षेत्र से रवाना किये जाते थे। सन् १८७५ तक पश्चिमी देशों की "अंतरात्मा" पूरी तरह से जाग चुकी थी और चीनी बन्दरगाह से मजदूरों को भेजने वाले ठेकेदारों को नजरअन्दाज़ करने के लिए पुर्तगाल और गंतव्य स्थानों की परिस्थितियों के लिए स्पेन और पेरू की बड़ी निन्दा होने लगी थी। सन् १८७४ में ब्रिटिश सरकार ने पुर्तगाल की सरकार से इस विषय को लेकर विरोधप्रदर्शन किया और सन् १८७५ में मकाओ स्थित अधिकारियों को आदेश दे दिये गये कि वहाँ से ठेके पर या स्वतंत्र रूप से जाने वाले प्रवासियों को रोक दिया जाय। इससे ठेके पर मजदूरों की भरती तत्काल तो समाप्त नहीं हुई, पर समाप्ति की शुरूआत अवश्य हो गयी। इसी बीच में स्पेन और पेरू भी अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में मौजूद मजदूरों की असहनीय परिस्थितियों को सुधारने के लिए राजी कर लिये गये थे।

उत्प्रवास-संबंधी धाराओं से चीन के लिए अधिक लाभदायक बर्लिंगेम संधि की वह व्यवस्था सिद्ध हुई, जिसके अनुसार ब्रिटिश व्यापारियों के निर्देश पर टींटसीन-संधियों का पुनरीक्षण टल गया था; ब्रिटिश व्यापारी समस्त चीन को व्यापार के लिए पूरी तरह से खोल देने के लिए आंदोलन कर रहे थे। इससे चीन-सरकार की समस्याएँ अत्यधिक जटिल हो जातीं और विदेशियों के राज्यक्षेत्रातीत रुतबे के कारण उस समय अत्यधिक अविवेकपूर्ण सिद्ध होता। यह असंदिग्ध है कि बर्लिंगेम मिशन को औपचारिक रूप से भेजने में शाही शासन का एक उद्देश्य यह भी था कि पुनरीक्षण टल जाय या हो ही न। वास्तव में, ऐसा आभास होता है कि संधि की वाशिंगटन धाराओं का समझौता कराने में बर्लिंगेम ने अपने अधिकारों का अतिक्रमण कर दिया, क्योंकि त्सुंगलीयामेन ने इन धाराओं का विशेष स्वागत नहीं किया और इन धाराओं के अनुसमर्थन की सिफारिश करने में आनाकानी की। बर्लिंगेम मिशन का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि ब्रिटेन और

प्रशा की सरकारों ने घोषणा कर दी कि भविष्य में उनकी यह नीति होगी :—"चीन की सुरक्षा और स्वतंत्रता के प्रतिकूल कोई भी अमैत्रीपूर्ण दबाव नहीं डाला जायगा।" अमरीकी संधि में व्यवस्था थी कि चीन के विकास में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होगा। इन देशों ने सामान्यतः यही नीति बरती भी; यह नीति पहले की उस नीति के विपरीत थी, जिसके अनुसार चीन में अपने हितों के विकास के लिए आगे आने वाले वर्षों में स्थानीय अधिकारियों पर बेजा दवाव डाला गया था। प्रान्तों पर जो भौतिक दबाव संधि-कार्यान्वय के लिए डाला जाता था, उसके स्थान पर अब पीकिंग पर नैतिक दबाव डालने की नीति अपनायी गयी।

(४) विदेशियों के प्रति अभिवृत्ति

अधिकारियों के साथ जिस प्रकार के संबंध थे, चीनियों से व्यक्तिगत स्तर पर संबंध सामान्यतः उनसे बेहतर नहीं थे। जैसे-जैसे विदेशी देश में व्यापक रूप से फैलते गये, विशेषकर, धर्म-प्रचारक संधि-बन्दरगाहों से दूर भीतर तक बढ़ते गये, ईसाई-विरोधी उपद्रवों के रूप में, जिनमें जान और माल दोनों की क्षति हुई, अविश्वास और वैमनस्य प्रकट होता गया। शत्रुभाव का सबसे खराब प्रदर्शन टींटसीन में हुआ, जहाँ एक कैथोलिक गिरजाघर और अनाथालय को भीड़ ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। देशों के अन्य भागों में भी इसी प्रकार के उपद्रव हुए। अस्पताल और अनाथालय स्थापित करने के बाद प्रचारिकाओं को अनुभव हुआ कि लोग स्वेच्छा से वहाँ बहुत ही कम बच्चों को लाते हैं, तब उन्होंने वहाँ लाये गये हर बच्चे पर नजराना देना शुरू किया। ऐसा लगता है कि प्रचारिकाएँ मरणासन्न बच्चों को अंत समय लाकर **जोड़ लगे कंठ के साथ** (in articulo mortis) बपतिस्मा देने के लिए लालच देती थीं। इस कारण अनाथालय में गाड़ने के लिए बहुत बच्चे मिलते थे।

ये ऐसे तथ्य थे, जिनकी जाँच की जा सकती थी और इन तथ्यों की नींव पर अन्धविश्वासी चीनियों ने अपनी कल्पना के उद्रेक से अपहरण, बपतिस्मा की रहस्यमय प्रक्रियाओं, आँखें और दिल निकाल लेने तथा ऐसी ही अन्य डरावनी बातों की एक इमारत खड़ी कर ली थी; और इन सबसे घृणा और भय का उन्माद पैदा होता था।[५]

सन् १८७० के ग्रीष्म के आरम्भ में एक अनाथालय में छूत की बीमारी महामारी के रूप में लग गयी, जिससे लगभग तीस-चालीस बच्चे मर गये; इससे संकट खड़ा हो गया।

हो सकता है नरसंहार पूर्वनिश्चित या आसन्न न रहा हो, पर अब वह अनिवार्य हो गया था। जातीय घृणा के पचास वर्ष, राष्ट्रीय विद्वेष के दस वर्ष, ईसाई-विरोधी भावना का तीव्रता से हो रहा विकास, जो अंशतः अंधविश्वास और अंशतः धार्मिक कठ-

मुल्लापन व सहज विश्वास की भावना पर आधारित था; ये सब मिलकर एक बिन्दु पर केन्द्रीभूत हो गये और बढ़ती हुई अराजकता का फल हुआ तीन घंटे तक खुली लूट-पाट, आगजनी व हत्याएँ।[६]

इस प्रकार के कारण इस तथा ऐसे अन्य काण्डों में जनसाधारण में शत्रुता व वैमनस्य का उद्रेक कर देते थे, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि बहुत-से अधिकारी व शिक्षित वर्ग के लोग भी विदेशियों व उनके द्वारा किये जाने वाले हर काम को नापसन्द करते थे। जाँच करने और जनता को नियंत्रित करने या जाँच से प्रकट हुए तथ्यों के आधार पर राजदूतों से शिकायत करने की जगह, स्थानीय अधिकारी बहुधा जनता को ऐसे काम करने को उकसाते थे, जिनका तात्कालिक परिस्थितियों में एकमात्र फल होता था उनके देश का और अधिक अपमान। उदाहरणार्थ, टींटसीन के दण्डनायक (मैजिस्ट्रेट) ने जनसाधारण के आवेश और उद्वेग को संयत करने के लिए कुछ नहीं किया, बल्कि उसे उकसावा ही दिया।

दूसरी ओर, अनेक विदेशियों के (जिनमें वाणिज्यदूत भी शामिल थे) दम्भ और उद्धत व्यवहार को देखें तो चीनियों के दृष्टिकोण को समझा भी जा सकता है और उसका औचित्य भी साबित किया जा सकता है। इस दम्भ का कारण था उन्हें प्राप्त विशेष सुविधाएँ और उनकी यह धारणा कि चीनी अविश्वासी नास्तिक हैं; आम जनता के साथ कैसा भी व्यवहार क्यों न हो, उनकी समझ में इस नास्तिकता के कारण सब कुछ उचित था। फिर कुछ धर्म-प्रचारकों, विशेषकर रोमन कैथोलिक पादरियों का यह भी प्रयास रहता था कि जनता और अधिकारियों से व्यवहार करते समय वे धर्म-परिवर्तन करने वाले चीनियों को भी अपनी रक्षा की ओट में ले लें। अंततः चीनी स्वाभाविक रूप से ही (यद्यपि इसका औचित्य नहीं था) विदेशियों पर अग्निबोट तथा अन्य पश्चिमी यंत्र आदि चलाकर बेकारी पैदा करने का लांछन लगाते थे।

फ्रांस द्वारा सन् १८५८–१८६० में टींटसीन में एक क्षेत्र पर कब्जा कर लेने और उसी पर यह मिशन-भवन खड़ा करने तथा चीन में रोमन कैथोलिक हितों की रक्षा का दावा करने के कारण वहाँ का यह नरसंहार एक प्रकार से फ्रांस के ऊपर किया गया प्रहार था। इसलिए टींटसीन-काण्ड के लिए फ्रांस ने ही चीन के समक्ष अपनी कड़ी माँगें रखीं और उन्हें तत्काल पूरा करने पर जोर दिया। प्रशा से युद्ध छिड़ जाने के कारण फ्रांस अपनी ये माँगें पूरी नहीं करा सका और अंततः उसने इसी बात पर संतोष कर लिया कि उस काण्ड के लिए जिम्मेदार व्यक्तियों को दण्ड दिया जाय और क्षमायाचना के लिए मिशन फ्रांस भेजा जाय। किन्तु यह काण्ड एक तरह से विदेशी धर्म-प्रचारकों के कार्य-कलाप के विरुद्ध चीनी वैमनस्य का एक बढ़ा-चढ़ा उग्र प्रदर्शन ही था, सभी विदेशी शक्तियों

ने मिलकर सामूहिक माँग की कि ईसाई पादरियों के विरुद्ध होनेवाली घटनाओं के लिए क्षतिपूर्ति और संतोष मिलना चाहिए और भविष्य में पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन मिलना चाहिए। फ्रांस और प्रशा के बीच युद्ध छिड़ जाने के बावजूद चीन में सामूहिक मोर्चा कायम रहा।

मारगरी-काण्ड में भी विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना का उदाहरण मिलता है। दक्षिणी-पश्चिमी चीन के लिए व्यापार का एक नया मार्ग खोजने की अभिलाषा से ब्रिटेन ने सन् १८७६ में उत्तरी बर्मा से एक खोज अभियान-दल युन्नान प्रान्त के लिए रवाना किया। चीन सरकार से इस दल के लोगों के प्रवेशपत्र प्राप्त कर लिये गये। ब्रिटिश वाणिज्य-दूतावास के नवयुवक अधिकारी मारगरी पीकिंग से रवाना किये गये कि वह युन्नान प्रान्त की सीमा पर इस दल से मिलें। वहाँ जाते समय मारगरी को किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ा, किन्तु जब अभियान दल कुछ दूर तक युन्नान की सीमा के भीतर आ गया तभी दल के नेता कर्नल ब्राउन और मारगरी को अफवाहें सुनने को मिलीं कि कुछ उपद्रव होने वाला है। मारगरी कुछ चीनियों को साथ ले कर जाँच के लिए आगे गये और उन्हें व उनके पाँच साथियों को मार डाला गया। इसके बाद पूरे अभियान-दल को वापस लौटने पर बाध्य होना पड़ा।

पीकिंग में स्थित ब्रिटिश मंत्री, सर टॉमस वेड को इस घटना का समाचार कई सप्ताह बाद लन्दनस्थित भारत-कार्यालय द्वारा प्राप्त हुआ। उन्होंने तत्काल चीन सरकार से शिकायत की और माँग की कि इस घटना के लिए पूर्ण पूर्ति व समाधान मिलना चाहिए। अपनी माँगों में वेड ने कुछ असम्बद्ध बातें भी जोड़ दीं, जैसे कि सम्राट् से साक्षात्कार का प्रश्न तथा वस्तुतः उन सभी प्रश्नों का संतोषजनक समाधान, जो दोनों सरकारों के बीच विवादग्रस्त थे। हत्या की ऐसी जाँच करने की माँग को, जिसमें एक अंग्रेज अफसर भी शामिल हो, चीनियों ने फौरन स्वीकार कर लिया। किन्तु अन्य माँगों पर चीन सरकार द्वारा विचार से पूर्व वेड को अपने दूतावास के अधिकारियों के साथ पीकिंग छोड़ना आवश्यक था। अंततः चिहली प्रान्त के राज्यपाल ली हुंग-चांग को समझौता वार्त्ता के लिए नियुक्त किया गया। १३ सितम्बर, १८७६ को चेफू में यह समझौता हुआ। चेफू-उपसंधि की पहली धारा में मारगरी की हत्या के लिए संतोषजनक पूर्ति स्वीकार की गयी, दूसरी धारा में औपचारिक संपर्क-व्यवस्था सुधारने का निर्णय हुआ; और तीसरी में कई नये बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खोलने और व्यापार के विकास का निश्चय किया गया। दस वर्ष बाद ही उत्तरी बर्मा पर चीनी अधिराजत्व समाप्त हो गया।

(५) विदेशी शक्तियों के हित तथा नीतियाँ

यह सोचा जा सकता है कि यूरोपीय लोगों के प्रति मंचू सरकार व चीनी जनता का रवैया देखते हुए ये विदेशी शक्तियाँ अपने हितों की रक्षा के लिए ठोस रूप से एक-दूसरे के साथ जमी रहती रही होंगी। जब तक त्सुंगलीयामेन के मुकाबले में विदेशी राजनयिक दूतवर्ग सामूहिक मोर्चा बनाये रहा, चीन-सरकार संधि की धाराओं के लागू न होने की शिकायतों आदि को दूर करने से इनकार नहीं कर सकी; किन्तु जब इंग्लैण्ड, फ्रांस व रूस अपने-अपने विशेष हितों के साधन व विकास को सामूहिक हित से अधिक प्राथमिकता देने लगे, तभी सामूहिक हितों की रक्षा निर्बल हो गयी, क्योंकि चीन एक शक्ति को दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देने में सक्षम हो गया। इससे यह धारणा बनने का अच्छा आधार भी मिला कि विदेशी राज्य पारस्परिक हितसाधक संबंधों को बढ़ाने के लिए चीन को राज्यों के परिवार में नहीं लाया जा रहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १८४४ से लगभग सन् १८७५ तक विशेषतः सन् १८५० के बाद, इंग्लैण्ड, फ्रांस व अमरीका उन दीवारों को तोड़ने के लिए चीन के अन्दर बढ़ाव या फैलाव में एक-दूसरे को सहयोग दे रहे थे, जो चीन ने अपने चारों ओर बना रखी थीं। अनेक अवसरों पर रूस ने अन्य शक्तियों को सहयोग प्रदान किया, पर जब-जब अन्य राज्यों के हितों के विपरीत, स्वयं अपने हितसाधन की संभावना हुई, तब वह ऐसा करने से हिचकिचाया नहीं। और यदि हांगकांग के क्षेत्र के (जो बाद में निर्बाध बन्दरगाह बना दिया गया) और उसके सामने के काउलून के क्षेत्र के निकल जाने को छोड़ दें तो यह रूस ही था, जिसने सन् १८६० से ही चीनी साम्राज्य के कोने काट-काट कर उन पर कब्जा करने की प्रथा शुरू कर दी थी। सन् १८६० में आमूर के दाहिने किनारे और उसुरी के पूर्व के क्षेत्रों के अर्पण के बाद कई वर्षों तक क्षेत्रों पर नया कब्जा और बढ़ाव नहीं हुआ, केवल संधि-बन्दरगाहों पर विदेशियों की बस्तियाँ बनने से चीन की क्षेत्रीय अखण्डता सीमित अवश्य हुई। चीन की अगली क्षति उत्तरी बर्मा पर से अंततः उसके अधिराजत्व की समाप्ति ही थी, जिसका अभी वर्णन किया गया है। और सन् १८८१ में चीन ने अंतिम रूप से जापान के लूचू द्वीप समूह पर नियंत्रण के दावे को स्वीकार कर लिया, यह दावा सन् १८७५ के बाद से लगातार किया जा रहा था। इसी दावे के कारण सन् १८७४ में दोनों देशों के बीच युद्ध की स्थिति आ गयी थी। कुछ लचू-वासी नाव-दुर्घटना के कारण फारमोसा में आ पड़े थे, जिन्हें वहाँ के आदिवासियों ने मार डाला था। जापान ने माँग की कि अपराधियों को दण्ड दिया जाय और जब चीन ने इस उत्तरदायित्व से इनकार कर दिया, तब जापान ने एक अभियान फारमोसा पर कर

दिया। उस समय (सन् १८७४ में) चीन ने जापान को संतोष प्राप्त कर लेने की छूट देकर संबंध-भंग रोक दिया था। किन्तु जापान सरकार के लूचूद्वीप-समूह पर अधिराजत्व के दावे को चीन ने सन् १८८१ तक स्वीकार नहीं किया।

चीन के बाहर फैले हुए कुछ अधीन क्षेत्रों के संबंध में सन् १८८४–८५ में संकट उठ खड़ा हुआ जब फ्रांस के साथ हुए युद्ध में मंचुओं का अधिराजत्व या नाममात्र का नियंत्रण अन्नम व टोंकिंग से हट गया। यद्यपि अन्नम का अपना राजा व शासन था, उसने पन्द्रहवीं शताब्दी से लगातार और हान वंश के राज्य के बाद बीच-बीच में चीन को कर दिया था। फ्रांस की इस राज्य में दिलचस्पी उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही प्रकट हुई थी, लेकिन शताब्दी के मध्य तक वहाँ के क्षेत्र में पैर जमाने के लिए फ्रांस ने कोई बढ़ाव नहीं किया था। सन् १८४३ और सन् १८५१ के बीच ईसाई धर्म-प्रचारकों की हत्याओं के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति के लिए कई नौसैनिक-अभियान हुए और अंततः सन् १८५८ में स्पेन और फ्रांस का संयुक्त हस्तक्षेप हुआ। तीन साल से अधिक के युद्ध के बाद सन् १८६२ में शांति स्थापित हुई; इस युद्ध के फलस्वरूप स्पेन को फ्रांस द्वारा माँगे गये चालीस लाख डालर के मुआविज़े का एक अंश मिला; फ्रांस को इस हरजाने के अतिरिक्त कोचीन-चीन के तीन प्रान्त मिले और यह वचन मिला कि अन्नम का राजा अपने राज्य का कोई भाग किसी भी अन्य शक्ति को कभी अर्पित न करेगा। उसी समय कम्बोडिया से संधि कर फ्रांस ने उसे अपना रक्षित राज्य बना लिया। यह बढ़ाव सन् १८६७ में फिर जारी हुआ जब अन्नम को कोचीन-चीन के तीन पश्चिमी प्रान्त फ्रांस को अर्पित करने को बाध्य होना पड़ा।

किन्तु फ्रांस की असली दिलचस्पी एक ऐसी जगह पर कब्जा जमाने में थी, जहाँ से चीन के दक्षिण-पश्चिमी प्रान्तों से व्यापार बढ़ाया जा सके। इसका सीधा मार्ग टोंकिंग में लाल नदी द्वारा था। सन् १८७४ में उस प्रान्त में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया, जब एक फ्रांसीसी सौदागर को लाल नदी के रास्ते से युन्नान में व्यापार करने की अनुमति नहीं दी गयी। एक "अड़ंगेबाज अभियान" के माध्यम से मिली कुछ सुविधाएँ बाद में छोड़ दी गयीं, किन्तु अन्नम सरकार पर राजनयिक दवाव डाल कर इन्हीं सुविधाओं को दूसरे ढंग से प्राप्त कर लिया गया। विदेशी आक्रमण तथा आंतरिक अशान्ति से रक्षा तथा हरजाने की राशि में कुछ छूट के बदले में कोचीन-चीन पर पूर्ण प्रभुसत्ता, टोंकिंग द्वारा युन्नान से व्यापार करने का अधिकार, रोमन कैथोलिक धर्म-प्रचारकों को सहिष्णुता व विशेष सुविधाएँ तथा सभी विदेशियों को राज्यक्षेत्रातीतता का अधिकार प्राप्त हो गया।

इस पूरी अवधि में फ्रांस के लगातार बढ़ाव का चीन सरकार विरोध और प्रतिवाद करती रही, पर इस प्रतिवाद से अधिक कुछ करने की स्थिति में वह नहीं थी। सन् १८७४ से १८८१ तक, अन्नम अनेक उपायों से चीन से अपना संबंध घोषित करने का

प्रयास करता रहा और सन् १८८१ में पेरिस स्थित चीनी मंत्री ने स्पष्ट रूप से इस क्षेत्र पर चीनी अधिराजत्व का दावा किया। चीन की अनियमित सेना टोंकिंग में जमा कर ली गयी और उसने न केवल युन्नान की सीमा की रक्षा ही करनी शुरू की, बल्कि लाल नदी का मार्ग भी बन्द कर दिया। सन् १८८३ में फ्रांस के (विधायक) सदन ने अन्नम और टोंकिंग पर अभियान के लिए धनराशि स्वीकार की; फलतः पूरे राज्य पर फ्रांस का रक्षित राज्य का अधिकार स्थापित हो गया, परराष्ट्र विषय पूर्णरूपेण फ्रांसीसी नियंत्रण में आ गये और टोंकिंग एक फ्रांसीसी रेजिडेण्ट (अधिकारी) के अधीन कर दिया गया। इस कारवाई के कारण, सन् १८८४ में फ्रांस व चीन के बीच युद्ध छिड़ गया, जब टोंकिंग स्थित फ्रांसीसी सेना की चीनी सैनिकों से टक्कर हो गयी।

किन्तु युद्ध छिड़ जाने के वाद राजनयिक मार्ग फिर अपनाया गया और ११ मई, १८८४, को ली–फूर्नियर उप-संधि पर हस्ताक्षर हुए। इसके अनुसार फ्रांस ने चीन की दक्षिणी सीमाओं को स्वीकार किया और उनकी रक्षा का आश्वासन दिया; चीन के शाही शासन ने विवाद-ग्रस्त क्षेत्र से अपने अधिराजत्व का दावा हटा लिया तथा टोंकिंग व दक्षिणी-पश्चिमी प्रान्तों में व्यापार की स्वतंत्रता दे दी। टोंकिंग से चीनी सेना के हटने के समय के संबंध में गलतफहमी के कारण लड़ाई फिर छिड़ गयी और सन् १८८५ तक छिटफुट रूप में चलती रही। संग्राम में दोनों पक्षों में किसी की भी श्रेष्ठता निश्चित नहीं हुई और युद्ध निष्कर्षहीन ही रहा। अंततः, ली-फूर्नियर-उपसंधि की शर्तों के आधार पर पेरिस में एक अन्य नया समझौता हुआ; इस समझौते के लिए ब्रिटेन के चीनी शाही नौसेना तटकर-व्यवस्था के अध्यक्ष सर रॉबर्ट हार्ट ने मध्यस्थता की और इस समझौते को चीन व फ्रांस दोनों ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार चीनी साम्राज्य की सीमा स्वयं चीन देश तक ही सीमित कर देने की दिशा में एक और कदम सफलतापूर्वक उठा लिया गया।

(६) आंतरिक राजनीतिक परिस्थितियाँ

ऐसा लग सकता है कि विदेशियों के संपर्क से "ईश्वरीय" साम्राज्य को ऐसी समस्याओं का सामना करना पड़ा, जो जटिल और भयानक थीं। किन्तु १८४२–१८९४ की अवधि का कोई भी चित्र न तो पूरा ही होगा और न आगे आने वाली घटनाओं को पूरी तरह से समझा ही जा सकेगा यदि देश के भीतर की आंतरिक परिस्थिति पर दृष्टिपात न किया जाय। विदेश-संपर्क एक संकेत था, पर एकमात्र संकेत नहीं था कि ईश्वर ने मंचू-वंश को अपनी कृपा से वंचित कर दिया है, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी में चीन की आन्तरिक परिस्थिति बहुत ही खराब हो चुकी थी।

सम्राट् ताओ कुआंग सन् १८२० में सिंहासनारूढ़ हुए थे और सन् १८५० में उनकी मत्यु हुई। परंपरागत एकान्त की नीति को छोड़ने के लिए उन्हें ही बाध्य होना पड़ा था। उनके राज्य की यह सबसे अधिक महत्त्व की घटना अवश्य थी, किन्तु चीनी दृष्टिकोण से यही एकमात्र दुर्भाग्यपूर्ण घटना नहीं थी। सन् १८३२ में भयानक सूखा पड़ा था और उसी वर्ष तीन प्रान्तों के आदिवासियों ने विद्रोह कर दिया था। इसके पहले फारमोसा और हैनान में भी विद्रोह हो चुके थे। यद्यपि ये सभी विद्रोह दबा दिये गये थे, किन्तु यह दमन बिना कठिनाइयों के नहीं हो सका था और इन विद्रोहों से केन्द्रीय शासन के प्रति असंतोष तो प्रकट होता ही था।

ताओ कुआंग के बाद उनके सात पुत्रों में से एक सिंहासन पर बैठा और जिसका शासकीय नाम ह्सिएन फेंग पड़ा। यद्यपि पिता बहुत प्रतिभा व योग्यता के व्यक्ति नहीं थे, फिर भी वह राजकाज में दत्तचित्त रहे और ईमानदारी के साथ, यद्यपि असफलतापूर्वक, अधिकारि-वर्ग में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार तथा जनकल्याण के प्रति उपेक्षा के भाव को रोकने और समाप्त करने का प्रयत्न करते रहे। फेंग न केवल अयोग्य ही थे, बल्कि राजकाज में समय और ध्यान लगाने में उनकी दिलचस्पी भी नहीं थी। वह शासनतंत्र से अधिक राजधानी के विलासपूर्ण जीवन और महल के आमोद-प्रमोद में अधिक दिलचस्पी रखते थे। फलतः साम्राज्य के इतिहास में सबसे अधिक संकटपूर्ण काल में कार्य-संचालन के लिए जिस सशक्त और सुयोग्य निर्देशन की आवश्यकता थी, उसी का वहाँ अभाव रहा।

ह्सीन फेंग की मृत्यु सन् १८६० में जेहोल में निर्वासन के समय हुई, जब पीकिंग पर विदेशी राज्यों के सामूहिक अभियान ने कब्जा कर रखा था। महल में हुई क्रांति के फलस्वरूप फेंग की माता, महारानी त्जूं ह् सी, फेंग की पत्नी, महारानी त्ज़ूं एन, तथा एक राजकुमार कुंग ने जब तक सम्राट् त्' उंग चिह अल्पवयस्क रहे, तब तक के लिए मिल कर राज्यपरिषद् बना ली। त्' उंग चिह सन् १८७३ में वयस्क हुए और बिना कोई वारिस छोड़े हुए सन् १८७५ में मर गये। त्जूं ह् सी महत्वाकांक्षिणी और योग्य स्त्री थीं और वह एक अन्य बच्चे को चिह का उत्तराधिकारी चुनवाने में सफल हो गयीं। इससे फिर राज्यपरिषद् बनानी पड़ी और नये सम्राट्, कुआंग ह् स् (चिह के उत्तराधिकारी), के सन् १८८७ में वयस्क होने तक वह कार्यसंचालन करती रहीं। इस प्रकार तीस वर्ष तक चीन के नामधारी सम्राट् नाबालिग रहे और वास्तविक शासक एक स्त्री रही। यद्यपि त्जूं ह् सी इतिहास की प्रसिद्ध और स्मरणीय महिला थीं, उनकी शिक्षा-दीक्षा और अनुभव ऐसे नहीं थे, जो उन्हें चीन की असंख्य आंतरिक समस्याओं के समाधान और पश्चिमी संपर्क में देश का सफलतापूर्वक नेतृत्व करने के योग्य बना सकते। यद्यपि उनके

कुछ परामर्शदाता सुयोग्य अधिकारी थे; उदाहरणार्थ, त्सुंगलीयामेन तथा उनकी राज्यपरिषद् के सदस्य कुमार कुंग तथा वेनसियांग तथा टींटसीन के वाइसराय ली हुंग-चांग, परराष्ट्र-संबंधों और विषयों का नियंत्रण धीरे-धीरे पूरी तरह से जिनके हाथों में पहुँचता गया, मध्य के प्रान्तों में त्सेंग कुओ-फान, त्सो त्सुंग-तांग तथा चांग चिह-तुंग; किन्तु त्जूं हू सी महल के क्लीवों (हिजड़ों) को राज-काज में, विशेषकर नियुक्तियों में, हस्तक्षेप करने देती थीं। इससे पदों के क्रय-विक्रय की प्रथा और ऊपर तक बढ़ गयी तथा सरकारी कोष का धन जाब्ते के कामों में खर्च न होकर अन्य मदों पर और भी अधिक खर्च होने लगा। इसका अर्थ यह भी था कि पीकिंग में जो उत्तरदायी अधिकारियों की जगह पर अनुत्तरदायी और अनधिकारी परामर्शदाता आ गये, उनके शासन में चीनियों के मुकावले बहुत-से मंचू सरकारी नौकरियों में नियुक्त कर लिए गये थे, जिससे अंततः असंतोष फैला किन्तु त्जूं हू सी ने (जो बूढ़ी बुद्ध कहलाने लगी थीं) चीनी गुटों व दलों के बीच 'लड़ाओ और शासन करो' की नीति पद या लाभ-वितरण में सफलतापूर्वक लागू की थी। किन्तु पीकिंग व प्रान्तों में गुटों के अस्तित्व से तत्कालीन कठिनाइयों के पूर्णरूपेण और सामूहिक रूप से हल करने में बाधाएँ रहीं।

जो आंतरिक कठिनाइयाँ थीं, उनमें सबसे प्रमुख थी ता'इ वेंग का विद्रोह। राजनीतिक पहलू से यह आंदोलन धार्मिक भाव से एक बहुत छोटे रूप में आरम्भ हुआ। आरम्भ में बनी इन संस्थाओं का नाम था 'शांग ति हुई' अथवा 'ईश्वराराधना के संगठन'। चूँकि शांग ति की आराधना एक ऐसा कृत्य था, जो मान्यता के अनुसार केवल सम्राट् ही कर सकता था, शीघ्र ही इस आराधना पर निषेध जारी हो गया, यद्यपि उस समय (आरम्भ में) आंदोलन के नेता ने न तो अपने राजनीतिक उद्देश्य घोषित ही किये और न शासन अधिकारियों या 'संस्थाओं' के अधिकांश सदस्यों ने उनका महत्त्व ही समझा। आंदोलन का प्रवर्त्तक क्वांगटुंग प्रान्त का एक निवासी हुंग हि्सयु-चु' आन था, जो अभिलाषा और पेशे से शिक्षार्थी था। कैण्टन में होनेवाली प्रान्तीय परीक्षाओं में हुंग कम से कम तीन बार शामिल हुआ, किन्तु, हर बार असफल रहा, यद्यपि वह शिक्षा-दीक्षा में बड़ा प्रतिभाशाली था। अंतिम बार परीक्षा में बैठने के बाद ही वह एक कठिन बीमारी में फँस गया और बीमारी में काफी समय तक सन्निपात में रहा। इस अचेतावस्था में उसे कुछ विलक्षण आभास हुए, जिनका पूरा अर्थ वह बाद में कैण्टन के एक चीनी धर्म-प्रचारक द्वारा दी गयी पुस्तिका 'युग के उद्बोधन के लिए शुभ शब्द', पढ़ने के बाद ही समझा। अपने आभासों की इस अध्ययन के उपरान्त हुई व्याख्या ने उसे एक नये धर्म-प्रवर्तन की प्रेरणा दी, इस धर्म में मूर्ति पूजा का विरोध तथा कई अन्य ईसाई धर्म की बातें भी शामिल थीं। कैण्टन के एक पादरी,

इसाकाट रॉबर्ट्स, के संपर्क में आकर हुंग ने अपने धर्म में ईसाई धर्म के इन तत्त्वों को प्रमुखता दे दी । अपने प्रान्त में कुछ लोगों का धर्मपरिवर्तन कर हुंग उनके साथ क्वांग्सी प्रान्त जा पहुँचा, जहाँ वह अध्यापन व धर्म-प्रचार करता रहा और ईश्वरीय आभास पाता रहा । उसके अनुयायियों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी, विशेषकर, उसके धर्म पर केन्द्रीय शासन द्वारा पाबन्दी लगने के बाद यह संख्या और भी तीव्रता से बढ़ी । अंततः, शासकीय उत्पीड़न और अपने आभासों के कार्यान्वय के रूप में हुंग ने घोषणा कर दी कि वह "ईश्वरीय सम्राट् है" और ऐलान कर दिया कि वह एक नये शासन, "ता' इ पिं'ग", (पूर्ण शान्ति) की स्थापना करेगा । इसके उपरान्त वह उत्तर की ओर बढ़ने लगा; उसके अनुयायियों की संख्या लगातार बढ़ रही थी, किन्तु वह जहाँ से गुजरता जाता था, वहां रक्तपात और तबाही के चिह्न छोड़ता जाता था । अंततः, ता'इ पिं'ग संप्रदाय के जत्थे (जिन्हें चीनी 'लम्बे बालों वाले विद्रोही' कहकर पुकारते थे, क्योंकि ये लोग बाल लम्बे ही रखते थे) नानकिंग जा पहुँचे जहाँ 'ईश्वरीय सम्राट्' रुक गया । उसके अनुयायियों का एक जत्था उत्तर की ओर बढ़ता गया और टींटसीन के आसपास जा पहुँचा, किन्तु उसे खदेड़कर यांग्त्सी-घाटी में वापस भेज दिया गया । आंदोलन का यह पूर्ण उभार का समय था ।

चूंकि यह मान लिया गया था कि ता'इ पिं'ग का आधार ईसाई धर्म के तत्त्व हैं, प्रोटेस्टेण्ट धर्म-प्रचारकों व अनेक व्यापारियों में यह प्रबल भावना बनी कि इस नये धर्म को मान्यता दी जाय और इसे विदेशी सहायता मिले । दूसरी ओर, चीन के कैथोलिक इस मान्यता के विरुद्ध थे, क्योंकि इस धर्म में प्रोटेस्टेण्ट संप्रदाय के ही तत्त्व शामिल माने जाते थे । कुछ काल तक ब्रिटिश प्रतिनिधि इस विचार का रहा कि विद्रोहियों को मान्यता दी जाय और इसके लिए मंचुओं के विरुद्ध सक्रिय हस्तक्षेप किया जाय; इस विचार में यह आशा निहित थी कि विद्रोही विदेशी संपर्क को अधिक सहानुभूति प्रदान करेंगे । दूसरी ओर, अमरीका की स्थापित नीति यह थी कि केन्द्रीय शासन की सहायता की जाय । सन् १८५९ तक, संधियों के सफल पुनरीक्षण तथा ता'इ पिं'ग के सही स्वभाव की ठीक समझ हो जाने के फलस्वरूप अंग्रेज भी अमरीकी नीति का समर्थन करने लगे और सभी विदेशियों ने सामूहिक रूप में मंचुओं के समर्थन और उन्हें सशक्त बनाने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि उन्होंने जाब्ते से इस संघर्ष में हस्तक्षेप नहीं किया ।

स्थानाभाव से विद्रोह का विशद वर्णन कठिन है, किन्तु, उसके महत्त्वपूर्ण आशय और अभिप्रेत की ओर ध्यान देना आवश्यक है । इतना व्यापक विद्रोह जो सन् १८५१ से सन् १८६४ तक चला, केवल शासकीय निर्बलता के कारण ही संभव हुआ । आरम्भ में स्थायी सैनिक सत्ता ने नागरिक शासन-सत्ता कायम रखने में मदद देने में अयोग्यता

का परिचय दिया। यदि ता'ई पिं'ग नेता लड़खड़ाते हुए मंचुओं का स्थान लेने में अधिक आशु और होनहार होने में सक्षम होते, मंचूवंश का अंत हो जाता। किन्तु आंदोलन ने रचनात्मक नेतृत्व का सृजन नहीं किया, अधिकतम योग्यता के लोगों ने आरम्भ में ही अपने प्राण होम दिये और चूँकि अधिक अयोग्य और कट्टरपंथी नेताओं का हुंग पर प्रभाव रहा, इसलिए ता'इ पिं'ग अपनी ही कमजोरियों के कारण समाप्त हो गया।

ता'इ पिं'ग में नेतृत्व के अभाव के अतिरिक्त दो अन्य कारण थे, जो इस आंदोलन के अंत में सहायक हुए। एक था त्सेंग कुओ-फान नामक योग्य केन्द्रीय अधिकारी द्वारा धीरे-धीरे एक नये अर्धसैनिक संगठन, मिलिशिया का निर्माण, जिसकी युद्ध-शक्ति सेना से भी अधिक प्रबल थी। अपर्याप्त आर्थिक सहायता के बावजूद त्सेंग अपनी फौजें ता'इ पिं'ग की अच्छी सैन्य-शक्ति के समक्ष लगातार मैदान में जमाये रहा और धीरे-धीरे यांग्त्सी प्रान्तों से विद्रोहियों को खदेड़ कर उसने उनकी राजधानी, नानकिंग पर घेरा डाल दिया और अंत में उसे जीत लिया। इस क्रिया में विद्रोही बराबर समुद्र की ओर दबते गये, जहाँ दूसरा कारण काम आ गया। यह दूसरा कारण था अंततः केन्द्रीय शासन को मिलने वाली विदेशी सहायता।

सबसे पहले शांघाई के व्यापारियों की आर्थिक सहायता से फ्रेडरिक टी० वार्ड नामक एक अमरीकी ने चीनियों की सेवा स्वीकार कर ली। शुरू में शांघाई के ब्रिटिश अधिकारियों के विरोध के बावजूद वार्ड ने एक गिरोह तैयार किया, जो विद्रोहियों के कब्जे से कुछ कस्बे छुड़ाने में सक्षम हुआ। वार्ड का यह गिरोह एक तरह से लुटेरों का गिरोह था, जो विद्रोहियों के कब्जे से छुड़ाये गये कस्बों की लूट-पाट और छुड़ाई पर ही गुजर करता था। किन्तु अपने इस स्वभाव के बावजूद वार्ड की सन् १८६२ में मृत्यु तक यह गिरोह अपरिपक्व सैन्य-शिक्षा और अयोग्य हथियारों वाली ता'इ पिं'ग सेना के मुकाबले में उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त करता रहा। और तब तक इस प्रकार के गिरोह की उपयोगिता इतनी स्पष्ट हो चुकी थी कि चीनियों ने इसे जाब्ते से कायम रखने का फैसला कर लिया। शांघाई के ब्रिटिश अधिकारियों से कहा गया कि वह वार्ड का उत्तराधिकारी चुनें।[७] अंग्रेज इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि विदेशी हितों की रक्षा मंचू-सत्ता कायम रखने में ही है और उन्होंने अपने रिसाले के कप्तान गौर्डन को इस गिरोह की कमान लेने को मुक्त कर दिया। गौर्डन ने वार्ड के गिरोह में, जो कि उसकी मृत्यु के बाद पस्तहिम्मत हो चुका था, सैनिक नियंत्रण ला दिया और वह फिर "सदा विजेता सेना" बन गयी। इसकी जीत से केन्द्रीय शासन का मनोबल बढ़ा और इससे तथा त्सेंग कुओ फान के नये प्रभावकारी सैनिक संगठन से चीनी अपने ही बल पर काफी तेजी से सफल होने लगे और सन् १८६४ तक विद्रोह समाप्त कर दिया गया। त्सेंग और उसके निर्दे-

शन में एक अन्य योग्य अधिकारी ली हुंग-च्चांग ने सचमुच काफी सक्षम सैन्य-संगठन बना लिया था।

यद्यपि विद्रोह सफल नहीं हुआ, किन्तु वह अपनी छाप वर्षों तक के लिए देश पर छोड़ता गया। विनाश और विध्वंस उसकी प्रगति के सूचक थे और साम्राज्य के अनेक समृद्ध और संपन्न प्रांत बरबाद हो गये थे। वर्षों तक उन प्रान्तों से या तो मालगुजारी बिलकुल ही वसूल नहीं हो सकी या केवल आंशिक रूप से वसूल हुई, जो अधिकतम मालगजारी अदा किया करते थे; जिस क्षेत्र में विनाश हुआ था, वहाँ तो साधारण कर-वसूली भी विद्रोह के नियंत्रण के वर्षों बाद तक नहीं हो सकी। अनेक लोग इसके कारण निर्धन हो गये, जिससे जैसा कि चीन में सामान्यतः होता था, लूट-मार बढ़ गयी और सबसे अधिक स्पष्ट रूप से यह प्रकट हो गया कि शाही शासन देश में शांति-व्यवस्था कायम रखने का अपना बनियादी उत्तरदायित्व निभाने में अक्षम था। ऐसे विद्रोह असफल होने पर भी, सामान्यतः राज्यवंशों की समाप्ति की अग्रिम सूचना दे देते हैं। और यह कहना तथ्यों से परे न होगा कि मंचू-वंश के विरुद्ध सन् १९११ में हुए सफल विद्रोह का आरम्भ उन्नीसवीं सदी के मध्य में ही हो गया था।

फिर सरकारी आय में यह कमी उस समय आयी, जब कि उसे विदेशी क्षतिपूर्तियों तथा नये प्रकार के शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति के लिए नये बोझ ओढ़ने पड़ रहे थे; विदेशी संपर्क में आने के बाद चीन को इन नये शस्त्रों का ज्ञान हुआ था। कुछ समय तक आय के जाने-माने साधन बन्द हो जाने से सरकार अपने नये बोझ ढोने के लिए इस बात पर मजबूर हुई कि या तो आय के नये साधन ढूंढ़े या इन्हीं साधनों से और अधिक धन की वसूली करे। चूंकि आय के साधन पीढ़ियों की प्रथा से रूढ़ि बन गये थे, सरकार नये साधन उपयोग करने पर बाध्य हुई। इससे शिकायतें और असंतोष पैदा हुए और सन् १८९५ में विदेशी जिस समय साम्राज्य के विरुद्ध बढ़ रहे थे, तब यह असंतोष बढ़ कर चरम सीमा पर पहुँच गया। इसलिए कुछ समय के लिए यह असंतोष मंच-शासन से हटकर विदेशियों पर केन्द्रित हो गया।

इस विद्रोह के दो उपजात भावी महत्त्व की दृष्टि से ध्यान देने योग्य हैं। केन्द्रीय शासन ने अस्त-व्यस्त व प्रभावहीन होने के कारण सीमा-शुल्क की उगाही के लिए शंघाई में कोई सत्ता ही नहीं रही। कुछ अस्थायी कार्यों के लिए जो परराष्ट्र-सेवा संगठित की गयी थी, उसे चीन-सरकार ने बाद में प्रशासकीय कार्यों के लिए अपना लिया। ले नामक एक अंग्रेज को पहले सीमा-शुल्क-अधिकारी बनाया गया। कुछ समय बाद एक अन्य अंग्रेज, सर रॉबर्ट हार्ट को इस पद पर नियुक्त किया गया। यद्यपि इस सेवा में विदेशी नियुक्त थे, वे केन्द्रीय चीनी सरकार के कारिन्दे थे, अपने-अपने देश की सरकारों

के नहीं। मुख्यतः हार्ट की प्रशासकीय योग्यता तथा मालिकों के प्रति उनकी निष्ठा और ईमानदारी के फलस्वरूप ही विदेशियों द्वारा संगठित यह चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-संघटन सन् १९२० के बाद तक काम करता रहा; उसके नियंत्रण में अवश्य ही कुछ ऐसे सुधार कर दिये गये, जो यूरोपीय देशों के रवैये के कारण आवश्यक हो गये थे।

विद्रोह का दूसरा उपजात था सरकारी आय बढ़ाने के लिए अस्थायी रूप में लिकिन-कर का लगाया जाना। लिकिन आंतरिक व्यापार पर लगाया गया चालान या परिवहन-शुल्क था, जो प्रान्तों के भीतर जगह-जगह पर तथा प्रान्तों की सीमाओं पर लगता था।[८] चूँकि इससे काफी बड़ी आमदनी होती थी और यह बहुत लचीला कर था, अतः सरकार ने सन् १९३१ तक इसे कायम रखा और तब उसे समाप्त किया। विदेशी सीमा-शुल्क के विपरीत, लिकिन आधुनिक चीन के विकास में एक बड़ी बाधा बन गया, क्योंकि माल के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने और इस प्रकार व्यापार के विकास में बाधक था।

ता'इ पिं'ग-विद्रोह के दमन से देश में शान्ति और समृद्धि नहीं आयी। अनेक छोटे उपद्रवों तथा व्यापक लूट-मार के अतिरिक्त, जिन पर अधिकारी काबू पाने में अक्षम सिद्ध हुए, दो और भी बड़े विद्रोह हुए। ये दोनों ही चीनी अधिकारियों द्वारा किये गये व्यवहार के विरुद्ध मुसलिम असंतोष की अभिव्यक्ति थे। ये दोनों विद्रोह एक दूसरे से इतनी दूर, एक युन्नान प्रान्त में और दूसरा उत्तर-पश्चिम में, हुए थे कि उनसे असंतोष की व्यापकता का पता लगता था। यद्यपि ये दोनों विद्रोह ही ता'इ पिं'ग की व्यापकता प्राप्त नहीं कर सके, उन्होंने देश के उन क्षेत्रों को बरबाद किया, जो ता'इ पिं'ग-विद्रोह से अछूते बच गये थे और इस प्रकार मंचू-साम्राज्य के लिए आर्थिक दृष्टि से नये कष्ट का कारण बने। आंतरिक परिणामों के अतिरिक्त, चीन को उत्तर-पश्चिम के इस विद्रोह के कारण अस्थायी रूप से इली क्षेत्र से भी हाथ धोना पड़ा; रूस ने यह दिखाकर कि वह उसे चीन के लिए सुरक्षित रख रहा है इली जिले पर कब्जा कर लिया। विद्रोह के दमन के बाद चीन ने यह जिला वापस मांगा और कुछ आना-कानी के बाद एक छोटे से इलाके को छोड़कर शेष क्षेत्र रूस ने वापस कर दिया।

देश इन विद्रोहों के प्रभाव से उबर भी नहीं पाया था कि सन् १८७६ में दक्षिण तथा मध्य-दक्षिण के प्रान्तों में बाढ़ आ गयी और यांग्त्सी नदी से उत्तर के प्रान्तों में सूखा पड़ गया; इस सूखे के साथ ही टिड्डी दलों ने आकर विनाश कर दिया। "बाढ़ पांच प्रान्तों में आयी; टिड्डियों ने तीन प्रान्तों के बड़े हिस्सों को तबाह किया; और सूखे से खेती और प्राणियों की तबाही पूरे या आंशिक रूप से नौ प्रान्तों में हुई।"[९] सूखा सन् १८७६ से शुरू होकर सन् १८७८ तक कायम रहा, जिसकी लम्बी अवधि से जनता को अपार कष्ट का सामना करना पड़ा। लाखों मनुष्यों के प्राण गये और साम्राज्य की

मालगुजारी-पद्धति गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त हो गयी ; एक तो मालगुजारी वसूल ही नहीं हुई, दूसरे सरकार को प्रभावित प्रान्तों में जनता की सहायता के लिए बड़ी धनराशि खर्च करनी पड़ी। ता'इ पिंग-विद्रोह से हुई हानि तथा इस हानि से मंचू-शासन के लिए देश के भीतर अपनी सत्ता बनाये रखने तथा बाहर से होनेवाले आक्रमणों से देश की रक्षा करने की क्षमता गंभीर रूप से कम हो गयी।

(७) परिवर्तन का आरम्भ

विदेशी संपर्क की समस्याओं से हैरान-परेशान, और आधुनिक संसार के जीवन की नयी परिस्थितियों को स्वीकार करने में अनिच्छा रखने वाले निर्बल और अयोग्य मंचू शासक विद्रोह, बाढ़ और सूखे से तबाह, देश की समस्याओं के समाधान में दिलचस्पी न लेकर व्यक्तिगत विलास में लिप्त रहते थे—चीन के इस चित्र को और अधिक व्याख्या किये बिना छोड़ देना उपयुक्त न होगा। यहाँ, नये विचारों और रीतियों को अपनाने के लिए किये गये कुछ अस्थायी प्रयोगों का हवाला देना और कुछ स्पष्टीकरण करना उपयुक्त होगा।

अभी तक जो वर्णन किया गया है, उससे यह धारणा दृढ़ हो सकती है कि चीनी—जनता और सरकार दोनों—विदेशी शक्ति के दबाव में की गयी संधियों के उत्तरदायित्व निभाने में अक्षम रहे। इस तथ्य से कि जो भी सुविधाएँ दी गयीं वे स्वेच्छा से नहीं वरन् दबाव में आकर दी गयीं, यह स्पष्ट हो जायगा कि संधियों की शर्तों को पूरा करने में चीनी इतनी अनिच्छा क्यों रखते थे और केवल वे ही शर्तें उतनी ही लागू करते थे, जिनके लिए वे बाध्य हो जाते थे। ऐसी परिस्थितियों में अन्य सभी लोग अधिकांशतः बिलकुल इसी प्रकार का व्यवहार करते, और चीन की नीतियों और कारवाइयों का मूल्यांकन करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि अन्य देशों से श्रेष्ठ होने तथा बाहर की दुनिया से संपर्क की शर्तें आदिष्ट करने की चीन की लम्बी परंपरा थी। यह परंपरा एक दिन में तो समाप्त की नहीं जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, विदेशी सैनिक सफलता मात्र से चीन ने अपनी श्रेष्ठता की भावना खोयी नहीं। विगत काल में अनेक बार विदेशी शस्त्र चीन के विरुद्ध सफल हुए थे किन्तु, अंततः चीनी जाति अजेय ही सिद्ध हुई थी। पश्चिम की भौतिक सभ्यता की श्रेष्ठता स्वीकार करने में तत्परता का अभाव तथा विदेशी संपर्क से चीन के अपने जीवन और सभ्यता के लिए उत्पन्न संकट के आभास का अभाव का कारण इसी विचार से स्पष्ट हो जाता है।

अपने दायित्वों को पूरा करने में शाही शासन की अच्छी या बुरी नीयत पर विचार करते समय यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि पीकिंग आदेश भले ही देता रहा हो;

इस आदेश को प्रान्तों में विद्यमान तत्कालीन दशाओं व परिस्थितियों के अनुरूप पूरा करने का विवेक प्रान्तीय अधिकारियों का ही था। संघीय शासन-व्यवस्था होने के कारण कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति अमरीका में भी है। वाशिंगटन बिलकुल भली नीयत से संधि द्वारा कोई वादा कर ले, किन्तु, तब भी उसे सारे देश में कुछ इकरारनामों को समान रूप से लागू करवाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। अमरीका की सीमा के भीतर इटली, जापान या चीन के नागरिकों को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन दिया जा सकता है, किन्तु यह सुरक्षा देनी तो स्थानीय अधिकारियों को होती है। न्यू औंलिएंस और सैन फ्रांसिस्को जैसे एक दूसरे से बहुत दूर के स्थानों में भी अमरीका को उत्तेजित भीड़ों की कारवाइयों से कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। चीन सरकार और अधिक परिमाण में तथा और अधिक औचित्य के साथ यह तर्क उपस्थित कर सकती थी कि उसकी शासन-प्रणाली ऐसी है, जिसमें देश के सभी भागों में विदेशी जान-माल की समान और सम्यक् सुरक्षा कठिन है। सत्य तो यह है कि यदि शाही शासन बिलकुल ईमानदारी से अपने वादों को लागू करने का प्रयास भी करता तो भी सारे देश में समान रूप से उन्हें पूरा करने में उसे बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता। यह चीन का दुर्भाग्य ही था कि यूरोप चीन की शासन-प्रणाली और क्षेत्रीय विकेन्द्रीकरण से सुपरिचित नहीं था, और, यदि होता भी, पश्चिम के सशक्त राज्य संधि-दायित्वों के पूरे न होने के इस कारण को न्यायसंगत मानने से इनकार कर देते, और यह तो वास्तविकता है ही कि केन्द्रीय शासन में उस भली नीअत का अभाव था, जो संभवतः विदेशी प्रतिनिधियों को नम्रता की प्रेरणा देती। जो अधिकारी विदेशियों की रक्षा में असफलता का उत्तरदायी होता था, उसे दण्ड देने में पहल करने की जगह पीकिंग उसे बचाने की ही कोशिश करता था। यदि केन्द्रीय शासन ऐसी कारवाइयों की निन्दा करता था तो केवल दबाव में आकर ही।

यूरोप और चीन के बीच जो कठिनाइयाँ पैदा हुईं, उनके कारणों के स्पष्टीकरण में एक बात यह भी महत्त्व की थी कि विदेशी व्यक्तिगत रूप से संधि-अधिकारों की सीमा के भीतर ही रहने की सावधानी नहीं बरतते थे। ईसाई धर्म-प्रचारक और व्यापारी देश के उन भागों में पहुँच जाते थे, जहाँ उनकी उपस्थिति निश्चित रूप से रोष का कारण बनती या गलत समझी जाती। जब कभी कुछ उपद्रव होता विदेशी सरकारें स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना अपने-अपने नागरिकों का समर्थन करने लगतीं और चीन सरकार से यह अपेक्षा की जाती कि वह पूर्ण सुरक्षा प्रदान करे; यद्यपि ऐसी सुरक्षा देने की शक्ति ही चीन सरकार की नहीं होती थी। राज्य क्षेत्रातीतता-प्रणाली भी, जिसके अनुसार विदेशियों पर चीनी नियम-कानून लागू नहीं होते थे, जटिलताएँ पैदा

हो जाती थीं; बहुधा इनका कारण होता था विदेशियों का दर्प और ऐसी घटनाओं में तथ्यों की ओर ध्यान दिये बिना ही चीनियों को गलत सिद्ध कर देने की प्रवृत्ति होती थी।

यहाँ यह भी बता देना उपयुक्त होगा कि जहाँ पश्चिमी देशों की सरकारें इस बात पर जोर देती थीं कि चीन संधि-उत्तरदायित्वों का अक्षरशः पालन करे, वे स्वयं सदैव इस बात का कष्ट नहीं उठाती थीं कि संधि के अर्थ और अक्षर की सीमा के भीतर ही रहें। कैण्टन में निवास के अधिकार के संबंध में जो विवाद उठा था, उसका विवरण दिया जा चुका है कि किस प्रकार अंग्रेज इस बात पर अड़ गये थे कि शहर की चहारदीवारी के भीतर ही एक क्षेत्र विदेशियों के रहने के लिए अलग कर दिया जाय, यद्यपि संधियों में इस प्रकार की कोई स्पष्ट शर्त नहीं थी ; बर्लिंगेम-संधि की उत्प्रवास-संबंधी धाराओं के संबंध में अमरीका ने जो दृष्टिकोण अपनाया था, उसका भी संकेत दिया जा चुका है। विदेशियों के रवैये का एक और उदाहरण शंघाई व अन्य व्यापार के लिए खुले बन्दरगाहों में मिली रिआयतों पर सरकारी अधिकार के दावों में मिलता है, यद्यपि संधियों में स्पष्ट रूप से इस अधिकार का निषेध था और विदेशियों के निवास के लिए मिली भूमि पर चीन की सर्वोच्च सत्ता बहुत सावधानी से सुरक्षित रखी गयी थी।

चीन के अनुकूल प्रगति और विदेशियों से संपर्क के उज्ज्वल पहलू पर विचार करते समय सबसे पहले पादरियों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये गये काम ध्यान में आते हैं। धर्म-परिवर्तन और प्रचार के साथ ही शुरू से ही इन पादरियों ने समझ लिया था कि चीन में बड़ी संख्या में लोगों को ईसाई बनाने के पहले व्यावहारिक ईसाइयत अमल में लाने के लिए वर्तमान व्यापक क्षेत्र के प्रयोग आवश्यक हैं। धर्म-परिवर्तन का कोई भी प्रभावकारी कदम उठाने के पहले चीन की भाषा सीखनी और शब्दकोश तैयार करने अनिवार्य थे। भाषा का यह ज्ञान जनता और अधिकारियों से संपर्क स्थापित करने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। राजनयिक प्रतिनिधियों के काम को आगे बढ़ाने व पूरा करने में धर्म-प्रचारकों ने बड़ा योग दिया और व्यापक व्यावसायिक संपर्क बनाने में सहायता दी। चीनी भाषा का साधारण ज्ञान प्राप्त करते ही पादरियों ने चीनी भाषा में विदेशी पुस्तकों का अनुवाद शुरू कर दिया और इस अनुवाद-कार्य को उन्होंने धर्म-ग्रन्थों तक ही सीमित नहीं रखा। इस प्रकार संधि-बन्दरगाहों में शिक्षित चीनी लोग विश्व का व्यापक ज्ञान प्रान्त करने लगे। इसके उपरान्त मिशन-पाठशालाएँ खोली गयीं, जिनके द्वारा चीनियों को पश्चिम के ज्ञान से अनुवादों के मुकाबले में अधिक सीधे ढंग से परिचित कराया जा सका। इस सबसे अ-चीनी समाजों में दिलचस्पी शुरू हुई और बाद में जिसका अच्छा परिणाम हुआ।

सन् १८७२ में पहला चीनी शिक्षा-मिशन विदेश गया। येल विश्वविद्यालय में शिक्षित चीनी युंग विंग की देखभाल में ३० चीनी छात्रों का एक जत्था अमरीका ले जाया गया। यह संभव हुआ एक प्रबुद्ध वाइसराय, ली हुंग-चांग, के प्रयत्नों से जिनका विश्वास हो गया था कि चीन पश्चिम के विचारों और उपायों को समझकर ही सशक्त हो सकता है। यह शिक्षा-मिशन सन् १८८१ में वापस बुला लिया गया, पर इस बीच १२० चीनी बालक पश्चिम के सीधे संपर्क में आ चुके थे। चीन के मानसिक एकान्त के प्राचीर ढहने का श्रीगणेश इस शिक्षा-मिशन से हुआ।

इससे भी पहले पीकिंग में कुछ विदेशी शिक्षकों को लेकर दुभाषियों के लिए एक शिक्षालय स्थापित किया जा चुका था। सन् १८६५ में इस शिक्षालय को तुंगवेन उच्च-विद्यालय में परिवर्त्तित कर दिया गया और भाषाओं के साथ विज्ञान के विषय पढ़ाने के लिए एक विभाग उसमें खोल दिया गया तथा विदेशी शिक्षकों की संख्या बढ़ा दी गयी। शाही समुद्री सीमा-शुल्क के महानिरीक्षक और केन्द्रीय शासन के विश्वसनीय परामर्श-दाता, सर रॉबर्ट हार्ट, इस महाविद्यालय की स्थापना के प्रेरक थे और उसे चलाने के खर्च के लिए सीमा-शुल्क में से धनराशि अलग निकाल देते थे; सन् १८६९ में उन्होंने अमरीकी पादरी, डब्लू० ए० पी० मार्टिन, को तुंगवेन कालेज का अध्यक्ष बना दिया। इस कालेज की स्थापना निश्चय ही शासन के लिए एक बड़ा कदम था, क्योंकि वहाँ केवल शिक्षित चीनी ही भरती होते थे।

ता'इ पिं'ग-आंदोलन के विरुद्ध गौर्डन की 'सदाविजयनी सेना' के कार्यकलाप से प्रभावित होकर चीन ने युद्ध के नये विदेशी शस्त्रास्त्रों में दिलचस्पी लेनी शुरू की और सेना के पुनस्संगठन व नौसेना की स्थापना के लिए कुछ अस्थायी कदम उठाये गये। इंग्लैण्ड व अन्य देशों से जहाज़ खरीदे गये और कुछ समय तक उन्हें विदेशियों के अधीन रखा गया। दुर्भाग्यवश, इस प्रथम प्रयास का कोई विशेष फल नहीं हुआ और परिस्थितियाँ ऐसी हो गयीं कि चीनी विदेशी सहायता व निर्देशन के प्रति संशयालु हो उठे। फलतः, सन् १८९४ में स्थापित नौसैनिक बेड़े की कार्यक्षमता पूर्णरूपेण चीनी निर्देशन में होने के कारण कम हो गयी। इसके अतिरिक्त, स्थल व जल-सेनाओं, दोनों में रिश्वत चल गयी और अधिकारी अपना लालच नहीं रोक सके। इस प्रकार कागज पर तो चीन ने सशक्त सुसज्जित सेना संगठित कर ली, किन्तु, युद्ध होने पर पता लगा कि सेना का प्रशिक्षण बहुत कम था और रसद या तो कम थी या थी ही नहीं।

विदेशी संपर्क धीरे-धीरे चीन के आर्थिक व शासकीय जीवन में भी परिलक्षित होने लगा। सन् १८७६ में शंघाई से वूसुंग तक रेलवे लाइन चालू हो गयी। यह योजना छोटी ही थी, किन्तु तब भी असफल रही। अधिकारी व शिक्षित वर्ग द्वारा इसके विरोध

के कारण चीन ने सन् १८७७ में इसे फिर से खरीद लिया और पटरियाँ उखाड़ कर फारमोसा ले जायी गयीं, जहाँ अन्य साजसज्जा के साथ पड़ी वे भी मोर्चा खाती रहीं। किन्तु, सन् १८८१ में, चिहली प्रांत के वाइसराय, ली हुंग-चांग, के दिलचस्पी लेने के कारण रोंग शान-रेलवे लाइन खोल दी गयी। यह एक नये विकास का आरम्भ था, जो सन् १८९४ तक धीरे-धीरे चलता रहा और उसके उपरान्त उसका बढ़ाव लगातार बहुत तीव्र गति से होने लगा। वास्तव में प्रारम्भ ही महत्त्वपूर्ण होता है। संचार-संवहन के क्षेत्र में एक और महत्त्वपूर्ण कदम सन् १८८२ में उठाया गया जब शंघाई से टींटसीन तक तार की लाइन खोल दी गयी। उसी दशक में इस प्रारम्भ के फलस्वरूप औद्योगिक विकास का मार्ग प्रशस्त हो गया। सन् १८७८ में ली हुंग-चांग ने काई पिंग-खानों में काम शुरू कर दिया था, जिसके फलस्वरूप टोंगशान-रेलमार्ग खुला। सन् १८७३ में चीन में पहला वाष्प-नौ-संचार संगठन स्थापित हुआ और इसमें ली हुंग-चांग ही प्रेरक शक्ति रहे। कुछ समय बाद, सन् १८९० में, चांग चिह-तुंग ने हान यांग लोहे का कारखाना खोला, जो कालान्तर में चीन का अपने ढंग का सबसे बड़ा कारखाना बन गया।

परिवर्तन की इच्छा के इन संकेतों का महत्त्व बहुत बढ़ा-चढ़ा कर नहीं समझना चाहिए। ये केवल संकेत मात्र थे और इनकी प्रेरणा एक छोटे से अधिकारी व कुलीन शिक्षित-वर्ग से ही आयी थी। अधिकारियों में, उत्तर में ली हुंग-चांग और यांग्त्सी क्षेत्र में चांग चिह-तुंग ही परिवर्तन की प्रेरक शक्ति थे। किन्तु अहलकारी समाज सामान्यतः पहले की भाँति ही रूढ़िवादी तथा विदेशी प्रभाव से अछूता बना रहा। अधिकांशतः, शिक्षित-वर्ग ने पश्चिमी ज्ञान के समावेश का विरोध ही किया, और वास्तव में, सन् १८९४ तक भी "नया विचार" आम जनता तक पहुँचना भी शुरू नहीं हुआ था। यह समझा जाने लगा था कि चीन निर्बल है और इस कारण संकट में है। किन्तु इस बोध से विदेशी संपर्क के समक्ष देश को सशक्त बनाने के लिए संस्थागत परिवर्तनों की आवश्यकता की समझ नहीं पैदा हुई। पश्चिमी प्रभाव राज्य के आर्थिक व सामाजिक संगठन में परिलक्षित नहीं हुआ और चीन के सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन लाने की दिशा में इसका असर लगभग नगण्य ही रहा। राजनीतिक रीति व संगठन में राजनयिक संपर्क की आवश्यकता के अनुरूप कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन कर लिये गये और संधियों की शर्त को सारे देश में समान रूप से लागू करने की आवश्यकता की दृष्टि से केन्द्रीकरण की दिशा में कुछ प्रयोगात्मक कदम भी उठाये गये। किन्तु पुनस्संगठन व परिवर्तन की जो तीव्र प्रगति इसी अवधि में जापान में हुई, वह यहाँ चीन में नहीं हो सकी।

इस अध्याय का अंत एक और बात की ओर ध्यान दिलाकर किया जा सकता है। ऊपर यह बताया गया है कि पश्चिम के राष्ट्रों की सैनिक शक्ति के सम्मुख चीन अपनी

रक्षा में असमर्थ था ; आंतरिक संघर्ष व फूट तथा व्यापक दुर्भिक्ष के कारण वह निर्बल हो चुका था और विदेशी शक्तियों को आक्रामक सैनिक काररवाई करने के उसने अनेक बहाने या अवसर प्रदान किये थे। इन तथ्यों को देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि ये विदेशी शक्तियाँ उस प्रकार देश में क्यों नहीं घुस गयीं जैसे भारत में घुसी थीं, और फ्रांस अन्नम व टोंगकिंग में घुसा था व ब्रिटेन बर्मा में घुसा था। इस का विश्लेषण यह है कि एक तो ये विदेशी शक्तियां चीनी साम्राज्य की संभाव्य शक्ति का पूर्ण सम्मान करती थीं; दूसरे उन्हें भय था कि यदि सोता हुआ चीनी भुजंग कहीं बहुत झकझोर के जगा दिया गया तो वह अपनी शांति-हरनेवालों को नष्ट न कर दे; और तीसरे सहयोग की नीति की पाबन्दियाँ उन पर लगी थीं। यह समझ कर स्वयं चीन को अछूता छोड़ दिया गया था और साम्राज्य को इतना नहीं उकसाया गया था कि वह अपनी रक्षा में एक होकर कोई कदम उठाये। तथा यह भी समझा जाता था कि आक्रमण का संयुक्त विरोध सफल होगा। इसके अतिरिक्त, चीन को उसके एकान्त से बाहर निकाल लाने के पक्ष में तो तर्क दिये जा सकते थे, पर उसे विभाजित कर आत्मसात कर लेने की कोई सफाई नहीं हो सकती थी। फिर इसी के साथ यह डर भी था कि एक देश जितना लाभ उठायेगा दूसरे देश की उतनी ही हानि होगी, इस भय से सभी देश संयमित रहे। यह एक एशियाई देश ही था, जिसने चीनी साम्राज्य की वास्तविक असहाय स्थिति को प्रकट कर दिया और उसकी संभाव्य शक्ति का जो सम्मान था, उसे कम कर दिया।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सन् १८९४ तक विदेशी संपर्क के लिए चीन के खुलने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी ; और इस प्रक्रिया के विकास में चीन पर दो महत्त्वपूर्ण संधि प्रतिबन्ध लग गये थे—एक तो रूढ़ सीमा-शुल्क का लगना और दूसरे संधि की राज्य क्षेत्रातीतता-प्रणाली का स्थापित होना ; चीन की समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा चीन सरकार की विदेशियों द्वारा संगठित व परिचालित सेवा भी ; सुदूर स्थित चीन के आश्रित वे अनेक करद क्षेत्र उससे छिन गय थे, जिन पर उसका नियंत्रण वास्तविक न होकर नाममात्र का था, किन्तु पीकिंग द्वारा प्रशासित या शाही साम्राज्य द्वारा सीधे नियंत्रित क्षेत्रों पर विदेशी संपर्क से आँच नहीं आयी थी ; अनेक सैनिक पराजयों तथा पश्चिम के देशों से समता के आधार पर संबंध स्थापित होने के बावजूद चीनी "विदेशी बर्बरों" के समक्ष अपनी श्रेष्ठता की भावना को नहीं भूले थे ; आंतरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु अस्थायी रूप से उसे रोक लिया गया था ; और अंततः, पश्चिमी विचारों और रीतियों को अपनाने के लिए छोटे-मोटे प्रयोगात्मक प्रयास अवश्य हुए थे, किन्तु उनमें व्यापक दिलचस्पी पैदा नहीं हुई थी और संस्थागत सुधार या पुनस्संगठन की वांछनीयता की कोई आम स्वीकृति नहीं थी।

चौथा अध्याय

जापान का खुलना

(१) सुदूर पूर्व के इतिहास में सन् १८९४ का महत्त्व

सुदूर पूर्व के इतिहास का उलझन भरा दुर्बोध प्रतिरूप सन् १८९४ के बाद ही प्रकट होना शुरू हुआ। चीन और उसके छोटे-से पड़ोसी, जापान के बीच हुए युद्ध से ही चीन की पूर्ण असहायावस्था स्पष्ट हुई और इसी से यूरोपीय शक्तियों में यह आशा पनपने लगी कि शीघ्र ही चीन खण्ड-खण्ड होकर टूट जायगा और ये शक्तियाँ उसे आपस में बाँट लेंगी। साथ ही, यह भी प्रकट हुआ कि एक पूर्वीय देश पश्चिमी सभ्यता के यांत्रिक व भौतिक तत्त्वों को अपने उपयोग में लाने में पूर्णरूपेण समर्थ है। सन् १८९४ तक जापान राष्ट्रों के आधुनिक समाज में पूरी तरह शामिल होने के लिए परिवीक्षा की अपनी अवधि पूरी कर चुका था। सन् १८५३ से, जब पेरी योकोहामा की खाड़ी में पहुँचा था, चीन-जापान युद्ध के अंत तक की अवधि में जापान का 'रूपान्तरण' पूरा हो चुका था। इस अवधि में धीरे-धीरे जापान की राजनीतिक संस्थाओं ने वह रूप प्राप्त कर लिया था, जो थोड़े-बहुत संशोधनों के साथ सन् १९३७ तक कायम रहा, और उसकी आर्थिक व सामाजिक संस्थाओं का आधुनिक आकार-प्रकार स्पष्ट होने लगा। साथ ही, इसका भी आभास मिला कि अपने विकास के अवसर पाने पर भविष्य में जापान की नीतियाँ क्या होंगी।

इतने कम वर्षों में जापान का एक आधुनिक शक्ति के रूप में उदय तथा बाद में रूस के साथ हुए युद्ध में उसकी सैनिक निष्पत्तियाँ, वास्तव में, उसके आधुनिकीकरण या पश्चिमीकरण का फल नहीं थीं और न देश के जीवन में किसी क्रांतिकारी रूपान्तरण का ही फल थीं। उसकी ये निष्पत्तियाँ संभव हुईं, क्योंकि जापान के पश्चिमी संपर्क के लिए खुलने के बाद के वर्षों की घटनाओं व परिवर्तनों से जापान में धीरे-धीरे पुरानी की जगह नयी व्यवस्था आती गयी। आधुनिक जापान प्रत्यावर्त्तन-पूर्व जापान का तर्कसंगत विकसित रूप ही था। इस सत्य से प्रकट है कि प्राचीन जापान की सम्यक् जानकारी से ही आधुनिक जापान समझा जा सकता है।

(२) देश और लोग

प्रत्यावर्त्तन-पूर्व जापान का क्षेत्र उत्तर में कामचाटका से लेकर दक्षिण में फारमोसा तक विस्तृत द्वीप शृंखला का सबसे बड़ा समूह था। सखालीन का जापान को पता तो था, पर न तो उस पर जापान का आधिपत्य ही था और न वह उस पर सक्रिय प्रशासन ही करता था; और यही बात कुराइल द्वीपों पर भी लागू थी, जो सखालीन से पृथक् और येज़ो (हकाइडो) से कामचाटका पहुँचने की सीढ़ियों की भाँति थे। चूँकि लू चू द्वीपवासी बीच-बीच में जापान को कर भेजते रहे थे, जापान का उन पर अधिराजत्व का ऐतिहासिक दावा अवश्य था, किन्तु इसी आधार पर बने चीन के दावे के कारण जापान का दावा कुछ कमज़ोर पड़ता था। लू चू द्वीपसमूह जापान और फारमोसा के बीच संबंध स्थापित करते थे और फारमोसा निश्चित रूप से चीन के अधीन था।

मानचित्र देखने भर से एशिया के मुख्य महाद्वीप के संदर्भ में जापान की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। एक संकीर्ण जलडमरूमध्य जापान को मुख्य एशिया भूखण्ड पर स्थित कोरिया अंतरीप से पृथक् करता है। यहाँ भी त्सुशीमा द्वीप एक सीढ़ी के रूप में विद्यमान है। इस भौगोलिक संबंध से जापान के महाद्वीप में प्राचीन व अर्वाचीन दिलचस्पी स्पष्ट हो जाती है। कोरिया, और संभवतः सखालीन होते हुए वे कुछ जातितत्त्व जापान आये, जो दक्षिण के तत्त्वों से मिलकर आधुनिक जापानी बने। कोरिया से, और सीधे चीन से, जापान को अपनी प्राचीन संस्कृति मिली। धार्मिक विचार, कला, साहित्य, अनेक शिल्प— सभी पर कोरिया के नैकट्य की छाप है। आधुनिक युग से पूर्व जापान की स्वाधीनता के लिए जो सबसे बड़ा संकट आया था, वह तब जब मंगोलों ने चीन और कोरिया पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था; और, आरम्भिक काल में जापान ने जो एकमात्र बाह्य प्रसार का व्यापक प्रयास किया वह कोरिया के विरुद्ध और कुछ समय के लिए चीन उसका अंतिम लक्ष्य भी रहा।

जापानी रुधिर में महाद्वीप से आये तत्त्वों के अतिरिक्त मलाया से आये रुधिर का भी एक स्पष्ट असंदिग्ध तत्व है, जो उस देश के दक्षिणी व पूर्वी तटों से होकर बहनेवाली दक्षिणी "काली धारा" द्वारा जापानी द्वीपपुंज तक पहुँचा होगा। इन बाहरी लोगों ने जापान के आदिवासी आइनू लोगों को सबसे उत्तर के द्वीप होकाइडो तक खदेड़ दिया। यह काली धारा जापान के दक्षिणी व पूर्वी भागों की जलवायु को समशीतोष्ण बना कर वरदान बन गयी है, उसी तरह जैसे दक्षिणी-पूर्वी अमरीका के लिए खाड़ी धारा (गलफ स्ट्रीम) वरदान है। दुर्भाग्यवश, देश को मुख्यतः ज्वालामुखी-जनित अत्यधिक पहाड़ी स्वरूप होने के कारण यह धारा पूरे देश की जलवायु पर प्रभाव नहीं डाल पाती।

अनेक पर्वत-श्रेणियाँ देश को छोटी-छोटी घाटियों में विभाजित करती हैं; जब संचार व आवागमन के साधन अविकसित थे, ये घाटियाँ एक दूसरे से बिलकुल अलग थीं। आधुनिक युग से पूर्व के जापानी इतिहास में इस तथ्य के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक निष्कर्ष हुए।

जापान के विकास में ऐसी नदियों का अभाव भी बाधक हुआ, जिनमें नौ-संचरण हो सकता है। वहाँ अनेक छोटी, उद्दाम नदियाँ हैं, किन्तु उनमें से न तो कोई काफी लम्बी ही है और न उद्योग या व्यापार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ही। किन्तु, विकास के मार्ग की यह बाधा एक अन्य रूप में प्रभावहीन हो गयी; जापानी द्वीपपुंज के सभी द्वीप लम्बे, सँकरे हैं और इन द्वीपों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें अनेक सुन्दर बन्दरगाह हैं; इससे नावों और जहाजों द्वारा समुद्री व्यापार देश के लगभग हर भाग में पहुँच जाता है।

भौगोलिक विवरण से हट कर जापान के लोगों पर ध्यान देने से पता चलता है कि सातवीं शताब्दी से पहले जापान में पितृसत्तात्मक आधार पर बने अनेक कुल या कबीले बसे हुए थे। यद्यपि वहाँ एक सम्राट् होता था, जो समस्त द्वीपों पर नाममात्र को शासन करता था, वस्तुतः वह केवल सबसे अधिक शक्तिशाली कबीला-सरदार मात्र होता था। उसके कबीले की शक्ति बढ़ने-घटने के साथ सम्राट् का नियंत्रण भी बढ़ता-घटता रहता था। इस परिस्थिति में सबसे सशक्त प्रवृत्ति विकेन्द्रीकरण की ही होती थी।

विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति रोक कर स्थिति सुधारने के लिए सन् ६४५ में शासन-प्रणाली में सुधार (तैकवा) किये गये। वास्तव में ये सुधार चीनी प्रशासन-प्रणाली को जापानी परिस्थितियों के अनुरूप ढाल कर उसे चालू कर देने की दिशा में ही थे। जापानी समाज मुख्यतः दो भागों में विभाजित था——शासक और शासित। शासकवर्गों में उच्च नागरिक अधिकारियों का अहलकारी समाज आता था; ये अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इस अहलकारी समाज में असंख्य स्थानीय अधिकारी, जिला तथा प्रान्त स्तर के अधिकारी व प्रान्तीय राज्यपाल आते थे। आठवीं व बारहवीं शताब्दियों के बीच नागरिक सेवाओं के वे पद, जिन पर नियुक्तियाँ होती थीं, धीरे-धीरे, पैतृक या वंशानुगत हो गये और इस प्रकार वहाँ का शासन वर्ग-आधार पर होने लगा। इस वंशानुगत नागरिक अहलकारी समाज को भरण-पोषण के लिए चावल उपजाने वाली जमीनें मिलती थीं और जब तक व्यक्ति उस पद पर रहता था, ज़मीनें उसी के पास रहती थीं। शेष उपजाऊ भूमि दूसरे वर्ग, शासित वर्ग में बँटती थी और सिद्धान्ततः कुछ अवधि के बाद इस भूमि का नये सिरे से बँटवारा होता था। अच्छी भूमि पर कर लगता था, किन्तु, अहलकारों को मिली भूमि करमुक्त होती थी।

केवल चावल उपजाने वाली भूमि का ही इस प्रकार बँटवारा होता था, शेष भूमि पर उनका अधिकार होता था, जो उसे पूर्वक्रय कर सकते थे, उपयोग में ला सकते थे और

उस पर कब्जा रख सकते थे। फलतः, धीरे-धीरे अहलकारी वर्ग तथा अन्य लोगों ने बड़ी-बड़ी खेतियाँ बना लीं। चूंकि कर केवल चावल वाली भूमि पर लगता था; सरकार के खर्च बढ़ने के साथ कर का बोझ भी बढ़ता गया। यह बोझ बढ़े बिना भी कुछ लोगों को मिली भूमि उन्हें अलाभकर लगती थी और भूमि पर अधिकार कायम रखना घाटे का सौदा लगता था। इन्हें कदाचित् सीमान्त उत्पादक कहना उचित होगा, वे भूमि से इतना उत्पादन नहीं कर पाते थे कि उस पर निर्वाह भी कर लें और सरकारी देय भी अदा कर दें। ये लोग या तो भूमि खाली कर देते थे, ताकि उसे शासनाधिकारी पूर्वक्रय कर दें या फिर वे अपनी भूमि शासक वर्ग को इस शर्त पर दे देते थे कि उस भूमि पर जाब्ते का अधिकार उनका ही बना रहेगा। जब यह भूमि अहलकारी या शासक वर्ग के हाथों में पहुँच जाती थी तब वह करमुक्त हो जाती थी। इसका अर्थ यह होता था कि शेष चावल भूमि पर कर-भार बढ़ जाता था, क्योंकि राज्य का भाग तो पूरा होना ही होता था; इस प्रकार फिर सीमान्त उत्पादकों का नया वर्ग उत्पन्न हो जाता था, जो उतना कर नहीं दे पाता था। जैसे-जैसे यह प्रक्रिया चलती गयी, और साथ ही अविभाजित भूमि से बड़ी-बड़ी खेतियाँ बनती गयीं, प्रचुर साधनों वाले भू-स्वामियों का एक नया वर्ग बनता गया। साथ ही, केन्द्रीय शासन के साधन कम होते गये और फलतः भूस्वामियों का कुलीन वर्ग सम्राट् तथा केन्द्रीय शासन से अधिक सशक्त होते गये।

इस प्रक्रिया का एक फल यह हुआ कि धीरे-धीरे एक सैनिक वर्ग का जन्म हो गया। जो लोग भूमि छोड़ते थे, वे अपने निर्वाह के लिए अपनी व्यक्तिगत सेवाएँ उन लोगों को अर्पित कर देते थे, जो बड़ी-बड़ी खेतियाँ बनाते जाते थे। इस भू-स्वामि-वर्ग की जिघृक्षु प्रवृत्ति विकसित हुई तो वे बड़े अमले नौकर रखने लगे, एक तो जो भूमि उनके पास होती थी, उसकी रक्षा के लिए और दूसरे, बलपूर्वक और भूमि पर अधिकार करने के लिए। रक्षा की आवश्यकता भी दो प्रकार की होती थी—एक तो विभिन्न कुलों या कबीलों के भू-स्वामियों में स्वयं ही संघर्ष उत्पन्न होते रहते थे, दूसरे, केन्द्रीय शासन के हाथों अपने साधन छिन जाने से अपनी रक्षा करनी होती थी।

प्राचीन विशुद्ध पितृसत्तात्मक समाज के आधार पर विदेश से लायी गयी केन्द्रीकरण की शासन-प्रणाली चलाने के प्रयास से पैदा इस सामन्ती संगठन में धीरे-धीरे दो भिन्न शासकवर्ग पैदा हो गये——एक नागरिक अहलकारी वर्ग और दूसरा सैनिक कुलीन वर्ग। नागरिक अहलकारी वर्ग ने अंततः सम्राट् व केन्द्रीय शासन पर नियंत्रण प्राप्त कर लिया; दूसरा वर्ग क्षेत्रीय या प्रान्तीय बना रहा। केन्द्रीय शासन के साधन कम हो जाने पर प्रान्तों में शासन के लिए जो राज्यपाल नियुक्ति पाकर वहाँ जाते थे, उनका प्रभावकारी नियंत्रण तभी संभव हो पाता था, जब सैनिक वर्ग की सहायता उन्हें प्राप्त होती थी—

कालान्तर में राजधानी के बाहर सैन्य-शक्ति ही एकमात्र सत्ता बन गयी। बारहवीं शताब्दी के अंत तक शासन-सत्ता का यह हस्तांतरण पूरा हो चुका था और इस के साथ पितृसत्तात्मक की जगह सामन्ती आधार पर सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी हो चुका था। तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के अंत तक जापान का आंतरिक इतिहास सबसे अधिक बलशाली सामन्ती सरदारों के निर्देशन में देश को एकता के सूत्रों में बाँधने के प्रयासों का इतिहास है; ये सरदार सम्राट् पर नियंत्रण के भी प्रयत्न किया करते थे। सन् ११९२ के बाद सम्राट् एक के बाद दूसरे दाइम्यो या सामन्ती सरदार के हाथों की कठपुतली बने रहने लगे। सम्राट् को अपने पद से कभी हटाया नहीं गया, किन्तु वह सफल दाइम्यो को शोगुन का पद और उपाधि देने को बाध्य थे; शोगुन का अर्थ था—बर्बरों का दमन करनेवाला सेना का सर्वोच्च समादेशक। उसी समय से जापान की सरकार का स्वरूप सैनिक बन गया।

शोगुन-प्रणाली से शासन एक कुल से दूसरे कुल में पहुँचता रहा, किन्तु अंततः एक ऐसा व्यक्ति शोगुन बना जो सेना के अतिरिक्त अन्य साधनों से अपनी शक्ति संगठित कर सका और उसे कायम रख सका। जापान के सामरिक इतिहास में ख्यातिप्राप्त हिडेयोशी सोलहवीं शताब्दी के अंत में कोरिया व चीनी साम्राज्य के दमन का असफल प्रयास करता हुआ मरा और उसके समर्थकों में से एक, इयीयासू, के हाथ शासन-सत्ता आयी। सन् १६०३ में सम्राट् ने उसे शोगुन नियुक्त कर दिया। इयीयासू तोकूगावा शोगुनों की उस लम्बी शृंखला में पहला था, जिसने सन् १८६७ में सम्राट् के प्रत्यावर्त्तन तक जापान पर लगातार शासन किया। ढाई सौ वर्ष से अधिक की इस लम्बी अवधि तक एक ही कुल का शासन संभव हुआ। उस प्रशासन-प्रणाली के विकास के फलस्वरूप, जिसमें इयीयासू व उसके उत्तराधिकारियों से कम क्षमता वाले सम्राट् की निर्बलता तोकूगावा-शासन का नैरन्तर्य निश्चित हो गया। सन् १८५३ में यूरोपीयों को जापान में वही शासन-प्रणाली मिली, जो सत्रहवीं शताब्दी में कायम हुई थी; उसमें सिर्फ छोटे-मोटे परिवर्तन ही हुए थे।

(३) प्रत्यावर्त्तन-पूर्व राजनीतिक प्रणाली

राज्य के शिखर पर सम्राट् होता था। सिद्धान्ततः वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का शासक था, किन्तु जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, बारहवीं शताब्दी के बाद से वह नाममात्र का शासक होता था, प्रशासन पर नियंत्रणहीन शासक। क्योटो में वह ख्यातिहीन एकान्त में, दरबार के कुलीनों (कूमे) से घिरा रहता था। इसी ख्याति-हीनता और उपपत्नियाँ या रखैलें रखने और बालकों को गोद लेने की प्रथाओं के फल-

स्वरूप प्राचीन काल से एक ही वंश के सम्राट् होते आये थे; गोद लेने की प्रथा के फलस्वरूप सिंहासन का उत्तराधिकारी मिलता ही रहता था।

वास्तविक सत्ता शोगुन या शोगुन-संस्था में निहित थी। शोगुन सदैव अपनी नियुक्ति या मानाभिषेक सम्राट् से करवाता था, जिससे सम्राट् के नाम से शासन करने की कल्पना बनी रहे। सन् १६०३ में सत्ता प्राप्त करने पर तोकूगावा-कुल ने अपने विरोधियों की भूमि अपने अनुयायियों व समर्थकों में बाँट दी। जो क्षेत्राधिपति या भू-स्वामी तोकूगावा की श्रेष्ठता स्वीकार करते थे, उन्हें अपने क्षेत्र का स्वामी बना रहने दिया जाता था, किन्तु उनमें जो बलशाली थे, उनके क्षेत्रों के बीच में तोकूगावा-कुल के लोगों या उनके सामन्ती अनुयायियों द्वारा शासित क्षेत्र बना दिये जाते थे और इस प्रकार ये सशक्त भू-स्वामी एक-दूसरे से अलग रखे जाते थे। इससे शोगुन विद्रोह की आशंका से मुक्त हो गये थे। इसके अतिरिक्त, सामन्ती सरदार (दाइम्यो) हर वर्ष के कुछ समय के लिए येडो में रहने के लिए बाध्य थे, जहाँ शोगुन की राजधानी थी; वर्ष के शेष समय इन सरदारों के अपने परिवार येडो में ही रहते थे, जिससे सरदारों के सद्व्यवहार व निरंतर भक्ति के लिए ये परिवार एक प्रकार से बन्धक रहते थे। व्यवहारतः दाइम्यो दो भागों में विभाजित थे—एक तो वंशगत पराधीन (फूदाई), अर्थात् वे लोग जो तोकूगावा के सत्ता प्राप्त करने के संघर्ष में सदैव उनके समर्थक रहे थे और दूसरे, 'तोज़ामा' या "बाहरी स्वामी" जिनके आधिपत्य में लगभग आधा जापान था। इन बाहरी स्वामियों को एक-दूसरे से संश्रय करने की अनुमति नहीं थी। इसके अतिरिक्त 'फूट डालो और शासन करो' सिद्धान्त के अनुरूप शोगुन सशक्त कुलों को आपस में लड़ाते रहते थे, ताकि ये षड्यंत्र कर उनसे सत्ता न छीन लें। परंपरागत कुल-शत्रुताएँ—अंतर-कुल-युद्ध के वर्ष की धरोहरें—समाप्त नहीं होने दी जाती थीं; फलतः वे कुल, जो हृदय से तोकूगावा-शासन जारी रहने के विरुद्ध थे, एक-दूसरे से इतनी शत्रुता रखते थे कि तोकूगावा के विरुद्ध उनके संगठित होने की संभावना नहीं थी; यदि इन बाहरी स्वामियों को आपसी संश्रय की अनुमति भी होती तो भी वे संगठित न हो पाते।

तोकूगावा-कुल के प्रथम तीन शोगुनों—इयीयासू, हिडेटाडा व इयीमित्सू—के उपरान्त इस कुल के शोगुनों ने व्यक्तिगत रूप से स्वयं देश पर शासन नहीं किया। यदि सम्राट् कठपुतली थे तो शोगुन भी अत्यधिक व्यक्तिगत सत्ता रखने की स्थिति में नहीं थे। उनकी सत्ता एक प्रकार के आयोग में निहित थी और बहुधा वह उच्च या निम्न परिषदों के हाथों की कठपुतली होते थे। और पार्षद् नीचे के अधिकारियों के वास्तविक नियंत्रण में होते थे। वास्तविक स्थिति का वर्णन प्रोफेसर गबिन्स ने इस प्रकार किया है[1]—

जापान के पूरे इतिहास में लगातार शासन की वह प्रणाली दृष्टिगोचर होती है, जो और अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में 'नाममात्र के प्रधान-प्रणाली' कही जा सकती है; यह प्रणाली जापान के सामाजिक और राजनीतिक विचारों का ही स्वाभाविक निष्कर्ष है। वास्तविक व नाममात्र की सामाजिक या राजनीतिक सत्ता लगभग कभी भी मिलती नहीं दिखायी देतीं। समाज की इकाई परिवार है; हमारी प्रणाली में जिस प्रकार व्यक्ति इकाई होता है, वैसा यहाँ नहीं है; परिवार का नाममात्र का नियंत्रण परिवार का प्रधान एक व्यक्ति करता है। किन्तु व्यवहार में अधिकांशतः यह व्यक्ति नाममात्र को ही प्रधान होता है, वास्तविक सत्ता संबंधियों के उस समूह में निहित होती है जो परिवार-परिषद् में होते हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है सत्ता की यह स्थिति शोगुन के कार्यालय और शाही दरबार में भी थी और छोटे परिवार-समूहों के नियंत्रण में भी।

सैद्धान्तिक रूप से शोगुन के बाद सबसे अधिक महत्त्व क्षेत्रीय कुलीनों, दाइम्यो, का होता था। सामन्ती स्वामियों के रूप में वे जापान के उप-भागों पर अपने-अपने क्षेत्रों में शासन करते थे। वास्तव में वे अपने-अपने कुल के मुखिया या प्रधान होते थे। उनकी स्थिति व सत्ता को बल मिलता था सामुराइ से, प्राचीन जापान के योद्धा वर्ग से। किन्तु यहाँ भी नाममात्र के शासन की प्रणाली चलती थी, क्योंकि, "दो-एक अपवादों को छोड़कर दाइम्यो स्वयं अपने-आप अपनी जागीरों के प्रशासन का काम नहीं करते थे। यह प्रशासन कारिन्दों के समूहों पर छोड़ दिया जाता था, जो कारो कहलाते थे और अपने-अपने कुलों से वंशानुगत नियुक्तियाँ पाते रहते थे।"[१] इस प्रकार, जब पैरी जापान पहुँचा असली प्रशासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में जा पहुँचा था, जिन्हें विभिन्न कुलों का 'व्यवसाय सामुराइ' कहा जा सकता था।

जैसा कि कहा जा चुका है सामुराइ देश का योद्धा वर्ग था। सैनिकों के रूप में कभी-कभी उन्हें देश या अपने-अपने स्वामियों के हितों की रक्षा के लिए युद्ध में जाना होता था, शेष समय जनता उन्हें खाली बैठाकर उनका भरण-पोषण करती थी। सन् १८५३ तक सामुराइ बहुत अधिक विशेष अधिकारों व सुविधाओं वाला वर्ग बन चुका था, क्योंकि अपनी शक्ति और सत्ता संगठित करने के बाद तोकूगावा कुल ने जापान में भीतरी व बाहरी शांति स्थापित की थी और इस प्रकार सामुराइ की विशिष्ट योग्यताओं तथा प्रशिक्षण पर अनावश्यक रूप से अधिक निर्भरता होने लगी थी।

तोकूगावा काल से पहले जापान की अर्थ-व्यवस्था चावल की अर्थ-व्यवस्था थी। दाइम्यो, सामुराइ व अन्य वर्गों की आय वहाँ प्रचलित सिक्कों में नहीं, चावल के परिमाण से नापी जाती थी। "धन-सम्पत्ति का माप चावल था, क्योंकि भोजन व विनिमय

दोनों का सबसे अधिक महत्त्व का साधन चावल ही था।"[3] शासक-वर्ग (और शांति के समय फुरसत का वर्ग) की हैसियत से दाइम्यो व सामुराइ किसानों की मेहनत पर पलते थे। यद्यपि इस प्रकार की कहावतें प्रचलित थीं कि "एक किसान दो सामुराइ के बराबर है और तीन भिखारी चार नगर-निवासियों के बराबर हैं", वास्तव में, "ये कहावतें प्राचीन रीति-रिवाज के अवशेष मात्र थीं, तथ्य तो यह है कि किसान के साथ ऐसा व्यवहार होता था मानों वह सामुराइ के हड़पने के लिए चावल पैदा करने का यंत्र हो। राजनीतिज्ञ खेती के संबंध में बड़े ऊँचे विचार रखते थे, खेतिहर किसानों के संबंध में नहीं।"[4]

तोकूगावा शोगुनों के शासन में शांति और स्थायित्व का जो युग आया, उसमें द्रव्य अर्थ-व्यवस्था ने चावल अर्थ-व्यवस्था का स्थान लेना शुरू कर दिया और समृद्धि के माप और विनिमय के साधन के रूप में चावल का उपयोग कम होने लगा। "जैसे-जैसे धातु द्रव्य जनता के आर्थिक जीवन में प्रवेश पाने लगा विनिमय के माध्यम के रूप में चावल का उपयोग कम होने लगा और सत्रहवीं शताव्दी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते चावल का यह प्रयोग पूर्णतः लुप्त हो गया।"[5] इसके साथ ही, तोकूगावा शासन में नगरों के जीवन का महत्त्व बहुत बढ़ गया। येडो, सकाइ, क्योटो, ओसाका और नागासाकी जैसे नगरों में जीवन का जो विलासमय ढंग पनपा, उसे निबाहने के लिए तथा महल, दुर्ग व मंदिर-निर्माण के लिए शोगुनों को अधिक आय की जो भारी आवश्यकताएँ हुईं, उन्हें पूरा करने के लिए चावल-आय का द्रव्य-आय में परिवर्तन आवश्यक हो गया। इस संक्रमण ने नगरों के 'सेवा' वर्गों व व्यापारियों को एक नया महत्त्व प्रदान किया; इन वर्गों की समृद्धि तेजी से बढ़ी और उसके साथ इनकी शक्ति भी बढ़ी, यद्यपि सिद्धान्ततः, उनका सामाजिक स्तर अब भी किसानों और सामुराइ से नीचे था। बढ़ती हुई माँगों के कारण उच्चवर्ग अपनी चावल-आय से अधिक खर्च करने लगे; यह आय प्राकृतिक कारणों व चावल के दलालों की सट्टेबाजी के कारण घटती-बढ़ती रहती थी। फलतः, ये लोग व्यापारियों के कर्जदार हो गये और कुछ तो आगे आने वाले अनेक वर्षों की आय बन्धक रख बैठे। इन ऋणों का लाभ उठा कर व्यापारियों ने सामुराइ-परिवारों में अपने बेटों को गोद बैठा कर व शादी-विवाह द्वारा अपना सामाजिक स्तर ऊँचा करना शुरू कर दिया। इस प्रकार वर्ग-विभाजन की सीमा-रेखाएँ धुंधली पड़ने लगीं, जो शोगुन नियमों में परिलक्षित नहीं हो रही थीं। अट्ठारहवीं शताव्दी के आरम्भ में ही व्यापारी "राज्य के सबसे सबल और साहसी तत्त्वों में से एक बन चके थे और सैनिक जाति का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो रहा था।"[6] किन्तु, एक वर्ग की जगह दूसरे वर्ग का प्रभाव बढ़ने के साथ व्यापारी व सामुराइ-वर्गों का सम्मिश्रण ही चरम महत्त्व का था, जिसके फलस्वरूप "धीरे-धीरे किन्तु अदम्य गति से क्रान्ति आयी, जिसने सामन्ती शासन को छिन्न-भिन्न

कर दिया और दो सौ वर्ष के एकान्त के बाद विदेशों से संपर्क को फिर से चालू कर दिया। जापान का द्वार उन्मुक्त हुआ किसी बाहरी आदेश से नहीं वरन् भीतरी विस्फोट से।"[७]

(४) जापानी समाज व संस्कृति

आधुनिक युग से पूर्व के चीन और प्राचीन जापान की संस्कृति व सामाजिक संगठन में अनेक समान और विपरीत दोनों ही लक्षण मिलते हैं। आधुनिक यग के प्रारम्भ में दोनों ही देशों की अपनी विशिष्ट संस्कृति थी। जापानी संस्कृति पर महाद्वीप का बड़ा प्रबल प्रभाव था, किन्तु वह केवल संस्कृति का आयात मात्र न थी। उदाहरणार्थ, दोनों देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, जापान में चीन के माध्यम से। किन्तु दोनों ने इस भारतीय धर्मप्रणाली को अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया, फलतः, चीन के ईश्वरीय साम्राज्य में जो बौद्धधर्म प्रचलित था, वह जापानी धर्म-विश्वासों व रीतियों से बहुत भिन्न था। जापान में बौद्धधर्म आरम्भ में ही आया, अंशतः वह आत्मसात कर लिया गया, अंशतः उसने स्थानीय धर्म शिन्तोवाद (देवताओं का मार्ग) की जगह ले ली और अंशतः शिन्तोवाद अछूता बच गया। दूसरी ओर उच्चवर्गों में बौद्धधर्म की जगह अंशतः कन्फूशियसवादी दार्शनिकों ने ले ली; तोकूगावा शोगुन कन्फूशियस के ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहित करते थे। किन्तु शासक स्वयं बौद्धधर्म के भी संरक्षक थे और उन्होंने येडो (टोकियो) के उत्तर के क्षेत्र में अनेक मंदिर बनवाये और धर्मादा-संस्थापनाएँ कीं। सामान्य जनता में बौद्धधर्म ही चलता रहा, कन्फूशियसवाद का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। इन धार्मिक विश्वासों के आगमन से जापान पर चीनी संस्कृति का प्रभुत्व नहीं हुआ।

जैसा कि बताया जा चुका है, चीन में शिक्षा और ज्ञान का उच्चतम स्थान था; शिक्षित लोगों का एक अलग स्पष्ट वर्ग था, जो देश में सबसे अधिक सम्मानित व प्रतिष्ठित था और उसी वर्ग से अधिकारियों का चयन होता था। जापान में भी शिक्षा व ज्ञान का सम्मान था, किन्तु वहाँ युद्ध कौशल का भी उतना ही सम्मान था। तोकूगावा-कुल के दीर्घकालीन शासन में स्थापित शांति व व्यवस्था से पहले की शताब्दियों में ज्ञान अधिकांशतः बौद्ध पुरोहितों में ही सीमित था। किन्तु सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक आंतरिक युद्धों के अभाव में, सामुराइ-वर्ग ने युद्ध-कौशल के साथ ज्ञान-संचय भी शुरू किया और सामुराइ शिक्षित वर्ग बन गया। कन्फूशियस के शास्त्रीय ग्रंथों का ज्ञान भी सामुराइ के लिए वैसा ही उपकरण बन गया जैसा कि तलवार चलाने की कुशलता थी। चीन की स्थिति से, जहाँ शिक्षित वर्ग सैन्य लाघव में बिलकुल कोरा था, जापान का यह निश्चित विपर्य्यय काफी दिलचस्प है। दोनों समाजों में, विशेषकर उच्च वर्गों में, दैनिक जीवन में, विनय, शिष्टाचार और औपचारिकता पर बहुत जोर दिया जाता था। यहाँ जापान

संभवतः चीन से बाजी मार ले गया था और उन बातों के लिए भी औपचारिक रीति-रिवाज बना लिये थे, जो पश्चिमी विदेशियों को दैनिक जीवन की सामान्य बातें लगती थीं। जापानी जीवन की औपचारिकता के संबंध में जिस बात ने काफी ख्याति पायी है, वह है चाय-संबंधी अनेकानेक रीति-रिवाज।

दोनों साम्राज्यों में सिद्धान्ततः कृषक-वर्ग का सामाजिक महत्त्व सबसे अधिक नहीं तो दूसरे स्थान पर अवश्य ही था। जापान में चावल और रेशम-उत्पादन ग्रामीण जीवन की सबसे अधिक विकसित क्रियाएँ थीं, यद्यपि ऊँची भूमि पर गेहूँ व जौ भी उगाये जाते थे, और बहुधा चावल के बाद दूसरी फसल की तरह पैदा किये जाते थे, और अनेक तरह की साग-सब्जियाँ भी पैदा की जाती थीं। जापान की अर्थ-व्यवस्था में चाय के पौधे का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था।

जापान में खेत छोटे-छोटे थे, जैसा कि अधिकांशतः चीन में भी था, और अति सघन खेती होती थी; सघन खेती करने में चीनी भी जापानी कृषक का मुकाबला नहीं कर पाते थे। आवश्यकता ने चीनियों की भाँति जापानियों को भी सभी कूड़ा-करकट को खाद के रूप में इस्तेमाल करना सिखा दिया था।

जापानी भोजन में चावल का जो महत्त्व व स्थान था, लगभग वही मछली का भी था। जहाँ दक्षिण से आने वाली गर्म काली धारा उत्तर से आने वाली ठंढी कामचाटका-धारा से जापान के तट के पास मिलती थी, वहीं मछली पकड़ने का भारी उद्योग बन गया था, क्योंकि मछलियों के रहने के लिए वह बहुत उपयुक्त स्थान था। इस प्रकार जापान की श्रमिक जनता के लिए मछली मारना एक बड़ा धन्धा बन गया।

किसानों के बाद शिल्पकारों का वर्ग आता था; इसी में कलाकार भी शामिल किये जा सकते थे, जो वास्तव में सबसे बढ़िया और आत्म-सम्मान वाले शिल्पी होते थे। विकास की उस मंजिल में अन्य देशों की भाँति जापान भी उद्योग-श्रेणियों में संगठित था, किन्तु जापानी श्रेणियों में न तो वह शक्ति ही विकसित हो पायी, जो चीनी श्रेणियों में आ गयी थी और न चीनी श्रेणियों की भाँति उनमें शिल्प-कौशल व व्यापार की ईमानदारी ही पनप पायी। व्यक्ति-स्तर पर जापानी कारीगरों का कौशल ऊँचे दर्जे का था और उन्होंने अधिक कलात्मक दिशा में अत्युत्तम काम किया, किन्तु वे प्राचीन जापान के कलाकारों की श्रेणी में ही आते थे, साधारण शिल्पियों में नहीं और कुशलता का अपना स्तर वे अन्य सामान्य कारीगरों में नहीं ला पाये। व्यक्ति के रूप में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, किन्तु जिस वर्ग या समूह के वे भाग थे, उसका अपेक्षया कम सम्मान था। कुछ अन्त्यजों के समूहों को छोड़ दें, तो व्यापारी सामाजिक रूप से सबसे निम्न स्तर पर थे। सामाजिक स्तर पर शिक्षा व युद्ध कौशल को वरीयता और औद्योगिक व व्यवसायिक-वर्गों को

अपेक्षया निचला स्तर मिलने का आधुनिक ज़ापान के विकास के संदर्भ में बड़ा महत्त्व है। सामुराइ-वर्ग की अपनी आचार-व्यवहार-संहिता थी और स्वयं वह उसका पालन करता था; व्यावसायिक समुदाय-व्यवहार के ऐसे अपने मानदण्ड स्थापित करने में असफल रहा। फलतः आधुनिक जापानी व्यवसाय को अपनी आचारनीति निर्माण के प्रयास में विश्वव्यापी बदनामी के युग से गुजरना पड़ा, जबकि जापान के स्थल व नौ-सैनिकों, तथा किसी हद तक अधिकारियों, का व्यवहार-आचार दुनिया के अन्य सैनिकों की अपेक्षा अधिक अच्छा रहा।

आधुनिक युग के पूर्व के जापानी समाज का यह संक्षिप्त विवरण वहाँ प्रचलित सौंदर्य-बोध के वर्णन बिना अधूरा रह जायगा। निम्न और उच्च, दोनों वर्ग सौन्दर्य-प्रेमी थे और ये प्रेम उनके पर्यावरण में उगा और पनपा था। जैसा कि बताया जा चुका है, उच्च वर्ग के दैनिक जीवन में शिष्टाचार परिष्कृत होकर सुन्दरता की सीमा पर पहुँच गया था। सुन्दर परिवेषणों में सुन्दर और कलापूर्ण देवगृहों व मंदिरों के निर्माण व रख-रखाव में बहुत श्रम और धन लगाये गये थे और निक्को, नारा व क्योटो के मंदिर संभवतः इसके सबसे प्रख्यात उदाहरण थे। सबसे बड़े त्योहार प्रकृति के ऋतु-सौंदर्य के समारोह मनाने के लिए होते थे और लोग काफी दूर फलों-फूलों के वृक्षों को पुष्पित-पल्लवित होते देखने जाते थे। लोग बाग लगाने में बड़ी दिलचस्पी लेते थे और जमीन के छोटे-छोटे टुकड़ों में भी प्राकृतिक दृश्यों की अनुकृति बनाने की कोशिश करते थे और अक्सर बड़े चमत्कारपूर्ण प्रभाव पैदा कर लेते थे। इस सौन्दर्य-प्रेम ने जापानी जनता के चरित्र व स्वभाव, उद्योग व जीवन-यापन के ढंग, सब पर महत्त्वपूर्ण और अमिट छाप डाली थी। उदाहरणार्थ, उद्योग के क्षेत्र में यह सौन्दर्य-प्रेम मीनाकारी, पच्चीकारी, वारनिश और सुन्दर चित्रों से सुसज्जित सामान व बरतनों में प्रकट होता था।

इस संक्षिप्त विवरण की समाप्ति से पहले तोकूगावा-शासन ने हर वर्ग के लोगों के दैनिक जीवन को नियंत्रित व निर्देशित करने के जो प्रयास किये, उनका वर्णन आवश्यक है। विभिन्न सामाजिक वर्गों के सदस्यों के लिए भिन्न-भिन्न अधिकारों-उत्तरदायित्वों की स्थापना तथा वर्ग-भेदों को बड़ी सावधानी से कायम रखने के लिए कानून बनाये गये थे। यहाँ कानून शब्द का प्रयोग शायद ठीक न हो, क्योंकि नागरिकों के आचार-व्यवहार का आधार नैतिक सिद्धान्त माने जाते थे न कि न्याय्य आदर्श। किन्तु इन नैतिक सिद्धान्तों का जनता द्वारा पूर्णरूपेण पालन राज्य के अधिकारियों द्वारा कराया जाता था। इस प्रकार फौजदारी के अपराधों का वर्जन तो कानूनी भाषा में होता था, पर अपराधों की गुरुता और उनके लिए निश्चित दण्डविधान विभिन्न वर्गों के लिए भिन्न-भिन्न था। इसी प्रकार, आचार-व्यवहार व वेश-भूषा तक के विवरण सामाजिक स्तर के अनुकूल नियंत्रित करने

का काफी हद तक प्रयास किया जाता था। इस नियमन की दिशा थी तत्कालीन प्रणाली व पद्धतियों को स्थिर व अपरिवर्तनशील बनाना।

(५) प्रारम्भिक विदेशी संपर्क

यद्यपि तोकूगावा शोगुनों के लगभग पूरे काल में जापान बाहर की दुनिया से अलग रहा था, जापानी लोग इस काल के पहले ही विदेशियों के संपर्क में रहे थे। सोलहवीं शताब्दी में विदेशी व्यापारियों व धर्म-प्रचारकों को जापान आने की अनुमति ही नहीं मिली थी वल्कि उनका आना प्रोत्साहित भी किया जाता था। चीनी, पुर्तगाली, स्पेनी, अंग्रेजी व डच जहाज जापानी बन्दरगाहों में लंगर डालते थे और जापानी जहाज एशिया के देशों के बन्दरगाहों में पहुँचते थे। ईसाई धर्म के अनेक संप्रदायों, जेसूट, डोमिनिकी, फ्रांसिस्की,[१] के धर्मप्रचारक पादरियों ने बड़ी संख्या में जापानियों को ईसाई बनाया था और कुछ सामन्ती सरदारों ने भी इस नये मत को स्वीकार किया था। किन्तु तव इस संपर्क को प्रगाढ़ बनाने का समय नहीं आया था। इन विदेशियों के व्यवहार और यूरोपीय देशों की स्थिति ऐसी थी कि जापानियों को अपने ये संपर्क वहुत सीमित रखना ही आवश्यक और वांछनीय लगा। यूरोपीय व्यापारी व्यापार-संबंध बनाने के लिए मिलजुल कर काम करने की जगह सारा व्यापार केवल अपने-अपने देश तक ही सीमित रखने का प्रयत्न करते थे। डच-व्यापारियों ने जापानियों को अंग्रेज व स्पेनी व्यापारियों से संपर्क न रखने को सावधान किया और उन लोगों ने डच-हितों के विरुद्ध काम करना शुरू कर दिया। तब यह नहीं देखा-समझा गया था कि अंततः हर देश के हित समान ही हैं। फलतः जापानी शासकों में सभी विदेशियों के प्रति संदेह और अविश्वास पैदा हो गया। फिलिपीन में स्पेनी, चीनी तट पर पुर्तगाली, भारत में अंग्रेजी व फ्रांसीसी और पूर्वी द्वीप समूह में डच लोगों के कार्यकलाप की कथाएँ जब जापान पहुँचीं तो यह अविश्वास और भी दृढ़ हो गया। जिस तरह से ये विदेशी—और जापानियों को वे सब भाई-भाई लगते रहे होंगे—आपस में लड़ते रहते थे—अक्सर जापानी समुद्र तट पर ही—डच और अंग्रेज मिलकर स्पेनवालों के खिलाफ, फिर दोनों आपस में ही लड़ते रहते थे, उससे यह अविश्वास और बढ़ा।

इस परिस्थिति में भी जापान विदेशी संपर्क के लिए बन्द न होता यदि रोमन कैथोलिक धर्मप्रचारकों का रवैया व कार्य अहितकर न समझा जाता। जैसे-जैसे धर्म-परिवर्तन से ईसाई-समुदायों की संख्या बढ़ी, वैसे-वैसे वे केन्द्रीय सरकार के प्रभावकारी नियंत्रण से अलग होने के प्रयत्न करने लगे। दोहरी निष्ठा की संभावना स्पष्ट होने लगी, क्योंकि जापान के शासक के विरुद्ध याचिकाएँ पोप के पास पहुँचने लगीं। अपने अधिकार-क्षेत्र में दूसरे देश की सर्वोच्च सत्ता बनने का डर पैदा हो गया और इस डर व बढ़ते हुए अविश्वास

के कारण सत्रहवीं शताब्दी में ईसाई-धर्म निषिद्ध घोषित कर दिया गया और ईसाइयों का उत्पीड़न प्रारम्भ हो गया; इसी के साथ आदेश निकल गये, जिनके द्वारा विदेशियों से जापानियों का सामान्य संपर्क रोक दिया गया। जापानियों के विदेश जाने पर पाबन्दी लगा दी गयी और ऐसे जहाज बनाने पर रोक लग गयी, जो विदेशों से व्यापार कर सकते थे। केवल तटीय व्यापार के लिए छोटे जहाज बनाने की अनुमति दी जाती थी।

जैसा कि चीन में हुआ था, बाहरी दुनिया से संपर्क समाप्त करने का कार्य बिलकुल पूरा पक्का नहीं हुआ। कुछ तो इस कारण कि कुछ समय तक यह संशय नहीं हुआ कि डच लोग अपने मत-प्रचार में उतने उग्र हैं, जितने कि अन्य विदेशी और कुछ इसलिए कि डच लोगों में युद्ध की उतनी प्रवृत्ति नहीं दिखायी देती थी, उन्हें नागासाकी बन्दरगाह में सीमित व्यावसायिक संपर्क रखने की अनुमति मिली रही; साथ ही उसी बन्दरगाह के एक द्वीप, देशीमा में उन्हें एक कारखाना कायम रखने की अनुमति मिल गयी। किन्तु इन विशेष सुविधाओं को कायम रखने में डचों को अनेक अपमान सहने को बाध्य होना पड़ा। चीनियों से भी व्यापार-संपर्क जारी रहा और वह डचों की तरह बहुत सीमित भी नहीं रहा।

(६) तोकूगावा शोगुनों के काल में आंतरिक परिस्थितियाँ

दो सौ वर्षों से अधिक के एकान्त में जापान विदेशी युद्धों और विदेशी संपर्क-जनित युद्धों की अफवाहों से अछूता रहा। इसके साथ ही आंतरिक शांति रही। जब काफी समय तक शांति कायम रही, शोगुनों ने क्रमशः देश पर अपना नियंत्रण कुछ ढीला कर दिया। एक यंत्र बना दिया गया था जो अपने ही संवेग से, या यूँ कहा जाय कि पहले व तीसरे शोगुनों द्वारा प्रदत्त संवेग से बराबर चलता जा रहा था; किन्तु धीरे-धीरे इस यंत्र का काम धीमा होता गया। यदि नयी भीतरी या बाहरी समस्याएँ पैदा होतीं तो इस यंत्र के चलने में बाधा पड़ती। किन्तु अन्य कुल तोकूगावा-कुल की शक्ति को चुनौती नहीं दे सकते थे, शोगुन के विरुद्ध संगठित होकर सहयोग करने की संभावना बिलकुल नगण्य कर दी जा चुकी थी और अभी वह समय आया नहीं था, जब यूरोपीय विदेशी जापान के साथ व्यापार करने के अधिकार की माँग करते या जापान सरकार के साथ संधियाँ करने का हक माँगते।

आंतरिक संघर्ष के अंत के फलस्वरूप शोगुनों का ध्यान महलों के विलास की ओर धीरे-धीरे बढ़ता गया और फलतः सैनिक शक्ति कायम रखने और अपने निकट के अनुयायियों की क्षमता कायम रखने में उनकी दिलचस्पी कम होती गयी। दूसरी ओर, दाइम्यो के लिए युद्ध-कौशल अब भी वरीय था। तोकूगावा की सैनिक शक्ति कम होने से अन्य बलशाली कुलों की शक्ति बढ़ने लगी। शांति का युग शुरू होने से सामुराइ का

युद्ध-प्रेम कम नहीं हुआ; इस प्रेम की पूर्ति संगठित युद्धों के स्थान पर छोटे-मोटे झगड़ों व युद्ध जैसे खेलों से होने लगी। गुप्त रूप से असंतुष्ट कुलों की शक्ति अपेक्षया बढ़ने के साथ स्वाभाविक रूप से ही तोकूगावा के आदेशों के पालन में भी शक्तिवृद्धि की भावना के अनुपात में ही अनिच्छा भी बढ़ने लगी। काफी लम्बी अवधि तक इस प्रणाली के समक्ष वे अपने को अशक्त पाते थे, किन्तु प्रणाली निर्बल होने के साथ ही प्रान्तों की स्वतंत्रता बढ़ने लगी। सन् १८५३ तक केन्द्रीय शासन की ढिलाई इस सीमा तक पहुँच चुकी थी कि यदि शोगुन के विरुद्ध विद्रोह का कोई उपयुक्त कारण मिल जाता और यदि कई कुल मिल जाते तो विद्रोह सफल हो जाने की काफी संभावना थी।

यह कारण स्वयं शोगुनों ने ही प्रदान कर दिया। लड़ाकू सामुराइ-वर्ग के लिए युद्ध के अभाव में अन्य दिलचस्पियाँ ढूँढ़नी होती थीं। शोगुनों ने सांस्कृतिक कार्यों व ज्ञानार्जन के विकास को प्रोत्साहन देकर ये दिलचस्पियाँ प्रदान कीं। शिक्षा की ओर नयी दिलचस्पी पैदा होने से पहले तो छात्रों ने चीनी शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन शुरू किया, फिर वे जापान के प्राचीन इतिहास की ओर मुड़े; इस अध्ययन से उस सीमा का पता लगा, जिस तक चीनी प्रभाव मूल जापानी संस्कृति में प्रवेश कर चुका था। पुराने धर्म, शिन्तोवाद का पुनरुत्थान हुआ। इससे राष्ट्र के आध्यात्मिक नेता के रूप में सम्राट् के प्रति सम्मान में अभिवृद्धि हुई। शिन्तो-धर्म के पुनरुत्थान के साथ ही इतिहास के अध्ययन भी विकसित हुए और सन् १७१५ में जापान का एक वृहत् व स्मरणीय इतिहास लिख कर तैयार किया गया। इस इतिहास से स्पष्ट रूप से प्रकट हो गया कि जो अधिकार मूलतः सम्राट् के थे, उन्हें शोगुनों ने हड़प लिया था। सन् १८२७ में शोगुनों का इतिहास तैयार हुआ, जिसमें यही दृष्टिकोण और अधिक पुष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ। इस प्रकार शोगन-संस्था के प्रति निष्ठा व सम्मान में कमी आयी, क्योंकि यह स्पष्ट था कि यह निष्ठा गलत संस्था को मिल रही थी। विद्वान् लोग खुल कर पूछने लगे कि सम्राट् क्योटो के एकान्त व ख्यातिहीनता में क्यों रहते हैं, शोगुन-संस्था क्यों कायम रखी जाय। जापान में ज्ञान व शिक्षा के पुनरुद्धार से स्वाभाविक रूप से दो भावनाओं को प्रोत्साहन मिला—एक राष्ट्रीयता की भावना और दूसरे (सीधे देवताओं के कुल के) सम्राट् के प्रति निष्ठा की भावना।

फलतः विदेशी संपर्क के लिए उन्मुक्त होने के पहले जापान में जो विचार-प्रणाली प्रचलित हुई, वह मूलतः राष्ट्रीय व साम्राज्यवादी थी। शासन की सामन्ती कुल-प्रणाली, जिसमें शोगुनों के अधीन सत्ता का केन्द्रीकरण होता था, कुछ चीन-विरोधी दार्शनिक पद्धतियों द्वारा गंभीरतापूर्वक अस्वीकार की जा रही थी। योशिदा शोइन जैसे लोगों के द्वारा भी इसका प्रत्याख्यान हो रहा था, जो जापान के भीतर ही यात्रा करने के लिए

चालू प्रवेश-पत्र-प्रणाली को मानने से इनकार करते थे और जापानी होने के नाते इस अधिकार की माँग करते थे कि देश के भीतर स्वतंत्रतापूर्वक यात्रा करने का उन्हें अधिकार है।

बौद्धिक जिज्ञासा जागने से छात्र विदेशों में संचित ज्ञान के संपर्क में आ रहे थे और साथ ही मध्ययुगीन जापान-संबंधी ज्ञान का पुनरुत्थान कर रहे थे। डच लोगों से निश्चित अवधि के उपरान्त जो प्रतिवेदन येडो-सरकार को मिलते थे, उनसे उसे बाहरी दुनिया की घटनाओं की थोड़ी-बहुत जानकारी होती रहती थी। डच-प्रतिनिधि सन् १७९० तक हर वर्ष और उसके बाद हर चार वर्ष बाद येडो आते थे और प्रतिवेदन प्रस्तुत करते थे। किन्तु, सन् १७२० के बाद तक विदेशी ग्रंथों के आयात और अधिकारी दुभाषियों के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उनके अध्ययन पर रोक लगी रही; इसी प्रकार विदेशियों से अनधिकृत संपर्क निषिद्ध था। इस रोक की कभी-कभी थोड़ी बहुत अवहेलना भी होती थी और देशीमा-स्थित डचों के द्वारा कुछ विदेशी ज्ञान, विशेषकर औषधि और शरीर-विज्ञान के संबंध में जानकारी होती रहती थी। किन्तु, सन् १७२० के बाद विदेशी ज्ञान और विद्याओं का प्रवेश और प्रसार अधिक व्यापक और तीव्रता के साथ हुआ। देश के भीतर शोगुन-सरकार की अनुमति के बिना आवागमन पर जो प्रतिबन्ध थे, उनके द्वारा डचों तथा नवीन ज्ञान के संपर्क को सीमित रखने के प्रयास होते थे। किन्तु बाहरी स्वामियों के आश्रितों तक औषधि, सैन्य, भौगोलिक व अन्य वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकें अध्ययनार्थ अनूदित होकर आती रहती थीं। फलतः, कुछ पश्चिमी कुलों में और येडो तक में ऐसे लोग थे, जो उस नीति-परिवर्तन के लिए तैयार थे, जो अमरीकियों और उनके बाद अन्य विदेशियों की जापान के साथ व्यापक संपर्क स्थापित करने की माँग के बाद आवश्यक हो गये।

तो यह स्वीकार करना होगा कि सन् १८५३ में "उगते हुए सूर्य का देश" (जापान) उस शान्त स्थिति में नहीं था, जैसा कि कभी-कभी बताया जाता है। कमोडोर पेरी के आगमन के समय जो स्थिति थी, उसका संक्षिप्त वर्णन करते हुए प्रोफेसर गबिंस ने लिखा है——

उन्हें विभिन्न कलाओं, उद्योग व कृषि में पारंगत, शिष्टाचार रीतियों में बँधा हुआ, चीनी विचारों से ओत-प्रोत और आत्मसात् करने की शुभ प्रतिभा द्वारा नियंत्रित अनुकरण की प्रवृत्ति वाला, स्वभाव की स्वतंत्रता वाला, अपनी तरह की विलक्षण, भारी-भरकम व जटिल शासन-प्रणाली वाला अति संगठित समाज मिला। केन्द्रीय शासन सत्ता येडो में एक अस्पष्ट व्यक्तित्व में निहित थी, जिसका क्योटो में एक अन्य तथा और अधिक अस्पष्ट व्यक्तित्व से क्या संबंध था यह जानना कठिन था। सामन्ती प्रथा व्याप्त थी, जिसमें दाइम्यो अपने-अपने क्षेत्रों पर या शोगुनों के निरीक्षण में अपने पड़ोसियों के क्षेत्रों पर शासन करते थे, कुछ स्थान तथा वे क्षेत्र जो शोगुनों के अपने क्षेत्र थे सीधे येडो सरकार द्वारा

शासित होते थे; केन्द्रीय सत्ता राज्य-परिषदों तथा न्याय व कार्यकारी अधिकारियों के बड़े भारी समूह द्वारा परिचालित होती थी। केन्द्रीय सत्ता निर्बल थी और बराबर निर्बल होती जा रही थी तथा अशान्ति की भावना व्यापक होती जा रही थी; उन उपद्रवों के प्रथम संकेत मिलने शुरू हो रहे थे, जो अंततः शोगुन-संस्था के पतन का कारण बने। कुल ईर्ष्याएँ तथा सामन्ती प्रतिबन्धों से राष्ट्रीय प्रगति अनेक दिशाओं में अवरुद्ध थी; कष्ट और असंतोष व्यापक थे; देश का मुद्रा-विनिमय बड़ी गड़बड़ हालत में था। नागासाकी आने वाले चीनी और डच व्यापारियों तक ही विदेशी संपर्क सीमित था और बाहरी दुनिया से संपर्क साधन या चीनी था या डच।[१]

(७) कमोडोर पेरी का आगमन

विदेशी संपर्क के लिए जापान का उन्मुक्त होना उतना ही अनिवार्य था जितना चीन का एकान्त समाप्त होना था। उस आंदोलन में जिससे अंततः जापान का द्वार उन्मुक्त हुआ, संचार-संवहन के साधनों के विकास व व्यापार की आकांक्षा के साथ ही साथ उन नाविकों, विशेषकर उत्तरी प्रशान्त सागर में ह्वेल मछली के शिकार व सील मछली की बालदार खाल के व्यापार में लगे नाविकों की यह माँग भी शामिल हो गयी कि उन्हें स्थान मिलने चाहिएँ, जहाँ वे जहाज रोक सकें, रसद व भोजन सामग्री जमा कर सकें और अपने जहाजों की मरम्मत कर सकें। बहुधा आँधियों-तूफानों के थपेड़ों से जहाज जापान के समुद्रतट पर आ लगते थे; इन जहाजों में बचे लोग कभी तो मार डाले जाते थे और कभी नागासाकी स्थित डचों के माध्यम से वापस भेज दिये जाते थे। किन्तु, जापान हर हालत में इस बात पर दृढ़ था कि विदेशी जहाज़ उसके तट पर न लगें। जो जहाज तूफानों के कारण जापानी बन्दरगाहों में आ लगते थे, उन्हें तत्काल वापस लौटने का आदेश मिल जाता था। कभी-कभी जापानी नाविक अपने छोटे तटीय जहाजों में तूफानी थपेड़ों से बीच समुद्र में बह जाते थे और जो विदेशी जहाज इन जापानी नाविकों को वापस उनके देश पहुँचाने आते थे, उनका भी स्वागत नहीं होता था।

चीनी तट के संदर्भ में भी जापानी द्वीपसमूह की स्थिति इस प्रकार की थी कि विदेशी राज्यों से किसी भी प्रकार के संबंध रखने से उसका इनकार बहुत असुविधाजनक था। विशेषकर यदि अमरीका अपने प्रशान्त सागर के तट से वाष्प-परिचालित जहाजों में चीन से सीधा संपर्क कायम करना चाहता था तो उसे रास्ते में कोयला भरने के लिए बन्दरगाह चाहिए थे। इस काम के लिए पहले फारमोसा के संबंध में सोचा गया, किन्तु, अमरीका की नीति क्षेत्रीय आधिपत्य जमाने की न होने के कारण, यही वांछनीय समझा गया कि जापानी द्वीपों में ही कोयला भरने के अधिकार प्राप्त किये जायँ। इस प्रकार, सन् १८२५

के बाद जापान का द्वार उन्मुक्त करने में जो दिलचस्पी दिखायी गयी, उसके बड़े विशिष्ट कारण थे।

जापान की परिस्थितियों में विदेशी सरकारों की दिलचस्पी प्रकट करने वाला वह अभियान पहला ही नहीं था जो पेरी के नेतृत्व में आया। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रूस इसी प्रकार की दिलचस्पी दिखा रहा था। यह दिलचस्पी भौगोलिक समीपता के कारण थी, क्योंकि दोनों देशों का सखालीन द्वीप पर संयुक्त आधिपत्य था और रूस कुराइल द्वीपों पर भी अधिकार माँग रहा था। सन् १७९२ में एक रूसी अभियान होक्काइडो में हुआ, जिसका दिखावे के लिए तो यह उद्देश्य था कि जिन जापानी नाविकों का जहाज समुद्र में ध्वस्त हो गया था, उन्हें उनके स्वदेश में वापस पहुँचा दिया जाय, पर असली उद्देश्य यह था कि जापान सरकार से संपर्क स्थापित किया जाय। यह तथा इसके कुछ दिनों बाद, सन् १८०४ में, हुए अभियान असफल हुए।

अंग्रेजों ने भी अपनी ओर से जापान का द्वार खोलने के कई प्रयास किये। उन्होंने भी अपने अभियानों के लिए भिन्न-भिन्न बहाने बनाये, जैसे कि रसद की आवश्यकता या उस भूखण्ड का सर्वेक्षण। किन्तु उनका उद्देश्य भी देश का द्वार खोलना था और रूसियों की तरह वे भी असफल हुए। किन्तु सन् १८३३ से सन् १८६० तक चीन का द्वार खोलने के लिए विभिन्न कारवाइयाँ करने में व्यस्त रहने के कारण अंग्रेज अपना ध्यान जापान पर केन्द्रित नहीं कर सके।

ह्वेल मछलियों के शिकार के लिए जापानी समुद्र में फँस जानेवाले अमरीकियों के साथ होने वाले व्यवहार को लेकर अमरीका ने पहले जो कई प्रयास जापान से संपर्क स्थापित करने के लिए किये थे, वे कुछ बेमन से किये थे और इसीलिए वे पूर्णतः असफल रहे। पर अंततः वाशिंगटन-सरकार इस उद्देश्य-प्राप्ति के लिए संकलपबद्ध हो गयी और अभियान भेजने के पहले उसने व्यापक तैयारियाँ कीं। सन् १८४९ में डच व अन्य यूरोपीय देशों की सरकारों को अमरीकी इरादों के संबंध में लिखा गया और डचों से अभियान की सफलता के लिए परामर्श व सहायता माँगी गयी। पश्चिमी सभ्यता के अनेक लक्षणों को प्रकट करने वाली भेंटें तैयार की गयीं। पेरी को निर्देशित करते हुए अभियान के उद्देश्य बताये गये—(१) हमारे जो नाविक जहाज नष्ट हो जाने से आश्रय-विहीन हो जायँ उनकी रक्षा करना, (२) मरम्मत और कोयले के लिए बन्दरगाहों में हमारे जहाजों को प्रवेश मिले, (३) और व्यापार के लिए बन्दरगाह खोले जायँ।

कमोडोर पेरी २४ नवम्बर, १८५२, को नॉरफोक बन्दरगाह से रवाना हुए और ३ जुलाई, १८५३, को योकोहामा खाड़ी में जा पहुँचे; खाड़ी में स्थित मछवाहों के गाँव

उरागा के पास लंगर डालने के पहले उन्हें अनेक संकेत दिये गये कि वह रुक जायँ, पर उन संकेतों की उन्होंने परवाह नहीं की। भाप से चलने वाले जहाज जापानियों के लिए एक बिलकुल नया दृश्य थे और इससे वे भयभीत व विस्मयान्वित हो उठे। जब यह समाचार उरागा से चल कर शोगुन की राजधानी येडो पहुँचा तो वहाँ भी ऐसी ही घबराहट हुई। एक जापानी लेखक के अनुसार—"विदेशी आक्रमण के समाचार से येडो के नागरिकों में जो खलबली मची, उसका वर्णन कठिन है। पूरे नगर में हो-हुल्लड़ हो गया। हर दिशा में बच्चों को गोद में लिये स्त्रियाँ और माताओं को पीठ पर लादे पुरुष भाग रहे थे। फौरन हमले की अफवाहें एक मुँह से दूसरे तक बढ़ती गयीं और भयभीत लोगों को और अधिक भयत्रस्त करने लगीं। इस दस लाख से अधिक प्राणियों के नगर में योद्धाओं के घोड़ों की टापों, सशस्त्र सैनिकों के अस्त्रों की खनखनाहट, गाड़ियों की गड़गड़ाहट, आग बुझाने वाले सैनिकों के प्रस्थान का शोरगुल, लगातार घण्टे-घण्टियों के बजने, औरतों की चीखों और बच्चों के रुदन से सभी सड़कें, गलियाँ भर गयी थीं और घबराहट में गड़बड़घोटाला हो रहा था।"[१०]

उन्नीसवीं शताब्दी में सुदूर पूर्व में अमरीका द्वारा की गयी कारवाइयों की भाँति पेरी-अभियान में भी अमरीकी सरकार व उसके प्रतिनिधियों की नीतियों में अंतर करना होगा। पेरी को जो आदेश मिले थे, उनकी ध्वनि शांतिमय थी। पेरी को शक्ति अवश्य दी गयी थी, पर उसका उपयोग आत्मरक्षा में अंतिम अस्त्र के रूप में होना था। पेरी को आदेश थे कि जो कुछ प्राप्त करना है, वह शांतिपूर्ण उपायों से ही किया जाय और इस बात पर जोर दिया जाय कि एक तो अमरीका जापान का मित्र है, दूसरे अमरीका में धर्म और राज्य की सत्ताएँ अलग-अलग हैं, ताकि यदि कोई भ्रम या भय मौजूद हो कि अमरीकी सरकार की शक्ति जापानियों पर ईसाई धर्म लादने के लिए इस्तेमाल होगी तो वह दूर हो जाय, और तीसरे यह कि अमरीका प्रशान्त महासागर में शांति स्थापित होते देखना चाहता है। किन्तु, साथ ही अमरीकी सरकार का यह तर्क था कि "जापान द्वारा अपनी नीति बदले बिना और अमरीका के नागरिकों के प्रति शत्रुवत् व्यवहार के कार्य रोके बिना कोई भी मित्रता अधिक दिनों तक चल नहीं सकती।" इसके अतिरिक्त, यदि ऐसे तर्कों से जापान की वर्जना की नीति में ढिलाई न आये या नाविकों के साथ मानवीय व्यवहार का आश्वासन भी न मिले, तो पेरी को अपना रुख बदल कर बिलकुल स्पष्ट रूप से यह बता देने का आदेश था कि "इस सरकार का यह संकल्प है कि अब से जो भी अमरीकी नागरिक या जहाज जो मौसम की खराबी या तूफान से समुद्र में ध्वस्त होकर जापान के बन्दरगाहों में आ लगें, उनके साथ जब तक वहाँ रहने को उन्हें बाध्य होना पड़े, तब तक मानवीय व्यवहार किया जाय; और यदि भविष्य में उनके साथ कोई

भी नृशंसता बरती गयी, चाहे जापानी नागरिकों द्वारा और चाहे जापानी सरकार द्वारा, तो उन्हें कड़ा दण्ड दिया जायगा।"[११]

पेरी ने जहाज पर ही निश्चय कर लिया था कि जापानियों के साथ व्यवहार में वह कैसा रुख रखेंगे और इस रुख पर अडिग रहे। उन्होंने संकल्प कर लिया था कि वह "एक सभ्य राष्ट्र दूसरे सभ्य राष्ट्र से जिस सौजन्य से व्यवहार करता है, उस सौजन्यता की अधिकार रूप में माँग करेंगे, सुविधा या अनुग्रह के रूप में उसके लिए याचना नहीं करेंगे; यदि अमरीकी झण्डे के सम्मान के प्रतिकूल जापानी अधिकारियों ने कोई धमकी दी या क़दम उठाया तो वह उसकी अवज्ञा करेंगे; जापानी राजनयिक परंपरा का किसी हद तक अनुसरण करते हुए वह उन अधिकारियों को छोड़ कर किसी अन्य व्यक्ति को जहाज पर नहीं आने देंगे, जिनसे कार्यवश बात करनी हो, और उनको भी केवल झण्डा धारण करने वाले मुख्य जहाज पर ही आने देंगे और साम्राज्य के सर्वोच्च पदाधिकारियों को छोड़ कर वह स्वयं किसी अन्य व्यक्ति से विचार-विमर्श नहीं करेंगे।"[१२]

काफी हद तक इस कार्यक्रम पर अडिग रहने के फलस्वरूप ही पेरी-अभियान सफल हुआ। यदि जापानी समझौता-वार्ता नागासाकी में हटाने में सफल हो जाते; यदि पेरी उपयुक्त स्तर के अधिकारियों के आने तक अलग न रहते और नीचे के स्तर के अधिकारियों से ही समझौता वार्ता से संतोष कर लेते; यदि वह यह न समझ लेते कि कहाँ और किस हद तक अपनी स्थिति को बदलें तो जापान के द्वार का उन्मुक्त होना टल जाता। उपयुक्त स्वागत के उपरान्त सम्राट् तक अमरीकी राष्ट्रपति का पत्र प्रेषित करने के बाद पेरी ने जापान का यह अनुरोध स्वीकार कर लिया कि अमरीकी सरकार के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए कुछ समय दिया जाय। उन्होंने कहा कि अगले वसन्त में वह उत्तर के लिए फिर आ जायँगे और नागासाकी जाकर चीनी या डच प्रतिनिधियों के माध्यम से यह उत्तर लेने से उन्होंने इनकार कर दिया। इसके उपरान्त वह चीन के तट चले गये।[१३]

योकोहामा से उनके हटने के शीघ्र बाद रूसी बेड़े के नागासाकी आने और दूसरे देशों के विशेषकर फ्रांस के, बेड़ों के जापानी समुद्र में सेवा के लिए उपस्थित रहने से कमोडोर पेरी ने अपना कार्यक्रम बदल कुछ जल्दी ही जापान लौटने का फैसला कर लिया। उन्हें डर था कि यदि वह सन् १८५४ की फरवरी के बाद जापान लौटे तो कहीं रूसी व फ्रांसीसी पहले पहुँच कर समझौता न कर लें। योकोहामा पहुँच कर इस बार पेरी पिछली बार से भी आगे खाड़ी में बढ़ गये और तब लंगर डाला। इस बार उनका भव्य स्वागत हुआ और कुछ समय तक समझौता वार्ता होने के उपरान्त वह उन्हीं शर्तों पर संधि करने में सफल हो गये, जो उन्हें अमरीकी सरकार से मिले आदेश के अनुकूल थीं। कोयला लेने, रसद व भोजन सामग्री प्राप्त करने और जहाजों की मरम्मत करने के लिए नागासाकी

के अतिरिक्त दो अन्य बन्दरगाह विदेशी जहाजों के लिए खुलना तय हो गया; शिमोदा में एक वाणिज्य-दूत के निवास का अधिकार स्वीकार कर लिया गया; यह समझौता हो गया कि जिनके जहाज टूट-फूट जायँ, उन नाविकों की रक्षा होगी; और "परम मित्र राष्ट्र" का व्यवहार करने का आश्वासन प्राप्त हो गया। पेरी-संधि पच्चड़ की पतली नोक थी और इस अभियान की सफलता का लाभ उठा कर अन्य देशों ने भी संधियाँ कर लीं; इंगलैण्ड ने सन् १८५४ में ही इसी के समान संधि कर ली, रूस ने सन् १८५५ में संधि की और हॉलैण्ड ने सन् १८५५–१८५७ के बीच।

(८) पश्चिम से संपर्क-स्थापना

कमोडोर पेरी पच्चड़ ठोकने में सफल हुए थे, पर संबंधों को अधिक ठोस नींव पर स्थापित करने का काम एक अन्य अमरीकी, टाउनसेंड हैरिस ने किया। पेरी अपनी व्यवहारकुशलता, चतुरता व निपुणता के लिए स्मरणीय हैं, पर यह न भूलना चाहिए कि उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए शक्ति का भी सम्बल था। सन् १८५६ में नियुक्त वाणिज्य-दूत, हैरिस को इस प्रकार का कोई सम्बल प्राप्त नहीं था। वह एक नये देश में आये थे और ऐसे लोगों के बीच रहना शुरू किया था, जो विदेशियों के बिलकुल आदी नहीं थे और उनसे शत्रुवत् व्यवहार करते थे। उनके बीच हैरिस की हैसियत बिलकुल अलगाव की थी। कुछ वर्ष बाद वहाँ जो यूरोपीय समुदाय आ इकट्ठा हुआ था, उसका उस समय अस्तित्व भी नहीं था। जिन लोगों के बीच वह रह रहे थे और जिनसे उन्हें व्यावसायिक संबंध रखने थे, वह उनकी भाषा से भी परिचित नहीं थे; किन्तु अंततः उन्होंने इस शत्रु-भावना पर विजय पा ली और वहाँ के अधिकारियों को हैरिस के इरादों की नेकनीयती और उनके विवेक पर विश्वास जम गया। इसके भी आगे, बाहरी दुनिया से संपर्क को और व्यापक बनाने की वांछनीयता का भी विश्वास उन्होंने जापानी अधिकारियों को दिला दिया। और यह सब उन्होंने दो वर्ष के भीतर बिना किसी शक्ति-प्रयोग की धमकी दिये ही कर लिया, हाँ, जापान-सरकार के इस भय का लाभ अवश्य उठाया कि इंगलैण्ड या रूस जापानी द्वीप-समूह को जीतने या संधियों पर हस्ताक्षर कराने के लिए बाध्य करने के लिए सबल सैनिक अभियान भेज सकते हैं। इस तर्क के समर्थन में उन्होंने सन् १८५८ में टींटसीन भेजे गये अभियान और पूर्वी समुद्र में विदेशी सैनिकों की मौजूदगी का हवाला भी दिया। किसी कठिनाई के बिना ही उन्होंने जापानी अधिकारियों को यह समझा दिया कि स्वेच्छा से उनके साथ समझौते से संधि कर लेना रूसी, फ्रांसीसी या अंग्रेजी तोपों के साये में बलात् संधि कर लेने से कहीं ज्यादा उनके देश के हित में है।

जापान के द्वार उन्मुक्त होने के लिए दूसरा बड़ा कदम सन् १८५८ में उठाया गया

जब एक नयी संधि पर हस्ताक्षर हुए। पेरी ने व्यापार-संपर्क की प्रारंभिक सुविधाएँ प्राप्त की थीं। हैरिस ने जापान के बाहरी दुनिया से संपर्क और व्यवसाय को नियमित-संगठित करवाया। सन् १८५८ की संधि के फलस्वरूप जापान से जाब्ते से राजनयिक व वाणिज्य-दौत्य-संबंध स्थापित हुए; उससे चार नये बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिए खुले; इससे नये बन्दरगाह केवल जहाजों की मरम्मत के लिए ही नहीं खुले, बल्कि व्यापार के लिए भी खुल गये; और इस संधि के द्वारा अमरीका ने विदेशी राज्यों से अनबन या झगड़ा होने पर अपनी सेवाएँ जापान को प्रदान करने का आश्वासन दिया। ये सभी बातें स्पष्टतः नयी सुविधाएँ थीं, जिनसे जापान, यूरोप और अमरीका का बहुत भला होता। संधि की तीन शर्तें जापान के लिए इतनी लाभकर नहीं थीं। लगभग इसी समय चीन से हुई संधियों का दृष्टान्त लेकर पेरी ने संधि में जो शर्त रखी, उसके अनुसार जापान में आने और वहाँ से जाने वाले सामान पर शुल्क-दर निश्चित हो गयी, जो कुछ समय तक जापान के हित में नहीं रही, क्योंकि चीन की भाँति ही जापान अपने कानून के द्वारा व्यापार-संबंध नियंत्रित करने के अधिकार से वंचित हो गया था और भविष्य में होने वाली उसकी आय कम हो गयी थी। संधि के अनुसार जो महसूल निश्चित हुआ था, उससे अमरीका को यूरोपीय व्यापार के मुकाबले में अधिक लाभ था। बाद में इंगलैण्ड, फ्रांस व हॉलैण्ड ने भी अपने महसूल अमरीकी दरों के बराबर कम करा कर स्थिति सुधार ली। किन्तु यह जापान के लिए हानिकर था, क्योंकि विदेश से व्यापार से उसकी आय कम हो गयी थी। दूसरे हैरिस के विवेक के विरुद्ध ही, संधि में राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली स्थापित करने की शर्त भी शामिल हो गयी थी। और, तीसरे संधि द्वारा यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि विदेशी मुद्रा जापान में प्रवेश पा सकेगी और उसका खुला विनिमय हो सकेगा और जापानी मुद्रा का निर्यात हो सकेगा। इस शर्त से विनिमय का बड़ा सट्टा हुआ, जापान का सोना-चाँदी काफी बड़ी मात्रा में बाहर चला गया और जापान को गंभीर क्लेश और कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह सच है कि जापानी अधिकारियों को ये शर्तें संधि में रख लेने की सलाह दे कर हैरिस ने सद्भावना से ही काम लिया था और शुरू में ये प्रतिबन्ध अस्थायी रूप से जापान के हित में भी सिद्ध हो सकते थे। किन्तु देश के पुनस्संगठन के उपरान्त जापान को इन शर्तों से बड़ा अपमान और कष्ट सहना पड़ा और इन शर्तों के कारण ही उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ।

(९) एकान्त समाप्ति के आंतरिक प्रभाव

जब पेरी ने जापान का दरवाजा इतने जोर से खटखटाया कि जापान सरकार उसे अनसुना न कर सकी, शोगुन के लिए बड़ी कठिन समस्या उठ खड़ी हुई। जैसा कि ऊपर

कहा जा चुका है उनकी शक्ति लगातार क्षीण हो रही थी, और इस तथ्य की स्वीकृति से कि सम्राट् ही देश का अधिकारी शासक है, सम्राट् की स्थिति मजबूत हो रही थी। एकान्त की नीति तोकूमावा ने शुरू की थी, किन्तु लगातार जारी रहने के कारण वह राष्ट्रीय नीति बन चुकी थी और पूर्व दृष्टान्तों के विपरीत इसे सम्राट् की भी स्वीकृति मिल गयी थी; यह स्वीकृति सम्राट कोमेई ने दी थी, जिनका शासन पेरी-अभियान से आठ वर्ष पहले आरम्भ हुआ था। सन् १८४६ में कोमेई सम्राट् बने और उन्होंने शीघ्र ही बाद शोगुन को आदेश दिया कि एकान्त की परंपरागत नीति जारी रहनी चाहिए। यद्यपि यह कार्य अभूतपूर्व था, किन्तु यह सम्राट् को पुनः शक्ति देने की नयी प्रवृत्ति के अनुकूल ही था। इस प्रवृत्ति की माँग थी कि येडो-शासन के कार्यों की सावधानी के साथ देख-भाल की जाय। जब विदेशी संपर्क का प्रश्न और अधिक टाला न जा सका, शोगुन ने इसे सामन्ती अधिपतियों के एक सम्मेलन में विचारार्थ पेश किया। कुछ थोड़े से लोगों को छोड़ कर विशाल बहुमत परंपरागत नीति के कायम रहने के पक्ष में था। यह परामर्श सद्भावनापूर्वक ही दिया गया था, किन्तु इसके पीछे यह समझदारी नहीं थी कि इस नीति को चालू रखने में किन शक्तियों का विरोध सहना पड़ेगा और इस विरोध का सफलतापूर्वक सामना करना असंभव होगा। आंतरिक और बाह्य दोनों वस्तुस्थितियों की अधिक ठीक जानकारी होने के कारण शोगुन और येडो स्थित उनकी परिषद् अल्पमत का साथ देने को बाध्य हुए और विदेशियों की माँगें स्वीकार करने का निर्णय कर लिया गया। एक ओर, सरकार को देश पर संभव और संभाव्य आक्रमण और इस आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना करने में जापान की अक्षमता का भी विचार करना था। दूसरी ओर, शोगुन को यह भी निश्चित लग रहा था कि यदि संधियों पर हस्ताक्षर हुए तो उनके विरोधियों को उनके खिलाफ एक सबल हथियार मिल जायगा। अंततः दो बुराइयों में जो छोटी बुराई दिखायी दी, वही स्वीकार कर ली गयी।

देश के द्वार उन्मुक्त होते ही द्वैत शासन-प्रणाली की कमजोरियाँ प्रकट हो गयीं। पेरी व अन्य विदेशी प्रतिनिधियों ने जब शोगुन-शासन से संधि समझौता वार्ताएँ की थीं तब वे समझे थे कि वे सम्राट्—नामधारी व वास्तविक शासक—से बात कर रहे हैं। बाद में जब जटिल प्रश्न उठे, तब शोगुन के इस तर्क को स्वीकार करने में झिझकने लगे कि किसी भी निर्णय के पहले मसला क्योंटो में सम्राट् के सामने पेश होना आवश्यक है; वे समझते थे कि इसमें शोगुन की नीयत खराब है और वह धोखा दे रहा है। जब भी कोई मसला निर्णय के लिए क्योटो भेजा जाता, हर बार जापानी जनता को स्पष्ट हो जाता कि शोगुन उन अधिकारों का प्रयोग कर रहे हैं, जो वास्तव में सम्राट् के हैं। यही बात कि पीढ़ियों बाद पहली बार महत्त्वपूर्ण प्रश्न निर्णयार्थ सम्राट् के पास भेजे जाने लगे शोगुन

की निर्बलता की स्वीकृति थी। यदि अपने पूर्वज्ञ, इयीयसू की तरह शोगुन सम्राट् के विचार जाने बिना ही स्वयं निर्णय ले लेते और निर्णयों की सूचना भर सम्राट् के पास भेज देते तो शायद शोगुन-संस्था का अस्तित्व बना रहता। या यदि वह अपने दृष्टिकोण का औचित्य सम्राट् को समझा पाते ताकि सम्राट् का निर्णय वही होता, जो कि उचित था और जिस पर कार-रवाई होनी चाहिए थी, सन् १८५८ के बाद के वर्षों की घटनाओं का स्वरूप ही दूसरा होता।

किन्तु देश को मजबूत हाथों से नियंत्रित करने की अपनी क्षमता में सन्देह कर शोगुन ने विदेशों से संबधों के प्रश्न पर सम्राट् की अधिकारसत्ता की शरण लेकर अपनी स्थिति मजबूत करने का फैसला किया। शोगुन के दुर्भाग्यवश, क्योटो-दरबार में पश्चिमी कुलों, विशेषकर सत्सुमा और चोशू कुलों के नेताओं का बोलबाला था। ये कुल बहुत दिनों से तोकूगावा के प्रभुत्व के प्रति ईर्ष्यालु थे और उन्होंने सम्राट् पर अपने प्रभाव का उपयोग शोगुन को नीचा दिखाने में किया। विदेशियों के विरुद्ध पश्चिमी कुल निस्सन्देह थे ही, उनकी दिलचस्पी इस बात में भी थी कि विदेश-संपर्क के प्रश्न को लेकर शोगुन-संस्था को निर्बल बनाया जाय, वे उस काररवाई में दिलचस्पी नहीं रखते थे, जो जापान के लिए लाभ-दायक सिद्ध होती। फलतः संपर्क के शुरू के दिनों में, सम्राट् लगातार एकान्त की नीति कायम रखने के पक्ष में रहे और सम्राट् के आदेश-परामर्श लेने के बावजूद, शोगुन विदेशी शक्तियों के लगातार कायम रहने वाले दबाव में सम्राट् के आदेशों का उल्लंघन करने को बाध्य रहे। जब विदेशियों को शोगुन और सम्राट् के बीच के संबंधों का ठीक-ठीक पता चला, तब वे इस बात पर जोर देने लगे कि संधियों की स्वीकृति सीधे सम्राट् से मिलनी चाहिए और उनका अनुसमर्थन प्राप्त होना चाहिए। किन्तु इस माँग पर पहली संधि होने के दस वर्ष तक जोर नहीं दिया गया।

इसी बीच ऐसी कई घटनाएँ हो गयीं, जिनका जापान की आंतरिक परिस्थिति और विदेशी संबंधों पर प्रभाव पड़ा। पश्चिमी व अन्य वे सभी कुल-कबीले, जिनका हित शोगुन-संस्था के कायम रहने में निहित नहीं था, विदेशियों से शत्रुता मानते थे। स्वयं तोकूगावा कुल में मतभेद थे; शोगुन-पद रिक्त होने पर पहले तो तोकूगावा-कुल में इस बात पर मतभेद हुआ कि पद का उत्तराधिकारी कौन हो, फिर एकान्त की नीति त्यागने की वांछनीयता के प्रश्न पर मतभेद हुआ। इन सब शक्तियों के दबाव में येडो-शासन कभी गरम कभी नरम वक्तव्य देने लगा। उसने एक ओर सम्राट् को आश्वासन दिया कि जैसे ही पर्याप्त तैयारियाँ पूरी हो जायँगी विदेशियों को खदेड़ दिया जायगा। और दूसरी ओर सन् १८५९ तक येडो में आ चुके विदेशी प्रतिनिधियों को उसने आश्वासन दिया कि जनता के शान्त होते ही, वह संधियों का पूर्णरूपेण पालन शुरू कर देगा। विदेशियों से विद्वेष येडो में ही नहीं देश के अन्य भागों में भी प्रकट किया जा रहा था।

सन् १८६२ में एक घटना हो गयी, जिससे सत्सूमा कुल के लिए बात चरम सीमा पर पहुँच गयी। उस कुल के स्वामी अपने अनुचर-आश्रितों के साथ येडो से अपने क्षेत्र वापस लौट रहे थे। जिस रास्ते से वह जा रहे थे उसी पर रिचर्डसन नामक एक अंग्रेज अपने तीन साथियों के साथ घोड़ों पर सवार आ रहा था। जापान की प्रथाओं से अनभिज्ञ रिचर्डसन यह नहीं जानता था कि सत्सूमा के राजकुमार जैसे महानुभावों के लिए रास्ता छोड़ देना चाहिए और उसने सत्सूमा के अनुचरों के कहने पर भी उस जुलूस के निकल जाने तक रास्ता छोड़ने से इनकार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि रिचर्डसन की जान गयी। ब्रिटिश सरकार ने तत्काल इस मामले पर संतोष माँगा। शोगुन यह संतोष दिलाने में अनिच्छा प्रकट करने लगे या अक्षम सिद्ध हुए, तो ब्रिटिश सैनिकों की एक टुकड़ी ने सत्सूमा की राजधानी, कानोशीमा पर तोप लगा कर गोलाबारी कर दी। इस घटना से सत्सूमा-कुल को जापानी शस्त्रास्त्र की हीनता का पता चल गया और विदेशियों के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल गया। इस घटना का दूसरा निष्कर्ष यह भी निकला कि शोगुन की सैनिक निर्बलता प्रकट हो गयी; यह निर्बलता ऐसी थी कि न तो वह अपने अधीन भूस्वामी को दण्ड दे सकते थे और न उसकी विदेशियों से रक्षा कर सकते थे।

इसी ढंग से पश्चिम के एक बड़े कबीले, चोशू को समझ आयी। विदेशी विरोधी दल व दरबार के दबाव से शोगुन ने अंततः एक गुप्त आदेश जारी कर दिया था कि विदेशियों को निकाल दिया जाय। इस कारवाई के लिए जो तिथि निश्चित की गयी थी, उसके पहले ही, सन् १८६३ में, चोशू के भूस्वामी ने अपने आश्रितों को आदेश दे दिया कि उनके क्षेत्र के समुद्र तट पर विदेशी न आने दिये जायँ और शिमोनोसेकी की खाड़ी से, जो भी विदेशी जहाज आने-जाने की कोशिश करें, उन सब पर गोली चला दी जाय। सबसे पहले एक अमरीकी जहाज पर गोली चली। अमरीकियों ने तत्काल एक युद्धपोत भेजकर नगर पर गोलाबारी कर प्रतिशोध ले लिया। दूसरे व्यापारिक जहाजों पर भी गोली चलायी गयी और विदेशियों ने संयुक्त अभियान का निश्चय किया।[१४] सन् १८६४ में हुए इस अभिमान में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच व अमरीकी जहाज शामिल हुए। विदेशियों की श्रेष्ठ युद्ध शक्ति का चोशू-कुल को अब पूर्ण विश्वास हो गया और विदेशियों के दृष्टिकोण से अभियान पूर्णतः सफल रहा।

इस शक्ति-प्रदर्शन से और सम्राट् के मुख्य सहायक पार्षदों में विदेशी-विरोधी भावना कमजोर पड़ने से स्वयं सम्राट् शोगुन से एकान्त की पुरानी नीति लागू करने की माँग करने में हिचकिचाने लगे। इसी बीच विदेशी भी यह बात बहुत अच्छी तरह समझ चुके थे कि जब तक सम्राट् की सहमति न हो, उनकी स्थिति जापान में अरक्षित ही रहेगी, क्योंकि एक के बाद दूसरी, सभी घटनाओं से उन्हें विश्वास हो गया था कि जापानी शासन द्वैध था।

फलतः, सन् १८६६ में ब्रिटिश प्रतिनिधि सर हैरी पार्क्स ने प्रस्ताव रखा कि यदि सम्राट् संधियों का अनुसमर्थन कर दें तो विदेशी शक्तियों ने संयुक्त रूप से जो जुर्माना चोशू पर लगाया था उसका एक भाग वह छोड़ देंगे। यह अनुसमर्थन अंततः प्राप्त हो गया और जापान का द्वार उन्मुक्त करने का तीसरा कदम उठ गया।

इस बीच जापान की आंतरिक परिस्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। देश में अशांति थी और पुरानी व्यवस्था बदलने से आंतरिक विघटन की संभावना पैदा हो गयी थी। चोशू सम्राट् पर नियंत्रण का षड्यंत्र कर रहे थे ताकि अपने नियंत्रण में राजप बना लें और एक तरह की नयी शोगुन-संस्था कायम कर लें। यह षड्यंत्र असफल हुआ। क्योटो से शोगुन को आदेश मिला कि चोशू की इस काररवाई के लिए उसे दण्ड दिया जाय; बड़ी संख्या में सैनिक इकट्ठे कर चोशू के विरुद्ध अभियान हुआ, पर उसे पूर्ण सफलता नहीं मिली। कुछ कुलों के वरिष्ठ नेता शोगुन को गिराने के लिए एकत्र होने के प्रयत्न कर रहे थे। किन्तु जब यह एकता स्थापित हुई, दो नये व्यक्ति सामने आ गये। फरवरी, १८६७ , में विदेशी-विरोधी सम्राट् की मृत्यु हो गयी और उनकी जगह जो नये सम्राट् सिंहासन पर बैठे, उन्हें विगत शत्रुता और परंपराओं की बाधाएँ नहीं थीं। मुत्सुहितो ने सिंहासनारूढ़ होकर नया नाम मीइजी (प्रबुद्ध शासन) पाया और उन्होंने बाहरी दुनिया के सन्दर्भ में जापानी जीवन के पुनर्विन्यास की नीति अपनायी। इससे पिछले ही वर्ष शोगुन की मृत्यु हुई थी और उनके उत्तराधिकारी विदेशी संपर्क के लिए देश के द्वार पूर्ण रूप से उन्मुक्त कर राष्ट्र को और अधिक प्रगति के पथ पर ले जाने के लिए प्रस्तुत थे।

नये सम्राट् के सिंहासनारूढ़ होने से पश्चिमी कुलों को शोगुन-संस्था की समाप्ति के अपने लक्ष्य की पूर्ति का एक तर्कसंगत अवसर मिल गया। फलतः सन् १८६७ की शरद् ऋतु में सत्सूमा, चोशू, रोसा तथा हिज़ेन-कुलों की ओर से नये शोगुन को एक संयुक्त स्मृतिपत्र दिया गया, जिसमें अनुरोध किया गया था कि वास्तविक शक्ति-सत्ता फिर से सम्राट् के हाथों में आ जाय। इन सबल पश्चिमी कुलों ने बाहर के लगातार दबाव के समय द्वैध शासन-पद्धति में निहित संकट के तर्क पर बहुत बल दिया। नये शोगुन भी उस पद में चिपटे रहने की प्रवृत्ति वाले नहीं थे, जिसके साथ इतनी चिन्ताएँ और परेशानियाँ लगी हों और इस स्मृतिपत्र के उत्तर में उन्होंने शोगुन पद ही छोड़ दिया।

इससे शोगुन-संस्था तो समाप्त हो गयी, पर उससे संवद्ध समस्याओं का अंत नहीं हुआ। सम्राट को सभी अधिकार व शक्तियाँ वापस मिलने का नतीजा यह होना चाहिए था कि सिंहासन के समक्ष सभी कुल-कबीले समान होंगे; सरकारी पद सभी कुलों में बराबर बँट जायँगे, शाही अनुकम्पाएँ निष्पक्ष रूप से सभी को प्राप्त होंगी। कम-से-कम शोगुन को यही आशा थी, नहीं तो वह अपने कुल के हितों को भविष्य में सुरक्षित कराये बिना कभी

इस्तीफा न देते। किन्तु पश्चिमी कबीलों के विचार भिन्न थे। उनकी नीअत देशभक्तिपूर्ण व निष्पक्ष भले ही रही हो पर उनके काम से नीअत की इस सफाई का समर्थन नहीं हुआ। तोकूगावा पीछे धकेल दिये गये और शासकीय पदों पर पश्चिमी कुलों की इजारेदारी हो गयी। स्थिति कुछ वैसी ही थी, जैसी बहुत दिनों तक बहुमत में रहकर किसी राजनीतिक दल के अमरीका में शासन से हट जाने में होती है। नवागन्तुक शक्ति के भूखे थे और स्वभावतया इतने दिनों की लम्बी प्रतीक्षा के लिए इनाम चाहते और माँगते थे। तोकूगावा की इजारेदारी शुरू हुए ढाई सौ वर्ष हो चुके थे और अब जो शासन में आये थे, अपनी बार में इस अवसर का लाभ उठा कर हर जगह अपना पूरा नियंत्रण कर लेना चाहते थे।

जो कुछ भी इंगित संकेत मिलते हैं, उनसे स्पष्ट है, कि "मीइजी को अधिकार वापस मिलें" आंदोलन के प्रणेताओं के मन में शोगुन के स्थान पर सम्राट् का व्यक्तिगत शासन स्थापित करने का कोई इरादा नहीं था। वे केवल सम्राट् के 'परामर्शदाता' के पद से शोगुन को हटाना चाहते थे। जब पुराने शोगुन के अनुयायियों ने यह स्थिति देखी, तब उन्होंने अपने हितों की रक्षा के लिए हथियार उठा लिये। नये शासन ने इस विद्रोह का आसानी से दमन कर दिया और सन् १८६९ तक उनका विरोध हर ओर से समाप्त हो गया। सम्राट् की अधिकार-सत्ता की पुनस्संस्थापना हो चुकी थी और चार पश्चिमी कुल शासन का पूर्ण नियंत्रण कर रहे थे।

पाँचवाँ अध्याय

जापान, संक्रमण काल में (१८६८-१८९४)

(१) मीइजी की पुनस्संस्थापना

शोगुन के इस्तीफे के बाद सम्राट् के पूर्ण अधिकार पाने से विगत व्यवस्था का एकाएक अंत नहीं हो गया। सामन्ती व्यवस्था जैसी की तैसी बनी रही। पुनस्संस्थापन-आंदोलन का आदर्श पुरानी नीतियों व परिपाटियों पर लौटने का भी था और साथ ही यूरोप से आये नये विचारों के आधार पर देश के पुनस्संगठन का भी; और सम्राट् को भौतिक शक्ति दिलाने के पीछे जो लोग थे, वे समझते थे कि आंदोलन का अर्थ तोकूगावा की जगह उनके अपने शासन से था। पुरानी परंपरा से एक बड़ा विच्छेद तब हुआ था, जब शोगुन और उनके सलाहकारों ने एकान्त की नीति त्यागी थी; और एक बड़ा विच्छेद तब हुआ था, जब सम्राट् मीइजी व पश्चिमी कुलों के नेताओं ने विदेशियों को क्योटो आने दिया था और विदेशी-विरोधी नीति समाप्त हुई थी। परराष्ट्र-नीति में आमूल परिवर्तन हुए थे, किन्तु आंतरिक व्यवस्था सुधरनी थी और संक्रमण की धीमी प्रक्रिया के फलस्वरूप एक नयी व्यवस्था का विकास होना था। कई महत्त्वपूर्ण बातों में यह संक्रमण आज भी स्पष्ट है; किन्तु, इसका उल्लेखनीय प्रारंभ मीइजी के पुनस्संस्थापन के पहले बीस वर्षों में हुआ था। इस अध्याय में उसी प्रारम्भ का वर्णन अभीष्ट है।

शोगुन के इस्तीफे के बाद तोकूगावा की जगह अपना शासन चलाने, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सम्राट् द्वारा शासन संचालन में उनके मुख्य सलाहकारों के रूप में तोकूगावा कुल को हटा कर स्वयं बैठ जाने में अब पश्चिमी कुल स्वतंत्र थे। तोकूगावा-कुल ने अन्य कुलों के समान स्तर पर आने के जो प्रयत्न किये, वे तोकूगावा-विद्रोह का दमन करनेवाले नये गुट की शक्ति के समक्ष विफल हो गये। किन्तु शोगुन-संस्था का स्थान लेने के लिए कोई नयी प्रणाली आवश्यक थी, क्योंकि यह गुट बहुत समय तक सत्ता में रहने का इच्छुक था। कई कुलों की अस्थायी मैत्री के कारण ही शोगुन न इस्तीफा दिया था और यह मैत्री या तो कायम रखनी थी या उसके स्थान पर कोई अन्य स्थायी व्यवस्था होनी थी।

यद्यपि नया शासन विगत की नींव पर ही खड़ा था, इसके निर्माण पर पश्चिम के उन विचारों का स्पष्ट प्रभाव था, जिनकी समझ धीरे-धीरे हुई थी। पश्चिम की विशिष्ट देन भी शासनतंत्र के अंग के रूप में विधायिनी परिषद् का विचार। राजनीतिक प्रयोगों के अनेक वर्षों में जो अनेक परिवर्तन हुए, उनमें जापानी प्रणाली में लगातार अभ्यानुकूलनों द्वारा इस विचार के समावेश का प्रयत्न स्पष्ट है। और यह भी संक्रमण-प्रक्रिया का ही एक अंग था, जिसकी ओर अब ध्यान देना उपयुक्त होगा।

सन् १८६९ से सन् १८८९ तक नयी शासन-पद्धति के संगठन और पुनस्संगठन के लिए उठाये गये कदमों का विशद् वर्णन अनावश्यक है; केवल संक्षेप में उस ओर संकेत कर देना पर्याप्त होगा। नये सम्राट् ने शुरू से ही सत्सूमा, चोशू, हीज़ेन व टोसा-कुलों (जिन्हें साचो-हीटो गुट कहते थे) के सलाहकारों के मार्गदर्शन पर चलना आरम्भ कर दिया था।[1] उनके निर्देशन में एक केन्द्रीय संगठन का जन्म हुआ, जिसमें दरबार व क्षेत्रीय भू-स्वामियों दोनों का उपयोग हो जाता था। सच्ची शासन सत्ता जिनके हाथ में थी वे नेता सामने नहीं आते थे और प्रमुख पदों पर दूसरों को आने देते थे।

डाक्टर मैकगवर्न ने लिखा है : सम्राट् व कूमे उत्सुकतापूर्वक फिर से सत्ता पाने की बाट देख रहे थे और बहुत दिनों से छिने सभी विशेषाधिकारों का पूरा उपयोग करने के लिए संकल्पबद्ध थे। सामन्ती भूस्वामी या दाइम्यो, जो इस परिवर्त्तन के लिए उत्तरदायी थे, समझते थे कि पद फल पाना उनका अधिकार है; और चूंकि दोनों पक्ष शक्तिशाली भी थे और क्षमतावान् भी, दोनों को ही बड़े-बड़े नाम वाले पद और उपाधियों से संतुष्ट करना था, किन्तु साथ ही उन्हें इस स्थिति में रखना था कि वे राज्य के वास्तविक मालिक, सामुराई अहल्कारों की नीतियों में हस्तक्षेप न कर सकें।[2]

यह कठिन काम केन्द्रीय शासन में तीन पद बनाने से संपन्न हुआ। पहला पद था सर्वोच्च अधिकारी (सोसाइ) का जो सम्राट् के निकट संबंधी को मिलता था; दूसरा पद प्रथम श्रेणी के पार्षदों (गी जो) का था, जिनमें आधे दरबारी कुलीन वर्ग (कूगे) के होते थे और शेष आधे प्रमुख कुलों के (दाइम्यो) क्षेत्रीय भूस्वामियों के। इस परिषद् का काम अंशतः विधायकों का था और अंशतः शासकों का। तीसरा पद था दूसरी श्रेणी के पार्षदों (सान्यो) का, जिसमें पाँच कूगे और पन्द्रह सामुराई होते थे। ये दोनों परिषदें सोसाइ के अधीन होती थीं। सम्राट् के पुनस्संस्थापन में जो लोग सबसे प्रमुख थे, वे सोसाइ के कार्यालय में छोटे पदों पर लग गये थे, किन्तु, शुरू से ही वे ही वास्तविक शक्ति का उपयोग कर रहे थे। यह संगठन जिस वर्ष (सन् १८६८) बना उसी वर्ष बदल भी दिया गया। इन तीनों पदों के अधिकार विधायिनी परिषद् (दाइजोक्वान) को हस्तांतरित हो गये; इसके दो सदन थे। राज्य-परिषद् या उच्च सदन में गीजो व सान्यो थे और

विधान सभा या निम्न सदन में सामन्ती वर्ग के प्रतिनिधि थे। असली शक्ति राज्य-परिषद् में निहित थी, विधान सभा केवल उन्हीं विषयों पर विचार करती थी जो राज्य-परिषद् उसके पास भेज देती थी। इसके अतिरिक्त राज्य के दो मुख्य मंत्रियों तथा उनके अधीन अधिकारियों की व्यवस्था की गयी थी; ये मंत्री दाइजोक्वान और दरबार से संपर्क का काम करते थे। इस संगठन का एक लाभ यह था कि शक्ति एक ही संगठन में केन्द्रित थी और दूसरा लाभ यह था कि सन् १८६८ में सम्राट् ने सार्वजनिक कार्यों के प्रशासन में परामर्श लेने की जो शपथ ली थी वह भी पूरी हो जाती थी।[3]

(२) सामन्ती व्यवस्था का अन्त

दाइजो क्वान के माध्यम से कार्य करने वाले इस नये शासन को कई महत्त्वपूर्ण व कठिन समस्याओं का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी और तात्कालिक आवश्यकता थी सारे देश में इसकी सत्ता की स्थापना की। इसमें सामन्तवाद की पूरी समस्या बाधा बन कर सामने आ गयी। जब तक सामन्ती सरदार शाही शासन और व्यक्तियों के बीच थे तब तक सत्ता का प्रभावकारी केन्द्रीकरण हो ही नहीं सकता था।

तोकूगावा के पतन के बाद उनकी सम्पत्ति और भूमि का प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार ने सम्हाल लिया था। इसे छोड़ दें तो सामन्ती व्यवस्था जैसी-की-तैसी अछूती मौजूद थी। सत्ता के केन्द्रीकरण की दिशा में पहला कदम सन् १८६८ में उठाया गया, जब यह आदेश जारी हुआ कि हर सामन्ती सरदार के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार का एक अधिकारी रहेगा। इससे केन्द्रीय सरकार का प्रभावक्षेत्र हर जगह नहीं बढ़ा, क्योंकि प्रशासन-अधिकार मूल कुल-नेताओं के ही हाथों में अब भी था। इससे केवल इतना हुआ कि ये कुल-नेता केन्द्रीय शासन की मौजूदगी के आदी होने लगे। दूसरा कदम सन् १८६९ में उठाया गया, जब पश्चिमी कुलों के कीडो, साइगो, व अन्य नेताओं ने, केन्द्रीय सरकार को सशक्त बनाने की आवश्यकता स्वीकार कर, सत्सूमा, चोशू, हिज़ेन व टोसा कुल नेताओं को इस बात पर राजी कर लिया कि वे अपने-अपने क्षेत्रों की भूमि व आबादी के नक्शे व पंजियाँ सम्राट् के सिपुर्द कर दें; इस प्रकार सम्राट् के अधिकार इन क्षेत्रों पर स्पष्ट रूप से जम गये। इससे ये नेता खुले आम केन्द्रीकरण की नीति के समर्थक साबित हो गये और सरकार कुछ महीने बाद शेष सभी कुलों से ये कागजात ले सकी। इसके साथ ही यह घोषणा कर दी गयी कि कुल नेता अपने-अपने क्षेत्रों के राज्यपाल की हैसियत से कायम रहेंगे। सन् १८७१ में सामन्तवाद के अंत की विधिवत् घोषणा शाही सरकार द्वारा कर दी गयी।

विशेष अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त किसी भी वर्ग से ये अधिकार व सुविधाएँ वापस

ले लेना सामान्यतः आसान काम नहीं होता और जापानी सामन्ती सरदारों द्वारा इन्हें राष्ट्र के लिए सहर्ष त्याग देने की देशभक्ति की चरमसीमा के रूप में समझा जाता रहा है। सामन्ती सरदारों का यह त्याग निस्सन्देह प्रशंसनीय और देशभक्तिपूर्ण था, किन्तु इसके पीछे केवल मात्र देशभक्ति की ही भावना रही हो ऐसी बात नहीं है। केन्द्रीय व प्रान्तीय शासनों के 'मस्तिष्क' सामन्ती कुलीनों का नहीं सामुराई वर्ग का था। अपने-अपने क्षेत्रों में दाइम्यो बहुत दिनों से नाममात्र के ही स्वामी थे। सामन्तवाद की समाप्ति में अपने बुद्धि-वैभव के प्रयोग के लिए व्यापक अवसर देख कर इस सामुराई वर्ग ने चार सबल पश्चिमी कुलों के नेताओं को स्वेच्छा से क्षेत्रीय अधिपतियों के अपने पदों को त्याग देने को राजी कर लिया। विदेशी संपर्क की टक्कर में जापान की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए केन्द्रीय शासन में अधिकाधिक सत्ता निहित करने और सामन्तवाद की समाप्ति की वास्तविक आवश्यकता की स्वीकृति से यह राजीनामा और भी प्रभावकारी हो गया। दूसरे शब्दों में, स्वार्थ और राष्ट्रहित, दोनों की दृष्टि से यह कदम उपयुक्त हो गया। चार सशक्त कुलों की सैन्य-शक्ति द्वारा समर्थित सरकारी आदेश मानने के सिवा अन्य कुलों को कोई और चारा भी नहीं था।

इसके अतिरिक्त, इन विशेषाधिकारों की समाप्ति के समय जो समझौते हुए, उनमें दाइम्यो के हितों की सुरक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी गयी थी। दाइम्यो और सामुराई के बीच हुए इन समझौतों का रूप भारी-भारी पेंशन देने का था। अपनी-अपनी सांकेतिक मालगुजारी का दाइम्यो को दशमांश और सामुराई को आधा अंश मिलने की व्यवस्था हुई।[६] चूंकि दाइम्यो की सांकेतिक मालगुजारी उनकी असली आय से कहीं ज्यादा होती थी इस व्यवस्था में उन्हें निश्चित रूप से लाभ था। उन्हें अब अपने पास से प्रान्तीय प्रशासन व्यय-भार नहीं उठाना पड़ता था और सरकार से मिली पूरी धनराशि वे अपने ऊपर खर्च करने को स्वतंत्र थे। चावल के उत्पादन व मूल्य पर अब उनकी आय घटती-बढ़ती भी नहीं थी।

इस समझौते से जहाँ दाइम्यो का आर्थिक लाभ हुआ, वहीं सामुराई इस सिद्धान्त के लागू होने से घाटे में रहे। उनकी वास्तविक व सांकेतिक आयों में इतना अंतर नहीं था; वे लगभग बराबर ही होती थीं, और उनके भरण-पोषण के लिए मुश्किल से पूरी पड़ती थीं। इस आय के भी आधे हो जाने से निश्चय ही अनेक सामुराइयों को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। यह सही है कि वे अपनी आय में वृद्धि करने को स्वतंत्र थे; लेकिन जो वर्ग पीढ़ियों से बिना कोई काम किये खाता रहा हो, उसका तत्काल आजीविका के कामों में लग जाना कठिन था। फिर, सामन्तवाद के अंत से केवल उनकी आय ही कम नहीं हुई थी, उन्हें मिली विशेष सुविधाएँ व विशेष अधिकार भी उनसे छिन गये थे, जैसे कि

दो तलवारें एक साथ धारण करने का अधिकार, जिससे वे आम जनता से अलग पहचाने जाते थे। इस प्रकार सामुराई-वर्ग में शुरू से ही असंतोष व्याप्त हो गया था, किन्तु वे बड़-बड़ाने के सिवा कुछ कर भी न सकते थे। स्वामिभक्ति और निष्ठा ही उनकी जन्मजात परंपरा थी और सम्राट् के अब पवित्र हस्ताक्षरों से जारी और दाइम्यो द्वारा स्वीकृत आदेश के विरुद्ध विद्रोह उनकी कल्पना में भी नहीं आता था। इसके अतिरिक्त, सम्राट् के अधिकारों की पुनस्संस्थापना और सामन्तवाद की समाप्ति के बीच के वर्षों में उनका अपनी विशेष स्थिति का औचित्य भी डिग चुका था। जनता के दृष्टिकोण में परिवर्तन के फलस्वरूप ही उनकी मानसिक स्थिति घबराहटभरी थी। "जिस सीमा तक भी आम जनता राजनीति में दिलचस्पी लेती थी, उस समय के सीमित समाचारपत्रों में प्रकाशित प्रेरित उस लेखमाला से वह प्रभावित हो चुकी थी, जिसमें सामुराई-वर्ग को हराम की कमाई खानेवाला निठल्ला परजीवी वर्ग बताया गया था।"[५] और आम जनता के दृष्टिकोण से सामुराई-वर्ग पर प्रभाव पड़ता ही।

किन्तु परिस्थिति के विश्लेषण से प्रकट होगा कि सामन्ती प्रथा की समाप्ति की सफलता अंततः आधुनिक शस्त्रास्त्र से सुसज्जित, हर वर्ग से अनिवार्य रूप से भरती की गयी तथा चार सबसे जबरदस्त कबीलों की सहायता प्राप्त करने वाली उस सेना की सरकारी शक्ति पर निर्भर थी, जो इस आदेश के हर विरोध को कुचल देने में समर्थ थी।

सामन्ती कुलीनों व सामुराई को पेंशनें देने की—कुछ को पीढ़ी-दर-पीढ़ी और कुछ को आजीवन पेंशनें देने की—योजना से सरकार पर ऐसा असाधारण आर्थिक बोझ आ पड़ा, जिसे वहन करने को वह बिलकुल तत्पर नहीं थी। वास्तव में सरकार के साधारण खर्च ही जिस तेजी से बढ़ रहे थे, उस तेजी से आय नहीं बढ़ रही थी, और विदेशियों से हुई संधियों के कारण तटकर बढ़ाने से मजबूर सरकार इस बढ़ते हुए खर्च को जनता पर सीधे कर बढ़ा कर ही पूरा कर रही थी। सन् १८७१ में संधियों के पुनरीक्षण की कोशिश की गयी, पर पुरानी संधियों द्वारा मिले व्यापारिक लाभ की स्थिति को छोड़ने के लिए विदेशी शक्तियाँ तैयार नहीं थीं। फलतः सरकार उसी कर-प्रणाली से अपना काम चलाने के लिए अधिक आय ढूँढ़ने को बाध्य थी, जो बिलकुल लचीली नहीं थी। जब बढ़ते हुए साधारण खर्च में पेंशनों का असाधारण बोझ जुड़ गया, तब समस्या एकदम जटिल हो गयी और ऐसा लगने लगा कि इसका निराकरण असंभव है।

अंततः सन् १८७३ में वित्तमंत्री काउण्ट ओकूमा ने स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक एक इष्टसाधक उपाय यह निकाला कि पेंशनें कम कर दी जायँ। उनकी सिफारिश पर पहले केवल छोटे सामुराई-वर्ग पर वैकल्पिक रूप में यह योजना चलायी गयी। यह घोषणा की गयी कि १०० कोकू या इससे कम चावल पानेवाले सामुराइयों की पेंशनें

"सरकार अगली फसल आने पर चावल की बाज़ार-दर पर एकमुश्त दे देने को तैयार है; यह अदायगी आधी नकद और आधी आठ प्रतिशत व्याज वाले सरकारी ऋण-पत्रों के रूप में होगी; जिन्हें पैतृक पेंशनें मिलती हैं, उन्हें इस एकमुश्त अदायगी में छः वर्ष और आजीवन पेंशन पानेवालों को चार वर्ष की आय प्राप्त होगी।"[६] सन् १८७६ में कुछ संशोधनों के साथ यह वैकल्पिक योजना अनिवार्य रूप से लागू कर दी गयी।[७] अनिवार्य रूप में इस योजना से सामुराई-वर्ग पर सचमुच बड़ी आर्थिक कठिनाई आयी और उस वर्ग में बड़ा असंतोष फैला। वास्तव में यह योजना पहले दिये गये वचन और समझौते को अंशतः रद कर देने और उससे मुकर जाने के सिवा कुछ भी नहीं थी और इस दृष्टि से वह अनुचित भी थी। पर, इससे सरकार को आर्थिक कठिनाई से छुटकारा तो मिला ही और कुछ व्यक्तियों पर आयी कठिनाइयों के बावजूद देश के हित में यह आवश्यक इष्ट-साधक था।

(३) अहलकारी समाज में मतभेद

सरकार के समक्ष जो दूसरी बड़ी समस्या थी वह स्वभाव से बिलकुल भिन्न होते हुए भी सामान्य नीति से ही संबंधित थी। पुनस्संस्थापना के फौरन बाद इस आंदोलन के समर्थकों में फूट पड़ गयी। एक गुट पहले से ही शाही नेतृत्व में प्रसारवादी सिद्धान्त का प्रचार कर रहा था। सामुराई-वर्ग के बड़े समुदाय में इससे "अतिराष्ट्रीय" भावनाएँ उदय हुई थीं। पुनस्संस्थापन के पूर्व सारा प्रचार राष्ट्रवादी था और ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय देशभक्ति की अभिव्यक्ति शाही प्रसारवाद की दिशा में होना कुछ विलक्षण नहीं था। जो भी हो, सम्राट् के अधिकार प्राप्त करने के बाद जो समुदाय सत्ता नियंत्रित कर रहा था उसमें एक गुट "सैनिक अहलकारों" का भी था, जो विदेशों से युद्ध ठान कर देश को एकता के सूत्र में बाँध कर सशक्त करने की सोचते थे। इस गुट के संबंध में डाक्टर मैकगवर्न ने लिखा है—

....सैनिक अहलकारों को प्रतिक्रियावादी कहा जा सकता है, वे पुनस्संस्थापना को विगत में लौटने की दिशा में एक कदम मानते थे, पश्चिम से आये विचारों को वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे, सामन्ती प्रथा के अंत से उन्हें दुःख था, सामाजिक सुधारों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी और वे एशिया महाद्वीप में जापान के प्रसार की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे, वे कोरिया, मंचूरिया व साइबेरिया व चीन के बड़े भाग हड़पना चाहते थे। वे देश की अतिशय राष्ट्रीय भावना को उकसाते थे और पश्चिमी विदेशियों से हुई संधियों के प्रति उनका दृष्टिकोण असहिष्णुता का था। दाइम्यो व सामुराई-वर्ग के बड़े भागों की यही प्रचलित मनोवृत्ति और भावना थी, और शासकीय अल्पतंत्र में

यह मनोवृत्ति साइगो ताकामोरी, गोटो, सोयेजीमा व ईटो में परिलक्षित होती थी। दूसरा पक्ष या नागरिक अहलकारी वर्ग पुनर्निर्माण, सुधार, संस्कृति के समावेश, कुशलता और पश्चिमी तरीकों के पक्ष में था। वह साम्राज्यवादी प्रसार और सैन्यवाद का विरोधी था। वह शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय के विकास, वैज्ञानिक अन्वेषण-अनुसंधान को प्रोत्साहन व कानूनों को संहितकरण के पक्ष में था।. . . .यह वर्ग नये शासन का मुख्य पोषक था और इस शासन के प्रारम्भिक काल में सरकार को दिशा देनेवाला दल था, इसके नेता थे कीडो, ओकूबो और बाद में इटो।

सरकार में इन दोनों गुटों की सिद्धान्तों के आधार पर पहली टक्कर सन् १८७१ के बाद हुई। उस वर्ष लू चू द्वीप-समूह के कुछ लोग जहाज पर चले और फारमोसा के दक्षिणी तट पर उनका जहाज टकरा कर ध्वस्त हो गया; वहाँ के जंगली लोगों ने इन्हें मार डाला। लू चू को चीन और जापान दोनों अपना-अपना करद राज्य मानते थे। जापान ने फौरन अपने इस दावे को पेश किया और इन हत्याओं के लिए चीन से हरजाना व संतोष माँगा। चीन ने इस दावे को इस आधार पर ठुकरा दिया कि दोनों क्षेत्र—लू चू व फारमोसा—उसी के अधिकार क्षेत्र में हैं। जब जापान अपनी माँग पर अड़ा रहा, तब चीन ने अपनी स्थिति बदली और कहा कि दक्षिणी फारमोसा के निवासियों पर उसका कोई प्रभावकारी नियंत्रण ही नहीं है; इस प्रकार चीन ने जापान को स्वयं यह आमंत्रण दे डाला कि वह आकर स्वयं अपनी शिकायत दूर कर ले। जापान में जो सैनिक दल था उसने चीन के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने की माँग उठायी; चीन से शह पाकर कोरिया ने जापान के प्रति जो रुख अपनाया था, उससे इस माँग ने जोर पकड़ लिया। सैनिक दल ने तत्काल कोरिया-अभियान की माँग की। उस समय "शान्ति और आंतरिक प्रगति" दल के नेता विदेश में थे और सैनिक दल मजबूत पड़ रहा था। संघर्ष उसी समय छिड़ जाता यदि सम्राट् इस बात पर जोर न देते कि राजकुमार इवाकूरा के नेतृत्व में कीडो व ओकूबो जैसे बड़े नेताओं के प्रतिनिधिमण्डल के विदेश से लौटने के पहले इस प्रश्न पर कोई फैसला न लिया जाय। प्रतिनिधिमण्डल की वापसी पर अहलकारी समाज में भीतर-ही-भीतर जमकर संघर्ष हुआ और यद्यपि शांति-दल की जीत हुई पर संयुक्त शासन कायम रखने के फैसले पर ही यह जीत हुई। परामर्शदाताओं में मतभेद और व्यापक सुधारों के श्रीगणेश से उत्पन्न अशांति के फलस्वरूप अनेक उपद्रव व छोटे-मोटे विद्रोह हुए। सरकार ने शांति-स्थापना की दृष्टि से, अंततः अतिराष्ट्रवादियों से यह समझौता कर लिया कि चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा तो नहीं होगी पर दण्ड देने के लिए एक अभियान फारमोसा के विरुद्ध होगा। यह काररवाई यूरोप व अमरीका द्वारा पेश उस दृष्टान्त के अनुरूप ही थी जो उन्होंने लगभग समान परिस्थितियों में चोशू और सत्सूमा के विरुद्ध कदम उठाकर

दिया था। यह काररवाई फारमोसा में हुई एक ऐसी ही अन्य घटना के संबंध में अमरीकी अभियान की अनुकृति भी थी। इस समझौते से टोकियो में अस्थायी रूप से शासन में सौहार्द तो बढ़ा, पर, इसका एक दुर्भाग्यपूर्ण फल यह भी हुआ कि कीडो की सेवाओं से सरकार वंचित हो गयी ; इस नीति को मानने की जगह कीडो ने इस्तीफा दे दिया।

शांति-समर्थकों की, दण्ड-अभियान के बाद के निर्णय से सीमित, विजय से सरकार को आंतरिक पुनस्संगठन और सुधार के अपने कार्यक्रम को पूरा करने का अवसर मिला। किन्तु इस कार्यक्रम की विवेचना के पहले परराष्ट्र-संबंधी एक अन्य घटना का विवरण देना यहाँ उपयुक्त होगा। फारमोसा की घटना के शीघ्र बाद, बाहरी संघर्ष का एक सूत्र उभर आया ; इस बार यह कोरिया में हुआ। मुत्सुहितो के सिंहासन पर बैठने के समय कोरिया सरकार को इसकी सूचना दी गयी थी और उससे जापान के प्रति अपनी निष्ठा जारी करने को कहा गया। कोरिया ने पराधीन राज्य की यह स्थिति जारी रखने से इनकार कर दिया और सन् १८७५ में, कोरिया सागर में पैमाइश व सर्वेक्षण करते हुए एक जापानी जहाज पर कोरिया के एक किले से गोली चलायी गयी। जापान के सैनिक दल को इससे प्रोत्साहन मिला और युद्ध होते-होते बचा; कोरिया-सरकार ने जापान के साथ व्यापार और शांति की संधि कर ली।

किन्तु जापानी सैनिक-दल को इससे पूर्ण संतोष नहीं हुआ, क्योंकि वह तो एक पड़ोसी राज्य के विरुद्ध युद्ध छेड़कर उसे जीतने की आशा कर रहा था। फलतः, सामुराई-वर्ग की शिकायतों की सूची में एक और शिकायत जुड़ गयी। पेंशनों के अनिवार्य रूप से कम किये जाने की घोषणा ने चिनगारी का काम किया। साइगो टाकामोरी, जिन्होंने सन् १८७२ में शांति-दल की जीत के बाद सरकार से इस्तीफा दे दिया था, सन् १८७७ में असंतुष्ट सत्सूमा सामुराई-वर्ग का नेतृत्व करते हुए सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर बैठे। इन विद्रोही सामुराइयों ने जो रुख अपनाया, उससे सम्राट् की पुनस्संस्थापना के आंदोलन का सामंती स्वरूप प्रकट हो जाता है। विद्रोह के समर्थन में तर्क यह दिया गया कि सम्राट् को उनके अधिकार दिलाने के लिए फिर हथियार उठाना जरुरी हो गया। सरकार और सम्राट् के बीच बड़ी सावधानी से भेद किया गया और सामुराइयों ने यह दिखाने की कोशिश की कि जिस तरह शोगुन-काल में होता था, सरकार ने सम्राट के अधिकार हड़प लिये हैं और सम्राट् इन अधिकारों से वंचित हो गये हैं। किन्तु,वास्तव में सामुराई लड़ इसलिए रहे थे कि सम्राट् के परामर्शदाताओं को उनकी जगह से हटा कर वह जगह स्वयं ले लें। राष्ट्रीय अनिवार्य भरती वाली सेना सामुराई उपद्रव के दमन के लिए भेजी गयी और सामुराई उसके सामने टिक नहीं सके; विद्रोह की समाप्ति के बाद सम्राट् और सरकार के बीच का सैद्धान्तिक भेद का प्रश्न

भी टल गया; यह प्रश्न फिर सन् १९३० में उठाया गया। सरकारी सेना की सफलता से सामन्ती प्रथा भी अंतिम रूप से समाप्त हो गयी और इससे शांतिमय विकास के समर्थकों को अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का अवसर मिल गया।

विद्रोही सामुराइयों की यह धारणा सही थी कि पुनस्संस्थापना से सम्राट् को व्यक्तिगत अधिकार नहीं प्राप्त हुए थे; वास्तव में न तो यह आंदोलन के नेताओं का लक्ष्य ही था और न उनकी योजना में इस प्रकार का इरादा बहुत उपयुक्त ही होता। दूसरी ओर, पुनस्संस्थापना में आम जनता या उसके किसी बड़े वर्ग को भी राजनीतिक सत्ता नहीं मिली थी; और इस प्रकार की सत्ता दिलाना भी आंदोलन के नेताओं का उद्देश्य नहीं था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चार कुलों के नेताओं के एक छोटे से समूह ने शासन-सत्ता अपने हाथों में कर रखी थी। नीचे के छोटे-मोटे पदों पर भी इन्हीं कुलों के व्यक्ति नियुक्त हो रहे थे। शासन पर नियंत्रण करनेवाला यह छोटा-सा गुट और भी संकीर्ण होता जा रहा था, क्योंकि, सैनिक व नागरिक अहलकारों व इसी प्रकार के नीति-मतभेद उठते रहते थे। जहाँ तक अधिकारों के व्यक्तिगत प्रयोग का संबंध था, सम्राट् की स्थिति में शोगुन-प्रथा की समाप्ति से विशेष अंतर नहीं आया था।

किन्तु जिस छोटे से वर्ग ने सारी शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर रखी थी, और जो देश के पुनस्संगठन और विदेशियों के सामने देश के टिके रहने के लिए शक्ति के केन्द्रित बने रहने को आवश्यक समझता था, उसे अब एक तीसरी शक्ति का सामना करना पड़ा और धीरे-धीरे यह शक्ति बढ़ती गयी; यह शक्ति पश्चिम से आये इस विचार की थी कि शासन में आम जनता को भी भागीदार होना चाहिए। स्वयं अहलकारी वर्ग में एक तीसरा गुट बन गया, जो नागरिक व सैनिक अहलकारों से भिन्न था और जिसे आमूल परिवर्तनवादी दल कहा जा सकता था।

अहलकारी वर्ग की गुटबन्दी का विरोधी यह परिवर्तनवादी समुदाय अनेक कारणों से, आम जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सभा (डायट) के संगठन के पक्ष में था और माँग करता था कि राज्य के मंत्रियों को इस डायट के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। यूरोप के परिवर्तनवादी दल सामान्यतः शांतिवादी होते थे, किन्तु जापान के इन परिवर्तनवादियों ने जनप्रिय होने के लिए प्रसार की नीति का प्रचार किया। इस राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व इटागाकी, और बाद में ओकूमा ने किया।[९]

इटागाकी पुनस्संस्थापना-आंदोलन के नेताओं में थे, किन्तु साइगो के साथ वह भी फारमोसा-काण्ड के समय से सत्तारूढ़ दल के विरुद्ध हो गये थे। किन्तु, उनके विरोध ने जो रूप लिया, वह अधिकांश सामुराई-वर्ग के दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न था। सन् १८७४ में उन्होंने राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक संगठन बनाया। उसके

तत्काल बाद, उसी वर्ष, उन्होंने अपने अनुयायियों के साथ सम्राट् को एक स्मृतिपत्र दिया, जिसमें प्रतिनिधि-सभा की स्थापना की माँग की गयी थी। तभी से यह माँग और इसका महत्त्व बढ़ने लगा; अंशतः, इसका कारण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की इच्छा भी थी। स्मृतिपत्र देनेवालों ने अपनी प्रार्थना का आधार सन् १८६८ में सम्राट् द्वारा दिये गये इस आश्वासन को बनाया था कि वह राष्ट्र की इच्छाओं के अनुकूल शासन करेंगे।

यह आश्वासन सन् १८६८ के तथाकथित विधान की पहली धारा में मौजूद था। इस धारा में, जिसे सामान्यतः, शासपत्र शपथ कहते हैं, लिखा था—

विवाद और विचार-विनिमय की पद्धति सर्वत्र अपनायी जायगी और हर निर्णय जनता का तर्क सुनकर किया जायगा। ऊँच और नीच का दृष्टिकोण एक ही होगा और इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था पूरी तरह निबाही जायगी। यह आवश्यक है कि नागरिक व सैनिक शक्तियाँ एक ही समुच्चय में केन्द्रीभूत हों, सभी वर्गों के अधिकारों की रक्षा हो और राष्ट्र-मानस पूर्णरूपेण संतुष्ट हो। पुराने समय की असभ्य रीतियों का अंत किया जायगा और शासकीय काररवाईयों के लिए तटस्थता व न्याय का वह आधार अपनाया जायगा जो प्रकृति में परिलक्षित होता है। साम्राज्य की नींव जमाने के लिए सारे संसार से ज्ञान और बुद्धि का संकलन होगा।

सन् १८६८ के इस विधान में यह धारा रखते समय सरकार के मन में जो विचार था, वह सन् १८७४ की इटागाकी की माँग से बिलकुल भिन्न था। उस समय की कल्पना तो निस्सन्देह ही यह थी कि राष्ट्रीय विधायिनी सभा की स्थापना द्वारा सामन्ती कुलीन-वर्ग को नयी व्यवस्था में शामिल रखा जाय। उस समय कोई यह साबित करने की भी कोशिश न करता कि यह सभा राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है; इसके द्वारा तो सामन्ती शासक-वर्ग को आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर दिया जा रहा था। सन् १८७२ में विदेश से इवाकूरा-मिशन के साथ वापस लौटने पर कीडो ने जो स्मृतिपत्र दिया था, उससे भी प्रकट है कि इस धारा का इससे अधिक और कोई आशय नहीं था। इस स्मृतिपत्र में कीडो ने बिलकुल नये प्रस्ताव के रूप में उत्तरदायी सरकार बनाने का सुझाव रखा था। सन् १८६८ के विधान के लागू होते समय कीडो सरकार के एक प्रमुख सदस्य थे, इसलिए यह मानना होगा कि शासपत्र शपथ का वह कोई अन्य अर्थ ही लगाते थे।

फिर भी, सायो-हीटो गुट के छिन्न-भिन्न हो जाने से सन् १८७४ में सरकार की स्थिति इतनी निर्बल थी कि इन विरोधी तत्वों को संतुष्ट करने का प्रयास किया गया। यह ओसाका-समझौते के रूप में हुआ, जिसके अनुसार एक सीनेट (जेनरो-इन) और पृथक् न्यायालय की स्थापना हुई और क्षेत्रीय राज्यपालों की एक परिषद् का निर्माण हुआ,

ताकि विभिन्न प्रश्नों पर जनता की राय जानने की व्यवस्था शासनतंत्र के एक अंग के रूप में की जा सके; यह सब इस शिकायत को दूर करने के लिए किया जा रहा था कि सत्ता का अतिशय केन्द्रीकरण हो गया है। इटागाकी-शासन के पुनस्संगठन और साइगो फारमोसा-अभियान से अंशतः संतुष्ट होकर शासक अल्पतंत्र में वापस आ गये। कीडो सरकार से बाहर ही रहे। शीघ्र ही, समझौते के लागू करने के ढंग से असंतुष्ट होकर साइगो और इटागाकी फिर सरकार से बाहर निकल आये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साइगो सामुराई-हितों की रक्षा के लिए विद्रोह संगठित करने में लग गये; इटागाकी प्रतिनिधि-सभा के पक्ष में आंदोलन संगठित करने में व्यस्त हो गये और उन्होंने तर्क दिया कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त राज्यपालों की परिषद् वास्तव में जन-प्रतिनिधि-संस्था नहीं कहला सकती। इस आंदोलन की सफलता यह हुई कि सन् १८७८ में सरकार ने राज्यपालों व स्थानिक शासनों को उनके कर्त्तव्यों की पूर्ति में सहायता देने के लिए प्रान्तीय सभाओं के संगठन का निर्णय कर लिया।

यदि इन्हें रियायतों की संज्ञा दी जा सकती है, तो इन रियायतों ने केवल आग में घी का काम किया। सन् १८८१ में राजनीति-विज्ञान के अध्ययन के लिए स्थापित संस्था ने अपना स्वरूप बदल दिया और वह जापान में वैधानिक और प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार के लिए प्रयत्नशील सुसंगठित राजनीतिक दल बन गया। सन् १८७४ के बाद राजनीतिक प्रश्नों के अध्ययन के लिए इसी प्रकार की अन्य गोष्ठियाँ भी बन गयी थीं और उनमें से कुछ इटागाकी की संस्था में शामिल हो गयीं और इस प्रकार जियोटो (उदार दल) का जन्म हुआ। इटागाकी इस दल के नेता बने और इस केन्द्रीय संगठन की स्थानीय शाखाएँ भी संगठित होने लगीं।

(४) वैधानिक आंदोलन

एक अन्य अधिकारी काउण्ट ओकूमा ने सन् १८८१ में वैधानिक आंदोलन का समर्थन किया। जब पेंशनें कम की गयी थीं, तब ओकूमा वित्तमंत्री थे और सन् १८८१ तक वे इसी पद पर कायम थे; अपने पद से इस्तीफा देने का कारण उन्होंने उत्तरी द्वीप, होक्काइडो में उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार द्वारा किये गये व्यापक विकास कार्य को एक निजी कंपनी को मिट्टी के मोल बेच दिये जाने का विरोध बताया। उपनिवेशीकरण-योजना असफल हुई थी और उस द्वीप में बड़ी धन-राशि फँसा देने के बाद सरकारी अफसरों ने प्रस्ताव किया था कि सरकार की लाभकर संपत्ति वहाँ कुछ निजी हितों को दे दी जाय। वित्तमंत्री की हैसियत से ओकूमा इस प्रस्तावित सौदे के संबंध में जानते थे और टोकियो के नागरिकों की एक विराट आम सभा में

उन्होंने इस सौदे का विरोध किया। साथ ही, उन्होंने प्रतिनिधि-सभा की माँग का भी समर्थन किया। किन्तु, सरकार के विरुद्ध विरोध की भावना को एक दल या समुदाय में केन्द्रित करने के लिए इटागाकी का साथ देने की जगह उन्होंने सन् १८८२ में एक नये राजनीतिक दल, रिक्केन काइशिण्टो (प्रगतिशील दल) की स्थापना कर दी। इस नये दल की स्थापना से जापान में राजनीतिक दलों के विकास की एक निरंतर प्रवृत्ति का भी पता लगता है, वहाँ लगभग समान सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले लोग भी मिलकर एक दल में नहीं आते। हर नेता अपने अनुयायियों के साथ एक पृथक् संगठन कायम कर लेता है। इटागाकी और ओकूमा दोनों समान लक्ष्यों के लिए ही प्रयत्नशील थे, किन्तु कोई एक दल इन दो व्यक्तियों को एक साथ अपने में नहीं रख सकता था।

ओकूमा के सरकार से निकलने के बाद सन् १८८१ में ही केन्द्रीय सरकार ने घोषणा कर दी कि सन् १८९० में केन्द्रीय सभा का गठन हो जायगा और इसके पहले उसके गठन के सारे आंदोलन समाप्त कर दिये जायँ। इस घोषणा की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है। इसे राजनीतिक दलों के आंदोलन, विशेषकर ओकूमा की कुछ-कुछ चमत्कारिक काररवाई का नतीजा समझा जा सकता है, और इसे पुनस्संगठन-प्रक्रिया का एक अंग भी समझा जा सकता है, जो राजनीतिक आंदोलन का समसामयिक हो गया। पुनस्संस्थापना के बाद के बीस वर्षों में सरकार एक बार आगे बढ़ने और दूसरी बार रुककर संयम की नीतियों पर अमल करती रही थी। इसलिए यह भी समझा जा सकता है कि सरकार के मन में, जन-मनोवृत्ति से पृथक् कुछ कदम उठाने का इरादा था, किन्तु ये कदम वह उपयक्त समय पर ही उठाना चाहती थी। आगे बढ़नेवाले हर कदम के साथ उसे मजबूती से जमाने का काम भी जरूरी था और यह तभी हो सकता था जब और अधिक परिवर्त्तन की माँग करने वाले आंदोलन थमे रहें। सरकार का दो नीतियों के बीच ढुलमुल रहना प्रकट है, किन्तु इसकी एक व्याख्या यह भी की जा सकती है कि सरकार केवल वही रियायतें देना चाहती थी, जिनकी माँग तेज हो, और ये रिआयतें देने के बाद वह आगे की प्रगति बलात् रोक देना चाहती थी। जो भी व्याख्या सही हो, सन् १८८१ की घोषणा के बाद सरकार-विरोधी आंदोलन का कड़ाई से दमन किया गया। आमूल परिवर्त्तनवादियों की काररवाइयों को सीमित रखने के लिए पहले ही कदम उठाये जा चुके थे। सन् १८७५ में ही सरकार ने समाचारपत्रों के संबंध में एक कड़ा कानून बना दिया था; सरकार ने आम और दलगत सभाओं का कड़ा निरीक्षण प्रारम्भ किया, और सन् १८८३ में बढ़ती हुई अशान्ति व अराजकता को रोकने के लिए सरकार ने राजनीतिक दलों को भंग करने का आदेश जारी कर दिया क्योंकि सरकार ने यह अराजकता फैलाने का अभियोग इन्हीं दलों पर लगाया था। जियूटो ने सन् १८८४ में

अपने आपको भंग कर इस आदेश का पालन किया और प्रगतिशील दल स्थानीय शाखाएँ कायम न रख सकने के कारण स्वयं ही समाप्त हो गया।

जापान के नेता यह ठीक ही सोचते थे कि सावधानी के साथ स्थिति का अध्ययन व तैयारी किये बिना, हाल ही में सामन्ती परिस्थितियों से बाहर निकले देश में वैधानिक सरकार की स्थापना बुद्धिमत्तापूर्ण न होगी। फलतः सन् १८८१ की घोषणा द्वारा वचन-बद्ध हो, सरकार निश्चित समय तक प्रस्तावित सुधार लागू करने के लिए प्रयत्नशील हुई। कीडो के उत्तराधिकारी ओकूबो के बाद सरकार की मुख्य निर्देशन-शक्ति के रूप काउण्ट ईटो आये थे; वह सन् १८८२ में पश्चिमी वैधानिक पद्धतियों के अध्ययन के लिए विदेश गये। जापान में वैधानिक शासन के श्रीगणेश से क्या उपलब्धियाँ होनी चाहिए, इसकी स्पष्ट रूप-रेखा उनके पास थी; (१) विधान सम्राट्-प्रदत्त होना चाहिए, जिसमें उनकी गरिमा और अधिकार सुरक्षित हों; (२) विधान में इसकी व्यवस्था होनी चाहिए कि सामन्तवाद की समाप्ति के बाद के संकटमय समय जिन्होंने जापान को अपने पैरों पर खड़ा रखा, शक्ति उन्हीं के पास केन्द्रीभूत रहे; और, (३) प्रतिनिधि-सभा की माँग इस विधान से पूरी हो। स्पष्ट है कि उन्हें अमरीका या फ्रांस के जनतंत्रात्मक विधानों के गहन अध्ययन की आवश्यकता नहीं थी। और न ब्रिटेन की शासन-प्रणाली ही उनके लिए आदर्श सिद्ध हो सकती थी; क्योंकि ब्रिटेन का विधान लम्बी अवधि में धीरे-धीरे विकसित हुआ था और उसमें सम्राट् की स्थिति को मजबूत करने की जगह जनता के अधिकार व सुविधाएँ सुरक्षित करने पर जोर था। किन्तु, ईटो को प्रशिया में वह शासन प्रणाली मिल गयी जो जापान के शासक-गुट की आवश्यकताओं और विचारों के अनुकूल थी और यही प्रणाली जापान के लिए आदर्श बनी। इसका यह अर्थ नहीं है कि ईटो ने प्रशिया की प्रणाली की नकल भर कर ली; तात्पर्य यह है कि उस देश में जापान की पुनस्संस्थापना के बाद की शासन-प्रणाली को जारी रखते हुए उसमें प्रतिनिधि-सभा का समावेश करने की समस्या का हल मिल गया।

सन् १८८३ में ईटो विदेश से लौट आये और तुरन्त बाद जापान का नया विधान बनाने में जुट गये। सम्राट् के आदेश से उनका सम्राट् के परिवार विभाग में तबादला हो गया। उसी विभाग में वैधानिक व प्रशासनिक सुधारों के अध्ययन के लिए एक कार्यालय स्थापित हो गया। ईटो के निर्देशन में "पूर्णरूपेण गोपनीय" ढंग से विधान-निर्माण का कार्य शुरू हुआ। सन् १८८८ में जब विधान-निर्माण का कार्य काफी आगे बढ़ चुका था, शासनतंत्र के अंग के रूप में एक प्रिवी कौंसिल स्थापित हुई। ईटो इस परिषद् के अध्यक्ष बने और विधान के पुनरीक्षण का काम शुरू हुआ। इस परिषद् के अनुसमर्थन के बाद सम्राट् ने वह विधान लागू कर दिया। इससे स्पष्ट है कि विधान बनाने में

राजनीतिक दलों के नेताओं से कोई परामर्श नहीं लिया गया। निर्माण और शासकीय अल्पतंत्र के अन्य नेताओं के द्वारा पुनरीक्षण दोनों ही ईटो के नेतृत्व में ही हुए।

इस बीच वैधानिक सरकार बनाने का मार्ग प्रशस्त करने की दिशा में और कदम भी उठाये गये। सन् १८८४ में कुलीन वर्ग की फिर से स्थापना कर दी गयी। कुलीनों के पाँच वर्ग बनाये गये और पाँच सौ व्यक्तियों को उनके एकस्व-अधिकारपत्र प्रदान किये गये। प्रशिया के कुलीन वर्ग की पाँच श्रेणियों—प्रिंस, मार्क्विस, काउण्ट, वाइकाउण्ट व बैरन—के आधार पर ही जापानी कुलीनों का श्रेणी-विभाजन किया गया था। यह कदम उच्च सदन की व्यवस्था के लिए उठाया गया था, क्योंकि विधान में उच्च सदन रखा गया था। फिर सन् १८८५ में पुनस्संस्थापना के बाद से बराबर शासन सम्हालने वाली राज्यपरिषद् समाप्त कर उसकी जगह मंत्रिमण्डल स्थापित कर दिया गया और कार्यकारी प्रणाली पुनस्संगठित कर दी गयी।

(५) १८८९ का विधान

विधान सन् १८८९ में लागू हुआ। जिनके हाथ में शासन का नियंत्रण था और वे यह जानते रहे होंगे कि इस विधान को राजनीतिक दलों के नेताओं की सहमति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि, उन्होंने (विधान का सावधानी से अध्ययन का अवसर प्रदान करने के बहाने) कुछ समय के लिए सभी समाचारपत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे विधान के विरुद्ध आलोचनाएँ न प्रकाशित करें, जो पत्र अधिक उग्र थे, उन्हें बन्द कर दिया गया।

नया विधान[१०] दो विचारों के आधार पर बना था; एक विचार था पुनस्संस्थापना का, जिसके अनुसार सभी शक्तियों का स्रोत व सभी उपकार-अनुग्रहों को देनेवाला था; दूसरा विचार सामन्ती था, जिसके अनुसार वास्तविक शक्ति का प्रयोग, सम्राट् की ओर से, अन्य लोग या एजेण्ट (अभिकर्ता) करते थे। पहला अध्याय सम्राट् की "पुनीत और अनतिक्रान्त" स्थिति व अधिकारों से संबंधित था। सम्राट् के वर्णन में कहा गया था कि वह "सर्वोच्च सत्ता के अधिकारों से संपन्न साम्राज्य के अध्यक्ष हैं और वर्तमान संविधान की धाराओं के अनुसार उन अधिकारों का प्रयोग" करते हैं। अनेक प्रशासकीय सेवाओं के संगठन, नागरिक व सैनिक सेवाओं में नियुक्ति व सेवाच्युत करने और उनके वेतन निर्धारित करने का अधिकार उन्हीं का था। स्थल व जल सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति वह ही थे ; वह ही शांतिकाल में दोनों सेनाओं की संख्या और संगठन नियत करते थे, वह ही युद्ध और शांति की घोषणा करते थे और संधियों पर हस्ताक्षर करते थे। साम्राज्य की विधायन-सभा (डायट) की सहमति से सम्राट् ही सभी कानून बनाते थे ;

डायट द्वारा विधेयक बनाने के बाद सम्राट् की स्वीकृति होती थी और सम्राट् ही उसे लागू करते थे, तभी विधेयक प्रभावकारी होता था। यह स्वीकृति देना और लागू करना केवल औपचारिक ही नहीं था; सम्राट् विधेयकों को रोक सकते थे और रोक लेते भी थे। इसके अतिरिक्त, सम्राट् के पास अध्यादेश जारी करने के व्यापक अधिकार थे, यद्यपि, "अध्यादेश चालू कानूनों को संशोधित नहीं कर" सकते थे।

किन्तु, इन अधिकारों के प्रयोग में सम्राट् दो वैधानिक परामर्शदात्री समितियों के माध्यम से कार्य करते थे, और ये थीं प्रिवी कौंसिल व मंत्रि-परिषद् जिन दोनों का गठन विधान के लागू होने के पहले ही हो गया था। विधान का चौथा अध्याय इन्हीं से संबंधित था। सम्राट् की स्थिति और अधिकारों का वर्णन सत्रह धाराओं में किया गया था, किन्तु शाही अध्यादेश में इनकी स्थिति वर्णन किया जा चुका था, इसलिए इन दोनों समितियों का वर्णन विधान की दो धाराओं में समाप्त हो गया था। दोनों ही में सम्राट् के मनोनीत व्यक्ति रहते थे और विधान के अंतर्गत (ईटो की व्याख्या के अनुसार) मंत्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व केवल मात्र सम्राट् के प्रति था।

अभीतक विधान में वर्णित शासन के उन्हीं लक्षणों का यहाँ वर्णन किया गया है जो पुनस्संस्थापन के उपरान्त प्रचलित राजनीतिक व प्रशासकीय पद्धतियों के प्रक्षेप मात्र थे—अर्थात् अधिकारीतंत्र द्वारा अपने अधिकारों का प्रयोग करने वाले सम्राट् का वर्णन। वाद में, सामन्तीयुग की याद दिलानेवाला एक ऐसा विधानेतर लक्षण भी जोड़ दिया गया, जिसका साम्राज्य के विधान-कानून में अस्तित्व ही नहीं था—यह विलक्षण संगठन था वरिष्ठ राजनीतिज्ञों (जेनरो) का। इसमें वह गुट था, जिन्होंने संक्रमण काल में राष्ट्र का नेतृत्व किया था और जिससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। यह संगठन युद्ध और शांति तथा नीति के वड़े प्रश्नों पर विचार करता था और सम्राट् को मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के छाँटने में सलाह देता था। और इन प्रश्नों पर इसकी राय अंतिम होने लगी।

वैधानिक प्रणाली का नया लक्षण था—प्रतिनिधित्वपूर्ण विधायिनी सभा (डायट)। विधान के तीसरे अध्याय में डायट के अधिकारों, कर्त्तव्यों तथा शासन के अन्य अंगों से उसके संवंधों का वर्णन था। जापानी डायट के दो सदन थे—उच्च सदन, जिसमें सम्राट् द्वारा नामजद व्यक्ति तथा कुलीन सामन्तीवर्ग के प्रतिनिधि—या तो निर्वाचित या वंश-अधिकार से—वैठते थे, तथा निम्न सदन, जिसमें अधिकारी मतदाताओं द्वारा निर्वाचित सदस्य वैठते थे। विधान के पूरक रूप में जारी अध्यादेशों में दोनों सदनों के संगठन और सदस्यों के चयन के संवंध में व्याख्या की गयी थी। किसी भी कानून के प्रभावकारी होने के लिए उसका डायट के दोनों सदनों से अलग-अलग स्वीकृत होना आवश्यक था।

सदनों की बैठकों पर सम्राट् का पूरा नियंत्रण था। सम्राट् सदनों के निमित्त या विशेष अधिवेशन बुलाते थे, निश्चित समय के भीतर उनका सत्रावसान करते थे और निम्न सदन को भंग करते थे, जिससे उच्च सदन का स्वयमेव सत्रावसान हो जाता था। किन्तु, डायट का हर वर्ष तीन महीने का अधिवेशन होता था। इसका मुख्य कर्त्तव्य था, इसको भेजे गये मामलों पर विचार करना और उन पर अपनी सहमति देना या न देना; विधेयक दोनों में से किसी सदन में भी पहली बार लाये जा सकते थे।

विधान का वित्त-संबंधी छठा अध्याय सबसे अधिक दिलचस्प व उपदेशप्रद था। निम्न या प्रतिनिधित्वपूर्ण सदन को वित्तीय अधिकार या नियंत्रण बिलकुल ही नहीं दिया गया था, यद्यपि बजट या वार्षिक आय-व्ययक के प्रभावकारी होने के लिए इस सदन की सहमति आवश्यक थी। यह अधिकार-अपहरण बहुत सावधानी के साथ किया गया था। विधान लागू होने के पहले ही देश में कर-प्रणाली बन चुकी थी, अतएव विधान में केवल यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि चालू करों में संशोधन करने या नये कर लगाने के पहले उन पर डायट की सहमति आवश्यक होगी। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी स्वतंत्र आय की भी व्यवस्था प्रशासकीय शुल्कों व मुआविजों या क्षतिपूर्तियों के रूप में कर दी गयी थी, जो डायट के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखी गयी थी। व्यय के संबंध में धारा ६७ में कहा गया था—"विधान द्वारा प्रदत्त सम्राट् के अधिकारों पर आधारित तथा अभी ही निश्चित व्ययों (जैसे कि वेतन), या कानूनों के लागू करने के फलस्वरूप होने वाले व्ययों, या शासन के वैध उत्तरदायित्वों पर होनेवाले व्ययों को, शासन की सहमति के बिना, डायट न तो अस्वीकार कर सकेगी और न उन्हें कम कर सकेगी।" और ६८वीं धारा के अनुसार—"विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शासन एक पूर्वनिश्चित अवधि के लिए जारी रहनेवाली व्यय-निधि की माँग डायट से कर सकेगा।" इससे अगली धारा में आकस्मिक व्ययों के लिए सुरक्षित निधि की व्यवस्था थी, और, ७१वीं धारा में व्यवस्था थी कि यदि डायट आय-व्ययक को स्वीकृति देने में असफल रहे तो चालू वर्ष का बजट ही चालू रखा जा सकेगा। इस प्रकार डायट का एकमात्र वित्तीय अधिकार यह रह गया था कि वह खर्च का बढ़ना रोक सकती थी।[11]

विधान में तीन और अध्याय थे। एक था न्याय-संबंधी अधिकारों के विषय में और दूसरे में प्रजा के अधिकारों-कर्त्तव्यों का वर्णन था; ये अधिकार, कर्त्तव्य सामान्य थे, किन्तु हर अधिकार के लिए शर्त यह थी कि कानून द्वारा वह सीमित किया जा सकेगा या उसका पूर्ण-रूपेण अपहरण हो सकेगा; और अंतिम अध्याय पूरक नियमों के विषय में था; इनमें प्रमुख था विधान के संशोधन से संबंधित नियम, जिसके अनुसार सम्राट् द्वारा ही इस प्रकार के संशोधन लाये जा सकते थे।

(६) विधान के अंतर्गत शासन

नया विधान पूरी तरह से सन् १८९० में लागू हुआ, जब पहली डायट का संगठन हुआ और उसका अधिवेशन शुरू हुआ। फौरन ही भविष्य के मतभेदों की रूपरेखा स्पष्ट हो गयी। निम्न सदन या प्रतिनिधि-सभा पर राजनीतिक दलों का और मंत्रिपरिषद् पर वंश या कुल के नेताओं का नियंत्रण हो गया। शीघ्र ही यह बात स्पष्ट हो गयी कि डायट के इतने अधिकार तो थे कि वह बाधाएँ डाल सके, किन्तु नियंत्रण के अधिकार उसके पास न थे; शासन के इन दो अंगों के बीच मतभेदों को दूर करने की भी व्यवस्था न थी; इसके निराकरण का केवल एक उपाय था सम्राट् के पास अपील और उनकी निर्णयात्मक घोषणा। इन कुल-नेताओं के पास विकल्प केवल यह था कि या तो वे डायट पर नियंत्रण करें या डायट द्वारा डाली गयी बाधाओं के बावजूद वे शासन चलाते रहें। समस्या का असली समाधान था मंत्रिपरिषद् का प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी होना और उस पर कभी विचार भी नहीं किया गया था। अधिकारीतंत्र के पास एक ही हथियार था—जिसका उसने बहुधा प्रयोग किया—प्रतिनिधि-सभा को भंग कर फिर से चुनाव कराना और मतदाताओं पर दबाव डालना कि वे केवल उन्हीं लोगों को चुनें, जो शासन के पक्ष में हों। किन्तु नये विधान के लागू होने के चार वर्ष बाद तक लगातार मंत्रि-परिषद् का सामना ऐसी प्रतिनिधि सभा से होता रहा, जो उसके प्रभावकारी नियंत्रण के बाहर थी। इन चार वर्षों में तीन बार मंत्रि-परिषद् का पुनर्गठन हुआ—२४ दिसम्बर १८८९ को यामागाटा के नेतृत्व में; ६ मई १८९१ को मत्सूकाटा के नेतृत्व में और ८ अगस्त, १८९२ को स्वयं विधान के निर्माता, ईटो के नेतृत्व में। इसी बीच सन् १८९१ व सन् १८९३ में दो बार डायट भंग की गयी। संघर्ष सदैव आय-व्ययक पर होता था। इसी पर मंत्रिमण्डल बदले और डायटें भंग हुई। अस्थायी रूप से व्यवस्था करने के लिए इटो ने एक बार सम्राट् से शासनादेश प्राप्त कर लिया कि डायट शासन की बात मान ले और एक बार शासन के लिए राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त करने के लिए विदेशी युद्ध की आड़ ली।

(७) परराष्ट्र संबंध

किन्तु, सन् १८९४–१८९५ के चीन और जापान के बीच के युद्ध के वर्णन से पहले, जापान में हुए कुछ ग़ैर-राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन अधिक उपयुक्त होगा।[१२] और ये परिवर्तन हैं जापान के यूरोपीय शक्तियों से संबंधों का विकास, इस अवधि में उसका विस्तार तथा उसका आर्थिक, सामाजिक व सामरिक पुनस्संगठन।

यह स्मरणीय है कि सन् १८५८ तथा उसके बाद जापान के यूरोपीय देशों से जो

संधि-समझौते हुए, उनसे उसकी न्यायिक व वित्तीय सर्वोच्च सत्ता व स्वतंत्रता पर कड़े प्रतिबन्ध लग चुके थे। सन् १८७० से सन् १८९४ तक जापान के विदेशी संपर्कों और अनेक आंतरिक निर्णयों की पृष्ठभूमि यही थी। सन् १८७१ में संधियों के सुधार व पुनरीक्षण के लिए इवाकूरा-मिशन विदेश भेजा गया था। मिशन ने वापस लौटकर अपने उद्देश्य की असफलता तो स्वीकार की ही, इस बात पर भी जोर दिया कि जापान अपनी स्वतंत्रता वापस चाहता है तो उसे काफी लम्बी तैयारी करनी होगी। न्याय के क्षेत्र में वह स्वाधीनता फिर से प्राप्त करने के पहले एक ऐसी न्याय-प्रणाली के अंतर्गत विदेशियों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करनी होगी, जो जापान की कुल-पिता व सामन्ती परंपराओं की जगह न्याय की यूरोपीय मान्यताओं के अनुरूप हो। तटकर और सीमा-शुल्क निर्धारित करने की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए यूरोपीय देशों को यह आश्वासन देना आवश्यक होगा कि उन्हें व्यापार के लिए देश में आने-जाने की पूर्ण सुविधा होगी और सीमा-शुल्क इस उद्देश्य से नहीं लगाया जायगा कि सीमित व्यापार की पुरानी स्थिति पर लौटने का प्रयत्न किया जाय। फलतः, सन् १८९४ तक जो बहुत से आंतरिक सुधार किये गये—चाहे वे राजनीतिक रहे हों या न्याय संबंधी—उनके पीछे और कुछ नहीं तो यह इच्छा तो थी ही कि संधियों का पुनरीक्षण हो जाय। अभी देश के जिस राजनीतिक पुनस्संगठन का वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त जापान ने दीवानी व फौजदारी कानूनों की संहिताएँ बनाने और यूरोपीय पद्धति पर अपनी न्याय-प्रणाली संगठित करने का काम भी शुरू कर दिया था। सन् १८९० तक नयी संहिताओं के लिए सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी और नयी न्याय-प्रणाली की शुरूआत हो चुकी थी। ये संहिताएँ व नयी न्याय-प्रणाली मुख्यतः प्रशिया व फ्रांस की प्रणालियों पर आधृत थीं और इन दोनों देशों के सलाहकारों ने उन्हें बनाने में मदद भी दी थी।

इसी बीच, सुधार-कार्यों के जारी रहते संधि पुनरीक्षण के लिए अनेक प्रयास किये गये। सन् १८७४ और सन् १८७८ के बीच अमरीकी मंत्री, बिघम ने पुनरीक्षण में दिलचस्पी ली। सन् १८७८ में अमरीकी व्यावसायिक संधि के कुछ अंशों के संशोधन का समझौता भी हो गया, पर वह लागू नहीं हो सका क्योंकि अन्य देश इस प्रकार के संशोधन करने के लिए राजी नहीं हुए। दूसरा प्रयास सन् १८८२ में हुआ, जब जापान के परराष्ट्र मंत्री ने टोकियो में विदेशी प्रतिनिधियों से बातचीत शुरू की। पश्चिमी देशों को यह दिखाने के लिए कि जापान अपना जीवन उन्हीं के अनुरूप ढाल रहा है, यूरोपीय वेशभूषा व खेलकूद जापान में चलाने के लिए संगठित प्रयास भी किये गये। जब संधि पुनरीक्षण पर समझौता होने ही को था, समझौते की बात खत्म हो गयी, क्योंकि समझौते में स्वीकृत 'संयुक्त अदालतों' के विरोध में जनता ने आंदोलन कर दिया। अपने-अपने

देशवासियों के तथाकथित हितों की रक्षा के लिए विदेशी प्रतिनिधियों ने इस बात पर जोर दिया था कि जब भी किसी मुकदमे में विदेशी लोग फँसें, अदालतों में जापानी व विदेशी—दोनों, न्यायाधिकारी बैठा करें। यह ऐसी रिआयत थी जिसे जापानी जनता देने के लिए तैयार नहीं थी। सन् १८८८ में काउण्ट ओकूमा ने फिर एक प्रयास किया। इस बार, सब विदेशी प्रतिनिधियों के साथ सामूहिक बातचीत चलाने की जगह ओकूमा ने अलग-अलग एक-एक देश से संधि-पुनरीक्षण के लिए समझौता करने का निश्चय किया। उन्होंने मेक्सिको के साथ—जिसके ऐसे विशिष्ट हित ही नहीं थे, जिनकी रक्षा आवश्यक हो—संधि-पुनरीक्षण का समझौता कर लिया और ऐसा ही समझौता अमरीका के साथ भी हो गया, पर शर्त्त यह थी कि यह समझौता लागू तभी होगा, जब ऐसे ही समझौते अन्य विदेशी प्रतिनिधियों से भी हो जायँगे। किन्तु अन्य देशों ने पहले की तरह फिर सुविधाएँ व रिआयत माँगी और जन-प्रतिरोधके कारण फिर ये रिआयतें न दी जा सकीं। अंततः, सन् १८९४ में सफलता मिली, जब जापान से व्यापार करने वाले देशों में प्रमुख, इंगलैण्ड ने संधि-संशोधन स्वीकार कर लिया, जो कि सन् १८९९ से लागू होना था।[१३] इंगलैण्ड ने "संयुक्त अदालत" के अपमान पर जोर नहीं दिया, जिससे जापानी जनमत संतुष्ट हो गया; यद्यपि यह समझौता बाद में ही प्रभाव में आनेवाला था और इसकी भी शर्त यह थी कि नयी न्याय-प्रणाली का सफल कार्यान्वय हो। इंगलैण्ड के नेतृत्व को स्वीकार करते हुए और साथ ही संधि-पुनरीक्षण की अपनी पुरानी नीति का अनुसरण करते हुए अमरीका ने भी समझौता कर लिया। अगले तीन वर्षों में अन्य देशों ने भी अपनी-अपनी संधियों में आवश्यक सुधार करने के समझौते कर लिये।

सन् १८९४ से पहले ही जापान ने अपनी सीमाएँ ठीक से निश्चित करना शुरू कर दिया था। अभी जिसका वर्णन किया जा चुका है, उस फारमोसा-काण्ड के बाद चीन ने लूचू द्वीपों पर अपने अधिकार का दावा छोड़ दिया था। सन् १८७५ में रूस से समझौते के फलस्वरूप जापान ने सखालीन द्वीप-दक्षिणार्ध पर अपना दावा छोड़ दिया और उत्तरी कुराइल द्वीपों पर उसका अधिकार स्वीकार हो गया। यह भी दबाव में ही हुआ, क्योंकि इन दोनों द्वीपों पर जापान का भी उतना ही अधिकार था, जितना कि किसी अन्य देश का। सन् १८७६ में जापान ने अपने साम्राज्य में बोनिन द्वीपों को शामिल कर लिया।

(८) सामाजिक व आर्थिक विकास

पुनस्संस्थापना के बाद के दशकों की राजनीतिक विकासों व राजनयिक उपलब्धियों के साथ ही साथ जापान में महत्त्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक व सामरिक परिवर्तन हुए। वास्तव में, विशिष्ट रूप से आर्थिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए वे पुनस्संगठन मात्र

न होकर सच्चे रूपान्तर के प्रारम्भ के रूप में आये। किन्तु इन परिवर्तनों के वर्णन के पहले इस रूपान्तरकारी आंदोलन के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणों पर ध्यान देना उपयुक्त होगा। सबसे पहले तो यह बात ध्यान में रखनी होगी कि इस रूपान्तरण का नेतृत्व स्वयं सरकार ने किया, नहीं तो पूरी प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझने में भूल हो जायगी। दूसरे यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि परिवर्तन जान-बूझकर और योजनाबद्ध रूप में आये। तीसरे यह बात भी ध्यान देने की है कि शासन ने जो देश की आवश्यकताएँ समझीं, उन्हें किस हद तक व्यक्ति व गुटों के हितों पर वरीयता दी गयी।

पुनस्संस्थापना के पहले ही, जब विदेश-यात्रा पर रोक लगी थी, तभी लोग पश्चिमी विचारों, संस्थाओं, तरीकों को समझने विदेश जाने लगे थे। पुनस्संस्थापना के बाद विदेश-यात्रा पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गये और छात्र यूरोप व अमरीका भेजे जाने लगे थे। इसके अतिरिक्त, पुनस्संगठन के सक्रिय रूप से चलने पर यूरोपीय जीवन के विशिष्ट पहलुओं के अध्ययन के लिए आयोग भी विदेश भेजे गये। और जब तक विदेशों में प्रशिक्षित जापानी सलाहकार नहीं मिलने लगे, सरकार विदेशी विशेषज्ञों को परामर्शदाताओं के रूप में बुलाती रही और नौकर रखती रही। खुलकर प्रयोग किये गये और प्रयोगों से जो गलतियाँ प्रकट हुईं, उन्हें खुलकर दूर किया गया।

नये जापान की भावना जितनी शिक्षा के क्षेत्र में स्पष्ट थी, उतनी किसी अन्य क्षेत्र में नहीं थी। सन् १८७२ में ही जापानियों ने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का सिद्धान्त अपना लिया था और जन-पाठशालाएँ खोलना शुरू कर दिया था। शिक्षा-प्रणाली के विकास पर तीन प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर थे—सामान्य सुधार के बाद अमरीकी प्रारम्भिक व उच्चतर माध्यमिक शिक्षा-पद्धति अपना ली गयी थी; विश्वविद्यालयों का संगठन फ्रांसीसी ढंग पर हुआ था; और धन्धों व पेशों की शिक्षा पर जोर देने का जर्मनी का ढंग अपनाया गया था।

छः वर्ष की उम्र से ही बालक-बालिकाओं को चार वर्ष तक पाठशालाओं में पढ़ना होता था; बाद में यह अवधि बढ़ाकर छः वर्ष कर दी गयी थी। यहां उन्हें प्रारम्भिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी और मानसिक अनुशासन के साथ चरित्र-गठन पर भी जोर दिया जाता था। सम्राट् के प्रति भक्ति व राज्य के प्रति निष्ठा प्रारम्भिक पाठशालाओं से ही बताना शुरू हो जाता था और आगे की कक्षाओं में भी जारी रहता था। प्रारम्भिक शिक्षा आठ वर्ष तक चलती थी और इसके चार-चार वर्ष के दो भाग होते थे। माध्यमिक स्तर पर उन बच्चों को विशेष प्रशिक्षण मिलते थे, जो आगे नहीं पढ़ना चाहते थे; साथ ही छात्रों को विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए तैयार किया जाता था। प्रारंभिक पाठशालाओं के लिए बड़ी संख्या में आवश्यक अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए नारमल

स्कूलों की स्थापना की गयी थी। फिर आवश्यकता बढ़ने पर, विशेष विषयों के लिए, जैसे कि व्यावसायिक विषयों के लिए, अलग पाठशालाएँ खोली जाने लगीं।

प्रारम्भिक पाठशालाओं में बालक और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में विशेष अंतर नहीं होता था, केवल लड़कियों के लिए सुगृहिणी बनने के गुणों पर जोर दिया जाता था। बाद के वर्षों में इन गुणों पर और भी अधिक जोर दिया जाता था और बौद्धिक विकास व प्रशिक्षण उनके लिए गौण हो जाता था। सन् १९०२ तक राज्य की ओर से लड़कियों को विश्वविद्यालय की शिक्षा प्रदान करने की कोई भी व्यवस्था नहीं थी। किन्तु, बदलते दृष्टिकोण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रारम्भिक पाठाशालाओं में बालिकाओं की शिक्षा की व्यवस्था शुरू से ही की गयी थी।

यह भी महत्त्व की बात है कि नये युग के प्रारम्भ से ही जापान में प्रारम्भिक शिक्षा इतने व्यापक ढंग से और बड़े मनोयोग से चालू कर दी गयी थी। इस एक कदम से जापान प्राविधिक और वैज्ञानिक विकास में लगातार पश्चिमी देशों के समकक्ष बना रहा और उसका आर्थिक विकास भी असाधारण गति से हुआ। स्पष्ट है कि शुरू में त्रुटियाँ रह गयीं और पाठशाला-संबंधी नियम अनेक बार बदले गये। प्रशिक्षण का अधिक भाग काफी दिनों तक स्तरीय ही रहा। किन्तु इन त्रुटियों के बावजूद, समस्या की नवीनता, काम की व्यापकता और तत्काल समाधान की आतुर अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओं की मौजूदगी को देखते हुए, शिक्षा-प्रणाली को वहुत अच्छा मानना ही पड़ेगा।

जापान में पत्रकारिता के विकास पर भी यहीं विचार कर लेना उपयुक्त होगा। शिक्षा पर शासन का नियंत्रण था, यद्यपि निजी पाठशालाओं की स्थापना भी होती थी और सरकार उनकी स्थापना को प्रोत्साहित करती थी। किन्तु जो अनेक समाचारपत्र व पत्रिकाएँ प्रकाशित होना शुरू हुईं, उनके लिए कोई सरकारी सहायता प्राप्त नहीं हुई। चूंकि लगभग सभी पत्र जो राजनीति में दिलचस्पी लेते थे, सरकार के विरुद्ध और उसके कटु आलोचक थे, उनका अस्तित्व संकटापन्न रहता था। समाचारपत्रों का बन्द किया जाना साधारण हो गया था, उन पर भारी जुरमाने होते थे और उनके संपादकों को कारावास का दण्ड अति साधारण हो गया था, इन बाधाओं के बावजूद दैनिक समाचार-पत्रों की संख्या बढ़ती गयी। और आलोच्य अवधि की समाप्ति के समय उनमें से कुछ की आर्थिक स्थिति भी पुष्ट हो चुकी थी। अराजनीतिक पत्रिकाओं की स्थापना और उनके पैर जमाना अधिक आसान था और उनमें हर विषय की चर्चा रहती थी। एक पत्रिका "महिलाओं का घरेलू पत्र" भी थी।

जापान के नये शासकों ने सेना का भी पुनस्संगठन किया। जिस राष्ट्र की सशक्त सैनिक परंपरा रही हो, वह सैन्य-संगठन के आधुनिकीकरण के महत्त्व को कम नहीं कर

सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है[१४] कुछ कुलों ने पुनस्संस्थापना के पहले ही पश्चिमी देशों से नये शस्त्रास्त्र मँगाने शुरू कर दिये थे और सैन्य-व्यवस्था पर डच विद्वानों की पुस्तकों का थोड़ा बहुत अध्ययन भी हुआ था। शुरू में तो शासन को पश्चिमी कुलों द्वारा दी गयी सेनाओं पर निर्भर रहना पड़ा। किन्तु, शासन ने फौरन ही एक स्वतंत्र सैन्य-संगठन का काम शुरू कर दिया। सैन्य-शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी और सन् १८७३ में सेना का राष्ट्रीयकरण हो गया। यह गैर-सामुराई अनुशासित सेना सशक्त थी और सत्सूमा सामुराई के विद्रोह के समय इस सेना ने अपना जौहर दिखा दिया। शासन ने अनिवार्य सैनिक शिक्षा ही शुरू नहीं की, वरन् सामन्ती और वर्ग-विचारों को खत्म कर, अपनी सेना को आधुनिक हथियारों से सजाया और पहले फ्रांसीसी और सन् १८८५ के बाद जर्मनी के विशेषज्ञों के निर्देशन में उसे प्रशिक्षित किया। देश की वित्तीय स्थिति को देखते हुए जितना संभव हुआ उतने धन से नौसेना की भी स्थापना की गयी। जापान में पीढ़ी-दर-पीढ़ी से छोटी नावों पर तटीय समुद्रों में नौकारोहण के प्रतिबन्ध लगे होने के कारण नौसेना की स्थापना के लिए सिवा एक राष्ट्रीय सम्मान के, कोई नींव-बुनियाद नहीं थी। शासन ने फिर एक वार नौसेना के लिए मिल सकने वाली सर्वोत्तम विदेशी सहायता प्राप्त की और नौसेना के लिए अंग्रेज अधिकारियों को सलाहकार बनाया और अपने नये कारखानों में जो जहाज न वन सकते थे, उन्हें इंगलैण्ड से प्राप्त किया।

राष्ट्रीय परंपराओं के सन्दर्भ में देखें तो आधुनिक जापान के नेताओं का शिक्षा व सैन्य-संगठन में अभिरुचि रखना, सभवतः इतना बड़ा आश्चर्य नहीं लगता, जितना कि उनका सुनियोजित आर्थिक विकास की आवश्यकता को स्पष्टतः पहचान लेना था। राजनीतिक कार्यक्रम के अंतर्गत पुरानी हरकारा-प्रथा की जगह एक नयी डाक-व्यवस्था और सन् १८६८ में सरकार के लिए तथा बाद में व्यावसायिक उपयोग के लिए तार-व्यवस्था स्थापित करना भी था। यातायात की सुविधाओं के विकास से उद्योग व व्यवसाय को तो लाभ हुआ ही रेलगाड़ी चलने से राष्ट्रीय एकता को पुष्ट बनाने में भी सहायता मिली। पहली रेल सन् १८७२ में आवागमन के लिए खोली गयी जो १८ मील लम्बी थी। सन् १८८७ तक रेलें चलाने का काम केवल सरकार ही करती रही, किन्तु बाद में निजी ढंग से रेलें चलाने को खूब प्रोत्साहन दिया जाने लगा। सन् १८९४ तक २,११८ मील लम्बी रेलें चलने लगी थीं। इससे व्यवसाय को तो निश्चित रूप से लाभ हुआ ही, साथ ही, विभिन्न कुलों और वंशों के लोगों का और अधिक प्रगाढ़ संपर्क भी होने लगा।

किन्तु अन्त्यज या सबसे निम्न जाति के लोगों के ऊपर के जो लोग थे, उनके प्रति दृष्टिकोण बदल देना सिवा दूरन्देशी के और कुछ नहीं कहा जा सकता। सामन्तवाद के अंत से सर्वसाधारण का एकीकरण हुआ था और शासन की नीति थी कि सामुराई व पुराने

कुलीन घरानों की प्रतिष्ठा कायम रखकर उन्हें उद्योग-धन्धों व व्यवसाय में लगाया जाय। जिस काम में सरकार अगुआ थी, उसमें जनता के सरकार के पीछे-पीछे चलने की अपेक्षा थी। सरकार ने केवल रेलें ही नहीं बनायीं, वह पहले अनेक कम्पनियों में साझीदार बन कर और बाद में अनुदान देकर जहाज बनाने के उद्योग में भी शामिल हुई। उसने अनेक विनिमय-केन्द्र स्थापित करने में भी अगुआई की; एक केन्द्र विदेशी व्यापार का यूरोपीय नियंत्रण समाप्त करने के लिए भी स्थापित किया गया। उसने वस्त्र-उद्योग को विकसित करने के लिए भी अनेक कदम उठाये; जापानी करघों का बना माल अनेक अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनियों में ले जाया गया; उसने स्वयं आधुनिक यंत्रों से सुसज्जित आदर्श कारखाने स्थापित किये; देशी माल की देश में ही खपत के लिए अनेक प्रदर्शनियाँ देश के विभिन्न स्थानों में की गयीं; और, अनेक स्थानों पर स्थायी व्यावसायिक संग्रहालय खोले गये। कपास और रुई के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन किया गया; देशी रुई घटिया मान कर त्याग दी गयी और बड़ी मात्रा में विदेशी रुई का आयात किया गया। पुरानी उद्योग-श्रेणियों की जगह नये व्यापारिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया गया। हर प्रकार के उद्योगों के विकास के लिए जो कुछ किया गया, उसके ये उदाहरण मात्र हैं। किन्तु जापान के उद्योग का असली विकास चीन से युद्ध की समाप्ति के बाद ही हुआ। व्यापारिक कीर्तिमान स्थापित करने में बहुत समय लगा, क्योंकि, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राचीन जापान में ऐसे कीर्तिमानों का विकास नहीं हुआ था और वहाँ धोखाधड़ी ही नियम थी। जापान को ईमानदारी और अपने माल की अच्छाई दोनों के लिए अपनी साख बनानी थी।

सन् १८६८ के बाद सरकार को जो अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करना था, वह था मुद्रा-विनिमय का सुधार। विनिमय के लिए सोने-चाँदी का प्रयोग होता था और इसके अतिरिक्त शोगुन-शासन तथा अनेक दाइम्यो ने सिक्के भी जारी किये थे। इसके अतिरिक्त सोने-चाँदी के सिक्कों का ऐसा संबंध था कि विदेशी अपने देश से चाँदी मँगा लेते थे और सन् १८५८ की संधि तथा बाद में हुए समझौतों के अनुसार उसे जापान की चांदी से बदल लेते थे; फिर इस जापानी चाँदी को सोने में बदल लेते थे और सोने का निर्यात कर देते थे। फलतः, देश से सोना खिंचता जा रहा था। इसका एक ही निराकरण था——संधि-पुनरीक्षण व विनिमय-नियंत्रण। फिर, सन् १८६८ में सरकार के पास अपना खर्च चलाने के लिए भी पर्याप्त आय नहीं थी, जबकि सरकार कर-प्रणाली बदल चुकी थी। सरकार ऐसी कागज की मुद्रा जारी करने को बाध्य थी, जो सोने-चाँदी से बदली नहीं जा सकती थी। बैंकों की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव ने समस्या को और भी जटिल बना दिया था।

मुद्रा-विनिमय व बैंक की समस्या को हल करने की दिशा में सन् १८७२ में पहला

कदम उठाया गया, जब ईटो के सुझाव पर, अमरीकी पद्धति पर राष्ट्रीय बैंकों को विनियमन के लिए आदेश जारी किये गये और इन बैंकों को अपरिवर्त्य नोट जारी करने के अधिकार दिये गये। पहले राष्ट्रीय बैंक की स्थापना सन् १८७३ में की गयी; दो परिवारों को आदेश दिये गये कि इस बैंक के लिए आवश्यक धन लगायें। शुरू में बैंकों का विकास धीमा था, और सन् १८७६ में केवल चार बैंक थे। उसी वर्ष आदेश में संशोधन किया गया और नोटों की मुद्रा में बदली की अनुमति दे दी गयी; इसके उपरान्त बैंकों का विकास तेजी से होने लगा। सन् १८७९ तक १५१ राष्ट्रीय बैंकों की स्थापना हो चुकी थी, जिनमें १,२०,००, ००० येन जमा थे। इस विकास के साथ ही अपरिवर्त्य नोटों की मात्रा भी बढ़ गयी; जो सत्सूमा-विद्रोह के कारण बढ़े हुए खर्च नोटों के प्रसार से कीमतें बढ़ गयीं, जिससे जनता के कष्ट काफी बढ़ गये। अनेक वर्षों तक वित्तमंत्रियों के सामने कागज की मुद्रा के प्रतिदान की समस्या रही। अंततः, सन् १८८५ में प्रतिदान का विधान हो गया और परिवर्त्य मुद्रा की स्थापना हुई। किन्तु, सन् १८९६ के वाद तक देश की मुद्रा का आधार चाँदी ही बना रहा, जब चीन से मिली क्षतिपूर्ति के उपरान्त देश स्वर्ण-मान पर आ गया।

इसी बीच राष्ट्रीय बैंकों की प्रणाली के दोष दूर करने के लिए सन् १८८२ में केन्द्रीय बैंक-संस्था—बैंक आव जापान—स्थापित कर दिया गया जो सरकार की मुख्य वित्तीय एजेंसी थी। संसद की स्थापना के बाद हर अधिवेशन में राष्ट्रीय बैंकों को निजी बैंकों में परिवर्तित कर राष्ट्रीय बैंक प्रणाली समाप्त करने के लिए विधेयक पेश होते रहे। अन्ततः सन् १८९६ में यह व्यवस्था कर दी गयी। बैंक आव जापान की स्थापना के बाद, और सरकार का उद्देश्य राष्ट्रीय बैंकों से पूरा न होने पर, विशेष उद्देश्यों के लिए अलग-अलग संस्थाएँ कायम हुईं। सन् १८८७ में पहला योकोहामा सोना-चाँदी बैंक कायम हुआ; इसका उद्देश्य विदेशी मुद्रा के व्यापार को नियंत्रित करना व विदेश-व्यापार के लिए पूँजी सुलभ करना था। चीन से युद्ध के बाद ४६ औद्योगिक व कृषि-बैंक तथा एक दृष्टिबंधक बैंक की स्थापना हुई; धीरे-धीरे अन्य संस्थाएँ भी जैसे कि फारमोसा बैंक या होक्कायडो उपनिवेशन बैंक, स्थापित हुईं। इस प्रकार धीरे-धीरे, नये जापान के विकास के अंग के रूप में एक बैंक-प्रणाली का विकास हुआ; इसमें जो-जो गलतियाँ या त्रुटियाँ सामने आती गयीं वे दूर की जाती रहीं।

जापान की पुनस्संस्थापना व उसके बाद के संक्रमण युग का संक्षिप्त वर्णन सरकारी नीतियों के किसानों पर पड़े प्रभाव के वर्णन के बिना अधूरा ही रह जायगा। पहला प्रभाव तो यह हुआ कि कृषि-भूमि पर व्यक्तिगत स्वत्व स्वीकार हुआ। इस मीइजी युग में बड़ी संख्या में किसान भू-स्वामी बने। सन् १८७२ में किसानों को भूमि के प्रमाणपत्र

दिये गये। उसी वर्ष भूमि के क्रय-विक्रय पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गये। चावल की औसत उपज और पाँच वर्ष की अवधि में चावल की औसत कीमत के आधार पर खेतों की कीमतें निर्धारित की गयीं; इन कदमों के बाद ही भूमि-कर-प्रणाली लागू की गयी; इसके पहले अनाज के रूप में लगान वसूल करने की सामन्ती प्रणाली चालू थी। नया भूमि-कर सन् १८७३ में लागू हुआ जो राज्य की राजस्व-प्रणाली का आधार बना। तब से किसान भू-स्वामी अपनी जोत की कीमत का एक बँधा अंश नकद रुपयों में सरकारी कोष में जमा करने लगे; इस रकम पर उपज के कम या ज्यादा होने या चावल के भाव ऊँचे-नीचे होने का कोई असर नहीं पड़ता था। यह कर किसानों की उपज का २५ से ३० प्रतिशत तक होता था। चूँकि यह कर नकद रुपयों में जमा होता था "फसल कटने के फौरन बाद किसान अपना चावल बेचने को बाध्य हो जाता था और कीमतों के उतार-चढ़ाव की सभी कठिनाइयों का सामना करता था, जब कि बड़े भू-स्वामी अपना चावल रोक लेते थे और उन पर बाजार भाव का उतना असर नहीं होता था।"[१५] किसानों पर फौरन ही एक और बोझ आ पड़ा था, क्योंकि सामूहिक भूमि पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व न होने से वह राज्य में निहित हो गयी थी और किसान उसके उपयोग से वंचित हो गये थे। उन्हें अपने लिए ईंधन की व्यवस्था अब स्वयं ही करनी होती थी। उसे रासायनिक खाद खरीदनी पड़ती थी; और विदेशों से आयात की हुई सस्ती रुई और राष्ट्रीय सूती वस्त्र-उद्योग स्थापित हो जाने से हर घर में जो कपड़े बनते रहते थे, उस घरेलू उद्योग के नष्ट होने से अपने कपड़े-लत्ते के लिए भी नकद रुपया चाहिए था।

इस नयी प्रणाली के अंतर्गत, जिसमें आत्म-निर्भर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर उत्पादन विक्रय के लिए होने लगा था, नये खर्च न सँभाल पाने के कारण किसान अपनी थोड़ी या सारी जोतें बेचने लगे। इस तरह किसानों की संख्या बढ़ गयी। "सन् १८८३ से सन् १८९० तक ३,६७,७४४ कृषि-उत्पादक भूमि-कर अदा करने में पिछड़ जाने पर अपनी भूमि बेचने को बाध्य हुए। इनमें ७७ प्रतिशत गरीबी के कारण ही कर अदा नहीं कर पाये थे।"[१६] सन् १८९२ तक जापान की कृषि-भूमि का ३९.९९ प्रतिशत शिकमी काश्तकारों द्वारा जोता जाने लगा था। कुछ भूस्वामी अपनी जोत के कुछ भाग के लिए शिकमी काश्तकार भी बन गये थे, क्योंकि अपनी जोतों के कुछ हिस्से बेच कर उनके नये मालिकों के लिए वे स्वयं काश्त करने लगे थे, ताकि उन्हें नकद धन प्राप्त हो सके। काश्तकारों की हैसियत से वे अपना लगान उपज के प्रतिशत के रूप में अदा करते थे, जैसा कि सामन्ती युग में होता था। कृषि-भूमि की चकबन्दी न हो सकने का एक कारण यह भी था कि आबादी अत्यधिक बढ़ने के कारण और उसके भूमि से हटकर अन्य उद्योग-धन्धों में न लग सकने के कारण जमींदार लगान के रूप में अनेक छोटे-छोटे काश्तकारों से अधिक

मुनाफा कमा लेते थे। इस प्रकार संक्रमण-काल में खेती में पूँजीवाद सामन्तवाद को पूरी तरह से हटा नहीं पाया।

कृषि-उत्पादन बढ़ाने, होक्कायडो के उपनिवेशीकरण, स्थानिक प्रशासन की स्थापना करने तथा ऐसे ही अन्य काम करने के लिए जो प्रयास किये गये, उनका विशद वर्णन यहाँ कठिन है। वस्तुस्थिति के अच्छे व बुरे, दोनों पहलू थे और खराब पहलू का वर्णन भी यहाँ कठिन है। बहुत बड़ी बदनामी करने वाले काण्ड कम ही हुए थे, किन्तु ऊँचे पदों पर बैठने वालों ने अपने लिए बड़ी-बड़ी धनराशियाँ जमा कर ली थीं और इस नियम के अपवाद स्वरूप बिरले ही लोग थे। जब नयी संसदीय प्रणाली लागू हुई, मतों का क्रय-विक्रय व्यापक पैमाने पर हुआ। और यह भी स्वीकार करना होगा कि राष्ट्र नेताओं से पिछड़ गया था। परिवर्तन के लिए कोई राष्ट्रीय प्रेरणा नहीं थी और नये जापान के निर्माताओं के विरुद्ध गहरा असंतोष व्याप्त था। किन्तु सभी त्रुटियों को स्वीकार करते हुए, यह सच्चाई के साथ कहा जा सकता है कि––

सन् १८९४ तक संक्रमण-काल का संकट पार हो चुका था। शासन का पूर्ण पुनस्संगठन हो चुका था और नये विधान का प्रयोग भी वर्षों तक हो चुका था। पश्चिमी-आदर्शों के अनुरूप स्थल और जल-सेनाओं का संगठन हो चुका था। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली सफलता पूर्वक चालू थी। सीमा-शुल्क और न्याय-प्रणाली की स्वाधीनता मिलने ही वाली थी। उद्योग और व्यवसाय को सक्रिय जीवन का आश्वासन था। पुनस्संगठन अभी पूरा नहीं हुआ था और उसके फल अभी प्रकट होने शुरू ही हुए थे; किन्तु देश को आधुनिक संसार के उपयुक्त ढालने के लिए जो आंतरिक धक्का लगा था, उसका प्रभाव समाप्त हो चुका था। सन् १८९४ के बाद से पुनस्संगठित जापान विकसित होकर राष्ट्रों के परिवार का बराबर का सदस्य बनने के रास्ते पर अग्रसर होता रहा और धीरे-धीरे इस परिवार का महत्त्वपूर्ण सदस्य बनता गया।[१७]

छठा अध्याय

कोरिया के लिए प्रतियोगिता

(१) आधुनिक युग से पूर्व के कोरिया से चीन व जापान के संबंध

चीन और जापान के ऐतिहासिक संबंध कोरिया में ही केन्द्रित रहे हैं और कोरिया को लेकर ही उन दोनों के बीच आधुनिक युग में पहली बार गंभीर संघर्ष हुआ। और इस संघर्ष के नतीजे न केवल संघर्षरत पक्षों के लिए ही वरन् समस्त संसार के लिए गंभीर महत्त्व के हो गये। कोरिया को लेकर पहले जो संघर्ष होते थे, उनमें संघर्ष में भाग लेने वाले देश ही फँसते थे, किन्तु यूरोपीय देशों के सुदूर पूर्व में आ जाने के बाद चीन के "स्वर्गीय" साम्राज्य की आपेक्षिक स्थिति में परिवर्तन से ऐसे नतीजे निकलने लगे थे, जिनका यूरोप पर भी प्रभाव पड़ता था। यह बात रूस के संदर्भ में विशेष रूप में लागू होती है, जो धीरे-धीरे चीनी साम्राज्य व, कोरिया-राज्य की ओर अपना क्षेत्रीय विस्तार करता चला आ रहा था। रूस के पीछे अन्य देश थे, जो रूसी 'क्षेत्रीय दैत्य' की स्थिति में परिवर्तन होने पर निश्चित रूप से प्रभावित होते थे।

कोरिया का आधुनिक युग से पूर्व का इतिहास संक्षेप में बताया जा सकता है। उसकी भौगोलिक स्थिति उसके अधिकांश इतिहास को प्रभावित करती रही है। एक ओर यालू नदी कोरिया की मंचूरिया से सीमा बनाती है और दूसरी ओर एक संकरी खाड़ी कोरिया को जापान से अलग करती है; इस स्थिति के कारण कोरिया का इतिहास अविच्छिन्न रूप से इन दो पड़ोसियों से जुड़ा रहा है। जब चंगेज़ खाँ और कुबलाइ खाँ की फौजें मंगोलिया से मंचूरिया होती हुई चीन पर छा गयीं थीं, तब चीन और कोरिया का पारस्परिक संपर्क बारह शताब्दी पुराना हो चुका था। यह स्वाभाविक ही था कि मंगोल आक्रमण कोरिया द्वारा ही जापान पहुँचे—पहले कोरिया में तैयारी करे, फिर जापान पर आक्रमण करे। कोरिया पहले भी चीन को कर देता था और उस आक्रमण के बाद भी लगातार कर देता रहा और उसके राजाओं का मानाभिषेक पीकिंग से ही होता रहा; बीच में, सोलहवीं शताब्दी में अधिराट् व करद राज्य का यह संबंध अस्थायी रूप से तब टूट गया था, जब एक दूसरी दिशा से आक्रमण कर उसे जीत लिया गया था।

उधर, जापान भी साम्राज्य बनाने के स्वप्न देख रहा था और उसके महान् सेनापति हिडेयोशी ने एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर पैर जमाने के प्रयास भी किये थे। जापान का असली लक्ष्य चीन था, जिस प्रकार चीन के मंगोल शासकों का मुख्य लक्ष्य जापान था। और चीन पर आक्रमण करने के लिए जापानियों के लिए कोरिया पर कब्जा जमाना अनिवार्य था। कोरियाई प्रतिरोध, तथा बाद की चीनी सहायता के बावजूद जापान ने कोरिया पर कब्जा कर लिया। पर जिस तरह समुद्र के कारण जापान पर पहले आक्रमण रुक गये थे, उसी तरह समुद्र के कारण ही हिडेयोशी कोरिया के आगे नहीं बढ़ सका। कोरियाई समुद्री बेड़े ने, जो शुरू में बड़े कुशल नेतृत्व में था, जापान से कुमक, रसद व सेना आने में इस प्रकार बाधाएँ डालीं कि हिडेयोशी की सेनाएँ कोरिया में जम न सकीं। हिडेयोशी की मृत्यु के बाद यह अभियान समाप्त कर दिया गया। कुछ समय के बाद तोकूगावा-कुल का जापान में प्रभुत्व हो गया और जापान का बाहरी देशों से संपर्क कट गया।[1] कुछ समय के लिए, जापान का कोरिया होते हुए चीन से जो संबंध जुड़ा था, वह भी विच्छिन्न हो गया। इस आक्रमण का एकमात्र स्थायी फल यह निकला कि शिमोनोसेकी के दूसरी ओर खाड़ी के मुहाने पर फुसान द्वीप में जापानियों का उपनिवेश बन गया, और कोरिया की ऐसी बरबादी हो गयी कि वह फिर कभी उससे पूरी तरह उबर न सका और कोरियाई जनता में जापानियों के प्रति घृणा व भय की भावना व्याप्त हो गयी।

जापानी सेना के कोरिया खाली करने के शीघ्र बाद मंचू-साम्राज्य ने कोरिया में फिर अपना प्रभुत्व जमा लिया। पीकिंग से मंचुओं ने कोरिया पर अपने अधिराजत्व का सफलतापूर्वक दावा किया और यह संबंध सन् १८९४–१८९५ के चीन-जापान युद्ध तक कायम रहा।

जहाँ तक गैर-चीनी जगत का संबंध था, जापानी आक्रमण के बाद कोरिया सुदूरपूर्व का सबसे अधिक एकान्त देश बन गया। कुछ समय तक कोरियाई सरकार चीन और जापान को करद मिशन भेजती रही, पर जापान के अंतर्मुखी होने के बाद धीरे-धीरे यह समाप्त हो गया। जापान का फुसान उपनिवेश तो कायम रहा, पर उसका मुख्य जापान देश से संबंध नहीं के बराबर था। इसके अतिरिक्त कोरिया का कोई बाहरी संपर्क नहीं था। एक ओर चीन का कैण्टन स्थित द्वार उन्मुक्त था, दूसरी ओर नागासाकी में जापान का दरवाजा खुला हुआ था, किन्तु कोरिया पहुँचने के लिए चीन होकर जाने के अतिरिक्त कोई मार्ग न था। कोरिया को दिया गया नाम—'संन्यासी राज्य'—उपयुक्त ही था।

बाहरी प्रभावों से इस प्रकार बन्द रहने के कारण सुदूरपूर्व के देशों में कोरिया सामान्य विदेशी संपर्क में सबसे बाद में आया। इसका एक कारण तो अवश्य ही यह था कि वह अपेक्षतया कम महत्त्व का था और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि जब तक विदेशी

चीन और जापान के दरवाजे सफलतापूर्वक न खुलवा लें वे कोरिया के संपर्क में नहीं आ सकते थे; किन्तु अंशतः इसका यह भी कारण था कि स्वयं कोरिया ने अपने को बाहरी दुनिया से इस तरह काट रखा था कि उसके बारे में बाहर अधिक जानकारी नहीं थी। चीन से विदेशियों की संधियाँ होने के तीस वर्ष और जापान में पेरी-मिशन आने के बीस वर्ष बाद कोरिया सरकार ने पहली संधि की और वह भी किसी पश्चिमी देश से नहीं, वरन् एक पूर्वी देश से, जो कितने ही रोध-अवरोध पार कर वहाँ पहुँच गया था।

(२) कोरिया का द्वार उन्मुक्त होना

कोरिया का दरवाजा बलात् खोलने का पहला प्रयास फ्रांस ने किया। सन् १८६६ में, जब कि कुछ फ्रांसीसी कैथोलिक धर्म-प्रचारक, जो उस देश में गुप्त रूप से कार्य कर रहे थे, कुछ देशी पादरियों व उन लोगों के साथ मार डाले गये, जिन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, फ्रांस ने एक नौसैनिक-अभियान कोरिया भेजा, जिसका उद्देश्य इन हत्याओं के लिए क्षतिपूर्ति प्राप्त करना था।[२] अभियान कोरिया तट तक पहुँचने में सफल हो गया, किन्तु कोरियाई सरकार ने उससे समझौते की कोई भी बात करने से इनकार कर दिया। जो सैन्य-शक्ति उसके पास थी उसे देखते हुए फ्रांसीसी सेनापति कोरिया की राजधानी तक के थोड़े से फासले को भी पार करने में हिचकिचा रहा था। कोरिया-निवासियों के प्रतिरोध, सरकार के बात करने से इनकार और अपनी सैनिक शक्ति कम होने के कारण यह सेनापति अपना लक्ष्य प्राप्त किये बिना ही वापस लौट पड़ा। फ्रांसीसियों के इस प्रायद्वीप में अपने हित-साधन के लिए बाद में कोई काररवाई न करने का एक कारण यह था कि फ्रांस चीन की दक्षिणी सीमा पर अपने विस्तार के प्रयासों पर ही जोर देना चाहता था। सन् १८६७ में उसने कोचीन-चीन के तीन प्रान्तों पर अधिकार भी कर लिया।

सन् १८६६ में ही 'सर प्राइज' नामक एक अमरीकी जहाज कोरिया के तट पर ध्वस्त हो गया। किन्तु अमरीकी नाविकों के साथ फ्रांसीसी पादरियों की अपेक्षा बहुत अच्छा व्यवहार हुआ और उन्हें मंचूरिया के रास्ते वापस भेज दिया गया। किन्तु एक अन्य अमरीकी जहाज 'जनरल शर्मन' इतना सौभाग्यशाली साबित नहीं हुआ। जब यह जहाज कोरिया की एक नदी में फँसा पड़ा था, उसके नाविक किनारे पर एक झगड़े व मार-पीट में फँस गये। नाविकों को तो बचा लिया गया, पर जहाज को नष्ट कर दिया गया। आठ नाविक तो मार डाले गये और शेष को कैद कर लिया गया। कई वर्ष बाद, सन् १८७१ में, इस मामले की जाँच और यदि कोई कैदी जिन्दा बाकी बचा हो तो उसे मुक्त कराने के लिए एक अमरीकी अभियान आया। कियांगह्वा के किलों को ध्वस्त करने के

बाद अमरीकी समुद्र तट पर तो उतर आये, किन्तु कोरियाई सरकार ने फ्रांसीसियों की भाँति अमरीकियों से भी बात करने से इनकार कर दिया। यह अभियान भी कोरिया में संपर्क स्थापित करने के अपने उद्देश्य में असफल होकर वापस लौट गया।

चार वर्ष बाद कोरियाई समुद्र में जाते हुए एक जापानी जहाज पर गोली चलायी गयी। तत्काल, केवल स्थानीय स्तर पर प्रतिशोधात्मक कारवाई की गयी, यद्यपि इस घटना से जापान में बड़ी सनसनी पैदा हो गयी क्योंकि सामुराई-वर्ग पहले से ही उतावला और असंतुष्ट होकर आपे से बाहर हो रहा था। यह सैनिक-वर्ग सन् १८७२ में फारमोसा-काण्ड के समय ही युद्ध की माँग कर रहा था और हरजाना-वसूली के लिए फारमोसा भेजे गये अभियान मात्र से पूरी तरह संतुष्ट नहीं हुआ था। अतएव, जब सन् १८७५ और उसके बाद इस वर्ग को युद्ध का उपयुक्त कारण मिला तो युद्ध की माँग फिर जोर पकड़ गयी। किन्तु कोई काररवाई करने के पहले जापान-सरकार ने चीन से बातचीत चलायी।

इस घटना के समय तक चीन और जापान स्वयं संधि-संबंधों में बँध चुके थे। सन् १८७१ में, पिछले वर्ष के जापान के पूर्व रंग पर, संधि-समझौता हो चुका था पर दोनों देशों का अनुसमर्थन सन् १८७३ में ही प्राप्त हुआ था। चीन और जापान के बीच पहले हुई संधियों तथा इन दोनों देशों की पश्चिमी राष्ट्रों से हुई संधियों से यह संधि भिन्न थी। एक तो चीन परम मित्र राष्ट्र सिद्धान्त को संधि में शामिल करने को तैयार नहीं था; दूसरे दोनों देशों ने राज्यक्षेत्रातीतता का सिद्धान्त एक दूसरे पर लागू तो किया, पर संशोधित रूप में; और तीसरे यद्यपि अन्य संधियों की भाँति एक दूसरे देश से व्यापार के पारस्परिक अधिकार इस संधि में भी थे, किन्तु जापान को चीन के भीतर यात्रा करने का अधिकार नहीं मिला था, क्योंकि चीन को डर था कि बहुत से जापानी लोग आकर उसके यहाँ भर जायँगे।

इस संधि में कोरिया की स्थिति से संबंधित केवल एक ही धारा थी। पहली धारा में एक दूसरे की क्षेत्रीय उपलब्धियों पर पारस्परिक अनाक्रमण का समझौता था। संधि-समझौते की बातचीत के समय ली हुंग-चांग चीनी आधिपत्य के कुछ बाहरी प्रदेशों की स्थिति के संबंध में चिन्तित थे। फारमोसा का प्रश्न और लूचू द्वीप की स्थिति से भी यह चिन्ता उठ खड़ी हुई थी। किन्तु तब भी, उसके मन कोरिया की स्थिति के संबंध में कठिनाइयाँ पैदा होने की संभावनाएँ स्पष्ट थीं। संधि में यह धारा डाल कर उसने समझा कि जहाँ तक जापान का प्रश्न है कोरिया की स्थिति सुरक्षित कर ली गयी है, क्योंकि क्षेत्रीय उपलब्धियों के लिए संधि में "राज्य व भूमि" का प्रयोग किया गया था।" ३१ अगस्त १८७१ को अपने प्राथमिक प्रतिवेदन में ली ने दरबार को लिखा कि इस वाक्यांश से कोरिया व ऐसे अन्य राज्यों की स्थिति सुरक्षित कर ली गयी है।[३]

१८७५ की घटना के बाद जापान सरकार ने चीन की केन्द्रीय सरकार से बात करने एक शिष्टमंडल पीकिंग भेजा और एक फौजी अभियान कोरिया रवाना कर दिया, जो क्षतिपूर्ति और संधि की माँगों पर अड़ा रहा। पीकिंग में हुई वार्ता का फल यह निकला कि चीन ने कोरिया से अपनी नीति बदल कर जापान से संधि समझौता करने के लिए कहा। चीन के इस सुझाव का असर रहा हो या जापानी शक्ति-प्रदर्शन का, कोरिया को यह आभास हो गया कि बाहरी संपर्क के विरुद्ध वह चाहे जितने मजबूत व्यवधान खड़ा करे, बाहरी शक्तियाँ लगातार दबाव देकर उन व्यवधानों को ध्वस्त कर देती हैं; और इसलिए वह संधि करने के लिए तैयार हो गया। फलतः, २६ फरवरी १८७६ को कोरिया और जापान के बीच सद्भावना व व्यवसाय-संबंधी संधि पर हस्ताक्षर हो गये। इस संधि में भी संशोधित रूप में राज्यक्षेत्रातीतता का सिद्धान्त शामिल था तथा वे अन्य व्यवस्थाएँ भी थीं, जो पश्चिमी राष्ट्रों व जापान के बीच हुई संधियों में थीं, और जिनके विरुद्ध जापान उस हद तक तब भी लगातार आपत्तियाँ उठा रहा था, जिस हद तक वे उस पर लागू होती थीं। किन्तु संधि की सबसे महत्त्वपूर्ण पहली धारा में वर्णित यह घोषणा थी कि "स्वतंत्र देश होने के नाते कोरिया के सर्वोच्च सत्ता-संबंधी वही अधिकार हैं, जो कि जापान के हैं।" त्सुंगलीयामेन को जब संधि की एक प्रति प्राप्त हुई, तब उसने "जापान द्वारा कोरिया की स्वाधीनता की स्वीकृति की धारा के रहते हुए भी कोई टीका-टिप्पणी नहीं की। कोरिया द्वारा निष्ठा-भक्ति के आश्वासन पाकर यामेन ने संधि की इस धारा के गूढ़ार्थ स्वीकार नहीं किये।"[४]

जिस समय इस संधि पर हस्ताक्षर हुए चीन और कोरिया के बीच, नाममात्र के लिए ही सही, पारस्परिक सम्मान के ऐतिहासिक संबंध थे। अधिराट् व करद राज्यों के संबंध तब "पश्चिमी न्याय-प्रणाली के लिए अज्ञात थे।"[५] एक अन्य चीनी विद्वान् ने इस संबंध में लिखा है : "कानून और प्रथा की दृष्टि से (कोरिया की चीन से) अधीनता और भी दीनतापूर्ण थी। कोरिया के राजाओं का मानाभिषेक पीकिंग से होता था; हर वर्ष कोरिया करद मिशन भेजता था। चीन के सम्राट् की मृत्यु या राज्याभिषेक के समय समारोहों में भाग लेने कोरिया से प्रतिनिधिमंडल आते थे। जब चीनी सम्राट् का एजेण्ट कोरिया पहुँचता था तो वहाँ का राजा स्वयं उसको साष्टांग दण्डवत् करता था। विदेशी आक्रमण या आंतरिक उपद्रव होने पर सम्राट् सहायता भेजता था। इन बातों को छोड़ कर, कोरिया के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था. . .अपने करद राज्यों से चीन परिवार के सदस्यों जैसा व्यवहार करता था—वह स्वयं बड़ा भाई था और करद राज्य उसके छोटे भाई।"[६] कोरिया के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का जो परंपरागत दृष्टिकोण था, उसी के कारण चीन सरकार ने यह उपयुक्त समझा कि आक्रमण की स्थिति

को छोड़कर शेष मामलों में कोरिया स्वयं अपना प्रबन्ध करने लगे । किन्तु हस्तक्षेप न करने की वही नीति थी, जिसके कारण जापान व अन्य देशों को चीनी अधिराजत्व की वस्तुस्थिति से इनकार करने का अवसर मिला । कोरिया से राज्यनिष्ठा प्राप्त रहने के कारण, चीन अधिराट् की स्थिति में निहित, हस्तक्षेप के अपने अधिकारों के उपयोग को तब तक अनावश्यक मानता रहा, जब तक अन्य राष्ट्रों ने कोरिया में दिलचस्पी लेनी और वहाँ अपने हित बनाने आरम्भ न कर दिये । किन्तु, कोरिया की चीन के प्रति पूरी राज्यनिष्ठा होने के बाद भी, चीन को अपनी स्थिति कायम रखने के लिए यह जरूरी था कि या तो यह परंपरागत संबंध किसी समझौते में लिखित रूप से आ जाते या उनमें इस हद तक संशोधन हो जाता कि अन्य राज्यों के हितों से संबंधित कोरिया सरकार की काररवाइयों की जिम्मेदारी स्वयं चीन ले ले। यह बात सन् १८८५ के बाद ही पूरी तरह समझी गयी।

जापान को उसके जहाज की हुई क्षति के लिए कोरिया से सीधे हरजाने और संधिवात करने की छूट दे देना चीन के दृष्टिकोण से बड़ी घातक गलती हो गयी । अपनी निष्क्रियता के पूरे नतीजे न समझने के कारण चीन ने वार-बार अन्य स्थानों पर भी यही गलती की और उसके अधिराजत्व को कायम रखने के दृष्टिकोण से हर बार इस गलती के दुर्भाग्यजनक परिणाम हुए । जो नीति पहले अपनायी गयी थी, उसका कोरिया में भी घातक परिणाम हुआ । शुरू की गलती सुधारने के लिए बार-बार कोशिश करने के बावजूद उत्तरी वर्मा और उस क्षेत्र की भाँति जो अब फ्रांसीसी हिन्द-चीन के नाम से जाना जाता था कोरिया धीरे-धीरे चीन के हाथ से फिसलता दिखायी दे रहा था और चीन के अधिराजत्व के दावे और अपनी सत्ता बढ़ाने के सभी यत्न विफल हो रहे थे । गलती चीन ने की थी और उसका पूरा-पूरा लाभ जापान को उठाना था । और जापान ने इस बात पर जोर दिया कि कोरिया चीन से अपने पुराने संबंधों की समाप्ति की घोषणा कर अपने को सर्वोच्चसत्तासंपन्न स्वतंत्र राष्ट्र घोषित करे। कोरिया और चीन, दोनों ने शीघ्र ही अपनी गलती समझ ली थी किन्तु उसे सुधारने के उनके प्रयत्न विफल हो गये ।

कोरिया से संपर्क स्थापित करने में जापान की सफलता देखकर अमरीका ने भी कोरिया से संधि करने के प्रयत्न एक बार फिर से शुरू कर दिये । इसी समय चीन ने सोचा कि सिऊल में जापान के बढ़े हुए प्रभाव को समाप्त करने का एक उपाय कोरिया के बाहरी संपर्क व्यापक बना देना भी हो सकता है। सन् १८७९ में ही "ली हुंग-चांग ने एक उच्चपदस्थ कोरियाई अधिकारी को अपनी सोची-विचारी यह सम्मति दी थी कि चूँकि 'जहर जहर से ही मारा जाता है' चीनी षड्यंत्र का मुकाबला करने का एक ही उपाय यह है कि पश्चिमी राष्ट्रों से भी संधियाँ कर ली जायँ।"[७] सन् १८८० में अमरीकी नौसैनिक अधिकारी कमोडोर शूफेल्ट ने जापान की सहायता से कोरियाई सरकार से संपर्क

स्थापित करने का प्रयत्न किया, चीन की भी दिलचस्पी बढ़ गयी। वाइसराय ली ने शूफेल्ट को टींटसीन आने की दावत दी। चूँकि उसके प्रति जापान का रवैया बहुत संतोषजनक नहीं रहा था शूफेल्ट ने टींटसीन जाने और ली हुंग-चांग की सहायता से कोरिया से संपर्क बढ़ाने का निमंत्रण स्वीकार कर लिया। अंत में, सन् १८८२ में, चीनी वाइसराय की मध्यस्थता से टींटसीन में कोरिया व अमरीका के बीच संधि समझौता हो गया। अगले चार वर्षों में रूस, फ्रांस, इटली, जर्मनी, इंगलैण्ड, सभी के कोरिया से संधि-संबंध स्थापित हो गये।

इन सभी संधियों में जापानी नजीर पर कोरिया को पूर्ण स्वतंत्र राज्य स्वीकार किया गया था।

किन्तु, स्वाधीनता के प्रश्न को हल करना, यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने टाल ही दिया, और पीकिंग स्थित अपने दूतों को विभिन्न नामों से अपना सिऊल स्थित प्रतिनिधि भी मान लिया। किन्तु, पीकिंग द्वारा अपना उत्तरदायित्व त्याग देने से प्रभावित होकर अमरीका ने जापान की भाँति सिऊल में अपना एक मंत्री रख दिया जो टोकियो और पीकिंग स्थित अमरीकी मंत्रियों से स्वतंत्र था। अमरीका के इस कदम से जापान को बहुत संतोष हुआ।[८]

आगे जब चीन ने इस तरह छिने हुए अधिकार को सन् १८८७ में फिर से प्राप्त करने की कोशिश की और अमरीका गये कोरियाई प्रतिनिधि पर जोर दिया कि वह अमरीकी सरकार से वाशिंगटन स्थित चीनी दूतावास के द्वारा ही बात करे, तब अमरीकी गृहमंत्री ने कोरियाई प्रतिनिधि को स्वतंत्र राष्ट्र का प्रतिनिधि स्वीकार कर उससे सीधे बात की और चीनी दूतावास को बीच में नहीं आने दिया। अन्य पश्चिमी देशों और कोरिया के बीच जो संधियाँ हुई थीं, उनसे अमरीकी संधि इस बात में भी भिन्न थी कि हैरिस संधि की भाँति उसमें एक धारा यह भी थी कि आवश्यकता पड़ने पर कोरिया को अन्य राष्ट्रों से अपने विवाद तय करने में अमरीकी मध्यस्थता प्राप्त रहेगी। जब कोरिया पर आधिपत्य जमाने का संघर्ष चरम सीमा पर पहुँचने लगा, कोरिया ने अंततः संधि की इस धारा पर भरोसा किया, किन्तु कोरिया यह नहीं समझ सका था कि 'मध्यस्थता' के लिए विवाद के दोनों पक्षों को इसके लिए तैयार होना पड़ता है, नहीं तो मध्यस्थता हस्तक्षेप बन जाती है। यह बात चीन, जापान या कोरिया किसी को भी स्पष्ट नहीं की गयी थी।

(३) कोरिया की आंतरिक परिस्थिति

विदेशी संपर्क के लिए जिस कोरिया का द्वार उन्मुक्त हुआ उसकी स्थिति इतनी दयनीय थी कि उसने विदेशी हस्तक्षेप का एक तरह से स्वागत ही किया। राजकुल—

यी का घराना—विदेशी संपर्क स्थापित होने से ५०० वर्ष पहले कायम हुआ था। पहले शासक ने अवश्य कुछ व्यापक सुधार किये जिनमें अकुशल, भ्रष्ट, बौद्धधर्म के अनुयायी अधिकारियों को निकालना भी था। ध्वनि पर आधारित एक वर्णमाला का भी विकास किया गया, किन्तु चीनी लेखन के आदी पुरुषों में इस वर्णमाला को चलाना असंभव सिद्ध हुआ; केवल स्त्रियाँ ही इस वर्णमाला का प्रयोग करती रहीं। धातु के अक्षर ढाले गये जो एक जगह से दूसरी जगह ले जाये जा सकते थे। "कला, साहित्य, विज्ञान, अर्थशास्त्र, कृषि, हर मानवीय प्रक्रिया में एक नयी भावना प्रतिलक्षित होने लगी और थोड़े ही समय में जनता की पतित दशा में सुधार होने लगा।"[१]

दुर्भाग्यवश, राजकुल की स्थापना करने वाले के उत्तराधिकारी निर्बल शासक हुए और सोलहवीं शताब्दी में गुटबन्दी बढ़ गयी, जो कोरिया के पतन का कारण बनी। शताब्दी के अंत में जापानी हमलावरों के प्रतिरोध की शक्ति इस गुटबन्दी के कारण क्षीण हो गयी थी, किन्तु यदि ये हमलावर चीन की सहायता के बिना खदेड़ दिये जाते तो संभवतः गुटबन्दी की जगह एकता की भावना भी प्रबल हो सकती थी। किन्तु यद्यपि जापानी हमलावर अंततः निकाल दिये गये, कोरिया को जीतने के लिए जब जापान के दूसरी बार के प्रयास चल रहे थे, तभी दलबन्दी ने फिर से सिर उठाया और फिर वह कभी समाप्त न हो सकी।

जापान ने कोरिया की जो बरबादी की थी, उससे वह कभी पूरी तरह उबर न सका। किन्तु पुर्ननिर्माण की अक्षमता का कारण आंतरिक परिस्थितियाँ थीं, जो संपत्ति और जन-जीवन का भयंकर संहार हुआ था, वह नहीं। सोलहवीं शताब्दी से देश दो भागों में अधिकाधिक बँटता गया—एक शोषित जनता का भाग और दूसरा शोषक अहलकारी समाज व दरबार का भाग। अधिकारी व सामन्ती कुलीन भी दो भागों में बँटे हुए थे—एक जो सत्तारूढ़ थे और दूसरे जो राजा की कृपा के पात्र नहीं थे और सत्तारूढ़ होने के लिए संघर्षशील थे। इस संघर्ष के रूप थे लगातार षड्यंत्र और राजनीतिक हत्याएँ। जो सरकारी पदों से किसी-न-किसी तरह से चिपके हुए थे, उन्हें छोड़ कर किसी की भी संपत्ति या जान सुरक्षित नहीं थी, वह चाहे जितना बड़ा व्यक्ति क्यों न हो और जनता में उन्नति करने के लिए कोई उमंग या प्रेरणा नहीं थी। यदि कोई व्यक्ति सफल व्यापारी या किसान होता और थोड़ी-बहुत पूँजी जमा करने लगता तो उसकी संपत्ति अवश्य ही छिन जाती—चाहे कर जमा करने वाले अधिकारी द्वारा, या चाहे किसी अधिकारी या सामंती कुलीन द्वारा बलात् ऋण लेने के बहाने। इस प्रकार, जो भी कमाओ उसे पूरा खर्च कर डालने में ही सुभीता था; या फिर लोग अपनी संपन्नता छिपा कर निर्धनों की तरह ही रहते थे। मितव्ययिता और सुधार को कोई प्रोत्साहन नहीं था। लोग मिट्टी के गन्दे घरौंदों

में रहते थे, जो कुछ वे बचाते थे, उसे खा-पी डालते थे या छिपा कर रखते थे। देश में दौलत थी जरूर, जो उसके अस्तित्व के स्वीकार करने पर भी सुरक्षा मिलती रहने के युग में बाहर निकली और कोरियावासियों ने काफी पूँजी चाहने वाले काम भी शुरू कर दिये। किन्तु देश की दशा बहुत गरीब ही दिखायी देती थी।

जनता में विभिन्न वर्ग व कोटियाँ बड़े यत्न से कायम रखी गयी थीं। सामाजिक स्थिति के अनुसार ही व्यक्तियों को कुरसी पर बैठने या गदहे पर सवार होने का अधिकार प्राप्त होता था। शासक वर्ग में काफी तड़क-भड़क और फिजूलखर्ची का जीवन था। पद और शक्ति का परिचय सदैव जनता के व्यक्तिगत अधिकारों की अवहेलना करके दिया जाता था।

किन्तु अधिकारियों की नाजायज वसूलियों और उनकी काररवाइयों में जब अति होने लगती थी और वे असह्य हो उठती थीं, तब जनता चीन की भाँति उनसे मुक्ति पा लेती थी। शिकायतें दूर करवाने के लिए कोरिया में भी छोटे-मोटे उपद्रव हो जाना सामान्य नियम था। यदि जनता विद्रोह कर देती और किसी अधिकारी को खदेड़ देती तो राज्यपाल तुरन्त उक्त अधिकारी को वहाँ से हटा देते थे; जनता के सक्रिय विरोध का प्रदर्शन देख कर राज्यपाल कदाचित् ही किसी अधिकारी को उसी स्थान पर कायम रखते थे। किन्तु पुराने अधिकारी की जगह जो नया अधिकारी आता, वह भी जनता की इच्छाओं की केवल उतनी ही परवाह करता था, जितने से विद्रोह न होने पाये। इस प्रकार, अधिकारियों के अत्यधिक बुरे कामों का दण्ड तो विद्रोहों द्वारा मिल जाता था, किन्तु अच्छा शासन लाने के लिए विद्रोह का तरीका कारगर नहीं था। सामान्यत: जनता इस शासन-प्रणाली को उदासीनता के साथ स्वीकार करती थी, क्योंकि उसे इस प्रणाली का कोई विकल्प नहीं प्राप्त था।

सामाजिक संस्थाओं के दृष्टिकोण से कोरिया का संगठन परिवार के आधार पर था और इसका अनिवार्य अंग, पूर्वज-पूजा भी थी। पूर्व के अन्य देशों की भाँति यहाँ भी पुत्री से अधिक प्रतिष्ठा पुत्र की होती थी; चीन और जापान के मुकाबले में यहाँ स्त्रियों का दरजा नीचा था। बौद्धमत एक समय यहाँ काफी प्रचलित था, किन्तु, पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद बौद्धधर्म का स्थान कनफूशियसवाद ले रहा था, यद्यपि यह मत भी यहाँ अविकसित अवस्थाओं में ही था। जहाँ तक जनता के धर्म का प्रश्न है, वह पिशाचवाद था; कोरिया में जहाँ इस पिशाचवाद ने बौद्धधर्म को हटा नहीं पाया था, वहाँ इसने स्वयं बौद्धधर्म का ही स्तर नीचे गिरा दिया था।

जनता का बहुत बड़ा भाग किसानी करता था और मुख्य फसल चावल थी; मछली और चावल कोरिया का मुख्य भोजन था। चावल के अतिरिक्त कुछ मोटे अनाज और

तरकारियाँ भी उगा ली जाती थीं। व्यापार अधिकांशतः एक जगह से दूसरी जगह घूमने वाले फेरीवाले दूकानदारों के हाथ में था। उद्योग सीमित और लगभग आदिम अवस्था में था। पहले के ज़माने का फलता-फूलता मृत्तिका-शिल्प ह्रासोन्मुख था, क्योंकि कोरिया के शिल्पी व कारीगर, सोलहवीं शताब्दी के अंत में जापानी हमलावरों के खदेड़े जाने पर, जापान पकड़ ले जाये गये थे। कारीगरों को बलात् जापान ले जाये जाने के धक्के से कोरिया का मिट्टी के बरतन आदि बनाने का यह उद्योग फिर कभी पनप नहीं पाया। किन्तु, इससे जापान को तो लाभ हुआ ही; क्योंकि, इससे जापान के मिट्टी के बरतन आदि बनाने के उद्योग के विकास की नींव पड़ी और बाद में सत्सूमा-बरतन बहुत विख्यात हुए।

(४) कोरिया पर आधिपत्य का संघर्ष

और भूखा, गरीब, कुशासित दल और फूट अभिशप्त यह संन्यासी राज्य कोरिया, अपने दो सशक्त पड़ोसी देशों के संघर्ष का कारण बना। इसमें भी कोरिया की गुटबन्दी की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। सन् १८६३ में जब पश्चिम के देश इस "प्रसन्नमुख प्रभात के देश" में दिलचस्पी लेना शुरू कर रहे थे, राजा पुत्र-प्राप्ति के ही बिना मर गये। फलतः एक बारह वर्षीय बालक सिंहासन पर बैठा और उसके पिता जो ताइवुनकुन नाम से प्रसिद्ध थे, राजप बने। राजप ने अपना प्रभाव संगठित करने और अपनी शक्ति कायम रखने के लिए पहला काम यह किया अपनी पत्नी की, जो मिन कुल की थी, भतीजी से अपने पुत्र का विवाह कर दिया। नये राजा निर्बल चरित्र के थे और अपने आस-पास के लोगों के प्रभाव में आ जाते थे। उनके पिता दृढ़ संकल्प-शक्ति वाले थे और राजा पर प्रभाव डालते रहते यदि रानी ने स्वयं शासन में दिलचस्पी लेना शुरू न किया होता। राजा के वयस्क होने पर रानी के नेतृत्व में मिन गुट और राजा के पिता ताइवुनकुन के नेतृत्व में यी परिवार, जो राजकुल था, के बीच सत्ता के लिए कटु संघर्ष हुआ। संघर्ष सत्ता का ही था, किन्तु विदेशी संपर्क का प्रश्न उठ खड़ा होने से वह परराष्ट्रनीति का प्रश्न बन गया। रानी-गुट प्रगतिशील दल बन गया, जो देश के द्वार उन्मुक्त करने के पक्ष में था। राजा के ऊपर रानी के प्रभाव से राज्य की विदेशी-विरोधी नीति त्याग दी गयी, सन् १८७६ में जापान से संधि हुई और जापान का दूतावास सिऊल में स्थापित हो गया।

किन्तु सन् १८८१ में कोरिया में भीषण अकाल पड़ गया, जिससे जनता को अपार कष्ट हुआ। राजप के दूत घूम-घूम कर रानी के प्रभाव को कम करने के लिए जनता को समझाने लगे कि यह कठिन समय देश में विदेशियों के आगमन के कारण ही आया है और जब तक एकान्त की पुरानी नीति नहीं अपनायी जाती, यह कठिन समय बना ही रहेगा। राजधानी की जनता ने आवेश में आकर उपद्रव कर दिया। अंत में भीड़ राजमहल पर

चढ़कर रानी की हत्या करने आ गयी। महल के मैदानों तक पहुँच कर भीड़ जापानी दूतावास की ओर पलट गयी। जापानी मंत्री और उनका अमला-परिवार व वे जापानी नागरिक जो कुशलतापूर्वक दूतावास तक पहुँच गये थे, भीड़ को चीरते हुए नगर के बाहर निकल आये और अंत में समुद्र तट पर पहुँच गये। लगभग तीन सप्ताह बाद यह जापानी मंत्री काफी सैन्यबल के साथ सिऊल लौट आये और उक्त घटना के उपयुक्त क्षतिपूर्ति की माँग की। कोरियाई सरकार ने "हत्यारों को दण्ड, मृत जापानियों के लिए ससम्मान समाधि, चार लाख येन की क्षतिपूर्ति व जापानियों के लिए और अधिक व्यापारिक सुविधाओं"[१०] की माँग स्वीकार कर ली।

इसी समय चीन ने अधिराट् की हैसियत से अपने अधिकारों का दावा किया और इस सारी घटना के लिए उत्तरदायी राजप का लगभग अपहरण कर लिया। राजप चीन ले जाये गये, जहाँ वह कई वर्षों तक कैद में रहे। इस बीच चीन की नीति बदल चुकी थी और उसने अमरीका के साथ संधि का अनुसमर्थन का सुझाव दिया तथा अपनी कोरिया संबंधी नीति अधिक प्रगतिशील बनायी।

इससे कठिनाई दूर नहीं हुई, किन्तु चीन और जापान के पुराने संघर्ष का एक नया दौर शुरू हो गया। सन् १८८३ में टींटसीन के वाइसराय, ली हुंग-चांग ने, जिन्हें चीन के सम्राट् ने कोरिया का मामला सौंप रखा था, अधिराट् के प्रतिनिधि के रूप में युआन शिह-क' आई को कोरिया भेजा; (युआन शिह-क' आई बाद में चीनी गणतंत्र के राष्ट्रपति हुए थे)। अब से चीन ने अपने अधिकारों का अधिकाधिक दावा करना और कोरिया से निकटतम संबंध कायम करने का प्रयास शुरू किया। निकट संबंध स्थापित करने का एक उपाय यह अपनाया गया कि चीन और कोरिया की समुद्री सीमा-शुल्क-व्यवस्था का आंशिक एकीकरण कर दिया गया। ली ने एक विदेशी को कोरिया-सरकार का परामर्शदाता नियुक्त किया और उसने कोरिया की सीमा-शुल्क-सेवा संगठित की और स्वयं उसका सर्वोच्च अधिकारी बन गया। बाद में उसके हटने पर, दोनों देशों की सेवाओं के एकीकरण के प्रयत्न में चीनी सेवा का एक निरीक्षक कोरियाई सेवा का सर्वोच्च अधिकारी बनाया गया। अपेक्षा यह की कि वह सर आर. हार्ट से निर्देशित होगा और चीनी हितों की रक्षा करेगा। इसी समय, केन्द्रीय चीनी शासन के प्रतिनिधि, युआन शिह-क' आई ने सिऊल में इस बात का दावा किया कि जितने भी विदेशी दूत व मंत्री हैं, दरबार में उन सबसे अधिक वरीयता मुझे मिलनी चाहिए। कोरिया सरकार के हर महत्त्वपूर्ण मामले में वह बहुत निकट का संपर्क बनाये रहे। अंत में, सन् १८८२ में जापानी दूतावास पर भीड़ के आक्रमण का एक परिणाम यह निकला कि दरबार में चीन का प्रभाव बढ़ गया, यद्यपि जापानी क्षतिपूर्ति की अपनी माँग राजा से मनवाने में सफल हो गये थे।

दूसरी ओर यदि चीन का प्रभाव बढ़ रहा था तो जापान भी इस प्रभाव को समाप्त करने के प्रयत्न लगातार कर रहा था। सन् १८८२ के बाद पहले वाले यी व मिन गुटों के शक्ति के लिए संघर्ष का रूप कुछ बदल गया था और अब ये ऐसे दो गुटों का झगड़ा था, जिनमें से एक जापान में हुए परिवर्तनों के अनुरूप देश का आधुनिकीकरण करना चाहता था और दूसरा प्राचीन व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था और कम-से-कम परिवर्तन करने के पक्ष में था। रानी के नेतृत्व में, जो अब परिवर्तन की अपनी इच्छा खो बैठी थीं, प्राचीन व्यवस्था का समर्थक गुट शासन का नियंत्रण करता था और उसे चीनी प्रतिनिधि का समर्थन प्राप्त था। प्रगतिशील दल सलाह और सक्रिय सहायता के लिए जापानी दूतावास की ओर ताकता था।

सन् १८८४ में इस संघर्ष का अनिवार्य अंत आया––जो सत्ता के बाहर थे, उन्होंने अपने विरोधियों की हत्या कर शासन पर नियंत्रण करने का प्रयास किया; इस प्रकार की हत्याएँ कोरिया में सामान्य थीं। 'प्रगतिशीलों' ने बड़ी सावधानी के साथ––संभवतः जापान के मंत्री के परामर्श से––अपनी योजना तैयार की। योजना यह थी कि एक नयी डाक सेवा के उद्घाटन के उपलक्ष्य में एक भोज का आयोजन हो। भोज के दौरान में महल में आग लग जाने की खबर दी जाय। जब प्रतिक्रियावादी मंत्री भोजवाले भवन से बाहर भागें तभी उन्हें मार गिराने का अवसर होगा। एक सीमा तक योजना ठीक चली। आग लगने की सूचना दी गयी और एक मंत्री बाहर भागा और उस पर हमला किया गया। किन्तु वह हमले के बाद फिर भोजवाले कमरे में लौट आने और अन्य मंत्रियों को सावधान करने में सफल हो गया। तब षड्यंत्रकारी भागकर राजमहल पहुँचे और राजा व रानी को अपने साथ सुरक्षित स्थान चलने को राजी कर लिया। तत्काल ये लोग प्रगतिशीलों के नौकर कोरियावासियों व जापानियों द्वारा घेर लिये गये। दबाव में आकर राजा ने अपनी सरकार का पुनस्संगठन कर दिया और कोरिया को आधुनिक राज्य बनाने के लिए अनेक शासनादेश, कागज पर, जारी कर दिये। इस समय चीनियों ने इस मामले में हस्तक्षेप किया––

चीनी प्रतिनिधि, युआन शिह-क'आई, अपने साथ चीनी सिपाहियों को लेकर, जो सन् १८८२ से वहाँ थे, राजा की रक्षा के लिए महल पहुँचे, लेकिन वहाँ जापानी दूत व जापानी फौज का कब्जा पाया। चीनियों ने जापानियों पर गोली चला दी और हो-हल्ला हो गया, जिसमें सिऊल के नागरिकों ने भी भाग लिया। जापानी लड़ते हुए नगर से बाहर निकले और चेमिलपो तक जा पहुँचे, जहाँ उनको जापानी जहाज पर जगह मिल गयी। चीन उस समय टोंगकिंग संकट में फँसा हुआ था और जापान का विरोध नहीं कर सकता था। जापान के एक विशेष राजदूत, काउण्ट इनूयी काओरू, काफी बड़ा नौसैनिक दस्ता

लेकर आ पहुँचे और ९ जनवरी १८८५ को हुए समझौते के द्वारा पूरी क्षतिपूर्ति प्राप्त की। इस समझौते के अनुसार कोरिया ने क्षमा-याचना की, उपद्रवियों को दण्ड देना स्वीकार किया, ३०, ००० डालर हरजाने के भरे और जापानी दूतावास के सैनिकों के लिए बारकें वनाना स्वीकार किया।[११]

यह सब कोरिया को तव करना पड़ा, जब कि प्रगतिशीलों के साथ षड्यंत्र कर जापानियों ने ही सारा उपद्रव खड़ा किया था; प्रगतिशीलों को जापान के पूर्ण समर्थन व सहायता का आश्वासन था और चीन के हस्तक्षेप के समय तक उन्हें पूरी सहायता मिली भी थी।

सन् १८८५ में ही टोंगकिंग-संबंधी फ्रांस व चीन का विवाद निपट गया और चीन अव कोरिया की ओर ध्यान देने को स्वतंत्र था। किन्तु, चीन जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की स्थिति में नहीं था, यद्यपि दरबार में एक गुट और शासन में कुछ अधिकारी चीन की शक्ति को बढ़ा कर और जापान की शक्ति घटाकर बताते थे। जापानी भी इस प्रश्न पर युद्ध नहीं चाहते थे, क्योंकि वहाँ का शासन अब भी शांति-दल के हाथ में था और राजनीतिक पुनस्संगठन का काम वहाँ तव भी पूरा नहीं हो पाया था। दोनों देश कोरिया पर नियंत्रण के लिए अंतिम संघर्ष के पहले समय चाहते थे। इस प्रकार दोनों के वीच में एक समझौता हो गया; इस समझौते पर टींटसीन में हस्ताक्षर हुए, जहाँ दोनों देशों के सवसे वड़े राजनीतिज्ञों—चीन की ओर से वाइसराय ली हुंग-चांग और जापान की ओर से काउण्ट ईटो—ने इसे तैयार किया था। इस उप-संधि के अनुसार दोनों देशों ने कोरिया से अपनी-अपनी फौजें चार महीने के भीतर हटा लेन्ने का निश्चय किया; कोरिया को स्वतंत्र छोड़ कर अपनी सेना का विदेशी निर्देशन में पुनस्संगठन करने को प्रोत्साहित करने का निश्चय हुआ—यह विदेशी निर्देशन न चीनियों का होना था और न जापानियों का। यह भी निश्चय हुआ कि यदि भविष्य में किसी पक्ष को अपनी सेना कोरिया भेजनी ही पड़े तो उसे अपने इस इरादे की पूर्वसूचना लिखित रूप में दूसरे पक्ष को देनी होगी और इस प्रकार भेजी गयी सेना उस उपद्रव के दमन के फौरन वाद वापस बुला लेनी होगी, जिसके कारण सेना भेजना आवश्यक हो गया हो।

यह उपसंधि जापान की राजनयिक जीत थी, क्योंकि इससे चीन की उन काररवाइयों पर आंशिक रोक लगती थी जो उसके अधिराजत्व को मानने पर करना उसके अधिकार क्षेत्र के भीतर की बात होती; फलतः इस उपसंधि से जापान के इस दावे को बल मिला कि कोरिया एक स्वतंत्र देश है। सन् १८७६ की संधि के बाद से जापान की नीति और लक्ष्य यही था कि कोरिया की स्वतंत्रता का जापानी दावा सही सिद्ध हो और प्रगतिशीलों की स्वतंत्रता की नीति के कारण ही उन्हें जापानी सहायता प्राप्त हुई थी। प्रगतिशील

चीनी संबंधों को समाप्त कर देना चाहते थे, क्योंकि वे उन्हें सुधारों के मार्ग में बाधक मानते थे, किन्तु वे यह नहीं समझ रहे थे कि जापान का अंतिम लक्ष्य ऐसा स्वाधीन कोरिया नहीं हो सकता, जो सशक्त और अपनी रक्षा में समर्थ हो; जापान तो चाहता था कि उसकी सहायता से विदेशी नियंत्रण से कोरिया स्वतंत्र हो, ताकि इस सहायता के बदले जापान निरीक्षण के अधिकारों की माँग कर सके।

यद्यपि, कागज पर टींटसीन उपसंधि ने जापान की माँग को पुष्ट बनाया था, सन् १८८४ के 'पूर्वी आम चुनाव' के बाद सिऊल में चीन की स्थिति दो कारणों से इतनी मजबूत हो गयी थी, जितनी कि पहले कभी नहीं थी। एक तो दरबार से प्रगतिशीलों का सफाया हो गया था—उसके कुछ नेता तो भीड़ द्वारा मार डाले गये थे और कुछ-सबसे बड़े षड्यंत्रकारी, किम ओक-कुइन, के साथ—भाग कर जापान पहुँच गये थे, जहां उन्हें शरण मिल गयी थी। दूसरे, जापानियों का इस घटना में जो रवैया था उसे देखकर जनता के मन में जापान के प्रति शत्रुता की भावना थी, वह उभर आयी थी। इस भावना का प्रकट रूप यह था कि वह चीन पर और अधिक भरोसा करने लगी थी।

टींटसीन-उपसंधि में कोरिया की सेना के विदेशी देख-रेख में प्रशिक्षण व पुनस्संगठन की जो शर्त्त थी, वह वौन मौलेनडोर्फ नामक विदेशी परामर्शदाता के सुझाव पर रूसी सैनिक अधिकारियों के द्वारा पूरी हो रही थी। मौलेनडोर्फ ने सन् १८८४ में जापान की बढ़ती हुई शक्ति को संतुलित करने के लिए ही रूसी अधिकारी बुलाने का सुझाव दिया था। किन्तु बाद में अपने अधिकारी उधार देने के बदले में रूस को लजारेफ बन्दरगाह के उपयोग की अनुमति प्राप्त हो गयी और इस प्रकार रूस को अपनी नौसेना का केन्द्र बनाने के लिए एक ऐसा बन्दरगाह मिल गया, जो बर्फ से जमता नहीं था।

रूस को इस बन्दरगाह का उपयोग प्राप्त होने में जापान को अपने समुद्र के बिलकुल सामने खड़ा खतरा नज़र आया; चीन को लगा कि इससे कोरिया की स्वतंत्र सत्ता और इस प्रकार चीन के अधिराजत्व पर संकट आ गया है; इंगलैण्ड को आभास हुआ कि एशियाई संतुलन बिगड़ गया है और स्थिति एशिया में उसके सबसे बड़े प्रतिद्वन्द्वी, रूस के पक्ष में जा रही है; इस बीच फ्रांस पेस्काडोर द्वीपों पर कब्जा किये हुए था और चीन व जापान के संबंध बिगड़े हुए थे।[२२]

इस संतुलन को ठीक करने के लिए इंगलैण्ड ने हैमिल्टन बन्दरगाह पर आधिपत्य जमा लिया; यह बन्दरगाह कोरिया के दक्षिणी तट के निकट द्वीपों के बीच लंगर डालने की वह जगह थी जहां से कोरिया से संबंधित रूस, चीन व जापान की गतिविधि पर निगाह रखी जा सकती थी। रूसी संकट को देख कर चीन व जापान ने अस्थायी रूप से अपने मतभेद भुला कर एका कर लिया और चीन ने माँग की कि रूस से हुआ समझौता

समाप्त किया जाय। रूस के पक्ष में सलाह देने वाले विदेशी परामर्शदाता, मौलेनडोर्फ को बरखास्त कर, उनकी जगह एक अमरीकी परामर्शदाता की नियुक्ति कर दी गयी। इसके बाद परामर्श देने के लिए जिनकी भी नियुक्ति हुई या जो भी कोरियाई सीमा-शुल्क-सेवा के सर्वोच्च अधिकारी बने (यह सेवा धीरे-धीरे स्वतंत्र किन्तु चीनी सीमा-शुल्क-सेवा की अनुषंगी सेवा बन रही थी) उन्हें यह बात याद रखने को कहा गया कि "कोरिया के संबंध में जो बात भी हो, मूल बात यह है कि कोरिया चीन का करद राज्य है और चीन अपना अधिराजत्व छोड़ने की जगह उसके लिए युद्ध करने के लिए तो तैयार है ही, यदि कोरिया में उपद्रवकारी षड्यंत्र होते रहे तो चीन उसे अपने क्षेत्र में आत्मसात् करने के लिए भी तैयार है।"[१३] संभवतः ली हुंग-चांग के आदेश से, चीनी प्रतिनिधि, युआन शिह-क' आई, हर अवसर पर चीन की श्रेष्ठता व वरीयता का दावा करते थे।

फलतः, चीन की कारवाई से कोरिया के परराष्ट्र-मंत्रालय में परामर्शदाता पद पर नियक्त अमरीकी व युआन के बीच शीघ्र ही खटपट हो गयी। अमरीकी परामर्शदाता, डेनी, कभी चीन की नौकरी में नहीं रहे थे और वह कोरिया की स्वतंत्रता के आंदोलन को बढ़ावा देना अपना कर्त्तव्य मानते थे। यह खटपट इतनी बढ़ी कि उन दोनों में से एक का हटना अनिवार्य हो गया। डेनी सन् १८८९ में हटने को तैयार हो गये, पर उनकी शर्त यह थी कि युआन को भी वापस बुला लिया जाय। चीन ने यह शर्त स्वीकार कर ली, किन्तु जापान से बढ़ते हुए संघर्ष के कारण युआन का वापस बुलाना स्थगित हो गया।

एच० बी० मोर्स ने लिखा है—सन् १८८९ से सन् १८९४ तक, पाँच वर्षों में, रूस की योजना खटाई में पड़ी रही, कोरिया की स्वतंत्रता के लिए अमरीका की जो सैद्धान्तिक सहायता थी, वह कहीं दिखायी नहीं देती थी और सिऊल दरबार में चीन और जापान आमने-सामने डटे हुए थे। तत्कालीन शासन का समर्थक संतोषदल, जो चीन से संबंध कायम रखने के पक्ष में था और यथास्थिति का पोषक था, चीनी प्रतिनिधि से सहायता पा रहा था। जो सुधार चाहता था वह दल—असंतोष-दल या 'तरुण कोरिया' दल—जो जापान के बाह्य रूप के आधुनिकीकरण से आकृष्ट हो जापान की ओर झुकता था और चीन की पुरानी पड़ी प्रणाली के विरुद्ध था, उसे जापानी दूतावास की सहायता प्राप्त थी। पूर्वी देशों के षड्यंत्र का हर रूप—प्रदर्शन, विरोध, दरबारी साजिश, मंत्रियों की हत्या, प्रान्तों में विद्रोह—वहाँ प्रयुक्त होता था, किन्तु उनमें से किसी में भी उस दल के हाथ का कोई प्रमाण नहीं मिलता था, जिसे उस घटना से लाभ होनेवाला होता था। षड्यंत्र के बदले षड्यंत्र, आरोप के उत्तर में प्रत्यारोप, परामर्श की टक्कर में विरोधी परामर्श—परेशान 'कठपुतली' राजा के कानों में लगातार ये बातें ठूंसी जाती रहीं, जब तक कि अंतिम फैसले के लिए युद्ध के सिवा और कुछ न बचा।[१६]

(५) सन् १८९४--१८९५ के चीन-जापान युद्ध के कारण

सन् १८९४ में जो युद्ध फूट पड़ा उसका तात्कालिक कारण कोरिया में विद्रोह का बढ़ना और कोरियाई सरकार की विद्रोह का दमन करने में अक्षमता थी। सन् १८५९ में कोरिया में एक नये मत ने जन्म लिया था; 'टोंग हाक' मत में पूर्व के तीन धर्मों बौद्ध, ताओवाद व कनफूशियसवाद के तत्व मिले हुए थे; इस मत के अनयायियों ने सन् १८८३ में प्रार्थना की कि वह आदेश वापस ले लिया जाय, जिसमें उनके नेता को जादूगर व अविश्वासी बताया गया था और इस धर्म के प्रति सहिष्णुता बरती जाय।

टोंग-हाकों में विदेशी-विरोधी भावना प्रबल थी; यह भावना उनके नेताओं के वक्तव्यों व अमरीकी मिशनों की इमारतों पर लिखे गये विदेशी विचारों के विरुद्ध नारों में प्रकट थी। सरकार ने यह प्रार्थना अंशतः इसलिए अस्वीकार कर दी कि उसकी भावना विदेशी-विरोधी थी। इसके बाद कुछ प्रान्तों से अशांति की खबरें लगातार आने लगीं, और अंततः खला विद्रोह हो गया। सरकार इस विद्रोह के दमन में समर्थ नहीं लग रही थी और उसने अंत में अधिराट् चीन से प्रार्थना की कि वह इस विद्रोह का दमन कर दे। चीनी प्रतिनिधि ने इस प्रकार की सहायता देने की बात पहले ही की थी, बल्कि जोर भी दिया था कि सहायता स्वीकार कर ली जाय। "वाइसराय ली हुंग-चांग ने बहुत झिझकने के बाद ही सेना भेजने का निर्णय किया; सिऊल स्थित चीनी प्रतिनिधि ने महीने भर पहले ही सेना भेजने का अनुरोध किया था पर ली ने इस बात पर जोर दिया था कि कोरिया के राजा स्वयं सेना भेजने का अनुरोध करें, ताकि सेना के कोरिया में पहुँचने का उत्तरदायित्व राजा पर ही रहे।"[१५] लगभग १५०० सैनिक वी हाई वी से असान भेज दिये गये; और जब सैनिक भेजे जा चुके थे,[१६] उसके बाद जापान को सूचना दी गयी और कहा गया कि जैसे ही इन सैनिकों की कोरिया में आवश्यकता न रहेगी, वैसे ही उन्हें वापस बुला लिया जायगा।

जापान ने इसके जवाब में काफी बड़ी संख्या में अपने सैनिक चेमुलपो होते हुए सिऊल भेज दिये। जब तक चीनी सेना पहुँची तब तक कोरियाई फौजों ने विद्रोह दबा दिया था और चीनी सेना की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी। किन्तु चीन ने तब तक अपनी फौज हटाने से इनकार कर दिया जब तक जापानी सेना वापस स्वदेश न लौट जाये। कोरिया सरकार ने अपने राज्य से फौजें हटा लेने के लिए दोनों देशों से बातचीत शुरू की, पर बातचीत के दौरान दोनों देशों ने अपनी-अपनी फौजें कोरिया से हटाने की जगह उनकी संख्या बढ़ा दी। जापान ने प्रस्ताव रखा कि वह और चीन दोनों मिलकर कोरिया सरकार पर आवश्यक सुधार करने के लिए दबाव डालें। चीन ने इससे इनकार कर

दिया और कहा कि दोनों देशों की सेनाएँ कोरिया खाली कर दें और कोरिया सरकार को अपने मनोनुकूल सुधार करने की स्वतंत्रता दें। सुधार के पहले अपनी-अपनी फौजें हटाने के चीनी प्रस्ताव को जापान ने अमान्य कर दिया यद्यपि चीनी प्रस्ताव को सिऊल स्थित राजनयिक प्रतिनिधियों व राजदूतों का समर्थन प्राप्त था। जापानी जनमत इस बात से उद्विग्न था कि चीन ने कोरिया को अपना करद राज्य मान कर अपनी सेना वहाँ भेजी; चीनी घोषणा में 'करद राज्य' शब्द का ही प्रयोग हुआ था। यह जनमत कोरिया के विद्रोही नेता, किम ओक-कुईन की शंघाई में हुई हत्या तथा उसका शरीर कोरिया भेजने से पहले से ही क्षुब्ध था, क्योंकि कोरिया में शरीर का सिर और धड़ अलग किया गया था और धड़ के टुकड़े-टुकड़े करके सारे देश में घुमाये गये थे, ताकि जनता को पता लगे कि देशद्रोहियों की क्या हालत होती है। जापान युद्ध के लिए संकल्पबद्ध लगता था और दोनों देशों की सेनाएँ कोरिया में एक साथ रहने से युद्ध अवश्यंभावी था ही। किन्तु दोनों देश युद्ध शुरू करने का उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहते थे। आखिर, युद्ध शुरू करने का वह खुला कृत्य तब हुआ जब चेमिलपो में चीनी सैनिकों को पहुँचानेवाले चीनी जहाज, काउशिंग पर[17] जापानी युद्धपोतों ने गोलाबारी कर दी। समझौते का समय समाप्त हो गया।

युद्ध और उसके फल के वर्णन व विवेचना के पहले यह समझ लेना उचित होगा कि जापान युद्ध चाहता क्यों था और चाहता भी था या नहीं, क्योंकि जापान की भविष्य में पूर्वी एशिया की नीति पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। कभी-कभी कहा जाता है कि आधुनिक युग के अपने इतिहास में जापान ने सभी युद्ध अपनी रक्षा में ही लड़े, लेकिन चीन से हुए युद्ध को रक्षात्मक समझना कठिन है। यह सही है कि यह युद्ध कोरिया को लेकर हुआ जिसे 'जापान के हृदय पर लक्ष्य करती हुई तलवार' की संज्ञा दी गयी है। कोई विदेशी शक्ति, जिसका कोरिया पर नियंत्रण हो, यदि आक्रामक हो, तो जापान की शांति व सुरक्षा के लिए गंभीर संकट बन सकती है। पर चीन का कोरिया पर कोई सक्रिय नियंत्रण नहीं था; उसके अधिराजत्व का अधिकार वास्तविक न होकर काफी लम्बे समय से नाममात्र का था, और कोरिया की आंतरिक स्थिति में मनचाहे परिवर्तन करवाने के लिए इस अधिकार का उपयोग भी नहीं हुआ था। कोरिया के मामले में उसने सक्रिय हस्तक्षेप तभी शुरू किया था, जब जापानी नीति ने इस नाममात्र के संबंध को भी संकट में डाल दिया था। चीन के दृष्टिकोण से जापान की नीति शुरू से ही यह रही थी कि कोरिया को चीन के संबंधों से निकाल कर जापान के संबंधों में बाँध लिया जाय, जिससे चीन के हितों को आघात पहुँचे।

किन्तु यद्यपि चीन द्वारा कोरिया के नाममात्र के नियंत्रण से जापान को कोई

तात्कालिक संकट पैदा नहीं हुआ थां, जापान के इस तर्क में तथ्य अवश्य था कि कोरिया की आंतरिक परिस्थिति ऐसी थी, जो कण्टक वन रही थी और इसीलिए सीमावर्त्ती राज्यों के लिए एक खतरा थी। प्रान्तों में अशांति की लगभग स्थायी स्थिति और दरबार में लगातार उथल-पुथल से एक ऐसे पड़ोसी को नाराज होना स्वाभाविक था, जो अपना घर ठीक करने में लगा हो। फिर, कोरिया की अशांति चीन और जापान से अधिक सशक्त बाहरी लोगों के हस्तक्षेप को एक तरह से लगातार आमंत्रित कर रही थी।

रूस के प्रशान्त सागर तक प्रसार से वह जापान के ऐसे संपर्क में आ गया था कि जापान रूस को अपने कोरिया जैसे पड़ोसी के यहाँ जम कर बैठ जाने के खतरे के प्रति जागरूक हो गया था। सन् १८८४ में रूस ने कोरिया की सेना का पुनस्संगठन कर उस देश में अपनी दिलचस्पी दिखायी थी। लजारेफ बन्दरगाह के उपयोग की रूसी प्रार्थना से उसका लक्ष्य प्रकट होता था। अतः रूस के इरादों को नाकाम करने का एक उपाय कोरिया प्रायद्वीप में खुद जमकर बैठ जाना था। किन्तु जापान से युद्ध के पहले चीन भी रूस के प्रति संशयालु था। कोरिया के लिए उत्तर से आनेवाले किसी संकट का मुकाबला करने का तरीका उसके व चीन के संबंधों को दृढ़तर बनाना होता न कि उन संबंधों को समाप्त कर देना।[१८] यदि जापान की कोरिया को स्वतंत्र करने की नीति सफल होती तो रूस व जापान कोरिया के नियंत्रण के लिए सिऊल में आमने-सामने बराबरी की टक्कर पर होते, जबकि चीन की स्थिति तो काफी समय से पहले ही स्वीकार कर ली गयी थी। यह सही है कि चीन में बाद में कभी आक्रामक प्रवृत्तियाँ जाग सकती थीं, जैसी कि कभी दूर विगत काल में जमी थीं, और इस प्रकार जापान के लिए उतना ही बड़ा खतरा चीन बन सकता था, जितना कि रूस होता। यह हो सकता है कि भविष्य के इस भय को दूर करने के लिए ही जापान ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए यह कदम उठाया हो। यह करने के दो तरीके हो सकते थे; एक तो जापान-सरकार कोरिया को स्वतंत्र कर देती और देश के ऐसे पुनस्संगठन और राजनीतिक प्रणाली के ऐसे आधुनिकीकरण पर जोर देती, जिससे कोरिया स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ होता और बुरी आन्तरिक दशा के बहाने बाहरी हस्तक्षेप का खतरा मिट जाता; या दूसरे चीन से संबंध तोड़कर जापान स्वयं कोरिया प्रायद्वीप का नियंत्रण करने लगता। जापान ने शुरू से ही सुधारों की आवश्यकता पर जोर दिया था और सुधारवादी दल को अपनी सक्रिय सहायता प्रदान की थी; किन्तु रूस व चीन दोनों को कोरिया से हटाने के बाद, जापान वास्तव में दूसरी वाली नीति लागू करने लगा था। यह कहना असंभव है कि जापान के मन में शुरू से ही इसी नीति का अनसरण करने का निश्चय था; किन्तु इस तथ्य की स्थापना तो की ही जा सकती है कि सन् १८७६ के बाद के वर्षों में कोरिया में जो अव्यवस्था फैली वह अधिकांशतः चीन और जापान के षड्यंत्रों

के कारण ही हुई। और इसी अव्यवस्था को बहाना बना कर जापान ने कोरिया के मामले में दिलचस्पी लेना शुरू किया था।

कोरिया में जापान की दिलचस्पी का दूसरा संभव कारण आर्थिक हो सकता है। कोरिया में काफी चावल पैदा होता था, किन्तु जनता का मुख्य भोजन होने के कारण उसका निर्यात बन्द था। कोरिया पर नियंत्रण कर जापान उसे जापानी जनता के भोजन के लिए चावल निर्यात करने पर बाध्य कर सकता था। वास्तव में, सन् १८९४ में जापान ने कोरिया-सरकार को इस बात के लिए राजी किया था, कि चावल के निर्यात पर लगी रोक हटा ली जाय और जापानी व्यापारियों ने जितना भी चावल मिल सका वह खरीद कर जापान भेज दिया था, जिससे कोरियाई जनता में, जिसे चावल के अधिक दाम देने पड़े थे, असंतोष भी फैला था। इसके अतिरिक्त, जापान ने कोरिया में बड़ी तेजी से जहाजरानी और व्यापार के हित विकसित कर लिये थे; सन् १८९४ में कोरिया का ४० प्रतिशत आयात जापान के हाथ में था और जहाजरानी तो इससे भी अधिक प्रतिशत में जापानी नियंत्रण में थी। इस प्रकार जापान के लिए कोरिया एक बढ़िया और अब तक अविकसित बाजार था और वह उस पर नियंत्रण रखना चाहता था। और जापान ने यह सिद्धान्त यूरोप से सीख लिया था कि किसी देश में सुरक्षित आर्थिक स्थिति बनाने के लिए राजनीतिक सत्तारोह आवश्यक है। हो सकता है कि यह तर्क जापानी नीति का अंग पहले से रहा हो और यह भी हो सकता है कि यह सन् १८९४ के बाद का तर्क हो; किन्तु किसी भी दशा में कोरिया के लिए युद्धरत होने के जापानी कारणों की विवेचना में यह तर्क महत्त्वपूर्ण था।

कोरिया का द्वार उन्मुक्त होने के बाद की जापानी नीति के मूल्यांकन में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर प्रसार का सिद्धान्त पुनस्संस्थापना के पूर्व के जापान में ही प्रचारित था। शोगुन-संस्था के पतन के लिए चलाये गये आंदोलन के सबसे अधिक सक्रिय नेताओं में थे योशिदा-शोइन जो अव्वल नम्बर के प्रसारवादी थे। उनके अनुयायी सोलहवीं शताब्दी और कोरिया व चीन के विरुद्ध हिडेयोशी के अभियान का वर्णन करते और कोरिया पर अधिकार कर महाद्वीप में ही जापान की शक्ति-स्थापन के लिए पहले कदम के रूप में शोगुन को उखाड़ फेंकने और सम्राट् में सारी शक्ति निहित कर देने की माँग करते थे। उनके चरणों में बैठते थे युवराज यामागाटा तथा काउण्ट ईटो—यामागाटा जापान की आधुनिक सेना का पुनस्संगठन करने वालों में थे और ईटो जापान की वैधानिक प्रणाली के जनक थे। यह सही है कि संक्रमण-काल में ईटो शांति दल के नेताओं में से एक थे, पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह योशिदा के उपदेश भूल गये थे। इसका अर्थ यह था कि वह समझते थे कि महाद्वीप की

ओर प्रयाण के पहले जापान को अपना घर मजबूत बनाना होगा । इसका अर्थ लगाना संभवतः उचित न होगा कि वह समझते थे कि सन् १८९४ तक जापान घर पर इतना सशक्त हो गया था कि महाद्वीप के संबंध में वह कोई सशक्त उग्रनीति अपना सकता था । जब तक शांति दल की जापान में सत्ता थी ईटो शक्तिसंपन्न थे ही और इसीलिए संभवतः वह युद्ध टालना भी चाहते, यदि संविधान के लागू होने के बाद जापानी राजनीति में कुछ नयी शक्तियों का उदय न हुआ होता ।

किन्तु, सन १८९०–१८९४ की घटनाओं ने साबित कर दिया था कि डायट के राजनीतिक दलों के विरोध के सामने अल्पतंत्र जापान के प्रभावकारी नियंत्रण में सफल नहीं हो सकता । युद्ध-दल के नेता युवराज यामागाटा ने प्रयत्न किया और असफल रहे, और मत्सूकाटा मंत्रिमंडल के इस्तीफे के बाद ईटो ने स्वयं शासनतंत्र संचालन का भार अपने हाथ में ले लिया था । शासन चलाने के लिए वह सम्राट् से नयी आज्ञा निकलवाने को बाध्य हुए थे और तब भी उनकी सरकार के डायट द्वारा विरोध का केवल अस्थायी रूप से अंत हुआ था । उनके लिए यह स्वीकार करना अनिवार्य हो रहा था कि जो शासन-प्रणाली उन्होंने राष्ट्र को दी थी, वह राजनीतिक दलों के उद्भव के कारण चल नहीं पा रही थी; उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ रहा था कि अल्पतंत्र को पीछे हट कर शासन-शक्ति राजनीतिक दलों को देनी चाहिए, और समस्या का यह हल कुल नेताओं को स्वीकार नहीं होता । या फिर, ईटो संविधान के संशोधन का सुझाव देते ताकि सरकार डायट के सहयोग के बिना भी काम चलाती रहे । या अंततः, वह कोई ऐसा रास्ता ढूँढ़ते, जिससे डायट के राजनीतिक दलों द्वारा उनकी सरकार का विरोध समाप्त हो जाता । इस परिस्थिति में राष्ट्र को सरकार के समर्थन में इकट्ठा कर लेने का सबसे उपयुक्त उपाय विदेश में युद्ध छेड़ देना था ।

कोरियाई सरकार के सुधार के लिए जापान ने सुझाव दिया था, चीन द्वारा उसके अस्वीकार किये जाने से जापान को वह अवसर मिल गया, जिसकी वह तलाश में था । लोग पहले से ही युद्ध की माँग कर रहे थे । केवल एक ही हिचक बाकी थी—युद्ध से, अस्थायी रूप से ही सही, नागरिक अहलकारी वर्ग गौण होकर पीछे पड़ जाता और सैनिक अहलकारों की शक्ति बढ़ जाती । पहले वर्ग को अपनी इस योग्यता के भरोसे जुआ खेलना था कि युद्ध के सकुशल समाप्त हो जाने पर, वे फिर से शक्ति-संचय कर लेंगे । ईटो ने राजनीतिक दलों के आक्रमण से संवैधानिक ढाँचे के ध्वस्त होने से इस जुए को बेहतर समझा । चीन व जापान के बीच युद्ध के कई कारण थे—जापानी राजनीतिक परिस्थिति, महाद्वीप में प्रसार के लिए कोरिया के द्वार से घुसने की सदियों पुरानी जापान की इच्छा, किसी सशक्त विदेशी राष्ट्र द्वारा कोरिया पर कब्जा जमाने का जापान का राष्ट्रीय भय, कोरिया

प्रायद्वीप के साधनों के नियंत्रण में नयी-नयी पैदा हुई दिलचस्पी तथा कोरिया को बाजार के रूप में प्रयोग करने की संभावना।

दूसरी ओर चीन ने युद्ध की संभावना को स्वीकार किया और अपने कार्यकलाप से उस संभावना को अनिवार्यता में बदल दिया। चीन के रवैये के कई कारण थे। मूलतः, सन् १८७६ के बाद चीन की नीति अपनी वह गलती सुधारने की ही थी, जो उसने जापान को कोरिया से अपनी शिकायतें दूर करने और स्वतंत्रता के आधार पर संधि करने की छूट देकर की थी। पश्चिमी देशों को कोरिया में जापान के स्तर पर ही प्रवेश कराके भी यह गलती सुधर नहीं सकी थी। अपनी बाद की काररवाइयों द्वारा इंगलैण्ड ने चीन के अधिराजत्व का समर्थन किया, किन्तु अमरीकी नीति से जापान का समर्थन होता था। फलतः चीन ने कोरिया के मामलों में लगातार हस्तक्षेप कर अपने अधिकारों के भुलावे को फिर से कायम करने की कोशिश की; और कोरिया के रूढ़िवादी दल ने इस हस्तक्षेप का स्वागत किया। यदि जापान अपना कार्यक्रम पूरा करने का प्रयास करता तो चीन से संघर्ष अवश्यम्भावी ही था। जिस हद तक चीन ने अपने अधिराजत्व के दावे को कायम रखने के लिए जापानी नीतियों का विरोध किया, उस हद तक सन् १८९४–१८९५ के युद्ध का उत्तरदायित्व उस पर भी था।

कोरिया-संबंधी नीति के अतिरिक्त चीन का रवैया देश की आंतरिक राजनीति से भी समझाया जा सकता है। पीकिंग में एक ली-विरोधी गुट था, जो उनकी कोरिया-संबंधी नीति को लचर बता कर उनके प्रभाव को कम करना चाहता था। यह गुट सन् १८८४-१८८५ में ही ली के प्रभाव को कम करने के लिए युद्ध के लिए तैयार था। इस गुट के अनेक सदस्य घोर रूढ़िवादी और इसलिए विदेशियों के भी विरोधी थे। उन का विश्वास था कि चीन सशक्त है और जापान के विरुद्ध सफल युद्ध छेड़ कर मंचू-प्रतिष्ठा को फिर से कायम किया जा सकता है; वे जापान को कमजोर मानते थे। ली हुंग-चांग ने स्वयं चीनी सेना की शक्ति बढ़ायी थी और शक्तिवर्धन का उत्तरदायित्व उन्हीं का माना जाता था, इसलिए यदि वह मानते भी रहे हों तो भी, वह इस स्थिति में नहीं थे कि खुल कर कह सकें कि चीन निर्बल है और विदेश से, विशेष कर ऐसे देश से युद्ध नहीं ठान सकता, जो हर तरह से निर्बल माना जाता था। इसलिए दरबार में उनकी प्रतिष्ठा जापान से हिम्मत से लोहा लेने की बात कह कर ही कायम रह सकती थी। चीन के युद्ध-समर्थक दल ने जब सन् १८८४–१८८५ में युद्ध की माँग की, तब उन्होंने धैर्य से काम लेने की सलाह देकर बात टाल दी और कहा कि सेना का पुनस्संगठन पूरा हो जाने दिया जाय और टोंगकिंग का विवाद समाप्त हो लेने दिया जाय। दस वर्ष बाद युद्ध टालने के ये बहाने खत्म हो चुके थे। इस प्रकार एक ओर जापान युद्ध पर उतारू था और दूसरी

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hazratgânj. Lucknow

ओर चीन शांतिपूर्ण समझौते का रास्ता निकालने के लिए पूरे प्रयास करने की स्थिति में नहीं था।

(६) युद्ध-क्रम

क्षेत्र के आकार, आबादी, साधनों की प्रचुरता को ध्यान में रखें तो लगता है जापान का 'स्वर्गिक' साम्राज्य को युद्ध के लिए ललकारना ऐसा ही था, जैसे कोई बौना किसी दैत्य को ललकारे। ऊपर से देखने में ऐसा ही लगता था कि इस युद्ध का एक ही नतीजा होगा—जापान की करारी हार। पीकिंग स्थित अमरीकी मंत्री ने परराष्ट्र विभाग को अपने प्रतिवेदन में जो यह लिखा था उससे सामान्य प्रतिक्रिया प्रकट होती थी—"जापान की युद्ध के लिए उपलब्ध सेना कुल १, २०, ००० सैनिकों की है, जब कि अकेले वाइसराय ली के ही पास विदेशियों द्वारा प्रशिक्षित अनुशासित व दक्ष, और आधुनिक हथियारों से लैस ५०,००० सिपाही हैं। इन के अतिरिक्त साम्राज्य के अन्य भागों में कई सहस्र विदेशियों द्वारा प्रशिक्षित सिपाही मौजूद हैं और पुराने ढंग.के देशी सिपाहियों की संख्या तो अपार है।"[१९]

यदि यह कहा जाय कि युद्ध की प्रगति से थोड़े से जानकार लोगों को छोड़ कर शेष सभी को आश्चर्य हुआ तो बात का पूरा वजन नहीं मालूम होगा। चीन के पास आदमियों का कभी खत्म न होने वाला भण्डार अवश्य था, पर उसके पास प्रशिक्षित, आधुनिक सेना नाम भर के लिए भी नहीं थी, और कागज पर तो उसकी नौसेना जापान से बहुत अधिक बलशाली थी, जापानी नौसेना का सामना करने में वह बिलकुल अक्षम साबित हुई। जापान ने अपनी जल-थल सेनाओं का प्रशिक्षण व साधन संपन्नता दोनों दृष्टियों से पूरा पक्का पुनस्संगठन और आधुनिकीकरण कर रखा था। सर्वोत्तम से ही उसे संतोष हो पाया था। दूसरी ओर चीन ने अपनी सेना के एक भाग को ही पुनस्संगठित किया था और उसने सस्ते प्रशिक्षण व सैन्य-उपकरणों से ही संतोष कर लिया था; नये, बढ़िया शस्त्रास्त्रों व पुराने, परित्यक्त शस्त्रास्त्रों के व्यय का अंतर ली से लेकर नीचे तक के अधिकारियों व उनके मित्रों की जेबें भरने में चला गया था। फलतः चीन के अपार साधन जापान के बेहतर प्रशिक्षण व शस्त्रास्त्रों के सामने कमजोर पड़ गये। प्रशिक्षण का अंतर जापान की जल व थल दोनों सेनाओं के नेतृत्व में प्रकट था। जापानी सैनिक नेता आधुनिक युद्ध-कौशल और रणनीति में दक्ष थे। चीन के सामने एक और बाधा थी; यांग्त्सी नदी के दक्षिण में सामान्य भावना यह थी कि यह युद्ध तो ली हुंग-चांग का निजी मामला है, या अधिक-से-अधिक केवल उत्तर वालों का मामला है। दक्षिण चीन की नौसेना ने युद्ध में भाग लेने से इनकार कर दिया और वे राज्यपाल जिनके क्षेत्र इस युद्ध से अछूते थे, केन्द्रीय

शासन की पूरी सहायता करने में असफल रहे। उनके इस दृष्टिकोण के कारण पहले ही बताये जा चुके हैं। इस समय इसका नतीजा यही निकला कि युद्ध में एक ओर जापानी राष्ट्र था और दूसरी ओर ली हुंग-चांग के अनुयायी।

कोरिया और चीन से जापान के जो संघर्ष पहले हुए थे, उनके सबक वह भूला नहीं था। कोरिया में बड़ी संख्या में फौजें उतारने के पहले, नौसेना ने कुमक व रसद पहुँचाने की व्यवस्था कर ली थी ताकि 'घर' से सेना का संबंध विच्छिन्न न हो जाय। चीनी नौसैनिक बेड़े की पहली हार यालू नदी के मुहाने पर हुई और दूसरी युद्ध की लगभग समाप्ति के समय वीहाईवी में जहाँ वह शरण लेने के लिए पहुँचा था।

समुद्रों पर नियंत्रण करने के उपरान्त बड़ी संख्या में जापानी सैनिक कोरिया में उतरने लगे, जहाँ वे शीघ्र ही स्वामी बन बैठे। राजा को पूरी शासन-व्यवस्था और, कागज पर, कोरिया के आर्थिक व सामाजिक जीवन को 'रातो रात' आधुनिक बनाने के आदेश देने को बाध्य किया गया। कोरिया से जापानी सेना मंचूरिया में बढ़ी और सामने खड़ी चीनी सेना को खदेड़ दिया। जब वह चीन की मुख्य भूमि पर आक्रमण करने वाली थी, मंचू शासन ने शांति के लिए समझौते की बात की इच्छा प्रकट की। पहले यह इच्छा अमरीका से प्रकट की गयी, जिसके सिपुर्द यह काम था कि एक पक्ष के हितों की परवाह दूसरे के देश में करे। जापान बात करने के लिए तैयार हो, इसके पहले चीन को अमरीकी मंत्री के पास सीधे शांति का प्रस्ताव ले कर जाना पड़ा; उसके पिछले प्रस्ताव को अमरीका की मध्यस्थता स्वीकार करने की इच्छा मात्र माना गया। जापान समझौते की बात जितनी टल सके, उतनी टालता गया ताकि वह वीहाईवी स्थित चीनी बेड़े पर करारी चोट कर सके और इस प्रकार फारमोसा पर कब्जा करने के लिए जो सेना भेजी गयी थी, वह निर्बाध रूप से वहाँ पहुँच कर विजय लाभ कर सके। इसलिए जापान सरकार ने पहले चीनी प्रतिनिधिमंडल से इस कारण बात करने से इनकार कर दिया कि मंडल में समझौते की बातचीत करने आये अधिकारी पूर्ण अधिकारप्राप्त नहीं हैं; जापान ने यह शर्त लगायी कि किसी ऐसे उच्चपदस्थ अधिकारी को बातचीत के लिए नियुक्त किया जाये जिसके द्वारा तय की गयी समझौते की शर्तें मंचू-शासन को स्वीकार हों और जिसे बार-बार हर बात के लिए पीकिंग से सलाह न लेनी पड़े।

(७) शिमोनोसेकी की संधि

युद्ध की हार और बरबादी से काफी नीचा देखने के बाद चीनी सम्राट् ने ली हुंग-चांग को ही शांति-समझौते की बातचीत चलाने के लिए नियुक्त किया[२०] (युद्ध में पहली हार के बाद ली से उनके पद के सूचक पीला कोट और मोरपंख छीन लिये गये थे और

उन्हें वाइसराय पद से हटा दिया गया था, किन्तु बाद में उन्हें फिर उनकी पदवी व प्रतिष्ठा मिल गयी थी)। शिमोनोसेकी में बातचीत शुरू होने के कुछ समय बाद ही एक जापानी उन्मादी व्यक्ति ने ली को मार डालने का प्रयत्न किया। इससे समझौते की बातचीत में विलम्ब हुआ लेकिन चीन का कुछ लाभ ही हुआ क्योंकि जापान ने चीन के सबसे प्रमुख राजमर्मज्ञ के घायल होने पर अपना खेद प्रकट करने के लिए अपनी शांति-संबंधी माँगें कुछ कम कर दीं। जो शांति-संधि अंततः हुई, उसकी शर्तें थीं—चीन ने निश्चित रूप से कोरिया की पूर्ण स्वतंत्रता और सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की; चीन ने सदा के लिए निम्नलिखित क्षेत्रों को सार्वभौम सत्ता के साथ जापान को सौंप दिया—(अ) यालू और आनपिंग नदियों के संगम से फेंगवांग–चेंग व हाइचेंग होते हुए यिंगकाउ की रेखा के दक्षिण व लिआओतुंग नदी के पूर्व का मंचूरिया का क्षेत्र, (ब) फारमोसा, व (स) पेस्काडोर द्वीप-समूह; इसके अतिरिक्त चीन ने २० करोड़ ताएल क्षतिपूर्ति के रूप में देने स्वीकार किये और जब तक यह धनराशि अदा न हो जाय और व्यवसाय-संबंधी संतोषजनक संधि पर हस्ताक्षर न हो जायँ, तब तक के लिए जापान को वीहाईवी बन्दरगाह पर कब्जा कर रखने का अधिकार मिल गया;[११] इस सब के अतिरिक्त चीन चार नये बन्दरगाह—यांग्त्सी नदी पर शासी व चुंगकिंग व बड़ी नहर पर सूचाउ व हैंगचाउ—विदेशी व्यापार के लिए खोलने को बाध्य हुआ और वे जलमार्ग, जो इन बन्दरगाहों तक आते थे, वे भी विदेशी आवागमन के लिए खोल दिये गये।

इन शर्तों में से फारमोसा व पेस्काडोर का छिनना और कोरिया की स्वतंत्रता की स्वीकृति केवल साम्राज्य के कोने काटने की प्रक्रिया में एक अगला कदम भर थे। और चीन दबाव में आकर विदेशी आवागमन के लिए नये बन्दरगाह खोलने, क्षतिपूर्ति अदा करने का आदी हो चुका था। किन्तु मंचूरिया की लिआउतुंग प्रायद्वीप का, जो सम्राट् के परिवार का स्वदेश था, छिनना मंचूरिया के लिए ही संकट बन गया था और इससे एक विदेशी शक्ति पीकिंग के बिलकुल पास आ बैठी थी। अतः इस माँग से चीन सरकार सशंक हो उठी होगी और यदि उसे किसी प्रकार की मदद का आश्वासन न मिला होता जिससे इस प्रदेश के छिनने का निराकरण हो जाता तो वह संभवतः युद्ध जारी रखन के पक्ष में ही निर्णय कर लेती।

यद्ध के आरम्भ से ही यह प्रकट था कि यदि युद्ध की स्थिति ऐसी हुई तो यूरोपीय हस्तक्षेप संभव है। जापान की सफलता और मुख्य महाद्वीप पर उसकी उपस्थिति से चीन के संदर्भ में शक्ति-संतुलन बिगड़ जाता। जापान इस वास्तविक प्रसार से रूस के प्रसार-मार्ग में आ पड़ा था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड ने चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता को कायम रखने के आधार पर अपनी नीति बना रखी थी। वास्तव में जापान को शुरू से ही

यह आशंका थी कि इंगलैण्ड चीन के पक्ष में हस्तक्षेप करेगा। अमरीकी सरकार ने हस्तक्षेप की इस आशंका की ओर जापान सरकार का ध्यान दिलाते हुए लिखा था : "यदि जापान की जल व थल पर सैनिक काररवाइयों पर बिना रोक लगे संघर्ष चलता रहा तो यह असंभव नहीं कि जिन शक्तियों के इस क्षेत्र में हित निहित हों वे ऐसे समझौते की माँग करें जो जापान की भविष्य में सुरक्षा व भलाई के अनुकूल न हों।"[२१]

दूसरे देशों के हितों में चीन के लिए यह आश्वासन नियत था कि साम्राज्य पर शांति के लिए बहुत कड़ी शर्तें नहीं लगायी जायँगी। ली हुंग-चांग को विदेशी सहायता के लिए व हस्तक्षेप के लिए कोई निश्चित वचन भले ही न मिला हो, किन्तु उनके यह विश्वास करने का निश्चय ही पुष्ट कारण रहा होगा कि कम-से-कम रूस इस बात पर राजी नहीं होगा कि जापान मुख्य महाद्वीप पर आ कर इस तरह जम जाय कि उससे रूसी प्रसार रुके या सीमित हो जाय। शिमोनोसेकी की संधि की, जिस शर्त से यह स्थिति पैदा होती थी, वह थी जापान को लिआओतुंग प्रायद्वीप की प्राप्ति, और इस शर्त पर संधि के अनुसमर्थन से पहले ही आपत्ति आ गयी। अपने यूरोपीय मित्र, फ्रांस के साथ रूस और जर्मनी ने भी जापान से माँग की कि लिआओतुंग क्षेत्र चीन को वापस लौटा दिया जाय। इस माँग के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि यह क्षेत्र पीकिंग के बिलकुल निकट है और चीन के अतिरिक्त किसी भी अन्य शक्ति के इस पर अधिकार से चीनी राजधानी के लिए शाश्वत संकट उपस्थित रहेगा। अत्यधिक सबल शक्ति के समक्ष जापान दब गया और इस क्षेत्र के बदले में उसे तीन करोड़ ताएल देना चीन ने स्वीकार कर लिया।

रूस की इस काररवाई या उस के यूरोपीय मित्र, फ्रांस द्वारा रूस के समर्थन से जापानी राजमर्मज्ञों को आश्चर्य नहीं हुआ, किन्तु वे इस समय जर्मनी द्वारा रूस का समर्थन न तो समझ सके और न कुछ समय तक उसे भूल सके। यह स्पष्ट था कि पीकिंग के इतने निकट जापान के पैर जमाने से रूस की हानि होती थी, क्योंकि रूस और जापान न तो मित्र ही थे और न उस समय सुदूरपूर्व में उन दोनों के हितों व नीतियों को देखते हुए उनमें मित्रता की अपेक्षा ही की जाती थी। किन्तु जर्मनी का पूर्वी एशिया में कोई क्षेत्रीय हित नहीं था और जापान को उसकी विजय के फल पाने से रोकने में जर्मनी का मदद देना अकारण अपमान ही लगता था। उस समय जर्मनी की इस काररवाई का एक ही स्पष्टीकरण यह उचित लगता था कि वह सुदूरपूर्व में रूस की मदद कर उसकी मित्रता हासिल करना चाहता था, ताकि यूरोप में जर्मनी के हितों को बढ़ावा मिल सके।

दूसरी ओर युद्ध व हस्तक्षेप के समय ब्रिटेन के रवैये से जापान को जो आश्चर्य हुआ, वह प्रसन्नतापूर्ण था। युद्ध जैसे-जैसे बढ़ता गया ब्रिटेन जापान से लगभग सहानुभूति रखने लगा और यद्यपि ब्रिटेन की सरकार ने जापान को यही सुझाव दिया कि वह हस्तक्षेप

करनेवाले तीन देशों की माँग मान ले, उसने स्वयं संधि की शर्तों पर कोई आपत्ति नहीं की। उस समय के ब्रिटेन के रवैये से और बाद में, सन् १८९४ में, जापानी संधि में जापान को अत्यधिक सद्भावना दिखाने से लगता था कि ब्रिटिश साम्राज्य अपनी सुदूरपूर्व की नीति बदल रहा है।

किन्तु, इस हस्तक्षेप के बावजूद, युद्ध का अंतिम प्रभाव यह तो पड़ा ही कि चीन की कमजोरी निर्विवाद रूप से प्रदर्शित हो गयी। इस विजय से संसार की निगाहों में जापान का मान बहुत बढ़ गया। चीन की निर्बलता और जापान की शक्ति के परिचय से सुदूर-पूर्व के विकास की दिशा बदल गयी। युद्ध से जापान को जो उपलब्धियाँ हुईं, उनकी उसे शुरू में आशा भी नहीं थी—कोरिया की पूर्ण स्वतंत्रता की चीन द्वारा स्वीकृति के अतिरिक्त फारमोसा और पेस्काडोर। जापान के युद्ध समर्थक दल को इस बात से निराशा हुई कि जापानी साम्राज्य मुख्य महाद्वीप के किसी क्षेत्र तक नहीं पहुँच सका, किन्तु तीन देशों के हस्तक्षेप से अस्थायी रूप से जो असफलता हुई थी, उससे महाद्वीप पर पैर जमाने का स्वप्न नहीं छोड़ दिया गया।

सातवाँ अध्याय

"चीनी साम्राज्य की लूट-खसोट"

(१) युद्ध के परिणाम

सुदूर पूर्व में चीन और जापान की जो स्थिति थी, युद्ध से वह बदल गयी। युद्ध के पहले पश्चिमी राष्ट्र चीन की शक्ति न सही उस शक्ति-संभावनाओं का सम्मान करते थे और जापान के प्रति एक तरह से अनुकम्पा या अभिरक्षा का भाव रखते थे। सन् १८९५ के बाद चीनी साम्राज्य को मिलनेवाला मान बिलकुल क्षीण हो गया, क्योंकि चीन न केवल सैनिक रूप से निर्बल सिद्ध हुआ था, वरन् उसमें उस राष्ट्रीय चेतना का भी अभाव पाया गया था, जो विदेशी शत्रु के सम्मुख जनता को सरकार के पीछे ला खड़ा करता है। स्थानीयता की भावना का जो एक दुष्प्रभाव युद्ध-काल में एकदम स्पष्ट सामने आ गया था, वह था जापान के विरुद्ध पूरे राष्ट्र की शक्ति को केन्द्रित करने की क्षमता तथा इच्छा का पूर्ण अभाव। इसके अतिरिक्त, अनेक उच्चपदस्थ अधिकारियों में ईमानदारी का अभाव तथा आधुनिक परिस्थितियों के समक्ष उनकी अक्षमता भी बिलकुल स्पष्ट हो गयी थी। दूसरी ओर जापान की साख एकाएक बढ़ गयी। जापान की जल-थल सेनाओं के लिए विदेशी आलोचकों के पास केवल अति प्रशंसात्मक शब्द ही थे और यह स्वीकार कर लिया गया था कि इन सेनाओं ने जापान को उस स्थिति में पहुँचा दिया है, जहाँ सुदूरपूर्व की भविष्य की राजनीति में उसकी अवहेलना न की जा सकेगी। युद्ध के परिणामस्वरूप जापान का राष्ट्र-समाज के वयस्क सदस्य की हैसियत से स्वागत हुआ। अब पश्चिम उससे संपर्क की शर्तें उस पर लाद न सकेगा। यदि युद्ध के पूर्व जापान से हुई संधियों का पुनरीक्षण नहीं हुआ था, तो भी शिमोनोसेकी-संधि के उपरान्त जापान के पक्ष में उनका पुनरीक्षण आवश्यक हो गया था।

किन्तु इस सबके बावजूद, जापानी दृष्टिकोण से युद्ध सफल होते हुए भी सुदूर पूर्व में जापान को प्रथम शक्ति का दरजा नहीं दिलवा पाया। बड़े राष्ट्रों ने उसका सम्मान अवश्य शुरू कर दिया, किन्तु महाद्वीप की राजनीति में वे जापान को निर्णायक स्थिति देने को तैयार नहीं थे। चीन के पक्ष में तीन विदेशी शक्तियों द्वारा हस्तक्षेप ने जापान

को कुछ समय के लिए तो उसकी जगह बता ही दी थी और यह भी बता दिया था कि उसकी हैसियत क्या है।

(२) रूस का दक्षिण-प्रयाण

सन् १८९५ से सन् १९०२ तक का समय रूस के प्रभाव की अवधि थी। उत्तर व पश्चिम से लगातार दबाव डालते आ रहे रूस के प्रति चीन का आदर व भय का भाव था। किन्तु चीनी अधिकारियों में रूस का जो भी भय था, वह जापान से युद्ध के बाद कुछ वर्षों के लिए समाप्त हो गया। पीकिंग के निकट मंचूरिया में जापान के आ जाने से जो संकट और अपमान था, उसे रूस ने टाल दिया था और यह आश्वासन भी दिया था कि वह जापान के भविष्य के प्रसार से चीन की रक्षा करेगा। अतएव पीकिंग में रूस का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फ्रांसीसी मंत्री द्वारा रूसी नीति के समर्थन से यह प्रभाव और भी बढ़ा था, और साथ ही रूस से मैत्री करने से फ्रांस का भी बहुत लाभ हुआ था, क्योंकि फ्रांसीसी राजनयिक अधिकारियों को त्सुंगली यागेन में जो दरजा मिल गया था, वह उसे अन्यथा कभी न मिलता। हस्तक्षेप करनेवाले तीसरे देश, जर्मनी का भी चीन की कृतज्ञता पर अधिकार हो गया था और उसने अंशतः रूस के साथ और अंशतः अंग्रेज सेठों के साथ मिल कर जो कदम उठाये, उनसे उसे कालान्तर में काफी लाभ हुआ।

किन्तु, पीकिंग में रूसी प्रभाव बढ़ने से इंगलैण्ड का प्रभाव क्षीण हो गया था। लगभग बिलकुल अकेले ही इंगलैण्ड ने विदेशी संपर्क के लिए चीन का दरवाजा खोला था। सन् १८६० से सन् १८९५ तक पश्चिम के देशों के लिए इस संपर्क को अधिकाधिक लाभदायक व संतोषजनक बनाने के हर आंदोलन में इंगलैण्ड के मंत्री ने पहले की थी।[१] सन् १८९५ तक व उसके-बाद कुछ वर्षों तक भी इंगलैण्ड ही सबसे बड़ी व्यापारिक शक्ति रहा था और इसके बावजूद सन् १८९५ से सन् १९०१ तक की चिन्ताजनक अवधि में उसका राजनीतिक प्रभाव इतना कम हो गया था, जितना कम वह पहले कभी नहीं हुआ था। इसका एक कारण तो यह था कि इंगलैण्ड उस समय संसार के अन्य भागों में अधिक व्यस्त था, लेकिन साथ ही इसका यह भी कारण था कि वह किसी अन्य दूतावास का सहयोग नहीं ले पा रहा था और उसकी नीति नकारात्मक व प्रभावहीन थी। फ्रांस और रूस मिलकर अपना हितसाधन कर रहे थे और चीन का सबसे प्रमुख राजमर्मज्ञ रूस का समर्थन कर रहा था। जर्मनी भी अपनी स्थिति मजबूत करने में लगा था और कभी रूस और कभी इंगलैण्ड की सहायता ले रहा था, किन्तु स्थायी रूप से वह भी इंगलैण्ड के साथ नहीं था। और अमरीका सन् १८९५ में क्यूबा के मामलों में फँसा हुआ था, वह सुदूर पूर्व में इतनी दिलचस्पी नहीं ले रहा था कि कोई निश्चयात्मक स्पष्ट नीति व कार्ययोजना बनाये।

शिमोनोसेकी संधि पर हस्ताक्षर होने के शीघ्र बाद रूस ने चीन के रक्षक होने की अपनी नयी स्थिति मजबूत करने के लिए कदम उठायें। कुछ आंतरिक राजनीति के कारण और कुछ रूस के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध होने के कारण मंचू-शासन ने सन् १८९६ की मई में ज़ार के सिंहासनारूढ़ होने के उत्सव में भाग लेने के लिए ली हुंग-चांग को ही सेण्ट पीटर्सबर्ग भेजा। जब चीनी प्रतिनिधि रूसी राजधानी में थे, तब रूस के प्रमुख राजमर्मज्ञ, काउण्ट वीटे ने उन्हें समझाया कि चीन को रूस से संश्रय या मैत्री संधि कर लेनी चाहिए।[२] उन्होंने कहा कि चीन पर आया संकट अस्थायी रूप से ही टला है, यदि उस पर फिर कोई संकट आये तो रूस उसे प्रभावकारी सहायता देने का इच्छुक है और चीन के लिए यह उपयुक्त ही होगा कि वह समय पर प्रभावकारी सहायता पाने के लिए रूस को वे साधन और अधिकार उपलब्ध करा दे जिनसे यह सहायता वह दे सके। ली इस तर्क से इतने प्रभावित हुए कि सेण्ट पीटर्सबर्ग से रवाना होने के पहले वह संश्रय-संधि पर हस्ताक्षर कर आये।[३] यह संधि विशिष्ट रूप से जापान के विरुद्ध थी और दोनों पक्ष एक दूसरे की इस सहायता के लिए वचनबद्ध हुए थे कि पूर्वी एशिया में जापान के आक्रमण की स्थिति में—चाहे वह रूसी क्षेत्र पर हो या चीनी क्षेत्र पर—दोनों साथ ही युद्ध छेड़ेंगे और साथ ही शांति स्थापित करेंगे। चीन ने यह स्वीकार कर लिया कि युद्ध के समय रूस उसके बन्दरगाहों का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग कर सकेगा तथा अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त करेगा। चीन की रक्षा का यह वचन रूस ने उत्तरी मंचूरिया होते हुए सीधे व्लाडीवोस्टक तक ट्रांस-साइबेरियन रेलवे लाइन ले जा सकने के अधिकार के बदले में दिया था।

एक पूरक उपसंधि की धाराओं के अनुरूप, रूस ने रूसी-चीनी बैंक नामक एक निजी निगम स्थापित किया, जिसे चीन ने इस रेलवे लाइन का मंचूरिया स्थित भाग (जिसे चीनी पूर्वी रेलवे का नाम दिया गया था) बनाने के लिए धन लगाने का काम सौंप दिया। मंचरिया में रूस के प्रवेश के लिए यह बैंक मुख्य हथियार बना। जैसा कि बैंक के चार्टर या शासपत्र में लिखा था, यह बैंक "चीनी साम्राज्य में शुल्क वसूल करने, स्थान-स्थान पर राज्य-कोष से लेन-देन करने, चीनी सरकार की अनुमति से वहाँ की मुद्रा व सिक्कों का लेन-देन करने, चीन सरकार द्वारा लिये गये ऋणों पर व्याज वसूल करने, चीन की सीमाओं के भीतर रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए सुविधाएँ व रिआयतें प्राप्त करने और टेलीग्राफ के तार लगाने"[४] के लिए एक माध्यम था। इस प्रकार, रूसी कानून के अंतर्गत संगठित व नियंत्रित यह बैंक मंचूरिया में रेलवे लाइन बिछाने व अन्य योजनाओं में धन लगाने के अतिरिक्त चीन सरकार का राज-वित्तीय एजेण्ट बन रहा था। बैंक को पहला काम पूर्वी चीनी रेलवे लाइन के निर्माण का मिला। इसके लिए बैंक ने एक कम्पनी खड़ी की, जिसे रेल बनाने व चलाने व उसकी ऐसी संपत्ति के नियंत्रण का भी अधिकार

मिला जैसे कि निर्माण के लिए आवश्यक खदानें। इसके अतिरिक्त इस कंपनी को रेलवे क्षेत्र में प्रशासकीय अधिकार भी थे। जब रेल का निर्माण पूरा हो जाय उसके ८० वर्ष बाद तक ये रिआयतें चालू रहने वाली थीं, जिसके उपरान्त यह चीन को मुफ्त में मिलने वाली थी। किन्तु चीन ने यह अपना अधिकार सुरक्षित रखा था कि ३६ वर्ष के बाद वह यह लाइन स्वयं ले सकेगा; "किन्तु इस प्रकार लाइन लेने की शर्तें ऐसी बोझीली थीं और प्रतिदान या मोचन-भार इतना अधिक था कि इस बात की संभावना बहुत कम थी कि चीन कभी इसके मोचन का प्रयास भी करेगा। हिसाब लगाया गया था कि यदि चीन ३७ वें वर्ष के आरम्भ में रेलवे लाइन को स्वयं लेना चाहे तो वह, रिआयत की शर्तों के अनुसार, निगम को ७० करोड़ रुबल से कम नहीं देगा।[५]

इस रिआयत की शर्तें रूस के लिए बहुत अधिक सुविधाजनक थीं, किन्तु, उत्तरी मंचूरिया होकर ब्लाडीवोस्टक तक साइबेरियन रेलवे लाइन ले जाने के लिए कोई भी शर्त रूस के लिए सुविधाजनक होती। इससे लाइन की लम्बाई में तो भारी बचत हो ही गयी——यदि पूरी लाइन रूसी क्षेत्र में ही होकर निकाली जाती तो वह बहुत अधिक लम्बी होती——साथ ही, उत्तरी मंचूरिया में रूस के आर्थिक प्रभाव की भी शुरुआत हो गयी।[६] रेलवे लाइन की सारी योजना की शुरुआत ही आर्थिक दृष्टि से की गयी लगती थी और यह काउण्ट वीटे के रूस के औद्योगिक विकास की व्यापक योजना का एक अंग थी। रेलवे लाइन के संबंध में काउण्ट की जो आशा-अपेक्षा थी वह शुरू से ही पूरी होने लगी। जैसे-जैसे लाइन पड़ती जाती थी, किसान उसकी दोनों ओर आ-आकर बसते जाते थे; इस क्षेत्र में बस्तियाँ बनने से व्यापार का विकास हो रहा था। यह असंभाव्य नहीं था कि रूसी निर्देशन व उसके आर्थिक हित में सारा का सारा मंचूरिया इसी प्रकार विकसित हो जाय। और इस विकास से रूस का वैसे ही लाभ था, जैसे कि स्वयं रूसी क्षेत्र का विकास हो रहा हो। यह तो सही है ही कि इस रेलवे का उद्देश्य आर्थिक के अलावा सामरिक नीति का था ही। रेलवे लाइन के द्वारा रूसी क्षेत्र का जैसा एकीकरण संभव था, वह किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता था। किन्तु जहाँ तक मंचूरिया का संबंध है, योजना के प्रणेता, एलेक्जैण्डर तृतीय और काउण्ट वीटे के मन में रूसी क्षेत्र के विस्तार की नहीं, आर्थिक प्रवेश की ही भावना थी।

(३) जर्मनी का बढ़ाव

'रिआयतों की लड़ाई' फ्रांस ने सन् १८९५ में शुरू थी, किन्तु रूस व जर्मनी ने इसे उत्साहपूर्वक आगे बढ़ाया था। जर्मनी इस बात पर तुला बैठा था कि लिआओतुंग प्राय-द्वीप जापान से मुक्त होने में जर्मनी की जो सहायता चीन को प्राप्त हुई थी, उसकी पूरी-

पूरी स्वीकृति चीन से प्राप्त हो। सन् १८९७ के वसन्त में जर्मनी ने अन्य देशों को सूचना दी कि वह चीन के तट पर एक कोयला भरने और जहाज ठहराने के केन्द्र की स्थापना का इच्छुक है और उपयुक्त बन्दरगाह के लिए उसने सर्वेक्षण शुरू कर दी। किन्तु कोई काररवाई करने के पूर्व कोई उपयुक्त बहाना ढूँढ़ना आवश्यक था। तभी शानतुंग प्रान्त में जर्मनी के दो पादरियों की हत्या कर दी गयी। हत्या के दो सप्ताह के भीतर जर्मनी ने त्सुंगली यामेन के समक्ष माँग पेशकर दी कि (१) किआओचाओ खाड़ी व त्सिंगताओ बन्दरगाह का ९९ वर्ष का पट्टा कर दिया जाय; (२) शानतुंग प्रान्त में कोयले की खानों के उपयोग व वहाँ रेलवे लाइन डालने के इजारेदारी अधिकार दे दिये जायँ; और (३) माँगें पेश करने के पूर्व त्सिंगताओ बन्दरगाह पर अधिकार कर लेने वाले नौसैनिक-अभियान का व्यय व क्षतिपूर्ति दी जाय।

६ मार्च, १८९८ को हुए समझौते में चीन ने ये माँगें काफी हद तक मान लीं। किआओचाओ खाड़ी के आसपास का क्षेत्र, अस्थायी रूप से, ९९ वर्ष के पट्टे पर दे दिया गया। चीन के सम्राट् ने इस क्षेत्र पर अपना अधिकार कायम रखते हुए भी पट्टे की अवधि में वहाँ सर्वोच्च सत्ता के अधिकार का उपयोग न करने का आश्वासन दिया। अपनी ओर से जर्मनी ने यह कहा कि पट्टे की अवधि में भी वह इस क्षेत्र को छोड़कर इसके वदले समुद्र तट पर कहीं अन्यत्र अपना केन्द्र बना सकेगा। यह क्षेत्र किसी अन्य शक्ति को जर्मनी पट्टे पर नहीं उठा सकेगा। शानतुंग प्रान्त में कोयला निकालने और रेलें बनाने के इजारेदारी अधिकारों की जगह जर्मनी को विशिष्ट खानों के उपयोग व विशिष्ट लाइनें बिछाने की अनुमति मिल गयी।[7]

(४) 'रिआयतों की लड़ाई'

इन माँगों के स्वीकार का अर्थ हुआ सुदूर पूर्व में एक राज्य के पक्ष में शक्ति-संतुलन का झुकाव। फलतः सभी देश अपने-अपने हितों को सुरक्षित करने के लिए तत्काल व्यस्त हो गये। रूस ने पोर्ट आर्थर (बन्दरगाह) पर कब्जा कर लिया और माँग पेश कर दी कि पोर्ट आर्थर व तैलीनवान के साथ क्वांगटुंग क्षेत्रवाला लिआओतुंग प्रायद्वीप का अग्रभाग २५वर्ष के लिए पट्टे पर दे दिया जाय, रूसी-चीनी बैंक को मिली रिआयतों में पूर्वी चीनी रेलवे की एक शाखा दक्षिण में पोर्ट आर्थर तक लाने की रिआयत भी शामिल कर दी जाय और दक्षिण मंचूरिया में खनिज पदार्थों को निकालने का अधिकार दिया जाय।

इस पर ब्रिटेन ने २५ वर्ष के लिए वीहाईवी बन्दरगाह के पट्टे की माँग कर दी। उसने यह भी माँग की कि (१) चीन यांग्त्सी नदी से लगे प्रान्तों को किसी अन्य देश को न देने की घोषणा करे, (२) यह वचन दे कि जब तक चीन से व्यापार में अंग्रेज सबसे

आगे रहें, तब तक चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा का महानिरीक्षक कोई अंग्रेज ही रहे, और (३) हांगकांग के सामने के मुख्य महाद्वीप के भूभाग का जो पट्टा था वह बढ़ाया जाय।

फ्रांस सन् १८९५ में ही चीन से यह वक्तव्य प्राप्त कर चुका था कि वह हैनान द्वीप किसी अन्य देश को नहीं देगा। फ्रांस दक्षिण के अपने उपनिवेशों से चीन आने वाले माल पर सीमा-शुल्क में रिआयत भी ले चुका था।[८] इसके अतिरिक्त युन्नान, क्वांग्सी व क्वांगतुंग प्रान्तों में खनिज पदार्थों के उपयोग में प्राथमिकता और चीनी क्षेत्र तक अन्नम रेलवे लाइन ले आने की अनुमति भी फ्रांस पा चुका था।[८] सन् १८९७–१८९८ में फ्रांस ने अपने हितों का प्रसार कुछ अन्य सुविधाएँ प्राप्त कर लिया; उसे आश्वासन मिल गया कि टोंगकिंग से लगे प्रान्तों का भूमि-संक्रामण नहीं होगा, उसे युन्नान प्रान्त में रेलें बनाने की रिआयत मिल गयी, क्वांगचाउ खाड़ी का ९९ वर्ष का पट्टा उसे मिल गया और उसे चीन का यह वचन मिल गया कि वह जब भी अलग से अपनी डाक सेवा स्थापित करेगा, तब कर्मचारियों की नियुक्तियों के संबंध में फ्रांसीसी सरकार की सिफारिशों पर विचार करने के लिए तत्पर रहेगा। उधर जापान ने माँग की कि फारमोसा के सामने पड़ने वाले फूकिन प्रान्त का किसी अन्य देश के पक्ष में भूमि-संक्रामण न किया जाय। ये सभी माँगें चीन सरकार ने मान लीं, किन्तु जब इटली ने अनुरोध किया कि सनमेन खाड़ी उसे पट्टे पर दे दी जाय तब सरकार ने हिम्मत करके इनकार कर दिया। इससे रिआयतें प्राप्त करने की आपाधापी कुछ समय के लिए समाप्त हो गयी।

(५) दिलचस्पी के क्षेत्र

ये सब घटनाएँ इतनी तेजी से हुईं और केन्द्रीय इतना कम प्रतिरोध कर सका कि ऐसा लगने लगा कि चीनी साम्राज्य का अंत कभी भी हो सकता है। चीन जैसे राज्य के विभाजन की दिशा में पहला कदम विभिन्न शक्तियों के विशेष दिलचस्पी के क्षेत्र बनना होता तथा चीन व अन्य देशों के बीच जो ये अनेक समझौते हुए थे वे साम्राज्य के विभिन्न भागों में "दिलचस्पी के क्षेत्र" ही बना रहे थे। जैसे, मंचूरिया रूसी दिलचस्पी का क्षेत्र था, शानतुंग जर्मनी की दिलचस्पी का क्षेत्र था, आदि। 'दिलचस्पी के क्षेत्र' का चीनी संदर्भ में मुख्य आशय आर्थिक महत्त्व का था।

ओवरलाक ने लिखा है—शब्द का मूल तत्व नकारात्मक है, क्योंकि इससे यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि जिस देश के पक्ष में दिलचस्पी का क्षेत्र बना है उसको छोड़ कर कोई अन्य देश उस क्षेत्र में कोई रिआयत, कोई भी नियंत्रण आदि प्राप्त नहीं कर सकेगा—सैनिक आधिपत्य की बात ही दूर है—और साथ ही उसी समय उस विशेष अधिकार-प्राप्त देश को रिआयतें पाने की इजारेदारी प्राप्त रहेगी। किन्तु यह विशेषाधिकार

उस देश को ऐसा प्रभाव प्रयोग करने का कोई अधिकार नहीं देता, जिससे वह दिलचस्पी के क्षेत्र की जगह प्रभाव का क्षेत्र बन जाय। 'प्रभाव-क्षेत्र' का प्रयोग चीन के संदर्भ में औपचारिक रूप से कभी नहीं हुआ; इस शब्द का तात्पर्य किसी सीमा तक अधिकार या नियंत्रण से है, चाहे वह आर्थिक हो या राजनीतिक; और इस अधिकार का प्रयोग किसी क्षेत्र में किसी विदेशी द्वारा होना चाहिए।[१]

चीन जैसे देश के लिए बड़ा खतरा इस संभावना में होता है कि किसी देश द्वारा किसी क्षेत्र में दिलचस्पी का एकाधिकार स्थापित होते ही कुछ नियंत्रण के अधिकार भी प्राप्त करने का बहाना ढूँढ़ा जाता है, चाहे व आर्थिक हो या राजनीतिक––और शीघ्र ही दिलचस्पी का क्षेत्र प्रभाव के क्षेत्र में बदल जाता है। प्रभाव-क्षेत्र की स्थापना के बाद 'संरक्षित क्षेत्र' का दावा धीरे-धीरे नियंत्रण के आधिकारों के विकास द्वारा होने लगता है। दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त का तर्कसम्मत अर्थ उस क्षेत्र के अंततः उस देश के अंग बन जाने से ही होता है, जो पहले आर्थिक हितों की प्राथमिकता की माँग करता है। इसमें संशय नहीं है कि हित-क्षेत्रों के विकास को शुरू में ही न रोका गया होता तो चीन का भी यही हाल हुआ होता।

चीन में विदेशों को जो रिआयतें मिली थीं, उनके आधार पर दिलचस्पी के क्षेत्रों की घोषणा कठिन थी। पहले तो समुद्रतट पर पट्टे दिये गये, जिससे पट्टेदारों का यह प्रकल्पित दावा बना कि चीन का यदि बटवारा हुआ तो पट्टे के क्षेत्र से मिला पृष्ठ प्रदेश उनका हो जायगा। किन्तु जब कभी किसी देश को पट्टा मिलता था, नियमतः उसे उस क्षेत्र में कुछ आर्थिक रिआयतें भी मिल जाती थीं––या तो पट्टे की भूमि के पृष्ठ प्रदेश में ही या ऐसे क्षेत्र में जहाँ के लिए पट्टा नहीं भी माँगा गया था। जैसा कि कहा जा चुका है, ये रिआयतें अपने-अपने देश से माल ढोकर और धन लगाकर रेलवे लाइनें डालने और कभी-कभी रेलें चलाने, किसी क्षेत्र की खनिज सम्पत्ति के उपयोग या किसी क्षेत्र के भूमि-संक्रामण पर रोक के रूप में थीं। इन रिआयतों के साथ सामान्यतः संक्रामण पर लगी रोक वाले प्रदेशों में कुछ आर्थिक रिआयतें भी मिल जाती थीं।

ये रिआयतें चीन व अन्य देशों के बीच हुए समझौतों से मिली थीं। इन देशों को यह साबित करना अब भी शेष था कि अन्य देशों को हटा कर केवल उनकी दिलचस्पी कायम रखने वाले उनके 'दिलचस्पी के क्षेत्र' बन गये हैं। इसके लिए चौथे प्रकार के समझौते और वास्तविक 'क्षेत्र' बनने की दरकार थी। पहले तीन प्रकार के समझौतों के अनुसार चीन को यह स्वतंत्रता रहती थी कि यदि वह चाहे तो किसी अन्य देश को भी उसी क्षेत्र में कुछ ख़ास रिआयतें दे दे। वास्तव में ऐसा करना चीन के ही हित में था, क्योंकि इससे वह उस क्षेत्र पर अपना अधिकार व सत्ता साबित कर सकता था। फलतः, हर देश शोषण

के लिए चुने गये अपने क्षेत्र में अन्य देशों से यह स्वीकार कराने के लिए प्रयत्न करने लगा कि वहाँ और किसी की दिलचस्पी नहीं है और केवल उसी देश की दिलचस्पी का वह क्षेत्र है।

सन् १८९० की स्याम-उपसंधि की शर्तों के अनुसार फ्रांस व ब्रिटेन में यह समझौता हो गया था कि यदि उनमें से किसी को भी युन्नान व जेचुआन प्रान्तों में कोई विशेष सुविधा मिल गयी तो वे मिल कर उसका उपभोग करेंगे। किन्तु, सन् १८९८ में, टोंगकिंग से लगे प्रान्तों के संबंध में—जिनमें युन्नान भी शामिल था—चीन से असंक्रामण-समझौता हो जाने के बाद, फ्रांस ने उस पूरे क्षेत्र में अपनी विशेष दिलचस्पी का दावा शुरू कर दिया। उसने युन्नान प्रान्त में रेलें बनाने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया था। ब्रिटेन ने स्थिति के इस परिवर्तन को चुपचाप स्वीकार कर लिया और वह यांग्त्सी घाटी में क्षति-पूर्ति पाने का प्रयास करता रहा। इस प्रकार फ्रांस के युन्नान, क्वांग्सी व क्वींचाओ प्रान्तों में "दिलचस्पी के क्षेत्र" के दावे को मौन स्वीकृति तो मिल ही गयी। प्रान्तों के इस समूह में क्वांगटुँग भी शामिल था, जिसके संबंध में चीन ने फ्रांस को आश्वासन दिया था कि वह किसी विदेशी शक्ति को उसका भूमि-संक्रामण नहीं करेगा; किन्तु, हांगकांग के, जो इस प्रान्त के सामने पड़ता था, ब्रिटेन के स्वामित्व और पूर्वी क्वांटुंग के काउलून क्षेत्र का पट्टा अंग्रेजों के नाम से होने के कारण इस प्रान्त में दिलचस्पी का क्षेत्र विभाजित था और फ्रांसीसी दिलचस्पी केवल प्रान्त के पश्चिमी भाग तक सीमित मानी जा सकती थी। जेचुआन प्रान्त भी दोनों देशों का संयुक्त शोषण क्षेत्र ही माना जाना चाहिए था। चूंकि ब्रिटेन ही दूसरी विदेशी शक्ति था जिसकी दक्षिणी-पश्चिमी चीन में दिलचस्पी थी और ब्रिटेन ने उस क्षेत्र में फ्रांसीसी दावे की प्राथमिकता स्वीकार कर ली थी, यह समझा जा सकता था कि फ्रांस ने अपने दिलचस्पी के क्षेत्र को अन्य दावों व अतिक्रमण से सुरक्षित कर लिया था।

यांग्त्सी घाटी, शानतुंग व मंचूरिया के संबंध में एक ओर ब्रिटेन और दूसरी ओर रूस व जर्मनी ने जो समझौते कर लिये थे, उन्हीं में मुख्य अंतरराष्ट्रीय दिलचस्पी निहित थी। शानतुंग प्रान्त के उत्तरी तट पर स्थित बन्दरगाह, वीहाईवी का पट्टा माँगते समय ब्रिटेन ने जर्मनी सरकार को यह आश्वासन दे दिया था कि इस प्रान्त में आर्थिक रिआयतें प्राप्त करने का जो जर्मनी का सुरक्षित क्षेत्र है, उसमें हस्तक्षेप करने का उसका कोई भी इरादा नहीं है। सन् १८९८ में अंग्रेज व जर्मनी के पूँजीपतियों ने रेलवे लाइन बिछाने का एक और समझौता सीधे आपस में कर लिया। इस समझौते में शानटुंग रेलवे लाइन के यांग्त्सी घाटी की लाइनों से जोड़े जाने के अधिकार को छोड़कर, यांग्त्सी व उसकी सहायक नदियों द्वारा सिंचित लगभग सभी प्रान्तों को अंग्रेजों के दिलचस्पी के क्षेत्र में शामिल मान लिया गया था। इसी तरह रेलवे लाइनों के जोड़ मिलाने के अधिकार को छोड़ कर

शांसी प्रान्त भी ब्रिटेन के क्षेत्र में मान लिया गया था। जर्मनी की दिलचस्पी का क्षेत्र पीत नद घाटी और शानटुंग प्रान्त मान लिया गया था, केवल रेल लाइन-संबंधी अधिकार का अपवाद कर दिया गया था। हर एक देश ने यह स्वीकार कर लिया था कि वह दूसरे के क्षेत्र में रिआयतें माँगने की होड़ नहीं लगायेगा।

सन् १८९९ के स्कॉट-यूरावीफ-समझौते के द्वारा ब्रिटेन व रूस के मतभेद भी मिट गये थे; इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया था कि वह रेलवे लाइन संबंधी रिआयतें माँगने चीन की बड़ी दीवार के उत्तर में नहीं जायगा और रूस ने यह मान लिया था कि वह यांग्त्सी घाटी में ब्रिटेन के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(६) अमरीका की दिलचस्पी व दृष्टिकोण

यदि सभी विदेशी शक्तियाँ इन समझौतों का ईमानदारी से पालन करतीं और यदि सभी एक दूसरे के दिलचस्पी के क्षेत्रों का सम्मान करने को वचनबद्ध होतीं तो ये समझौते चीन को बिलकुल असहाय बना देते। पर सन् १८९७–१८९८ की इस आपाधापी में अमरीका ने कोई भाग नहीं लिया था, यद्यपि विदेशी राजनीति के प्रश्नों के महत्त्व के संबंध में जागरूक होना उसने तभी शुरू किया था। बीच-बीच में अमरीका सुदूर पूर्व की घटनाओं में गहरी दिलचस्पी लेता रहा था। जब चीन का द्वार खुला था, तब अमरीका कैण्टन बन्दरगाह का दूसरा सबसे बड़ा व्यापारी देश था। जापान के द्वार उन्मुक्त करवाने में अमरीका का जो हाथ था, उसका वर्णन किया ही जा चुका है।[१०] किन्तु गृहयुद्ध के बाद अमरीका की सक्रिय दिलचस्पी बाहरी दुनिया से कम हो गयी थी, क्योंकि उसका ध्यान घर के विकास व सुधार में ही लगा था; दिलचस्पी की यह कमी सुदूरपूर्व के देशों के लिए भी लागू थी। किन्तु सन् १८६५–१८९८ के बीच की अवधि में अमरीकी राष्ट्र में एक परिवर्तन आया और वह खेतिहर देश की जगह औद्योगिक देश बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक अमरीका की औद्योगिक प्रगति इस सीमा तक हो गयी थी कि अनेक अमरीकी घरेलू आवश्यकता से अधिक उत्पन्न औद्योगिक सामान की खपत के लिए विदेशी बाजारों की आवश्यकता समझने लगे थे; बहुत से अमरीकी यह भी समझ रहे थे कि इतनी पूँजी एकत्र हो गयी है कि घर के क्षेत्र में वह पूरी की पूरी लग नहीं सकती थी। बाहरी दुनिया से यह विशुद्ध आर्थिक दिलचस्पी तो पैदा हो ही रही थी कि स्पेन से युद्ध के कारण अंतरराष्ट्रीय संबंधों में और अधिक दिलचस्पी पैदा हो गयी। इस युद्ध के फलस्वरूप अमरीका को सुदूरपूर्व में फिलीपीन में क्षेत्रीय आधिपत्य मिल गया और इस प्रकार अमरीका एक एशियाई शक्ति बन बैठा। इस सबसे अमरीका की चीन में दिलचस्पी बढ़ गयी। और इस दिलचस्पी के कारण नयी परिस्थिति में एक स्पष्ट निश्चयात्मक प्रतिक्रिया की आवश्यकता प्रतीत हुई।

जब 'रिआयतों की लड़ाई' शुरू हुई और जब तक वह चलती रही, अमरीका स्पेन से युद्ध में व्यस्त रहने के कारण वहाँ कोई सीधी कारखाई नहीं कर सका। सन् १८९९ में जो स्थिति थी उसका अमरीकी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने से लगेगा कि उस समय अमरीकी सरकार के समक्ष तीन स्पष्ट विकल्प थे—चीन में अन्य विदेशों ने जो बढ़ाव कर लिये थे, उन्हें मान्यता देकर वह चुपचाप निष्क्रिय होकर बैठ सकती थी और विदेशी दिलचस्पी के क्षेत्रों को स्वाभाविक रूप से संरक्षित क्षेत्रों में विकसित होने दे सकती थी, जिससे अंततः चीन से व्यापार करने का अमरीका का मार्ग बिलकुल अवरुद्ध हो जाता; वह भी रिआयतों की लड़ाई में भाग लेकर चीन के शोषण के लिए कुछ क्षेत्रों का एकाधिकार पाने का प्रयत्न कर सकती थी, या फिर वह विभिन्न देशों के दिलचस्पी के क्षेत्रों में ही अमरीकी व्यापारिक हितों की सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हो सकती थी। अमरीका में अपनी पूँजी व उद्योग को बाहर ले जाने के पक्ष में प्रबल जनमत होने के कारण पहला विकल्प स्वीकार करना अमरीका के लिए असंभव था, क्योंकि चीन दुनिया में सबसे अच्छा पूंजी लगाने व सबसे बड़ा बाज़ार बनाने की संभावना वाला देश समझा जाता था। दूसरा विकल्प भी अस्वीकार्य था। सुदूर पूर्व में अमरीकी नीति परंपरागत रूप से एकाधिकार-विरोधी रही थी। सुदूर पूर्व के देशों से अमरीका का जो भी व्यवहार हुआ था, उसमें कहीं भी उसने अपने या अपने देशवासियों के लिए इजारेदारी या एकाधिकार की मांग नहीं की थी। उसने हमेशा अपने लिए "परम मित्र राष्ट्र" का व्यवहार माँगा था और वह हमेशा इस बात के लिए तैयार रहा था कि इस प्रकार मिली सुविधाएँ अन्य व्यापारिक शक्तियों को भी प्राप्त रहें। वह प्रतियोगिता के लिए तत्पर था, किन्तु प्रतियोगिता की शर्तें सभी के लिए समान और भदभावहीन होनी चाहिए थीं। उसकी यह नीति सुदूरपूर्व की भाँति दक्षिणी अमरीका में भी लागू थी। फलतः, अमरीका के लिए चीनी 'तरबूज' का एक टुकड़ा अपने लिए अलग लेने की कोशिश पुरानी नीतियों को एकदम उलट-पलट देने के समान होती। यह उलट-पुलट अन्य स्थानों के मुकाबले में चीन में और भी अधिक स्पष्ट होती क्योंकि सन् १८४२ के बाद अमरीकी सरकार ने लगभग लगातार चीन की क्षेत्रीय सार्वभौम सत्ता की अक्षुण्णता की रक्षा की आवश्यकता पर ज़ोर दिया था। काफी समय तक अमरीका को यह आशंका थी कि ब्रिटेन 'स्वर्गिक' साम्राज्य के किसी भाग को अपना औपनिवेशिक क्षेत्र बना लेगा और सुदूर पूर्व में ब्रिटेन के हर कदम और हर कारखाई को उसने बहुत सावधानी से जाँचा-परखा था। बाद में, जब बर्लिगेम मंत्री बने, उन्होंने और उनके द्वारा अमरीका ने, चीन की राज्यसत्ता अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता की सामूहिक स्वीकृति के आधार पर सहयोग-नीति स्थापित करने का नेतृत्व किया था।

इस प्रकार अमरीका के लिए केवल तीसरा विकल्प शेष था, किन्तु इसकी कोई ठोस अभिव्यक्ति आवश्यक थी, जिस दिशा में कार्य होना था, वह सामान्यतः स्पष्ट थी। मोटे तौर पर अमरीका की यह दिलचस्पी अब भी शेष थी कि चीन को क्षेत्रीय विघटन से बचाया जाय, किन्तु इसकी विपरीत दिशा में अनेक सक्रिय कदम पहले ही उठाये जा चुके थे और पट्टों के समझौतों द्वारा चीनी साम्राज्य अपने ही क्षेत्रों पर जो नियंत्रण खो बैठा था, उसे चीन को वापस दिलाने और साथ ही यूरोपीय देशों ने जो विशेष आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त कर रखी थीं, उन्हें त्यागने के लिए इन देशों को राजी करने के लिए केवल शाब्दिक प्रतिवादों से काम नहीं चलने वाला था। यदि इस दिशा में बढ़ने की इच्छा होती तो व्यापारिक देश—इंगलैण्ड, जर्मनी, अमरीका व संभवतः जापान भी—एक शक्ति समुच्चय बनाकर सफल हो सकते थे। किन्तु रिआयतों की भगदड़ व आपाधापी में जर्मनी ने बड़ी प्रमुख भूमिका अदा की थी और जब तक अमरीका इस दिशा में कदम उठाने की आवश्यकता के प्रति जागरूक हो, इंगलैण्ड ने भी इस आपाधापी में भाग ले लिया था। इंगलैण्ड ने अर्ध-औपचारिक रूप से सहयोग की इच्छा प्रकट भी की, किन्तु उसने इस सहयोग के लिए आधार बनाया था चीनी सेना व अर्थ-व्यवस्था के इन देशों द्वारा संयुक्त नियंत्रण को। ऐसा सहयोग अमरीका को मान्य नहीं हो सकता था, इसलिए अमरीकी परराष्ट्र-मंत्री हे को अपनी स्वतंत्र नीति निर्धारित करने को बाध्य होना पड़ा। इस नीति की रूप-रेखा प्रसिद्ध 'उन्मुक्त द्वार' संबंधी गश्ती पत्र में दी गयी थी।

(७) 'उन्मुक्त द्वार' नीति

६ सितम्बर १८९९ को इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस व जापान की सरकारों को पत्र भेजे गये जिनमें कहा गया था कि सभी देश "विधिवत् आश्वासन दें तथा अन्य संबंधित देशों से इस प्रकार के आश्वासन दिलाने में सहयोग प्रदान करें कि (१) कोई भी देश अपने प्रभाव के क्षेत्र में चीन में पट्टे से पायी हुई भूमि या तथाकथित दिलचस्पी के क्षेत्र में किसी भी निहित स्वार्थ या संधि-बन्दरगाह में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। (२) 'स्वतंत्र बन्दरगाहों' को छोड़ कर दिलचस्पी के क्षेत्र में स्थित सभी बन्दरगाहों में आयात या निर्यात हुए व्यापार के सभी सामान पर—वह किसी भी देश का क्यों न हो—उस समय चीनी संधि द्वारा निर्धारित शुल्क-दर समान रूप से लगेगी और इस प्रकार लगे शुल्क को चीन सरकार वसूल करेगी; और (३) दिलचस्पी के इन क्षेत्रों में स्थित बन्दरगाहों में आने वाले अन्य विदेशी जहाजों से अपने जहाजों के मुकाबले ज्यादा कोई भी देश बन्दरगाह भाड़ा न वसूल करेगा और न अपने क्षेत्र की अपनी रेलों पर अन्य देशों से आये माल-सामान पर उससे अधिक किराया-भाड़ा लेगा, जो वह अपने देश के नागरिकों

से वसूल करता है।"[११] इस प्रकार, अमरीका ने यह नीति अपनायी कि दिलचस्पी के क्षेत्रों के अनेक देशों के दावे व पट्टों की स्थापना की यथास्थिति स्वीकार कर अमरीकी नागरिकों के लिए व्यावसायिक सुविधाओं व अवसरों की पूर्ण समानता प्राप्त करने के लिए इन क्षेत्रों में दिलचस्पी रखने वाले देशों के अपने दृष्टिकोणों की स्पष्ट व्याख्या कराये। यह 'उन्मुक्त द्वार' नीति व्यावसायिक स्वार्थ की नीति थी और जिस प्रकार वह बनी और जिस प्रकार उसका प्रकाशन हुआ उसमें चीन की स्वतंत्रता और क्षेत्रीय अविच्छिन्नता कायम रखने की इच्छा कहीं भी प्रकट नहीं होती थी। इस नीति में 'दिलचस्पी के क्षेत्र' सिद्धान्त की स्वीकृति निहित थी और यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि इस सिद्धान्त के तर्कसंगत निष्कर्ष अर्थात् चीनी क्षेत्र पर दूसरे देशों के आधिपत्य को भी इस नीति में स्वीकृति प्राप्त थी, केवल शर्त यह थी कि इस प्रकार विदेशी कब्जे में गये चीनी क्षेत्र में अमरीका का व्यापार-संबंधी अधिकार सुरक्षित रहे।

किन्तु 'दिलचस्पी के क्षेत्र' और 'उन्मुक्त द्वार' या व्यावसायिक सुविधाओं की समानता दो अवधारणाएँ मूलतः एक दूसरे से भिन्न, असंगत और बेमेल थीं। दिलचस्पी के क्षेत्र बनाने का मुख्य उद्देश्य ही रेलें बनाने, खनिज पदार्थों के उपयोग और क्षेत्र के आर्थिक शोषण के एकाधिकार प्राप्त करना होता था।[१२] इसके अतिरिक्त, दिलचस्पी का क्षेत्र जैसे-जैसे प्रभाव का क्षेत्र बनता जाता था या कि संरक्षित क्षेत्र बनता जाता था, इस प्रकार प्राप्त राजनीतिक नियंत्रण को ये देश लगभग हमेशा ही उस क्षेत्र के आर्थिक विकास की इजारेदारी उस सीमा तक कायम करने में उपयोग करते, जिस सीमा तक ऐसे विकास में उन्हें लाभ होता। दूसरे शब्दों में, 'उन्मुक्त नीति द्वार' 'क्षेत्र' की अवधारणा पर सीमाएँ व संशोधन लागू करता है और अंततः चीन जैसे देश की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता और स्वतंत्रता की माँग करता है, क्योंकि इसीसे व्यावसायिक अवसरों की समानता कायम रह सकती है।

अपने सामान के बाजार व अपनी पूँजी लगाने के क्षेत्र के रूप में पूरे चीन देश को सुरक्षित रखने में मूलतः दो देशों को दिलचस्पी थी। चूँकि सन् १८९९ में अमरीका के चीन में व्यापार-संबंधी हित इतने अधिक नहीं थे कि उन्हें कायम रखने के लिए किसी कड़ी काररवाई की आवश्यकता हो; इसलिए अमरीका की दिलचस्पी भविष्य में थी। दूसरी ओर ब्रिटेन के व्यापारिक हित वास्तविक थे संभाव्य नहीं, भविष्य नहीं वर्तमान में थे। ये हित साम्राज्य के किसी एक भाग में केन्द्रित नहीं थे, वरन् देश के उत्तरी, दक्षिणी, मध्य सभी भागों में विकसित हुए थे। अतः ब्रिटेन को दिलचस्पी के अपने बड़े व्यापक क्षेत्र में प्राथमिकता पाने में जितना लाभ था, उससे कहीं अधिक हानि उसे चीनी साम्राज्य के केवल एक भाग में सीमित रहने में थी। चीनस्थित अंग्रेज व्यापारी

इस स्थिति को स्पष्टतः समझ रहे थे। किन्तु, ब्रिटेन की सरकार ने दिलचस्पी के क्षेत्र बनने के समय सक्रिय प्रतिवाद करने का अवसर खो दिया था और बाद केवल क्षतिपूर्ति की माँग कर अपने हितों की रक्षा का प्रयत्न किया था। दक्षिणी अफ्रीका के मामले का संकटापन्न स्थिति में पहुँचना, मिस्र के मामले को लेकर फ्रांस से जो विवाद हुआ और जिसका फाशोदा में अंत हुआ और जर्मनी की सरकार को संतुष्ट रखने की जो इच्छा—इन सभी ने मिल कर उस समय अनेक यूरोपीय देशों द्वारा अपनायी गयी चीन-संबंधी नीति के ब्रिटेन के प्रतिरोध को कमज़ोर कर दिया था।

किन्तु जब अमरीकी सरकार ने जमकर एक प्रस्ताव रखा,[२३] अंग्रेजों को उस प्रस्ताव में (हेके प्रस्ताव) सन् १८६०–१८८५ की अपनी नीति का समर्थन दिखायी दिया और उन्होंने सहर्ष वे आश्वासन दे दिये, जो अमरीका ने माँगे थे, सिर्फ शर्त यह लगा दी कि उसके आश्वासन तभी पक्के माने जायँ, जब अन्य देश भी ऐसे आश्वासन दे दें।[२४] जर्मनी की सरकार पहले से ही पट्टे के अपने क्षेत्र में चीनी शुल्क-दर पर सामान के आयात के पक्ष में थी और चीनी समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा के महानिरीक्षक से इस संबंध में बातचीत चला रही थी। उसने सहर्ष अन्य आश्वासन भी दे दिये। फ्रांस, इटली व जापान भी हे-प्रस्ताव के पूर्ण समर्थक थे।

किन्तु रूस ने अन्य सरकारों की भाँति स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, यद्यपि उसने जिस भाषा का प्रयोग किया उसे हे ने रूस की सहमति व स्वीकृति मान लिया। तेलीनवान को रूसी सीमा-शुल्क-व्यवस्था के अंतर्गत ले आने के लिए प्रारम्भिक काररवाई हो चुकी थी और पोर्ट आर्थर में चीनी व रूसी जहाजों के अतिरिक्त अन्य देशों के जहाजों के आने पर रोक लग गयी थी; पोर्ट आर्थर तेजी से सशक्त और किलाबन्दी वाला नौसैनिक गढ़ बन रहा था। इस प्रकार, रूस ने जहाँ तक उसे व्यापार के लिए खोलने का प्रश्न था, तेलीनवान को स्वतंत्र बन्दरगाह बनाने की दिशा में तो कदम उठाया, किन्तु, उसने आश्वासन केवल यही दिया कि यदि "कभी भविष्य में वह बन्दरगाह, स्वतंत्र रहते हुए भी शुल्क-सीमाओं के फलस्वरूप उस क्षेत्र से अलग हो जाय, मंडल में कर-दर के अनुसार, सीमा-शुल्क सभी विदेशी माल पर राष्ट्रीयता का भेदभाव किये बिना लागू होगा।"[२५] "विदेशी" का अर्थ अरूसी था, अतएव यह वक्तव्य अनेक अर्थक ही माना जायगा। इसके अतिरिक्त रूसी उत्तर में हे के गश्ती पत्र में उठायी गयी अन्य बातों के संबंध में, जैसे कि रेल के भाड़े की दर, रूसी दृष्टिकोण या नीति की, कुछ भी नहीं कहा गया था।

हे-सिद्धान्तों की स्वीकृति के फलस्वरूप चीन के विभाजन की दिशा में जो आंदोलन चल पड़ा था, वह अस्थायी रूप से विकास की पहली मंजिल पर ही रुक गया। किन्तु, इस विदेशी आक्रमण के प्रति चीनी जनता व सरकार की प्रतिक्रिया से चीनी राष्ट्रीय

जीवन के समाप्तप्राय होने का प्रश्न फिर सामने आ गया था। चीन-जापान-युद्ध और उसके बाद के वर्षों का मूल पाठ यही था कि चीन अपना पुनस्संगठन इस प्रकार करे कि वह विदेशी आक्रमणों से स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ हो। विगत में चीन सरकार की नीति यह रही थी कि यूरोपीय देशों की हित-विषमता पर देश की रक्षा के लिए भरोसा किया जाय। उदाहरणार्थ, यह समझा जाता था कि रूस की आक्रामक प्रवृत्तियों पर ब्रिटेन रोक लगायेगा। एक देश को दूसरे देश से इस प्रकार लड़ा दिया जायगा कि चीन सुरक्षित बना रहेगा। किन्तु, यह शक्ति-संतुलन का सिद्धान्त चीन की निर्बलता प्रकट होने और 'प्रभाव-क्षेत्र' का सिद्धान्त लागू होने पर ध्वस्त हो गया। यह सही है कि जापान से रक्षा के लिए रूस से मैत्री स्वीकार की गयी थी। किन्तु पट्टे के लिए जर्मनी की माँग और उसके बढ़ाव के आगे अन्य देशों के दब जाने से स्थिति बिलकुल बदल गयी थी। रूसी मैत्री से यूरोपीय आक्रमण का बचाव नहीं होता था और जर्मनी की धमकी के समय चीन को कोई भी देश नहीं मिला, जो उसे सक्रिय सहायता देता। निश्चय ही, शक्ति-संतुलन के सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास किया गया, किन्तु यह सिद्धान्त चीनी हितों के बिलकुल विपरीत पड़ा, क्योंकि प्रत्येक देश दूसरे देशों को मिले लाभों के लिए मुआविजा माँगने लगा, ताकि यह संतुलन बना रहे। अंततः एक विदेशी शक्ति, अमरीका से चीन को अवश्य कुछ बाहरी सहायता मिली, किन्तु यह सहायता तभी मिली जब सक्रिय स्पर्धी ठहर कर स्थिति का मूल्यांकन करने लगे थे।

(८) सुधार के "१०० दिन"

इन एक के बाद एक धक्कों और इनके साथ नये विचारों के आगमन ने सुधार-दल को जन्म दिया और कुछ दिनों तक राजधानी का सारा ध्यान इसी ओर केन्द्रित रहा। सुधारों के लगभग सभी समर्थक यांग्त्सी व दक्षिणी प्रान्तों के निवासी थे। चीन के बाहर जो अकेले सुधारक सबसे अधिक प्रख्यात हुए वह डाक्टर सुन यात-सेन थे, जो एक क्रांतिकारी कैण्टनवासी थे, जिनके पिता धर्म-परिवर्तन कर ईसाई बन गये बताये जाते थे और जो स्वयं ईसाई थे; उनकी शिक्षा पश्चिमी पद्धति पर हवाई और हांगकांग की विदेशी शिक्षा संस्थाओं में हुई थी। सन् १८९५ में डाक्टर सुन ने कैण्टन शासन के विरुद्ध एक असफल क्रांतिकारी आंदोलन किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें देश छोड़ कर भागना पड़ा और सरकार ने उनके पकड़े जाने के लिए इनाम की घोषणा की। किन्तु, पहले के सुधार-आंदोलन के अधिक महत्त्वशाली नेता थे कांग यू-वी, जो उस समय 'आधुनिक संत' के नाम से प्रख्यात थे। वह भी क्वांगतुंग प्रान्त के निवासी थे; उनमें व डाक्टर सुन में अंतर यह था कि वह क्रांतिकारी नहीं थे वरन् धीरे-धीरे संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना और

शासनतंत्र में तुरन्त सुधार के पक्षपाती थे। अधिकारियों में से दो ने सुधारों का समर्थन किया और ये थे यांग्त्सी क्षेत्र के वाइसराय चांग चिह-तुंग व ल्यू कुन्-यी। चांग ने अपनी पुस्तक, 'सीखो',[१६] द्वारा पुनस्संगठन की आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित किया था, जिस कारण, उस समय वह निश्चित रूप से सुधारों के समर्थक माने गये। अनेक तरुण अधिकारी--मंचू भी व चीनी भी--परिवर्तनवादियों से सहानुभूति रखते थे--कम-से-कम उस समय तक तो सहानुभूति रखते ही थे, जबतक उन्हें यह विदित न हो गया कि सुधार होंगे तो अधिकारी व शिक्षित वर्गों के विशेष अधिकार छिन जायँगे।

कैण्टन से मुख्य सहायता व नेतृत्व पाने वाला यह सुधारवादी दल इतने शीघ्र अपना कार्यक्रम शुरू न कर पाता यदि दरबार की हालत ऐसी न होती। सम्राट् कुआंग ह्सू कुछ वर्ष पहले ही वयस्क हुए थे और राजमाता "प्राचीन बुद्ध" ग्रीष्म भवन में अवकाश लेकर चली गयी थीं। किन्तु नियंत्रण का यह परिवर्तन वास्तविक न होकर केवल नाम-मात्र का ही था क्योंकि महत्त्वपूर्ण अधिकारियों की बड़ी संख्या अब भी अवकाशप्राप्त राजमाता की ओर निर्देशन के लिए देखती थी और राजमाता भी जब चाहतीं शासकीय मामलों में हस्तक्षेप करने में हिचकती नहीं थीं। दरबार का सबसे महत्त्वपूर्ण गुट अर्थात् तथाकथित "उत्तरी दल" अपने इस विश्वास की खुल कर घोषणा करता था कि राजमाता फिर राज्य पद सम्हाल लेंगी। दूसरा अर्थात् दक्षिणी दल, सम्राट् के मुख्य शिक्षक के नेतृत्व में था और सन् १८९८ में कुछ निर्बल होता जा रहा था। कुछ वर्षों से यह गुट राजमाता सम्राज्ञी से दूर हट रहा था और सम्राट् के निकट आ रहा था। इसके पीकिंग स्थित नेता सुधारक नहीं थे, किन्तु दरबार में अपनी शक्ति बनाये रखने के संघर्ष में अपने को कायम रखने के प्रयास में वे धीरे-धीरे सुधार-आंदोलन का समर्थन करने को बाध्य हो गये थे।

जापान से युद्ध के बाद स्वयं सम्राट् ने सुधारों की दिशा में अपना रुझान दिखाया। इसके उपरान्त उन्होंने पश्चिमी विचारों, संस्थाओं व रीति-रिवाजों में दिलचस्पी प्रकट की, जिससे यह संकेत मिला कि परिवर्तन के समर्थक दल के सीधे संपर्क में एक बार आ जाने पर उनके विचारों को बदलना कठिन न होगा। यह जून १८९८ में ही हो पाया जब सम्राट् के शिक्षक ने क' आंग यू-वी को उनसे मिलाया। शिक्षक वेंग तुंग-हो संभवतः इस कदम को उठाने के लिए इसलिए बाध्य हुए थे कि राजमाता के दरबार में उनके सबसे बड़े समर्थक युवराज कुंग की मृत्यु हो गयी थी। कुंग नरम विचारों के प्रमुख मंचू राज-मर्मज्ञ थे, जो अनेक वर्ष तक पीकिंग में 'संतुलन-चक्र' की भाँति सम्राट् और राजमाता सम्राज्ञी को अति उग्र परामर्श स्वीकार करने से रोकते रहे थे।

सम्राट् तुरन्त क' आंग यू-वी के प्रभाव में आ गये और उनके निर्देशन में तुरन्त सुधार

का कार्यक्रम चालू करने में लग गये। सन् १८९८ के ग्रीष्म में शिक्षा व परीक्षा-प्रणालियों में परिवर्तन, एक अनुवाद संस्था की स्थापना, अनेक कार्यहीन पद समाप्त करने, सेना के पुनस्संगठन को बढ़ावा देने व अन्य अनेक सुधार करने के लिए शासनादेश जारी हुए।[१७]

शुरू से ही सम्राट् की काररवाइयों का गंभीर विरोध शुरू हो गया था। जैसे-जैसे समय कटता गया, यह विरोध उग्र होता गया और अंत में राजमाता से हस्तक्षेप करने को कहा गया। सुधारकों को इस संभावना का डर था और अब उन्होंने सम्राट् से अपनी सुरक्षा और 'प्राचीन बुद्ध' के विरुद्ध काररवाही करने का अनुरोध किया। अंत में वह राजी हो गये। चीन के पुराने सिऊल स्थित प्रतिनिधि युआन शिह-क' आई जो बाद में चीनी प्रजातंत्र के राष्ट्रपति हुए, सुधारों के पक्षपाती समझे जाते थे। सुधारकों ने उन्हें अपनी मंत्रणा में आमंत्रित किया, उन्हें चिहली प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त किया और आदेश दिया कि वह टींटसीन जाकर वहाँ स्थित सेना का नेतृत्व सम्हालें, फौज लेकर ग्रीष्म भवन पर हमला बोलें और राजमाता को पकड़ लें। यह सब करने की जगह उन्होंने मंचू वाइसराय जुंग लू का साथ लिया; जुंग लू त्जू ह्सी का संबंधी और निष्ठावान् समर्थक था। उनके आदेश से उसने सम्राट् को पकड़ लिया और कैद में डाल दिया जहाँ दस वर्ष बाद उनकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार सुधार के पहले प्रयास का अंत हो गया। क' आंग यू–वी पीकिंग से भाग पर जापान पहुँच गये और वहाँ से चीन में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना के लिए आंदोलन करते रहे। उनके अनेक अनुयायी भी भाग निकले, लेकिन कुछ पकड़े भी गये और मार डाले गये। सुधारों की पूरी अवधि एक सौ दिन की थी। सुधार-आंदोलन की असफलता से शासन-सत्ता रूढ़िवादियों के हाथ में चली गयी और इस प्रकार परिस्थिति की बिलकुल भिन्न प्रतिक्रिया आरम्भ हुई।

विदेशों द्वारा आक्रमण और जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के समक्ष मंचू-शासन की अक्षमता की प्रतिक्रिया से ही सुधार-आंदोलन चला था। असंतोष तो शताब्दी के आरम्भ में ही प्रकट होने लगा था और उसके उत्तरार्ध में यह विशेष रूप से व्यापक होने लगा था, जब त'आई प'इंग नेताओं की अक्षमता तथा केन्द्रीय शासन को मिली विदेशी सहायता से ही राजवंश का सिंहासन उलटने से बच गया था। उपद्रव, लूट-मार, डाके, राहजनी—सभी इस उत्तरार्ध में व्यापक रूप से मौजूद थे। सरकार विदेशियों से सन् १८४२, सन् १८५८–१८६० व सन् १८८४–१८८५ में हार चुकी थी। अंत में वह जापानी आक्रमण से स्वयं अपने क्षेत्र की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुई थी। उसके अधिकारियों में अधिकांश भ्रष्ट, अक्षम या दोनों ही थे; जो धन राशि राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च होनी चाहिए थी वह दरबार के विलास और निजी मदों में उड़ गयी थी; सरकारी पदों की खरीद-बिक्री होती थी और यह सिलसिला विधवा सम्राज्ञी (राजमाता) के मुख्य

कंचुकी तक और उसके द्वारा स्वयं राजमाता तक चला गया था। मंचू शासकों व अधिकारियों के विरुद्ध गंभीर और सही अभियोग थे और असंतोष की बढ़ती हुई लहर उन्हीं की दिशा में चलती। किन्तु, सन् १८६९ से सन् १८९९ तक विदेशियों के कृत्यों के कारण जनता की शेष भावना उन्हीं के विरुद्ध हो गयी। 'चीनी तरबूज के कटने' की प्रथम आंतरिक प्रतिक्रिया यही थी कि चीन की शक्ति बढ़ाने के प्रयास किये जायँ ताकि विदेशी नोच-खसोट वन्द हो सके और यह काम पश्चिमी ढंग पर सुधार व पुनस्संगठन द्वारा किया जाय। जैसा कि पीछे वताया गया है, यह आंदोलन उन आंतरिक परिस्थितियों के कारण विफल हुआ, जिन्होंने इस आंदोलन को संभव बनाया था। जब शासन रूढ़िवादियों के नियंत्रण में आया उनके पास समस्या का केवल एक समाधान था एकान्त की पूर्वस्थिति में वापस लौट जाना। उनका नारा था—'विदेशियों से छुटकारा पा लो तो सारी कठिनाइयाँ हल हो जायँगी।' सन् १८४० से सन् १८९९ तक की घटनाओं के पुनरावलोकन से यह बात समझना आसान होगा कि वे शासकों की कमजोरियों से जनता का ध्यान हटा कर विदेशी-विरोध पर केन्द्रित करने में क्यों सफल हो गये।

(९) मुक्का-आन्दोलन

वास्तव में उन्हें केवल प्रबल जनभावना का लाभ भर उठाना था। सन् १८९९ में देश भर में विदेशी-विरोधी उपद्रव हुए। विदेशी शक्तियों के पहले के कारनामों से ये उपद्रव बखूबी समझ में आ जाते हैं, किन्तु, संघर्ष के कारणों की सूक्ष्म विवेचना से यह समझ में आ सकेगा कि उपद्रव विदेशी-विरोधी के साथ ही ईसाई-विरोधी भी क्यों थे। एक स्पष्ट कारण तो यही था कि विदेशी अपने को ईसाई कहते थे और देश के भीतर काम करने वाले पादरियों के कार्यकलाप से यह संबंध स्पष्ट हो जाता था। किन्तु शुरू में जो उपद्रव हुए वे विदेशियों से अधिक देशी ईसाइयों के विरुद्ध थे। इस प्रकार शत्रुता के बढ़ाव का एक कारण अपना मत बदलने वाले चीनी ईसाई के पद व व्यवहार और इस देशी ईसाई व शेष जनता के प्रति विदेशी धर्म-प्रचारकों के दृष्टिकोण में मिलता है। इन देशी ईसाइयों को धर्मभ्रष्ट भगोड़ा समझा जाता था, जो ईसाई धर्म स्वीकार कर विदेशी सहायता और विशिष्ट स्थिति चाहते थे। वे विलक्षण रीति-रिवाजों का पालन करते थे जिस कारण कभी-कभी मनमुटाव पैदा होता था, और, इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि ये लोग पुरानी परिपाटी छोड़कर प्राचीन संतों के उपदेशों का पूर्ण सम्मान नहीं करते थे। यह विदेशी धर्म स्वीकार करने का सीधा निष्कर्ष माना जाता था। इससे भी अधिक वास्तविक महत्त्व की बात यह थी कि ये लोग बहुधा गाँवों के उत्सवों व मनोरंजन समारोहों का व्ययभार बटाने से यह कह कर इनकार कर देते थे कि ये उत्सव व्रात्य

या अनीश्वरीय हैं और उनके नये धर्म के विरुद्ध हैं। ये उत्सव सामूहिक रूप से मनाये जाते थे और ग्रामीण-जीवन की नीरसता तोड़ने के थोड़े से साधनों में से थे, इसलिए उनका विरोध करने से गाँववालों की शत्रुता होती थी। इसके अतिरिक्त इन लोगों द्वारा उत्सवों के खर्च में हाथ न बटाने से शेष लोगों पर व्यय भार बढ़ जाता था। इन सब बातों के अलावा यह भी संदेह होता है कि ये धर्म बदलने वाले नये मत के फलस्वरूप अपने को अन्य जनता से श्रेष्ठ नैतिकता वाला मानने लगते थे। और जो लोग प्राचीन और परखे हुए विश्वासों में पले थे और अब तक उन्हीं से सम्बद्ध थे, वे अपने को हीन नहीं मानते थे, और इस प्रकार धर्म बदलने वालों का व्यवहार बुरा लगता था।

संघर्षण के इन कारणों में यह जनविश्वास भी जुड़ जाता था कि ईसाई बच्चों की आँखें निकाल लेने जैसी अमानवीय अनोखी रीति-रिवाज किया करते हैं; देश के भीतरी भागों में यह विश्वास सन् १९०० तक बहुत मजबूती से लोगों के दिलों में बना हुआ था, यद्यपि जहाँ भी ऐसे आरोपों की जाँच हुई थी, वहीं वे गलत पाये गये थे, किन्तु तब भी ये विश्वास ईसाइयों के विरुद्ध शत्रुभावना पैदा तो करते ही थे।

इन सब कारणों से भी गंभीर कारण यह बात थी कि रोमन कैथोलिक पादरी बहुधा और प्रोटेस्टेस्ट धर्मप्रचारक कभी-कभी मुकदमों में देशी ईसाइयों की ओर से हस्तक्षेप करते थे और उन्हें विदेशी के विशेष अधिकार-संपन्न व विशेष स्थिति वाला साबित करना चाहते थे। पादरी जब अधिकारियों से बात करने जाते तब अपने लिए दण्डनायक के रुतबे की माँग करते। इससे अनेक अधिकारियों के मन में इनके विरुद्ध शत्रुता के भाव बढ़ते थे और अनेकों के मन में ये शत्रुभाव अंकुरित होते थे और इस प्रकार ये अधिकारी देशी ईसाइयों पर होने वाले उत्पीड़न व पादरियों पर होने वाले हमलों से आँखें मूँद कर उन्हें मौन अनुमति प्रदान कर देते थे।

इस प्रकार, सन् १८९९–१९०० में जो उपद्रव हुए, उन्हें देशी व विदेशी ईसाइयों के चीनियों से निजी व सार्वजनिक संबंधों के आधार पर आसानी से समझा जा सकता है। इस स्थिति में विदेशी आक्रमणों और उनसे उत्पन्न चीन के विभाजन की आशंका की भावना और जुड़ जाय तो विदेशी-विरोध की भावना का विकास सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। यह सही है कि चीनी क्षेत्र पर विदेशियों का बढ़ाव सन् १८९९ में थम गया था, पर चूँकि सन् १८९७–१८९८ में मिली रिआयतों को सन् १९०० तक प्राप्त करने के प्रयास जारी रहे, जनता की समझ में उन घटनाओं का पूरा महत्त्व बाद में ही आया।

शुरू में यह अशांति प्रान्तों में प्रकट हुई यद्यपि सन् १८९९ में पीकिंग में भी परिस्थिति इतनी गंभीर हो गयी थी कि कुछ समय तक दूतावासों पर सैनिकों का पहरा बढ़ाना पड़ा था। विदेशियों को उनके चीनी मित्र खुले आम बताते थे कि विदेशियों व उनके प्रभाव को

देश भर से निकाल देने का योजनाबद्ध प्रयास हो रहा है। किन्तु विदेशियों ने इन चेतावनियों पर ध्यान नहीं दिया और ऐसे प्रयास को कल्पनातीत बताया। देश के विभिन्न भागों में हो रही घटनाओं के विरुद्ध त्सुंगली यामेन को विरोधपत्र अवश्य भेजे गये। पर, जिस आंधी के बादल उमड़-घुमड़ रहे थे और जो मई, १९०० तक इतने गहरे हो गये थे कि पीकिंग में दूतावासों की रक्षा के लिए पहले से अधिक सैनिक लगाने पड़े थे, उनकी ओर गंभीरतापूर्वक किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

विदेशी-विरोधी आंदोलन का सबसे अधिक उग्र रूप शानतुंग प्रान्त में हुआ। पीकिंग के दूतावासों में एक के बाद एक संगठित गिरोहों द्वारा किये गये उत्पातों के समाचार आने लगे; इन गिरोहों में सबसे अधिक सशक्त और प्रख्यात गिरोह "समरस मुक्कों का संगठन" या बॉक्सर गिरोह था। यह मुक्कावाद शानतुंग से बढ़कर चिहली प्रान्त पहुँचा और सन् १९०० में इस संगठन के सदस्य पीकिंग में भी अपने अनोखे रीति-रिवाज या संस्कार करने लगे। शुरू से ही उन्हें दरबार में सशक्त समर्थन प्राप्त था; प्रान्तों में उन्हें अधिकारियों से भी समर्थन मिला हुआ था; किन्तु दरबार ने खुलकर औपचारिक रूप से मुक्कावाद का समर्थन दूतावासों पर घेरे पड़ने के बाद ही किया। इस आंदोलन के जन्म से सरकार का क्या संबंध था, यह कभी पूरी तरह से साबित नहीं हो सका, पर यह स्पष्ट है कि मुक्कावाद की अंतिम मंजिल में सरकार उसका समर्थन कर रही थी।

मुक्केबाजों के पीकिंग में प्रभाव व नियंत्रण बढ़ने पर दूतावासों की स्थिति अर्ध-घेराबन्दी की हो गयी और बाहरी संसार से उनका संपर्क बहुत हद तक कट-सा गया। इसके फलस्वरूप विदेशियों की रक्षा के लिए बाहर से और अधिक सेना लाने का प्रयास किया गया। जब एडमिरल सीमूर की सेना टींटसीन से आगे बढ़ रही थी, उत्तरी चीन भेजे गये विदेशी सैनिक जत्थों के सेनापतियों ने निर्णय किया कि टींटसीन का मार्ग बलात् खोल लिया जाय; इस निर्णय का केवल अमरीकियों ने विरोध किया था। अतएव, ताकू स्थित दुर्गों पर गोलाबारी की गयी। इससे, वास्तव में चीन व विदेशी सरकारों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी और इसी के फलस्वरूप चीन दरबार व चीनी सैनिकों ने मुक्केबाजों को खुला सहयोग देना शुरू कर दिया। अधिकांशतः इसी कारण, सीमूर-अभियान पीकिंग तक पहुँचने में असफल रहा। दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया दूतावासों के विरुद्ध भी हुई, क्योंकि अर्ध-घेरे की स्थिति दूतावासों पर खुले आक्रमणों में परिवर्तित हो गयी।

दूतावासों की घेरेबन्दी सन् १९०० में जून से अगस्त तक कायम रही जब मित्रराष्ट्रों के सैनिक अभियान ने घिरे हुए विदेशियों को मुक्त किया। इससे सारे देश में मुक्केबाजों का आंदोलन ध्वस्त हो गया। यांग्त्सी क्षेत्र व दक्षिणी प्रान्तों के अधिकारियों ने इस आंदो-

लन में भाग लेने से इनकार कर दिया था और दरबार के “विदेशियों को समुद्र में खदेड़ दो” के आदेश के बावजूद विदेशी-विरोध के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया था। अतएव मित्रराष्ट्र अभियान को केवल उत्तर में नियंत्रण स्थापित करना था। अतएव, सन् १९०० के विद्रोह को सही अर्थ में राष्ट्रीय आंदोलन नहीं कहा जा सकता।

(१०) मुक्केबाजी का परिणाम

जब विदेशी फौजें पीकिंग के निकट पहुँची, दरबार वहाँ से भाग निकला, जैसा कि उसने ऐसी ही परिस्थिति में सन् १८६० में किया था, और नगर विदेशियों के नियंत्रण में आ गया। चीन के भविष्य का प्रश्न फिर एक बार सबके सामने आ गया। विदेशियों के समक्ष तीन संभव वैकल्पिक नीतियाँ थीं——वे जापान से युद्ध के बाद के वर्षों में चीन के विभाजन की जो रूप-रेखा उभरी थी, उसी के अनुरूप चीन का विभाजन पूरा कर दे सकते थे; वे अंतरराष्ट्रीय सहायता व समर्थन से चीन में एक नये राजवंश की स्थापना कर सकते थे, और वे मंचू राजकुल को वापस पीकिंग लाकर उसे शासन को मजबूत पुनस्संगठित और आधुनिक बनाने में सहायता दे सकते थे।

विदेशी शक्तियों को तीसरे विकल्प के लिए राजी करने में अमरीका ने पहल की। और इस प्रकार मंचू-राजवंश को ११ वर्ष का नया जीवन प्रदान कर दिया, जो उसने अर्जित नहीं किया था। जब दूतावासों पर घेराबन्दी चल रही थी तभी अमरीकी पर-राष्ट्र सचिव जॉन हे ने विदेश स्थित अमरीकी प्रतिनिधियों को एक गश्ती पत्र में लिखा था—“अमरीका की नीति समस्या का ऐसा समाधान ढूँढ़ने की है, जिससे चीन में स्थायी शांति व सुरक्षा हो, चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता कायम रहे, मित्र राष्ट्रों को अंतरराष्ट्रीय कानून व संधियों द्वारा प्राप्त अधिकारों की सुरक्षा हो तथा चीनी साम्राज्य से निष्पक्ष व समान व्यापारिक सुविधाओं का सिद्धान्त संसार के लिए सुरक्षित हो।”[१८] उन्होंने चीन-सरकार से समझौते के लिए सभी विदेशों से सहयोगात्मक कदम उठाने की भी घोषणा की। यह नीति-घोषणा उस नीति की ओर वापस लौटने की घोषणा थी, जो सन् १८५७ में बनी थी और एनसन बर्लिंगेम की सहयोग-नीति में जिसकी औपचारिक अभिव्यक्ति हुई थी। अन्य देशों ने अंततः अमरीकी सिद्धान्त स्वीकार कर लिये और दूतावासों के स्वतंत्र होने के उपरान्त उन्होंने चीनी सरकार के सामने सामूहिक रूप से अपनी माँगें पेश कीं, यद्यपि इन माँगों में पूरी समरसता नहीं थी। यह चीन सरकार की समझौते की इच्छा का अभाव नहीं, यही समरसता का अभाव था, जिससे समझौते की बात सन् १९०१ की ग्रीष्म ऋतु तक चलती रही; अंततः बॉक्सर-संधि के पूर्वलेख पर हस्ताक्षर हुए और उत्पात-काण्ड औपचारिक रूप से समाप्त हुआ।

विदेशियों से छुटकारा पाने के चीन के प्रयास का परिणाम यह हुआ कि (१) चीन को ४५ करोड़ ताएल की क्षतिपूर्ति स्वीकार करनी पड़ी और समुद्री सीमा-शुल्क व नमक-कर से इसकी वसूली बँध गयी, जिसके फलस्वरूप उसकी आर्थिक समस्याएँ और भी बुरी तरह जटिल हो गयीं; (२) सीमा-शुल्क की दर बढ़ाकर प्रभावकारी पांच प्रतिशत कर दी गयी, ताकि चीन क्षतिपूर्ति की राशि अदा कर सके और शुल्क-दर अंशतः यथामूल्य आधार की जगह पूर्णतः विशिष्ट सामानों के आधार पर कर दी गयी ; (३) चीन के कुछ अधिकारियों को मृत्यु व अन्य दण्ड दिये गये ; (४) पीकिंग में दूतावासों की रक्षा के लिए विदेशी फौजें स्थायी रूप से रहने लगीं और पीकिंग से समुद्रतट तक के क्षेत्र पर विदेशी फ़ौजों का पहरा हो गया; (५) त्सुंगली यामेन की जगह परराष्ट्र कार्यालय स्थापित हो गया और विदेशियों के हित में उस शिष्टाचार का पुनरीक्षण हो गया, जो सम्राट् से भेंट करने के समय बरता जाता था; (६) जिन-जिन नगरों में विदेशी-विरोधी उपद्रव हुए थे, उन सभी स्थानों पर पाँच वर्ष के लिए परीक्षाएँ स्थगित कर दी गयीं; और (७) विदेशों से शस्त्रास्त्र के आयात पर दो वर्ष के लिए रोक लगा दी गयी और जब तक विदेशी चाहते यह रोक दो-दो वर्ष की अवधि के लिए बढ़ायी जा सकती थी। समझौते की औपचारिक शर्तों में ये बातें शामिल थीं।

भविष्य के विकास की दृष्टि से, चीन में विदेशी शक्तियों के बढ़ाव के विरुद्ध रूढ़िवादियों के प्रतिरोध की समाप्ति का अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम उस युग का श्रीगणेश भी था, जिसमें चीन को सशक्त बनाने व राजवंश को कायम रखने के लिए रूढ़िवादी सुधार शुरू हुए और 'स्वर्गिक' साम्राज्य पर यूरोपीय संघट्टन का दूसरी ओर बदलाव हुआ।

आठवाँ अध्याय

रूस-जापान युद्ध

(१) रूस और जापान--स्वाभाविक शत्रु

चीन और जापान के युद्ध के दस वर्ष बाद ही जापान ने अपने को एक ऐसे शत्रु से युद्ध में व्यस्त पाया जो चीन के मुकाबले में कहीं अधिक सशक्त था। चीन से युद्ध में सफलता के बाद कोरिया में पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने की जगह जापान ने पाया कि सिऊल के नियंत्रण के संघर्ष में उसके प्रतिस्पर्धी के रूप में क्षयग्रस्त चीनी साम्राज्य की जगह एक और अधिक खतरनाक विरोधी ने ले ली है। शिमोनोसेकी की संधि के फौरन बाद कोरिया के मामलों में रूसी प्रभाव फिर से आ गया था और जापान कोरिया-सरकार के नियंत्रणकर्त्ता के स्थान के लिए विस्तारवादी रूस को अपना भागीदार बनाने को बाध्य था। इसके अतिरिक्त, युद्ध के बाद, रिआयतों की होड़ में रूस ने मंचूरिया में अपनी दिलचस्पी का क्षेत्र बना लिया था, एक बन्दरगाह का पट्टा ले लिया था, और लिआओतुंग प्रायद्वीप में एक ऐसा सशक्त नौसैनिक अड्डा बना लिया था, जिससे रूस पीकिंग और सिऊल दोनों के लिए खतरा बन सकता था। रूस का यह प्रसार इस प्रकार का था कि जापान के लिए चिन्ता का विषय बन गया और सुदूरपूर्व में रूस का मुख्य विरोधी अनिवार्यतः जापान हो गया।

अब हितों के इस टकराव की ओर ध्यान देना उपयुक्त होगा। जैसा कि अभी ही कहा गया, यहाँ दो भिन्न क्षेत्रों—मंचूरिया व कोरिया—का प्रश्न था और इन दोनों क्षेत्रों की समस्याओं को अलग-अलग समझना ही उपयुक्त होगा। कोरिया व मंचूरिया में रूस व जापान के हितों को समझने के बाद मंचूरिया में रूस के हितों के विकास व नीति और विदेशी शक्तियों द्वारा रूस के साइबेरिया से दक्षिण में प्रसार रोकने के लिए उठाये गये कदमों और अंत में कोरिया में अपने को कायम रखने के जापानी प्रयासों की ओर ध्यान देने से समस्या समझने में आसानी होगी।

(२) सन् १९०० में मंचूरिया की स्थिति

किन्तु, मंचूरिया के अंतरराष्ट्रीय दिलचस्पी के केन्द्र बनने के पूर्व चीनी साम्राज्य में उसकी स्थिति समझ लेना आवश्यक है। चीन के उत्तरी भाग में स्थित, चीन के

असली अट्ठारह प्रान्तों से बड़ी दीवार द्वारा पृथक्, ३,६५,००० वर्गमील का यह क्षेत्र ३९ व ५३.३० उत्तरी अक्षांशों के बीच स्थित होने के कारण जाड़ों में बहुत ठण्ढा व गर्मियों में गर्म रहता है, किन्तु उत्पादन की दृष्टि से तब भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। सन् १८९५ में मंचूरिया की मुख्य पैदावार सोयाबीन थी, जो बहुत बड़ी मात्रा में चीन जाती थी। जापान ने सन् १८९० के बाद ही मंचूरिया से सोयाबीन का आयात शुरू किया था और तभी से जापान इसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बाजार बन गया था। सोयाबीन खाद्य पदार्थ है। वह तेल, चटनी, अचार बनाने के काम आता था और उसकी खली खाद के काम आती थी। इसके अतिरिक्त, मंचूरिया में गेहूँ, मोटे अनाज, कॉओलिआंग व अन्य अन्न भी खूब पैदा होते थे और सन् १९०० तक यह स्पष्ट हो गया था कि मंचूरिया भविष्य के लिए एक बड़ा भोजनागार बन सकता है। कृषि उपज के अलावा वहाँ लकड़ी का विशाल भण्डार था और कोयला, लोहा, सोना जैसे खनिज पदार्थों का भी बाहुल्य था। ऐसे क्षेत्र पर आधिपत्य जमाने के लिए युद्ध भी किया जा सकता था।

राजनीति व शासन की दृष्टि से कोरिया व मंचूरिया में अंतर यह था कि मंचूरिया चीनी साम्राज्य का अविच्छिन्न अंग था और उसका शासन सीधे पीकिंग से होता था। इसके अतिरिक्त, चीन का राजवंश यहीं का था और इसलिए उसकी इस क्षेत्र में विशेष दिलचस्पी थी। इसी दिलचस्पी के कारण मंचुओं ने नीति बना ली थी कि चीनी प्रजा को बड़ी दीवार के उत्तर में न आने दिया जाय। किन्तु, सन् १९०० तक यह नीति चलाना खत्म हो चुका था और शानतुंग व चिहली प्रान्तों से इतनी भारी संख्या में चीनी यहाँ आकर बसने लगे थे कि मंचुओं की आबादी उनके मुकाबले में कम हो गयी थी। इस देश के आर्थिक विकास का वास्तविक श्रेय इन चीनी प्रवासियों को ही मिलना चाहिए।

क्षेत्र पर कानूनी आधिपत्य, आबादी में बाहुल्यता, आर्थिक विकास के श्रेय—सभी दृष्टियों से मंचूरिया चीन का एक वैसा ही भाग था, जैसा कि अट्ठारह में से कोई अन्य प्रान्त। दूसरे शब्दों में, सन् १८९५ के बाद रूस चीनी साम्राज्य का एक अंग ही हड़पने का प्रयास कर रहा था और जहाँ तक रूसी बढ़ाव रोकने का संबंध है, जापान चीन का ही हित-साधन कर रहा था।

यह क्षेत्र—जिसमें सन् १९०० के बाद इतनी दिलचस्पी पैदा हो गयी थी—शासकीय दृष्टि से तीन भागों में बँटा था। दक्षिण में फेंगतीन प्रान्त था, जिसमें सन् १८९८ के पहले क्वांतुंग या लिआओतुंग प्रायद्वीप शामिल था और जो मंचूरिया का सबसे ज्यादा घना बसा हुआ व सबसे अधिक विकसित भाग था; इसके उत्तर में किरिन प्रान्त था, जहाँ आबादी कम थी और जो मंचू सैनिक शासन में था; और सबसे उत्तर में और

लगभग अविकसित प्रान्त आ हीलिंगुकिआंग। आबादी का बढ़ाव दक्षिण से हुआ था और इसलिए जैसे-जैसे उत्तर की ओर बढ़ते जाते थे, आबादी कम घनी होती जाती थी। किन्तु आबादी का यह बढ़ाव पूरी तरह चीनी ही था, क्योंकि उत्तर से रूसी प्रवासी यहाँ नहीं आये थे––रेल बनाने व सैनिकों के रूप में आये रूसियों को छोड़कर यहाँ कोई रूसी आबादी नहीं थी। यही स्थिति जापान से युद्ध होने के समय तक थी।

(३) मंचूरिया में रूस

मंचूरिया व कोरिया में रूस की दिलचस्पी राजनीतिक व सामरिक अधिक थी, आर्थिक कम। पोर्ट आर्थर व डालनी (तेलीनवान) पर कब्जे के पूर्व रूस के बढ़ाव का कारण अवश्य ही आर्थिक था। सन् १८९६ से १८९९ तक रूस की नीति यही थी कि उत्तरी मंचूरिया में साइबेरिया रेलवे लाइन डालने की छूट लेकर चीन में शांतिमय ढंग से आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश किया जाय। किन्तु इस आर्थिक प्रवेश के पीछे एक राजनीतिक हित भी था। रूस के चीन में ऐसे आर्थिक या व्यापारिक हित निहित नहीं थे कि वह सरकार से विशेष सुविधाओं व अधिकारों की माँग कर सकता। किन्तु रूसी सरकार को इसमें अवश्य दिलचस्पी थी कि रेलवे लाइनें डाली जायँ और चीन व मंचूरिया में रूसी हितों का विकास हो, ताकि चीनी साम्राज्य के विघटन, या पूर्ण विघटन के पूर्व ही उसके बड़े क्षेत्र रूसी राज्य में शामिल कर लिये जायँ; और इसके लिए पहले ऐसे क्षेत्रों पर आर्थिक आधिपत्य करने की आवश्यकता थी।

किन्तु, रिआयतों के लिए भगदड़ के बाद शांतिमय आर्थिक प्रवेश का विचार बदल गया, क्योंकि चीन के तत्काल विदेशी क्षेत्रों में विभाजित हो जाने की संभावना पैदा हो गयी। चीन की रक्षा के घोषित इरादे के बावजूद[1] रूसी सरकार ने चीनी क्षेत्र पर कब्जा कर लिया––यह सही है कि यह कब्जा पट्टे पर ही लिया गया था––और इस क्षेत्र के व्यावसायिक विकास की जगह उसने पोर्ट आर्थर को पूर्व का सबसे सशक्त नौसैनिक अड्डा बना दिया और वहाँ व्यवसाय पर रोक लगा दी (डालनी व्यावसायिक बंदरगाह के रूप में खुला था)। अब रूस की मंचूरिया-संबंधी नीति अधिकाधिक आक्रामक और सरकारी अधिकार हस्तगत करने की हो गयी। यह नीति-परिवर्तन, जसा कि काउण्ट वीटे ने अपने संस्मरण में कहा है, अनेक रूसी राजमर्मज्ञों को भी पसन्द नहीं था। किन्तु, वीटे ने यह भी कहा है कि मंचूरिया की शतरंज पर अनेक रूसी चालों का उद्देश्य राजनीतिक प्रसार था। रूस लिआओतुंग प्रायद्वीप चाहता था, क्योंकि उसे अपने जहाजी बेड़े के लिए ऐसा बन्दरगाह चाहिए था, जो बारहों महीने खुला रहे और बर्फ से न जमे; उसने रेलें बनायीं, ताकि मंचूरिया पर नियंत्रण रह सके। और सन् १९०० के बाद

उसने मंचूरिया को पीकिंग के नियंत्रण से निकालने की हर संभव कोशिश की। संक्षेप में, रूस की नीति उस राज्य पर जानबूझ कर हमले की थी, जिससे उसके पारस्परिक अनाक्रमण-संधि व एक दूसरे की रक्षा का समझौता था।

यदि मंचूरिया में रूस की दिलचस्पी शुरू-शुरू में अंशतः आर्थिक थी तो कोरिया में यह दिलचस्पी विशुद्ध रूप से राजनीतिक थी। कोरिया में रूस का व्यापार उल्लेखनीय नहीं था; दक्षिणी छोर को छोड़कर उससे कोई क्षेत्रीय संपर्क भी नहीं था; इसके अतिरिक्त, न तो रूस के पास ऐसा औद्योगिक क्षेत्र था, जिसकी खपत के लिए विदेशी बाजार जरूरी हो और न ऐसी फालतू पूंजी थी, जिसका राष्ट्रीय संरक्षण में निर्यात आवश्यक हो। कोरिया में अपने पैर जमाने के लिए रूस ने जो भी कदम उठाये, वे उसकी आक्रामक नीति के ही परिचायक थे और यह नीति रूसी साम्राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं के आधार पर नहीं बनी थी।

(४) जापान के हित

रूस की खास दिलचस्पी मंचूरिया में थी, और जापान की कोरिया में। वहाँ जापान ने काफी व्यावसायिक व वित्तीय हित बना रखे थे। और जैसा कि कहा जा चुका है,[२] जापान अपने सुरक्षात्मक हित में कोरिया को किसी विदेशी शक्ति, विशेषकर रूस जैसी सशक्त व स्वभावतया प्रसारवादी शक्ति, के हाथ में पड़ने से बचाना चाहता था। कोरिया की जापान के हृदय पर लक्षित तलवार से तुलना की गयी है और यदि वह तलवार रूस के हाथ में पड़ने का डर हो तो इस तुलना का महत्त्व बढ़ ही जाता था।

सन् १९०५ के पहले मंचूरिया में जापान के आर्थिक हित संभाव्य ही थे, वास्तविक कम थे। जापान ने मंचूरिया की मुख्य उपज सोयाबीन का आयात शुरू किया ही था और दूरदर्शी जापानी राजमर्मज्ञ मंचूरिया से भोजन व कच्चे माल के आयात की संभावनाएँ समझ रहे थे। किन्तु, बीसवीं शताब्दी के शुरू में जापान की खाद्य-समस्या इतनी गंभीर नहीं थी और वहाँ उद्योग अभी पनप ही रहे थे। चीन से युद्ध के कारण जापान में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिला था और चीन से मिली क्षतिपूर्ति की राशि से इसे खूब बढ़ावा मिला। सन् १९०० के बाद के चार वर्षों में जापान में अर्थव्यवस्था का आधार कृषि की जगह उद्योग होने के लक्षण निश्चित रूप से प्रकट होने लगे थे, किन्तु रूस के साथ हुए युद्ध के बाद यह लक्षण और स्पष्ट हुए। इस प्रकार मंचूरिया वह क्षेत्र नहीं था, जहाँ जापान के महत्त्वपूर्ण आर्थिक हितों का कोई अस्तित्व हो। किन्तु रूस की एकाधिकार की नीति के संबंध में जापान ने जो दृष्टिकोण अपनाया उसे समझने के लिए उसके संभाव्य हितों पर ध्यान देना होगा।

जापान की अतिरिक्त आबादी को मंचूरिया में बसाने के लिए उसे अपना उपनिवेश बनाने में जापान ने बाद में जो दिलचस्पी ली, उसे सन् १९०४ में ही अधिक महत्त्व देना उचित न होगा ; सन् १९०५ के बाद की नीति के कारण ढूँढ़ते समय आर्थिक दिलचस्पी व अतिरिक्त आबादी बसाने के हितों को आंशिक कारण भले ही मान लिया जाय, पर रूस से ज़ब संघर्ष बढ़ रहा था, तब इन बातों का नीति-निर्धारण में बहुत महत्त्व नहीं था।

सन् १९०५ तक जापान ने जो कदम उठाये, उसके अन्य दो महत्त्वपूर्ण मौलिक कारण थे। सन् १८९५ में ही जापान ने एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर अपने क्षेत्रीय प्रसार की अभिलाषा प्रकट की थी, जब उसने लिआओतुंग प्रायद्वीप के लिए अपनी माँग पेश की थी। इससे उसकी आक्रामक व प्रसारवादी नीति प्रकट होती है जिसे तीन देशों के हस्तक्षेप ने अस्थायी रूप से सीमित कर दिया था। जापान मंचूरिया में पैर जमाने को उतना ही उत्सुक था, जितना रूस—और दोनों का उद्देश्य भी एक था—साम्राज्य-निर्माण । किन्तु पैर जमाने की जगह न पा सकने पर वह यथास्थिति से संतुष्ट था, किन्तु रूस के वहाँ घुस जाने से यथास्थिति तो रही ही नहीं, जापान की सुरक्षा को खतरा अलग पैदा हो गया। रूस अपने प्रसार के लिए जो भी कदम उठाता था, वे उसे कोरिया से—और कोरिया के द्वारा जापान से—अधिकाधिक संपर्क में ला देते थे। पोर्ट आर्थर और कोरिया की सीमा पर खड़ा आक्रमणकारी रूस जापान की कोरिया में जो स्थिति थी, उसे अप्रत्यक्ष रूप से और नैकट्य के कारण स्वयं जापान की सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष रूप से खतरा था। फलतः, जहाँ जापान मंचूरिया पर अपना आधिपत्य चाहते हुए भी उसके नियंत्रण के लिए व्ययसाध्य युद्ध करने की जगह चुप बैठना पसन्द करता, वहीं वह कोरिया में अपनी स्थिति मजबूत हुए बिना एक सशक्त यूरोपीय देश को वहाँ जमने देने से युद्ध ठान लेना ही अधिक उपयुक्त समझता। इस नीति का अनुसरण करते हुए जापान ने युद्ध टालने के लिए रूस से समझौता कर लेने की इच्छा प्रकट की ; इस समझौते का आधार—जापान के दृष्टिकोण से—यह हो सकता था कि रूस कोरिया में जापान की सर्वोपरिता स्वीकार कर ले; रूस ने समझौते की बात करने से इनकार कर दिया। इसलिए यह मानना होगा कि रूस की भाँति जापान की भी दिलचस्पी मंचूरिया में होने के बावजूद, रूस के दक्षिण की ओर बढ़ाव ने ही जापान के साथ उसके युद्ध को अनिवार्य बना दिया।

(५) सन् १९०० व उसके बाद की रूसी नीति

मुक्केबाजों के विद्रोह के समय, सन् १९०० में, रूस के मंचूरिया में जो हित थे, उनका संक्षिप्त वर्णन अभीष्ट है। उस हस्तक्षेप का नेतृत्व करने के बदले में, जिससे चीन को

लिआओतुंग प्रायद्वीप मिल गया था, रूस को चीनी गाँव, मंचूली वापस से ब्लाडीवोस्टक तक, उत्तरी मंचूरिया में अपनी ट्रांस-साइबेरियन रेलवे लाइन डालने की अनुमति मिल गयी थी और बाद की एक उपसंधि से उसने हारबिन से पोर्ट आर्थर तक इस लाइन की एक दक्षिण शाखा बनाने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। इन रेलों के निर्माण या संचालन में चीन का केवल इतना योग था कि उसने उस रूसी-चीनी बैंक में ५० लाख ताएल लगाये थे, जो सन् १८९६ में एक रूसी चार्टर द्वारा बना था, चीन को बैंक द्वारा स्थापित रेलवे लाइन बनाने वाली कम्पनी का अध्यक्ष नियुक्त करने का भी अधिकार था। इस अध्यक्ष का कार्य यह था कि वह देखे बैंक व कम्पनी उन अधिकारों का अतिक्रमण तो नहीं कर रही हैं, जो रिआयतों-संबंधी समझौतों द्वारा उन्हें प्राप्त हुए थे।

रूसी-चीनी बैंक निगमन व नियंत्रण में बिलकुल रूसी ही था। चीन-सरकार ने जो योजनाएँ इसे सौंपी थीं, उनमें धन लगाने के अतिरिक्त, इस बैंक को रेलों के निर्माण के लिए तथा निर्मित होने के बाद, उन्हें चलाने के लिए एक निगम की स्थापना का भी अधिकार था। जो कम्पनी उत्तरी मंचूरिया में रेलवे लाइन डाल रही थी, वह चीनी पूर्वी रेलवे कम्पनी कहलाती थी, जो दक्षिणी रेलवे लाइन बना रही थी वह मंचूरिया रेलवे कम्पनी कहलाती थी, किन्तु, इन दोनों कंपनियों को रूसी सरकार रूसी संगठनों की भाँति नियंत्रित व निर्देशित करती थी। रेलें बनाने में जो धन लगा था, वह रूस से नहीं आया था, क्योंकि वह तो स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेश से भारी कर्ज ले रहा था; बैंक ने यह धनराशि फ्रांस से प्राप्त की थी। रुपया लगानेवाले को रूसी सरकार ने गारण्टी दी थी, रेलवे की सम्पत्ति बंधक नहीं रखी गयी थी। बैंक के अन्य कार्यों व अधिकारों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।[3] अनेक समझौतों द्वारा चीन पर रेलवे की रक्षा का उत्तरदायित्व डाल दिया गया था, किन्तु कंपनी को रेलवे लाइनों के निर्माण के लिए व उन्हें ढंग से चलाने के लिए आवश्यक भूमि हस्तगत करने और उस भूमि के "प्रशासन का पूर्ण एकाधिकार" प्राप्त था।

मंचूरिया में रेलवे लाइन डालने के अतिरिक्त रूस ने लिआओतुंग प्रायद्वीप का पट्टा भी ले रखा था। यह पट्टा उसने अपने पहले के इस वक्तव्य के बाद भी (जापान द्वारा इस प्रायद्वीप पर आधिपत्य की माँग के समय) कि इस क्षेत्र पर विदेशी नियंत्रण से पीकिंग के लिए सीधा खतरा पैदा होगा और इसे बरदाश्त नहीं किया जा सकेगा, प्राप्त किया था। चीन को यह क्षेत्र वापस सौंप देने से जापान को बुरा लगा था, पर इसके फौरन बाद ही रूस के वहाँ घुस आने से जापान के लिए संकट उत्पन्न हो गया था। यह संकट वास्तविक लगने लगा, जब रूस ने पोर्ट आर्थर की इतनी मजबूत किलेबन्दी शुरू कर दी, जिससे लगा कि रूस उस पट्टे पर २५ वर्ष की अवधि के बाद भी बहुत समय तक डटे

रहने के इरादे में है। लिआओतुंग प्रायद्वीप में रूसी नियंत्रण में व्यावसायिक बन्दरगाह होना ही बुरा था, नौसैनिक अड्डा तो बहुत खतरनाक था।

किन्तु रूस ने मंचूरिया में अपने असली इरादे सन् १९०० के बाद ही प्रकट करने शुरू किये। जब चीन में मुक्केबाजों का उपद्रव हुआ, उसी समय मंचूरिया में अशांति हुई थी। लुटेरे साधारण से अधिक सक्रिय हो गये थे। दक्षिण की भाँति विदेशी-विरोधी भावना बढ़ गयी और मुक्केबाज भी वहाँ दिखायी देने लगे। फलतः, रूस ने मंचूरिया में रेलवे लाइन की रक्षा के लिए अपने सैनिक तैनात कर दिये। जब विभिन्न विदेशों ने पीकिंग के दूतावासों की घेरेबन्दी समाप्त करने के लिए संयुक्त-अभियान किया तो उसमें रूस ने भी भाग लिया, पर साथ ही, रूसी सैनिक रेलवे क्षेत्र को केन्द्र बनाकर मंचूरिया में फैलने लगे थे। कुछ समय के लिए चीनी सरकार की सत्ता का स्थान रूसी फौजी कमान ने ले लिया था। अन्य देशों से कह दिया गया था कि रूस ने जो कब्जा किया था, वह अस्थायी था; लुटेरों व मुक्केबाजों पर नियंत्रण करने में चीन सरकार की क्षमता न होने के कारण ही यह कदम उठाना पड़ा था; व विदेशी अर्थात् रूसी हितों की रक्षा में चीन सरकार के समर्थ होते ही रूसी फौजें हटा ली जायँगी और नियंत्रण चीन के हाथ में दे दिया जायगा।

नवम्बर १९०० में रूसी सेनापति और चीनी वाइसराय के बीच एक समझौता (त्सेंग-एलेक्सीफ उपसंधि) हुआ जिसके अनुसार दक्षिणी (फेंगटीन) प्रान्त चीनी नागरिक प्रशासन में वापस लौट जाना था, किन्तु शर्त यह थी कि चीनी सिपाहियों से हथियार ले लिये जायँ और उनकी टुकड़ियों का विघटन कर दिया जाय, युद्ध का सारा गोला-बारूद रूस के सिपुर्द कर दिया जाय व जो किलेबंदियाँ रूस के कब्जे में न हों वे ध्वस्त कर दी जायँ। किन्तु रूसी फौजें प्रान्त से तभी हटने को थीं, जब रूसी सरकार की राय में प्रान्त भर में पूर्णतः शांति स्थापित हो गयी हो। शांति व व्यवस्था का काम स्थानीय पुलिस द्वारा, व आवश्यकता पड़ने पर रूसी सहायता से, होना था। स्पष्ट था कि जब पुलिस और फौज दोनों मिल कर भी शांति स्थापित नहीं कर सकी थीं, तब स्थानीय पुलिस किसी भी हालत में व्यवस्था नहीं कर सकती थी; चीनी सिपाहियों के बलात् निरस्त्रीकरण का अर्थ था लगातार अशांति रखना। इससे रूस को अपनी फौजें वहीं रखने के लिए आवश्यक बहाना मिल जाता था। यह उपसंधि केन्द्रीय सरकार से नहीं एक स्थानीय अधिकारी से की गयी थी और इसका कभी अनुसमर्थन सरकार द्वारा नहीं किया गया था। किन्तु इसके प्रकाशन से विदेशों में खलबली हो गयी। इस पर रूस ने दूसरी बार घोषणा की कि मंचूरिया में आधिपत्य जमाने का उसका कोई भी इरादा नहीं है। किन्तु घोषणा में रूसी सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि जिस अव्यवस्था के कारण हस्तक्षेप करना

पड़ा था, उसके फिर से प्रारम्भ न होने की गारण्टी चीन सरकार दे तभी वह मंचूरिया से अपनी फौजें हटा सकता है।

मंचूरिया से रूसी फौजें हटाने के लिए सन् १९०१ व सन् १९०२ में समझौता-वार्ता चलती रही और रूस हमेशा फौजें हटाने के लिए चीन सरकार के समक्ष ऐसी शर्तें पेश करता रहा, जिनसे मंचूरिया में रूसी राजनीतिक प्रभाव बढ़ता, दूसरी बार फिर हस्तक्षेप होता और रूस की फौजें वहाँ स्थायी रूप से टिक जातीं।

इस बीच रूसी नीति के अन्य संकेत भी मिले। मुक्का-आंदोलन जून १९०० में पीकिंग पहुँचा था, अगस्त तक दूतावासों के विरुद्ध की गयी घेरेबन्दी समाप्त हो गयी थी और मित्रराष्ट्र-अभियान का पूरे उत्तरी चीन पर पूरा नियंत्रण हो गया था, क्योंकि चीनी दरबार भाग कर सिआनफू चला जा चुका था। यह बहुत अच्छा अवसर था, जब सन् १८९८ में बने दिलचस्पी के क्षेत्रों के अनुरूप चीनी साम्राज्य का बटवारा कर उसे समाप्त किया जा सकता था। किन्तु, अमरीका ने तत्काल 'उन्मुक्त द्वार' नीति पर डटे रहने की घोषणा कर दी थी। उसने यह भी कहा था कि चीनी साम्राज्य की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता व स्वतंत्रता को कायम रखने के आधार पर ही विदेशी शक्तियाँ चीन सरकार से समझौते की बातचीत चलायें। मुक्का-आंदोलन के दमन के बाद समझौते की बातचीत के दौरान में अमरीका ने लगातार यही दृटिष्कोण अपनाया और रूस के मंचूरिया में कब्जा जमाये रहने व त्सेंग-एलेक्सीफ उपसंधि में वर्णित रूस द्वारा मंचूरिया से अपनी फौजें हटाने की शर्तों की चीन द्वारा स्वीकृति का लगातार विरोध किया। मुक्का-पूर्वसंधि पर हस्ताक्षर होने के बाद भी समय-समय पर अमरीका ने अपना यह विरोध तब प्रकट किया, जब रूसी माँगों के कारण यह विरोध आवश्यक हो गया।

मंचूरिया में रूस ने जो नीति अपनायी थी, उससे उत्तर में बढ़ रहे खतरे से सशंकित होकर ब्रिटेन व जर्मनी एक दूसरे के निकट आ गये। सन् १९०० में उन दोनों के बीच एक समझौता हुआ, जिसके पालन का अनुरोध उन्होंने अन्य विदेशी शक्तियों से भी किया। इस समझौते के अनुसार साम्राज्य की अव्यवस्था का अपने व्यक्तिगत हित में लाभ उठाये बिना चीन की क्षेत्रीय यथास्थिति इन शक्तियों द्वारा स्वीकार की जानी थी; पूरे साम्राज्य को सभी देशों के व्यापार के लिए खोलने के लिए कार्य करना था; और यदि कोई शक्ति इस यथास्थिति को अपने व्यक्तिगत हित में बदलने की कोशिश करे तो सभी देशों के हितों की रक्षा के लिए संयुक्त प्रयास होने थे। किन्तु, मंचूरिया में रूसी प्रभाव रोकने में इस समझौते की उपादेयता जर्मनी द्वारा यह शर्त लगाने से निश्चित रूप से कम हो गयी थी कि समझौता चीन के अट्ठारह प्रान्तों के क्षेत्र के संबंध में ही माना जायगा। किन्तु, तब भी चीन के लिए इस समझौते का महत्त्व था। यह समझौता केवल चीन के हितों

को ही ध्यान में रखकर किया गया हो, ऐसी बात नहीं थी, इस समझौते में इन देशों ने यह स्वीकार किया था कि विदेशी शक्तियों के व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए चीन का कायम रहना आवश्यक है; इस समझौते से यह भी प्रकट था कि चीन के विभाजन के प्रयास से गंभीर अंतरराष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने का डर था।

मुक्का-आंदोलन की समाप्ति के बाद की परिस्थिति में रूस को अव्यवस्था से लाभ उठाने का अच्छा अवसर मिल गया था। जिस प्रकार पहले चीन का मित्र बन कर उसने अपने हितों का प्रसार किया था, उसी प्रकार उसने फिर से अपने हित बढ़ाने की कोशिश की। उसने ब्रिटेन व अमरीका के विरोध के बावजूद टींटसीन से शानहैकवान तक की रेलवे लाइन पर कब्जा कर लिया और उसके बाद कहना शुरू किया कि मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ उत्तरी चीन से हट जायँ तभी चीन व अन्य विदेशी शक्तियों के बीच शांति समझौते पर हस्ताक्षर होने चाहिए। उसने अपना दूतावास टींटसीन हटा लिया और इस बात पर जोर देना शुरू किया कि चीनी दरबार पीकिंग लौट आये और कोई विदेशी शक्ति चीन के आंतरिक मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप न करे। स्वभावतः, जहाँ तक इस नीति का प्रश्न था, रूस चीन व मंचूरिया में अंतर मान रहा था और इस बात पर अड़ा हुआ था कि मंचूरिया-संबंधी समझौता चीन व रूस के बीच की निजी बात है।[५] रूस का यह इरादा स्पष्ट था कि वह मंचूरिया में अपने पैर मजबूती से जमा लेना चाहता था और दूसरी ओर चीनी दरबार में अन्य विदेशी शक्तियों से चीन की रक्षा करने की अपनी भूमिका दिखाकर चीन का मित्र भी बनना चाहता था। किन्तु, सन् १८६० में रूस को इस संबंध में जितनी सफलता मिल गयी थी जब उसने पीकिंग पर कब्जा करने वाले ब्रिटेन व फ्रांस और चीन के बीच मध्यस्थ बनकर प्रिमोर्स्क प्राप्त कर लिया था, उतनी इस बार नहीं मिल रही थी। चीन धीरे-धीरे यह समझने लगा था कि रूस की दोस्ती प्रोत्साहित करना खतरनाक बात है। और जब अंततः शांति स्थापित हो गयी, तब यह प्रकट हो गया कि चीन के हितों की चिन्ता रूस के ४५ करोड़ ताएल की क्षतिपूर्ति में से बड़ा भाग हड़प लेने में बाधक नहीं हुई थी।

उत्तरी चीन में मुक्का-उपद्रव शान्त होने के बाद, शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि रूस का मंचूरिया से हटने का कोई इरादा नहीं है और वह हटेगा तो अपनी ही शर्तों पर। ब्रिटेन, अमरीका, जापान आदि समुद्री शक्तियों से, जो बड़ी दीवार के उत्तर में रूस की फौजें जमी रहने का लगातार विरोध कर रही थीं, एक नीति स्वीकार कर रहा था और साथ ही लगातार पीकिंग से अपनी शर्तें मनवाने की भी कोशिश कर रहा था। उसका इरादा यह था कि चीन के केन्द्रीय शासन से अलग से मंचूरिया के संबंध में समझौता करके प्रतिवाद करनेवाली विदेशी शक्तियों के समक्ष इसे 'सम्पन्न कार्य' के रूप में पेश कर दे।

रूस समझता था कि ऐसा करने के लिए वह इस बात पर अड़ा रहेगा कि मंचूरिया ऐसा विषय है, जिसके संबंध में समझौते की बात केवल संबंधित देशों––चीन व रूस––के बीच ही चल सकती है; और चीन से अपनी माँगें मनवाने के बाद वह इस बात पर जोर देगा कि चीन एक स्वतंत्र देश है और वह जैसा भी चाहे वैसा समझौता करने की उसे स्वतंत्रता है। रूस समझता था कि किसी भी विदेश को इस मामले में लड़ने-झगड़ने में न तो काफी दिलचस्पी ही होगी और न झगड़ने की शक्ति ही होगी। मंचूरिया में केवल रूस के लिए विशेष सुविधाओं की माँग पर अमरीकी सचिव 'हे' ने जो विरोधपत्र भेजा था, उसके काउण्ट लैम्सडौर्फ के उत्तर से रूसी नीति की यह व्याख्या सही साबित होती है। लैम्सडौर्फ ने कहा था–"दो पूर्ण स्वतंत्र देशों के बीच समझौते अन्य देशों की स्वीकृति के आश्रित नहीं होते।" किन्तु, इंगलैण्ड, अमरीका व जापान के सहायता के आश्वासन व दबाव के कारण चीन ने मंचूरिया से फौजें हटाने की सन् १९०१ में बार-बार पेश की गयीं रूसी शर्तों को मानने से इनकार कर दिया।

(६) सन् १९०२ का आंग्ल-जापानी समझौता

तब तक सन् १९०२ में एक ऐसी घटना हो गयी, जिसका रूसी नीति पर तत्काल प्रभाव हुआ और जिसके अंतिम परिणाम बहुत महत्त्व के हुए। यह घटना थी जापान व ब्रिटेन के बीच समझौता। सुदूरपूर्व में एक दूसरे के हितों व नीतियों के संरक्षण के लिए इस प्रकार के समझौते की बातचीत सन् १९०१ में लन्दन में शुरू हुई थी। इस तरह की बातचीत और समझौते का पहला सुझाव ब्रिटेन या जापान की ओर से नहीं जर्मनी की ओर से आया था और जर्मनी ने ही तीन देशों की मैत्री-संधि के लिए बात चलाने का सुझाव रखा था। जर्मनी द्वारा यह प्रस्ताव पेश करने का असली कारण स्पष्ट नहीं है, किन्तु सन् १८९५ के बाद से वह ब्रिटेन के साथ वित्तीय मामलों में तो सहयोग कर ही रहा था और सन् १९०० में उसने चीन में यथास्थिति कायम रखने के लिए ब्रिटेन से समझौता भी कर लिया था। फलतः, प्रतीत होता था कि जर्मनी सुदूरपूर्व में अपने व ब्रिटेन के हितों की समानता समझ रहा था। इसके अतिरिक्त, सन् १९०० के बाद बर्लिन में एक ऐसा सशक्त गुट भी बन गया था, जो ब्रिटेन से मैत्री कर लेने के पक्ष में था। किन्तु इस समय जर्मनी की नीति में बराबर बदलाव हो रहा था, जो इस बात से भी प्रकट था कि जर्मनी सन् १९०० के समझौते को मंचूरिया पर लागू न करने पर अड़ रहा था। जर्मनी ब्रिटेन से सहयोग तो करना चाहता था, पर इस सीमा तक नहीं कि उससे रूस क्रुद्ध हो जाय। और ब्रिटेन व जापान के हितों की सुरक्षा रूस की मंचूरिया-संबंधी नीति के विरुद्ध कड़ा रूख अपनाने में ही थी। अतएव जर्मनी ने चाहे जिस उद्देश्य से भी यह बातचीत चलाने

का सुझाव रखा हो, बातचीत चली और जर्मनी को उसमें शामिल किये बिना जापान व ब्रिटेन के बीच समझौता हो गया।

सन् १८९४–१८९५ के चीन से हुए युद्ध के बाद जापान में नीति संबंधी दो धारणाएँ थीं। एक गुट यह समझता था कि जापान के हितों को रूस से जो खतरा पैदा हो रहा है, उसे दूर करने का सबसे अच्छा उपाय रूस से ही मैत्री कर लेना होगा; इस मैत्री से सुदूर-पूर्व में दोनों देशों के हितों की स्पष्ट व्याख्या हो जायगी। दूसरा गुट सबसे अच्छा रास्ता ब्रिटेन से मैत्री कर लेना समझता था। जो लोग ब्रिटेन से मैत्री के पक्षपाती थे उनमें सेण्ट जेम्स के दरबार में जापान के मंत्री काउण्ट हयाशी भी थे। जर्मन राजदूत के इस सुझाव के बाद कि जहाँ तक ब्रिटेन का प्रश्न है उससे समझौता कर लेना श्रेयस्कर होगा, हयाशी ने अपनी सरकार से अनुमति प्राप्त कर ली कि ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिवालय से इस संबंध में बातचीत चलायी जाय। धीरे-धीरे अनौपचारिक बात औपचारिक बन गयी और जनवरी, १९०२ में सफलतापूर्वक समझौता हो गया।

जापान के एक एशियाई शक्ति के रूप में विकास की एक बड़ी मंजिल थी पश्चिमी देशों में सबसे सबल शक्तियों में से एक से यह मैत्री। आधुनिक युग की यह पहली संधि थी जिसमें पूर्व व पश्चिम के दो देश समता के आधार पर मैत्री कर रहे थे। इस संधि की संभवतः सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि एशिया की मंत्रणा-परिषद् में शामिल होने के लिए जापान की सदस्यता की स्वीकृति। किन्तु जापान को इससे तात्कालिक लाभ यह हुआ कि जापान अब रूस से अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक काररवाई कर सकता था। सन् १८९५ में जार के मंत्रियों की आज्ञा पर जापान को मुख्य एशिया महाद्वीप से वापस लौटना पड़ा था। सन् १९०४ में अंग्रेजों की सहायता का बचाव न होता तो इस काण्ड की पुनरावृत्ति हो सकती थी और जापान को फिर वापस लौटना पड़ सकता था।

यह बात तो स्पष्ट है कि जापान को इस प्रकार की मैत्री-संधि की आवश्यकता थी; किन्तु यह बात जल्दी समझ में नहीं आती कि ब्रिटेन ने पूर्वी देशों से स्थायी संधियाँ न करने की अपनी नीति क्यों बदल दी। और एक पूर्वी देश से मैत्री क्यों कर ली।[६] रूस के बढ़ाव से ब्रिटेन के हितों के लिए खतरा बढ़ रहा था और अंततः इसका एक ही परिणाम यह होता कि मंचूरिया में ब्रिटेन के लिए व्यापार के अवसर समाप्त हो जाते। किन्तु यांग्त्सी प्रान्तों में उसके हितों को रूस द्वारा दी गयी मान्यता के बदले में ब्रिटेन सन् १८९९ की स्काट-मुरावीफ उपसंधि द्वारा मंचूरिया में रूसी हितों की प्राथमिकता स्वीकार कर चुका था। रिआयतों की दौड़ में ब्रिटेन का भाग लेना स्पष्टतः उसकी पहले की चीन संबंधी नीति के विपरीत था। उत्तरी व दक्षिणी अफ्रीका में व्यस्त रहने के कारण ब्रिटेन अन्य शक्तियों के विरोध में सुदूर पूर्व में अपनी नीति चलाने पर बल देने में बिलकुल असमर्थ

रहा था। सन् १९०२ तक ब्रिटेन की अफ्रीका संबंधी कठिनाइयाँ लगभग समाप्त हो चुकी थीं और अब वह चीन की ओर पूरा ध्यान देने को स्वतंत्र था। और सन् १८९९ व सन् १९०२ के बीच मुक्केबाजों का विद्रोह हो चुका था और रूस का दक्षिण की ओर बढ़ाव जारी था जो, यदि जारी रहने दिया जाता तो, पीकिंग में रूस की स्थिति को बहुत मजबूत कर देता। इसके अतिरिक्त, रूस ने सन् १८९९ के समझौते की मूल भावना का आदर नहीं किया था। यांग्त्सी क्षेत्र के हृदय के बीच से, पीकिंग से हैनकाउ तक मार्ग बनाने की रिआयत बेल्जियम को प्राप्त हो चुकी थी और यह सर्वविदित था कि बेल्जियम रूस व फ्रांस का प्रतिनिधित्व कर रहा था और उसे रूसी व फ्रांसीसी राजनयिक सहायता प्राप्त थी। इस मार्ग के फलस्वरूप रूसी प्रभाव इतनी दूर दक्षिण में प्रवेश कर रहा था कि ब्रिटेन के राजनयिक क्षेत्रों में भारत को लेकर चिन्ता व्याप्त हो रही थी। इससे फ्रांस व रूस के दिलचस्पी के क्षेत्र भी मिल रहे थे। फ्रांस व रूस के इस प्रकार के संघ या हित-एकीकरण का अर्थ होता चीनी साम्राज्य का अंत, क्योंकि इन दोनों देशों की दिलचस्पियाँ आर्थिक नहीं राजनीतिक थीं। इन घटनाओं ने ही ब्रिटेन को अपनी मूल चीनी नीति पर वापस लौटने को बाध्य कर दिया था।

किन्तु इस नीति को प्रभावकारी बनाने के लिए शक्तियों का संयोग आवश्यक था। ब्रिटेन ने पहले जर्मनी को मिलाने की कोशिश की, पर देखा कि वह रूस को नाराज करने के लिए तैयार नहीं है।[७] फ्रांस रूस का मित्र था और स्वयं दिलचस्पी के क्षेत्र संबंधी सिद्धान्त के विकास में दिलचस्पी रख रहा था। इंग्लैण्ड व अमरीका के हित समान थे, किन्तु अमरीकी हित संभाव्य ही थे और उसके रवैये से यह भरोसा नहीं होता था कि यथास्थिति में परिवर्तन के विरुद्ध वह प्रतिवाद से अधिक कोई कड़ी काररवाई करेगा। इसके अतिरिक्त, अमरीका अपने को किसी भी देश से पूरी तरह संबद्ध करने को तैयार नहीं होता, चाहे इससे उसका हितसाधन ही क्यों न हो। इस दृष्टिकोण के अनुरूप ही उसने रूसी नीति के प्रतिवाद में संयुक्त रूप से कोई पत्र भेजने से मना कर दिया था यद्यपि उसने कई बार अलग से वैसे ही विरोधपत्र स्वयं भी भेजे थे। केवल जापान बच गया था और रूस के बढ़ाव को रोकने में जापान को ब्रिटेन से भी अधिक दिलचस्पी थी। फलतः, काफी झिझक के बाद ब्रिटेन ने अपना एकान्त समाप्त कर एक ऐसा समझौता कर लिया जिससे यदि रूसी साम्राज्य से जापान का युद्ध हो जाय तो वह जापान के समर्थन में खड़ा होता।

इस आंग्ल-जापानी समझौते में प्रस्तावना के रूप में इन दोनों देशों की सामान्य नीति बतायी गयी थी—कोरिया व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतंत्रता कायम रखकर सुदूरपूर्व में शांति व यथास्थिति को कायम रखना। पहली धारा में इस तथ्य की स्वीकृति थी कि ब्रिटेन की दिलचस्पी मुख्यतः चीन में थी, जब कि जापान की दिलचस्पी चीन के

अतिरिक्त कोरिया में भी थी, यद्यपि इन दोनों देशों में उसकी दिलचस्पी अनाक्रामक ढंग की थी। दोनों देशों ने एक-दूसरे के द्वारा अपने हितों की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने के अधिकार को स्वीकार किया था। यदि इन हितों की रक्षा में दोनों देशों में से कोई किसी अन्य देश से युद्ध में फँस जाय तो समझौते के अनुसार दूसरा देश बिलकुल तटस्थ रहता और पूरी कोशिश यह करता कि दूसरे पक्ष को किसी अन्य देश की सहायता प्राप्त न हो। यदि इन दोनों देशों में से किसी एक से युद्ध करनेवाले देश को किसी अन्य शक्ति की सहायता मिलती तो तत्काल ही दूसरा देश अपने मित्र देश की सहायता में युद्ध में उतर पड़ता और युद्ध व शांति दोनों देश साथ-साथ ही करते। यह मैत्री पाँच वर्ष के लिए चलनेवाली थी और यदि इस अवधि के अंत में कोई पक्ष इसे समाप्त न करना चाहता तो उस अवधि तक चलनेवाली थी जो एक पक्ष के उसे समाप्त करने की इच्छा व्यक्त करने के एक वर्ष बाद पूर्ण होती। इस समझौते का अर्थ यह हुआ कि जापान व ब्रिटेन के राजनयिक प्रतिनिधि पीकिंग में रूस को सीमित रखने के लिए एक होकर काम करते, और यदि इस प्रयास में वे विफल होते तो जापान रूस से युद्ध छेड़ देता और ब्रिटेन प्रयास करता कि रूस को विदेशी सहायता न मिले।

ब्रिटेन व जापान की इस चुनौती के उत्तर नें रूस व फ्रांस ने घोषणा की कि वे इस समझौते के उद्देश्य, अर्थात् चीन व कोरिया की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता, से सहमत हैं, फिर भी, उन्होंने अपना क्षेत्र बढ़ाकर उसमें पूरे सुदूरपूर्व को शामिल कर लिया है। किन्तु प्रतीत होता है कि फ्रांस ने रूस से कह दिया था कि वह युद्ध की स्थिति में रूस की सक्रिय सहायता केवल उसी दशा में करेगा जब यूरोप में भी शांति भंग होगी।

किन्तु इस चुनौती की मौन स्वीकृति के बावजूद रूस ने मंचूरिया से अपनी फौज हटाने के चीनी प्रस्ताव को स्वीकार कर तत्काल अपनी नीति में संशोधन कर लिया। सन् १९०२ की मंचूरिया उपसंधि में स्वीकृत इन प्रस्तावों के अनुसार पूरा मंचूरिया १८ महीने में रूसी सेनाओं द्वारा खाली किया जाना था—दक्षिणी मंचूरिया छः महीने में, मध्य मंचूरिया एक वर्ष में और पूरे मंचूरिया पर चीनी नियंत्रण का आरम्भ डेढ़ वर्ष में। रूसी सेनाओं के हटने के ढंग और रूसी हितों की चीन द्वारा रक्षा के संबंध में समझौते में कुछ शर्तें थीं, पर असली शर्त उसमें यह भी मौजूद थी कि रूसी फौजें तभी हटेंगी "यदि कोई अशांति नहीं हुई और अन्य विदेशी शक्तियों ने कोई बाधा नहीं डाली।" जब तक रूसी फौजें मौजूद थीं, अशांति या अव्यवस्था रोकना कठिन था और रूस बहुत सरलतापूर्वक अन्य विदेशों की काररवाई का अर्थ यह लगा सकता था कि वे बाधाएँ हैं और इस बहाने वह समझौते के पालन से निकल सकता था।

वास्तव में रूस ने कुछ इस ढंग से आगे काररवाई की कि अपने वचन का पालन करने

में ईमानदारी से काम न लेने का आरोप उस पर सिद्ध होने लगा। दक्षिणी-पश्चिमी मंचूरिया से फौजें हटीं अवश्य, लेकिन वे मंचूरिया के बाहर न जाकर प्रान्त के दूसरे भागों में एकत्र होने लगीं। जहाँ से रेलवे लाइन गुजर रही थी उसके किनारे-किनारे इन फौजों के लिए बैरकें बनने लगीं और रूसी ढंग से प्रकट हो गया कि इन फौजों से रेलवे रक्षकों का कार्य लिया जायगा। दूसरे शब्दों में, रूस ने यह बता दिया कि वह अपने वचन का उसी हद तक पालन करेगा जिस हद तक उस पर इतना दबाव पड़ता रहे कि वह उसकी अवहेलना न कर पाये। और यह दबाव चीन के अलावा अन्य शक्तियों को डालना था क्योंकि चीन में यह शक्ति नहीं थी कि वह अपने उत्तरी पड़ोसी से समझौता मनवा सके।

(७) कोरिया का प्रश्न

मंचूरिया में वचन पूरा करने में इस आनाकानी के अतिरिक्त कोरिया में, विशेषकर उसकी सीमा पर भी, रूसी कार्यकलाप आपद्जनक होता जा रहा था। इसे समझने के लिए रूस व जापान के हित-संघर्ष के दूसरे क्षेत्र की ओर ध्यान देना होगा।

चीन से युद्ध और उसके कुछ समय बाद तक जापान के हित सिऊल में बढ़ रहे थे। इस अवधि में जापान का व्यवहार ऐसा था मानो वह कोरिया का स्वामी हो; इस स्वामित्व का उपयोग जापान ने कोरिया को, कागज पर एक ही दिन में, कुशासित, अव्यवस्थित, पूर्वी राजतंत्र की जगह आधुनिक राज्य बना देने में किया। रानी व उसके अनुयायियों द्वारा इस नीति का विरोध होने पर जापान ने राजमहल पर आधी रात को हमला करवा कर रानी को मरवा डाला; जापानी नीति के विरोध की केन्द्र-बिन्दु रानी की हत्या में जापान ने सक्रिय भाग लिया था।

इस घटना से कोरियावासियों में आक्रोश की लहर दौड़ गयी, किन्तु वे तत्काल प्रतिशोध लेने की स्थिति में नहीं थे। किन्तु सन् १८९६ में उत्तरी सीमा पर अशांति हुई जिसके दमन के लिए राजधानी से सेना गयी। इसी समय चेमुलपो से रूसी नौसैनिकों की एक टुकड़ी सिऊल आ पहुँची। रूसियों के सिऊल पहुँचने के अगले दिन राजा वेश बदल कर महल से भाग निकले और रूसी दूतावास में शरण ली। कुछ समय तक शासन-संचालन रूसी दूतावास से ही हुआ। युद्ध में सफलता के बावजूद सिऊल में आरोहण जापान नहीं रूस का हुआ। यह सही है कि इसके लिए स्वयं जापानी नीति ही उत्तरदायी थी, किन्तु रूसी नियंत्रण इसीलिए तो ग्राह्य हो नहीं सकता था। सन् १८९६ के ग्रीष्म में जापान ने कोरिया में अपनी श्रेष्ठता का दावा छोड़ कर रूस से समझौता (यामागाटा-लोबानोफ, पूर्व संधि) कर लिया जिसके फलस्वरूप कोरिया में दोनों का स्तर समान हो गया। दोनों पक्षों ने स्वीकार किया कि (१) दोनों अपनी-अपनी सेनाएँ प्रायद्वीप से हटा लें ताकि

जहाँ तक संभव हो सके कोरिया स्वयं ही अपने क्षेत्र में शांति-व्यवस्था क़ायम रखने का प्रयास कर सके; और (२) दोनों मिलकर कोरिया सरकार पर वित्तीय सुधार के लिए दबाव डालें और यदि इन अनिवार्य सुधारों के लिए विदेशी मुद्रा आवश्यक हो तो दोनों देश समझौते द्वारा यह सहायता कोरिया को दें। किन्तु अपने आरोहण के समय रूस कोरिया सरकार से दो रिआयतें प्राप्त कर चुका था—एक तो यालू नदी पर लकड़ी की प्राप्ति के संबंध में, जो बाद में बहुत महत्त्वपूर्ण साबित हुआ, और दूसरा तुमेन नदी पर खनिज उपयोग संबंधी।

यामागाटा-लोबानोफ समझौते की स्याही सूखी भी नहीं थी कि रूस ने उसकी शर्तें भंग करनी शुरू कर दीं। कोरिया को अपनी सेना के पुनस्संगठन की स्वतंत्रता देने की बजाय रूस ने वहाँ अपने सलाहकार लगा दिये जो कोरियाई सेना का संगठन रूसी ढंग से करने लगे। रूस ने कोरिया की वित्तीय व्यवस्था पर भी नियंत्रण करने का प्रयास किया।

रूसी नीति के प्रतिक्रिया-स्वरूप कोरिया में रूस-विरोधी भावना आयी और इसी के साथ आयी जापानी स्थिति में मजबूती। इस गैर-ईमानदारी के रवैये के बावजूद जापान ने फिर रूस से समझौते की बात चलायी। चीन से लिआओतुंग प्रायद्वीप में पट्टा पाकर (जो कि निश्चय ही जापान की आपत्ति का कारण था) और मंचूरिया की नीति के फलस्वरूप रूस सुलह के लिए अधिक तत्पर था और सन् १८९८ में रूसी सरकार कोरिया में अपनी स्थिति की पुनर्व्याख्या के लिए तैयार हो गयी। कोरिया की स्वतंत्रता और सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करते हुए दोनों देश एक दूसरे से पूर्व-समझौते के बिना कोरिया के सैन्य व वित्तीय पुनस्संगठन में हस्तक्षेप न करने को राजी हो गये; रूसी सरकार इस बात पर भी राजी हो गयी कि वह कोरिया में जापान के व्यावसायिक व औद्योगिक हितों के विकास में बाधा नहीं देगी। यह नीशी-रोजेन उपसंधि सन् १८९८ से युद्ध शुरू होने तक कोरिया में रूस व जापान की नीतियों का औपचारिक आधार रही।

किन्तु इस समझौते के बावजूद कोरिया का प्रश्न हल नहीं हुआ। रूस बीच-बीच में वहाँ सक्रिय हो उठता और कुछ रिआयतों की माँग पेश कर देता और अपने उपयोग लिए कोई बन्दरगाह माँगने लगता था। जापान अपनी स्थिति मजबूत करने में और रूस की लगातार माँगों को रोकने में तत्परता से लगा हुआ था और इन दोनों कामों में उसे काफी सफलता मिल रही थी। जापान की आबादी तेजी से बढ़ रही थी, व्यापार भी खूब विकसित हो रहा था और कोरिया की रेलवे व अन्य योजना में जापान की पूँजी काफी बड़ी मात्रा में लग रही थी। जापान का अकेला बड़ा प्रतिद्वन्द्वी अमरीका था और यह प्रतियोगिता भी सन् १९०४ तक जापान की आर्थिक दृष्टि से कोरिया में प्रभावी स्थिति पा लेने से रोक नहीं पायी। नीशी-रोजेन उपसंधि पर हस्ताक्षर होने के पाँच वर्ष के

भीतर जापानी परराष्ट्र-मंत्री सच्चाई के साथ यह कहने की स्थिति में हो गये थे कि "जापान के कोरिया में सबसे प्रबल व प्रभावी राजनीतिक व व्यावसायिक हित व दिलचस्पियाँ हैं, और अपनी सुरक्षा को दृष्टि में रखते हुए, वह न तो अपने इन हितों को छोड़ ही सकता है और न किसी अन्य शक्ति को इसमें भागीदार ही बना सकता है।"

(८) कोरिया व मंचूरिया के प्रश्नों का एकरूपीकरण

सन् १९०२–१९०३ में जब कोरिया व मंचूरिया के प्रश्न एक दूसरे से जुड़ गये तब तक जापान कोरिया में अपनी प्रभावकारी स्थिति प्राप्त कर चुका था। मंचूरिया में स्थित अपनी सेनाओं को वहाँ से हटाये बिना उनका हटाना प्रकट करने के लिए रूस ने जो कारवाइयाँ की थीं, उनमें से एक यह भी थी कि सन् १८९६ में लकड़ी के उपयोग के लिए प्राप्त रिआयत के सिलसिले में ये सैनिक यालू नदी के क्षेत्र में लकड़हारों के रूप में भेज दिये गये थे। इस रिआयत के लिए शर्त यह थी कि रूस पाँच वर्ष के भीतर इस धन्धे का विकास कर लेगा और चूँकि रूस यह नहीं कर पाया था इसलिए कायदे से यह समझौता अपने-आप समाप्त हो गया था। किन्तु रूस इस समझौते के जारी रहने पर जोर देने लगा, विशेषकर इसलिए भी कि स्वयं जार को इसमें दिलचस्पी पैदा हो गयी थी और जार को वताया यह गया था कि जापान इस माँग का कोई प्रभावकारी विरोध नहीं कर पायेगा।

अभी तक जापान की कोरिया व चीन संबंधी नीतियाँ स्पष्टतः भिन्न थीं। उसकी नीति यह थी कि कोरिया में तो वह अपने हितों की रक्षा स्वयं स्वतंत्र रूप से करता रहेगा और चीनी मामलों में वह अन्य देशों के साथ सहयोग करेगा। अब जापान समझ रहा था कि रूस से कोई ऐसा समझौता होना चाहिए जिसमें दोनों क्षेत्रों के प्रश्नों का संयुक्त हल आ जाय। सन् १९०३ में सेण्ट पीटर्सबर्ग स्थित जापानी राजदूत को आदेश दिया गया कि वह रूसी सरकार से दोनों देशों के पूर्व में स्थित हितों की पूर्ण व्याख्या के लिए बातचीत शुरू करे। रूस के इसके लिए तैयार होने पर जापानी राजदूत ने विचार-विमर्श के लिए कई प्रस्ताव पेश किये, जो संक्षेप में इस प्रकार थे—(१) दोनों देश कोरिया व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतंत्रता का आदर करते हैं और इन देशों में 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त लागू रखने को सहमत हैं; (२) रूस कोरिया में जापान की विशेष दिलचस्पी व हितों को स्वीकार करता है और जापान को अधिकार देता है कि वह (अ) अपने इन हितों का आगे भी विकास करता रहे, और (ब) सुधारों के संबंध में कोरियाई सरकार को परामर्श देता रहे। इसके बदले में जापान रूस के रेलवे लाइन संबंधी विशेष हितों को मंचूरिया में स्वीकार कर लेगा और पहली शर्त के मातहत उन

हितों के विकास के रूसी अधिकार को स्वीकार कर लेगा। रूस ने जो जवाबी प्रस्ताव अपनी ओर से पेश किये, वे संक्षेप में इस प्रकार थे--(१) दोनों देश कोरिया की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता व स्वतंत्रता का आदर करते हैं (इस संबंध में जापान ने चीन को भी शामिल किया था, पर रूस ने उसे उड़ा दिया था); (२) रूस कोरिया में जापान के विशेष हितों व कोरिया के नागरिक प्रशासन के सुधार में कोरियाई सरकार को सहायता देने के अधिकार को स्वीकार करता है; (३) कोरिया में जापान के व्यावसायिक व औद्योगिक हितों के विकास व उनकी सुरक्षा में रूस हस्तक्षेप नहीं करेगा; (४) दोनों देश स्वीकार करते हैं कि कोरिया के तटों पर किलेबन्दी नहीं की जायगी ताकि कोरिया की खाड़ी में जहाजों के आने-जाने की स्वतंत्रता पर आँच न आये, और कोरिया की भूमि सामरिक कार्यों के लिए प्रयोग नहीं की जायगी; (५) ३९वें उत्तरी अक्षांश के उत्तर में कोरिया का जो क्षेत्र है उसे तटस्थ क्षेत्र बना दिया जायगा; और (६) जापान स्वीकार करता है कि मंचूरिया व उसके तटवर्ती क्षेत्र में उसके कोई हित नहीं हैं और यह इलाका उसके दिलचस्पी के क्षेत्र के बिलकुल बाहर है। दूसरे शब्दों में, रूस चाहता था कि जापान उसे चीन व मंचूरिया में खुली छूट दे दे और रूस जापान के व्यावसायिक व औद्योगिक हित कोरिया में विकसित होने देगा--इस विकास को रोकने में रूस पहले से ही पूरी तरह सक्षम सिद्ध नहीं हुआ था।

जापान ने अंतिम रूप से जो प्रस्ताव रखे उनमें उसने रूस की स्थिति को एक सीमा तक स्वीकार किया और रूस की मंचूरिया में काररवाइयों पर वे ही सीमाएँ लगाने को कहा जो स्वयं उसकी कोरिया में काररवाइयों पर नियत थीं; जापान ने यह भी स्वीकार किया कि मंचूरिया में रूस की दिलचस्पी केवल रेलवे लाइन में ही नहीं है, वरन् वह क्षेत्र जापान की दिलचस्पी के बाहर भी है। किन्तु रूस अपने मूल प्रस्तावों पर ही अड़ा रहा और अंत में बात आगे बढ़ गयी। जापान ने रूस से राजनयिक संबंध तोड़ लिये और फरवरी, १९०४ में युद्ध शुरू हो गया।

(९) रूस-जापान युद्ध

इस युद्ध के कई बड़े मनोरंजक पहलू थे जिनका स्थानाभाव के कारण यहाँ वर्णन कठिन है। यह युद्ध ऐसे देशों की भूमि पर हो रहा था जो युद्ध में शामिल ही नहीं थे। अतएव चीन व कोरिया का सही स्थिति के संबंध में समझौता आवश्यक हो गया। जहाँ तक कोरिया का प्रश्न था स्थिति स्पष्ट थी। युद्ध की घोषणा के साथ ही जापान् ने तत्काल कोरिया प्रायद्वीप पर अधिकार कर लिया और कोरिया के राजा से मैत्री संधि कर ली। किन्तु चीन के संबंध में अमरीका ने यह प्रयास किया कि युद्ध में दोनों पक्ष अपनी शत्रुता-

पूर्ण कारवाइयों को मंचूरिया तक ही सीमित रखें और इस प्रकार चीन का शेष भाग सुरक्षित रह सके। यदि सन् १८९६ से सन् १९०४ के बीच की अवधि में रूस की नीति भिन्न हुई होती तो वह मैत्री संधि की शर्तों के अनुसार आसानी से चीन को इस संघर्ष में शामिल कर लेता और चीन के बन्दरगाहों व अन्य सुविधाओं का उपयोग कर नौसैनिक विनाश से बच जाता जो युद्ध में जापान ने किया। किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि एक 'मित्र' द्वारा दूसरे पर लगातार आक्रमण व बढ़ाव के फलस्वरूप यह मैत्री-संधि स्वयमेव समाप्त हो चुकी थी। फलतः विदेशी प्रभाव के कारण युद्ध के दोनों पक्षों ने मंचूरिया के बाहर चीन की तटस्थता स्वीकार कर ली। दोनों एक दूसरे पर वचन भंग करने के आरोप-प्रत्यारोप करते रहे। किन्तु सामान्यतः चीन के क्षेत्र की रक्षा होती रही।

समझौते की बातचीत के दौरान में आखिरी वक्त तक रूस के निरंकुश जार संभवतः यही समझते रहे कि युद्ध या शांति का निर्णय केवल उनके हाथ में है, और यह कि जापान युद्ध करने की जगह जो भी रिआयतें वह (जार) दे देंगे उनसे संतुष्ट हो जायगा। यह भावना और इसके साथ जापान की सैनिक व नौसैनिक शक्ति के संबंध में गलत परामर्श ही उन रूसी कारवाइयों के लिए उत्तरदायी थे जिनसे एक ओर तो युद्ध अनिवार्य हो गया और दूसरी ओर इस युद्ध के लिए काफी सैनिक तैयारियाँ नहीं की गयीं।

किन्तु इसके आगे भी रूसी नीति की संतोषजनक व्याख्या के लिए सेण्ट पीटर्सबर्ग में जो आंतरिक संघर्ष चल रहा था वह समझना आवश्यक है। जार की स्वीकृति के लिए तीन कार्यक्रमों में स्पर्धा थी। वित्तमंत्री का एक कार्यक्रम था—पूँजी व रेलवे द्वारा शांतिमय उपायों से चीन व मंचूरिया में प्रवेश—और यही कार्यक्रम सन् १८९५ के बाद लागू भी हुआ था। सन् १८९८ में एक अन्य गुटका उदय हुआ, जिसका प्रवक्ता था हृष्ट साहसी बेजोब्राजेव, और जो शक्तिसमर्थित आर्थिक कार्यक्रम में विश्वास करता था। और तीसरा गुट था फौजी-नौसैनिक अधिकारियों का जो मंचूरिया पर सैनिक आधिपत्य और कोरिया के एक बन्दरगाह पर कब्जा कर लेने के पक्ष में था। सन् १९०० में मंचूरिया में जो बड़ी संख्या में फौजें उतार दी गयीं, और टींटसीन के उत्तर में पीकिंग-मुकडेन रेलवे लाइनपर जो कब्जा कर लिया गया उसके लिए मुख्यतः तीसरा गुट ही उत्तरदायी था। यह सही है कि काउण्ट वीटे के कार्यक्रम के अनुसार जो हित विकसित किये गये थे वे सैनिक हस्तक्षेप के लिए बहाने के काम कर गये थे। सन् १९००–१९०२ के बीच राजनयिक वचनों व वक्तव्यों तथा राजनीतिक व सैनिक कारवाइयों के बीच जो स्पष्ट विरोधाभास था वह भी इस तीसरे गुट के कारण ही हुआ, क्योंकि सुदूरपूर्व में सैनिक नेता जो कारवाइयाँ कर बैठते थे उनकी सूचना बहुधा संबंधित मंत्रियों को भी नहीं होती थी; इससे वचन-उल्लंघन तो होता ही था, मंत्री इन सेनापतियों पर नियंत्रण भी नहीं कर पाते थे।

सन् १९०२ के बाद बेजोब्राजोव का गुट फिर जार के दरबार में प्रमुख स्थान पा गया; सन् १८९८ से ही यह गुट बीच-बीच में सक्रिय हो उठता था और सन् १९०२ में काउण्ट वीटे के मंत्रिमंडल से हटना इस गुट के प्रभावशाली होने का ही लक्षण था। इस गुट के कार्यक्रम के अनुसार सैनिक दबाव के साथ ही व्यापक आर्थिक योजनाएँ चलाने का था, यथा यालू नदी की लकड़ी से संबंधित रिआयत का उपयोग। मंचूरिया व कोरिया, दोनों स्थानों पर व्यापक आर्थिक काररवाई, सन् १९०२ की मंचूरिया उपसंधि की शर्तें लागू करने में वचन भंग करने के लक्षण और कोरिया व मंचूरिया में हितों की स्पष्ट व्याख्या के जापानी प्रस्ताव पर विचार-विमर्श में ढील-ढाल—इन सबने मिलकर जापान को ऐसा डरा दिया कि उसने युद्ध और शांति का निर्णय जार के हाथों में न रहने दिया।

युद्ध के इन दोनों पक्षों के प्रति पश्चिमी देशों के दृष्टिकोणों का संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ रुचिकर होगा। ब्रिटेन जापान की आर्थिक सहायता करने, युद्ध में किसी अन्य देश को न पड़ने देने के प्रयास करने व सामान्यत: उदार 'तटस्थ' देश की भूमिका अदा करने के लिए वचनबद्ध था। आंग्ल-जापानी संधि और अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट की शुरू में की गयी घोषणा कि 'अमरीका हस्तक्षेप सहन न करेगा', जापान की सहायक सिद्ध हुई नहीं तो उसे निश्चित रूप से यूरोपीय महाद्वीप के देशों के रूस के पक्ष में हस्तक्षेप का सामना करना पड़ता। अब, जर्मनी व फ्रांस तटस्थ रहते हुए रूस की जितनी सहायता करने की हिम्मत कर सकते थे, उतनी करते रहे—फ्रांस अपनी मैत्री के कारण, यद्यपि उसे यह बात पसन्द नहीं थी कि रूस सुदूरपूर्व में अपनी शक्ति बरबाद कर यूरोप में अपनी स्थिति कमजोर कर ले, जर्मनी इसलिए कि वह लगातार रूस के पूर्व की ओर हो रहे बढ़ाव को प्रोत्साहित करता रहा था। अमरीकी पूंजीपतियों ने जापान के विदेशी कर्ज की साख कायम रखी। राष्ट्रपति रूजवेल्ट की भाँति अमरीकी जनता की सहानुभूति भी जापान के साथ थी, यद्यपि तटस्थता पर आँच नहीं आने दी गयी थी।

ऊपर से देखने में लगता था कि युद्ध दो बिलकुल असमान शक्ति वालों में—बौने और दैत्य में—हो रहा है। किन्तु, एक बार फिर, बौने की तैयारी पूरी थी और दैत्य की नहीं। शिमोनोसेकी संधि के फौरन बाद, क्षतिपूर्ति में मिली धनराशि के एक बड़े भाग से, जापान अपनी नौसेना के विकास में जुट गया था और साथ ही उसने अपनी सेना के संगठन की भी उपेक्षा नहीं की थी। फलत: जापान की सेना सुशिक्षित और नौसेना सक्षम थी, उसे सामना करना था रूसी सेना का जो कागज पर तो अधिक भयानक थी, किन्तु जिसका अनुशासन ढीला और नेतृत्व निम्नकोटि का था। एक बार फिर जापान ने संचार प्रणाली सुगठित रखने के लिए नौसेना का बढ़ाव शुरू किया। फिर उसने रूसी फौजों को पीछे धकेलना शुरू किया, एक स्थान से दूसरे स्थान तक, यहाँ तक कि लम्बी घेरेबन्दी और दोनों

पक्षों के शौर्य-पराक्रम के बाद पोर्ट आर्थर के पतन के बाद रूस यालू तक खदेड़ दिया गया और उसके बाद वह मुकडेन के युद्ध में भी पराजित हुआ और अंत में मुकडेन तक उत्तर में मंचूरिया से रूसी सेना खदेड़ दी गयी।

(१०) पोर्ट्समाउथ की संधि

युद्ध जापान के लिए सफलताओं की एक अटूट श्रृंखला के रूप में आया, किन्तु इसमें उसके धन-जन की अपार क्षति हुई थी। इसके अतिरिक्त, अपना राष्ट्रीय कोष उँडेल देने के बावजूद जापान रूस को छू भी नहीं पाया था, वह न तो रूस को वापस उसके क्षेत्र में खदेड़ने में सफल हुआ था और न वह रूस की सेनाओं को ही व्यापक क्षति पहुँचा पाया था। जब जापान की प्रार्थना पर अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सन् १९०५ के वसन्त में दोनों पक्षों को अपने मध्यस्थ बनने की स्वीकृति दी, जापान और आगे लड़ने की स्थिति में नहीं रहा था और उसने तत्काल यह मध्यस्थता स्वीकार कर ली, किन्तु विपक्ष को उसने यह नहीं जानने दिया कि वह इतना निर्बल हो चुका है। जापान के शांति संधि के लिए बातचीत शुरू करने के लिए तैयार होने के बावजूद रूसी सरकार तब तक युद्ध जारी रखने के पक्ष में थी जब तक वह अपना खोया हुआ क्षेत्र वापस न ले ले। किन्तु आंतरिक विग्रह तथा आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह जापान से बातचीत करने से इनकार कर देने की स्थिति में भी नहीं थी। अतएव, सन् १९०५ की गर्मियों में काउण्ट वीटे व वाइकाउण्ट कोमूरा की भेंट हुई। रूस को यह आशा थी कि जापान अपनी विजय के नशे में ऐसी माँगें पेश करेगा जिन्हें अस्वीकार करने में भी संसार का जनमत रूस के साथ होगा और रूसी जनता युद्ध जारी रखने के अपनी सरकार के निर्णय का उत्साहपूर्वक साथ देने लगेगी।

और ऊपर से देखने में लगता है कि जापान ने यही किया भी। उसने माँग की कि (१) कोरिया में जापान की सत्ता श्रेष्ठ स्वीकार की जाय; युद्ध की लगभग समाप्ति के समय मैत्री संधि के पुनरीक्षण द्वारा जापान इस स्थिति की स्वीकृति ब्रिटेन से प्राप्त भी कर चुका था; (२) दक्षिणी मंचूरिया में जो रूसी हित हैं जिनमें रेलवे लाइन का पट्टा भी शामिल है, जापान को हस्तांतरित कर दिये जायँ; (३) युद्ध के समय रूस के जो नौसैनिक जहाज तटस्थ बन्दरगाहों में पड़े रहे, वे सभी जापान को दे दिये जायँ और रूस के सुदूरपूर्व स्थित नौसैनिक बेड़े की शक्ति पर सीमा लगायी जाय; (४) युद्ध में हुए व्यय के लिए रूस क्षतिपूर्ति के रूप में धनराशि दे; (५) साइबेरिया के तट पर जापानी नागरिकों को मछली मारने के अधिकार मिलें; और (६) सखालीन जापान को दे दिया जाय। अपने जवाबी प्रस्तावों में रूस ने इनमें से कुछ शर्तों को मान लिया, किन्तु अपनी नौसेना के संगठन व शक्ति पर वह किसी भी प्रकार की सीमा लगाने को तैयार नहीं था

और न क्षतिपूर्ति या सखालीन देने को तैयार था। राष्ट्रपति रूजवेल्ट के लगातार दबाव डालने पर भी दोनों पक्ष समझौते के लिए तैयार नहीं हो रहे थे और बातचीत लगातार असफल हो रही थी। अंततः बातचीत के लिए उस बैठक में, जिसे रूसी प्रतिनिधि अंतिम बैठक मान रहे थे, रूस ने प्रस्ताव किया कि वह क्षतिपूर्ति के बदले में आधा सखालीन जापान को दे देगा; रूसी प्रतिनिधि समझ रहे थे कि जापानी प्रतिनिधि इसे अस्वीकार कर देंगे क्योंकि जापानी जनमत क्षतिपूर्ति के प्रबल समर्थन में था। इसलिए काउण्ट वीटे को आश्चर्य हुआ जब जापानी प्रतिनिधि ने घोषणा कर दी कि उसे क्षतिपूर्ति की माँग त्याग देने के आदेश प्राप्त हो चुके हैं और वह रूसी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेगा। अब काउण्ट वीटे के समक्ष संधि पर हस्ताक्षर करने के सिवा कोई चारा न था; यद्यपि वह स्वयं संधि की शर्तों से संतुष्ट थे, किन्तु रूसी सरकार उनसे स्पष्टतः असंतुष्ट थी।

५ सितम्बर, १९०५ को पोर्टस्माउथ संधि पर हस्ताक्षर हुए; इसके अनुसार–– (१) जापान के कोरिया में सर्वोपरि "राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक हित" स्वीकार कर लिये गये; (२) लिआओतुंग प्रायद्वीप में रूस के जो अधिकार थे वे जापान को हस्तांतरित कर दिये गये; (३) मंचूरिया रेलवे लाइन की दक्षिणी शाखा जापान को दे दी गयी; (४) ५० वें उत्तरी अक्षांश के दक्षिण में स्थित सखालीन का भाग जापान को प्राप्त हो गया; (५) यह स्वीकार कर लिया गया कि रूस व जापान मंचूरिया से अपने सैनिक हटा लेंगे, किन्तु रेलवे लाइन के रक्षक वहाँ रह सकेंगे; (६) "मंचूरिया में उद्योग व व्यवसाय के विकास के लिए चीन ऐसे जो भी कदम उठाये जो सभी देशों के लिए समान हों," उनमें रूस या जापान बाधा नहीं डालेंगे; और (७) लिआओतुंग प्रायद्वीप को छोड़ कर, मंचूरिया में रेलवे लाइनों का उपयोग केवल औद्योगिक व व्यावसायिक होगा, सामरिक नहीं।[१]

इस प्रकार युद्ध जापान के लिए दूसरी बड़ी सफलता के रूप में समाप्त हुआ और सुदूरपूर्व में उसकी स्थिति और मजबूत हुई। जापान सोलहवीं शताब्दी से एशियाई महाद्वीप पर जो अपने पैर जमाना चाहता था और एक दफा पैर जमाने के बाद भी पीछे खदेड़ दिया गया था, उसमें वह इस युद्ध के बाद सफल हो गया। और उसकी नीति का यह लक्ष्य पूरा हुआ। युद्ध आरम्भ होने के समय जापान के उत्तरदायी राजमर्मज्ञ जितने की आशा कर रहे थे उससे कहीं अधिक उसे युद्ध में प्राप्त हो गया था। एक सशक्त, आक्रामक शक्ति से अपने हितों के बचाव में जापान ने शस्त्र उठाये थे और उस शक्ति को खदेड़ कर बाहर कर दिया था; रूस को अब उत्तरी मंचूरिया में केवल पैर रखने भर की ठौर बची थी। युद्ध के पहले समझौते की बातचीत में और युद्ध के दौरान में एक सशक्त आधुनिक पश्चिमी देश की मैत्री से उसे जो बल मिला उससे उसने इस मैत्री-संधि का

लाभदायक पुनरीक्षण प्राप्त कर लिया था। वह कोरिया में रूस के आधिपत्य को रोकने के लिए संघर्षरत हुआ था और दूसरे प्रतिस्पर्धी को उसने इतनी सफलता के साथ हटा दिया था कि कोरिया की सुरक्षा की जिम्मेदारी उसके आतमसात् कर लेने की दिशा में केवल पहला कदम थी। जापान ने अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर ली थी और इस दृष्टि से जापान को इस युद्ध में आशातीत सफलता मिली थी। प्रश्न केवल यह शेष था कि जापान अपनी इस नयी स्थिति का उपयोग किस प्रकार करेगा।

नवाँ अध्याय

चीन में पूँजीगत साम्राज्यवाद

(१) चीन की विजय के ढंग

अन्य देशों व लोगों से पहले जब चीन संपर्क में आया तो अनेकानेक बार उसकी सैनिक हार हुई, किन्तु हर बार चीन अपने विजेता को अपने में आत्मसात् कर उसे जीत लेने में सफल हो जाता था। विजेता चीन की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक क्षेत्रों में प्रकट श्रेष्ठ संस्कृति को स्वीकार कर लेते थे; हारे हुए चीन की संस्कृति विजेता द्वारा स्वीकार होने के दो मुख्य कारण होते थे—एक तो हमलावर युद्ध-कौशल को छोड़ कर शेष अन्य सभी क्षेत्रों में चीन की तुलना में कम विकसित होते थे; और दूसरे, हमलावर स्वयं आकर चीनी साम्राज्य में बसते थे, जनता से जनता मिलती थी और अधिक विकसित लोगों की छाप कम सभ्य लोगों पर पड़ती थी।

आधुनिक युग में जिन्होंने चीन को जीता, उनके साधन बिलकुल भिन्न थे। यह सच है कि यूरोप जब पूर्व में बढ़ा तो या तो सेना उसके साथ ही थी या निकट पृष्ठभूमि में थी; किन्तु यूरोपीय लोग बड़ी संख्या में चीन नहीं आये और न उनकी सरकारों ने चीन की भूमि पर नियंत्रण करने या आधिपत्य जमाने का ही प्रयास किया। किन्तु सन् १९०० के बाद चीन पर वास्तविक विजय की गयी। नियंत्रण के उपकरण सेना की तुलना में कम मूर्त्त या गोचर थे और इसलिए अधिक कपटपूर्ण थे और अंततः, अधिक भयावह थे। चीनियों के लिए यह प्रक्रिया यूरोपीय पूँजी के अदृष्ट पंजों में धीरे-धीरे फँसते जाने के समान थी। मुक्का आंदोलन के बाद क्षतिपूर्ति व अन्य हरजानों की राशियों के लिए विदेशी तटकर शुल्क जमानत के रूप में बँध गया था; प्रान्तीय राजस्व दृष्टिबन्धक हो चुका था; विदेशी पूँजी से चीनी सरकार ने जो ऋण लिये थे उनकी अदायगी के लिए नमक कर का पुनस्संगठन कर उसे विदेशी प्रशासन में लिया जा चुका था; यातायात की धमनियाँ—रेलवे लाइनें—विदेशी धन से बनी थीं और उस धन की अदायगी की अवधि के लिए इन लाइनों पर न्यूनाधिक विदेशी नियंत्रण थे। चीन पर विदेशी पूँजी के बढ़ते हुए नियंत्रण के ये कुछ ऐसे ठोस और स्पष्ट दृष्टिगोचर उद्धरण थे जिनसे अंततः चीनी राज्य की प्रभुता समाप्त हो सकती थी।

इस अध्याय में पूँजी द्वारा नियंत्रण, अर्थात् पूँजीगत साम्राज्यवाद का संक्षिप्त वर्णन करना उपयुक्त होगा। अमरीका व यूरोपीय शक्तियों के चीन में आर्थिक हितों की जाँच के मुकाबले में इस विवेचना का क्षेत्र अधिक सीमित व निश्चित है। पूँजी-साम्राज्यवाद आर्थिक साम्राज्यवाद की प्रक्रिया का एक अंगमात्र है, किन्तु चीन में सन् १९१४ के पहले तक यह अंग राजनीतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

(२) चीन में प्रारम्भिक पश्चिमी दिलचस्पी

पहले ही कहा जा चुका है कि चीनी साम्राज्य के द्वार उन्मुक्त करने में पश्चिमी राष्ट्रों की प्रारम्भिक दिलचस्पी व्यावसायिक थी। मुख्य व्यापारिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन ने व्यावसायिक संपर्क के मार्ग की बाधाओं को ध्वस्त करने का नेतृत्व किया था। विदेशियों के लिए जो भी अधिकार व विशेष सुविधाओं की माँग की जाती थी वह नियमतः अधिक लाभदायक व्यापार की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर की जाती थी; ईसाई धर्म-प्रचारकों व उनके काम के लिए सुविधाओं की माँग सामान्यतः गौण होती थी। किसी विशिष्ट विदेशी शक्ति की दिलचस्पी कितनी व्यावसायिक व आर्थिक और कितनी राजनीतिक व क्षेत्रीय थी, इस पर उसकी माँगों का स्वरूप निर्धारित होता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के आसपास, चीनी साम्राज्य के विभिन्न भागों में विदेशी शक्तियों ने हितों व दिलचस्पियों के एकाधिकार माँगने व स्थापित करने शुरू किये; इन हितों को स्वरूप तो आर्थिक ही दिया गया, किन्तु मूलतः वे राजनीतिक ही थे। किन्तु संपर्क के आधुनिक युग में पूर्वीय देशों के संबंध में इन पश्चिमी शक्तियों की नीतियों के पीछे आर्थिक लाभ ही मुख्य उद्देश्य था। जैसा कि ओवरलाक ने लिखा है—"तो फिर, सबसे अधिक महत्त्व की बात यही है कि, संपर्क, सीमा-शुल्क, राज्यक्षेत्रातीतता, दिलचस्पी के क्षेत्र, रेलवे लाइनें बिछाने के लिए रिआयतें व नियंत्रण—इन सबके लिए समझौतों व संधियों की शर्तों का मूल उद्देश्य चीनी जनता की भलाई नहीं, पश्चिमी देशों की व्यापारिक सुविधाएँ व आर्थिक लाभ ही था।"[1]

यह कहना बहुत कठिन है कि संपर्क की इन निर्धारित शर्तों के कारण ही या मुख्यतः उन्हीं के कारण यूरोप द्वारा माँगे गये व्यापार का विकास हुआ; हाँ, संधियों द्वारा नये बन्दरगाहों द्वारा चीन देश में प्रवेश करने और स्थानीय जनता के विरोध के बावजूद व्यापार की सुविधा व सुरक्षा प्राप्त करने से इस व्यवसाय की संभावनाएँ अवश्य बढ़ीं। किन्तु, कुछ भी हो, टींटसीन संधियों के बाद, चीन के विदेशी नियंत्रण की आशंका बढ़ाये बिना, विदेशी व्यापार बहुत अधिक बढ़ा। सन् १८६७ में कुल आयात ६,९३,२९,७४१ ताएल के हुए थे, वही आयात सन् १९०५ में बढ़कर, ४४,७१,००,७९१ ताएल के हो

गये थे। निर्यात की प्रगति धीमी अवश्य थी, किन्तु तब भी उसकी मात्रा में भी पर्याप्त वृद्धि हुई थी; सन् १८६७ में चीन से कुल निर्यात ५, ७८,९५, ७१३ ताएल के थे जो सन् १९०५ में बढ़कर २२,७८,८८,१९७ ताएल के हो गये थे।[२] आयात में विदेशी मिलों में बने सामान की खपत अधिक बढ़ी थी। जब चीन से व्यापार के लिए प्रारम्भिक संधियाँ हुई थीं तो अफीम के आयात के कारण ही व्यापार-संतुलन चीन के विरुद्ध हुआ था। सन् १८६७ में अफीम का आयात कुल आयात का ४६ प्रतिशत था, सन् १९०५ में यह प्रतिशत गिर कर साढ़े सात रह गया था। कुल जितनी अफीम चीन में विदेशों से आती थी उसकी मात्रा में बहुत थोड़ी ही कमी हुई थी और यह कमी भी देश के भीतर ही अफीम की उपज काफी बढ़ जाने के कारण हुई थी, विदेशी व्यापारियों में नैतिकता के विकास के कारण नहीं। किन्तु देखा यह गया था कि अफीम की रफ्तनी से चीनी जनता की क्रयशक्ति काफी हद तक चुक जाती थी और अन्य सामान के आयात की मात्रा नहीं बढ़ पाती थी। सन् १८६७ से सन् १९०५ के बीच आयात का जो विकास हुआ था उसमें सूती कपड़ा व सूत का आयात २१ से बढ़कर ४० प्रतिशत हो गया था, धातुओं का २ से बढ़कर १० प्रतिशत हो गया था, विविध वस्तुओं का २० से बढ़कर ४० प्रतिशत हो गया था, किन्तु, ऊनी वस्त्रों का आयात १० से गिरकर केवल एक प्रतिशत रह गया था। निर्यात में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुए थे, यद्यपि वे इतने बड़े नहीं थे। इसी अवधि में चाय का निर्यात ५९ प्रतिशत से गिरकर ११ प्रतिशत हो गया था, रेशम व उसके सामान का प्रतिशत ३४ से गिरकर ३१ हो गया था तथा विविध सामान का प्रतिशत ७ से बढ़कर ५८ हो गया था। सन् १९०५ में चीन ने निर्यात की तुलना में २१ करोड़ ९० लाख ताएल से अधिक राशि का अधिक आयात किया था; इसका कारण यह था कि पश्चिम में बने माल की चीन में खपत बढ़ गयी थी, किन्तु चीन में बने सामान की खपत पश्चिम में इतनी नहीं बढ़ी थी। भारत, जापान व श्रीलंका भी चाय के बाजार में प्रतियोगी बन चुके थे जिससे चीनी चाय की खपत कम हो गयी थी; जापान व यूरोप में रेशम के विकास से चीनी रेशम की बिक्री पर बुरा असर पड़ा था; विविध वस्तुओं में निर्यात के लिए कुछ नयी चीजें शामिल अवश्य हो गयी थीं, किन्तु उनकी माँग बहुत अधिक नहीं थी और आयात-निर्यात संतुलन लगातार चीन के विरुद्ध ही था।

इस अवधि में विदेशी शक्तियों का मुख्य उद्देश्य व्यापार रहने के कारण नीति-निर्धारण में व्यापारियों का काफी हाथ रहता था। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन व अमरीका के चीन स्थित व्यापारी लगातार अपनी-अपनी सरकारों पर और अधिक तेजी से बढ़ने के लिए दबाव डालते रहते थे। किन्तु नीतिनिर्धारण पर प्रभाव होते हुए भी व्यापारी उसका नियंत्रण नहीं करते थे और न व्यापार केवल राजनीतिक उद्देश्यों से ही बढ़ाया व

विकसित किया जाता था। किन्तु अन्य क्षेत्रों की भाँति चीन में भी, राजनयिक प्रतिनिधि कानूनी व राजनीतिक उद्देश्यों की तुलना में धीरे-धीरे आर्थिक महत्त्व के दावे करने में अधिक व्यस्त होते गये थे। और जैसे-जैसे, विशेषकर सन् १८९५ के बाद, आर्थिक व पूँजी लगाने के हितों का विकास होता गया, पूँजी व राजनय का गठबन्धन होता गया जिसमें कभी पूँजी वरीयता पा जाती थी और कभी राजनय। चीन में विदेशी पूँजी हितों के विकास के अध्ययन से पूर्व इस तथ्य की विवेचना आवश्यक है कि राजनय और पूँजी के संबंधों का मूल स्वभाव क्या था और तर्कसंगति कितनी थी।

(३) पूँजी व राजनय के संबंध

दो राज्यों के बीच मैत्री व आपसी समझ के संबंध कायम रखने और एक देश के वैध हितों को दूसरे देश में बढ़ाने की कला को ही सच्ची राजनयिकता कहते हैं। यदि मैत्री कायम रखनी है और आपसी समझ को बढ़ाना है तो इन हितों के विकास में उचित व अवैधानिक हितों में अंतर करना बड़ा आवश्यक होता है। उचित हित वही समझा जाता है जिससे दोनों देशों का लाभ हो।

आपसी लेन-देन के अन्योन्य आधार पर विकसित व्यापार वैध और आवश्यक होता है और राजनयिक प्रतिनिधियों के लिए संबंधों के इस विकास के लाभ प्रदर्शित कर क्रय-विक्रय के अधिकार प्राप्त करना आवश्यक कर्त्तव्य होता है। इन प्रतिनिधियों को दूसरों के पक्ष में बरते जा रहे भेदभाव से अपने व्यापार-हितों की रक्षा सावधानी के साथ करनी होती है। फिर, चीन-जैसे देश को अपने विकास के लिए विदेशी पूँजी की आवश्यकता होती है और विदेशी प्रतिनिधियों का यह कर्त्तव्य होता है कि वे पूँजी लागत में समता के आधार पर अपने-अपने देशों की पूँजी लगवायें और जहाँ तक संभव हो, अपने देश के पूँजी लगाने वालों के हितों की पूर्ण सुरक्षा प्राप्त करें।

किन्तु जब राजनयिक प्रतिनिधि चीन-जैसे राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश की सरकार पर किसी एक देश के नागरिकों के लिए पूँजी लगाने या व्यापार की इजारेदारी प्राप्त करने के लिए दबाव डालने लगते हैं, या व्यापार की ऐसी शर्तें स्वीकार करवाने के लिए दबाव डालते हैं जो उस पिछड़े हुए देश के हित में बिलकुल न हों, या, पिछड़े हुए देश को उन शर्तों पर ऋण लेने को बाध्य करते हैं जो अन्य देशों से मिल सकने वाले ऋणों की शर्तों की तुलना में उस देश के लिए कम हितकर हों, तब, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे राजनीतिक प्रतिनिधि अपनी सही स्थिति से आगे बढ़ रहे हैं। ऐसी कारवारियों से अंततः किसी भी देश का हित साधन नहीं होता।

इसके अतिरिक्त, जब राजनयिक प्रतिनिधि ऐसी विशेष सुविधाओं के प्राप्त करने में

अनुयायी हों जिनके लिए व्यापारियों या विशेषकर पूँजी लगानेवालों ने अनुरोध नहीं किया हो तब यही समझना तर्कसंगत होगा कि इस काररवाई के पीछे विशुद्ध आर्थिक नहीं, राजनीतिक उद्देश्य है।[3] दूसरे शब्दों में, जब व्यवसाय व राजनय में उचित संबंध स्थापित होते हैं तब राजनय को व्यवसाय के वैध हितों का ही विकास करना चाहिए, अपने लक्ष्य साधन के लिए नये व्यावसायिक हितों को पैदा नहीं करना चाहिए।

यदि यह दृष्टिकोण सही है तो पीकिंग में प्रतिनिधित्व प्राप्त अनेक शक्तियों की राजनयिक कार्यवाहियों में, तथा चीन में उनके व्यापारिक व पूंजी हितों में, या उनके देशों के व्यापारियों व पूँजी लगाने वालों के अपनी-अपनी सरकारों पर व्यावसायिक व पूँजी योजनाओं में सहायता देने के दबाव में, संतुलन होना चाहिए था। इस संतुलन के अभाव में यह मानना ही उचित होगा कि राजनयिक काररवाइयों का असली उद्देश्य राजनीतिक था।

सन् १९०५ के पहले चीनी साम्राज्य के साथ होनेवाले रूस को छोड़ कर शेष यूरोपीय देशों के व्यापार का अलग-अलग हिसाब नहीं रखा जाता था। सीमा-शुल्क विभाग के प्रतिवेदनों में उन्हे सामूहिक रूप से व्यापारिक इकाई मान लिया जाता था। सन् १९०० में सबसे अधिक व्यापार करनेवाला देश था ब्रिटेन। आयात व निर्यात, दोनों दृष्टियों से जापान का नम्बर दूसरा था और अमरीका का तीसरा। रूस के व्यापार का आयतन अमरीकी व्यापार का आधा था और फ्रांस व जर्मनी व यूरोप के अन्य देशों का व्यापार सामूहिक रूप से अमरीका के कुल व्यापार से कुछ ही अधिक था। सन् १८९६ में इन राज्यों का व्यापार और भी कम था; सन् १८९६ से सन् १९०० के बीच के चार वर्षों में हुई काररवाइयों के फलस्वरूप इस व्यापार में कुछ वृद्धि हुई थी।

किन्तु जब राजनयिक कार्यवाहियों पर दृष्टि जाती है, वहाँ बिलकुल भिन्न स्थिति प्रकट होती है। पीकिंग में सबसे अधिक सक्रिय सहायता रूस और फ्रांस से प्राप्त होती थी। चीन सरकार से दावे करने में सबसे कम सक्रिय था अमरीका। इन वर्षों में सन् १९०० के फौरन बाद की अवधि में चीन पर जो दबाव पड़े उनका मुख्य लक्षण व्यापार-संबंधों के विकास की इच्छा नहीं था। संभवतः इसका कारण यह था कि व्यापार के विकास से राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति इतनी तेजी से नहीं हो सकती थी। अतएव, विभिन्न देशों की स्थिति व नीतियाँ समझने के लिए पूंजी की ओर दृष्टिपात करना होगा।

इसके अतिरिक्त, अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति की सही समझ के लिए पूंजी व राजनय के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन के समय यह भी देखना होगा कि पूंजी राजनय का उपयोग करती थी या राजनय पूँजी का। चीन-जैसे देशों में बहुधा पूंजी लगाने के लिए राजनयिक दबाव का उपयोग हुआ है। इस पूंजी लागत को बाद में इसकी रक्षा के लिए कदम उठाने

का बहाना बनाया गया है। इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप कुछ नयी विशेष सुविधाएँ व अधिकार प्राप्त किये गये हैं, और यह देखे बिना कि इन सुविधाओं का उपयोग भी हो पाया है या नहीं, नये हस्तक्षेप की बुनियादें डाल दी गयी हैं। कभी-कभी इस हस्तक्षेप के फलस्वरूप पूँजी व संरक्षणात्मक सेवाओं के राजनीतिक निरीक्षण के अधिकार भी थोड़ी-बहुत मात्रा में प्राप्त हो गये हैं। दूसरे शब्दों में, किसी पिछड़े देश में प्रत्यक्षतः शांतिमय प्रतीत होनेवाले आर्थिक प्रवेश के असली उद्देश्य आर्थिक न होकर हमेशा ही राजनीतिक रहे हैं। और जहां ऐसी कारवाइयों की प्रेरणा पूँजी से न आकर सरकार से आयी है, वहाँ राजनीतिक उद्देश्य की संभावना और भी अधिक रही है।

(४) चीन की वित्तीय समस्याओं की विशेषताएँ

चीन की वित्तीय समस्या की कुछ विशेषताएँ थीं। एक तो काफी समय से चीन अपने विकास और क्षतिपूर्ति की अदायगियों के कारण बढ़ते हुए खर्च को पूरा करने के लिए लगभग पूर्णतः विदेशी पूँजी पर निर्भर था। विकास के लिए देश में धन मिलना कठिन था, इसलिए नहीं कि देश में पूँजी नहीं थी, बल्कि इसलिए कि लोगों को रेलवे लाइनें बनाने व खानों के उपयोग करने में सरकार की क्षमता में विश्वास नहीं था; और इन्हीं दो क्षेत्रों में काफी धन लगता था। मिश्रित पूँजी कंपनियों के ऐसे संगठनों के संबंध में ज्ञान और विश्वास भी कम था जो काफी बड़ी पूँजी लोगों के हाथ में केन्द्रित कर सकती थीं। सरकार के बढ़ते हुए खर्च को पूरा करने के लिए बस सरकार की बँधी हुई राजस्व व्यवस्था की बँधी हुई आय थी और इस राजस्व के अतीत की परंपरा और परिपाटी पर आधारित होने के कारण उसके आसानी से बदले जाने की भी संभावना नहीं थी। भूमि-कर या नमक उत्पादन पर लगने वाले शुल्क से आय तभी बढ़ सकती थी जब उनकी दरें बढ़ा दी जातीं और दर बढ़ाते ही जनता के गंभीर प्रतिरोध का सामना करना पड़ता। इसके अतिरिक्त, जहाँ अन्य देशों के लिए विदेशी माल पर लगने वाला सीमा-शुल्क आय का मुख्य लचीला साधन होता है, चीन, इस शुल्क की दरें संधियों द्वारा निश्चित होने के कारण अपनी नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ये दरें बढ़ाने में असमर्थ था और ये दरें बढ़ाने में वह सन् १९३० के बाद ही समर्थ हुआ। तात्कालिक करों की वसूली व्यवस्था के पुनस्संगठन से भी आय बढ़ाना असंभव था क्योंकि रिश्वत के अवसर देखते हुए अधिकारी इसमें सहयोग नहीं करते थे। फलतः, प्रति व्यक्ति कर-भार अपेक्षया कम होते हुए भी चीनी साम्राज्य को अपनी सरकार की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी पूँजी का सहारा लेना पड़ता था और रेलवे निर्माण-जैसी बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं में विदेशी वित्तीय सहायता की अपेक्षा रहती थी।

दूसरे, चीन के देयों को सावधानी से जाँचने पर यह बात आसानी से समझ में आती थी कि विदेशी पूंजी और राजनय के घनिष्ठ संबंधों के कारण विश्वयुद्ध से पहले चीन के निर्जीव सरकारी देयों में अंतर करना लगभग असंभव था।[४]

तीसरे, विशेष राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाएँ चीन की आर्थिक सहायता करने व उससे रिआयतें प्राप्त करने के लिए अपनी-अपनी सरकारों की सहायता लेती थीं।

इस प्रकार, जापान ने जो भी ऋण दिये वे लगभग सभी योकोहामा सोना-चाँदी बैंक... और ताइवान बैंक, चोजन बैंक व जापान के औद्योगिक बैंक के अभिषद द्वारा दिये गय थे......हांगकांग व शंघाई बैंकिंग निगम और जारडीन मैथेसन कम्पनी के व्यापारिक फर्म द्वारा ब्रिटेन के पूंजी हित लागू हुए थे। जर्मनी के वित्तीय हितों की देखभाल ड्यूट्श-एशियाटिश बैंक करता था। रूसी पूंजी हितों ने बैंक रशो-एशियाटिक को, जो पहले बैंक रशो-चिनोइज कहलाता था, अपना काम सौंप रखा था। बैंक द इण्डो-चीन व उसके साथ क्रेडिट लिओनेज़ कौम्पटौयर नेशनल ड' एस कोम्पटे द पेरिस व अन्य बैंकों के द्वारा फ्रांस अपना लेन-देन करता था। बेल्जियम सोसायटी बेल्ज द' एटूड्स द चेमिंस फर एन चीन के द्वारा काम करता था। अमरीकी हित अधिकांशतः एक बैंक समूह का उपयोग करते थे जिसे जे० पी० मॉर्गन एण्ड कम्पनी, कुह्न, लोएब एण्ड कंपनी, फर्स्ट नेशनल बैंक आव न्यूयार्क व न्यूयार्क के नेशनल सिटी बैंक ने स्थापित किया था। अमरीकी धनपति इण्टरनेशनल बैंकिंग कार्पोरेशन व ली हिगिनसन एण्ड कम्पनी का भी उपयोग करते थे।[५]

इस प्रकार, उत्तरदायी पूंजी संस्थाएँ बहुधा चीन में पूंजी लगाने में असमर्थ रही हैं[६] क्योंकि उन्हें अपनी-अपनी सरकारों की सहायता व समर्थन प्राप्त नहीं था और इस सरकारी सहायता का एकाधिकार अन्य संस्थाओं या संस्था समूहों को प्राप्त रहा है। इसका प्रभाव यह हुआ कि चीन संसार के पूंजी बाजार से सुविधाजनक शर्तों पर पूंजी व ऋण भी नहीं प्राप्त कर सका।

(५) विदेशों की पूँजी लगाने की काररवाइयाँ (१८९५-१९०८)

सन् १८९५ के बाद चीन में पूँजी लगाने और चीन सरकार को ऋण देने के लिए विदेशी शक्तियों ने जो कदम उठाये, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। सन् १८९५ से सन् १९०८ तक विभिन्न देश पूँजी लगाने में एक-दूसरे से होड़ लगाये रहे; सन् १९०८ के बाद इन देशों ने अबाध प्रतियोगिता के खतरों को धीरे-धीरे समझना शुरू किया और चीन के आर्थिक व पूँजीगत शोषण व उसके विकास में धन लगाने में एक-दूसरे से सहयोग करने का मार्ग अपनाना शुरू किया।

जापान से युद्ध के पहले चीन पर विदेशी ऋणों की मात्रा नगण्य थी। किन्तु इस युद्ध के फलस्वरूप चीन को २३ करोड़ ताएल की क्षति-पूर्ति की राशि देनी पड़ी। जिस तरह लिआओतुंग प्रायद्वीप के संबंध में हुआ था, रूस ने तत्काल आगे बढ़कर चीन सरकार को क्षतिपूर्ति की पहली किस्त अदा करने के लिए ऋण देने का प्रस्ताव किया। यद्यपि ४० करोड़ फ्रांक का यह ऋण रूस व फ्रांस ने मिल कर दिया था, लगभग पूरी-की-पूरी राशि फ्रांस में ही इकट्ठा की गयी थी। इस राशि के लिए रूस सरकार ने गारण्टी दी थी और चीन के समुद्री सीमा-शुल्क की आय इसके लिए बंधक रखी गयी थी। रूस के पास कर्ज देने के लिए धन नहीं था, किन्तु पीकिंग में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उसने इसके लिए गारण्टी ले ली थी।

क्षतिपूर्ति की दूसरी किस्त की अदायगी के समय ब्रिटेन ने तत्काल चीन पर दवाव डाला कि इस बार १ करोड़ ६० लाख पौंड का ऋण ब्रिटेन से लिया जाय।[७] यह ऋण ब्रिटेन व जर्मनी ने मिल कर दिया और जर्मनी व ब्रिटेन के चीनी आर्थिक मसलों में सहयोग का यहाँ प्रारम्भ हुआ। सन् १८९८ में जब क्षतिपूर्ति की किस्त देने का समय आया अंग्रेज व जर्मनी के धनपतियों को रूसी व फ्रांसीसी महाजनों से प्रतियोगिता करनी पड़ी; दोनों गुट चीन सरकार पर अपना-अपना कर्ज स्वीकार कराने के लिए दावे करते रहे। ब्रिटिश दूतावास के कड़े दवाव में आकर चीन ने अंततः जर्मनी व ब्रिटेन का कर्ज स्वीकार कर लिया, यद्यपि रूस की कर्ज की शर्तें चीन के अधिक अनुकूल थीं। किन्तु इस कर्ज के लिए किसी सरकारी गारण्टी की आवश्यकता नहीं पड़ी थी और इस दृष्टि से यह कर्ज रूसी कर्ज के मुकाबले में अधिक 'वित्तीय' दृष्टिकोण से प्रभावित था। तब भी, जापान से युद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों से चीन के मुक्त होने में अंग्रेज धनपतियों की सहायता के अधिकार का दावा करने के पीछे ब्रिटेन का उद्देश्य यह तो था ही कि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोका जाय। यह पहले ही कहा जा चुका है कि सन् १८९८ व उसके बाद आर्थिक विशेषाधिकारों के लिए आपाधापी के समय इन दोनों गुटों ने अपनी उदारता के लिए खूब इनाम पाये थे।

मुक्केवाजों के उपद्रव की असफलता के बाद चीन पर दूसरा बड़ा कर्ज लादा गया था, ४५ करोड़ ताएल का। इस देय की सुरक्षा के लिए समुद्री सीमा-शुल्क के शेष भाग को, जो तटकर दरों को बढ़ाकर प्रभावी पाँच प्रतिशत किया जा चुका था, बन्धक रखा गया, मुक्त बन्दरगाहों पर चीनी सीमा-शुल्क-सेवा जो देशी तटकर वसूल करती थी उसकी आय बंधक हुई तथा नमक-कर की आय बन्धक हुई। समुद्री सीमाशुल्क को कर्ज लेने की प्रारम्भिक स्थिति में ही बन्धक रख लेने का कारण यह था कि इसकी वसूली की व्यवस्था विदेशी निरीक्षण में थी और इस सेवा की क्षमता काफी थी।

इसके उपरान्त चीन सन् १९११ तक सरकारी खर्च के लिए उधार लेने के लिए बाध्य नहीं हुआ। किन्तु उस वर्ष के अपूर्ण मुद्रा विनिमय ऋण तथा सन् १९१३ के पुनस्संगठन ऋण के उपरान्त (पुनस्संगठन सन् १९११ की क्रांति के बाद शुरू हुआ था) सरकार प्रशासकीय व्यय के लिए विदेशी सहायता पर अधिकाधिक निर्भर करने लगी। किन्तु इन ऋणों पर आगे विचार किया जायगा क्योंकि ये अंतरराष्ट्रीय सहयोग के दूसरे युग में लिये गये थे।

यद्यपि सरकार द्वारा लिये गये ऋणों का महत्त्व था, विदेशी पूँजी लगाने का मुख्य माध्यम रेलवे लाइनें डालने के लिए रिआयतें प्राप्त कर उनका उपयोग करने में निहित था। विदेशी शक्तियाँ रेलवे लाइनों के निर्माण द्वारा ही देश के भीतर प्रभावकारी ढंग से प्रवेश कर वहाँ अपने-अपने दिलचस्पी के क्षेत्र विकसित करने की आशा करती थीं; और विभिन्न ऋण-संबंधी समझौतों में नियंत्रण की जो धाराएँ थीं उन्हीं से अनेक यूरोपीय राष्ट्रों की नीति और उद्देश्य स्पष्ट रूप से प्रकट होते थे। जहाँ किसी देश के हित विशुद्ध आर्थिक या वित्तीय थे, रेलवे संबंधी समझौतों में नियंत्रण की धाराएँ इसी प्रकार रखी गयी थीं कि लेनदारों के हितों की सुरक्षा हो सके। किन्तु जहाँ उद्देश्य अंशतः या पूर्णतः राजनीतिक थे, वहाँ इन धाराओं के द्वारा व्यापक नियंत्रणों की माँग की जाती थी। इन दोनों वर्गों की नियंत्रण धाराएँ पाँच थीं—मार्ग निर्माण का निरीक्षण, सामान की खरीद में किसी राष्ट्र की प्राथमिकता, खर्च की लेखा-परीक्षा व अन्य निरीक्षण, ऋण की अदायगी की अवधि में रेलें चलाने के अधिकार तथा रेलवे क्षेत्र का प्रशासन और वहाँ के पुलिस अधिकार। कहीं-कहीं पर इन शर्तों के अतिरिक्त ऋण की अदायगी के लिए स्वयं रेलवे लाइनें ही बन्धक रख दी गयी थीं। दूसरी जगहों पर ऋण की सुरक्षा के लिए चीन सरकार गारण्टी दे देती थी और राजस्व के किसी अंग को ऋण व उसके व्याज की अदायगी के लिए सुरक्षित कर देती थी।

राजनीतिक या सामरिक उद्देश्यों से रेलवे लाइनों के नियंत्रण की जहाँ व्यवस्था थी, उनके उदाहरण थे मंचूरिया में रूसी व जापानी लाइनें, शानतुंग प्रान्त में जर्मनी की त्सिंगताओ—त्सिनानफू लाइन तथा क्वांगसी व युन्नान प्रान्तों में फ्रांसीसी लाइनें। इन लाइनों के समझौतों में ऊपर लिखी पाँचों शर्तें थीं। इन लाइनों का निर्माण विदेशी सरकारों द्वारा हुआ था और बनने के बाद कई वर्षों तक उन्हें विदेशी सरकारों के नियंत्रण में चलाया भी गया। चीन सरकार के नियंत्रण में नहीं। इन समझौतों से यही निष्कर्ष निकलता है कि विदेशी सरकारें अपनी राष्ट्रीय पूँजी के हित में नहीं, स्वयं अपने हित में ऋण देती थीं। दूसरे शब्दों में, ये ऋण न तो इसलिए दिये गये थे कि वे पूँजी लगाने के लाभकर साधन थे, न इन रेलवे लाइनों का निर्माण इसलिए हुआ था कि इनमें लगनेवाले सामान

की बिक्री से लाभ था और न इस दृष्टि से ही उन्हें बिछाया गया था कि उन्हें चलाने से लाभ होगा। कुछ लाइनों के संबंध में तो स्पष्ट था कि आगे आने वाले अनेक वर्षों तक भी वे आर्थिक रूप से लाभदायक न होंगी; रेलों के किराये-भाड़े भी लाभ की दृष्टि से निश्चित नहीं किये गये थे, किन्तु राजनीतिक कारणों से निश्चित किये गये थे।[८] इसके अतिरिक्त, ये सरकारें, इन विशिष्ट सुविधाओं के अतिरिक्त, लगातार अपने-अपने क्षेत्रों में सामान्य-निर्माण की इजारेदारी लेने की भी कोशिश करती रहती थीं, ताकि वहाँ के विकास की दिशा का नियंत्रण कर सकें। फलतः, चीन अनेक वर्षों तक यातायात के अपने साधनों के राष्ट्रीय विकास में बड़ी बाधाओं का सामना करता रहा।

जिन रेलवे लाइनों की नियंत्रण शर्तें मुख्यतः पूँजी लगाने वालों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से तय की गयी थीं—फिर वे चाहे जितनी भी व्यापक क्यों न रही हों—उनके उदाहरण-स्वरूप पीकिंग-मुकडेन, शंघाई-नानकिंग व पीकिंग-हैनकाउ रेलवे लाइनों के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से हर एक लाइन के कर्ज की सुरक्षा के लिए रेलवे की संपत्ति ही स्वीकार कर ली गयी थी ताकि ऋण की अदायगी न होने पर रेलें लेकर उन्हें हिस्सेदारों के हित में चलाया जा सके। रूसी, जापानी व जर्मनी की लाइनों व इन लाइनों में अंतर यह था कि इन लाइनों के निर्माण व निरीक्षण का काम स्वतंत्र निगमों के हाथों में था जो सीधे विदेशी सरकारी नियंत्रण में नहीं थे और समझौतों के अधीन जिन्हें यह अधिकार नहीं मिला था कि रेलें चलाने की नीति बदल कर उन्हें अव्यावसायिक ढंग से चलाने लगें। और ये रेलें चीन सरकार की संपत्ति थीं, विदेशी सरकारों की नहीं।

रेलवे लाइनों के निर्माण का बुनियादी काम सन् १८९८ व सन् १९०० के बीच ही हुआ था और उस समय जो रिआयतें प्राप्त की गयी थीं वे विभिन्न राष्ट्रों ने सामान्यतः अपने-अपने दिलचस्पी के क्षेत्रों में ही की थीं। फलतः उनसे चीन के क्षेत्रों में विभाजित होने को ही बल मिला था। हर देश अपने-अपने क्षेत्र में अपने पैर मजबूती से जमाने की कोशिश कर रहा था, या तो चीन सरकार पर यह दबाव डाल कर कि किसी अन्य देश को उस क्षेत्र में रिआयतें व सुविधाएँ न दी जायँ, या अन्य देशों से ही इस संबंध में समझौते करके। एक ओर ब्रिटेन व दूसरी ओर रूस, फ्रांस व जर्मनी ने विभिन्न क्षेत्रों में एक दूसरे के अधिकारों की वरीयता स्वीकार करने का समझौता किया था;[९] किन्तु सामान्यतः, ब्रिटेन व जर्मनी ने तो इस समझौते का पालन किया, रूस ने बेल्जियम की पूँजी लेकर ब्रिटेन के हित-क्षेत्र में घुसने की कोशिश की और फ्रांस ने दक्षिण से यांग्त्सी प्रान्तों में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास किया।

इस अवधि में अमरीका ने चीन में एक रेलवे प्रणाली के निर्माण की रिआयत प्राप्त की थी, किन्तु वहाँ के धनपति इस रिआयत का उपयोग करने में असफल रहे। अमरीकी

सीनेट सदस्य ब्राइस के नेतृत्व में एक आंग्ल-अमरीकी अभिषद द्वारा पीकिंग से हैनकाउ तक मार्ग बनाने के लिए बेल्जियम से होड़ की गयी। जब चीन ने यह रिआयत बेल्जियम को दे दी तभी उसने अमरीका को भी हैनकाउ से दक्षिण में कैण्टन तक मार्ग बनाने की छूट दे दी। समझा गया था कि इससे चीन का मुख्य उत्तर-दक्षिण मार्ग बिना किसी एक देश का हित बढ़े तैयार हो जायगा। इस समझौते में स्पष्ट व्यवस्था थी कि इस मार्ग का नियंत्रण अमरीका के हाथों में ही रहेगा और किसी अन्य देश को उसमें प्रवेश निषेध होगा, किन्तु, बेल्जियम के लोगों ने इस योजना के हिस्से खुले बाजार में खरीद लिये। सन् १९०३ में यह रिआयत खत्म कर दी गयी, यद्यपि तब तक जे० पी० मॉर्गन कम्पनी ने योजना का पूर्ण नियंत्रण फिर प्राप्त कर लिया था।

अपनी इस असफलता के बाद अमरीका ने मंचूरिया में दिलचस्पी लेनी शुरू की, जो रूसी-जापानी युद्ध के बाद भी अंतरराष्ट्रीय दिलचस्पी व हलचलों का केन्द्र बना हुआ था।

रूस से युद्ध समाप्त होने के बाद जापान के राजमर्मज्ञ मंचूरिया के संबंध में अपनी भविष्य की नीति के बारे में अनिश्चित थे। अमरीकी रेलवे लाइन निर्माता हैरिमैन ने जापान सरकार से यह समझौता कर लिया कि दक्षिणी मंचूरिया की रेलवे उन्हें पट्टे पर दे दी जायगी और उसे संसार के चारों ओर चलने वाली रेलवे-प्रणाली के रूप में चलाया जायगा। यह ईटो-हैरिमैन समझौता बाद में खत्म कर दिया गया; जापान के मुख्य प्रतिनिधि कोमूरा जब पोर्टस्माउथ से वापस लौटे तो उन्होंने जापान के मंचूरिया से तनिक भी पीछे हटने का सख्त विरोध किया; इस बढ़ते हुए विरोध के फलस्वरूप समझौता यह कह कर खत्म कर दिया गया कि रूस द्वारा हस्तांतरण की चीन द्वारा स्वीकृति हुए बिना रेलवे लाइन जापान की संपत्ति ही नहीं बन सकेगी।

अब जापान ने अपने अधिकार में आये क्षेत्रों का योजना-बद्ध विकास शुरू किया। सबसे पहले उसने चीन सरकार से बात चलायी कि रूसी हितों व अधिकारों के जापान को हस्तांतरण को वह स्वीकार कर ले। २२ दिसम्बर १९०५ की पीकिंग में हुई कोमूरा संधि में यह बात स्वीकार कर ली गयी। किन्तु, इस पीकिंग सम्मेलन की अप्रकाशित काररवाई में यह लिखा था कि दक्षिणी मंचूरिया रेलवे की प्रतियोगिता में या उसके समानान्तर दूसरी लाइन बनाने की कोई सुविधा या अधिकार चीन सरकार किसी अन्य देश को नहीं देगी। इस गुप्त संधि की बाद में हुई व्याख्या के अनुसार दक्षिणी कोरिया में रेलवे निर्माण के लिए कोई भी गैर-जापानी विदेशी पूँजी आ ही नहीं सकती थी और इस प्रकार इस क्षेत्र में जापान की इजारेदारी थी। इसके अतिरिक्त, रेलवे यातायात के इस नियंत्रण की सहायता से जापान ने मंचूरिया में अपने व्यापारिक हित इस प्रकार बढ़ाने शुरू किये कि उनसे अन्य विदेशियों के हितों पर आघात होने लगा। कुछ समय के लिए, डैरन के

व्यापारिक बन्दरगाह को जापान के जहाजों व सामानों के अतिरिक्त शेष सभी के लिए बन्द कर दिया गया। जापानी नियंत्रण के रेल गाड़ियों से जापानी माल डैरन से देश के भीतरी भागों में ले जाया जाता था, यद्यपि उस समय रेल गाड़ियों का एकमात्र उपयोग सेनाओं को हटाने व अन्य फौजी कामों के लिए ही बताया गया था। इस प्रकार जापान चाहता था कि विदेशी प्रतियोगियों के आने के पहले जापान वहाँ अपना बाजार जमा ले। इसके अतिरिक्त, रेलवे लाइन पर जापानी माल को भाड़े में रिआयत मिलती थी; जापान ने यह भी माँग की कि चीन अपने उपभोक्ता-कर जापानी माल पर न लगाये; सामान्यतः, जापान ने वे ही अनेक काम करने शुरू कर दिये जिनका उसने पहले इस आधार पर विरोध किया था कि ये 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त के विरुद्ध हैं; जापान ने युद्ध से पहले मंचूरिया में रूस और शानतुंग में जर्मनी की काररवाइयों का इसी आधार पर विरोध किया था। प्रशासकीय क्षेत्र में जापान ने रेलवे क्षेत्र के बाहर चीनी स्थिति पर लगातार नोच-खसोट को सक्षम प्रशासन से संतुलित रखा और रेलवे क्षेत्र में चीन के संदर्भ में तो वह सर्वोच्च बन ही बैठा था।

मंचूरिया में अपनी स्थिति व अधिकारों का जापान ने जिस ढंग से उपयोग किया उससे कुछ चीनी अधिकारियों ने यह सोचा कि चीन की सर्वोच्च सत्ता प्रमाणित करने के लिए बड़ी दीवार के उत्तर में कुछ गैरजापानी पूँजी लगवा दी जाय। अतएव, सन् १९०७ में मंचूरिया के वाइसराय और मुकडेन स्थित अमरीकी वाणिज्यदूत विलर्ड स्ट्रेट के बीच अमरीकी पूँजी से मंचूरिया बैंक स्थापित करने का समझौता हुआ। इस बैंक को मंचूरिया सरकार के वित्तीय एजेण्ट के रूप में काम करना था और रेलवे लाइनों के निर्माण के लिए पूँजी में साझेदारी करनी थी। किन्तु उसी वर्ष अमरीका में घबराहट फैलने के कारण सरकार ने इस समझौते पर विचार भी नहीं किया। उसी वर्ष, कुछ अंग्रेज पूँजीपतियों ने ह्सिन मिनटुन से फाकूमेन तक रेलवे लाइन डालने के लिए चीन सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली। जापान ने तत्काल इसका विरोध किया और कहा कि यह कोमूरा संधि की शर्तों के विपरीत है। जापान के सक्रिय विरोध के समक्ष ब्रिटेन का दूतावास अपने नागरिकों के बड़ी दीवार के उत्तर में हित-निर्माण की रक्षा करने को तैयार नहीं था और यह योजना भी नहीं चली। किन्तु सन् १९०८ में फिर चिनचाओ से आइगुन तक रेलवे लाइन डालने के लिए चीन सरकार व आंग्ल-अमरीकी पूँजीपतियों के बीच बातचीत चली। टैफ्ट के अमरीकी राष्ट्रपति बनने के बाद वहाँ की सरकार ने इस योजना की ओर ध्यान दिया और हुकुआंग रेलवे योजना में अमरीकी पूँजीपतियों के प्रवेश के बाद इस योजना पर भी समझौता हो गया। चिनचाओ-आइगुन रेलवे लाइन से संबंधित समझौते को २० जनवरी, १९१० को गुप्त रूप से चीन सरकार का अनुसमर्थन प्रदान कर दिया गया।

(६) नौक्स के तटस्थीकरण प्रस्ताव

इस रिआयत से संबंधित समझौते के चीन सरकार के अनुसमर्थन से पहले अमरीकी परराष्ट्र विभाग ने मंचूरिया की स्थिति के पूर्ण स्पष्टीकरण के लिए प्रयास किया और परराष्ट्र सचिव नौक्स ने मंचूरिया की सभी रेलवे लाइनों के तटस्थीकरण का प्रसिद्ध प्रस्ताव पेश किया। इस प्रस्ताव के उपयुक्त होने के पक्ष में दो तर्क दिये गये। एक तो ४ अक्तूबर, १९०९ को स्वीकृत चिनचाओ-आइगुन रेलवे रिआयत से अमरीकी हितों का मंचूरिया में एक ठोस आधार बन गया था और अमरीका वहाँ केवल निष्पक्ष 'बाहरी' शक्ति के रूप में नहीं था। यदि वहाँ दिलचस्पी रखने वाले अन्य राज्यों से वह अपनी-अपनी रिआयतें छोड़ने को कह रहा था तो साथ ही वह स्वयं अपने को मिली एक रिआयत भी छोड़ने को तैयार था। वास्तव में चिनचाओ-आइगुन समझौते में जल्दी करने का असली उद्देश्य यही था। दूसरे, सन् १९०९ में हैरिमैन ने अपनी मृत्यु से ठीक पहले, रूस से यह संकेत पा कर कि जार की सरकार चीनी पूर्वी रेलवे की बिक्री या पट्टे के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए तैयार हो सकती है, अपनी संसार के चारों ओर ले जाने की योजना को फिर से चालू कर दिया था। फिर, यह भी ज्ञात था कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण जापान सरकार दक्षिणी मंचूरिया की अपनी संपत्ति बेच सकती है यदि उसके अन्य हितों पर उससे आँच न आये।

प्रस्ताव के समर्थन में जो भी तर्क रहे हों, उस पर विभिन्न राज्यों को राजी करने का जो ढंग अपनाया गया उसकी काफी आलोचना हुई। पहले तो, रूस से मिले संकेत को परिपक्व कर उससे पूर्वी चीनी रेलवे की बिक्री का आश्वासन ले लेना चाहिए था। इससे जापान पर इस बात के लिए ठीक से दबाव पड़ सकता कि वह दक्षिणी मंचूरिया रेलवे के नियंत्रण का अंतरराष्ट्रीयकरण कर दे। इससे रूस के इस आधार पर योजना के विरोध का भी अंत हो सकता था कि किसी आंग्ल-अमरीकी सहायता से चलने वाली नीति के लिए रूस का समर्थन शुरू से ही मिल ही जायगा, ऐसा क्यों मान लिया गया। क्योंकि रूस और जापान से समझौते की बात शुरू होने के बाद ही ब्रिटेन से बात चलाना अधिक उपयुक्त होता। जब ब्रिटेन ने अमरीकी प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया तब उसके समर्थन के लिए अन्य प्रयास करने के पूर्व ही आगे की काररवाई करना ठीक नहीं हुआ; इससे यह भी पता लग सकता है कि अमरीका की दिलचस्पी इस प्रस्ताव को स्वीकार कराने में उतनी नहीं थी जितनी कि विभिन्न देशों के मंचूरिया संबंधी उद्देश्य और इरादों पर लोगों का ध्यान केन्द्रित करने में।

संक्षेप में, प्रस्ताव यह था कि एक अंतरराष्ट्रीय अभिषद् बना कर चीन को काफी बड़ा ऋण दिया जाय जिससे वह रूसी व जापानी हितों को खरीद सके; मंचूरिया

की रेलवे लाइनों का तटस्थीकरण कर दिया जाय और उनका प्रशासन अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण में तब तक रहे जब तक यह कर्ज अदा न हो जाय। ब्रिटेन से इस संबंध में जब बातचीत चल रही थी तभी नौक्स ने सुझाव दिया कि यदि ब्रिटेन पूरे मंचूरिया के संबंध में इस योजना का समर्थन न कर सके तो वह कम-से-कम चिनचाओ-आइगुन योजना को अपना राजनयिक सहयोग दे और इस योजना में अन्य देशों को भी हिस्सा दिया जा सकता है।

ब्रिटेन का उत्तर निराशाजनक था क्योंकि वहाँ की सरकार ने लिख दिया कि इतने व्यापक और भविष्य पर प्रभाव डालने वाले प्रस्तावों के लिए अभी उपयुक्त समय नहीं आया है।[१०] ब्रिटेन ने यह भी सुझाव दिया कि जापान की मंचूरिया में विशिष्ट स्थिति होने के कारण इस चिनचाओ-आइगुन रेल योजना में उसे शामिल कर लिया जाय। इस प्रकार अमरीकी स्थिति के समर्थन की जगह ब्रिटेन ने जापानी स्थिति को ही स्वीकार कर लिया; अमरीकी तर्क यह था कि मंचूरिया में गैर-जापानी पूँजी लगनी चाहिए और ब्रिटेन ने जापान का यह तर्क स्वीकार कर लिया कि दक्षिणी मंचूरिया में जहाँ तक रेलें बनाने और पूँजी लगाने का संबंध है, वह जापानी एकाधिकार में है।

जापान व रूस की सरकारों ने अंत में अमरीकी प्रस्ताव पर विचार करने से इनकार कर दिया और उनके उत्तरों की शब्दावली इतनी समान थी कि लगता था कि उन्होंने इस संबंध में पहले समझौता कर रखा था। यह बात ध्यान देने की है कि दोनों देशों ने अपने इनकार में अन्य कारणों के साथ ही राजनीतिक व सामरिक हितों की बात भी की थी जिसका अर्थ था कि वे मंचूरिया में अपने हित पूँजी व व्यवसाय तक सीमित नहीं मानते थे, बल्कि उन्हें राजनीतिक भी समझते थे। चिनचाओ-आइगुन योजना के विरोध में रूस व जापान दोनों ने चीन सरकार से हुए गुप्त समझौतों को पेश कर दिया जिनके अनुसार चीन इस बात पर राजी हो चुका था कि रूस से परामर्श किये बिना वह उत्तरी मंचूरिया में और जापान से बात किये बिना दक्षिणी मंचूरिया में चांगचुन के दक्षिण में वह रेलवे लाइनों का विकास नहीं करेगा। रूस की खुली अस्वीकृति और जापान की ऐसी शर्तों पर स्वीकृति, जो सर्वथा अमान्य थीं, के कारण चिनचाओ-आइगुन रिआयतों का उपयोग नहीं हुआ।

मिलार्ड ने नौक्स प्रस्ताव के कुल निष्कर्ष का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है–[११] (१) अपने क्षेत्र में रेल विकास की दिशा व ढंग क्या हों यह तय करने का अधिकार विदेशी राज्यों ने चीन से छीन लिया था; (२) चीनी क्षेत्र में रेलें कैसे व कहाँ बनें इसके निर्णय में कुछ विदेशी शक्तियों के राजनीतिक व सामरिक हित सर्वोपरि माने जायँ––ऐसी कुछ विदेशी राज्यों ने घोषणा कर दी थी; (३) कुछ विदेशी राष्ट्रों ने अपने इस अधिकार की

घोषणा कर दी थी कि चीन के क्षेत्र में कौन रेलें बनायेगा, कौन पूँजी लगायेगा और कौन इन रेलों को चलायेगा इसका निर्णय वे करेंगे और इस संबंध में चीन यदि कोई व्यवस्था करना चाहे तो वे इसका निषेध कर देंगे। यहीं पर नौक्स प्रस्ताव के दो अन्य प्रभावों का वर्णन किया जा सकता है; वे थे—(१) ब्रिटेन ने अपनी नीति बदल दी थी और "दिलचस्पी के क्षेत्र" सिद्धान्त की ओर वह वापस लौट गया था तथा सभी को समान अवसर के "उन्मुक्त द्वार" सिद्धान्त के व्यापक अर्थों में उसे तिलांजलि दे दी थी; (२) मंचूरिया के प्रान्तों में अपने-अपने एकाधिकारों व हित-प्राथमिकताओं की रक्षा के लिए रूस व जापान एक हो गये थे। सन् १९०७ में उन दोनों के बीच एक राजनीतिक उपसंधि हुई थी जिसमें एक दूसरे के मंचूरिया से संबंधित अधिकारों का आदर करने का उस हदतक समझौता हुआ था जिस हद तक वे समान अवसर के सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं पड़ते थे; उन्होंने चीन की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता और उन्मुक्त द्वार नीति भी सामान्यतः स्वीकार की थी और उन्हें कायम रखने व उनकी रक्षा करने का भी फैसला किया था। किन्तु सन् १९१० में रूस व जापान ने फिर गुप्त व प्रकट दोनों प्रकार की उपसंधियाँ करके मंचूरिया में अपने-अपने क्षेत्रों की पुनर्व्याख्या की थी और समझौता किया था कि अपने-अपने क्षेत्रों में स्थिति मजबूत करने और हित आगे बढ़ाने में वे हस्तक्षेप न करेंगे और यदि उनके मंचूरिया स्थित हितों पर संकट आया तो दोनों मिल कर उसका सामना करेंगे। सन् १९१० की इन उपसंधियों में न तो चीनी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का कोई जिक्र था और न समान अवसर सिद्धान्त की स्वीकृति का।

(७) पूँजी में अंतरराष्ट्रीय सहयोग

मंचूरिया की रेलों के तटस्थीकरण का नौक्स का प्रस्ताव एक तरह से चीन में पूँजी सहयोग की दिशा में चल रही प्रवृत्ति का ही एक अंग था। मंचूरिया की रेलों के अंतरराष्ट्रीयकरण के प्रस्ताव पर विचार करने से ब्रिटेन के इनकार का एक कारण यह भी था कि उस समय दक्षिणी व पश्चिमी चीन में रेलवे लाइनें बनाने में अनेक राज्य सहयोग की शर्तें तैयार कर रहे थे। रिआयतों के लिए होड़ लगाने में जो कठिनाइयाँ थीं पूँजीपति उन्हें धीरे-धीरे समझने लगे थे। और सरकारें भी यह बात समझने लगी थीं कि चीन में देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रेलवे लाइनें डालने में जितनी पूँजी लगती उसमें सभी राज्यों के लिए क़ाफी गुंजाइश थी। वे यह भी देखने लगी थीं कि प्रतियोगिता से चीन का ही लाभ था क्योंकि उसे इस होड़ के फलस्वरूप अधिक लाभदायक शर्तें मिल जाती थीं।

उदाहरणार्थ, जब टींटसीन से यांग्त्सी नदी तक मार्ग डालने का प्रश्न आया तो जर्मनी व ब्रिटेन दोनों ने उसमें पूँजी लगाने में प्रतियोगिता की। दोनों देशों के हक इस लाइन में थे

क्योंकि वह दोनों के दिलचस्पी के क्षेत्रों से होकर गुजरती थी। जर्मनी ब्रिटेन के मुकाबले में चीन को अधिक सुविधाजनक शर्तें देने को तैयार हो गया, क्योंकि ब्रिटेन पूंजी नियंत्रण की सामान्य शर्तों पर ही अड़ा हुआ था, किन्तु दूसरी ओर पीकिंग में जर्म्नी की तुलना में ब्रिटेन की राजनयिक शक्ति अधिक प्रबल थी। इसके अतिरिक्त, एक-दूसरे के हित-क्षेत्रों का आदर करने के समझौते से दोनों के हाथ बँधे हुए थे। अंत में, ऐसी रेलवे लाइन बिछाने की उपयोगिता को समझते हुए दोनों देशों ने उसमें भागीदार बनने का निश्चय किया और १३ जनवरी, १९०८ को इस संबंध में चीन से समझौता हो गया। जर्मनी को अधिकार मिला कि वह टींटसीन् से शानतुंग प्रान्त की दक्षिणी सीमा तक रेलवे लाईन डाले और ब्रिटेन को यह अधिकार मिल गया कि वह शंघाई-नानकिंग (ब्रिटेन की) लाइन से इस मार्ग के पुकोव पर होने वाले मिलान तक रेलवे लाइन का निर्माण करे। किन्तु होड़ के फलस्वरूप चीन उन अनेक शर्तों के लागू होने से बच गया जो नियंत्रण के संबंध में सामान्यतः लागू होती थीं। ऋण की सुरक्षा के लिए स्वयं रेल बन्धक नहीं हुई, बल्कि उसकी जगह कुछ प्रान्तीय राजस्व के मद सुरक्षा में बाँध दिये गये। फलतः रेलवे भागीदारों के हितों में प्रशासित होने की बात नहीं हुई। वास्तव में, मार्ग के निर्माण व रेल चलाने का काम चीन के हाथों में ही रहा, यद्यपि उसने जर्मनी व ब्रिटेन के क्षेत्रों में उन्हीं देशों के अभियन्ताओं को नियुक्त करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त, ऋण के खर्च की देखभाल की शर्त भी समझौते में नहीं आयी।

रेलवे ऋणों में चीन के अनुकूल शर्तें व टींटसीन-पुकोव लाइन की शर्तें समानार्थी मानी जाने लगीं। अनेक विदेशियों ने ऋण के नियंत्रण संबंधी शर्त में ढिलाई बरतने की वांछनीयता पर शंका प्रकट की और खर्च के निरीक्षण के अधिकार को छोड़ देने की आलोचना की। और यह भी स्वीकार किया कि बाद की घटनाओं ने इस शंका को उचित साबित किया। इस मार्ग को पूरा करने के लिए एक पूरक ऋण लेना आवश्यक हुआ, क्योंकि चीनी नियंत्रण में रेल निर्माण का खर्च बहुत बढ़ गया था और धन की काफी बरबादी हुई थी।

सन् १९०८ से कई वर्ष पहले बीच-बीच में हैनकाउ से कैण्टन तक और पश्चिम में हैनकाउ से जेचुआन प्रान्त तक रेलमार्ग बनाने की बात उठी थी। सन् १९०८–१९०९ में इस प्रश्न पर फिर बातचीत शुरू हुई; इस बात का मुख्य उद्देश्य नियंत्रण की मात्रा के संबंध में समझौता करना था, ताकि टींटसीन-पुकोव लाइन के अनभव के बाद भविष्य में दिये जाने वाले ऋणों के संबंध में कुछ नीति निर्धारित हो सके। फ्रांस और ब्रिटेन, और उससे पहले अमरीका और ब्रिटेन दो मार्गों में दिलचस्पी रख रहे थे। सन् १९०८ में जर्मनी ने भी उस दिशा में दिलचस्पी दिखायी और उसी की काररवाई के फलस्वरूप

फ्रांस, जर्मनी व ब्रिटेन के पूँजीपति तथा सरकारी अधिकारियों ने विभिन्न देशों के दावों में समन्वय स्थापित करके सहयोग का आधार ढूँढ़ने के लिए बातचीत चलायी। जब इन देशों के बीच तथा उस क्षेत्र में बननेवाली रेलों के मसलों के लिए नियुक्त वाइसराय चांग चिह-तुंग के बीच बात तय हो गयी, तभी अमरीकी पूँजी के हितों में अमरीकी सरकार ने हस्तक्षेप किया। जब पीकिंग में राजनयिक काररवाई से सफलता नहीं मिली राष्ट्रपति टैफ्ट ने रीजेण्ट को यह तार देकर अनुरोध करने का असाधारण कदम उठाया कि अमरीकियों को इसमें भाग लेने दिया जाय। सन् १८९८–१९०३ की पुरानी रिआयत इस अनुरोध का आधार थी। टैफ्ट के हस्तक्षेप के बाद अमरीकियों को भाग लेने की अनुमति मिल गयी और चार देशों का एक बैंक समूह बन गया। सहयोग के सिद्धान्त को लागू करने की अपनी वास्तविक इच्छा प्रकट करने के लिए अमरीकी सरकार ने सुझाव रखा कि चीन में मुद्रा विनिमय के सुधार के लिए जो ऋण दिया जा रहा था उसमें शेष तीनों देश भी शामिल हो जायँ, इस ऋण में अमरीका को ही एकाधिकार मिला हुआ था। किन्तु, रेलवे-योजना व मुद्रा-सुधार दोनों का काम सन् १९११ व उसके बाद की क्रांतिकारी परिस्थितियों के कारण धीमा पड़ गया।

(८) यूरोपीय युद्ध व क्रांति के प्रभाव

क्रांति के फलस्वरूप चीनी सरकार के लिए नयी वित्तीय समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और सामान्य प्रशासकीय काररवाई के लिए भी वह विदेशी सूत्रों की ओर आर्थिक सहायता के लिए ताकने लगी। तात्कालिक व अत्यावश्यक कारणों से तथा अंततः बड़ी धनराशियों की आवश्यकता के कारण चीन सरकार ने अंतरराष्ट्रीय अभिषद् से सहायता की अपेक्षा की। तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए अभिषद् जो ऋण दे रहा था उसके बदले में, चीन सरकार ने पुनस्संगठन और पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक बड़े ऋण के लिए भी अभिषद् से बातचीत कर दी और इस बड़े ऋण के लिए उसे प्राथमिकता देने का निश्चय किया। जब नयी गणतांत्रिक सरकार ने इस कर्ज के लिए अभिषद् से बात चलायी (कर्ज के राजनीतिक स्वरूप के कारण अभिषद् में रूस व जापान भी शामिल कर लिये गये थे) उसने ऋण की सुरक्षा के लिए राजस्व पर नियंत्रण की व्यवस्था की माँग की। सरकार ने इन छः देशों के गुट के बाहर से आवश्यक धन प्राप्ति का प्रयास किया, पर अनेक राष्ट्रीय गुटों द्वारा अपनी-अपनी सरकारों की सहायता पर एकाधिकार होने के कारण वह इस प्रयास में सफल न हुई। अंततः, सन् १९१३ में नमक-कर को ऋण के लिए बन्धक रखने और विदेशी निरीक्षण में इस कर-व्यवस्था के पुनस्संगठन की व्यवस्था का समझौता हो गया।

सन् १९१४ में यूरोप में युद्ध छिड़ जाने के कारण इस पहले सहयोगात्मक राष्ट्र-समूह की वित्तीय कारखाइयों का प्रसार न हो सका। पुनस्संगठन संबंधी ऋण देने में अमरीका शामिल नहीं हुआ क्योंकि राष्ट्रपति विलसन के निर्देश से परराष्ट्र विभाग ने कह दिया कि "ऋण की शर्तें हमें चीन की प्रशासकीय स्वतंत्रता को छूती लगती हैं और यह सरकार ऐसी शर्त में अप्रत्यक्ष रूप से भी शामिल नहीं होना चाहती।"[१२] युद्ध शुरू होने पर जर्मनी के पूँजीपति भी इस दिशा में निष्क्रिय हो गये। और अंततः इस समूह के द्वारा मिलने वाले लगभग सभी ऋण जापान से प्राप्त हुए। आवश्यकतानुसार जब चीन सरकार की ऋण की माँग बढ़ी जापान व अमरीका के पूँजीपतियों ने, स्वतंत्र रूप से, छोटे परिमाणों में, ये ऋण प्रदान किये। इस प्रकार समूह कारखाई की जगह पृथक् कारखाई ने ले ली, और, "इस बार अमरीकी प्रेरणा से पेरिस में समूह को पुनरुज्जीवित करने के समय तक यही सिलसिला जारी रहा।"[१३]

रेलवे लाइनों के निर्माण के क्षेत्र में भी यही हालत हुई। सन् १९१२ के बाद हुए समझौतों में विदेशी पूँजी से ६,००० मील से अधिक लम्बी रेलें डालने की बात तय हुई थीं। इसमें से एक तिहाई से कुछ ही कम लम्बी रेलें बनाने का काम ब्रिटेन को मिला था और ब्रिटेन की इन पूँजी संस्थाओं ने जो शर्तें तय की थीं उनके अनुसार मुख्य अभियन्ता, मुख्य लेखा निरीक्षक तथा यातायात प्रवन्धक सभी अंग्रेज होने थे और ऋण की अदायगी के लिए रेलवे लाइन ही बन्धक रखी जानी थी। सामान्य शर्तों पर ही रूस व जापान ने मंचूरिया में अपने रेल हितों का विकास कर लिया था।[१४] शानतुंग प्रान्त में काओमी-यिहसीन व त्सिनान–शुतेफू रेलों के निर्माण के जर्मनी को मिले ठेके सन् १९१३ में जापान को हस्तांतरित कर दिये गये और बाद में जापान ने उन्हें दूसरे सहयोगात्मक राष्ट्र-गुट को सौंप दिया। शांसी, जेचुआन व शेंसी प्रान्तों से उत्तर की ओर दो हजार मील लम्बी रेलवे लाइनें बनाने का काम फ्रांस को मिला था; ये रेलें अंत में पीकिंग-कालगान मार्ग से मिलनेवाली थीं। उत्तर-पश्चिम में फ्रांसीसी हित क्षेत्र के प्रसार के सिवा शेष मार्ग विभिन्न देशों के हित क्षेत्रों से गुजरने वाले थे। जब सन् १९१६ में सीम्स–केरी नामक एक अमरीकी कम्पनी ने १५०० मील लम्बे रेलमार्ग बनाने का ठेका लिया तो कम्पनी को पुराने दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त पूर्णतः पुनरुज्जीवित हो गये। इस क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाले विभिन्न देशों की आपत्तियों के निराकरण के लिए चीन सरकार को अमरीकी निर्माण की दिशा व रूपरेखा बनाने का उत्तरदायित्व ओढ़ना पड़ा।

युद्ध व युद्धोत्तरकालीन आर्थिक परिस्थितियों के कारण इन मार्गों के बनाने की दिशा में सन् १९३० के बाद तक लगभग कोई भी काम नहीं किया गया। जो ठेके लिये गये थे उनसे रिआयत पानेवालों के काम शुरू करने में सुविधा की जगह अन्य देशों के मार्ग में

बाधाएँ ही अधिक पड़ती थीं और इससे चीन में उपयुक्त रेलवे यातायात के विकास में सुविधा की जगह बाधाएँ पड़ीं। सन् १९२५ तक ७००० मील से अधिक लम्बी रेलवे लाइनें देश में चल रही थीं। निर्माण में बाधाएँ देखते हुए यह अच्छी प्रगति ही मानी जायगी; और यह भी स्वीकार किया जायगा कि विदेशी प्रभाव के प्रवेश और तज्जनित अनेक समस्याओं व खतरों के बावजूद संचार संवहन के साधनों के विकास व विस्तार व सुधार के फलस्वरूप चीन का भौतिक लाभ ही हुआ था। इन खतरों का वर्णन किया जा चुका है; कुछ मुख्य समस्याएँ इस प्रकार थीं—जिन शर्तों पर ऋण मिले और निर्माण के निरीक्षण की शर्तें इतनी भिन्न थीं कि सारे देश में एक ही चौड़ाई (गेज) के रेल मार्ग नहीं बने। कुछ मार्ग सामान्य चौड़ाई के थे, रूस ने पाँच फुट चौड़े मार्ग बनाये थे और फ्रांस ने मीटर भर (३९ इंच) चौड़ाई की लाइनें डाल दी थीं। इससे डिब्बों के संतोषजनक उपयोग में बाधा पड़ती थी और रेलों को एक इकाई मान कर उनका प्रशासन-प्रबन्ध करना कठिन था। फिर, भिन्न मार्गों पर भिन्न प्रशासन होने और चीनी यातायात मंत्रालय द्वारा उनके प्रभावकारी नियंत्रण में असहाय होने की गंभीर समस्या थी। इन तथा अन्य प्रशासकीय कठिनाइयों को हल करने के लिए, जो चीनी रेल प्रणाली के लिए पूँजी व निर्माण की भिन्न-भिन्न शर्तों के कारण उत्पन्न हुई थीं, 'सम्मेलनों' के द्वारा प्रयास किये गये और आंशिक सफलता भी मिली; रेलें चलाने के लिए एक समान प्रणाली बनाने में सब का सहयोग प्राप्त करना इन सम्मेलनों का उद्देश्य था। इन सम्मेलनों में सरकारी व गैर-सरकारी रेलवे मार्गों के प्रतिनिधि आते थे। सन् १९१६–१९२६ के बीच की अवधि की राजनीतिक अव्यवस्था से उत्पन्न बाधाओं व फौजों द्वारा रेलवे के सामान्य ढंग से चलाने में हस्तक्षेप करने के बावजूद; रेलों के अधिकाधिक उपयोग के साथ इनकी आय व आर्थिक स्थिति लगातार मजबूत होती गयी।

किन्तु फौजी हस्तक्षेप व आंतरिक अशांति के कारण रेलों व अन्य उपकरणों के रख-रखाव में अक्षमता रही जिससे विदेशी पूँजी पर प्रभाव पड़ा। और इसी कारण, इसी अवधि में अनेक रेल-मार्गों के लिए लिये गये ऋणों की किस्तों व ब्याज की अदायगी भी रुकी रही।

(९) रेलवे-निर्माण चीन का दृष्टिकोण व दिलचस्पी

पूँजी साम्राज्यवाद के चीन में विस्तार से संबंधित इस अध्याय की समाप्ति के पूर्व विभिन्न देशों की कारवाइयों के चीनी जनमत पर हुए प्रभाव पर विचार करना उपयुक्त होगा। पहले तो यह याद रखना होगा कि शुरू में चीन रेलों या खदानों में अपनी पूँजी लगाने की स्थिति में बिलकुल ही नहीं था तथा देश के औद्योगिक व राजनीतिक पुनस्संगठन

के लिए आवश्यक पूँजी उसके पास नहीं थी। जैसे-जैसे शिक्षित वर्ग की समझ में यह तथ्य आता गया चीनी दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलता गया। किन्तु इस विचार-परिवर्तन के बाद भी यह कहा जा सकता है कि चीनी जनता का दृष्टिकोण इस आशंका से प्रभावित था कि उनके देश का आर्थिक नियंत्रण विदेशियों के हाथों में चला जायगा।

जापान से हुए युद्ध के तत्काल बाद के वर्षों में सन् १८९६ से सन् १९०० के बीच हुए समझौतों से जो विदेशी आर्थिक प्रवेश देश में हो रहा था उस प्रक्रिया का महत्त्व चीनियों की समझ में ही नहीं आया। किन्तु रूस ने मंचूरिया में रेलवे लाइन्न का जो उपयोग किया उसने अनेक चीनी अधिकारियों को विदेश नियंत्रित रेल मार्ग से राज्य के लिए उत्पन्न संकट के प्रति जागरूक बना दिया। फलतः एक ऐसा समय आया जब चीनी विदेशी ऋण लेने में हिचकने लगे। कोरिया व मंचूरिया के प्रश्न पर रूस और जापान के बीच बढ़ते हुए संघर्ष पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण भी ऋणों का लेन-देन बन्द रहा।

रूस-जापान के युद्ध के बाद तो चीनी परिस्थिति की गंभीरता के प्रति और भी अधिक सजग हो गये। युद्ध के कारण आंतरिक सुधार के आंदोलन को बल मिला और उसका एक अंग यातायात व संवहन, संचार के राष्ट्रीय साधन विकसित करने का प्रयास भी था। मंचूरिया में हुए संघर्ष के पहले और बाद स्थानीय रूप से इकट्ठी की गयी पूँजी से प्रान्तीय रेल मार्ग के निर्माण के प्रयत्न किये गये। इससे अंततः देश की एकता में रुकावट आती और केन्द्रीय कुशल अधिकारियों ने यह खतरा फौरन देख लिया। रेल मार्गों के निर्माण के द्वारा देश की एकता स्थापित करने की संभावना व आवश्यकता समझ कर पीकिंग के निर्देशन व नियंत्रण में रेलवे यातायात के राष्ट्रीयकरण का एक कार्यक्रम बनाया गया। विदेशों की सहयोगात्मक राष्ट्र-समूह (कौंसौर्टियम) योजना इस नीति के अनुकूल बैठती थी, क्योंकि इससे पीकिंग को बड़ी देश-व्यापी रेलवे लाइनें बिछाने के लिए आवश्यक पूँजी मिल जाती; बाद में अवसर व सुविधानुसार इन मार्गों की शाखाएँ बनायी जा सकती थीं।

किन्तु प्रान्तों में जैसा जनमत बन रहा था उसका विचार भी आवश्यक था और प्रान्तों में प्रबुद्ध लोग संवहन की एक केन्द्रीय प्रणाली द्वारा चीन के धीरे-धीरे अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण में चले जाने की आशंका से पीड़ित थे। इसके अतिरिक्त, प्रान्तों जहाँ स्थानीय रेलवे योजनाओं में पूँजी लग रही थी उसका भी विचार आवश्यक था। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति भी यही थी कि उनका लाभ न हो तो केन्द्रीकरण का विरोध किया जाय। ज़ेचुआन प्रान्त में विद्रोह के समान सन् १९११ के क्रांतिकारी आंदोलन से सम्बद्ध विरोध इस दिशा से भी आ रहा था।

विदेशी आर्थिक नियंत्रण, देश में स्वाभाविक रूप से विद्यमान अपकेन्द्र प्रवृत्ति तथा प्रान्तीय रेलों में लगी पूँजी केन्द्र को सौंपने में अपने लिए लाभदायक शर्तें तय करा लेने में प्रान्तीय धनिकों की दिलचस्पी—इन सभी बातों के कारण सन् १९०७ से सन् १९०९ के बीच निर्धारित केन्द्रीकरण की नीति के लागू होने में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं।

दसवाँ अध्याय

चीन में क्रांति व सुधार

(१) परिस्थितियाँ जिनके अंतर्गत सुधार हुए

मुक्केबाजों के विद्रोह के बाद हुई पूर्व-संधि के दस वर्ष बाद तक चीन के आंतरिक इतिहास में दो स्पष्ट किन्तु आपस में सम्बद्ध प्रवृत्तियों के प्रतिरूप प्रकट हुए—एक क्रांति का और दूसरा सुधार का; और दोनों में ही अंतरराष्ट्रीय संबंधों का सूत्र लगातार मौजूद था। इन दोनों प्रवृत्तियों का वर्णन पृथक् रखने से ही चित्र स्पष्ट हो सकेगा, अतएव पहले अक्तूबर, १९११ में क्रांति की शुरुआत तक मंचू-शासन के सुधार-प्रयास पर दृष्टिपात करना और उसके बाद क्रांति की व्यापक पृष्ठभमि का चित्रांकन उपयुक्त होगा। इस प्रकार मंचू-सम्राट् के शासन छोड़ने के बाद के घटनापूर्ण वर्षों के इतिहास व क्रांति दोनों का चित्र स्पष्ट हो सकेगा।

घटनाओं का क्रमिक विकास समझने के लिए अभीतक की घटनाओं का संक्षिप्त पुनरावलोकन अभीष्ट होगा। चीन के राजनीतिक संगठन के वर्णन म उसके दो मूल लक्षणों का वर्णन आया था—एक था अतिविकसित प्रान्तीय व स्थानीय सत्ताओं की स्वाधीनता के फलस्वरूप विकेन्द्रित क्षेत्रीय शासन-प्रणाली, तथा दूसरा था रूढ़ राजस्व-व्यवस्था, जिसे नये प्रशासकीय बोझ बरदाश्त करने के लिए—जैसे कि असफल युद्धों के खर्च या वाष्प-इंजिनों जैसे पश्चिमी अन्वेषणों के उपयोग के खर्च—तत्काल संशोधित नहीं किया जा सकता था। बाद में इसका भी वर्णन आया कि पश्चिम से हुए संपर्क की चीन में क्या प्रतिक्रिया हुई, विशेषकर उसका राजनीतिक संगठन, सैन्य-संगठन व आर्थिक जीवन में ऐसे सुधार करने में असफलता, जिनसे वह अपनी रक्षा करने में समर्थ होता, जो उसकी निर्बलता और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण ही उसके लुटेरे बन बैठे थे। जो सीमित पुनस्संगठन करने का प्रयास किया गया, वह स्वाभाविक रूढ़िवादिता, अधिकारियों व कुलीनों की श्रेष्ठता की भावना तथा जल-थल सेनाओं में व्याप्त रिश्वत-प्रणाली के कारण अंशतः ही सफल हुआ था। परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार करने में अधिकारियों की अनिच्छा तथा अपनी निर्बलता के फलस्वरूप ही चीन बार-बार पराजित

हुआ, उसके लगभग सभी करद राज्य उससे छिन गये और अंत में सन् १८९७-१८९८ में उसके बटवारे का भी खतरा पैदा हो गया; उसकी सैनिक व राजनयिक पराजयों में सबसे अधिक अपमानजनक थी, जो जापान के हाथों हुई। इससे राजवंश के विरुद्ध असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, इस बात का भी वर्णन हुआ है कि विदेशी संपर्क उस समय आया, जब अकाल, लूट-मार तथा व्यापक अशांति व उपद्रवों के कारण आंतरिक दशा खराब थी। आंतरिक परिस्थितियों व बाहरी आक्रमण दोनों के लिए राजवंश ही दोषी ठहराया गया। फलतः, सन् १९०० में राजवंश के समक्ष दो ही विकल्प थे——देश के प्रति अपने उत्तरदायित्व निभाने में अपनी अक्षमता के फलस्वरूप वह गद्दी छोड़ दे या सुधार करे। सन् १८९८ में सुधार के जो प्रयास किये गये, सुधारकों की जो पराजय हुई, और असंतोष को विदेशी-विरोध की दिशा में केन्द्रित करने के जो सफल प्रयास हुए, उनका भी संक्षिप्त वर्णन हो चुका है। मुक्का-आंदोलन की विफलता के उपरान्त राजवंश को कायम रखने के लिए शासन-प्रणाली के सुधार के प्रयत्न अनिवार्य हो गये, यद्यपि ये सुधार अधिक रूढ़िवादी पद्धति के थे।

विदेशी सैनिक-अभियान द्वारा सन् १९०१ में पीकिंग पर कब्जा कर लेने के बाद सिआन फू भागे हुए दरबार से राजमाता (विधवा सम्राज्ञी) ने जो शासनादेश जारी किया, उनसे सुधार के प्रयासों की स्पष्ट झलक मिलती थी। अगले कुछ वर्षों में घटनाओं का जो क्रम रहा, उसे समझने के लिए इस आदेश का आंशिक उद्धरण उपयुक्त होगा।"[१] समस्या को व्यापक दृष्टि से देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि जो भी प्रणाली बहुत दिनों तक चालू रहती है, उसके रूढ़िगत हो जाने की आशंका रहती है और जिसकी उपादेयता लुप्त हो जाय उसका सुधार होना चाहिए। आज हमारे समक्ष जो सबसे बड़ी आवश्यकता है वह है हर हालत में हमारे साम्राज्य को सशक्त बनाने की, प्रजा की दशा सुधारने की···सम्राज्ञी ने निश्चय किया है कि विदेशों में प्रचलित सर्वोत्तम प्रणालियों व उपायों का उपयोग कर हम अपनी त्रुटियों से छुटकारा पायें और पुरानी गलतियों को बुद्धिमानी से स्वीकार कर अपना भविष्य का मार्ग निश्चित करें।" जिन्होंने क' आंग य–वी के सुधारों का विरोध किया था, उन्हें खुश करने के लिए आदेश में कहा गया था कि सम्राज्ञी के उद्देश्य सन् १८९८ के सुधारकों से मूलतः भिन्न हैं। "उनका मूल लक्ष्य सुधार नहीं मंचू राजवंश के खिलाफ विद्रोह करना है," जब कि 'प्राचीन बुद्ध' (राजमाता) का लक्ष्य राजवंश को कायम रखना था। इसके अतिरिक्त, सम्राज्ञी ने बताया कि वह उग्र सुधारों के पक्ष में नहीं हैं, केवल प्राचीन प्रणाली में उत्पन्न दोष ही वह वास्तव में दूर करना चाहती हैं।" हमारे पुनीत पूर्वजों के जो उपदेश हम तक पहुँचे हैं वे वास्तव में वही हैं, जिन पर यूरोपीय देशों की शक्ति व समृद्धि निर्भर है, किन्तु, चीन अभी तक यह नहीं समझ

सका है और यूरोपीय भाषाओं व विज्ञानों का प्रारम्भिक ज्ञान भर लेकर संतुष्ट हो गया है और अक्षमता की पुरानी आदतों व गहरी जड़ों वाले भ्रष्टाचार को हटाने के लिए कुछ नहीं किया है।" शासनादेश का मुख्य उद्देश्य रूढ़िवादी अधिकारियों को यह समझाना था कि सम्राज्ञी के नेतृत्व—निरीक्षण में परिवर्तन का कार्यक्रम चलाने में कोई खतरा नहीं है जब कि सम्राट् द्वारा चलाये गये एक ऐसे ही कार्यक्रम को क्रांतिकारी बताकर ठुकराया गया था।

दरबार के पीकिंग लौटने पर सुधार-युग शुरू हुआ और इस दिशा में सम्राज्ञी की नेकनीअती परखने का अवसर मिला। स्पष्ट था कि परिवर्तन प्रान्तीय व राजधानी के अधिकारियों के सहयोग से ही संभव हो सकते थे और इन अधिकारियों में दो वास्तव में प्रगति के इच्छुक व समर्थक थे। सन् १८८५ से सन् १८९५ तक सिऊल में चीन के प्रतिनिधि, युआन शिह-क'आई के, जो बाद में राजधानी के प्रान्त में न्याय आयुक्त, निर्माण-मंडल के अवर उपाध्यक्ष, मुक्का-विद्रोह के समय शानतुंग प्रान्त के राज्यपाल तथा सन् १९०१ में चिहली प्रान्त के वाइसराय और युवराज के अवर संरक्षक हुए, निर्देशन में केन्द्रीय प्रशासन में अनेक परिवर्तन किये गये। उन्होंने सेना के पुनस्संगठन में भी दिलचस्पी ली। सुधारों के दूसरे बड़े समर्थक थे चांग चिह-तुंग, जिन्होंने हुकुआंग के वाइसराय के रूप में प्रान्तों में हुए सुधारों का सन् १९०९ तक नेतृत्व किया, जब उनकी मृत्यु हो गयी। युआन की मुख्य दिलचस्पी राजनीतिक व सैनिक पुनस्संगठन में थी, चांग-राज्य की आर्थिक नींव मजबूत करने में ही मुख्यतः व्यस्त थे।

(२) सुधार का प्रथम दौर

पहली ठोस दिलचस्पी सेना के सुधार में प्रकट हुई। सन् १८९५ के बाद भी चीन के पास वास्तविक अर्थ में कोई आधुनिक राष्ट्रीय सेना नहीं थी; उसकी सैन्य-शक्ति पताका सैनिकों, हरे झण्डे वाले सैनिकों व प्रान्तीय सैनिकों तक ही सीमित थी।[२] प्रान्तीय वास्तव में प्रान्तीय अधिकारियों द्वारा नियंत्रित और संगठित प्रान्तीय सशस्त्र पुलिस ही थी। सन् १८९५ के बाद सेना के पुनस्संगठन का एक प्रयास अवश्य हुआ, पर उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। सन् १९०१ में एक शासनादेश फिर पुनस्संगठन के संबंध में जारी हुआ और युआन शिह-क' आई की दिलचस्पी के कारण यह काम चिहली प्रान्त में शुरू हुआ। सन् १९०३ व सन् १९०६ के बीच युआन ने छः चमू या प्रभागों का एक आदर्श सैन्य-दल तैयार किया। सन् १९०६ में इनमें से चार चमू-युद्ध-मंत्रालय को हस्तांतरित कर दिये गये, जो उसी वर्ष स्थापित हुआ था। छत्तीस चमू की राष्ट्रीय सेना बनाने की एक योजना भी तैयार की गयी। सन् १९०७ में आदेश हुआ कि यह काम सन् १९१८

तक पूरा कर डाला जाय। रूस व जापान के बीच हुए युद्ध के कारण सैन्य-पुनस्संगठन में पैदा हुई दिलचस्पी के बाद ही इस कार्यक्रम को पूरा करने का असली काम हुआ। सन् १९११ तक सुधार-कार्यक्रम के इस अंग में प्रगति हुई और बाद की घटनाओं से प्रकट हुआ कि मंचू वंश के भविष्य पर आधुनिक सेना के आंशिक गठन का भी काफी प्रभाव पड़ा।

सन् १९०५ में एक दूसरे तथा अधिक बुनियादी सुधार का सैद्धान्तिक उद्‌घाटन हुआ और प्राचीनकाल से चली आ रही परीक्षा-प्रणाली शासनादेश द्वारा समाप्त कर दी गयी। यह परिवर्तन पुरातन व्यवस्था के हृदय पर आघात था, क्योंकि इसका अर्थ था कि पुरातन शास्त्रीय परंपरा को वरीयता मिलना समाप्ति हो गया और पश्चिमी विषयों के ज्ञान को वरीयता प्राप्त हो गयी। यह परिवर्तन शुरू में तो व्यावहारिक होने की जगह कागज पर ही रहा, पर तब भी इसका महत्त्व बहुत अधिक था। पहले केवल शासक वंश के कुलीनों के पुत्र ही विदेशी शिक्षा प्राप्त कर पाते थे। इस प्रकार के आदेशों की पुनरावृत्ति, मुक्का आंदोलन के फलस्वरूप मिलने वाली क्षतिपूर्ति की शिक्षा प्रसार के लिए अमरीका द्वारा आंशिक वापसी तथा जापान की रूस पर विजय से विदेशी शिक्षा में लोगों की दिलचस्पी एकदम बहुत अधिक बढ़ गयी और अनेक लोग शिक्षा के लिए विदेश जाने लगे। क्रांति की पृष्ठभूमि के वर्णन के समय शिक्षा के क्षेत्र में हुए इस परिवर्तन के महत्त्व का वर्णन होगा।

जो अन्य सुधार हुए या जिनके भविष्य में लागू होने की घोषणाएँ हुईं वे थे मंचुओं व चीनियों के अंतरजातीय विवाह पर लगे प्रतिबन्धों की समाप्ति, केन्द्रीय शासन प्रणाली में परिवर्तन, बिना कुछ काम-धाम किये लोगों को जो सरकारी कोष से पेंशनस्वरूप वेतन मिलते थे उन्हें समाप्त करने का प्रयास, अनेक सरकारी पदों का नामपरिवर्तन सरकारी एजेंसियों का संगठन व पदों के कार्यक्षेत्रों का फिर से बटवारा तथा रेल-निर्माण को सक्रिय प्रोत्साहन, चीनी पूँजी से खनिज पदार्थों का उपयोग तथा शस्त्रागारों का निर्माण।[३]

लगभग पूरी तरह चीनी भूमि पर लड़े जाने वाले रूस-जापान युद्ध के शुरू होने के बाद सुधार आंदोलन में गति आयी और उसका स्वरूप संस्थागत परिवर्तनों का हो गया। एक पुनस्संगठित पूर्वीय देश द्वारा एक पश्चिमी प्रतिस्पर्धी पर विजय ने सुधारों में जैसी सक्रिय और व्यापक दिलचस्पी पैदा कर दी वह चीन की अनेक पराजयों के फलस्वरूप भी पैदा नहीं हुई थी। सन् १८९८ के[४] सुधार संबंधी शासनादेशों पर दृष्टि डालने से ही प्रकट हो जायगा कि सन् १९०१–१९०५ में जिन परिवर्तनों की घोषणा की गयी, वे पहले के कार्यक्रम के समान ही थे, जिससे प्रकट होगा कि राजनीतिक प्रणाली के मूलभूत परिवर्तनों की आवश्यकता समझने की दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई थी। सन्

१९०५ के बाद सुधार-आंदोलन में इसकी चेतना आने लगी कि अंततः चीन में वैधानिक शासन आना ही होगा। और इस दिशा में सचेतन प्रयास हुए कि शासन सत्ता का केन्द्रीकरण आवश्यक है; राष्ट्रीय यातायात या संवहन-प्रणाली की स्थापना के लिए प्रान्तों की सर्वोच्च सत्ता समाप्त करने और अंततः प्रान्तों पर अधिक प्रभावकारी निरीक्षण करने की सफल व्यवस्था के लिए कोशिश की गयी। किन्तु, रेलवे यातायात के केन्द्रीकरण की नीति अनेक वर्षों तक स्थानीय पूँजी से प्रान्तों में प्रान्तों के द्वारा ही रेलवे मार्ग निर्माण करने की कोशिश हो चुकने के बाद ही अपनायी गयी। क्रांतिकारी आंदोलन बढ़ने के साथ रेलवे नीति का महत्त्व भी बहुत बढ़ गया।[५]

(३) वैधानिक आन्दोलन

सभी रोगों की अमोघ औषधि के रूप में वैधानिकता का विचार मुख्यतः जापान से आया। सन् १८९० के पहले जापान को निर्बल और जापानियों की तुलना में चीनियों के श्रेष्ठ लोग माना जाता था। किन्तु अपने पड़ोसी के संबंध में चीन को अपने विचार एकाएक बदलने के लिए बाध्य होना पड़ा। पहले तो जापान ने साबित कर दिया कि वह चीन से सबल है और फिर उसने एक महान् यूरोपीय शक्ति को सफलतापूर्वक चुनौती दे डाली। जापान की इस नयी शक्ति का रहस्य उसके शासन की पश्चिमी पद्धति अपनाने को समझा गया। और यह धारणा स्वाभाविक भी थी, क्योंकि जापान की शक्ति का परिचय वहाँ संविधान लागू होने के बाद ही मिला था। इसके अतिरिक्त, रूस को छोड़ कर शेष सभी बड़े यूरोपीय देशों में संविधान थे, जैसा कि सन् १९०५ में पश्चिमी शासन-प्रणाली के अध्ययन के लिए विदेश भेजे गये आयोग के प्रतिवेदन को स्वीकार करते हुए शासनादेश में कहा गया था। और रूस की अभी ही एक ऐसी प्रथम एशियाई शक्ति के हाथों पराजय हुई थी, जिसने संविधान-प्रणाली अपने यहाँ लागू की थी। निष्कर्ष बिलकुल स्वाभाविक लगता था।

इस आयोग के प्रतिवेदन से सम्राज्ञी (राजमाता) को यह भी संकेत मिला था कि जापान ने वैधानिक परिपाटी अपना कर भी शासन की प्राचीन निरपेक्षतावादी प्रणाली कायम रख ली थी। ऐसा ही चीन में भी क्यों नहीं हो सकता, ऐसा कोई कारण सम्राज्ञी को नहीं मालूम हुआ। इसलिए उन्होंने कहा: "जहाँ तक हमारा संबंध है, समस्या की पूरी जाँच तथा संविधान द्वारा ऐसी सरकार का अनुगमन करने के लिए तैयार होने की आवश्यकता है, जहाँ सर्वोच्च नियंत्रण सिंहासन में निहित हो और जनता के द्वारा चुने गये लोगों के हाथों में जनता के हितों की रक्षा का भार हो।"[६]

इसमें संशय है कि यदि निरंकुश त्जू ह्सी (सम्राज्ञी) को संदेह भी हो जाता कि

वैधानिक प्रणाली लागू होने से उनके अपने अधिकारों पर कोई सीमा निर्धारित हो जायगी या मंचूवंश की सर्वोच्च सत्ता पर आँच आयगी तो वह वैधानिक प्रणाली लागू करने पर गंभीरतापूर्वक विचार भी करतीं। किन्तु इस तथ्य की स्वीकृति का अर्थ अधिकारियों में जो सुधार-समर्थक थे, उनकी या दरबार की नीयत पर सन्देह करना नहीं है। वे सच्चाई के साथ समझते थे कि जैसा जापान में हुआ, वैसे ही संविधान से चीन सशक्त होगा, यद्यपि नये स्वरूप में प्राचीन प्रणाली ही लागू रहेगी। पश्चिमी शासन-प्रणालियों के संबंध में उनका ज्ञान सीमित था और शासन में जनता के भागीदार बनने के सिद्धान्त की स्वीकृति के उपरान्त राजनीतिक विकास में जो प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, उनकी समझ कम थी। इसलिए चीन में निरंकुश राजवंश की सत्ता कायम रखते हुए शासन का वैधानिक स्वरूप अपनाने के प्रयास में ये लोग सच्चाई के साथ विश्वास करते रहे होंगे। सन् १९१० के बाद जब सुधार-आंदोलन के अंतिम लक्ष्य और मूल उद्देश्य प्रकट होने लगे, तभी मंचुओं ने गैरईमानदारी व छल-कपट से काम लेना शुरू किया।

यदि सन् १९११ की क्रांति न हुई होती तो आधुनिक चीन के इतिहास में सन् १९०८ का वर्ष स्मरणीय होता, क्योंकि तभी सरकार ने वैधानिक शासन लागू करने के लिए पहला कदम उठाया था। सिंहासन की ओर से संविधान के 'सिद्धान्तों' का निरूपण हुआ, क्रमिक प्रगति के निश्चित कार्यक्रम की घोषणा हुई, जिसके अनुसार नौ वर्ष में राष्ट्रीय संसद् का गठन होना था, तथा उन नियमों की स्वीकृति हुई जिनके अंतर्गत एक वर्ष के भीतर प्रान्तीय विधान-सभाओं का गठन होना था।

"संविधान के सिद्धान्तों" में जो दृष्टिकोण परिलक्षित था, उसका संक्षिप्त वर्णन अभीष्ट है। सम्राज्ञी ने शुरू में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, उसी की यहाँ पुनरावृत्ति हुई थी। "सिद्धान्तों" की स्वीकृति-संबंधी शासनादेश के एक उद्धरण से बात स्पष्ट हो जायगी। जिन विदेशी राष्ट्रों ने "ऊपर की प्रेरणा से संविधानों को लागू किया है, उन्होंने पहले दरबार की सर्वोच्च सत्ता निरूपित की है और उसके बाद जनता को शासन के मामलों में जाँच-जानकारी करने की सुविधा प्रदान की है ··· लगभग उन सभी देशों में, जहाँ संविधान की स्वीकृति ऊपर से आयी है, सभी अधिकारों व शक्तियों का स्रोत दरबार ही है। संसद् संविधान से बनेगी, संविधान संसद् से नहीं। सम्राट् के आदेश से ही चीन की वैधानिक सरकार बनेगी।"[७] फलतः, मुख्य बल इस बात पर दिया गया कि सिंहासन के अधिकार अक्षुण्ण रहें, ताकि "ता त्सिग साम्राज्य पर ता त्सिग वंश का शासन युग-युग तक रहे, उसका सम्मान शाश्वत हो।" यह स्वीकार करना होगा कि मंचू-वचन पर देश का विश्वास जमाने के लिए यह कोई अच्छी शुरुआत नहीं थी, किन्तु तब भी प्रगति की ओर यह एक कदम तो था ही।

क्रमिक विकास का कार्यक्रम नौ वर्ष का बनाना विवेक का परिचायक था, उसके निर्माताओं में ईमानदारी की कमी का नहीं। इस लम्बे समय से यह समझ झलकती थी कि चीन तब तक शासन की प्रतिनिधित्वपूर्ण प्रणाली के लिए तैयार नहीं हुआ था और सुधारों का भवन बनाने के पहले उसकी नींव मजबूत करना आवश्यक था। इस लम्बी अवधि का दूसरा अर्थ यह लगाया जा सकता था कि इससे मंचू-वंश को साँस लेने का अवसर मिल रहा था और इस बीच में वह अपने शासन में फिर से प्राण फूँक सकता था। इस अवधि के हर वर्ष कुछ न कुछ परिवर्तन होने थे, जैसे स्थानिक शासन संस्थाओं की स्थापना, विधि-सुधार, जनगणना, पुलिस-पुनस्संगठन, अशिक्षा को दूर करने के लिए शिक्षा को अधिक व्यापक बनाना, आय-व्ययक व लेखा-परीक्षा-प्रणालियों को लागू करना तथा संवैधानिक, राजवंश व संसदीय कानूनों को लागू करना। कार्यक्रम की परिणति नवें वर्ष में संसद्, प्रिवी कौंसिल तथा मंत्रिमंडल की स्थापना में होती थी। ये सभी सुधार आवश्यक थे और ईमानदारी से लागू किये जाते तो नये शासन की आधारभित्ति बनते। किन्तु, सन् १९०८ के बाद के वर्षों की अव्यवस्था तथा, संभवतः, सुधारों में दिलचस्पी की कमी के कारण, कार्यक्रम के अंतर्गत उठाये गये अनेक कदम केवल कागज तक ही सीमित रह गये।

एक तीसरा महत्त्वपूर्ण कदम, जिसका आश्वासन सन् १९०७ में दिया गया और जो सन् १९०८ के सुधार कार्यक्रम में शामिल किया गया, वह था राष्ट्रीय संसद् की स्थापना के प्रारम्भिक कदम के रूप में प्रान्तीय विधान-सभाओं की स्थापना। यह आश्वासन पूरा भी किया गया और अक्तूबर, १९०९ में विधान-सभाएँ बनीं। विधान-सभाओं के सदस्य ऐसे निर्वाचक-मंडलों द्वारा छाँटे गये थे, जो बहुत सावधानी के साथ सीमित की गयी मतदाता-सूचियों के आधार पर चुने गये थे; इन सभाओं के कार्य-अधिकार भी बहुत सावधानी के साथ सीमित रख गये थे। इन सभाओं के विनियमन के लिए निर्मित नियमों में कहा गया था—"यह न भूलना चाहिए कि सभी विचारक सभाओं का कार्य वाद-विवाद तक सीमित है; उनके कार्यकारी अधिकार बिलकुल नहीं होते।"[८] और मुख्यतः ये विधानसभाएँ केवल उन्हीं विषयों पर विचार कर सकती थीं, जो राज्यपाल या वाइसराय इनके विचारार्थ भेज देते थे। स्पष्टतः इरादा यह था कि इन संस्थाओं द्वारा जनमत जान लिया जाय, इन्हें शासक संस्थाएँ न बनाया जाय। इन संस्थाओं से शासकों का सद्भाव तो प्रकट होता, किन्तु वे उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती थीं। किन्तु मंचुओं के दुर्भाग्य से, विधानसभाओं ने शुरू से ही प्रान्तीय शिकायतों को प्रकट करना शुरू कर दिया और वे अशांति और असंतोष व्यक्त करने के केन्द्र बन गयीं। उन्होंने मिलकर माँग की कि राष्ट्रीय संसद की स्थापना की तैयारी की अवधि घटायी जाय;

उन्होंने केन्द्रीय शासन की रेलवे-नीति पर असंतोष प्रकट किया; उन्होंने प्रान्तीय नीतियों के वास्तविक विकास के संबंध में स्पष्ट मत व्यक्त किये, जो बहुधा राज्यपाल व वाइसराय की नीतियों के विरुद्ध होते थे। कानून द्वारा जो कार्य उनके लिए नियत थे, उस क्षेत्र से बाहर जाकर उन्होंने इतने कार्य किये कि कुछ प्रान्तों में लगता था कि वे अपने लिए नियंत्रण कर सकने का पद प्राप्त करना चाहती थीं। क्रांति शुरू होने पर वे उसके निर्देशन का माध्यम बन गयीं। पूरे तौर पर, उन्होंने क्रांति के विकास को रोकने की जगह उसके आगमन में सहायता ही पहुँचायी।

एक अन्य दिशा में भी सन् १९०८ का वर्ष महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि थोड़े ही समय के आसपास सम्राट् व राजमाता सम्राज्ञी की मृत्यु हो गयी। कुआंग ह्सू की मृत्यु का इतना महत्त्व नहीं था, किन्तु लगभग उसी समय विधवा सम्राज्ञी की मृत्यु के कारण शासन के शीर्ष स्थान से एक ऐसा सशक्त व्यक्तित्व हट गया, जिसने सन् १८६० से चीन पर शासन किया था। सम्राट् की मृत्यु के समय, अपनी मृत्यु इतने निकट न जानकर, 'प्राचीन बुद्ध' (राजमाता) ने एक अवयस्क बालक को सिंहासन का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था और युवराज चुन को नाममात्र के लिए राजप बना दिया था। किन्तु, राजमाता की मृत्यु से चुन नाममात्र के नहीं वास्तविक शासक हो गये।[9] वह सद्भावनापूर्ण व्यक्ति थे, पर बढ़ती हुई जटिलता व कठिनाइयों की परिस्थितियों का सामना करने के लिए न तो उनमें काफी सूझ-बूझ थी और न काफी शक्ति ही थी। और न पीकिंग में ही कोई ऐसा व्यक्ति था, जो अपनी योग्यता व विवेक से स्थिति का सामना कर सकता। प्रगतिशील प्रवृत्तियों का जो एक योग्य व्यक्ति था और जो तब भी मंचू-वंश को बचा सकता था, वह सम्राट् की अंतिम इच्छा की पूर्ति के लिए सन् १९०८ में नौकरी से अवकाश प्राप्त कर चुका था। कुआंग ह्सू सन् १८९८ के राज्यविप्लव में भाग लेने के कारण युआन शिह-क'आई के जन्म भर के लिए शत्रु बन चुके थे। इसलिए अपनी मृत्यु-शय्या पर, सम्राट् ने युआन को फांसी देने की माँग की। इसके अतिरिक्त, जैसा कि सशक्त व्यक्तियों के साथ होता है, दरबार में भी युआन के शत्रु थे ही, त्जू हि्सी की मृत्यु से उनके मुख्य समर्थक का अंत हो गया। युवराज चु'न युआन को मृत्युदण्ड देने में अपने को स्वतंत्र नहीं मान रहे थे, अतएव उन्होंने युआन को नौकरी से अवकाश दे दिया। "किन्तु, उनके पैरों में रोग लग गया है, जिस कारण चलने-फिरने में उन्हें कठिनाई होती है और इस प्रकार अपने काम का उत्तरदायित्व निबाहने में वह असमर्थ हैं। अतएव उनके प्रति सहानुभूति के रूप में हम आदेश देते हैं कि वह अपने पद त्याग कर अपने जन्मस्थान जाकर अपना इलाज करवा सकते हैं।"[10] युआन के साथ उनके अनुयायियों के रूप में, अनेक योग्य व कुशल अधिकारी भी सार्वजनिक जीवन से संन्यास लेकर चले गये।

इस प्रकार पीकिंग से दो सशक्त प्रमुख व्यक्तित्व एक साथ ही हट गये और शासन से उनके हटने से स्वाभाविक रूप से ही सुधार-कार्य के भविष्य का प्रश्न उठ ख़ड़ा हुआ। २५ नवम्बर, १९०९ के शासनादेश में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया। "गत वर्ष आठवें चन्द्रमा के प्रथमदिवस जो शासनादेश जारी हुआ था, उसका हम श्रद्धापूर्वक पालन करेंगे।" सुधार जारी रहने थे, किन्तु कुशल केन्द्रीय निर्देशन के अभाव में, और उसके फलस्वरूप, वे इसी प्रकार जारी रहने थे कि लोगों का विश्वास बन जाय कि लगातार दबाव डालते रहने पर ही सन् १९०८ के कार्यक्रम का पालन हो सकेगा।

नया शासन अधिकांशतः कागज पर ही रह जानेवाले आदेशों की घोषणाओं द्वारा स्थानीय शासन में परिवर्तन तथा शिक्षा के अवसरों के प्रसार के लिए प्रयास करता रहा। किन्तु, तब तथा बाद में भी स्पष्ट प्रवृत्ति यही थी कि शासनादेश के प्रकाशन मात्र से सुधार पूरा हो जाना मान लिया जाता था। और जहाँ तक केन्द्रीय सरकार ने अपना कर्त्तव्य केवल उत्साहवर्धन ही माना, उस पर ईमानदारी की कमी का आरोप भी लगा। दूसरी ओर, चूँकि अनेक सुधार प्रान्तीय अधिकारियों के सहयोग के बिना चल ही नहीं सकते थे, पीकिंग सरकार का दोष केवल आंशिक ही माना जायगा।

सुधारों में जो कागजी घोषणाओं से आगे बढ़ गये थे, उनमें प्रान्तीय विधानसभाओं की स्थापना का वर्णन किया जा चुका है। दूसरा ऐसा ही सुधार था अक्तूबर, १९१०, में राष्ट्रीय विधानसभा की स्थापना। इस संस्था का गठन इस प्रकार का था कि धारणा यही बनती थी कि यह मूलतः एक रूढ़िवादी संस्था होगी और हर बात में सरकार का समर्थन करेगी। इसके आधे सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा छाँटे जाते थे और आधे प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा चुने जाते थे। निर्वाचन सावधानी के साथ सीमित किये गये मतों पर निर्भर होने के कारण समझा यह जाता था कि प्रान्तीय प्रतिनिधि सरकार द्वारा नामांकित सदस्यों से कुछ ही कम रूढ़िवादी होंगे। किन्तु, राष्ट्रीय विधान-सभा का इतिहास भी प्रान्तीय विधान-सभाओं जैसा ही रहा। शुरू से ही वह सरकार के विरोध में आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ी। नौ वर्षीय कार्यक्रम के अनुसार संविधान जब लागू होना था, उस अवधि को कम कराने के लिए इस संस्था ने प्रयत्न किया और सरकार से यह आश्वासन प्राप्त कर लिया कि यह अवधि घटा कर पांच वर्ष कर दी जायगी और इसी में सारी तैयारी करके सन् १९१३ में राष्ट्रीय संसद् की स्थापना हो जायगी। इसने सरकार की वित्तीय व प्रशासकीय नीतियों की कड़ी आलोचना की और राज्य परिषद् के अधिक्षेप (महा अभियोग लगाने) में वह केवल इसीलिए रुक गयी कि जिस बात पर विवाद था, उसमें इसी का दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया गया। सन् १९११ के वसन्त में इसने माँग की कि मंत्रिपरिषद् उत्तरदायी होनी चाहिए और इसके अधिवेशन की समाप्ति

के पहले यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया। इसके सारे कार्य-कलाप से प्रकट था कि यह सरकार को सुधार के मार्ग पर कायम ही नहीं रखना चाहती, बल्कि सुधार कार्यक्रम को और विस्तृत व संशोधित बनाना चाहती है। यह इरादा यांग्त्सी प्रान्तों में विद्रोह होने के पूर्व ही प्रकट हो चुका था और इसलिए यह धारणा बनती है कि यदि क्रांति न होती तो चीन का निरंकुश एकतंत्र धीरे-धीरे संवैधानिक राजतंत्र में बदल जाता। सन् १९११ की शरद् ऋतु में हुई घटनाओं पर क्रान्ति की इतनी स्पष्ट छाप थी कि उन पर उसी संदर्भ में विचार उपयुक्त होगा। अतएव घटनाओं की विवेचना के पूर्व क्रांति के कारणों पर विचार आवश्यक है।

(४) क्रांति के कारण

चीन में इस प्रकार के हर आंदोलन के पीछे आवादी व जीवननिर्वाह के साधनों पर अत्यधिक दवाव की समस्या रही है। ''जिस देश में यह अडिग विश्वास हो कि जीवन में हर व्यक्ति का यह प्रथम कर्त्तव्य है कि अपने व अपने पूर्वजों के आराम के लिए जितने अधिक संभव हों उतने पुत्र उत्पन्न करे और जहाँ हर व्यक्ति इस विश्वास पर आचरण करे, वहाँ अनिवार्यतः असंख्य जनता गरीबी के गहरे गर्त में गिरती जायगी और राजनीतिक व्यवस्था में खलबली व भीषण परिवर्तन होंगे।''[११] चक्र शुरू होता है तब आवादी व उपलब्ध खाद्यान्न में संतुलन होता है। खाद्य-उत्पादन कुछ दिनों में कम पड़ जाता है, क्योंकि आबादी तेजी से बढ़ती है। संतुलन बिगड़ने से कुछ लोग भुखमरी या लूट-मार के लिए बाध्य होते हैं। आबादी बढ़ने के साथ डाकुओं व लुटेरों की संख्या बढ़ने के कारण जीवन-संघर्ष से सार्वजनिक शांति अधिकाधिक भंग होती है। यदि सरकार सशक्त और सक्षम हुई, अनेक डाकू पकड़े व मारे जाते हैं और अंतिम बड़ा उपद्रव कुछ दिनों के लिए टल जाता है। किन्तु, सूखा, अनावृष्टि या बाढ़ से सामान्य परिस्थिति असामान्य हो जाती है। बड़ी संख्या में लोग मरते हैं और डाकू बन जाते हैं। यदि शासन शांति-भंग का कड़ाई से दमन करता है और बहुत से लोग मर जाते हैं तो संतुलन अंशतः सुधर जाता है और विद्रोह टल जाता है। यदि शासन निर्बल हुआ तो अशांति व विद्रोह व्यापक हो जाते हैं और संघर्ष के बाद फिर संतुलन स्थापित हो सकता है। हर हालत में समस्या के ये समाधान अस्थायी हैं।

यह बताया जा चुका है कि उन्नीसवीं शताब्दी में मंचू-शासन दिनोंदिन कमजोर होता रहा था। त'आई पिंग विद्रोह के दमन के लिए अंशतः विदेशी सहायता प्राप्त हुई थी। किन्तु इस विद्रोह में जो नर-संहार हुआ व बाद के दो मुसलिम-विद्रोहों व अनेक छिटफुट उपद्रवों में भारी संख्या में जो लोग मारे गये, उससे अस्थायी रूप से आबादी का

बढ़ाव रुक गया। किन्तु, जनसंख्यावृद्धि में यह तथा कुछ अकाल एक अवरोध मात्र थे; सन् १८७८ के दुर्भिक्ष में ९० लाख से अधिक व्यक्तियों के मरने का अनुमान था। इन संकटों से उबरना इसलिए संभव हुआ कि वे अधिकांशतः स्थानीय ही रहे। आबादी इन सबके बाद भी बढ़ती रही और उसके साथ अशांति व असंतोष भी बढ़ते रहे। सन् १९१०–१९११ में सामान्य उत्पादन में बाढ़ आने से फिर व्याघात हुआ, मध्य के प्रान्तों में बाढ़ आयी जो "चालीस वर्षों में सबसे अधिक विकराल थी......लाखों लोग बेघरबार हो गये, अनहुई व कियांगसू के दो पुराने प्रान्तों में पांच वर्ष के भीतर तीसरी बार फसलें नष्ट हो गयीं और महाकाल व महामारी की भीषण छाया पड़ गयी। शानतुंग, चेकियांग, किआंगसी व हूपेह प्रान्तों में भी तबाही आयी, कहीं बाढ़ से और कहीं सूखे से; इस प्रकार सात प्रान्तों के छः लाख परिवारों के ३० लाख व्यक्ति सचमुच भूखों मरने लगे... ऐसी परिस्थितियों में असंतोष बढ़ कर विद्रोह की धधकती ज्वाला बन जाता है।"[१२] यह भी ध्यान देने योग्य है कि मानव-जीवन की पुनीतता के पश्चिम से आये विचार के कारण दुर्भिक्ष सहायता-कार्य जिस तत्परता से हुआ, वह आधुनिक युग से पूर्व के चीन में नहीं आ सकती थी। फलस्वरूप बहुत से लोग अकाल मृत्यु से तो बच गये, किन्तु सामान्य जीवन उनके लिए संभव नहीं हुआ। इस प्रकार विद्रोह की ज्वाला सुलगाने के लिए ऐसे लोग भी बच गये, जो सामान्यतः न बचते।

आबादी का दबाव भुखमरी या विद्रोह की हिंसा के अलावा अन्य उपायों से भी कम किया जा सकता था। उदाहरणार्थ, अट्ठारह प्रान्तों की अतिरिक्त आबादी विदेश या साम्राज्य के कम घने बसे क्षेत्रों में जाकर बस सकती थी। इस प्रकार के प्रवास में सबसे बड़ी बाधा पूर्वजों की समाधियों की पूजा के कारण थी, क्योंकि, "हर व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह निश्चित अवधियों के बाद पूर्वजों की कब्रों पर बलि दे और समय आने पर अपने पिता-पितामह की कब्र के बगल में ही दफन हो। इस प्रकार आबादी का बहुत बड़ा भाग शताब्दियों से एक ही स्थान पर बँधा रह गया है।"[१३] आबादी के एक ही स्थान पर बँधे रहने का एक अन्य कारण जो सन् १९०० के बाद भी कायम था, वह था आवागमन के साधनों का अभाव। इन कठिनाइयों के बाद भी आबादी चिहली, विशेषकर शानतुंग प्रान्त से मंचूरिया की ओर बढ़ने लगी थी। बहुत से लोग वसन्त में उत्तर जाते थे और फसल कटने के बाद घर वापस लौट आते थे, लेकिन जो लोग मंचूरिया में ही परिवार सहित बसते जाते थे, उनकी संख्या तेजी से बढ़ रही थी। आबादी के इस उत्तर की ओर बढ़ाव का मुख्य कारण पीकिंग-मुकडेन व मंचूरिया के अन्य रेल-मार्गों का बनना था। क्रांति के समय, यातायात के साधनों का यह विकास उत्तर-पश्चिम की दिशा में वहाँ काफी नहीं बढ़ पाया था, जहाँ उपनिवेशीकरण का दूसरा बड़ा क्षेत्र था और

इसीलिए चीनी आबादी उधर बढ़ी भी नहीं थी, यद्यपि आसपास के प्रान्तों से थोड़ी-बहुत आबादी वहाँ पहुँच अवश्य गयी थी।

इसी प्रकार दक्षिणी प्रान्तों, विशेषकर क्वांगतुंग से बढ़ती हुई जन-संख्या का कुछ भाग विदेशों में जीविका के साधन ढूंढ़ने लगा था। यांग्त्सी के उत्तर के निवासियों की अपेक्षा कैण्टनवासी इस संबंध में अधिक साहसी थे और बाहरी दुनिया से उनका संपर्क भी अधिक लम्बा था और इसी संपर्क ने उन्हें धीरे-धीरे अपनी जन्मभूमि से बाहर आर्कषित किया। अमरीका के प्रशान्त सागर तट और मकाओ में चीनी मजदूरों के प्रवेश का ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अमरीका में सन् १८८० व सन् १८९० के आसपास उनके प्रवेश-निषेध-संबंधी कानून बन गये थे और मकाओ में भी उनका प्रवेश वर्जित हो गया था; अमरीका में सन् १८३० से सन् १९११ के बीच तीन लाख से अधिक चीनी गये थे और सन् १९११ में उन चीनियों की संख्या कुल एक हजार से कुछ ही अधिक थी, जो अमरीका पहुँचे थे। अमरीका का द्वार बन्द होने पर चीनियों ने हवाई द्वीप, फिलीपीन द्वीप समूह, मलय द्वीप समूह, सिंगापुर, कनाडा व मलय-राज्य-संघ की ओर बढ़ाव शुरू किया। हवाई में शीघ्र ही उनका प्रवेश वर्जित हो गया और अमरीकी निषेधाज्ञा सन् १९०२ में फिलीपीन में भी लागू हो गयी। सन् १९०३ में कनाडा ने कानून बना दिया कि वहाँ पहुँचने वाले हर चीनी नागरिक पर ५०० डालर का प्रवेश-कर लगेगा जिससे चीनी प्रवासियों के वहाँ पहुँचने पर रोक लग गयी। मलय-राज्य-संघ व सिंगापुर में सन् १९११ तक लगभग १३ लाख चीनी पहुँच चुके थे, किन्तु तब तक विदेशों में चीनियों की संख्या लगभग २५ लाख तक पहुँच चुकी होगी। यह प्रवास क्वांग-तुंग प्रान्त की आबादी के लिए भी एक बूंद के समान ही था किन्तु, इससे एक अन्य प्रकार से सहायता मिल गयी। चीनी प्रवासी विदेशों से काफी धन घर भेजने लगे थे, जिससे उनके परिवारों के साधनों में वृद्धि हो गयी थी। विदेश-स्थित चीनियों की संपन्नता ने क्रांति को काफी मदद पहुँचायी, क्योंकि उन्होंने मुक्तहस्त से इसके लिए दान दिये।

इन सबसे यह प्रकट है कि जिस तरह अकाल और विद्रोह चीन की आबादी की समस्या हल करने में असफल सिद्ध हुए थे, उसी प्रकार उपनिवेशीकरण और विदेश-प्रवास भी असफल रहे, क्योंकि सन् १८८५ से सन् १९११ तक चीन की जनसंख्या ३७ करोड़ ७० लाख से बढ़कर ४३ करोड़ हो चुकी थी। सन् १९१०-१९११ के अकाल और इस बढ़ी हुई आबादी के कारण सन् १९११ तक खाद्य-समस्या बड़ी विकट हो चुकी थी और उससे व्यापक विद्रोह को उकसावा मिला।

दूसरी आर्थिक समस्या वित्तीय थी। सन् १९०० के बाद के सुधार-कार्यक्रमों के लिए धन की आवश्यकता बढ़ गयी थी। आधुनिक साज-सज्जायुक्त सेना, रेल-मार्गों का

निर्माण, नयी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना आदि का ख़र्च बहुत था। जापान से हुए युद्ध तथा मुक्का-आंदोलन के संबंध में भरनी पड़ रही क्षतिपूर्तियों के भी बोझ भारी थे। इनमें सीमा-शुल्क व अन्य कुछ करों की सारी आय निकल जाती थी और सामान्य सरकारी व्यय के लिए यह राशि उपलब्ध नहीं हो पाती थी। फलतः कर-भार बढ़ने लगा और धीरे-धीरे नये कर लगने लगे। इससे भी मंचू-राजवंश के विरुद्ध असंतोष-अशांति की भावनाएँ बढ़ीं।

(५) क्रांतिकारी गुटों का प्रभाव

इस आर्थिक असंतोष से आम जनता के मन पर असंतुष्ट प्रजा की जगह सच्चे क्रांतिकारियों के संदेश का प्रभाव पड़ने लगा। सन् १८९८ के सुधारकों के निकाले जाने के पहले से ही चीन में एक क्रांतिकारी दल था। क्रांतिकारी व सुधारक तत्त्व मुख्यतः टोकियो में केन्द्रित थे और उनके स्पष्ट कार्यक्रम थे। क'आंग यू–वी व उनके शिष्य यि'–च'आओ के नेतृत्व में सुधार व संवैधानिक राजतंत्र के लिए प्रचार करते थे और सन् १९०५ के बाद मंचू-शासन के अधीन जो सैद्धांतिक सुधार कार्यक्रम चला, उसके लिए वे अग्रिम प्रवर्त्तक मात्र सिद्ध हुए। किन्तु, उनकी काररवाइयों के फलस्वरूप संवैधानिक सुधारों के लिए जनमानस पर अनुकूल प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव प्रान्तीय विधानसभाओं व राष्ट्रीय विधानसभा की स्थापना तथा मंचू-शासन पर एँड़ लगाने में प्रकट हुआ। क्रांतिकारियों के नेता थे डाक्टर सुनयात-सेन और वे राजवंश के विरुद्ध थे। सन् १९०५ तक उनका संगठन बन चुका था और उसे तुंग मेंग हुई (संश्रय-समाज-संगठन) का नाम मिल चुका था; सन् १९०५, १९०६, १९०७ व १९१० में इस संगठन ने छिटफुट विद्रोह करवाये थे और सन् १९११ के उपद्रवों को विद्रोह की दिशा प्रदान की थी।

कुछ समय तक क्रांतिकारियों की भरती मुख्यतः उन विदेशी प्रवासी चीनियों में ही होती रही, जिनमें डाक्टर सुन काफी व्यापक दौरे कर के अपने संगठन का प्रचार करते थे। सन् १९०५ के बाद यह प्रचार मुख्य चीन-भूमि पर होने लगा। यांग्त्सी के दक्षिण में जो अनेक गुप्त संस्थाएँ लगभग हमेशा से मौजूद थीं, उनके सदस्यों में से क्रांतिकारी-आंदोलन के लिए भरती होने लगी। जो नयी आदर्श सेना बन रही थी, उसमें क्रांतिकारी-आंदोलन के लिए भरती पर बड़ा जोर दिया गया और हैनकाउ व नानकिंग में स्थित सेना प्रभागों में मंचू-विरोधी या सुधार समर्थक रंगरूटों की सहानुभूति काफी बड़ी मात्रा में प्राप्त हुई। उत्तर के प्रान्तों में स्थित सेना में क्रांतिकारी-आंदोलन को अधिक सफलता नहीं मिली।

क्रांतिकारी-प्रचार का तीसरा केन्द्र नये छात्र वर्ग में था। सन् १९००, विशेषकर सन् १९०५ के बाद चीनी छात्र बड़ी संख्या में अध्ययनार्थ विदेश जाने लगे थे।

उनमें से कुछ अमरीका व यूरोप के देशों में अनेक वर्षों तक ज्ञान-अर्जन के लिए जाते थे किन्तु जापान जानेवालों की संख्या बहुत अधिक थी; इनमें से अनेक उन लोगों के चंगुल में फँस जाते थे, जो कुछ ही सप्ताहों में पश्चिमी ज्ञान व विषयों में पारंगत कराने के वादे करते थे। चूँकि चीनी छात्रों का मुख्य उद्देश्य जल्दी-से-जल्दी सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने की क्षमता हासिल करना होता था, वे "केवल चीनियों के लिए" स्थापित हुए इन बरसाती स्कूलों में जाना अधिक पसन्द करते थे और लगातार वर्षों तक पढ़ाई कराने वाले जापानी स्कूलों में प्रवेश करना नहीं चाहते थे; जापान की नियमित शिक्षा-संस्थाओं में इन सब चीनी छात्रों को भरती करने की गुंजाइश भी नहीं थी। चूँकि इन बरसाती स्कूलों में शुल्क अदा करने मात्र से डिगरियाँ व उपाधियाँ मिल जाती थीं, इन छात्रों के पास समय काफी बचा रहता था, जिसका उपयोग बहुधा वहाँ निष्कासित चीनी क्रांतिकारियों से संपर्क बढ़ाने में होता था। स्वदेश वापस लौटने पर बहुधा वे पाते थे कि उनके लिए सरकारी नौकरियाँ नहीं हैं, चाहे विदेशी डिप्लोमा व सनदें उनके पास भले ही हों। ऐसे लोगों को सरकार से शिकायत शुरू हो जाती और लगातार होनेवाले क्रांतिकारी प्रचार का उन पर प्रभाव पड़ने लगता। यद्यपि उनका ज्ञान सतही होता था, उनके विदेशी अनुभव के कारण उनकी स्थिति अवश्य ऐसी हो जाती थी कि वे क्रांतिकारी विचारों व सिद्धान्तों के प्रचार के प्रभावशाली केन्द्र हो जाते थे। इस प्रकार, क्रांतिकारी-आंदोलन के निष्कासित नेताओं के अतिरिक्त एक देशी व स्थानीय नेतृत्व भी इस आंदोलन को मिलने लगा। कुछ छात्रों को तो वास्तव में नये ज्ञान का पूर्ण ज्ञान होता था, पर अनेकों को जनतंत्र आदि के उन नारों भर का ज्ञान रहता था जो शीघ्र ही बहुत महत्त्वपूर्ण होनेवाले थे। नये चीन का महत्त्व उसके ज्ञान में नहीं राजनीतिक यथास्थिति से असंतोष में था।

ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं के प्रभाव का वर्णन किये बिना क्रांति में छात्रों के योग की पूरी भूमिका स्पष्ट नहीं हो सकती। ये मिशन स्कूल हर वर्ष अपने स्नातकों को विदेश भेजते थे और इस प्रकार नये चीन के निर्माण में योगदान कर रहे थे। यह कहना कि इन संस्थाओं के अनेक स्नातक अपने भविष्य से असंतुष्ट और क्रांति के तत्पर समर्थक हो जाते थे, यद्यपि शासन की उत्तरदायित्वपूर्ण प्रणाली की सफल प्रक्रियाओं व समस्याओं के संबंध में उनका ज्ञान सतही या पुस्तकों तक ही सीमित रहनेवाला होता था, संस्थाओं के शिक्षा स्तर पर लांछन नहीं माना जाना चाहिए। किन्तु, यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि चीन में अपनी अनोखी स्थिति के कारण छात्र-वर्ग में सन् १९११ तक नये विचारों का इतना समावेश हो चुका था कि लगभग पूरा वर्ग क्रांतिकारी-आंदोलन की ओर झुक गया। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि क्रांति व उसके बाद स्थापित पहली

विधानसभाओं में जो उग्र तत्व थे, उनमें से अनेक यह तो मिशन स्कूलों के स्नातक थे या वहाँ पढ़े थे। इसी प्रकार यह तथ्य भी महत्त्वपूर्ण है कि सन् १९०५ के बाद चीन सरकार ने जब नया शिक्षा-कार्यक्रम चलाने का प्रयास किया तो अध्यापकों की खोज में उसे इन्हीं मिशनस्कूलों व विदेश से लौटे स्नातकों को भरती करना पड़ा। इस प्रकार मंचू-शासन के सुधार-कार्यक्रम का प्रत्यक्ष फल इन लोगों के प्रभाव-क्षेत्र को व्यापक बनाने में सहायक सिद्ध हुआ।

(६) विद्रोह के तात्कालिक कारण

क्रांतिकारी विचारों के प्रचार व क्रांतिकारी योजनाओं के निर्माण में संचार-संवहन के नये साधन—तार, डाक व रेल व्यवस्थाएँ—भी सहायक सिद्ध हुए। चीनी भाषा के पत्र-पत्रिकाओं के तेजी से हुए विकास से भी इसमें सहायता मिली; इन पत्रों में मुख्यतः सुधारों की ही विवेचना होती थी और खुले रूप से, यद्यपि बड़ी सावधानी के साथ, टोकियो में प्रकाशित और चोरी-छिपे चीन लाये गये क्रांतिकारी व सुधारवादी साहित्य से नेतृत्व व प्रेरणा प्राप्त की जाती थी। जो पत्र सबसे अधिक उग्र थे वे शंघाई जैसे विदेशी अधिकार के क्षेत्रों से वितरित होते थे और इसलिए उन पर चीन सरकार का कोई नियंत्रण नहीं था।

ये वे कुछ मूल कारण थे, जिनके फलस्वरूप असफल सीमित उपद्रवों की जगह क्रांति हो गयी। एक अन्य प्रत्यक्ष व तात्कालिक कारण तथा विद्रोह का अवसर था सन् १९०९ से १९११ के बीच पीकिंग के केन्द्रीय शासन द्वारा अपनायी गयी रेल-नीति तथा उसके निष्कर्ष। शुरू में विदेशी शक्तियों ने रेलमार्गों के निर्माण के लिए जो रिआयतों की लूट मचायी थी, उसके बाद कुछ दिनों तक इस दिशा में शांति रही; फिर यह प्रवृत्ति परिलक्षित हुई कि रेलमार्ग का निर्माण विदेशी नहीं देशी धन से हो और राष्ट्रीय नहीं प्रान्तीय आधार पर हो। मूल प्रश्न केन्द्रीकरण बनाम विकेन्द्रीकरण का था। किन्तु विकेन्द्रीकरण के समर्थकों को अपने पक्ष में तर्क देने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि राष्ट्रीय रेल-प्रणाली पर पूँजी द्वारा विदेशी प्रभुत्व हो जाने के डर से समस्या अधिक जटिल हो गयी थी। सन् १९०५ के बाद जो "अधिकार वापस लो" आंदोलन चला प्रान्तीय नियंत्रण की माँग उसका मुख्य लक्षण थी। हुकुआंग के वाइसराय, चांग चिह-तुंग, रेलमार्ग प्रणाली के विस्तार के प्रमुख समर्थकों में थे किन्तु उन्होंने रिआयतों की नीति के खतरे समझ कर रेलमार्गों पर प्रान्तीय नियंत्रण कर देने का परामर्श दिया। उन्हीं के समझाने-बुझाने पर हैनकाउ-कैण्टन का मुख्य मार्ग का निर्माण संबंधित प्रान्तों के नियंत्रण में दे दिया गया था और यही नीति हैनकाउ-जेचुआन मार्ग के संबंध में भी बरती गयी थी। सन् १८९८ में दिये गये आश्वासन के फलस्वरूप चीन-सरकार शंघाई-हैंगचाउ-निंगपो रेलमार्ग के लिए ब्रिटेन

से ऋण लेने को बाध्य हुई थी, किन्तु तब भी चेकियांग रेलमार्ग कार्यालय इसे राष्ट्रीय रेलमार्ग बनने से रोकने में सफल हो गया था।

सन् १९०९ तक न केवल केन्द्रीय शासन ही बल्कि वाइसराय चांग चिह-तुंग भी इस नीति के अविवेकपूर्ण होने के कायल हो चुके थे। पहले तो रेलमार्ग के निर्माण के लिए आवश्यक पूँजी प्रान्तों में प्राप्त नहीं होती थी। दूसरे जो भी पूँजी इकट्ठी होती थी, वह रेलवे-निर्माण-कार्यक्रम के पूरे हुए बिना ही गायब हो जाती थी, क्योंकि यह पूँजी दूसरे कामों में लग जाती थी और खूब घूस चलती थी। फलतः यह समझा गया था कि आवश्यक ट्रंक-मार्ग बनाने का काम केन्द्र को फिर से अपने ही हाथ में ले लेना चाहिए। तीसरे, सत्तारूढ़ व्यक्तियों की समझ में पीकिंग की सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए यातायात के साधनों का महत्त्व आ चुका था। किन्तु, सन् १९०९ में नयी नीति कार्यान्वित होने के पहले ही चांग चिह-तुंग की मृत्यु हो गयी; यह दुर्भाग्यजनक था, क्योंकि वाइसराय को प्रान्तों का समर्थन प्राप्त था, जो कि यातायात मंडल के अध्यक्ष को प्राप्त नहीं था। किन्तु उनकी मृत्यु के पहले ही हुकुआंग रेल-मार्ग के निर्माण व उसमें पूँजी लगाने में विदेशियों के साझे के संबंध में प्रारम्भिक समझौता हो चुका था।

सन् १९११ के आरम्भ में यातायात-मंडल के अध्यक्ष शेंग ह्सुआन-हुआई बनाये गये और रेलमार्गों के केन्द्रीकरण की नीति सक्रिय रूप से चलायी गयी। पहले तो हैनकाउ-कैण्टन व हैनकाउ—जेचुआन रेलमार्गों के निर्माण के लिए चार राज्यों के बैंक-समूह से वड़ी धनराशि ऋण के रूप में लेने का समझौता किया गया। साथ ही मुद्रा-व्यवस्था के सुधार व मंचूरिया के उद्योगीकरण के लिए एक करोड़ डालर का ऋण लेने का समझौता हुआ। रेल-मार्ग-ऋण के उद्देश्य को पूरा करने के लिए संबंधित प्रान्तीय हितों से भी समझौता होना आवश्यक था। इस ऋण के लिए विदेशों से हुए समझौते के तत्काल बाद संबंधित प्रान्तों से, जिनमें होकर ये मार्ग जाने वाले थे, विरोध हुआ था और कुछ स्थानों पर उपद्रव भी हुए थे, जिसके फलस्वरूप पीकिंग प्रान्तीय मध्यम वर्ग को यथासंभव संतुष्ट करने के लिए बाध्य हुआ था। इस समस्या का हल हुनान व हूपेह प्रान्तों में यह निकला कि रेलमार्गों में जो हिस्से (शेयर) थे, उनके मूल्य के व्याज सहित सरकारी ऋणपत्र (बाण्ड) दे दिये गये; क्वांगतुंग में इन हिस्सों पर ५० प्रतिशत बट्टा देकर बाण्ड दिये गये। वहाँ व्यवस्था यह की गयी कि हिस्सों के ६० प्रतिशत के लिए ब्याज सहित व ४० प्रतिशत के लिए ब्याजहीन बाण्ड दिये जाने थे, क्योंकि, "स्थिति जटिल थी, हर रेल कंपनी दिवालिया थी और सरकारी प्रस्ताव तर्कसंगत ही नहीं उदार भी था।"[१४] जेचुआन के लिए सरकार ने प्रस्ताव रखा कि केवल उसी राशि के बाण्डों का भुगतान होगा, जो रेलवे-निर्माण-कार्य पर खर्च हुई, उसका नहीं, जो विशेष कर लगा कर या हिस्से बेच कर इकट्ठा की गयी थी। कुल

एक करोड़ ४० लाख ताएल के हिस्से बिके थे; इसमें से आधी राशि ही सरकारी बाण्डों की खरीद, प्रान्त की औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति या हिस्सेदारों को वापस लौटाने के लिए उपलब्ध थी। शेष राशि का लगभग आधा प्रबन्धकों में से एक के शंघाई की रबड़ की तेजी के सट्टे में उड़ चुका था।[१५] अतएव सरकार ने जेचुआन रेलमार्ग के हिस्सेदारों को लगभग ४० लाख ताएल के बाण्ड देने का प्रस्ताव किया। वाइसराय के द्वारा सम्राट् के पास स्मृतिपत्र भेज कर इस समझौते का तत्काल विरोध किया गया। इस विरोध के बाद शांतिपूर्ण प्रतिरोध शुरू हुआ। "दूकानें बन्द कर दी गयीं, कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी, छात्रों ने स्कूल-कालेज जाने से इनकार कर दिया, करों की अदायगी रुक गयी।"[१६] इस विरोध-आंदोलन के कुछ नेताओं की गिरफ्तारी पर वाइसराय के कार्यालय पर हमला हुआ प्रतिरोध शांतिपूर्ण की जगह उग्र हो उठा। यह सितम्बर, १९११ में हुआ। विद्रोह का पूरी ताकत से दमन करने की जगह केन्द्रीय शासन ने तुष्टीकरण की नीति अपनायी, जो चाहे अंततः सफल ही होती, उस समय के लिए बहुत ही धीमी सिद्ध हुई। इस नीति के पीछे अपनी कमजोरी की स्वीकृति की भावना भी हो सकती थी और यह धारणा भी कि केन्द्रीकरण की नीति का विरोध ज़ेचुआन तक ही सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त, शासन पर शेंग ह्सुआन हुआई की धन-संबंधी कुख्याति का भी प्रभाव पड़ा होगा; शेंग योग्य व्यक्ति थे, किन्तु चीनी व्यापारियों की स्टीम नेवीगेशन (वाष्प संचालित नौ संचार) कंपनी के प्रबन्ध और कुशल शासक ली हुंग-चांग के नीचे कई पदों पर काम करते समय उनकी रुपये-पैसे के संबंध में बदनामी हो गयी थी। उन्होंने जो यह सुझाव रखा कि कंपनी के प्रबन्धकों द्वारा उसकी पूँजी के दुरुपयोग व उससे सट्टा खेलने के लिए जेचुआन के मध्यम-वर्ग को दंडित किया जाये, उसे उनकी स्वयं की ख्याति के संदर्भ में असंगत माना गया।

(७) सन् १९११ की क्रांति

ज़ेचुआन में जो विद्रोह हुआ वह राजवंश के विरुद्ध नहीं था, इसलिए क्रांति की शुरुआत उससे नहीं मानी जाती, बल्कि १० अक्तूबर, १९११ को हैनकाउ में अकस्मात् एक बम फटने की घटना से मानी जाती है; यह दुर्घटना जब हुई इस बड़े पश्चिमी प्रान्त में तुष्टीकरण के प्रयास हो ही रहे थे। जहाँ बम फटा था, उस जगह की तलाशी लेने पर पुलिस को पता लगा कि वह क्रांतिकारियों का अड्डा था और वहाँ बम बनाये जा रहे थे; पुलिस को वहाँ के स्थानीय क्रांतिकारियों के नामों की सूची भी मिल गयी। इसके फलस्वरूप, तथा इस डर से कि पुलिस आगे भी काररवाई करेगी, वुचांग-स्थित सैनिकों ने विद्रोह कर दिया और अपने सेनापति, कर्नल ली युआन-हुंग को विद्रोह का नेतृत्व करने को बाध्य कर दिया। कर्नल को क्रांति में भाग लेने के लिए पहले राजी नहीं किया गया था, किन्तु एक

विद्रोहियों का नेतृत्व सम्हालने के बाद वह लोकतांत्रिक नेताओं में सबसे अधिक विश्वसनीय सिद्ध हुए। थोड़ी बहुत लड़ाई के बाद वुचांग सैनिकों ने वुचांग, हैनयांग व हैनकाउ पर कब्जा करके मध्य चीन के सबसे बड़े केन्द्र पर आधिपत्य जमा लिया।

क्रांति की ज्वाला तेजी से यांग्त्सी तट पर ऊपर, नीचे व दक्षिण की ओर फैलने लगी। दक्षिण में कुछ समय के लिए शानतुंग प्रान्त ने अपनी स्वतंत्र सत्ता घोषित कर दी, यद्यपि शीघ्र ही वह फिर केन्द्रीय शासन के अधीन आ गया; चिहली में भी विशेषकर सैनिकों में विद्रोह की भावना फैली, किन्तु यांग्त्सी के उत्तर में शेंसी प्रान्त को छोड़ कर, सैनिक केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठावान् रहे और वहाँ शासन सुदृढ़ रहा। पूरा आंदोलन एकाएक व स्वतत्र रूप से हुए विद्रोहों की श्रृंखला लगता था, सुनियोजित क्रांति नहीं। अंशतः, इसका कारण यह था कि क्रांतिकारियों की युद्धनीति ही यह थी कि विभिन्न केन्द्रों में क्रांतिकारी भावनाओं को उभारा जाय और यह भरोसा कर लिया जाय कि अंततः यह ज्वाला स्वयमेव ही व्यापक हो जायगी। अतः सबसे पहले विद्रोह की चिनगारी कैण्टन में फटी और वह बढ़ने भी नहीं पायी थी कि बुझा दी गयी थी। इन छिटफुट विद्रोहों का एक कारण यह भी था कि क्रांति के समर्थकों के गुट अनिवार्यतः स्थानीय स्तर पर बनाये गये थे, राष्ट्रीय स्तर पर नहीं और उनकी योजनाएँ भी स्थानीय स्तरों पर बनी थीं। यह भी दावा किया गया कि बाद में किसी तिथि को एक साथ सभी क्रांतिकारी गुटों के विद्रोह कर देनेकी भी योजना बनी थी; किन्तु हैनकाउ में बम फटने और उसके बाद की पुलिस काररवाई के कारण विद्रोह कर देना अनिवार्य हो गया यद्यपि अन्य स्थानीय गुटों की इस तिथि के लिए तैयारी नहीं थी। जो भी हो, तथ्य यही सामने आया कि क्रान्ति का कोई केन्द्रीय निर्देशन एक बहुत बाद की तिथि तक नहीं ही रहा था। मूल नेतृत्व वूचांग में केन्द्रित था यद्यपि इसका अन्य स्थानीय गुटों की काररवाइयों पर कोई प्रभावकारी नियंत्रण नहीं था। अंततः आंदोलन को सुनियोजित करने के लिए सभी "स्वतंत्र" प्रान्तों से अपने-अपने प्रतिनिधि वूचांग भेजने का अनुरोध किया गया, ताकि एक क्रांति-परिषद् की स्थापना हो सके; एक वचन-पत्र भी तैयार किया गया जो बाद में गणतंत्र के काम-चलाऊ संविधान के आधार रूप में नानकिंग में स्वीकृत हुआ।

इसी बीच विद्रोह शंघाई तक पहुँच चुका था जहाँ "फौजी सरकार" स्थापित की गयी थी। इस सरकार ने तत्काल सारे क्रांतिकारियों की प्रतिनिधि होने की घोषणा कर दी। पू तिंग-फेंग ने, जो पहले अमरीका में चीनी राजदूत रह चुके थे, परराष्ट्र-मंत्री का पद सम्हाल लिया और क्रांति के उद्देश्यों के संबंध में एक घोषणापत्र निकाल कर विदेशों से सहानुभूति की अपील की। इस सरकार ने विदेशों से तटस्थ रहने को भी कहा और धमकी दी कि यदि उसकी पराजय हुई तो केन्द्रीय शासन को दिये गये ऋणों को वैध नहीं

माना जायगा । शंघाई सरकार ने अपने प्रतिनिधि-रूप के जो दावे किये, उनके कारण शीघ्र ही वूचांग से उसके मतभेद हो गये; जब केन्द्रीय शासन से समझौते की बात चली तब शांति समझौता वार्ता के नियंत्रण के संबंध में वे मतभेद और प्रखर हो गये; यह ली युआन-हुंग की विनय थी कि उन्होंने यह निर्देशन शंघाई-गुट के हाथों में जाने दिया और इस प्रकार क्रांतिकारियों में फूट पड़ना वच गया । शंघाई के नेतृत्व के इस कट्टर दावे का एक कारण निस्संदेह ही यह था कि वे नये शासन का नेतृत्व कैण्टनवासियों के हाथों में ही रखना चाहते थे; शंघाई के नेता कैण्टन के थे, वूचांग के नेता मध्य प्रान्तों के थे ।

उधर, पीकिंग में सन् १९११ के वसन्त में राष्ट्रीय विधानसभा के स्थगित होने के वाद सुधारों की कहानी अधूरी रह गयी थी । वूचांग-विद्रोह के दस दिन वाद, २२ अक्तूबर को, विधानसभा की बैठक बुलायी गयी । विधानसभा ने पहला काम यह किया कि शेंग ह्सु आन-हुआई को पदच्युत करा दिया और इस प्रकार रेलमार्गों के केन्द्रीकरण के प्रश्न पर उसने प्रान्तों का साथ दिया । फिर उसने केन्द्रीयद् सरकार पर हमला शुरू किया कि अपने वादे के अनुसार वह ग्रीष्म ऋतु के पहले एक वास्तविक मंत्रिपरिषद् बनाने में असफल रही थी । सरकार ने आश्वासन की पूर्ति केवल महापरिषद् का नाम बदल कर मंत्रिपरिषद् करके ही की थी । विधानसभा ने सरकार की स्वीकृति के लिए तीन मूल माँगें, तैयार कीं । ये माँगें थीं——एक योग्य और ईमानदार व्यक्ति तत्काल नियुक्त किया जाय, जो उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् का गठन करे, जिसमें राजवंश के सदस्य विलकुल न हों; सन् १८९८ के निष्कासित सुधारक व अन्य सभी राजनीतिक दण्ड भोगने वालों को क्षमा प्रदान की जाय और जो नया संविधान बनाया जाय, वह विधानसभा के परामर्श से । विद्रोह के प्रसार और लैनचाउ-स्थित सैनिकों के पीकिंग—मुकडेन रेल पर जब तक ये माँगें स्वीकार न हो जायँ तब तक सवार होने से इनकार कर देने के कारण इन माँगों को वल मिला । ३० अक्तूबर को जारी किये गये शासनादेशों के द्वारा ये माँगें स्वीकार कर ली गयीं । "संविधान के सिद्धान्त" के रूप में विधानसभा ने नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये, उन्हें ३ नवम्बर को सम्राट् की स्वीकृति मिल गयी । संक्षेप में, इन सिद्धान्तों द्वारा सम्राट् के अधिकार अत्यधिक सीमित करके संवैधानिक राजतंत्र स्थापित करने की बात की गयी; सम्राट् के अधिकार ब्रिटेन के बादशाह के अधिकारों से मिलते-जुलते रखे गये । इस प्रकार, नवम्बर के शुरू होते-होते, एक ओर स्वयं उन्हीं के द्वारा बनायी गयी विधानसभा और दूसरी ओर राजवंश विरोधी क्रांति के दोहरे दवाव में आकर मंचू राजवंश ने सम्राट् की उपाधि ही कायम रखने के प्रयत्न में अपने अधिकांश अधिकारों व सत्ता का त्याग कर दिया ।

ये रिआयतें देने के साथ ही राज्य ने विद्रोह के दमन के अन्य उपाय भी किये । पहला

कदम था युआन शिह् कोई को फिर से नियुक्त करना। यह कदम तभी उठाया गया था जब यह समझ लिया गया था कि क्रांति का सामना करने की क्षमता अन्य किसी व्यक्ति में नहीं थी। १४ अक्तूबर को उन्हें काम पर वापस बुलाया गया पर जिस रोग के इलाज के लिए उन्हें अनिवार्य अवकाश पर घर भेज दिया गया था व अन्य रोगों के बहाने उन्होंने काम पर वापस लौटने से इनकार कर दिया। इस बीच काम पर वापस आने की शर्तें उन्होंने रखीं और उन पर समझौते की बातचीत चली। २७ अक्तूबर को जब वह काम पर आये तो उन्हें लगभग तानाशाही अधिकार प्राप्त हो चुके थे। हुकुआंग के वाइसराय होने के अतिरिक्त वह जल-थल सेनाओं के सर्वोच्च सेनापति भी बने और ८ नवम्बर को राष्ट्रीय विधानसभा द्वारा उन्हें प्रधान मंत्री निर्वाचित कर लिया गया।

उनका मुख्य उद्देश्य था सम्राट् को कायम रखते हुए भी सम्राट् को अधिकार व सत्ताहीन कर देने के लिए समझौता करना। उनकी मंचू-राजवंश को कायम रखने की नीअत के संबंध में संदेह किया जाता है, किन्तु प्राप्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि जिस सीमा तक सम्राट् ईमानदारी से संवैधानिक शासक का पद स्वीकार करने को तैयार थे, उस सीमा तक वह सम्राट् के प्रति वफादार थे। तब या बाद में भी उन्होंने चीन में गणतंत्र की स्थापना की उपयोगिता में विश्वास नहीं किया। जो स्थिति वह सम्राट् को देना चाहते थे, उसे सम्राट स्वीकार कर लें इसके लिए आवश्यक था कि क्रांति जारी रहे और कुछ बढ़े भी। साथ ही, क्रांतिकारियों द्वारा सम्राट् की यह स्थिति स्वीकार कराने के लिए यह भी आवश्यक था कि सरकार की शक्ति का भी प्रदर्शन हो। इस प्रकार की तथ्य-विवेचना से ही यह बात समझ में आ सकती है कि सरकार के निष्ठावान् सैनिकों ने हैनकाउ के आसपास युद्ध में जो सफलताएँ प्राप्त कीं, उनका लाभ उठा कर वे आगे क्यों नहीं बढ़े।

सैनिक दृष्टि से इतना कह देना ही पर्याप्त है कि अनेक अवसरों पर सरकारी सैनिकों ने ली युआन-हुंग के सेनापतित्व वाली क्रांति सेना के मुकाबले में साधन, नेतृत्व व प्रशिक्षण की अपनी श्रेष्ठता साबित कर दी थी। ली का साथ एक पुराने क्रांतिकारी हुआंग-हूसिंग भी दे रहे थे। जब भी युआन ने लड़ने का निर्णय किया, उनकी सेना एक के बाद एक विजय प्राप्त कर लेती थी, किन्तु उस सेना को निर्णायक विजय प्राप्त करने के लिए आगे नहीं बढ़ने दिया जाता था। उधर नानकिंग में भी जमकर संगठित मोर्चा लिया गया। वहाँ एक पुराने सेनापति, चांग हूसुन ने नेतृत्व सम्हाला और उनकी बढ़ी-चढ़ी माँगों के क्रांतिकारियों द्वारा अस्वीकार किये जाने के बाद वह बराबर मंचू-वंश के वफादार बने रहे। कुछ समय तक नानकिंग की रक्षा की गयी, किन्तु अंत में, गणतंत्र की सेना ने उस पर कब्जा कर लिया और कुछ समय तक वह दक्षिण में उनकी राजधानी बना रहा।

(८) शांति के लिए समझौता

युआन शिह्-का'ई हैनकाउ में युद्ध के निर्देशन के साथ ही साथ ली युआन-हुंग से समझौते की बात चलाने के लिए भी प्रयत्न कर रहे थे। सरकारी फौजों की सफलता के फलस्वरूप ली ने नवम्बर के अंत में समझौते की शर्तों पर विचार-विमर्श करने की स्वीकृति दे दी। किन्तु, शंघाई सरकार चाहती थी कि शांति की शर्तें उससे तय की जायँ। युआन ने पहले तो उससे बात करने से इनकार कर दिया, किन्तु बाद में, ली के यह स्वीकार करने पर कि वही सरकार गणतंत्र-सेना का प्रतिनिधि करती है, वह बातचीत चलाने के लिए तैयार हो गये। अमरीका में शिक्षा प्राप्त करने वाले कैण्टनवासी, तांग शाओ-यी, जो सन् १९०८ के पहले युआन शिह्-का'ई के सबसे योग्य अनुयायी थे, सरकार की ओर से बातचीत चलाने के लिए भेजे गये; शंघाई-सरकार के परराष्ट्रमंत्री, डाक्टर वू तिं'ग-फांग (जो स्वयं कैण्टनवासी थे) दूसरी ओर से बात करने आये।

शांति-समझौते की बातचीत चल ही रही थी जब विद्रोही प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने—जिनमें कुछ ने अपने आपको नियुक्त कर लिया था, कुछ को प्रान्तीय विधानसभाओं ने चुना था और कुछ को फौजी राज्यपालों ने नियुक्त किया था—नानकिंग में एकत्र होकर क्रांति का पूरा नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया था। इस प्रकार की परिषद् की स्थापना के सर्वप्रथम प्रयास ली युआन-हुंग ने किये थे और इसके सदस्य पूरे हो जाने पर, शंघाई-सरकार के दबाव पर, इसका केन्द्र नानकिंग बनाया गया था। परिषद् की बैठक में, तभी ही चीन लौटे, डाक्टर सुन यात-सेन को अस्थायी रूप से अध्यक्ष चुना गया। इस परिषद् की सरकार से शांति का समझौता हुआ।

समझौता-वार्ता का विशद वर्णन स्थानाभाव के कारण कठिन है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि गणतंत्र-समर्थकों की बुनयादी माँग थी राजतंत्र का अंत और गणतंत्र की मान्यता। उन्होंने शासन-प्रणाली का स्वरूप निश्चित करने के लिए राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का सुझाव अवश्य रखा, किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा यह सुझाव स्वीकार कर लिये जाने पर, इस बात पर मतभेद पैदा हो गये कि यह सम्मेलन किस आधार और प्रकार पर बुलाया जाय और यह योजना चल नहीं सकी। इस पर गणतंत्रवादी अपनी बुनियादी माँग पर फिर जोर देने लगे। प्रतीत होता है कि सरकार के प्रतिनिधि ने शुरू से ही मंचू-वंश का शासन समाप्त करने का दक्षिण वालों का सुझाव स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार वह उत्तर वालों के हितों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार खो बैठा था। बाद में यह भी दक्षिण वालों के दल का नेता हो गया।

बातचीत के दौरान में दोनों पक्षों को समझौते की आवश्यकता प्रकट होने लगी।

दोनों ही पक्ष पूँजी में कमजोर थे। पीकिंग का राज्यकोष खाली था और युआन ने राज्य को राजवंश के कोष से सिपाहियों के वेतन चुकाने को बाध्य किया था। नानकिंग में न कोष था न कोषाध्यक्ष। दोनों पक्ष विदेशों से आर्थिक सहायता पाने में असमर्थ थे, क्योंकि विदेशी शक्तियों ने आर्थिक तटस्थता बरतने का निश्चय कर लिया था। किन्तु यदि शांति-समझौता न हो जाता तो संभवतः विदेशी शक्तियाँ यह तटस्थता की नीति छोड़कर युआन को सहायता देने का फैसला कर लेतीं, क्योंकि विदेशी प्रतिनिधि समझते थे कि युआन सक्षम व्यक्ति हैं, जो देश को अव्यवस्था और अराजकता से बचा सकते हैं। गणतंत्रवादियों को शुरू में विदेश-स्थित प्रवासी चीनियोंके उदार चन्दों व जहाँ-जहाँ उनका नियंत्रण हो गया था, उन प्रान्तों के करों की आय से धन प्राप्त हुआ। उन्हें कुछ धनराशि जापानी सूत्रों से गैरसरकारी रूप में भी प्राप्त हुई। उन्होंने कुछ अर्ध-सरकारी कंपनियों की, जैसे कि हेन यीह पिंग इस्पात व कोयला-निगम की, जमानत देकर कुछ ऋण भी प्राप्त कर लिये थे। किन्तु आय के ये लगभग सभी साधन वर्ष के अंत तक समाप्त हो चुके थे। फलतः, किसी भी पक्ष की शक्ति की अपेक्षा दोनों पक्षों की आर्थिक मजबूरियों के कारण समझौता हो गया।

समझौता-वार्ता के अंतिम दौर में युआन शिह-का'ई स्वयं शामिल हुए ताकि वह मंचुओं के लिए कुछ अच्छी शर्तें स्वीकार करा सकें और स्वयं अपनी स्थिति मजबूत कर सकें; मंचू धीरे-धीरे सत्ता-त्याग करने की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे थे। जनवरी के मध्य में, डाक्टर सुन यात-सेन ने, संभवतः स्वतः प्रेरणा से, प्रधान मंत्री युआन को तार भेज दिया कि यदि वह गणतंत्र स्वीकार कर लें और राजतंत्र को समाप्त करने की आवश्यकता समझ लें तो उन्हें राष्ट्रपति बना दिया जायगा। इसके उत्तर में मंचुओं ने युआन को मार्किस की उपाधि दे दी। युआन ने पहला प्रस्ताव खुले रूप से स्वीकार नहीं किया, पर दूसरे प्रस्ताव को चार बार अस्वीकार कर दिया।

(९) समझौता

१२ फरवरी, १९१२, को समझौते की शर्तें स्वीकार हो गयीं और सम्राट् के पदत्याग का शासनादेश जारी हो गया।[१७] राजवंश के सत्ता-त्याग (१) ठोस आर्थिक लाभ की व्यवस्था, (२) राजवंश के सदस्यों और जाति के लोगों की सुरक्षा के आश्वासन, और (३) सम्राटों की समाधियों की सुरक्षा व रख-रखाव की व्यवस्था के आधार पर किया। शासनादेश के अनुसार उन्होंने सत्ता दक्षिण की सरकार को नहीं युआन शिह-का'ई को सौंपी थी, जिससे जनता के समक्ष युआन की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी थी। आदेश के शब्द थे—"युआन शिह-का'ई समस्त अधिकार प्राप्त अस्थायी गणतांत्रिक सरकार बनायें

और गणतंत्र-सेना से एकता की बात चलायें ताकि जनता में शांति स्थापित हो, साम्राज्य में शांति स्थापित हो, और पाँचों जातियों—मंचू, चीनी, मंगोल, मुसलमान व तिब्बती—के मिलन से एक महान् चीनी गणतंत्र बने, जिसमें इन सभी अविच्छिन्न क्षेत्र सम्मिलित हों।" नानकिंग सरकार की ओर से डाक्टर सुन ने तर्क रखा कि "चिंग सम्राट के द्वारा दिये गये अधिकार से गणतंत्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकती; इस प्रकार के महत्त्वाकांक्षी अधिकारों के प्रयोग से निश्चय ही गंभीर संकट आयगा।" किन्तु युआन ने डाक्टर सुन को आश्वासन दिया कि वह शासनादेश की शब्दावली का अनुचित लाभ नहीं उठायँगे और गणतंत्रवादियों ने उनका आश्वासन स्वीकार कर लिया। शब्दावली नहीं बदली गयी और जिस गंभीर संकट की भविष्यवाणी डाक्टर सुन ने की थी, वह बाद में सही साबित हुई।

गणतंत्र सेना से समझौते की बात पूरी हुई, डाक्टर सुन यात-सेन ने अस्थायी अध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे दिया और उन्हीं के परामर्श से नानकिंग परिषद् ने पुनस्संयुक्त चीनी गणतंत्र के प्रथम अस्थायी राष्ट्रपति के पद के लिए युआन शिह-का'ई को चुन लिया। यह बिलकुल स्पष्ट समझौता ही था, क्योंकि दक्षिण वाले नये राष्ट्रपति का विश्वास नहीं करते थे और गणतंत्र स्वीकार करने में उनकी ईमानदारी पर उचित सन्देह करते थे। किन्तु युआन को हटाने के लिए वे युद्ध ठान लेने की स्थिति में नहीं थे, वे समझौते के लिए बाध्य थे। इस समझौते के जो परिणाम हुए वे अगले अध्याय के मुख्य विषय हैं।

मंचू शासकों के पद त्याग व ता चिंग वंश की समाप्ति के साथ चीन के इतिहास का एक लम्बा अध्याय समाप्त हुआ। सन् १६४४ से ही वे सत्तारूढ़ थे और चीनी इतिहास के अनेक उज्ज्वल व कालिमापूर्ण पृष्ठ उनके कार्यकलाप से रचे गये थे। यद्यपि गणतंत्रवादियों द्वारा रचित मंचू-कुशासन का चित्र वास्तविकता से कुछ परे था, यह स्वीकार करना ही होगा कि राजवंश को "स्वर्ग से प्राप्त शासन का आदेश" समाप्त हो चुका था और किसी उपयुक्त व स्वीकार्य विकल्प के अभाव में ही यह वंश लगभग ५० वर्ष से सत्तारूढ़ था। गणतंत्र संतोषजनक विकल्प था या नहीं यह समय ही बता सकता था और इसमें घोषणाएँ नहीं कार्यकलाप ही निर्णयात्मक हो सकता था।

ग्यारहवाँ अध्याय

छाया गणतंत्र (१९१२–१९२६)

(१) सन् १९१२ की आंतरिक परिस्थितियों की समीक्षा

गणतंत्रीय शासन-प्रणाली के आरम्भ के समय चीन की आंतरिक परिस्थितियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि यह युग वास्तव में सैनिक प्रभुत्व का ही था। सिद्धान्त नहीं व्यवहार रूप में सन् १९१२ से सन् १९१६ तक की अवधि, जब युआन शिह-का'ई ने अपनी स्थिति मजबूत की, इसी युग में आती है। और सन् १९१६ से सन् १९२६ तक का दशक, जिसे बहुधा सैनिक शासन का दशक कहा जाता है, भी इसी युग में शामिल है। इस दशक में केन्द्रीय शासन की सत्ता नाममात्र की ही रह गयी थी और प्रान्तों में सैनिक नेता शासन करते थे। सैनिकों का नियंत्रण सत्ता चलाने का अधिकार तय करता था। अतएव, इस फौजी शासन की उत्पत्ति और विकास के अध्ययन के बाद उन परिस्थितियों को समझा जा सकता है जिनसे इस शासन में रुकावटें आयीं या जिनसे इस शासन को बल मिला या इसका परिष्कार हुआ। इस शासन के परिणामों पर बाद में विचार किया जायगा।

मंचुओं के समय प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का वर्णन हो चुका है कि वहाँ एक वाइसराय या राज्यपाल होता था, एक कोषाध्यक्ष, एक-एक न्यायाधीश, नमक-नियंत्रक, खाद्यान्न-अधीक्षक होते थे और उनके सहकारी व सहायक अधिकारी होते थे।[1] इस अधिकारी तंत्र पर केन्द्रीय शासन का नियंत्रण रहता था, (१) अधिकारियों के चयन व पदोन्नति की प्रणाली, (२) उच्चाधिकारियों को उनके अपने प्रान्तों से बाहर रखने के नियम, तथा, (३) नियुक्तियों की निश्चित अवधियों के कारण। सत्ता का विभाजन भी इस प्रकार का था कि उससे केन्द्रीय शासन के प्रति निष्ठा कायम रहती थी। छोटे कर्मचारी उच्चाधिकारियों के अधीन होते थे और अधिकारियों के गुण-दोष-निरीक्ष के लिए भी एक संस्था थी, जिसके सदस्य उनके कार्यों पर निगाह रखते थे। मंचू-सत्ता की सुरक्षा के लिए एक और व्यवस्था थी झण्डा व हरी पताका वाले सैनिकों का नेतृत्व करने वाले सैनिक राज्यपालों की। मंचू शासकों के हित में देश के विभिन्न भागों में रहने वाले ये

सैनिक आधुनिक चीन की राष्ट्रीय सेना के पूर्ववर्ती रूप कहे जा सकते थे। उन्नीसवीं शताब्दी में अनुभव ने बताया कि इन सैनिकों का युद्ध में नगण्य उपयोग ही था, तथापि, नागरिक व सैनिक प्रशासनों के बीच संतुलन बनाये रखने के मंचू-उद्देश्य की पूर्ति तो वे करते ही थे। इस प्रकार वे प्रान्तों में नागरिक प्रशासन की सहायता ही नहीं करते थे, उसे पीकिंग के प्रति निष्ठावान् भी बनाये रहते थे।

विद्रोह या डाकुओं के दमन के लिए और अधिक सैनिकों की आवश्यकता पड़ने पर, पृथक् मंचू-सैनिक अधिकारि-वर्ग के निर्देशन में काम करने वाले, इन सैनिकों के अतिरिक्त, समय-समय पर अन्य सैनिकों की भरती करके सैनिक टुकड़ियाँ बनायी जाती थीं। ये टुकड़ियाँ मूल रूप से प्रान्तीय पुलिस ही होती थीं, प्रान्तीय वाइसराय या राज्यपाल उन्हें भरती करते थे और उन्हीं के निर्देशन में वे रहती थीं। जब नयी राष्ट्रीय सेना संगठित हुई, तब क्रांति के समय तक, इन टुकड़ियों में जो केन्द्रीय युद्ध मंडल के अधीन नहीं कर दी गयी थीं, वे प्रान्तीय अधिकारियों के निर्देशन में ही थीं। इनका वेतन प्रान्तीय कोष से ही दिया जाता था। अतएव, सैनिकों की निष्ठा राज्य के प्रति न होकर उन राज्यपालों के प्रति व्यक्तिगत रूप में होती थी, जो उन्हें नियुक्त करते थे तथा वेतन देते थे।

नयी राष्ट्रीय सेना का संगठन वर्षों तक चला, पहले ली हुंग-चांग के निर्देशन में, फिर युआन शिह-का'ई के निर्देशन में। किन्तु, सन् १९११ तक इसने सही अर्थ में राष्ट्रीय रूप ग्रहण नहीं कर पाया था और यह मुख्यतः उत्तरी व मध्य प्रान्तों में केन्द्रित थी; इसे पीयांग (उत्तरी समुद्री तट का क्षेत्र) सेना कहते भी थे। चूँकि इस सेना का संगठन युआन शिह का'ई ने किया था इसके अधिकारियों की निष्ठा भी राज्य के प्रति न होकर युआन के प्रति ही रही थी।

मंचू-काल में संवैधानिक सरकार के लिए जो आंदोलन चला था, उसके फलस्वरूप शासन के अंग के रूप में प्रान्तीय विधानसभाओं की स्थापना हुई थी और अधिकतर प्रान्तों में वे सन् १९०९ तक बन चुकी थीं। उस अवधि को छोड़कर जब युआन शिह का'ई व्यक्तिगत रूप से शासन कर रहे थे, ये विधानसभाएँ क्रांति के बाद भी प्रान्तीय व्यवस्था के अंतर्गत कायम रही थीं। बीच में इन विधानसभाओं को भंग कर दिया गया था, बाद में संसदीय शासन के फिर से शुरू होने पर कुछ समय के लिए इन विधानसभाओं को पुनरुज्जीवित किया गया था।

सन् १९११ में क्रांति होने पर कुछ प्रान्तीय अधिकारियों ने तो गणतंत्र में निष्ठा प्रकट कर प्रान्तों पर अपना नियंत्रण कायम रखा। कुछ स्थानों पर प्रान्तीय विधानसभाओं ने केन्द्रीय शासन द्वारा नियुक्त अधिकारियों को हटाकर मध्यम वर्ग में से या उन केन्द्रीय अधिकारियों में से जो क्रांति के समर्थक थे नये अधिकारी नियुक्त कर दिये थे। प्रशासन

का यह पुनस्संगठन क्रांति के दौरान में ही हुआ था और यांग्त्सी के दक्षिण के प्रान्तों में ही सीमित रहा था। दक्षिण के प्रान्तों में जिन अधिकारियों ने सफलतापूर्वक अपना नियंत्रण कायम रखा था, वे मुख्यतः वे ही अधिकारी थे, जिनके व्यक्तिगत नेतृत्व को सैनिकों का समर्थन प्राप्त था। यह अवश्य सही है कि शुरू-शुरू में इन अधिकारियों को उन्हीं सीमाओं के भीतर रह कर काम करना पड़ा, जो क्रांतिकारी नेतृवर्ग ने नाममात्र के लिए या वास्तविक रूप से निश्चित कर दी थीं।

जो प्रान्त राजवंश के प्रति निष्ठावान् रहे थे वहाँ क्रांति का केवल इतना ही प्रभाव पड़ा था राज्यपालों की निष्ठा राजवंश की जगह अब युआन शिह-का'ई को प्राप्त हो गयी थी। युआन को यह निष्ठा दोनों रूपों में प्राप्त हुई थी, मंचुओं के उत्तराधिकारी के रूप में व व्यक्तिगत रूप में। किन्तु क्रांति के दौरान में व उसके वाद इन प्रान्तों व दक्षिण के प्रान्तों में भी सत्ता का एकमात्र आधार सैन्य-शक्ति बन चुकी थी। गणतंत्र की स्थापना के वाद युआन ने शासन किया और केन्द्रीय शासन की सत्ता कायम रही, क्योंकि वह प्रान्तों में नागरिक व फौजी अधिकारियों के बीच समन्वय कर सकते थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सन् १९११ के पहले भी राज्यपाल सैनिकों का नियंत्रण करते थे। क्रांति के समय देश में हर जगह सैनिकों की संख्या बढ़ गयी थी। क्रांति व शासन दोनों के सैनिक उसी वर्ग से आते थे, जो भूखा व निर्धन था, जिसमें से डाकू पैदा होते थे; वे लोग फौजों में भरती होते थे, जो भोजन, वस्त्र व वेतन के लिए अन्य काम नहीं पाते थे। वेतन हमेशा नहीं भी मिलता था, पर जब तक सेनापति का उस क्षेत्र में नियंत्रण रहता था, भोजन तो मिल ही जाता था। जिस व्यक्ति के पास जितने ज्यादा सैनिक होते थे, वह उतने ही बड़े क्षेत्र का सफल नियंत्रणकर्ता था और इस प्रकार उतना ही अधिक उसका राजनीतिक महत्त्व होता था। ऐसे अनेक फौजी जत्थे विभिन्न प्रान्तों में हो गये थे, जो प्रान्तों के वैधानिक या स्वयं बन बैठे अधिकारियों को नाममात्र की निष्ठा प्रदान कर जिलों या क्षेत्रों का नियंत्रण किया करते थे। ये जत्थे या तो अपने बल पर छोटे क्षेत्रों से कर वसूल कर या जनता से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वसूल कर अपना काम चलाते थे। जो कर ये वसूल करते थे, उसे स्थानीय व्यवस्था पर खर्च कर उसका कुछ भाग प्रान्त को दे देते थे; पर प्रान्त से ऊपर कभी ही कोई राशि पहुँचती रही होगी।

(२) क्रांति का अर्थ

राष्ट्रपति बनने पर युआन शिह का'ई ने देश में शांति व व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु इन लगभग स्वतंत्र सैनिक टुकड़ियों के नेताओं के विरोध के समक्ष उन्हें भंग करने के साधन उन (युआन) के पास नहीं थे। और न उनके पास इतना धन ही

था कि इन सैनिकों को उनके वेतन का बकाया अदा करके या उन्हें 'खरीद' कर उनसे छुट्टी पा सकते; और बकाये की अदायगी के बिना उनके लिए नागरिक जीवन को फिर से स्वीकार कर लेना असंभव था। इसके अतिरिक्त, इन सिपाहियों की जीविका की व्यवस्था किये बिना उनकी टुकड़ियों को भंग कर देना खतरनाक भी होता। इसका अर्थ होता कि वे डाकू बन जाते और इस प्रकार सिपाही होने के मुकाबले में देश के लिए और अधिक खतरनाक सिद्ध होते। परिणाम यह हुआ कि इन टुकड़ियों के नेताओं की स्थिति को वैधानिकता प्रदान करने के लिए राष्ट्रपति ने उनमें से अनेक को फौजी राज्यपाल नियुक्त कर दिया और उनसे यह अपेक्षा की कि परिस्थितियों में सुधार होने के साथ-साथ वे इन सैनिक टुकड़ियों को धीरे-धीरे भंग करते जायँगे। इस प्रकार, सैनिक राज्यपालों की शक्ति पर केवल दो सीमाएं थीं—एक तो जनमत जो कहीं सीधे ही और जहाँ विधानसभाएँ थीं, वहाँ विधानसभाओं के द्वारा ही प्रकट हो सकता था, और दूसरे केन्द्रीय शासन का यह आदेश कि प्रान्तों में शांति व सुरक्षा स्थापित होनी चाहिए। फौजी राज्यपालों के अतिरिक्त चांग हूसुन जैसे अधिकारियों के लिए भी कोई-न-कोई व्यवस्था आवश्यक थी; चांग नानकिंग में सरकारी फौजों के नेता थे, जब क्रांतिकारियों ने उस नगर पर कब्जा किया था। चांग नानकिंग से हट कर, दक्षिणी शानतुंग प्रान्त के हूसूचाउ नगर में, जो टीटसीन-पुकाउ रेलवे मार्ग पर स्थित था, जाकर बस गये। चूंकि, चांग इतने सशक्त थे कि उनका विरोध नहीं किया जा सकता था और चूंकि वह संसद्-समर्थकों के स्थायी शत्रु की हैसियत से युआन को सहायता प्रदान कर रहे थे, इसलिए उनकी निष्ठा प्राप्त करने के लिए उन्हें भी एक पद दे दिया गया। इस प्रणाली में जटिलता आने का एक कारण राष्ट्रपति की यह इच्छा भी थी कि जिन फौजी राज्यपालों की निष्ठा पूरी पक्की तौर पर युआन को नहीं थी, उन प्रान्तों में सामरिक महत्त्व के स्थानों पर किसी न-किसी तरह नियंत्रण रखा जाय। इसी लिए किआंगसू प्रान्त से शंघाई को पृथक् कर उसे केन्द्र द्वारा नियंत्रित एक फौजी आयुक्त के अधीन कर दिया गया था।

सन् १९१३ के वसन्त में नागरिक-शासन स्थापित करने की दृष्टि से युआन शिह का'ई ने कुछ प्रान्तों में फौजी राज्यपालों को हटा कर उनकी जगह नागरिक प्रशासकों की नियुक्ति कर दी। पाँच विदेशी शक्तियों के सामूहिक बैंक से सन् १९१३ में जो पुनस्संगठन-ऋण लिया गया था, उसका घोषित उद्देश्य सैनिकों के बकाया वेतनों की अदायगी था। इस ऋण का एक अंश इस मद पर खर्च भी हुआ और कुछ सेनापतियों को प्रतिसैनिक ५० पौंड के हिसाब से भुगतान किया गया। किन्तु शीघ्र ही युआन को इस धन और इन सैनिकों का एक अधिक अच्छा उपयोग समझ में आया। तानाशाही अधिकार प्राप्त करने के बाद राष्ट्रपति ने प्रान्तीय शासन के नेता के रूप में फौजी राज्यपालों को तो कायम

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hâzratganj. Lucknow

रखा, किन्तु उनके पदों का नाम तूतुह से बदल कर च्यांग-चुन कर दिया; च्यांग-चुन मंचू शासनकाल में शाही सेना के जनरलों के पदों का नाम था। और क्रांति के कुछ ही पहले स्थापित प्रान्तीय विधानसभाओं को भंग कर युआन ने लगभग पूरी तरह से वही प्रान्तीय शासन-व्यवस्था लागू कर दी जो ऐतिहासिक रूप से मंचू-प्रणाली थी। इसी समय, स्वयं अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उन अधिकारियों को पीकिंग बुलाना शुरू कर दिया, जिनकी निष्ठा पर उन्हें संशय था। अपनी सेना व अपने प्रान्तों से हटा कर राष्ट्रपति ने उनका राजनीतिक प्रभाव समाप्त कर दिया। यह उपराष्ट्रपति ली युआन-हुंग व कुछ अन्य प्रमुख व्यक्तियों के साथ हुआ। युआन के राज्यकाल में सत्ता का सैनिक आधार इस कारखाई व इसके परिणामों से बिलकुल स्पष्ट हो गया था।

इन परिस्थितियों में सैनिक सत्ता का आधिपत्य और गणतंत्रवाद का अंत रोकने का केवल एक ही उपाय था—या तो मध्यम वर्ग इतना सशक्त होता, जो इसे रोक देता, पर वह था नहीं, या फिर गणतंत्रवाद जनता के मनमें इतना जम गया होता या व्यापक रूप से फैल गया होता कि सन् १९११ की क्रांति के नेता जो व्यवस्था चाहते थे, वह एक दूसरी क्रांति किये बिना ही स्थापित हो सकती। किन्तु स्थिति ऐसी भी नहीं थी और नयी व्यवस्था के संसदीय नेताओं को प्रतिनिधि संस्थाओं द्वारा स्वशासन के सिद्धान्तों में या व्यक्तिगत रूप से अपने में जनता के अटूट विश्वास तथा सशक्त मध्यम वर्ग के अभाव में अकेले व असहाय होकर युआन शिह-का'ई का सामना करना पड़ रहा था।

जहाँ तक जनता का संबंध था, जिस सीमा तक उसने क्रांति का समर्थन किया और उसमें भाग लिया, यह क्रांति मंचू-विरोधी व राजवंश-विरोधी थी। दक्षिण की गुप्त संस्थाओं का नारा ही था—"मंचुओं का नाश हो, मिंगों की जय हो।" विदेशी राजवंश (मंचू) का पतन हो चुका था किन्तु मिंग (चीनी) राजवंश की जगह गणतंत्र के विदेशी सिद्धान्त ने ले रखी थी। अनुभव से प्रकट हुआ कि गणतंत्रवाद के आदर्श व विचारों ने अभी जनता के मन में घर नहीं किया था। गणतंत्रवाद अभी देशी नहीं हुआ था और उसे चीनी जन-मानस में अपनी जगह बनानी थी। इस प्रकार, जहाँ तक क्रांति के प्रभाव का प्रश्न था जनता उसके सही अर्थ के संबंध में अनिश्चित ही थी। जहाँ तक क्रांति का आर्थिक कारणों से संबंध था, यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गयी थी कि शासन का स्वरूप बदलने से ही आर्थिक परिस्थितियाँ तथा तज्जनित अशांति व असंतोष नहीं बदल सकते थे। इसके लिए तो अच्छी फसलें ही आवश्यक थीं। गणतंत्रवाद की विजय से तेजी से बढ़ने वाली आबादी की समस्या भी हल नहीं हुई थी। फिर भी, गणतंत्र की स्थापना से जनता पर कुछ तो प्रभाव पड़ा ही था। श्रद्धा और भक्ति के परंपरागत विचार हिल गये थे, क्योंकि जनता से एक अमूर्त्त शासन-व्यवस्था के प्रति निष्ठावान् होने को कहा जाता था, राज्य के

मूर्त्तसार किसी एक व्यक्ति के प्रति नहीं; हाँ, व्यक्ति के रूप में राष्ट्रपति के प्रति निष्ठा आवश्यक थी, जिनके पक्ष में मंचू-शासक ने वास्तव में सिंहासन छोड़ा था। देखने की बात यह थी कि नये अधिकारियों के आज्ञापालन की जनता की इच्छा, या अधिक अमूर्त्त रूप में, संसदीय सत्ता के मुकाबले में राष्ट्रपति की सत्ता स्वीकार करने की उसकी इच्छा पर इसका क्या प्रभाव पड़ रहा था।

इसके अतिरिक्त, क्रांति का ढाँचा व अभिज्ञान जनता तक पहुँचते-पहुँचते इस धारणा में बदल गया था कि गणतंत्रवाद का अर्थ है कर-व्यवस्था तथा व्यक्ति के हर प्रकार के दमन का अंत। क्रांति के फलस्वरूप प्रशासकीय नियंत्रण में जो ढिलाई आयी थी और शंघाई सरकार ने करों में छूट देने की जो घोषणा की थी, उनसे इस धारणा को बल मिला था। नये शासन के लिए धन जुटाने और व्यवस्था स्थापित करने में इस दृष्टिकोण के कारण बड़ी जटिलता और कठिनाई आयी। फिर सक्रिय क्रांति के दौरान में राजवंश को हटाने का अर्थ प्रान्तीय स्वतंत्रता या सार्वभौम सत्ता के सिद्धान्त की विजय माना जाने लगा था, किन्तु जिस पर शासन का केन्द्रीकरण मंचुओं के लिए अनिवार्य हो गया था उसी प्रकार वह गणतंत्र के लिए भी अनिवार्य था। इसका निष्कर्ष यह था कि मंचुओं की भांति नये शासकों को भी उसी शत्रुता व विरोध का सामना करना था।

किन्तु, संसद् समर्थकों व युआन के बीच गणतंत्र पर नियंत्रण करने के संघर्ष में युआन की स्थिति ही अधिक मजबूत थी। उत्तर में सेना उनके साथ थी, विदेशों से आर्थिक सहायता उन्हें मिल रही थी, और प्रान्तीय स्वतंत्रता का सिद्धान्त संवैधानिक शासन के समर्थकों के पक्ष में नहीं युआन के पक्ष में ही पड़ रहा था। दक्षिण में गणतंत्रवादी अपने अनुयायियों व समर्थकों से तेजी से बिछुड़ने लगे और शब्द-शक्ति व बेसमझा-बूझा एक विचार ही उनके पक्ष में रह गया। जनता की समझदारी के आधार पर आगे बढ़ा नहीं जा सकता था क्योंकि सरकार चलाना या शासन करना जनता का काम नहीं समझा जाता था। अधिकारी ही सदा शासन करते आये थे और इस संबंध में परिवर्तन की आवश्यकता पर जनता को कुछ समझाया नहीं गया था। इसलिए शीघ्र ही यह परंपरागत दृष्टिकोण अपनाया जाने लगा कि साधारण नागरिक जीवन और शासन से कोई संबंध नहीं है और उनका पृथक् अस्तित्व है। जनता अपने काम में लगी और राजनीतिक विवाद उन लोगों के लिए छोड़ दिया गया, जिनका धन्धा ही राजनीतिक विवाद था। जनता के समर्थन के अभाव में नये राजनीतिज्ञ पर, राष्ट्रपति के प्रतीक रूप में काम करने वाले और देश में सैनिक शक्ति के आधार पर नियंत्रण करने वाले अहलकारी समाज पर नियत्रण करने का दायित्व आ पड़ा।

(३) नयी सरकार

शासन की नयी योजना का ढाँचा नानकिंग के अंतःकालीन संविधान में दिया गया था। शासन की विभिन्न संस्थाओं के अधिकार व उनके पारस्परिक संबंधों की व्याख्या करने तथा शासन के अधिकारों को सीमित करने के गणतंत्रवादियों के अनेक प्रयत्नों में यह पहला प्रयत्न था। सन् १९१२ में नानकिंग में क्रांतिकारी-दल की परिषद् द्वारा तैयार किये गये इस प्रथम अंतःकालीन संविधान में संसद् राष्ट्रपति से भी ऊपर मानी गयी थी। इसके लिए कुछ संशोधनों के साथ फ्रांसीसी शासन-प्रणाली अपनायी गयी थी। इसलिए यह व्यवस्था की गयी थी कि मंत्रिमण्डल दो सदनोंवाली विधानसभा के प्रति उत्तरदायी हो न कि राष्ट्रपति के प्रति, इस मंत्रिमण्डल को सारे कार्यकारी अधिकार प्राप्त हों व राष्ट्रपति के हर आदेश के अनुसमर्थन की व्यवस्था द्वारा उन पर नियंत्रण हो। इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था की गयी थी आर्थिक समझौतों, संधियों, प्रशासकीय विनियमों आदि के वैध होने के लिए उन पर विधानसभा की स्वीकृति आवश्यक होगी।

यह अवश्य संभव है कि शासन का यह ढाँचा उस समझौते को ध्यान में रखकर नहीं बनाया गया था, जो युआन शिह्-का'ई के पक्ष में राष्ट्रपति के पद के लिए अपना नाम वापस लेकर डाक्टर सुन यात-सेन ने किया था। किन्तु वास्तविकता तो यह थी ही कि क्रांतिकारी नेता तथा सामान्यतः पूरा दक्षिण युआन पर संदेह करता था और केवल (१) उत्तरी सेना पर उनके आधिपत्य, (२) उनकी सर्वमान्य प्रशासकीय क्षमता तथा (३) पश्चिमी देशों में उनकी साख के कारण ही उन्हें राष्ट्रपति स्वीकार किया था। इस अविश्वास को तत्काल ठोस आधार भी मिल गया, जब राजधानी को पीकिंग से हटाकर नानकिंग लाने पर सहमत हो जाने के बाद भी नये राष्ट्रपति एक अत्यन्त सामयिक सिपाही-विद्रोह के बहाने पीकिंग में ही टिके रहे और १० मार्च, १९१२ को वह पीकिंग में ही राष्ट्रपति-पद पर आरूढ़ हो गये। युआन के पीकिंग में ही रुक जाने के कारण नानकिंग-परिषद् को अपने शक्ति-क्षेत्र को छोड़कर राष्ट्रपति के शक्ति-केन्द्र पीकिंग ज़ाना पड़ा। इस प्रकार शक्ति-संघर्ष में पहली जीत युआन शिह्-का'ई की हुई और इसी प्रक्रिया में यह स्पष्ट हो गया कि कागजी समझौतों के द्वारा राष्ट्रपति पर नियंत्रण रखना कठिन होगा। नये राष्ट्रपति के प्रति इस अविश्वास के कारण ही नानकिंग-परिषद् ने संवैधानिक रूप से राष्ट्रपति के अधिकारों को सीमित करने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें अनेक बड़ी अड़चनें पड़ गयीं। एक तो कार्यकारिणी के अध्यक्ष के नाते उन पर जो सीमाएँ लगायी जाती थीं, उन्हें वह टाल जाते थे; दूसरे जहाँ वे उन्हें टाल नहीं पाते थे, वहाँ वह उनकी वैधानिकता स्वीकार करने में असफल रहते थे और

वैधानिकता अस्वीकार करने में विदेशी राजदूत उन्हीं का साथ देते थे और तीसरे, नानकिंग-परिषद् तथा उसके बाद विधानसभा अनुभवहीन और इसीलिए अक्षम व अकुशल थी।

(४) सरकार की समस्याएँ

नये गणतंत्र को स्थापित होते ही दो बड़ी समस्याओं का सामना करना पड़ा, एक थी पीकिंग व प्रान्तों के पुराने शासकीय व सरकारी यंत्रों को इस प्रकार सुधारना कि वे फौजी नियंत्रण हटाकर नागरिक नियंत्रण कायम कर सकें; और दूसरी थी अपना खर्च चलाने के लिए धन की व्यवस्था करने की।

प्रान्तीय शासनों के संबंध में युआन शिह्-का'ई ने अपना मत अंतःकालीन राष्ट्रपति बनने के पूर्व ही प्रकट कर दिया था। १३ फरवरी, १९१२ को उन्होंने घोषणा कर दी थी कि जो भी वास्तविक रूप से सत्तारूढ़ हों वे अपने पदों पर बने रहें; सत्ता ग्रहण करने में फिर चाहे उन्हें शाही शासन का समर्थन मिला हो, चाहे क्रांतिकारियों का। युआन ने उन्हें बदस्तूर काम जारी रखने को कहा। इसके उपरान्त उन्होंने आदेश निकालकर बहुत निश्चित रूप से कहा कि नया शासन अपना प्रथम कर्त्तव्य मानता है, शांति व सुरक्षा की स्थापना। जो सत्तारूढ़ थे उनसे शासन चलाते रहने को कहकर उनके शासन को वैध बना दिया गया था और उन पर पीकिंग का सैद्धान्तिक नियंत्रण स्वीकार कर लिया गया था। दूसरे दृष्टिकोण से, इसका आशय मोटे तौर पर यह था कि उत्तरी प्रान्तों में राष्ट्रपति के अनुयायी उच्च पदों पर आसीन थे और उनकी निष्ठा गणतंत्र को नहीं राष्ट्रपति को प्राप्त थी, जब कि दक्षिणी प्रान्तों में अनेक अधिकारी गणतंत्र के सिद्धान्त को मानते थे और उस उग्रदल के समर्थक थे जो पीकिंग में युआन की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। नियंत्रण के लिए जो संघर्ष चला, वह प्रान्तों में नहीं पीकिंग में हुआ।

युआन के अंतःकालीन राष्ट्रपति बनने के बाद नयी केन्द्रीय सरकार की स्थापना के लिए पहला कदम था मंत्रिमण्डल का गठन, क्योंकि यह स्वीकार कर लिया गया था कि निर्वाचन-संबंधी विधि-नियमों के बनने और चुनाव होने तक नानकिंग-परिषद् ही विधानसभा का कार्य करेगी। मंत्रिमंडल के सदस्यों के संबंध में पीकिंग व नानकिंग के बीच खींचातानी शुरू हुई। ता'ग शाओ-यी को प्रधान मंत्री बनाया गया, क्योंकि शाही शासन के समय वह युआन के अनुयायी थे और बाद में उन्होंने डाक्टर सुन यात-सेन के दल, तुंग मेंग हुई, का साथ दिया था और इस प्रकार दोनों को उनपर भरोसा था। समझौते की यही नीति और पदों पर नियुक्ति के संबंध में भी लागू थी और अंततः शक्ति-लाभ का पलड़ा राष्ट्रपति की ओर ही झुका। युद्ध-मंत्री के अति महत्त्वपूर्ण पद पर युआन

का अपना आदमी, तुआन ची-जुई नियुक्त हुआ; वित्त-मंत्री के पद पर आसीन होने वाला व्यक्ति भी परिषद् की "पहली पसन्द" न होने के कारण राष्ट्रपति के पक्ष में ही गिना जाता था। तात्कालिक परिस्थितियों में यही पद महत्त्वपूर्ण थे। प्रान्तीय अधिकारियों की नियुक्ति को वैधानिक स्वीकृति देने, अंतःकालीन संविधान स्वीकार करने, मंत्रिमण्डल की स्थापना करने और विधानसभा को नानकिंग से उठाकर पीकिंग ले जाने के बाद अंतःकालीन गणतांत्रिक सरकार की स्थापना लगभग पूरी मानी जाने लगी।

गणतंत्र-सरकार के समक्ष जो दूसरी बड़ी समस्या अर्थ-संबंधी थी, उसका हल अधिक कठिन था। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है,[३] राष्ट्रीय कोष खाली था और प्रान्तों से कर-वसूली की राशि प्राप्त करने के पहले वहाँ शान्ति व व्यवस्था आवश्यक थी और उसमें समय लगना ही था। फलतः तात्कालिक प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति, बढ़ी हुई फौजों को भंग करने और प्रशासकीय संगठन में सुधार करने के लिए राष्ट्रपति ऋण लेने को बाध्य थे। इसके लिए तब रास्ता खुल गया, जब सम्राट् के हटने पर विदेशी प्रतिनिधियों ने सूचना दी कि ऋण देने पर लगायी गयी रोक अब हटा ली गयी है। छः शक्तियों के बैंक के साथ ऋण के लिए फौरन बातचीत शुरू कर दी गयी। बैंक में अब रूस व चीन भी शामिल कर लिये गये थे, यद्यपि वे ऋण देने की स्थिति में नहीं लेने की ही स्थिति में थे; ब्रिटेन व फ्रांस ने उनके हिस्से के ऋण की राशियाँ इकट्ठी करने का दायित्व ले लिया। इन दोनों देशों को अंतरराष्ट्रीय बैंक संगठन में शामिल करने के कारण राजनीतिक थे; उन्हें इसलिए शामिल किया गया था कि इस गुट की आर्थिक इजारेदारी चीन में और भी मजबूत हो, ऋण की अदायगी के लिए गणतंत्र के राजस्व का कोई अंग बंधक रखा जाय और ऋण को सरकार की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यय किया जाय।

तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इस संगठन ने फरवरी व मार्च के महीनों में कुछ अग्रिम ऋण दिये, जिनके बदले में ७ मार्च को राष्ट्रपति ने पुनस्संगठन के लिए १२.५ करोड़ डालर के बड़े ऋण के लिए इस संगठन को इस शर्त पर प्राथमिकता देना स्वीकार किया कि ऋण की शर्तें चीन के लिए उतनी ही सुविधाजनक होंगी, जितनी किसी भी अन्य राष्ट्र की हों।

इस वचन के बाद भी, और समझौते के छः दिन बाद ही चीन सरकार ने एक करोड़ पौंड का ऋण एक अंग्रेज-बेल्जियन अभिषद् से लेने का समझौता कर लिया। अंतरराष्ट्रीय संगठन ने बदनीयती का आरोप लगाकर प्रधान मंत्री से बातचीत बन्द कर दी, पर प्रधान मंत्री ने इस ऋण के लिए नानकिंग-परिषद् से तभी स्वीकृति प्राप्त कर ली थी, जब वह अपने मंत्रिमण्डल में राष्ट्रपति द्वारा नामांकित व्यक्तियों को शामिल

करने के लिए बातचीत कर रहे थे। किन्तु पीकिंग वापस लौटने पर प्रधान मंत्री को पता चला कि जितना बड़ा ऋण सरकार को चाहिए, वह अन्यत्र न मिल सकने के कारण उन्हें इस अंतरराष्ट्रीय संगठन से बातचीत करनी ही पड़ेगी। अतः वह यह शर्त मानने को बाध्य हुए कि जो धन अग्रिम मिल चुका है, उसे छोड़कर अभिषद् से हुआ समझौता रद कर दिया जायगा। बाद में भी इस संगठन के बाहर से ऋण प्राप्त करने की एक चेष्टा तब विफल हो गयी, जब लन्दन के धनपति, सी बर्च क्रिस्प पर इस संगठन के सदस्यों ने दबाव डालकर ऋण समझौता रद करवा दिया; क्रिस्प ने इस संगठन के बावजूद चीन सरकार से एक ऋण-संबंधी समझौता कर लिया था। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के लिए अन्यत्र ऋण न मिलने के कारण चीन सरकार आंतरिक विरोध के बावजूद इस संगठन की शर्तें मानने को बाध्य हुई; ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका, जापान व रूस ने उन वित्तीय संस्थाओं की इजारेदारी का पूरा समर्थन किया, जो इस संगठन में शामिल थीं।

इस समझौते की शर्तों का आंतरिक विरोध विधानसभा में केन्द्रि तथा; नमक कर के, जो इस ऋण की अदायगी का मुख्य साधन था, विदेशी निर्देशन में पुनस्संगठन और ऋण की राशि का विदेशी निर्देशन में व्यय की शर्तों का विरोध हो रहा था। आर्थिक मामलों में चीनी अधिकारीवर्ग का जो अनुभव पहले हो चुका था, उन्हें देखते हुए इन शर्तों में आपत्तिजनक कुछ भी नहीं था, किन्तु विरोध इस आधार पर उग्र हुआ कि देश में विदेशी वित्तीय नियंत्रण की पच्चड़ और गहरी ठुकती जा रही है। तर्क यह दिया गया कि शर्तें उतनी ही आपत्तिजनक थीं, जितनी कि शाही शासन के समय दिये गये ऋणों की थीं, किन्तु नये, प्रबुद्ध, गणतंत्रात्मक शासन के साथ वैसा ही व्यवहार नहीं होना चाहिए, जैसा भ्रष्ट व पिछड़े हुए मंचुओं के साथ होता था। यही तर्क अमरीकी राष्ट्रपति विलसन ने भी दिया और सन् १९१३ में राष्ट्रपतिपद ग्रहण करने के तत्काल बाद उन्होंने अमरीकी धनपतियों को मिले सरकारी एकाधिकारी समर्थन को वापस ले लिया; इस समर्थन के विरुद्ध एक तो इजारेदारी होने का तर्क था और दूसरा तर्क यह था कि ऋण की शर्तों से चीन की प्रशासकीय ईमानदारी व क्षमता पर अनावश्यक आँच आती है। इस प्रकार राष्ट्रपति टैफ्ट ने जिस कारण चीन की क्षेत्रीय अखण्डता और उन्मुक्त द्वार-नीति के सफल कार्यान्वय के लिए अंतरराष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था पर जोर दिया था, लगभग उसी कारण राष्ट्रपति विलसन ने इस व्यवस्था में शामिल रहने से इनकार कर दिया। अंततः ऋण का समझौता पाँच राष्ट्रों के गुट से ही हुआ।

इस गुट व चीन के बीच सन् १९१२ के अंत तक यह समझौता हो गया था और इसे नानकिंग-परिषद् की स्वीकृति मिल चुकी थी। उस समय डाक्टर सुन यात-सेन के क्रांति-

कारी दल––तुंग मेंग हुई––के अधिकांश सदस्य नयी संसद् के चुनाव के संबंध में दौरे पर निकले हुए थे और परिषद् के पीछे बैठने वाले शेष सदस्यों की स्वीकृति अधिकांशतः रिश्वत के जोर पर प्राप्त की गयी थी; बाद में इस प्रश्न को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ था। इसके अतिरिक्त, ऋण समझौते के बाद संगठन के विदेशी प्रतिनिधियों के बीच आपस में इस बात पर विवाद उठ खड़ा हुआ कि किस देश को सलाहकार का कौन सा पद मिले। इस प्रकार सन् १९१३ के वसन्त तक समझौते पर दस्तखत नहीं हो पाये और उसे अंतिम रूप नहीं दिया जा सका; और उसी समय नयी संसद् की बैठक बुलायी जाने वाली थी।

(५) संसद् बनाम युआन शिह्-का'ई

सन् १९१२ में पीकिंग में स्थापित परिषद् की तुलना में नयी निर्वाचित विधानसभा राष्ट्रपति के लिए बहुत बड़ा सिरदर्द बन गयी। परिषद् के सदस्य अनेक गुटों में विभाजित थे; उनमें से तीन महत्त्वपूर्ण थे, किन्तु कोई भी इतना बड़ा न था, जिसे परिषद् में पूर्ण बहुमत प्राप्त होता। एक गुट रूढ़िवादियों का था, जिसका समर्थन सामान्यतः राष्ट्रपति को प्राप्त रहता था। दूसरे गुट में दक्षिण के उग्र तत्त्व थे। तीसरा गुट किसी विशेष संसदीय सिद्धान्त या रीति-नीति में विश्वास नहीं करता था, किन्तु कभी एक व कभी दूसरे गुट का समर्थन कर वह शक्ति-संतुलन का आधार बन जाता था। यह स्थिति राष्ट्रपति के पक्ष में थी, क्योंकि वह एक दूसरे गुटों को लड़ाकर और कभी-कभी तीसरे गुट के सदस्यों में रुपया बाँटकर अपनी नीति के समर्थन में काफी मत प्राप्त कर लेते थे। ऋण-संबंधी समझौते पर परिषद् की स्वीकृति उन्होंने इसी प्रकार प्राप्त की थी।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि परिषद् के जीवनकाल में पीकिंग में स्थिति शान्त व संतोषजनक थी; वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति और परिषद् के बीच तो मतभेद और विवाद चल ही रहे थे, बीच में राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री के बीच भी मतभेद हो गये थे, क्योंकि प्रधान मंत्री सारी कार्यकारी सत्ता मंत्रिमण्डल में निहित करना चाहते थे और राष्ट्रपति यह सत्ता अपने हाथों में रखना चाहते थे। इस या राजधानी बनाने या ऋण समझौते के मतभेदों में जीत हमेशा राष्ट्रपति की ही हुई और अंततः उन्होंने तुंग मेंग हुई को सरकार से बहिष्कृत कर एक निर्दलीय सरकार बना ली।

तुंग मेंग हुई व राष्ट्रपति के बीच जो मनमुटाव चला आ रहा था, वह जुलाई व अगस्त, १९१२ में और तीव्र हो गया, जब दो प्रमुख क्रांतिकारियों को पकड़ कर गोली मार दी गयी; इन दोनों के विरुद्ध उपराष्ट्रपति ली युआन-हुंग ने अभियोग लगाये थे।[४] इन

अभियोगों के सबूत परिषद् को नहीं दिये गये थे और उनके अभाव में परिषद् ने शासन की निन्दा करने की धमकी दी। यह धमकी कभी पूरी नहीं हुई, क्योंकि रूढ़िवादी दल परिषद् की बैठक में नहीं आया, जिससे बैठक में आवश्यक उपस्थिति नहीं रही; बाद में सरकार पर महाभियोग लगाने के प्रयत्न भी इसी प्रकार विफल हो गये ; इस सबसे यह तो स्पष्ट था ही कि पीकिंग में सद्भावना व शांति नहीं थी ; हर विवाद का निष्कर्ष यही बताता था कि राष्ट्रपति की शक्ति काफी थी।

जो संसद् सन् १९१३ में स्थापित हुई वह राष्ट्रपति के लिए और भी अधिक टेढ़ी खीर थी, क्योंकि इसके दोनों सदनों में उग्र दल का नियंत्रण था। अगस्त, १९१२ में तुंग मेंग हुई का पुनस्संगठन हुआ था, जिसमें कई छोटे बड़े दल शामिल कर लिये गये थे और उसे कुओमिनतांग (राष्ट्रीय जनतांत्रिक दल) का नाम दिया गया था ; इससे राष्ट्रपति से मोर्चा लेने में काफी बल मिला था। फलतः युआन शिह-का'ई को पहले के मुकाबले में अत्यधिक संगठित और सशक्त विरोध का सामना करना पड़ा। संसद् सदस्यों के निर्वाचन की प्रणाली परिषद् ने अगस्त, १९१२ में चुनाव कानून स्वीकार कर निश्चित कर दी थी। सीनेट के सदस्य अप्रत्यक्ष मतदान से निर्वाचित होते थे और प्रान्तीय विधानसभाएँ या निर्वाचक-मण्डलों के द्वारा वे चुने जाते थे ; छः सदस्य विदेश-स्थित चीनियों के निर्वाचक-मण्डल द्वारा चुने जाते थे ; प्रतिनिधि-सभा में सिद्धान्त रूप से तो मतदान प्रत्यक्ष था, किन्तु व्यवहार में यह चुनाव भी अप्रत्यक्ष था ; हर ८० लाख व्यक्तियों को एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था किन्तु हर प्रान्त से, उसकी आबादी कितनी ही कम क्यों न हो, कम से कम दस सदस्य आने थे।[1]

पुनस्संगठन और चुनाव में सफलता के बावजूद राष्ट्रपति की नीतियों के पहले विरोध में कुओमिनतांग की पराजय हुई। इस दल ने इस बात का घोर विरोध किया कि संसद् में पेश होने और संसद् की स्वीकृति ले लेने के पूर्व ही पुनस्संगठन ऋण समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये। युआन शिह-का'ई ने तर्क दिया कि संविधान द्वारा निश्चित व्यवस्था का ही पालन किया गया है, क्योंकि इस ऋण के लिए परिषद् की स्वीकृति ली जा चुकी थी; विदेशी प्रतिनिधियों से जब इस संबंध में बात की गयी तो उन्होंने कह दिया कि उन्हें चीन से राष्ट्रपति के द्वारा ही बात करने का अधिकार है। फलतः, पूँजी-गुटों के साथ समझौता हो गया।

इस घटना से राष्ट्रपति की शक्ति दो रूपों में बढ़ी। एक तो उन्हें विदेशों का नैतिक समर्थन प्राप्त हो गया ; इससे प्रकट हो गया कि वे संसदीय शासन के सिद्धान्त के प्रतिपादन में उतनी दिलचस्पी नहीं रखते जितनी कि अपनी पूँजी की सुरक्षा के लिए 'सक्षम व्यक्ति' से ही व्यवहार कायम रखने में रखते हैं; संवैधानिक व्यवस्था यही थी कि सभी

ऋण समझौते तभी प्रभावकारी होंगे, जब उन्हें संसद् की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। दूसरे, अपनी शक्ति के संगठन के लिए आवश्यक पूँजी राष्ट्रपति को प्राप्त हो गयी थी। यह सही है कि ऋण का बड़ा भाग पहले लिये गये विदेशी कर्जों के भुगतान में ही लग गया; पहले लिये गये अग्रिम ऋण चुकाये गये व मुक्का-आंदोलन-संबंधी क्षतिपूर्ति की किस्तें व व्याज की राशियाँ अदा की गयीं; किन्तु इन सब भुगतानों के बाद जो रकम शेष बची वह युआन शिह-का'ई द्वारा ही खर्च होनी थी।

ऋण की शक्ति प्राप्त कर राष्ट्रपति ने अपनी स्थिति मजबूत करनी शुरू की। राष्ट्रपति के इस प्रयास के विरुद्ध संसद् लगातार मोर्चा लगाये रही और राष्ट्रपति के कार्यालय से आये हर अच्छे बुरे सुझाव का विरोध करती रही। इससे अपना कोई रचनात्मक कार्यक्रम निर्धारित करने की जगह संसद् का नाम ही अवरोध-संस्था पड़ गया, जिसका काम ही देश में शांति व सुरक्षा स्थापित करने में व्यस्त राष्ट्रपति की कारवाईयों में हस्तक्षेप करना था। पीकिंग में इस विरोध के बावजूद, युआन शिह-का'ई धीरे-धीरे प्रान्तों में सबल होते गये। अपनी सत्ता को मजबूत बनाने और उसका प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने हर साधन का उपयोग किया; उन्होंने दक्षिण व मध्य प्रान्तों की सेनाओं व सेनापतियों को धीरे-धीरे हटाकर अपने विश्वासपात्र आदमी वहाँ नियुक्त किये; देश भर में हर जगह जनता की भावना और हालत की सूचना प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने दूत लगा दिये; और प्रतिपक्ष के अनुसार अपने राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हत्याएँ तक करवायीं। मार्च, १९१३ में शंघाई में कुओमिनतांग के प्रमुख नेता, सुंग च्याओ-जेन की हत्या, उन हिंसात्मक कामों की श्रृंखला की पहली कड़ी थी, जिनकी जिम्मेदारी राष्ट्रपति पर डाली गयी।

पीकिंग में राष्ट्रपति के विरुद्ध सफल न होने पर विरोधी दल फिर क्रांतिकारी व हिंसात्मक बन गया। किन्तु, सन् १९१३ के ग्रीष्म में यांग्त्सीघाटी की क्रांति से केवल विरोधियों की निर्बलता और राष्ट्रपति की सबलता मात्र ही प्रकट हुई। युआन की फौजों ने बड़ी सरलता से विद्रोहियों का दमन कर दिया। इस विजय का लाभ उठाकर राष्ट्रपति ने सामरिक महत्त्व के केन्द्रों पर अपनी फौजें जमा दीं; विरोधी दल के कुछ नेताओं को देश के बाहर निकाल दिया और फिर स्वयं कुओमिनतांग को भंग करने के आदेश इस आधार पर जारी कर दिये कि इस संगठन के कुछ नेताओं के विद्रोह में भाग लेने से साबित होता है कि यह देशद्रोही संगठन है।

कुओमिनतांग और इसके फलस्वरूप व्यावहारिक रूप में संसद् के भंग होने के पहले संसद् बनने के समय से ही चालू स्थायी संविधान के एक भाग को पूरा करने का काम समाप्त हो चुका था। अस्थायी नानकिंग संविधान की जगह शासनतंत्र चलाने के लिए एक स्थायी

विधान बनाने का प्रयास एक ऐसा रचनात्मक कार्य था, जिसके लिए संसद् की प्रशंसा की जानी चाहिए। यदि संसद् कुछ महीने जुटकर इसी काम को लगन के साथ पूरा कर डालती तो देश की निगाहों में संसद् बनने का एक उपयोग समझ में आ जाता। वास्तव में हुआ यह कि संसद् विद्रोह के बाद तक केवल बीच-बीच में ही इस ओर ध्यान देती थी। फिर, समय की पुकार सुनकर वह यह संविधान बनाने में जुट गयी। दोनों सदनों के सदस्यों से बनी एक बड़ी समिति को यह काम सिपुर्द किया गया था। गणतंत्र के ढाँचे की स्थायी बुनियाद डालने के लिए यह समिति स्वर्गमंदिर नामक भवन में अपना काम करती थी। यहां भी विधायिनी व कार्यकारिणी का विवाद उठ खड़ा हुआ और समिति ने राष्ट्रपति को अपने काम में हस्तक्षेप करने देने से——शासनतंत्र की आवश्यकताओं के संबंध में उनका मत सुनने से भी——इनकार कर दिया।

किन्तु युआन की दिलचस्पी तो अपनी स्थिति मजबूत करने में थी। और वह निर्वाचन द्वारा स्थायी राष्ट्रपति बनना चाहते थे। इसलिए उन्होंने खुशामद, रिश्वत, अपील, सब तरह से संसद् को राजी कर लिया कि पूरा संविधान बनने के पहले ही उस भाग का मसौदा पहले ही तैयार कर लिया जाय जो राष्ट्रपति के निर्वाचन से संबंधित था। इसके उपरान्त, क्रांति की वर्षगाँठ और विदेशों[६] द्वारा गणतंत्र की मान्यता के दोहरे उपलक्ष्य में उत्सव मनाकर उन्होंने स्थायी राष्ट्रपति के पद पर अपना चुनाव करा लिया। १० अक्तूबर, १९१३ को वह विधिवत् स्थायी राष्ट्रपति बने और इससे जनता की दृष्टि में उनकी स्थिति और भी मजबूत हो गयी।

संविधान-मसौदा-समिति ने २६ अक्तूबर, १९१३ को स्थायी संविधान का पूरा मसौदा तैयार कर लिया था, पर उसके संसद् द्वारा विधिवत् स्वीकार करने के पूर्व ही संसद् का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। मसौदे की धाराओं पर संभवतः, राष्ट्रपति के इशारे पर अधिकारियों ने आपत्तियाँ कीं, उधर कुछ कुओमिनतांग नेताओं के 'ग्रीष्म विद्रोह' में शामिल होने का अभियोग था ही; इन दोनों बातों को लेकर युआन शिह-का'ई ने अपनी आगे की चालों के पक्ष में तर्क बना लिये। ४ नवम्बर, १९१३ को अपने मंत्रिमण्डल के समर्थन में उन्होंने कुओमिनतांग को राजद्रोहात्मक संस्था घोषित कर उसे भंग करने के आदेश दे दिये। इससे आवश्यक उपस्थिति के अभाव में संसद् भी व्यावहारिक रूप में समाप्त हो गयी; यद्यपि औपचारिक रूप से संसद् भंग नहीं की गयी, किन्तु १० जनवरी, १९१४ के राष्ट्रपति के आदेश से वह अनिश्चित काल तक स्थगित या निरस्त रही। इस आदेश से चीन में संसदीय शासन वास्तविक रूप में लगभग समाप्त हो गया, यद्यपि नाममात्र के लिए इसे राष्ट्रपति ने एक साल तक और कायम रखा। स्थगित संसद् युआन शिह-का'ई की मृत्यु के बाद कुछ समय के लिए पीकिंग में बैठी भी थी।

संसद् भंग होने का विरोध न करके जनता ने सरकार-परिवर्तन के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट की। यह विचार कि उत्तरदायी शासन वाला गणतंत्र जनता की इच्छा व हित पर आधारित था, क्रांतिके उद्देश्य से प्रतिपादित एक सिद्धान्त मात्र साबित हुआ। जनता की उदासीनता के बचाव में कुछ तर्क अवश्य थे, पर वे तर्क संसद् के लिए श्लाघनीय नहीं थे। अपने द्वारा बनाये गये विधान के अनुसार एक मजबूत स्थिति में आयी संसद् अड़ंगेबाज साबित हुई थी, रचनात्मक कार्यों में दिलचस्पी रखनेवाली नहीं, और इस बात का भी सन्देह तो था ही कि संसद् में भी भ्रष्टाचार है। राष्ट्रपति की पुनस्संगठन-संबंधी योजना का संसद् ने विरोध किया था, पर स्वयं उसने पुनस्संगठन की कोई रूप-रेखा तैयार नहीं की थी। दूसरी ओर युआन शांति व व्यवस्था कायम करने के लिए कार्यक्रम बनाने में व्यस्त व सक्रिय थे। इसके अतिरिक्त, अनेक लोगों का तर्क यह था कि मंचुओं ने युआन के सिपुर्द यह काम किया था कि वह देश में गणतांत्रिक प्रणाली की शासन-व्यवस्था स्थापित कर दें और जब तक चीन का शासन गणतांत्रिक रहे, राष्ट्रपति को शासन में मनचाहे परिवर्तन करने का अधिकार है।

संसद् के पक्ष में यह कह देना आवश्यक है कि उसका नियंत्रण अनुभवहीन नवयुवकों के हाथों में था, जो पुराने अधिकारियों व पुरानी शासनव्यवस्था के प्रति असहिष्णु थे, क्योंकि उनकी शिक्षा-दीक्षा ही ऐसी थी। अपने विचारों को परिपक्व बनाने के लिए और संसदीय प्रणाली के उचित रूप से काम करने के लिए संतोषजनक उपाय ढूँढ़ने के लिए उन्हें समय चाहिए था। न युआन शिह-का'ई ने उनकी अनुभवहीनता व जोशीलेपन के प्रति सहिष्णुता दिखायी और न इन नवयुवकों ने युआन के पुराने प्रशासकीय यंत्र को चलाते रहने के प्रयासों के प्रति कोई सहानुभूति प्रकट की। अनुभवहीन सुधारकों की असहिष्णुता की टक्कर हुई उनकी कभी प्रयोग में न लायी गयी योजनाओं के प्रति एक अनुभवी प्रशासक की असहिष्णुता से। इसके अतिरिक्त, जनतांत्रिक कहलाने वाले देशों का रवैया शुरू से ही ऐसा था, जिससे संतोषजनक संसदीय शासन स्थापित होने में बाधाएँ पड़ती थीं। यह बात विलक्षण लगती है, पर है सच कि पश्चिम की जनतांत्रिक सरकारों ने उन क्षेत्रों में हुए जनतांत्रिक प्रयोगों को हमेशा संदेह की दृष्टि से देखा है, जहाँ उनके नागरिकों ने साम्पत्तिक हित पैदा कर लिये हैं, और इन सरकारों ने हमेशा इन क्षेत्रों में एक ऐसे सशक्त व्यक्ति की खोज की है, जिससे वह इन हितों की सुरक्षा के संबंध में बात कर सकें। सन् १९१३ के आरम्भ में संसद्-समर्थकों के मुँह पर जो तमाचा मारा गया था, वह संसद् के कायम न रह सकने का एक बड़ा कारण बन गया था।

(६) राष्ट्रपति की तानाशाही

विधानसभा के भंग होने के बाद युआन शिह-का'ई एक ऐसा गणतांत्रिक शासन स्थापित करने में दत्तचित्त हुए, जो उनकी कल्पना के अनुरूप था और जिसे वह व्यक्तिगत शासन के आदी देश और लगभग अशिक्षित जनता की आवश्यकताओं के अनुकूल मानते थे।

संसद्-स्थगन के फौरन बाद, जनवरी में नये शासन की स्थापना के लिए पहला कदम उठाया गया, जब युआन ने छाँट-छाँटकर कुछ व्यक्तियों की एक राजनीतिक परिषद् कायम की। इस परिषद् के परामर्श से एक विधान-परिषद् कायम की गयी, जिसकी पहली बैठक १८ मार्च, १९१४ को हुई। इस परिषद् का काम था नानकिंग-संविधान को संशोधित कर नये शासन को वैधानिकता प्रदान करना। इसके लिए परिषद् ने एक संवैधानिक संविदा तैयार किया, जो चीन का दूसरा अस्थायी संविधान बना। इस संविदा के अनुसार सारी शक्ति व सत्ता राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित थी, राष्ट्रपति दस वर्ष के लिए चुने जाते थे और आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं अपना कार्यकाल बढ़ा सकते थे या अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सकते थे।[७] मंत्रिमण्डल का स्थान राष्ट्रसचिव ने लिया जिन्हें राष्ट्रपति नियुक्त करते थे और जो केवल राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी थे; यही स्थिति सभी विभागाध्यक्षों व मण्डलाध्यक्षों की थी। विधानसभाओं की स्थिति परामर्शदायिनी कर दी गयी थीं[८] और, ली फा युआन (विधानसभा) की स्थापना तक एक राष्ट्रपरिषद् यह परामर्श देने का काम करती। ली फा यआन की स्थापना के बाद वही संवैधानिक संशोधनों की सलाह दे सकती थी। विधवा सम्राज्ञी (राजमाता) ने जो 'संवैधानिक सिद्धान्त' प्रतिपादित किये थे उनके अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा कि सुधार-संबंधी उनके विचारों और बाद के राष्ट्रपति के विचारों में कितना अधिक साम्य था। इस प्रणाली को वैचारिक आधार राष्ट्रपति के विदेशी परामर्शदाताओं में से एक, अमरीकी फ्रैंक गुडनाउ ने भी प्रदान किया था, जिनका कहना था कि चीन अभी केवल तानाशाही के लिए ही तैयार है; इस तानाशाही पर एक परामर्शदात्री समिति का पानी चढ़ाया जा सकता है, जो व्यक्ति नहीं, समूह हितों को ध्यान में रखकर अधिकांशतः नामांकन द्वारा गठित होनी चाहिए। यह सलाह राष्ट्रपति के विचारों व हितों के अनुकूल ही थी। अतएव, सन् १९१४ के आरम्भ में ही यह स्पष्ट हो गया कि जहाँ तक राजनीतिक जीवन का संबंध है चीन सन् १९०९ के आसपास के काल में वापस लौट गया है और यदि कोई विकास होना है तो फिर वहीं से वह शुरू होना है। स्थिति में अंतर केवल इतना था कि एक निर्बल सम्राट् की जगह एक तानाशाही राष्ट्रपति ने ले ली थी और इसलिए राजनीतिक

विकास की गति मंचू-शासन के अधीन हो सकने वाले विकास की तुलना में बहुत धीमी होनेवाली थी।

राष्ट्रपति ने संवैधानिक संविदे के अधीन चीन पर तानाशाही 'सबल व्यक्ति' की भाँति शासन चलाना शुरू किया ; वह समझते थे कि चीन को इसी की आवश्यकता है। जहाँ भी वह पहुँच पाये और जिस राजनीतिक विरोधी को वह पकड़ पाये, उसका उन्होंने निर्दयतापूर्वक दमन किया। वे विरोधी, जो ऊपर से मित्रवत् थे, किन्तु स्थिति बिगड़ने पर जिनसे विरोध संभव था, बुलाकर पीकिंग में बैठा लिये गये, जहाँ उनकी गतिविधियों पर कड़ी निगरानी रखी जा सकती थी। संशोधित वैधानिक शासन की कागजी खानापूरी के बावजूद सन् १९१४ के पूरे वर्ष चीन पर आतंकवादी शासन चला ; हर जगह गुप्तचर नियुक्त थे और कोई भी व्यक्ति खुलकर अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकता था ; समाचारपत्रों का मुँह बलात् बन्द कर दिया गया था और राजनीतिक हत्याएँ सामान्य घटनाएँ हो गयी थीं। किन्तु, इन सबके बाद भी यह स्वीकार करना होगा कि जनता सामान्यतः बहुत असंतुष्ट नहीं थी। सैनिक-शक्ति के बल पर ही सही, सामान्य जीवन व व्यवस्था धीरे-धीरे स्थापित हो रही थी; शिक्षित विद्वानों द्वारा नागरिक शासन चलाने की पुरानी प्रणाली असफल हुई थी। जिस तरह का व्यक्तिगत शासन अब चल रहा था, जनता उसकी आदी थी। युआन ने कनफूशियस की नैतिकता व ईश्वर की आराधना पर फिर से जो जोर देना शुरू किया था, वह पुराने अनुभव और नयी व्यवस्था के बीच की कड़ी थी। कपोलकल्पित प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन में गणतंत्र कायम रखा जा रहा था। जो सिद्धान्ततः क्रांतिकारी थे या जिन्हें इस व्यवस्था में स्थान नहीं मिला था, केवल वे ही असंतुष्ट थे। सामान्य जनता को शासन के स्वरूप या राजनीतिक कार्रवाई के ढंग में तब तक कोई दिलचस्पी नहीं थी, जब तक उन्हें फसल बोने और काटने व पूर्वजों की और शीघ्र पूर्वज बनने वाले स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति की सुविधा थी। स्वाधीनता, करमुक्ति, पैर छोटे रखने की प्रथा की समाप्ति तथा देश के आधुनिकीकरण आदि के नये विचारों से, जो क्रांति के कारण आये थे, कुछ दिनों तक कुछ लोग उद्वेलित रहे; किन्तु, तब भी गाँववालों तक यह उद्वेलन नहीं पहुँच पाया था। नये विचारों का प्रभाव मुख्यतः संधि-बन्दरगाहों के आसपास ही पड़ा था। जो चीन गाँवों में रह रहा था उसने गणतंत्र की स्थापना का सम्राट् से आदेश पाने वाले और विधिवत् निर्वाचित राष्ट्रपति, युआन शिह-का'ई द्वारा स्थापित नयी व्यवस्था को तत्काल स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सन् १९१४ के समाप्त होते-होते देश का पूरा नियंत्रण राष्ट्रपति के हाथों में आ गया और यदि वह इस समय प्राप्त शक्ति व सत्ता के निचोड़ तक से संतुष्ट रह लेते तो संवैधानिक सुधारों के ढाँचे के भीतर रहकर कुछ समय के लिए वह तानाशाह बने रह सकते थे।

(७) परराष्ट्र संबंध

किन्तु राष्ट्रपति को देशी व विदेशी, दोनों प्रकार के विरोधियों का सामना करना पड़ रहा था। गणतंत्र की स्थापना के शीघ्र बाद मंगोलिया में अशांति शुरू हुई और वहाँ स्वतंत्र मंगोलिया-सरकार स्थापित होने की घोषणा हो गयी। वहाँ कुछ समय से चीनी शासन के विरुद्ध असंतोष बढ़ रहा था जिसके मुख्य कारण दो थे; एक तो वहाँ जाकर बसने वाले चीनियों ने जमीन व सामान हड़पना शुरू किया था और दूसरे मुख्य चीन में प्रचलित शासन-व्यवस्था मंगोलिया के कुछ भागों में लागू करने के प्रयत्न किये जा रहे थे, जिससे मंगोल-कुलीनों के शासनाधिकारों पर आँच आ रही थी। मंगोलिया में राष्ट्रीय आंदोलन भी तभी विकसित हो रहा था, जिसके कारण पृथकत्व की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही थीं। इसके साथ ही साथ, चीनी शासकों के विरुद्ध वहाँ रूसी षड्यन्त्र भी पनप रहे थे; रूस नहीं चाहता था कि चीन उत्तर की ओर बढ़े। यहाँ इन परिस्थितियों के परिणाम मात्र ही दिये जा सकते हैं। १ दिसम्बर, १९११, को चीनी अधिकारी मंगोलिया से हटने को बाध्य हुए और उरगा में स्वतंत्र मंगोलिया सरकार की स्थापना हो गयी। सन् १९१२ में चीन ने फिर से अपनी सत्ता मंगोलिया में जमाने की कोशिश की, भीतरी मंगोलिया में उसे आंशिक सफलता भी मिली। किन्तु, नवम्बर में रूस ने उरगा-शासन को मान्यता प्रदान कर दी और उससे संधि कर ली। फिर रूस व चीन तथा चीन व मंगोलिया के बीच स्थिति की स्पष्ट व्याख्या करने के लिए समझौता-वार्ताएँ चलीं। १५ नवम्बर, १९१३ को बाहरी मंगोलिया के प्रतिनिधियों की अनुपस्थिति में रूस व चीन के बीच एक उपसन्धि हो गयी, जिसके अनुसार बाहरी मंगोलिया पर चीन का अधिराजत्व स्वीकार कर लिया गया, पर उस क्षेत्र की आंतरिक सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर ली गयी। ७ जून, १९१५ को तीनों देशों के बीच समझौता हो गया, जिसके अनुसार बाहरी मंगोलिया ने रूस-चीन-उपसंधि की शर्तें मान लीं। तात्कालिक परिस्थितियों में यह युआन शिह्-का'ई की विजय थी, किन्तु केवल आंशिक ही, क्योंकि इस तथा सन् १९१३ के समझौते के अनुसार मंगोलिया में रूसी हितों को औपचारिक मान्यता प्राप्त हो गयी थी।

इसी समय तिब्बत में भी चीनी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह हो गया। क्रांति के समय ल्हासा स्थित चीनी फौज ने विद्रोह कर दिया और इतनी अति कर दी कि तिब्बतियों ने सभी चीनियों को अपने देश से खदेड़ दिया। ११ जनवरी, १९१३, को विजय का पर्व मनाते हुए, उन्होंने स्वतंत्र देश की हैसियत से बाहरी मंगोलिया से समझौता किया। पीकिंग में गणतांत्रिक शासन स्थापित होने पर तिब्बत में अपना अधिकार फिर से कायम करने के लिए प्रयत्न किये गये, किन्तु, ब्रिटेन ने इस बात का विरोध किया कि सैनिक

शक्ति के प्रयोग से चीन अपना नियंत्रण वहाँ फिर से स्थापित करे। सन् १९१३ भर इस संबंध में समझौते की बात चलती रही, फिर सन् १९१४ में तीनों पक्षों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें समझौता हुआ कि (१) तिब्बत की सर्वोच्च सत्ता अक्षुण्ण रहेगी, (२) चीन अपना रेजिडेण्ट (प्रतिनिधि) ल्हासा में रखेगा और उसकी रक्षा के लिए काफी सैनिक वहाँ रहेंगे और (३) पूर्वी तिब्बत में एक क्षेत्र अर्ध-स्वतन्त्र रहेगा, जहाँ चीन की स्थिति अधिक मजबूत रहेगी।[९] किन्तु इस समझौते का कभी अनुसमर्थन नहीं हुआ और समस्या का कोई हल निकलने के पूर्व ही युआन शासन का अंत हो गया। इस प्रकार चीन के लिए, तिब्बत-संबंधी ब्रिटेन की कार्रवाई उतनी ही व्याकुलता का कारण बनी, जितनी कि मंगोलिया के संबंध में रूसी साजिशें सिद्ध हुई थीं।

किन्तु सबसे अधिक गंभीर स्थिति जापान के प्रथम महायुद्ध में भाग लेने से उत्पन्न हुई।[१०] पहले तो जापान के त्सिंगताओ पर बढ़ आने से निष्पक्ष राष्ट्र की हैसियत से चीन के लिए स्थिति बहुत असंगत हो गयी। अंशतः संतोषजनक हल यह निकला कि एक युद्ध-क्षेत्र अलग घोषित कर दिया जाय और जापान की सैनिक काररवाइयों को वहीं सीमित रखने का प्रयास किया जाय। सन् १९१५ के आरम्भ में युद्ध के कारण मिटने पर यह क्षेत्र भी मिटा दिया गया। चीन के इस कदम का बहाना लेकर जापान ने राष्ट्रपति के समक्ष २१ माँगें पेश कर दीं। यहाँ उनकी विवेचना आवश्यक नहीं है;[११] किन्तु जापान की इस काररवाई की चीन में क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताना युआन-काल की कथा पूरी करने के लिए जरूरी है। जब माँगें प्रकट हुईं, चीन में जापान के विरुद्ध व्यापक आक्रोश उत्पन्न हो गया और जापानी दबाव का प्रतिरोध करने के लिए राष्ट्रपति के समर्थन में भारी जनमत तैयार हो गया। राष्ट्रपति का समर्थन अनेक रूपों में प्रकट हुआ; राष्ट्रीय संस्थाओं का संगठन हुआ, देश की रक्षा के लिए सामान्य जनता में उदारतापूर्वक धन-संग्रह हुआ और जो नेता युआन शिह-का'ई का विरोध कर रहे थे, उन्होंने उनके प्रति निष्ठा प्रकट की। राष्ट्रपति ने इसे देश में अपनी व्यक्तिगत शक्ति का प्रतीक माना, जब कि वास्तव में यह बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना की ही अभिव्यक्ति थी, जो देश की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर अभी तक हुए आक्रमणों में सबसे भयंकर आक्रमण के प्रतिरोध में जागृत हुई थी।

(८) राजतंत्र-आन्दोलन

ऐसा आभास होता है कि समझौते की बातचीत के दौरान में जपान ने युआन को सूचित किया कि चीन में फिर से राजतंत्र की स्थापना के प्रति उसका रुख बहुत सहानुभूतिपूर्ण रहेगा, यदि सिंहासन का नया दावेदार उसकी (जापान की) माँगों के प्रति

सहानुभूति रखता हो। अपनी इस सहानुभूति की अभिव्यक्ति इस दावेदार को चीन में जापान की स्थिति मजबूत करने की इन माँगों में निहित जापानी प्रार्थना को स्वीकार करके करनी होगी। यह सर्वविदित है कि जापानी राजनयिक नेता गणतंत्र के विरुद्ध थे और उसके जल्दी नष्ट होने की कामना करते थे। यह सही है कि सन् १९११ व सन् १९१३ के विद्रोहियों को गैरसरकारी जापानी सूत्रों से अनौपचारिक रूप से सहायता प्राप्त हुई थी, किन्तु यह उग्र राजनीति में दिलचस्पी की परिचायक नहीं थी, केवल चीन में अराजकता को बढ़ावा देने के लिए ही थी। किन्तु राजतंत्र के पक्ष में होते हुए भी जापान युआन का विश्वास नहीं करता था और किसी हद तक उनसे डरता भी था, क्योंकि वह ही चीन को उसकी स्वाभाविक सशक्त और सबल स्थिति में लाने में समर्थ थे; और फिर युआन कोरिया के दिनों से ही जापान के मुख्य एशिया महाद्वीप की भूमि पर पैर जमाने के कार्यक्रम के विरोधी रहे थे। इसलिए यह समझा गया कि जब तक युआन जापान के प्रति सहानुभूति न रखने लगें, उनका चीन का स्थायी शासक बनना जापान के हित में न होगा। राजतंत्र का सुझाव वास्तव में युआन द्वारा जापानी माँगों का समर्थन प्राप्त करने की एक चाल थी। युआन ने बदले में सम्राट् पद मिलने की आशा के बावजूद जापान की बात नहीं मानी। किन्तु देश के रक्षक के रूप में चीन की जनता ने जो भावना उनके समर्थन में प्रकट की, उसे युआन ने इस सीमा तक अपने व्यक्तित्व में निष्ठा समझा कि वह एक नये राजवंश की नींव डाल कर स्वयं सम्राट् बनने के लिए इसे बहुत उपयुक्त अवसर मानने लगे।

अतएव राष्ट्रपति के निकट के लोगों ने सन् १९१५ के वसन्त व ग्रीष्म में राजवंश व राजतंत्र की पुनस्संस्थापना के लिए बड़ा सक्रिय प्रचार किया। राष्ट्रपति के एक पुराने विधि सलाहकार, अमरीकी फ्रैंक गुडनाउ के एक स्मृतिपत्र के आधार पर यह प्रचार चला। गुडनाउ फिर से पीकिंग आये हुए थे और उन्होंने चीन के लिए उपयुक्त शासन-प्रणाली के संबंध में सिद्धान्त रूप में अपना मत प्रकट करते हुए कहा था कि "चीन के लिए गणतंत्र से अधिक उपयुक्त राजतंत्र है। चीन की स्वाधीनता कायम रखने के लिए वैधानिक शासन आवश्यक है, और इस समय चीन की आंतरिक परिस्थितियों व विदेशों से उसके संबंधों को देखते हुए, यह कहा जा सकता है कि वैधानिक शासन की स्थापना राजतंत्र द्वारा गणतंत्र के मुकाबले जल्दी की जा सकती है।"[११] किन्तु इस परिवर्तन के पूर्व तीन शर्तें पूरी होने का सुझाव गुडनाउ ने रखा था; पहली शर्त यह थी कि उत्तराधिकार का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाय, दूसरी यह थी कि जनता इस परिवर्तन को स्वीकार कर ले और विदेशी शक्तियाँ इसका विरोध न करें और तीसरी शर्त यह थी कि चीन में वैधानिकता के उत्तरोत्तर विकास की समुचित व्यवस्था की जाय।

जब इस सुझाव का विरोध शुरू हुआ तो विरोधियों ने प्रसिद्ध चीनी विद्वान् लियांग ची'-चा'ओ के तर्क को अपने समर्थन में सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया।[23] लियांग सन् १८९८ के सुधारकों में से थे और गणतंत्र की स्थापना तक वैधानिक राजतंत्र का समर्थन करते रहे थे; संसद् भंग करने और तानाशाह बन जाने में भी उन्होंने राष्ट्रपति युआन का समर्थन किया था। इसलिए उन पर उग्र विचारक होने का अभियोग नहीं लगाया जा सकता था। उनका तर्क था कि शासनतंत्र में परिवर्तन कर देश में फिर से अव्यवस्था करने का समय गुजर गया; गणतंत्र अब वास्तविक तथ्य है और इस तथ्य को स्वीकार किया जाना चाहिए; अब पूरी शक्ति शासन के ऐसे पुनस्संगठन में लगनी चाहिए, जिससे देश में शांति व व्यवस्था स्थापित हो और जनता को प्रभावकारी प्रशासन प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा था कि यह काम पूरा करने के लिए युआन शिह-का'ई को काफी समय दिया गया है और यदि दस वर्ष का समय उनके लिए काफी न हो तो यह अवधि दस वर्ष के लिए फिर बढ़ायी जा सकती है।

किन्तु राष्ट्रपति तो राजतंत्र स्थापित करने का फैसला कर चुके थे, यद्यपि उनका यह निश्चय गुप्त था, ताकि दिखावे में ऐसा लगे कि जनमत के दबाव में आकर ही उन्होंने ऐसा किया है। इसलिए राज्यपरिषद् ने तीन बार राष्ट्रपति को स्मृतिपत्र दिये, ताकि सम्राट् बनने का उनका प्रकट विरोध समाप्त हो सके और गणतंत्र समाप्त करने के लिए वह कदम उठायें; तीन स्मृतिपत्रों के बाद राष्ट्रपति सहमत हो गये, पर इस सहमति में भी यह शर्त लगी थी कि 'नागरिकों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन' में यदि गणतंत्र समाप्त कर राजतंत्र स्थापित करने की बात स्वीकार हो जाय, तभी वह राजी होंगे। इस उद्देश्य से बनायी गयी समितियों ने लगभग सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया; इन समितियों को इस प्रकार के समर्थन की आवश्यकता पूरी तरह समझा दी गयी थी।

वास्तव में इस प्रकार राष्ट्रमत जानने की आवश्यकता केवल मात्र औपचारिक ही नहीं थी। २८ अक्तूबर, १९१५ को ब्रिटेन, रूस व जापान ने मिल कर (जापान के प्रस्ताव पर) इस परिवर्तन के विरुद्ध चीन सरकार को सलाह दी थी। अमरीका इस आधार पर इस सलाह में शामिल नहीं हुआ कि चीन में शासन-प्रणाली क्या हो, यह चीन को ही तय करना चाहिए। विदेशियों ने इस परिवर्तन का विरोध इस आधार पर किया कि जब अंतरराष्ट्रीय परिस्थिति इतनी डाँवाडोल हो, उस समय स्थापित संतुलन बिगाड़ कर अशांति पैदा करना अविवेकपूर्ण होगा। नवम्बर में फिर इस परिवर्तन का विरोध किया गया और इस बार पहले के तीन राष्ट्रों के साथ इटली व फ्रांस भी विरोध में शामिल हो गये।

दूसरी बार हुए विरोध के समय युआन ने परिवर्तन के समर्थन में सम्मेलन के लगभग

सर्वसम्मत प्रस्ताव का हवाला देकर कहा कि चीनी जनमत राजतंत्र के पक्ष में है। इसके अतिरिक्त, हर संभव विरोध को नियंत्रित कर लेने की अपनी क्षमता में युआन को इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने विदेशी प्रतिनिधियों को आश्वासन दे दिया कि कोई भी गंभीर उथल-पुथल न होने पायेगी। इसके उपरान्त विदेशी शक्तियों ने कोई कार्रवाई नहीं की; यद्यपि जापान ने यह इशारा अवश्य किया कि जो सूचना उसके पास है उसके अनुसार दक्षिण के प्रान्त राजतंत्र की पुनर्स्थापना के लिए कभी तैयार न होंगे। अगले कुछ महीनों की घटनाओं ने प्रकट कर दिया कि विरोध की संभावना के संबंध में जापान की जानकारी होने वाले सम्राट् से अधिक थी।

जब राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो ही रही थीं, सुदूर दक्षिण-पश्चिम में विद्रोह हो गया। २३ दिसम्बर को युन्नान प्रान्त से एक स्मृतिपत्र राष्ट्रपति के पास भेजा गया, जिसमें राजतंत्र की स्थापना का विरोध किया गया था। जब इस माँग पर ध्यान नहीं दिया गया, विद्रोह का झण्डा खुले रूप से फहराने लगा। सरकार के हर प्रयत्न के बावजूद—यद्यपि सैनिक दृष्टि से सरकार लगातार सफल रही थी—विद्रोह फैलता ही गया और एक के बाद एक प्रान्त अपने पीकिंग से स्वतंत्र हो जाने की घोषणा करते गये। शुरू में क्रांतिकारियों ने माँग की कि राजतंत्र समाप्त हो, नानकिंग-संविधान आधारभूत कानून के रूप में लागू हो और सन् १९१३ की संसद् फिर से गठित हो।

इस विरोध और उत्तरी प्रान्तों में स्वयं अपने अनुयायियों के फूटते जाने से युआन शिह-का'ई इतने कमजोर हो गये कि उन्होंने घोषणा कर दी कि राजतंत्र की पुनः स्थापना का विचार त्याग दिया जायगा। अपने सम्मान की रक्षा के लिए उन्होंने कहा कि मुझे गलत सूचना दी गयी थी कि जनता मेरे सिंहासनारूढ़ होने के पक्ष में है। राष्ट्रपति की इस कमजोरी के प्रकट होते ही गणतंत्रवादियों ने अपनी माँग बढ़ाकर यह माँगना शुरू कर दिया कि युआन चीनी राजनीति से बिलकुल हट जायँ। कुछ समय तक युआन ने इस माँग पर विचार भी करने से इनकार कर दिया, यद्यपि उन्होंने कुछ और झुक कर फिर से मंत्रिमंडल की स्थापना कर दी और कार्यकारी अधिकार उसे सौंपने का निश्चय प्रकट करने के लिए सभी सैनिक-केन्द्रों का नियंत्रण युद्ध-मंत्री को सौंप दिया। किन्तु अंततः, उन्हें और भी झुकना पड़ा और वह राष्ट्रपति के पद से अवकाश लेने के लिए राजी हो गये। जब समझौता होने ही वाला था, ६ जून, १९१६, को राष्ट्रपति की मृत्यु से सारा विवाद अकस्मात् समाप्त हो गया। इस प्रकार सच्चे गणतंत्रवाद के विरोध की पहली अवधि उस 'सशक्त व्यक्तित्व' के साथ समाप्त हुई, जिसे अनेक लोग वह अकेला व्यक्ति मानते थे, जो चीन में स्थायित्व ला सकता था। फिर भी यद्यपि गणतंत्र रह गया, शासन के स्वरूप में गणतंत्रवाद के चीन में स्थापित होने में अभी देर थी।

(९) गणतंत्र का पुनरुज्जीवन

सन् १९१३ के आरम्भ में जो स्थिति थी, वह युआन की मृत्यु के बाद फिर से लायी गयी; किन्तु वह जैसे-तैसे मुश्किल से एक वर्ष से भी कम चल पायी। प्रान्तों के फौजी नेता केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में केवल इसीलिए थे कि उन पर युआन शिह्-का'ई का व्यक्तिगत प्रभाव था। उनकी मृत्यु के शीघ्र बाद वे अपना यह संकल्प प्रकट करने लगे कि वे पीकिंग का निर्देशन उसी हद तक मानेंगे, जिस हद तक केन्द्रीय सरकार उनके मतानुसार चलेगी और तभी तक मानेंगे जब तक केन्द्रीय सरकार प्रान्तों में उनके विशेष परमाधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेगी। कुछ समय तक सैनिकों में प्रधान मंत्री, तुआन ची-जुई, को युआन शिह्-का'ई के उत्तराधिकारी के रूप में मान्यता मिली। किन्तु इन सैनिक नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि जिस हद तक प्रधान मंत्री उनके हितों का आदर व रक्षा करेंगे, उसी हद तक उन्हें सैनिकों की निष्ठा प्राप्त होगी। उधर प्रधान मंत्री को केन्द्रीय सरकार में युआन से यह पद मिला था और पीकिंग में फिर से स्थापित होने पर संसद् ने उन्हें उस पद पर स्वीकार सिर्फ उसी कारण किया था, जिस कारण युआन को राष्ट्रपति स्वीकार किया था, अर्थात् , इसलिए कि उन्हें सेना का समर्थन प्राप्त था। युआन की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति, ली युआन-हुंग को राष्ट्रपति का पद मिला; वह यद्यपि सेना के नेता थे, किन्तु उन्हें सन् १९११ की क्रांति में भाग लेने के कारण ही प्रधानता मिली थी। उन्होंने नानकिंग-संविधान के संसद् की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। किन्तु इस संविधान में कार्यकारी सत्ता मंत्रिमंडल में केन्द्रित थी, राष्ट्रपति में नहीं। फलतः घटनाचक्र में चीन को कार्यकारिणी के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त करनेवाला वह प्रधान मंत्री मिला, जो युआन शिह्–का'ई की परंपरा मानने वाला था और शीघ्र ही जिसका संसद् से मतभेद हो गया।

मतभेद के कारण लगभग वही थे, जो युआन के राष्ट्रपति होने के समय थे। वित्तीय समस्या सुलझाने के लिए क्या उपाय किये जायँ, इसी प्रश्न को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। इसमें राजस्व-प्रणाली के पुनर्गठन व ऋण लेने के प्रश्न उलझे हुए थे। युआन शिह्-का'ई की भाँति, तुआन ने संसद् की राय लिये बिना ही प्रबन्ध कर लिये और बाद में संसद् से उन्हें स्वीकार करने को कहा। पदों पर नियुक्तियों के संबंध में भी विवाद हुआ। बहुधा संसद्-शासन को व्याकुल करने के लिए ही मंत्रिमंडल के प्रतिनिधियों पर प्रश्नों की बौछार कर देती और उन्हें आड़े हाथों लेती। इस तथा अन्य कारस्वाइयों में सन् १९१२–१९१३ की अड़ंगेबाजी की प्रवृत्तियाँ फिर से प्रकट होने लगीं और अंशतः इन प्रवृत्तियों के उभरने के कारण भी वही थे, सरकारी कार्यकलाप पर संसद्-सदस्यों की प्रभावकारी नियंत्रण करने में असफलता ही यह कारण थी। ऐसी परिस्थितियों में

जिस बात की अपेक्षा होती, अंततः वही हुआ और अपने काम में सदस्यों की दिलचस्पी इतनी कम हो गयी कि आवश्यक उपस्थिति के अभाव में संसद् की बैठकों का स्थगित होना एक सामान्य बात हो गयी। इसके अतिरिक्त, अनेक बैठकों में अत्यधिक अव्यवस्था रहती थी और कई बार बैठकों में ही मार-पीट और ऊधम हो गया।

जैसा कि युआन के समय में हुआ था, संसद् का बड़ा रचनात्मक प्रयास था स्थायी संविधान को पूरा करने का काम। पहले वाले मसौदे को आधार मान कर दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन स्वर्गमंदिर में विधाननिर्मात्री-परिषद् के रूप में विचार-विमर्श करता और धीरे-धीरे शासन का वह तंत्र बनाता जाता था, जिसके अनुसार संसद् की सत्ता सर्वोच्च होती; इस दिशा में संसद् उस मसौदे से भी आगे बढ़ गयी, जिस पर युआन को आपत्ति थी। पहले की भाँति ही, संविधान का काम पूरा होने के पहले ही संसद् पीकिंग से खदेड़ बाहर की गयी। इससे संसदीय संवैधानिक शासन का अंत हो गया, यद्यपि संसदीय सरकार का बहाना कुछ दिनों तक कायम रखा गया और बीच-बीच में पीकिंग के नियंत्रण के संघर्ष में यह बहाना बार-बार उठाया जाता रहा, जब प्रान्तीय सैनिक नेता उभर कर ऊपर आने लगे। सन् १९२३ में 'स्थायी' संविधान के पूरे होने और लागू हो जाने के बाद भी संसदीय शासन की स्थापना न हो सकी, और यह इरादा भी नहीं था कि इससे संसदीय शासन-प्रणाली स्थापित हो।

संसदीय गणतंत्र समाप्त होने का तात्कालिक कारण संविधान-संबंधी मतभेद या तज्जनित विवाद-वैमनस्य नहीं था, यद्यपि उसमें अनेक वैधानिक प्रश्न उलझ गये थे। प्रथम विश्वयुद्ध में चीन के भाग लेने के प्रश्न का आंतरिक परिस्थितियों पर प्रभाव ही इसका कारण था।[१४] ९ फरवरी, १९१७ को जर्मनी को उसकी अबाध पनडुब्बी-युद्ध ठानने की घोषित नीति के विरुद्ध एक पत्र भेजा गया। जब इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर न मिलने पर एक महीने के बाद जर्मनी से राजनयिक संबंध समाप्त कर दिये गये। इस बीच प्रधान मंत्री, तुआन ची-जुई मित्र राष्ट्रों के पीकिंग-स्थित प्रतिनिधियों से चीन के युद्ध में शामिल होने की शर्तों के संबंध में बातचीत करते रहे, ताकि वह बता सकें कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल होने से चीन को क्या-क्या लाभ होंगे। विदेशी प्रतिनिधि उनकी शर्तें स्वीकार करें, इसके पहले ही प्रधान मंत्री ने संसद् को आश्वासन दे दिया कि मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति तथा दूसरे मामलों में चीन को रिआयतों का आश्वासन मिल गया, यदि वह जापान के विरुद्ध युद्ध के मैदान में उतर आये। उधर राजनयिक प्रतिनिधियों को उन्होंने आश्वासन दे दिया कि चीन युद्ध में शामिल हो जायगा, यद्यपि अपनी युद्ध-नीति की स्वीकृति उन्होंने संसद् से नहीं ली थी और उसके विरोध पर उन्होंने कोई विजय प्राप्त नहीं की थी। इस प्रकार युद्ध-घोषणा के बाद ही मिल सकने वाली

रिआयतें जाब्ते से न पाने पर घर पर उनकी प्रतिष्ठा घटती और जाब्ते से शर्तों पर समझौता होने के पूर्व युद्ध न घोषित करने पर विदेशी प्रतिनिधियों के समक्ष उनकी प्रतिष्ठा कम होती। विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों से चल रही बातचीत से ध्यान हटाने और अपनी युद्ध-नीति के पक्ष में जन-भावना बनाने के लिए प्रधान मंत्री ने अंततः कुछ प्रान्तीय सैनिक नेताओं का एक सम्मेलन पीकिंग में बुलाया।" इस सम्मेलन के बुलाने के समय से ही युद्ध वैदेशिक नीति का प्रश्न न रह कर आंतरिक राजनीति का प्रश्न बन गया। अप्रैल के अंत में फौजी राज्यपाल पीकिंग में एकत्र हुए और देश का ध्यान उनकी काररवाइयों पर केन्द्रित हो गया।"[15] और तभी से पीकिंग राजनीति में उत्तरी सैबिक-दल का सत्तारोह और उसीके साथ प्रान्तों में युद्धनेताओं का प्रभाव बढ़ना शुरू हुआ।

तुआन ची-जुई ने युद्ध छेड़ने के लिए अपना विधेयक स्वीकार कराने के लिए संसद् पर जो यह व अन्य दबाव[16] डाले, उसका तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि संसद् की माँग पर राष्ट्रपति ने उन्हें प्रधान मंत्री के पद से बरखास्त कर दिया। उन्होंने यह बरखास्तगी नहीं मानी और इसमें फौजी राज्यपालों ने उनका साथ दिया; इन राज्यपालों ने उलटे संसद् भंग करने की माँग कर दी। राष्ट्रपति द्वारा यह स्वीकार न किये जाने पर, उन्होंने पीकिंग के विरुद्ध 'दण्ड-अभियान' शुरू कर दिया और उनका दावा यह रहा कि वे संविधान की प्रतिष्ठा के लिए यह कर रहे हैं। कुछ दिनों तक गत्यवरोध रहा, क्योंकि राष्ट्रपति ली ने फौजी राज्यपालों की यह माँग स्वीकार करने से इनकार कर दिया कि प्रधान मंत्री को फिर से उनके पद पर रखा जाय और संसद् को भंग कर दिया जाय। प्रान्तीय फौजी नेताओं के गुट में सबसे अधिक बदनाम, चांगह्सुन को समझौते की बात करने के लिए बुलाया गया और पीकिंग आते ही उन्होंने अपने फौजी साथियों की माँगें दोहरा दीं और फिर १ जुलाई, १९१६ को मंचुओं को फिर से सिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न किया। किन्तु, उन्हें पता लगा कि अन्य फौजी राज्यपाल संसदीय गणतंत्रवाद के साथ ही साथ राजतंत्र के भी विरोधी हैं। इस प्रकार मंचुओं की पुनस्संस्थापना केवल तीन सप्ताह चली और जो लोग संसद् समाप्त करने के लिए पीकिंग आ रहे थे, उन्हीं ने राजतंत्र को एकदम समाप्त कर दिया।

(१०) सैनिक-सत्तारोह

तब से लगभग दस वर्ष बाद तक, जब राष्ट्रीय अवस्था से क्रांति फिर शुरू हुई, चीन का राजनीतिक दल लगातार अव्यवस्थित रहा। अनेक व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ से शक्ति-सत्ता पर काबू पाने के लिए एक-दूसरे से लड़ते-टकराते रहे और अराजकता-अव्यवस्था बढ़ती रही। प्रान्तों की स्थिति लगभग वही थी, जिसका वर्णन इस अध्याय के

आरम्भ में किया गया है। प्रान्तीय फौजी नेताओं में जो अधिक सशक्त थे, वे अपने-अपने अधिकार क्षेत्र बढ़ाने में तो लगे ही थे, साथ ही उस केन्द्रीय सरकार में भी प्रमुख स्थिति पाने का प्रयत्न करते रहते थे, जो जैसे-तैसे लगातार पीकिंग में कायम रही। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए फौजी नेताओं के संश्रय बनते और उनकी काट के लिए विरोधी संश्रय होते और विरोधियों के सशक्त साथियों को तोड़ने के लिए साजिशें होती थीं।

यद्यपि केन्द्रीय शासन का देश में प्रभाव नगण्य था, फिर भी लोग लगातार पीकिंग पर नियंत्रण करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे; इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो राजधानी पर जिस किसी का भी नियंत्रण होता वही जैसा कुछ भी राष्ट्रीय प्रशासकीय ढाँचा शेष था, उसका नियंत्रण करता और इस नाते देश से निष्ठा माँगने का उसे अधिकार होता। दूसरे, और यही अधिक महत्त्वपूर्ण कारण भी था, अंतरराष्ट्रीय जगत् में विदेशी सरकारें पीकिंग सरकार को ही चीन की वास्तविक सरकार माने जा रही थीं। पीकिंग पर नियंत्रण रखनेवाला क्षतिपूर्ति व ऋण की किश्तें काटने के बाद शेष बची सीमा-शुल्क की आय का दावा कर सकता था। यही स्थिति अंतरराष्ट्रीय नियंत्रण के नमक-कर के संबंध में थी। विदेशों से ऋण लेने के लिए भी चीन 'सरकार' का माध्यम ही लाभकर था।

सामान्यतः यह निष्कर्ष सही था कि चीन के सैनिक-शासक, जिन्हें तूचुन व महा-तूचुन कहा जाता था, शासन-शक्ति पर केवल इसीलिए नियंत्रण करना चाहते थे कि वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से धन बटोर सकें। एक-आध अपवाद को छोड़ कर ये लोग अपने-अपने अधिकार के क्षेत्रों का घोर शोषण करते थे और बहुत कई-कई वर्षों के लिए अग्रिम कर वसूल कर लेते थे। बहुधा वह किसानों को खाद्यान्न की जगह अफीम बोने को बाध्य करते थे, ताकि अफीम के नाजायज उत्पादन की आमदनी वह हड़प सकें। थोड़े ही समय के लिए पद प्राप्त कर जिस प्रकार हर संभव उपाय से अपना लाभ किया जाता है, वही वह करते थे। जो बात इन लोगों पर प्रान्तों में लागू थी, वही पीकिंग में भी लागू थी, यद्यपि वहाँ बाहरी दुनिया के दिखावे के लिए कुछ कायदे-कानूनों का पालन आवश्यक था जो कि चीनी जनता के संबंध में लागू नहीं होते थे।

शुरू में उत्तरी फौजी नेताओं में मोटे तौर पर दो गुट थे। यह गुटबन्दी पुराने राजतंत्र के समय से चली आ रही थी और किसी हद तक शासन करने के लिए फूट डालने के सिद्धान्त का परिणाम थी। एकता स्थापित करने के सूत्र, युआन शिह्-का'ई की मृत्यु के बाद एक गुट हुकुयांग के वाइसराय फेंग कुओ-चांग के साथ हो गया, सन् १९१६ में ली युआन-हुंग के राष्ट्रपति बनने पर फेंग उपराष्ट्रपति बन गये थे। दूसरे गुट का नेतृत्व प्रधान मंत्री तुआन ची-जुई करते थे। मंचू-राजवंश के पुनस्संस्थापन के असफल प्रयास से लेकर सन् १९१८ के शरद तक का समय फेंग और तुआन के सत्ता हथियाने के संघर्ष में गुजर गया;

फेंग ली के बाद राष्ट्रपति हो गये थे और तुआन फिर से प्रधान मंत्री बन गये थे। इस संघर्ष में तुआन का गुट ही विजयी हुआ और अक्तूबर, १९१८ में फेंग के राष्ट्रपति के पद से अवकाश ग्रहण करने पर तुआन गुट के ह्सू शिह-चांग राष्ट्रपति बन गये।

चुनाव में अपनी सफलता निश्चित बनाने के लिए तुआन गुट ने अपने-आपको आनफू-क्लब या एक संस्था के रूप में संगठित कर लिया था; इस संस्था का मुख्य उद्देश्य नव-निर्वाचित संसद् सदस्यों के बीच ह्सू शिह-चांग के राष्ट्रपति बनाये जाने के पक्ष में प्रचार करना था। इस लक्ष्य की पूर्ति के बाद भी क्लब कायम रहा और अपने सदस्यों के व्यक्तिगत हितों की साधना के लिए सामूहिक रूप से काम करता रहा। ये हित थे सरकारी पदों पर अपनी इजारेदारी कायम कर आनफू सदस्यों की जेबें भरना। इसके लिए देश के बाहर से आमद के सूत्रों तक पहुँच जरूरी थी। यह सूत्र उन्हें जापान में मिल गया, जहाँ के पूँजीपति पीकिंग सरकार को एक के बाद एक ऋण देते जा रहे थे, या तो अनेक बहुमूल्य रिआयतें पाने के बदले में विभिन्न सार्वजनिक सेवाओं की जमानत पर या बिना जमानत के ही। ये ऋण निशीहारा ऋण कहलाते थे और बाद में वे चीन व जापान के बीच विवाद के कारण बने। इन ऋणों के कारण ही चीनी जनता आनफू-सरकार को जापान-समर्थक व देश को जापान के हाथ बेच देनेवाली सरकार समझने लगी।

उत्तर में आनफू-नियंत्रण सन् १९२० तक जारी रहा; अन्त में मंचूरिया के सैनिक-नेता चांग त्सो-लिन और पीयांग सैनिक गुट के फेंग चांग कुओ-के उत्तराधिकारी त्साओ कुन के सैनिकों ने मिलकर आनफू-गुट को पीकिंग से खदेड़ दिया। यद्यपि त्साओ कुन की फौज के एक सेनापति जनरल वू पी-फू ने आनफू-गुट को पीकिंग से हटाया था, नये शासन का नियंत्रण वह नहीं कर सके, क्योंकि वह तो अपने नेता का आदेश भर पालन कर रहे थे। शीघ्र ही प्रकट हो गया कि पीकिंग में असली शक्ति चांग त्सो-लिन में केन्द्रित है, त्साओ कुन में नहीं। अतएव सन् १९२० से सन् १९२२ तक का समय चांग को सत्ता से हटाने के संघर्ष में लग गया। अंत में मध्य यांग्त्सी प्रान्तों की शक्ति वाले जनरल वू पी-फू ने अपने सहयोगी जनरल फेंग यू-ह्सियांग की सहायता से चांग को वापस मंचूरिया में धकेल दिया। किन्तु मंचूरिया में जापान के संदर्भ में चांग की विशेष स्थिति होने के कारण तथा उसकी शक्ति के कारण वे चांग को हटाने के सिवा उसका और कुछ नहीं बिगाड़ सके। मंचूरिया लौटते ही चांग ने मंचूरिया को 'स्वाधीन' घोषित कर दिया। उस समय की चीनी राजनीति के संदर्भ में इस स्वाधीनता का अर्थ यह नहीं था कि चांग एक नया राज्य स्थापित कर रहे थे; इसका केवल यह अर्थ था कि वह अपने ऊपर पीकिंग-सरकार की सत्ता तब तक स्वीकार करने से इनकार कर रहे थे, जब तक वह स्वयं पीकिंग में थोड़ा बहुत नियंत्रण न प्राप्त कर लें।

सन् १९२२ व सन् १९२४ के बीच, जब वू पी-फू के अनुयायी पीकिंग पर नियंत्रण कर रहे थे, पीकिंग की वास्तविक शासन-सत्ता उस नगर की चहारदीवारी के बाहर नहीं के बराबर थी। मंचूरिया में चांग का शासन था और हर सैनिक नेता अपने-अपने जिले या प्रान्त पर शासन कर रहा था और बीच-बीच में अपने पड़ोसी से लड़ता-भिड़ता भी रहता था, ताकि उसके क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व जमा सके। और ऊपरी सतह के भीतर लगातार चीन पर अधिकार जमाने के लिए 'अंतिम' संघर्ष की तैयारियाँ चल रही थीं। लगता था कि चीन एक अन्य "सशक्त व्यक्तित्व" की प्रतीक्षा में था, जो सभी सैनिक नेताओं को केन्द्रीय शासन के अधीन ला सके। इन सब साजिशों व षड्यन्त्रों का फल यह हुआ कि 'ईसाई जनरल' फेंग यू-हि्सयांग के फूट जाने से सन् १९२४ में वू पी-फू को पीकिंग से निकाल दिया गया। उत्तर में मंचूरिया से चांग के आक्रमण का सामना करने वू पीकिंग फेंग के सिपुर्द करके सैन्य-संचालन के लिए गया हुआ था और तभी फेंग ने पीकिंग पर अपना अधिकार घोषित कर दिया; दूसरी ओर दक्षिण-पूर्व से बचे-खुचे आनफू-गुट ने हमला कर दिया था, जो कुछ भी शक्ति उनके पास थी, उससे डटकर सुन यात-सेन उनकी सहायता कर रहे थे। वू अपने मध्य यांग्त्सी प्रान्तों को वापस लौट गया और चांग ने पीकिंग में अपनी सरकार बना ली; तब तक सुन यात-सेन टींटसीन भी नहीं पहुँच पाये थे, जहां एक सम्मेलन करके वह अपनी इच्छा के अनुसार सरकार का गठन करने की सोच रहे थे। शीघ्र ही पीकिंग में सुन की मृत्यु हो गयी। चांग जैसे-तैसे सन् १९२८ तक उत्तरी चीन में अपना अधिकार जमाये रहे, जब राष्ट्रीय फौजों ने आकर उसे परास्त कर दिया। चांग का अधिकार पीकिंग में डाँवाडोल हो रहा था, क्योंकि एक ओर उसे जनरल फेंग के हमले का सामना करना पड़ रहा था, जो जिस तरह जनरल वू से फूट गया था, उसी तरह चांग से भी फूट गया था और दूसरी ओर स्वयं जनरल वू हमला कर रहा था। इस प्रकार उसे लगातार उत्तर-पश्चिम और मध्य यांग्त्सी-क्षेत्रों से हमलों की आशंका थी। सन् १९२५ में फेंग ने एक बार तो चांग के मंचूरिया-स्थित एक जनरल को फोड़ कर उसे पीकिंग से हटा भी दिया था, किन्तु चांग ने मंचूरिया में जापान की सहायता से फिर से अपना अधिकार जमा लिया, विद्रोह का दमन कर दिया और वू पी-फू की सहायता से फिर उत्तरी चीन में घुस आया। किन्तु जब वू फेंग के विरुद्ध अंतिम बड़े युद्ध की तैयारी कर ही रहा था, उसे सन् १९२६ में दक्षिण की ओर मुड़ जाना पड़ा, जिधर राष्ट्रीय फौजें सैनिक नेताओं का राज खत्म करने के लिए उत्तर की ओर बढ़ती हुई यांग्त्सी तक पहुँच गयी थीं।

अभी तक उत्तरी चीन के फौजी नेताओं के संघर्ष का ही वर्णन किया गया है। दक्षिण के प्रान्तों में भी इसी प्रकार की स्थिति चल रही थी। सन् १९१७ के बाद

कुओमिनतांग-प्रभुत्व में संसद् अपने पैर शंघाई व कैण्टन में जमा कर दक्षिणी प्रान्तों में संसदीय शासन चलाते हुए उत्तर पर फिर अधिकार कर लेने का प्रयत्न कर रही थी। किन्तु दक्षिण की संसदीय सरकार की स्थिति पीकिंग-सरकार से अधिक अच्छी नहीं थी। उसकी अपनी शक्ति केवल वही थी, जो दक्षिण के फौजी नेता उसे दे रहे थे और इस प्रकार वह उन्हीं की दया पर आश्रित थी। आनफू-क्लब की पराजय के बाद डाक्टर सुन यात-सेन ने उसके कुछ सदस्यों से समझौता अवश्य कर लिया था, पर वह स्वतंत्र रूप से न तो दक्षिण में ही और न उत्तर में स्थिति को सुधार पाये। बीच-बीच में कैण्टन में उनका नाममात्र का अधिकार हो जाता था, लेकिन तभी तक जब तक कि उनकी उपस्थिति से, उस समय सशक्त क्वांगतुंग या क्वांगसी के सैनिक नेताओं को लाभ रहता था। इस प्रकार तुचून-काल में दक्षिण के प्रांतों में भी केन्द्रीय सत्ता व नागरिक-शासन का वैसा ही ह्रास हो गया था, जैसा कि उत्तर में। सन् १९१७ से १९२६ के बीच संगठित राजनीतिक इकाई के रूप में चीन का अस्तित्व समाप्त हो चुका था और प्रान्तीयता या क्षेत्रीयता ही भविष्य की शक्ति लग रही थी, जब डाक्टर सुन यात-सेन की मृत्यु के एक वर्ष बाद, सन् १९२६ में पुनरुज्जीवित कुओमिनतांग ने स्वयं अपनी क्रांतिकारी सेना बनाकर क्रांति फिर शुरू की और राष्ट्रीय एकता का विचार फिर मजबत होने लगा।

बारहवाँ अध्याय

चीन की प्रगति–आर्थिक और सामाजिक (१९००–१९३१)

(१) राजनीतिक स्थिरता प्रगति के लिए पूर्ण पूर्व-आवश्यकता नहीं

पश्चिमी लोगों के लिए राजनीतिक स्थिरता भौतिक प्रगति की पूर्ण पूर्व-आवश्यकता है। वहाँ राज्य के आर्थिक जीवन से शासन निकटता से संबंधित है। परिणाम स्वरूप उसे यह समझ पाना कठिन होता है, कि चीन में राजनीतिक श्रम की परिस्थिति जो क्रांति में लगी थी, उसी प्रकार आर्थिक श्रम की स्थिति पैदा क्यों नहीं कर सकी। इसका जबाब जो बिलकुल सरल है, उसका संकेत दिया जा चुका है। यह इस तथ्य में निहित है कि राज्य का आर्थिक जीवन शासकीय हस्तक्षेप या निदेशन अलग रहकर चलता आया है, साथ ही चीनी अर्थ-व्यवस्था के स्थानीयकरण का स्वरूप था। इन बातों में परिवर्तन हाल का विकास है और १९३१ तक यह इतनी कम दूर तक गया है कि राजनीतिक अस्थिरता आर्थिक प्रगति होने से रोक नहीं सकती। लूट और समुद्री डकैतियों के साथ ही सत्ता द्वारा अपना हाथ ढीला करना और गृहयुद्ध के कारण सतत् श्रम की स्थिति ने निस्सन्देह देश के सामान्य आर्थिक विकास को मन्द कर दिया। यह विशेषकर इससे था, क्योंकि गृहयुद्ध ने आवश्यक कार्य जानने के बाद ज्वलन्त आवश्यक विकासकारी कार्यों को सरकार द्वारा ले लेना कठिन कर दिया। परन्तु देश के आर्थिक जीवन में परिवर्तन राजनीतिक अव्यवस्था के बावजूद भी हुए, जो कि एक सीमा तक आर्थिक सत्ता में, जैसा कि पश्चिमी राज्य बन गया है, असम्भव था। इस अवधि में केवल गैर-राजनीतिक क्षेत्रों में ही अर्थपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनकी प्रशंसा की जानी चाहिए, यदि समकालीन चीन को समझना हो। जहाँ तक संभव है, उनका विचार स्थगित हो गया है, जिससे कि आधुनिक चीन के उत्कर्ष के सर्वेक्षण में उनको इस प्रश्न पर एकीकृत बर्ताव मिल सके। ये परिवर्तन इतने धीरे-धीरे हुए कि केवल महायुद्ध के बाद ही वे बहुत अधिक महत्त्व के होने लगे। परन्तु उनके अभिप्राय का अनुमान करने में हमें लगातार यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि कई मामलों में, १९३१ तक भी वे पूर्ण आन्दोलन के स्थान पर वास्तव में केवल शुरूवात अथवा प्रवृत्ति बन पाए थे। यह दोनों उनकी रुचि को बढ़ा देती है, और उनका उपयुक्त बर्ताव कठिन बना देती है।

(२) विदेशी व्यापार

१९०० तक चीन की आर्थिक प्रगति के महत्त्व का संकेत, उसके आयात-निर्यात व्यापार के प्रसार तथा आयात-निर्यात के स्वरूप में परिवर्तन में मिलता है।

यद्यपि व्यापार और वाणिज्य की संधियाँ चीन और पश्चिमी देशों के बीच १८४२ व १८४३ के वर्षों में पूर्ण रीति से थीं और इसके परिणामस्वरूप कुछ नियुक्त पोर्ट विदेशी व्यापार हेतु औपचारिक रूप से खोल दिये गये। परन्तु १९वीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी तक भी चीनियों ने स्वयं बाहर की दुनिया से आदान-प्रदान में रुचि नहीं प्रदर्शित की। चीन की भौगोलिक पृथकता, इसका विशाल महाद्वीपीय आनुपातिक प्रसार, विश्व से स्वयं को अलग रखने की प्रवृत्ति, समाज का आत्म-निर्भर का स्वभाव, जातीय एकरसता, उसकी सभ्यता की विशिष्टता और उसके आंतरिक संवहनिक साधनों का अभाव सभी उसके विश्व से सम्पर्क के शीघ्रकारी विकास में सब मिलकर विरोध में थे।

इस प्रकार वास्तविक व्यापारिक रुचि स्पष्ट करने में चीन को ५० वर्ष लग गए यद्यपि १९वीं शताब्दी में वहाँ व्यापार का क्रमिक प्रसार हुआ था। चूँकि सम्पर्क के स्थान बढ़ गए थे, अतः यह विकास लगभग अवश्यम्भावी था। १८४२ में व्यापार हेतु ५ बंदरगाह खोले गए। प्रत्येक विदेशी शक्ति द्वारा लगातार प्रभाव डालने से नए पोर्ट जो कि संधि के अंतर्गत थें, विदेशियों व विदेशी व्यापार के लिए खोल दिये गये। कुछ समय बाद चीनी सरकार ने स्वयं अपनी इच्छा से कुछ बन्दरगाह खोले। १९३१ तक संधियों के अंतर्गत खोले जाने वाले बन्दरगाहों की संख्या ६९ थी और ११ स्थान ऐसे थे, जो व्यापार व विदेशियों के रहने के लिए खुले थे। विदेशी रुचि के प्रोत्साहन के अंतर्गत सम्पर्क के स्थानों के प्रसार से व्यापार भी स्वाभाविक रूप से बढ़ा।[१]

१९०० के पश्चात्, चूंकि चीन ने अपने आप को आर्थिक पूर्णता से एवं स्वतंत्रता से विदेशी मेल-मिलाप से बाँध लिया था, विदेशी व्यापार अधिक तेजी से बढ़ा। १९०० से १९१० के बीच आयात का मूल्य २१ करोड़ दस लाख हाईकवान टेल से बढ़कर लगभग ४६ करोड़ ३० लाख हो गया। इसी अवधि में निर्यात १५ करोड़ ९० लाख टेल से बढ़कर ३८ करोड़ १० लाख से कुछ अधिक पहुँच गया। क्रांति के प्रभाव और विशेषकर यरोपियन महायुद्ध से आयात-व्यापार पर कुछ रोक लगी और १९१४ के बाद निर्यात-व्यापार बढ़ने पर असर हुआ। परन्तु दोनों मामलों में युद्ध के बाद के वर्षों में जो कि चीन में महान् राजनीतिक अव्यवस्था के वर्ष थे, व्यापार का तेजी से प्रसार हुआ। १९३० में तो कुल आयात १,३०९,७५५,७४२ हाइकवान टेल के मूल्य का व निर्यात ४९८,८४३,५९४ टेल का हुआ।[२] इस प्रकार ३० वर्षों में विदेशी व्यापार का मूल्य में ३५० प्रतिशत से

अधिक की वृद्धि हुई। जहाँ इन मूल्यों में छूट दी जानी चाहिए, क्योंकि मूल्य स्तरों में परिवर्तन हो गया था और वे पहले के हैं, जो कि उल्लिखित से कुछ कम होते हैं, जब विश्व-परिस्थिति को ध्यान में रखकर हिसाब लगाया जाता है।

तथापि उनके मूल्य में वृद्धि से कहीं अधिक अर्थपूर्ण है, आयात व निर्यात के स्वरूप में परिवर्तन। आयात पर यदि विचार किया जाय तो इसका विश्लेषण यह स्वीकार करने को बाध्य करता है, कि "पुरानी व्यवस्था––चीन द्वारा अफीम, कपास व अन्य फुटकर वस्तुओं का आयात––पूर्णतया साफ हो गया था, और यद्यपि चीन को पश्चिमी देशों को व्यापक खाद्यान्न-पूर्ति करनेवाला समझा जाता है, यह बड़े पैमाने पर आयात करनेवाला भी है।"[३]

अफीम ही ऐसी वस्तु थी, जिसने सर्वप्रथम व्यापार का संतुलन चीन के विरुद्ध कर दिया, यद्यपि इसका आयात १८५८ तक वैध नहीं था। १८८२ में ३४ प्रतिशत आयात इसी वस्तु का था। १९०२ में अन्य वस्तुओं का आयात इतना बढ़ गया कि कुल आयात का केवल ११ प्रतिशत अफीम था। १९०६ में सुधार कार्यक्रम के अंग के रूप में चीन दवाओं के प्रति अपने पुराने रुख पर लौटा और शासन ने आदेश दे दिया कि १९१७ तक अफीम के धूम्रपान का अंत कर दिया जाय। उसी समय इंगलैण्ड के साथ इसका भारत से आयात कम करने के लिए समझौते का प्रयास किया गया। इसका परिणाम भारत सरकार से एक समझौते में हुआ जिसके द्वारा तीन वर्षों के लिए भारत से चीन को होने वाला निर्यात प्रतिवर्ष १० प्रतिशत घटाना था (१९०८–१९११)।[४] ८ मई १९११ को नया समझौता हुआ, जिसमें "१९१७ तक भारत से चीन को अफीम निर्यात और चीन में अफीम के उत्पादन का पूर्ण अंत करने का प्रविधान था।" इसमें यह भी प्रविधान था कि इस बीच भारतीय अफीम को "चीन के किसी प्रदेश में आने से रोक दिया जाय" जिससे चीन प्रमाण द्वारा स्पष्ट रूप से यह स्थापित कर सके कि उसने अफीम की खेती व स्वदेश में उत्पन्न अफीम के निर्यात को प्रभावपूर्वक रोक दिया है।"[५]

दुर्भाग्य से १९१५ के बाद की कहानी भिन्न है। जैसे एक के बाद दूसरे प्रदेश में सैनिक सत्ता स्थापित हुई और पीकिंग की सत्ता गिरने लगी पुनः इसकी खेती आरम्भ हो गयी। १९२३ तक केवल वही प्रदेश इस खेती से अलग थे, जो इस प्रकार बसे थे कि उनके लिए स्वयं पूर्ति करने के बजाय पड़ोसी प्रदेशों के आयात पर निर्भर रहना अधिक लाभदायक था। इसके लिए सेना को जिम्मेदार ठहराना चाहिए, क्योंकि तुचून के एक सैनिक राज्यपाल ने खेती के लिए बाध्य किया और अन्य में आय के साधन बढ़ाने के लिए उसे प्रोत्साहित किया। इसमें उल्लेखनीय अपवाद था शंशी, जहाँ राज्यपाल येन सि-शान के अंतर्गत अफीम की खेती और उसके धूम्रपान को दबाने के लिए एक सफल सक्रिय अभि-

यान चलाया गया सिर्फ पड़ोसी प्रांतों की स्थिति ने पूर्ण नियंत्रण में रुकावट डाली। अन्यत्र अफीम का धूम्रपान खुले रूप में चलता रहा, अधिकारी इससे तथा खेती से खूब लाभ कमा रहे थे। १९२४–२५ में पहले के अत्यधिक उत्पादन से खेती में कुछ गिरावट आयी न कि अधिकारियों का रुख बदलने से। इस प्रकार चीन काफी मात्रा में विश्व में अफीम का सबसे बड़ा उत्पादक बन गया। जहाँ भारत में १९२४ में २० लाख पौंड का उत्पादन हुआ चीन ने २५० लाख पौंड पैदा किया। इसका अर्थ था कि खपत रोकने को उत्पादन घटाने के लिए इंग्लैण्ड की अपेक्षा स्वयं चीन पर ही दवाव रखना चाहिए था।

इस सम्बन्ध में चीनियों द्वारा अन्य निद्राकारक औषधियाँ, जैसे अफीम का सत्व (मारफिया) का बढ़ता हुआ उपयोग भी उल्लेखनीय है। यहाँ पूर्ति विदेश से होती थी और चूँकि इसका तस्कर-व्यापार होता था, इसका प्रमाण और स्रोत का अनुमान लगाना कठिन है। कस्टम-अधिकारियों द्वारा जो ऐसी जब्तियाँ होती थीं, उससे संकेत मिलता था कि तस्कर-व्यापार अधिकतर जापानी और जर्मन करते थे। यह मुख्यतः बन्दरगाहों के जरिए और शंघाई से होकर उपयोग के लिए मुक्त भूभाग पर आता था। इसके सस्ते होने और उपयोग की सरलता से निर्धन-वर्ग में अफीम के पाइप का स्थान लेने में मारफिनगोलियों ने अच्छी सफलता पायी।

विदेशी व्यापार के सामान्य प्रश्न पर पुनः आकर हम देखते हैं, कि १९०२ में कपास का माल व अन्य फुटकर वस्तुओं का आयात ७२ प्रतिशत था और खाद्यान्न वस्तुओं, केरोसिन और धातुओं का १७ प्रतिशत। १९१० में कुल आयात का २६ प्रतिशत कपास का सूत व कपास का माल, चावल ७ प्रतिशत, धातुएँ व मशीनरी आठ प्रतिशत, केरोसिन ५ प्रतिशत, शक्कर साढ़े चार प्रतिशत, रेलवे सामग्री ३ प्रतिशत, नौसेना सामग्री २ प्रतिशत, सिगरेट व तम्बाकू २ प्रतिशत, कोयला २ प्रतिशत, रंग डेढ़ प्रतिशत, माचिस १ प्रतिशत, ऊनी माल १ प्रतिशत तथा विभिन्न प्रकार का अन्य माल तीस प्रतिशत। कच्चा कपास जिसका आयात १९१० में कुल डेढ़ प्रतिशत था वह १९३० में बढ़कर १० प्रतिशत हो गया। इसका मतलब था मूल्य में ४५ लाख हाइकवान टेल से बढ़कर १३ करोड़ २२ लाख ६६ हजार टेल। सूती माल का आयात १९३० में मूल्य में बढ़ गया परन्तु १९१० के १३ प्रतिशत की तुलना में यह कुल आयात व्यापार का केवल १०.७ प्रतिशत ही था। और सूत का व्यापार मूल्य और अनुपात दोनों में काफी गिर गया था।[६]

आयात-व्यापार का अधिक विस्तृत विश्लेषण किए बिना हम यह ठीक तरह कह सकते हैं कि यह विदेशी माल की लगातार बढ़ रही माँग को प्रकट करता था तथा यह माँग के स्वरूप में वहुत रोचक परिवर्तन दिखाता था। आयात होनेवाली मशीनरी ९० लाख से बढ़कर ७८० लाख के मूल्य की हो गयी थी और कुल आयात २ से बढ़कर ६ प्रति-

शत हो गया था। इसने आंतरिक उत्पादन हाथ से बदल कर मशीन से करने की ओर संकेत किया। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ था कि चीन में औद्योगिक क्रांति पहुँच गयी थी। कच्चे कपास के आयात में वृद्धि और मूल्य और अनुपात की दृष्टि से सूत के आयात में गिरावट ने भी इसी परिवर्तन को प्रकट किया। चीन ने अपनी स्वयं की सूती माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन आरम्भ कर दिया था। यह निष्कर्ष देश में लायी जानेवाली सूती माल की बढ़ती कीमत से गलत नहीं ठहराया जाता, क्योंकि चीनी अपनी बढ़ती आवश्यकता की पूर्ति करने में अभी समर्थ नहीं थे, और नहीं सूतकताई की तरह बुनाई इतने व्यापक रूप से आधुनिक तरीकों से हाथ में ली गयी थी। चूँकि इस प्रश्न पर हमें दूसरे सम्बन्ध से फिर लौटना है, अतः अभी अंतिम निष्कर्ष निकालना हम यहीं स्थगित करें।

आयात होने वाली दूसरी वस्तु केरोसिन का जिक्र करते हुए यह उल्लेखनीय है, कि इसने लोगों के लिए, जहाँ बिजली आरम्भ नहीं हुई थी वहाँ रात्रि में अच्छे प्रकाश का प्रबन्ध करके लोगों के जीवन में असर डालने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का प्रतिनिधित्व किया। प्रथम महायुद्ध के दौरान, चीन के वनस्पति-तेल के नये बाजार का विस्तार केरोसिन की बढ़ती माँग के आंशिक रूप से जिम्मेदार था, जैसा कि महायुद्धीय व्यापार के कारण वृद्धिगत धन भी था, जिसने प्रकाश के काम के लिए वनस्पति तेलों का स्थान केरासिन द्वारा व्यापक रूप से लिया जाना सम्भव कर दिया। किंतु परिवर्तन के जो भी कारण हों घरों में प्रकाश करने के तरीकों में सुधार का नये चीन के विकास में बहुत महत्त्व है। माचिस के आयात करने में भी उसी प्रकार जीवन का आधुनिकीकरण प्रकट हुआ है। १९२३ तक माचिस के आयात का मूल्य घट गया, परन्तु इसका कारण माँग की कमी होने के बजाय चीन द्वारा बढ़ती माँगों की तुलना में स्वयं अपनी आवश्यकता की पूर्ति करना ही है। लोगों के जीवन में अन्य परिवर्तन कागज के आयात में चार गुना वृद्धि में जो कि अधिकतर समाचार पत्रोंकी संख्या में वृद्धि के कारण था, मोटरकारों के आरम्भ में, और फोटोग्राफी की, छपाई की व लिथो की सामग्रियों, टेलीफोन और तार तथा वैज्ञानिक उपकरणों के आयात में दिखायी दिये। ये तथा अन्य आयातकरण का अर्थ था कि चीनी भौतिक दृटिष्कोण से अपने रहन-सहन का तरीका धीरे-धीरे बदलना आरम्भ कर रहे थे।

इसी तरीके से व्यापार का विश्लेषण व्यापक रूप से सामग्रियों के निर्यात को भी प्रकट करता है। शायद सबसे अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन था चाय के निर्यात में अपेक्षाकृत गिरावट, जिसका निर्यात व्यापार १८८२ में ४८ प्रतिशत, १९०२ में दस प्रतिशत और १९३० में तीन प्रतिशत से भी कम था। इसका कारण यह बताया जा सकता है,

कि विदेश में चीन के बाजार पर जापानी तथा भारतीय चाय का प्रवेश, चीनियों की अपने उत्पादन में सुधार करने में असफलता तथा १९१७ के बाद एक समय रूस की परिस्थितियों के कारण रूस की माँग में अस्थायी गिरावट आयी। सिल्क ने, जो निर्यात की दूसरी बड़ी सामग्री थी, भी संपूर्ण व्यापार की तुलना में अपेक्षाकृत गिरावट दिखायी, यद्यपि यह चाय के निर्यात में गिरावट की तुलना में कुछ भी नहीं था। दूसरी रोचक प्रगति थी सोयाबीन, बीन केक व बीन-तेल का निर्यात जो कि १९०० में नगण्य था, १९१० में कुल निर्यात का ८ प्रतिशत था और १९३० में बढ़कर कुल निर्यात २०.७ प्रतिशत होकर बहुत बड़ा निर्यात हो गया। मूल्य में यह १८ करोड़ ५० लाख टेल होता था। सोयाबीन का व्यापार में अपनी वर्तमान स्थिति तक उठना, जापानी दक्षिणी मंचूरियन रेलवे की प्रेरणा के अंतर्गत मंचूरिया के विकास और बन्दोबस्त के समानान्तर हो गया।

चीन की विशिष्ट उत्पादित वस्तुओं, जैसे रेशमी सामग्रियों, गलीचे, कसीदाकारी व गोटा-किनारी या फीते, बालों की जालियाँ तथा कुछ अन्य वस्तुओं को छोड़कर निर्यात अधिकांशतः पूर्णतया कच्चे माल और खाद्यान्न का था और तिस पर भी हमें निर्यात की सूची में अंडे से बनी वस्तुएँ जो कि नई व बढ़ती हुई औद्योगिक सामग्री थी, नानकिन और सूत भी दिखता है। ये निश्चित रूप से छोटे संकेत थे कि चीन संभवतः शीघ्र ही पश्चिमी राज्यों और जापान से उनके स्वयं के बाजारों में होड़ करता मिलेगा। चीन के निर्यात की विभिन्नता में वृद्धि इस तथ्य से प्रकट हो गयी थी कि १९१० में चीन से निर्यात की सूची में ३३ उत्पादित वस्तुएँ ही शामिल करना पर्याप्त था जब कि १९३० में ५० से अधिक पृथक् प्रकार की वस्तुएँ थीं, जो कि प्रत्येक १० लाख टेल से अधिक मूल्य की निर्यात होती थीं।

यह सचमुच में स्वीकार किया जाना चाहिए कि केवल विदेश-व्यापार ने चीनी अर्थ-व्यवस्था में अपेक्षाकृत छोटा योगदान दिया। परन्तु वर्तमान शताब्दी की प्रथम दशाब्दियों के दौरान चीन में उसके लिए और हो रहे परिवर्तनों के वह जो संकेत देता है, उस कारण यह बहुत विचारणीय है।

(३) कृषि–जीवन में परिवर्तन

ये परिवर्तन आंतरिक उत्पादनकारी विधियों और आंतरिक व्यापार के परीक्षण द्वारा और भी अधिक अच्छी तरह नापे जा सकते हैं। जहाँ तक व्यापार का प्रश्न है, आलोच्य अवधि में उसका विस्तार दर्शानेवाले विश्वसनीय और विस्तृत आँकड़े प्रस्तुत करना असम्भव है। परन्तु जहाँ जलमार्ग से चीनी जलपोत और फैली तलीवाली नाव से,

जो मनुष्य-शक्ति से खींची और ढकेली जानी हैं, माल का ले जाना होता है और जमीन पर ऊँट, गधा, गाड़ी या हाथगाड़ी से ले जाया जाना है, यह स्पष्ट है, कि स्थानीय आधार से अधिक व्यापार बहुत सीमित होगा। समुद्री किनारों के पास तथा जहाज चलने योग्य बड़ी नदियों में भाप से चलनेवाले जलपोतों के उपयोग के साथ ही सड़कों के व रेलवे के निर्माण ने निश्चित रूप से आंतरिक व्यापार बहुत विस्तृत किया, वास्तव में विस्तार सीमित था, जिस सीमा तक कि ये नवीनीकरण किये गये थे। परन्तु जो छोटी शुरूआत हुई, वह आर्थिक प्रान्तीयतावाद व स्थानीयवाद को समाप्त करने और राष्ट्रीय बाजार का निर्माण करने के लिए उद्यत थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालना सही है, कि १९०० के बाद आंतरिक व्यापार विदेशी व्यापार की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से बढ़ा था।

१८४२ की तरह १९३१ में चीन में कृषि-जनसंख्या सबसे बड़ा व्यावसायिक समूह था। ऊपरी तौर पर खेती में संलग्न ग्रामीण जनता पश्चिम के सम्पर्क द्वारा अपने जीवन और आर्थिक गतिविधियों में बहुत कम प्रभावित हुई थी। यह स्वभावतः इस कारण से हो कि चूँकि वे ऐसे स्थानों में रहते थे, जहाँ विदेशियों से उनका बहुत कम सम्पर्क आता था और वे नयी धाराओं से आम तौर पर बिलकुल अलग थे। भीतरी ग्रामों में खेत उसी प्रकार तैयार किये जाते थे, जैसे कि पीढ़ियों पूर्व किए जाते थे। प्रारम्भिक हल जो शायद गधे और बैलों द्वारा संयुक्त रूप से खींचा जाता था, का उपयोग होता था और फसल काटने व साफ करने की पुरानी प्रारम्भिक विधियाँ ही उपयोग में लायी जाती थीं। पश्चिम की खेती के उपकरण और मशीनरी या तो अस्वीकृत कर दिये गये थे या उनके विषय में उन्होंने सुना तक नहीं था। श्रम की बचत के उद्देश्य के लिए मशीनों का प्रयोग बहुत कम आरम्भ हुआ था।

जब यह मामला था कुछ समय के लिए रहा होगा परिवर्तन के लिए अज्ञानता अथवा अनिच्छा के अलावा इसके अन्य भी कुछ कारण हैं। पहले स्थान पर, तो खेती की मशीनरी जो अमेरिका में बहुत अधिक विकसित थी, चीनी कृषि की आवश्यकता के अनुकूल नहीं होती। यह सब विस्तृत खेती के लिए मानवीय श्रम के कम-से-कम उपयोग की दृष्टि से तैयार किया गया है। जहाँ व्यक्तिगत भूमि के पट्टे छोटे और बिखरे हुए हैं, जैसे कि चीन में हैं, ट्रेक्टर सामूहिक हल वहाँ तुरन्त काम में नहीं आ सकते और वे व्यक्तिगत किसान के लिए अलाभकर हैं। वे तभी सफलतापूर्वक आरम्भ किये जा सकते हैं, जब एक समझौते द्वारा खेतों की सीमा-रेखा को जोतने के समय नहीं मानें। चीनी किसान, जो कि व्यक्तिवादी था, केवल तभी धीरे-धीरे इसलिए राजी हो सकता है, जब कि उसे शुद्ध लाभ दिखाया जा सके जो कि इससे प्राप्त होगा। दूसरे स्थान पर पश्चिमी उपकरण और मशीनें इतनी खर्चीली थीं कि किसान यह सोचकर भी कि अंततः ये मशीनें उसके

लिए लाभकारी होंगी, उन्हें खरीदने का साहस नहीं कर सकता था। जिस प्रधान लाभ के लिए उनका आग्रह किया जाता था, वह था कि वे श्रम का स्थान लेती हैं और एक आदमी को कई का काम करने की योग्यता देती हैं। परन्तु चीन में यह कोई लाभ नहीं था, क्योंकि वहाँ श्रमिक प्रचुर मात्रा में मिलते थे। जब तक कृषि के लिए प्राप्त जनशक्ति घटती नहीं श्रम की बचत वाले कृषि-उपाय बहुत कम जँचते थे। इसके विपरीत वे विरोध खड़ा करते थे, क्योंकि उनका अर्थ था विस्थापित लोगों का भूखों मरना। यदि उद्योग खेती से काफी लोगों को खींच ले, या विदेशों को अथवा मंचूरिया व मंगोलिया को भारी तादाद में लोग चले जायें या दोनों सम्मिलित रूप से कार्य करें, तभी पश्चिमी कृषि-उपकरण स्वीकार हो सकते हैं। यदि यह दिखाया जा सके कि चीनी परिस्थितियों में वे किस प्रकार प्रभावकारी ढंग से उपयोग किये जा सकते हैं और यदि किसान उनकी खरीद के हेतु राशि लगा सकें।

परन्तु जहाँ उपकरणों के प्रयोग में बहुत कम परिवर्तन हुआ, कृषि-अर्थ-व्यवस्था में अत्यंत सारगर्भित परिवर्तन हुए। पहले स्थान पर तो संचार में सुधार का किसानों की आबादी पर असर हुआ। पहली बार उत्पादन शुद्धतः उपयोग हेतु स्थानीय विनिमय की अपेक्षा मुख्यतः बिक्री के लिए उत्पादन करना, संभव होने लगा। यह परिवर्तन पूरी तरह अनुभव हो सकता था और इसके परिणाम प्रकट रूप में दिख सकते थे, यदि केवल आधुनिक यातायात-व्यवस्था पूर्ण हो जाती। परन्तु १९३१ तक यह जहाँ तक पहुँचा, इसका परिणाम कृषि-विशेषीकरण की शुरुआत में हुआ। किसान द्वारा सीधे अपनी व परिवार की बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयास करने के स्थान पर, जो कि अलाभकारी होना ही था, वह क्षेत्र की मिट्टी और जलवायु के अनुकूल सबसे अच्छी फसल पैदा कर सकता था और उसे बढ़ते हुए बाजार में बेच सकता था और अपनी फसल की बिक्री से प्राप्त आय से अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीद कर उनकी पूर्ति कर सकता था। इस प्रकार हाल के विकास और अन्य देशों के अनुभवों के आधार पर भी कोई भी चीन के अलाभकारी या अपेक्षाकृत स्वावलंबी परिवार या ग्राम का अंत देख सकता था। बाद में यह संकेत मिला कि कारखाना कपड़े और जूते गृह-श्रम से अधिक सस्ता पैदा कर सकता है।

तथापि इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि १९वीं शताब्दी में चीन में वस्तुओं का विनिमय नहीं था अथवा परिवार और ग्राम स्वावलम्बी थे। उदाहरणार्थ किसान अपने सब उपकरण नहीं बनाता था और न ही वह अपनी भलाई के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु का निर्माण करता था। बाजारी शहरों का अस्तित्व और शहर में कारीगर-वर्ग विकास तथा हस्तकला उद्योगों के विशिष्ट उत्पादन का माप इस बात को इंगित करता है, कि वहाँ वस्तुओं का परस्पर विनिमय होता था। इसमें अधिकांश स्थानीय स्तर पर होता

था, परन्तु कुछ विनिमय अपेक्षाकृत विस्तृत क्षेत्र में होता था। ऊपर उल्लिखित फेर-बदल इसको बढ़ाने की दिशा की ओर तथा उसके विशेषीकरण की ओर इंगित करता है, इस हद तक कि किसान अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए अंततः शहरों पर निर्भर हो जाये। यह उसे बाजार के लिए उत्पादन को दूसरा स्थान देने की अपेक्षा इसका परिणाम उसे प्राथमिक स्थान देने को बाध्य करने में होगा, जबकि पहले उत्पादन प्रमुखतः उपयोग के लिए होता था।

फसल की बढ़ती खेती ने जो कि अपेक्षाकृत विस्तृत बाजार में खोली जानी चाहिए, कृषि प्रधान चीन में इस परिवर्तन का दूसरा संकेत प्रदान किया। उदाहरणार्थ मंचूरिया की प्रधान फसल सोयाबीन हो गयी थी। दो सबसे विस्तृत क्षेत्र चिहली और कियांगसू प्रदेशों में और शांसी व अन्यत्र छोटे पैमाने पर कपास इस परिमाण में पैदा किया जाता था, कि चीन विश्व में तीसरा सबसे बड़ा उत्पादक बन गया था। फिर तम्बाकू प्रायः सभी प्रान्तों में बाजार के योग्य प्रमाण में पैदा की जाती थी। इसमें से कुछ निस्संदेह स्थानीय और घरू खपत के लिए पैदा होती थी परन्तु अधिकाधिक आम घरेलू बाजार के लिए होती थी, जबसे सिगार और सिगरेट महत्त्वपूर्ण गृहोद्योग बन गया था। सैनिक शासन के काल में अफीम की अधिक खेती का पहले उल्लेख हो चुका है, यह मान्य किया जाना चाहिए कि अफीम किसान के उपयोग की अपेक्षा बाजार के लिए उत्पादित किया जाता था। और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु प्रवृत्ति का संकेत करने के लिए काफी कहा जा चुका है। यह स्पष्ट है कि किसान, जो स्वयं प्रधान फसल, जैसे तम्बाकू अथवा कपास के उत्पादन में लग जाता है, अपने खाद्यान्नों के लिए दूसरों पर निर्भर होता है और परिणामस्वरूप अन्य लोगों को उनकी फसल के लिए व्यापक बाजार मिलता है। इस प्रकार विशेषीकरण का आन्दोलन एक कदम आगे ले जाया गया। आम आन्दोलन खाद्य-सामग्री के आयात की ओर भी ले जा सकता है यदि खाद्यान्न उत्पादन करनेवाले क्षेत्रों को सीमित करने के लिए प्रधान फसल की खेती पर्याप्त व्यापक रूप से की जाती है। इस प्रकार कपास, कच्चा माल या उससे उत्पादन की हुई वस्तुएँ निर्यात होनेवाली वस्तुओं की सूची में आने लगीं और चावल व खाद्यान्न बढ़ते हुए आयात की सूची में। जैसा कि बाद में उल्लेख किया जायेगा,[७] खेती के इस परिवर्तन को पैदा करने में घरेलू उद्योग बहुत ठोस आधार था।

इन तीन शताब्दियों में कच्चे माल के सुधार का सजग आन्दोलन भी दिखायी दिया। प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सुधार के सरकारी स्कूलों के जरिये प्रयत्नों के लिए सरकार आंशिक रूप से जिम्मेदार थी। इसके अलावे गैरसरकारी प्रयास, दोनों-व्यक्तिगत और सामूहिक—उसी दिशा में किये गये।

CC-0. In Public Domain. UP State Museum, Hâzratganj. Lucknow

यह प्रदर्शित हो चुका है, कि चीन अच्छे प्रकार का व लम्बे रेशेवाला अमेरिकी कपास पैदा कर सकता है। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है, कि स्वदेशी कपास जो कि छोटे रेशे का है...चयन की विधि से भी बहुत अधिक सुधारा जा सकता है। कपास-उद्योग में रुचि लेनेवाले चीनी कच्चे माल की मात्रा तथा प्रकार में सुधार करने के लिए कदम उठा रहे हैं और इस रुचि को कायम रखने के लिए नानकिंग-विश्वविद्यालय के कृषि-विभाग से मिलकर काम करने के लिए एक अमेरिकी कपास-विशेषज्ञ का प्रबंध किया गया है।[८]

रेशम के कीड़ों को निकालने तथा उनकी अधिक वैज्ञानिक चिन्ता रखने तथा विदेशी तीव्रगामी करघों की आवश्यकता के अनुरूप अच्छे प्रकार का उपयुक्त कच्चा रेशम तैयार करने के कदम उठाये गये। यदि रेशम के व्यापार में चीन को अपने प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करना है, तो ये प्रयास जारी रहना चाहिए। यही बात चाय पैदा करनेवालों के लिए भी सही है। चीनी लोग विदेशी बाजार की आवश्यकताओं के अध्ययन की शुरुआत कर रहे थे और परिणामस्वरूप खेती का सुधार करने व चयन व क्रमबंधन का सतर्कता से करने का प्रयास कर रहे थे।

उन उत्पादन-क्षेत्रों में ही, जो कि उद्योग अथवा विदेशी व्यापार से सम्बन्धित थे, चीनी उनके सुधार की ओर जम कर प्रयास कर रहे थे। परन्तु अन्य क्षेत्रों में परिवर्तन के संकेत थे, जो जैसे समय बीतता है अधिक दिखायी देंगे। कुछ स्कूलों और कालेजों के कृषि-विभागों ने उन उत्पादनों की खोज करने के लिए प्रयोग किया, जो लाभदायक रूप से आरम्भ की जा सकें। यह भी खोजा गया कि चीनी किसान अपनी फसल का सबसे खराब हिस्सा बीज के लिए बचाता था और उसे इस विचार से परिचित कराया गया कि इसके स्थान पर उसे भविष्य में बोने के लिए फसल के उत्तम हिस्से को संरक्षित रखना चाहिए। इससे बीजों के उत्पादन में विशेषीकरण की ओर यह छोटा कदम होगा। जहाँ भी यह किया गया है, निस्सन्देह यह उत्पादन बढ़ायेगा और अन्ततः किसान की स्थिति को सुधारेगा। फसल का वैज्ञानिक तरीके से बदल-बदल कर बोने का अनुरोध भी किया जा रहा था, जिससे लागत और खाद देने के श्रम को कम करने में सहायता होगी। यह बात अर्थरहित नहीं है, कि १९१० में बाहर से आयात होने वाले कृत्रिम खाद की मात्रा नगण्य थी, जब कि १९२३ में यह आयात ४० लाख हाइकवान टेल मूल्य का हो गया, जिसका स्थान आयात की सूची में चौबीसवाँ था।

गंभीरता से यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि चीनी किसान का जीवन-स्तर उल्लेखनीय उन्नत हो गया था। कुछ हिस्सों में सूखा पड़ने व बाढ़ के और उसके फलस्वरूप अकाल की स्थिति के कारण, जो कि १९२१ के भीषण अकाल में बहुत उच्चतम सीमा पर पहुँच गयी थी, जीवन की परिस्थितियाँ स्पष्टतः हमेशा से बदतर हो गयीं। परन्तु

सामान्य स्थिति आ जाने पर ऐसे संकेत थे, कि जीवन-स्तर कुछ ऊँचा हो गया था। यह संकेत मिला तम्बाकू की खपत में बहुत वृद्धि और आरामदेह वस्तुओं के आयात में, कृत्रिम खाद के उपयोग में, रेलवे में तीसरी श्रेणी में सफर के प्रमाण में और अन्य कई तरीकों में वृद्धि में। तथापि जहाँ आम जनता का सम्वंध था, यह इतना कम था, कि उल्लेख करने के अलावे और कुछ बात नहीं है। बहुत से हिस्सों में विशेषकर वे जो सूखा व बाढ़ से प्रभावित हुए––उदाहरणार्थ चिहली प्रांत—बहुमत किसान न केवल गरीब ही रहा वरन् निर्धनता-रेखा से भी वह नीचे की स्थिति में रहता था।[१]

ग्रामीण जीवन का दूसरा पहलू जो विचार करने योग्य है, वह है ग्रामीण उद्योग। विशेषकर कताई और बुनाई लम्बे समय से ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अंग रहे थे। जीवन के लिए यह आवश्यक था कि गृहस्थी के सभी सदस्य उसके निर्वहन के लिए कुछ योगदान देते। और अपर्याप्त संचार साधनों के कारण ग्रामीणों को हर संभव चीज अपने लिए पैदा करनी पड़ती थी। चूँकि ग्राम के प्रायः सभी व्यक्ति किसान थे, प्रत्येक गृहस्थी एक औद्योगिक संस्थान भी था, ठीक उसी प्रकार जैसे कि अमेरिकन सीमान्त समाज में था। पहनने के लिए कपड़े या तो उसी क्षेत्र में कृषि-कार्यों के हिस्से के रूप में पैदा किये जाते थे या विनिमय से प्राप्त किये जाते थे। परन्तु दोनों मामलों में वे हमेशा घर के श्रम द्वारा ही बदले जाते थे, विशेषकर महिलाओं व बच्चों के। इसके अलावे जहाँ सम्भव था विनिमय अथवा बिक्री के लिए उत्पादन द्वारा परिवार की आय बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता था। व्यापारिक केन्द्रों के बाहर उद्योग, केवल सीमित विशेषीकृत उत्पादन को छोड़कर देश के असंख्य ग्रामों में व्यापक रूप से फैल गया था।

कारखाना-पद्धति के साथ मशीन-अर्थव्यवस्था की प्रस्थापना के प्रति बढ़ने के बावजूद यह बात सही रही। परन्तु यहाँ भी परिवर्तन अनुभव किया जा सकता था। उदाहरण के लिए चिहली और कियांगसू के कपास-उत्पादक क्षेत्रों में गृह-उद्योग चलते रहे परन्तु काम देनेवाला या छोटा पूँजीपति स्वयं अधिकाधिक प्रभुत्व का व्यक्ति बना रहा था। किसान को कच्चा कपास या सूत की पूर्ति करने के अलावे कभी-कभी वह यंत्रों जैसे तकुओं और करघों की व्यवस्था भी करता था। फिर वह सूत या कपड़ा एकत्र करके उसे बाजार भेजता था। ग्रामीण परिवार केवल काम करने की एवज में राशि पाता था। अन्य मामलों में तकुए व करघे प्रायः बहुत प्रारम्भ के वह घरेलू प्रकार के होते थे; वे परिवार के ही होते थे और व्यापारी माल की पूर्ति करता था और उत्पादन को बाजार में भेजता था। नये प्रकार की मशीनें जो पुरानी से अधिक जटिल थीं, पर प्रतिश्रम-ईकाई से अधिक पैदा करनेवाली होती थीं, कुछ क्षेत्रों में आरम्भ की जा रही थीं, परन्तु केवल क्रमशः जहाँ वे घरों में उपयोग में आती थीं। विकसित मशीनें बहुधा व्यापारी

के निरीक्षण में अर्ध-कारखाना-पद्धति में चलायी जाती थीं। यहाँ सूती वस्त्रोद्योग में पुरानी से नयी व्यवस्था के बीच संक्रमण की स्थिति दिखायी थी। यही परिवर्तन रेशम की कताई व बुनाई में, कागज तैयार करने में और घरेलू उद्योगों में चल रहा था।

यह दर्शाते हुए कि सूती वस्त्रोद्योग के बाहर ग्रामीण उद्योग को क्या हो रहा है, हम चिएनान के कागज-उद्योग का उल्लेख कर सकते हैं। शहर के पास नाले के पानी की अनुकूलता व चूने की पूर्ति की व्यवस्था के कारण आसपास के ग्रामों में लम्बे समय से कागज बनाया जाता था। पुराने समय का कागज का कारखाना ७ व्यक्तियों का होता था। इनमें से ५ व्यक्ति कच्चा माल तैयार करते (कागज शहतूत से बनाया जाता है) व कागज सुखाते हैं, एक कागज तैयार करता है और प्रमुख व्यक्ति अंतिम रूप देता या चिकना बनाता है। कारखाने के मालिक के बहुधा एक से अधिक ऐसे कारखाने होते हैं। वह किताबें रखता है और उसके बाजार को देखता है, इसके अलावे पूंजी की पूर्ति करता है........।

इन छोटे पूंजीपतियों में एक साहसी व्यक्ति सिद्ध हुआ। १९१४ में वह कोरिया व जापान में कागज बनाने के तरीके का अध्ययन करने हेतु गया और १९१६ में "कोरियन पेपर मिल" शुरू कर दी। यह इतना सफल हुआ कि दूसरे वर्ष उसने दूसरा कारखाना आरम्भ कर दिया और १९१९ में काफी विस्तृत मशीनें खरीद लीं। इस समय तक दूसरे भी रुचि लेने लगे थे और कई मिलें आरम्भ हो गयी थीं। ये दो प्रकार की हैं, छोटी जिसमें प्रत्येक में ३० व्यक्ति काम करते हैं तथा उससे बड़ी जिसमें ५० से अधिक कर्मचारी होते हैं। बड़े कारखाने जल-विद्युत् का प्रयोग करते हैं और उनका उत्पादन छोटे से दस गुना अधिक होता है। १९२० में ये कोरियन मिलें ४ थीं। वे बहुधा हिस्सेदारों के एक गुट की होती हैं। १९२० वर्ष बहुत सफल वर्ष था और उन्होंने २०० प्रतिशत लाभ अर्जित किया। इससे अधिक प्रसार हुआ, १९२१ में ३१ मिलें काम कर रही थीं। अधिक उत्पादन से कीमतें बहुत नीचे गिर गयीं (३२ स्टर्लिंग से ९.५० स्टर्लिंग) और उसके बाद वाले वर्ष में केवल २० मिलें काम करती रहीं।[१०]

यहाँ हमें एक उद्योग को, जो गृहस्थी से सम्बद्ध रहा है, कारखाने के आधार पर रखने में पहले कदम का उदाहरण मिलता है। किसी भी प्रकार के घरेलू उद्योग के मामले में इसमें किसान तथा उसके परिवार का समय लग जाता था, विशेषकर शीतकाल व वसन्त के प्रारम्भ में और इसने कृषि कार्य के सहायक का काम किया। जैसे मशीनरी आरम्भ होती है और उसके साथ कारखाना-पद्धति आती है, उद्योग को कृषि का आनुषंगिक नहीं माना जा सकता, परन्तु उसे अपनी स्वयं की श्रम-पूर्ति के लिए भरती करनी पड़ती है। चीन में अन्यत्र की तरह श्रमिक खेत छोड़ने की ओर प्रवृत्त होता है,

इस प्रकार जमीन पर दबाव हल्का होता है अथवा महिलाओं और बच्चों का उपयोग होता है और नया उद्योग निश्चितः भिन्न तरीके से ग्रामीण गृहस्थी को परिपूरक आय देना जारी रखता है, जैसा कि पुराने तरीके में करता था। प्रत्येक में ऐसे परिवर्तन, जिनका वर्णन किया गया है, लगभग अदृश्य रूप से ग्रामीण अर्थव्यवस्था में क्रांति का कार्य कर रहे थे।

(४) औद्योगिक विकास

१९ वीं शताब्दी के चीन के शहरों और कस्बों में भी उद्योग हाथ-करघे या कुटीर स्टेज पर था। कुछ अपवादों के साथ उत्पादन कड़ाई के साथ स्थानीय बाजार के लिए था। दूकान और कारखाना वहीं थे। उत्पादन के उपकरण विस्तृत और महँगी मशीनों की अपेक्षा सरल औजार थे। सभी या अधिक औद्योगिक विधियाँ एक ही छत के नीचे, उन्हीं व्यक्तियों द्वारा चलायी जाती थीं, वहाँ श्रम के विभाजन और औद्योगिक विशेषीकरण नगण्य होता था। वहाँ पूंजी व श्रम की कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि मालिक व मजदूरी पानेवाले कर्मचारी के स्थान पर हम पाते हैं कि कारीगर संचालक बन जाता है, मजदूर और काम सीखनेवाले सहायक होते हैं। एक ही उद्योग में संलग्न सभी शिल्पी-समाज में संगठित हो जाते थे जो कि मूल्यों, गुण, मजदूरी और काम सीखने की शर्तों का नियंत्रण करता था और मजदूरों की तुलना में काम सीखनेवालों की संख्या नियत करता था।

पुरानी परिस्थितियाँ इस हद तक रही आयीं कि १९३१ तक चीन के औद्योगिक उत्पादन का अधिकांश घरों या छोटे कारखानों में और उसी संगठन के साथ ही पैदा होता रहा। परन्तु इसी समय यह मान्य करना चाहिए कि सामान्य आन्दोलन-उद्योग को आधुनिक आधार पर लाने की दिशा में था। इस प्रकार जहाँ सूती व रेशमी उद्योगों में हाथकरघा कायम रहा, आधुनिक मशीन करघा, विद्युत्-चालित बिजली के साथ आरम्भ हो गया। १९३० में ४५० आधुनिक रेशमी कोये व बुनाई मिलें, १२७ सूती मिलें और १६ ऊनी मिलें थीं। कार्यरत सूती तकुए ३० लाख से अधिक संख्या में थे। इसके अलावे वहाँ ४० से अधिक बीज-संवर्धक कारखाने, ४० से अधिक खाद्य-पदार्थ डिब्बों में भरने के कारखाने, ३४ लोहा व इस्पात कारखाने, ५३ जलपोत सुधारने, जहाज-निर्माण व इंजिनियरिंग कार्यों के कारखाने, १२९ आटा मिलें, १०० से अधिक तेल मिलें और बीन-केक कारखाने, २७४ बिजली-प्रकाश और बिजली कारखाने, २० कागज मिलें तथा कारखाने थे, जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, कि सूची बनाना कठिन है। इस पर पुनः जोर देना चाहिए कि उक्त संस्थान आधुनिक मशीनरी का प्रयोग करते थे और इसके अलावे वहाँ छोटे पूंजीपतियों के माध्यम से संक्रमण आन्दोलन चला था, जिसका उल्लेख हो चुका है। अन्ततः इसका परिणाम कारखाना व मशीन अर्थ-व्यवस्था में व्यापक योगदान में होगा।[१६]

यह स्वीकार करना चाहिए कि अमेरिका और यहाँ तक कि जापान की तुलना में नयी अर्थव्यवस्था १९३१ तक भी चीन में अपनी गर्भावस्था में थी या अधिक-से-अधिक निश्चित रूप से शैशवावस्था में थी। तथापि जब यह स्मरण किया जाता है कि १९०० के पहले उत्पादन की विधियों में स्पष्टतया कोई परिवर्तन नहीं आया था और जब कोई यातायात व संचार की कठिनाइयों को याद करता है, साथ ही देश के आकार व उसकी संगठित जीवन-व्यवस्था की कठोरता को याद करता है, तो ये आरम्भ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। उपर्युक्त के अलावा औद्योगीकरण में आनेवाली अन्य रुकावटें, जिनपर विजय पानी पड़ी, वे थीं चीनियों की ऐसी प्रवृत्ति, जो उन्हें परिवर्तन के प्रति विरोधी बना देती थी, चीनी अर्थ व्यवस्था का स्वावलंबन, व्यापारिक व औद्योगिक वर्गों अपेक्षाकृत कम आयु, भ्रमात्मक मुद्रापद्धति और चाँदी के मूल्यों में उतार-चढ़ाव के कारण उसकी अस्थिरता, आयात-निर्यात कर पर विदेशी नियंत्रण, जो कि नवजात उद्योग को संरक्षण देना असंभव बना देती थी, और राजनीतिक परिस्थितियाँ, बड़ी रकम की किसी लागत जैसे कि मशीनें लगाने में पड़ती है, में हानि का भय आदि बातें थीं।[१२]

नये उद्योग के विकास में दो तत्वों ने योगदान दिया। प्रथम जो स्वभावतः ध्यान में आता है, वह है पश्चिम का प्रभाव, उसके बाद जब चीन नये विकास को मुक्त रूप से स्वीकार करने लगा। दूसरा पाया जाता है रेलवे मार्ग के निर्माण और वाष्प-जहाजों की लाइन स्थापित करने में। सिवाय यह कहने के कि मशीन कारखाना-पद्धति का व्यापक पैमाने पर उत्पादन स्थानीय बाजार की अपेक्षा राष्ट्रीय बाजार पर आधारित है, संचार के विकास पर आगे भी कुछ कहना आवश्यक है और जैसे यातायात की सुविधाएँ बढ़ती हं, विस्तृत बाजार का निर्माण होता है। इस प्रकार रेलवे मार्ग के निर्माण से कृषि की अपेक्षा उद्योग को अधिक प्रोत्साहन मिला। वास्तव में चीन को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की शाखाओं के लिए कहीं अधिक लम्बे रेलवे मार्ग और राष्ट्रीय मार्गों की आवश्यकता थी, अपेक्षाकृत उसके जो १९३१ तक बने थे।

आधुनिक प्रकार के चीनी-उद्योग में अधिकांश जो कि सफल थे, व्यक्तिगत रूप से धन लगाया गया था, परिवारिक मामले थे, अथवा दो या कई सदस्यों द्वारा हिस्सेदार के बतौर चलाये जाते थे। संगठन का जॉइन्ट-स्टॉक रूप यदाकदा पूर्ण सफलता के साथ उपयोग होता था। यह अंशतः इसलिए होता था, क्योंकि कानूनी नियमन और नियंत्रण प्रभावकारी ढंग से प्रस्थापित नहीं हुआ था। परन्तु और भी यह सामाजिक ईमानदारी की विकसित भावना की कमी के कारण था। यह वही दोष था, जो लम्बे समय से शासन में स्वयं प्रकट हो गया था। स्टॉक चन्दे के लिए जो राशि एकत्र की जाती थी, अक्सर व्यक्तिगत कार्य में खर्च कर ली जाती थी, जैसे कि सट्टेबाजी जिसका निगम के व्यापार से कोई संबंध

नहीं था और इस प्रकार अक्सर रुपये उड़ जाते थे। परिणामतः संभावित रुपया लगाने वालों में यह अविश्वास पैदा होने से व्यापक उद्योगों के विकास को धीमा कर दिया, उनको छोड़कर जो कि तीन-चार धनी व्यक्तियों के बराबर साधनों वाले थे। निस्संदेह चीनियों की लौकिक ईमानदारी जॉइन्ट-स्टॉक उद्योगों के लिए पूर्ण विस्तृत होने में समय लगेगा। लम्बी अवधि में तथापि यह अच्छी चीज सिद्ध हो सकती है यदि यह आधुनिक प्रकार के छोटे औद्योगिक प्रयासों की बहुसंख्या की ओर अग्रसर होते हैं। इसका नियंत्रण ठीक प्रकार से हो सकता है और पुराने संगठनों को नयी आवश्यकताओं को अच्छी प्रकार से ग्रहण करना मान लेगा, जो कि अन्य किसी तरह संभव नहीं है।

जहाँ जॉइन्ट स्टॉक का प्रयास केवल धीरे-धीरे १९३१ तक अपना मार्ग बना रहा था पर इसका संदेशवाहक या कम-से-कम जो इससे व कारखाना उत्पादन से संबंधित है—आधुनिक बैंकिंग पद्धति—तेजी से अस्तित्व में आ रही थी। यहाँ भी नये और पुराने साथ-साथ मिलते थे। शांसी बेंकर मध्य चीन में सीमित व्यापार अभी भी करते थे और पुराने तरीके की विनिमय-दूकान कायम रही। परन्तु क्रांति के पश्चात् पश्चिमी प्रकार के बड़ी संख्या में आधुनिक बैंक स्थापित हो गये। इनमें से कई राष्ट्रीय बैंकर्स-संघ में संगठित हो गये जिसमें शामिल थे :—बैंक ऑफ चाइना जो कि केन्द्रीय सरकार के लिए वित्तीय एजेंसी थी, बैंक ऑफ कम्युनिकेशन्स, जो कि उसी प्रकार संचार-मंत्रालय से सम्बद्ध था; अनेक प्रांतीय बैंक; और इस प्रकार की संस्थाएँ, जैसे चेकियांग औद्योगिक बैंक, बैंक ऑफ साल्ट इंडस्ट्री, निंगपो कामरशियल बैंक और अन्य कई। आधुनिक बैंक ने चीन का औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण रोल अदा किया और उसे अदा करते रहना चाहिए। इसके भी मार्ग सरकार ने अपने आंतरिक ऋण जारी करने के लिए और पीकिंग व बाद में नानकिंग में वित्तीय संकट पर काबू पाने के लिए वर्तमान बैंकों पर निर्भरता दिखाई थी। सरकारी बैंकों ने वित्तीय व्यवस्था की अस्वस्थ प्रवृत्ति विरलता से भी नहीं दिखाई, विशेषकर उनके प्रचलित मुद्रा के प्रश्न पर; परन्तु यह व्यापक रूप से उनके सरकार से संबंध और घरेलू राजनीति के संकट के समय के कारण था, न कि स्वस्थ वित्तीय व्यवस्था के सिद्धान्तों का आदर करने में बैंक मैनेजरों की असफलता के कारण। संगठित चीनी वित्त-व्यवस्था की शक्ति कम-से-कम एक अवसर पर प्रदर्शित हुई, जब नेशनल बैंकर्स एसोसिएशन सरकार को ऋण की शर्तें मनवाने में सफल हुआ था।

(५) औद्योगिक विकास का व्यापारिक संघ-पद्धति पर प्रभाव

यहाँ १९ वीं शताब्दी के व्यापारिक संघों में व उनके जरिये औद्योगिक संगठन वर्णन की मुख्य-मुख्य बातों को पुनः बताना अनावश्यक है, जो कि प्रथम परिच्छेद में दी गयी

थीं। तथापि मशीन के तरीकों व कारखाने द्वारा उत्पादन के आरम्भ का व्यापारिक संघ-पद्धति पर असर का संक्षेप में परीक्षण आवश्यक है।

पहले स्थान में यह मान्य करना चाहिए कि व्यापार-संघ की अधिकांश शक्ति जैसे मूल्य-निर्धारण और प्रकार-स्थापना-एजेंसी इस तथ्य के कारण थी कि उत्पादन स्थानीय था और वह स्थानीय अथवा प्रांतीय बाजारों से बाहर निकल जाता था, जिसको व्यापारिक संघ के सदस्य एकाधिकार में कर लेते थे। स्थानीय संगठन, जो कि उन सभी को पूरी तरह से समझता था, जो एक सीमित क्षेत्र में एक विशेष प्रकार के उत्पादन में संलग्न थे, इन दो मामलों में अपने सदस्यों को नियंत्रित कर सकता था। यह नियंत्रण आगे और सख्त हो गया, क्योंकि उद्योग की सभी विधियाँ एक संस्थान में चलायी जाती थीं, विशेषकर नियम होने की अपेक्षा अपवाद था। दूसरे शब्दों में व्यवस्था सरल थी और वह दूकान में ही सम्मिलित थी। विशेष वस्तु के उत्पादन में सभी स्तर को नियंत्रित करनेवाले मालिक स्तर कायम करने और समझौते द्वारा मूल्य निर्धारित करने में सक्षम थे। अंतर-संगठनीय समझौते अपवादस्वरूप ही किसी मामले में आवश्यक होते थे।

परन्तु बाजार के विस्तार के साथ जैसे रेल और वाष्पीय संचार-साधन विकसित हुए, व्यापार-संघों ने उसे नियंत्रण की क्षमता खो दी। उदाहरणार्थ, जहाँ मध्य चीन में शंघाई और तिएनत्शिन माल-प्रतियोगिता करने लगा, न तो शंघाई और न ही तिएनत्शिन माल प्रतियोगिता को नियंत्रित कर सका। इसके अलावे औद्योगिक उत्पादनका अधिकाधिक पृथक् विधियों के रूप में विभाजन से प्रत्येक स्वतंत्र संस्थान में चलाया जाता था, व्यापार-संघ की सत्ता को कमजोर कर दिया, जो कि उत्पादन के उद्योग के केवल एक हिस्से पर अपना नियंत्रण रखने में सक्षम था। औद्योगिक व्यवस्था विशेषीकृत उत्पादन की वर्तमान परिस्थितियों के अंतर्गत इतना जटिल हो जाती है कि निश्चित रूप से सरल व्यापारिक संगठन अपनी उपयोगिता खो देता है। इसलिए यह निष्कर्ष अपरिहार्य है, कि वर्तमान उद्योग ने जैसी कि चीन में उसकी स्थापना हुई है, व्यापारिक संघीय संगठन को कमजोर कर दिया और उसका अन्त कर देगा जब तक कि वह नयी व्यवस्था ग्रहण करने का आधार नहीं प्राप्त कर लेता।

दूसरी दृष्टि से नये उद्योग ने व्यापारिक संघ की स्थिति कमजोर कर दी है। उत्पादन की पुरानी परिस्थितियों के अंतर्गत किसी उद्योग में मजदूरों की संख्या का नियमन करना संभव था, चूँकि प्रशिक्षित कारीगर को तैयार करने के लिए लम्बा सीखने के समय की जरूरत होती थी। एक कारखाने में काम सीखने वालों की संख्या सीमित करके संघ मजदूरों की संख्या सीमित कर सकता था और वह संस्थानों की संख्या भी नियंत्रित कर सकता था और उत्पादन के अनुचित प्रसार को रोक सकता था। इसके अतिरिक्त चूँकि

श्रम-पूर्ति सीमित थी, व्यक्ति जो अपने मजदूरों को संघ द्वारा निर्धारित न्यूनतम स्तर से कम भुगतान करता था, शीघ्रता से उनको हटा नहीं सकता था।

नये उद्योग में लम्बे समय तक काम सीखने की आवश्यकता समाप्त हो गयी चूँकि एक विधि पर अधिकार और मशीन का काम करना जल्दी से अर्जित हो सकता था। इस प्रकार श्रम-पूर्ति भारी प्रमाण में बढ़ गयी और व्यापारिक-संघ पर निर्भरता तदनुसार घट गयी।

पुनः पुरानी व्यवस्था के अंतर्गत, मालिक बनने के पूर्व मास्टर स्वयं मजदूर रहा था और वह मजदूरों के साथ निकट संपर्क के साथ मास्टर रहा था, मजदूर अक्सर संख्या में कम होते थे। परिणामस्वरूप सम्बन्धों में बहुत आत्मीयता थी, जिससे मालिक और मजदूर में अंतर करना कठिन था। इससे मास्टर और लोगों को एक संगठन में संगठित रहना संभव हो गया, क्योंकि वे एक व्यापारिक संघ में होते थे। चूंकि कारखाने के मामले सभी कर्मचारियों की जानकारी में होते थे, जितने कि मालिक की जानकारी में, मजदूरी निश्चित करने की समस्या बहुत सरल थी। आधुनिक पश्चिमी दृष्टि से पूरे सम्बन्ध सामान्यतया मालिक और कर्मचारी के नहीं थे, किन्तु सह-कर्मचारी के थे।

यहाँ फिर नयी व्यवस्था ने एक परिवर्तन पैदा किया या कम-से-कम उसका शुभारम्भ किया, जो औद्योगिक कारखाने के व्यापक होने के कारण अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। चीन में, अन्यत्र की तरह, कारखाना-पद्धति ने उद्योग को अवैयक्तिककरण कर दिया। इसने औद्योगिक मजदूरी वाला कर्मचारी पैदा किया, जो कारीगर मालिक के साथ निकट सम्पर्क में नहीं था और जो स्वयं शिल्पी नहीं था। इसका परिणाम यह था कि मालिक जो कि पूर्व के कारीगर की अपेक्षा औद्योगिक पूँजीपति था, मजदूरी पानेवाले कर्मचारी जहाँ काम करते थे, उस स्थान में निकटता महसूस नहीं करता था और नही मजदूर यह महसूस करता था कि पुराना संगठन उसके उद्देश्य में सहायक था।

१९३१ तक उन स्थानों में जहाँ आधुनिक उद्योग विकसित हुआ था, व्यापारिक संघ ने मालिक-संघ का स्वरूप ले लिया और कर्मचारी श्रमिक संगठन के रूप में अपना संगठन तैयार कर रहे थे। श्रम-संगठन तो गर्भावस्था में ही रह आया, सिर्फ शंघाई, कैंटन, हांगकांग को छोड़कर। १९२५ के हड़तालों ने जो तीनों स्थानों पर हुई संगठित चीनी श्रमिक के कदम की प्रभावशीलता को प्रदर्शित किया। राष्ट्रीय कार्यों की अपेक्षा अन्य कार्यों के लिए संगठन स्थानीय आधार की अपेक्षा राष्ट्रीय आधार पर बनाना पड़ता था, क्योंकि यह सिर्फ औद्योगिक विवादों में प्रभावकारी होता था।

मालिक अथवा व्यापारिक-संघ के रूप में व्यापारिक-संगठन उपयोगी कार्य कर सकता है अथवा अन्य संगठन के लिए रास्ता छोड़ सकता है। १९३१ तक चीनी चेम्बर

ऑफ कामर्स का उदय हो गया, जो कि शंघाई तिएनत्सिन की तरह विदेशी चेम्बर के आधार पर बने थे, जिन्होंने अपना मूल रूप अंग्रेजी व अमेरिकन शहरों में अनुभव किया। चीनी चेम्बर ऑफ कामर्स प्रधान रूप से अंतर-व्यापारिक-संघ संगठन था यद्यपि इसके सदस्य व्यक्तिगत उद्योग और व्यापारिक संघ भी थे। बढ़ते हुए जटिल व्यापारिक समाज को एकीकृत करने में इसने स्पष्टतः बहुत उपयोगी कार्य का योगदान दिया। यहाँ उसने आधुनिक उद्योग की बहुत सेवा की, क्योंकि व्यापारिक संघ स्वयं पूर्व-आधुनिक समय में कला-कौशल की सेवा की। यह तो मालिकों के संघ के रूप में गील्ड की स्थिरता और गील्ड के आधार पर चेम्बर ऑफ कामर्स की स्थापना से ही था कि १९३१ तक उपयोगिता स्थान ले रही थी।

चेम्बर ऑफ कामर्स के एक समारोह में एक मौलिक विकास, न कि शुद्ध नकल, देखा गया, जैसा कि संगठन का प्रविधान करने वाले नियम में निर्धारित किया गया है। औद्योगिक विवाद के निपटारे के लिए वे कोर्ट की तरह अपनी एक समिति के जरिये काम करके कानूनी योगदान दे सकते हैं, जहाँ कि विवाद में पड़े दोनों पक्ष उसी गील्ड के सदस्य नहीं होते थे, और मजदूरी के प्रश्न पर मालिक और कर्मचारी के मध्य मतभेद समाप्त करने के लिए कार्य कर सकते थे। तथापि बाद की काररवाई का स्वरूप जब तक मजदूरों को सक्रिय प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता, संकट पैदा हो सकता है। यदि स्थानीय यूनियन को कर्मचारियों के गील्ड की तरह प्रतिनिधित्व दिया गया है, इस दोष का हल निकाला गया है और चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट की उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत कर दिया गया है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है, कि चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट उखड़ा नहीं, बल्कि वह एक मध्यस्थ एजेंसी के रूप में गिल्ड का परिपूरक बन गया। गिल्ड के सदस्यों के बीच विवाद अब तक अदालती फैसले के विषय थे, जब कि उनके बीच के विवाद, जो कि विभिन्न गिल्ड के सदस्य थे उनका फैसला अधिक समाविष्ट संगठन के जरिये होता था। शिल्पी गिल्ड अंततः संबंधित शिल्प के संगठन में विस्तार द्वारा नयी परिस्थितियों से समन्वय कर सकता है। इस विकास की शुरुआत निर्माणकारी व्यापार से संबंधित सभी मालिकों को एक इकाई में खींचने के इरादे से पीकिंग के लु-पान इंडस्ट्रियल यूनियन जैसे संगठन की स्थापना करने के प्रयास में देखी जा सकती है। चेम्बर ऑफ कामर्स के विचार के प्रसार के साथ यह बिलकुल हस्तक्षेप नहीं करेगा क्योंकि व्यापारी-समाज के लिए एकीकृत एजेंसी के बतौर चेम्बर अस्तित्व के लिए कारण खोजता रहेगा।

चीनी जीवन का प्रधान राग रहा है, समन्वय और सहकारिता की उपयोगिता न कि प्रतियोगिता, यह बात पूरी तरह से स्वीकार की जा चुकी है। गिल्ड-पद्धति का

नयी परिस्थितियों में ग्रहण करने से समन्वय का नया औजार सफलतापूर्वक निकाला जा सकता था, जो कि आधुनिक चीन को उस औद्योगिक पद्धति के जन्मसंगत दोषों से छुटकारा पाने में सक्षमता देता, जो कि पश्चिमी विश्व से आयात की जा रही थी। सबसे बड़ी बाधा, जिस पर विजय पानी थी, वह बाजार के लिए प्रतियोगिता के क्षेत्र में निहित नहीं थी, किन्तु श्रमिक-संबंधों के क्षेत्र में थी, चूंकि मालिक और कर्मचारी को ठीक संबंधों में रखने की समस्या अब तक हल नहीं की गयी थी। तथापि ग्रहण करने की पद्धति पर घरेलू व विदेशी संबंधों के विकास दोनों के प्रभाव से १९३१ के बाद बाधाएँ आयीं।

(६) श्रम संगठन और समस्याएँ

भूतकाल में श्रमिकों का संगठन अनजानी बात थी, किंतु यह स्वरूप में अस्थायी था और अक्सर सामूहिक काररवाई से शीघ्र किसी लक्ष्य के लिए असर डालने के लिए बनाया जाता था। इस पर भी अनेक अवसरों पर यह अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध हुआ, यदि निश्चित लक्ष्य जल्दी प्राप्त हो गया। सामान्य परिस्थितियों में स्थायी संगठन आवश्यक था, क्योंकि कर्मचारी गिल्ड की बैठकों में भाग लेने के हकदार थे, और भाग लेते थे। परिणामस्वरूप १९१८ के बाद ही पश्चिमी प्रकार के स्थायी श्रमिक संगठन बनाये गये। ऐसा एक संगठन १९१९ में बनाया गया, जिसका नाम था, "दी यूनियन फार दी इम्प्रूवमेंट ऑफ चाइनीज लेबर"। तथापि मुख्य उद्देश्य घोषित किया गया कि यह होगा मालिक के विरुद्ध लड़ने के बजाय परस्पर लाभ और संरक्षण। इस यूनियन की रचना राष्ट्रीय स्तर पर की गयी, जिसका इरादा था सभी स्थानों पर इसकी शाखाएँ खोलना। शंघाई, कैन्टन, तिएनत्सिन तथा अन्य औद्योगिक नगरों में इसी प्रकार के कई संगठन खोले गये। जिनका मूल राजनीतिक था, उनमें और उन उद्देश्यों वाले जिनका उद्देश्य पश्चिमी देशों के श्रमिक संगठनों द्वारा प्रचारित उद्देश्यों के समान था दोनों में अंतर करना कठिन है, परन्तु यह आपत्ति से परे है, कि पश्चिमी आधार के संगठन का देश में ठोस आधार मिलना आरम्भ हो गया। और यद्यपि आरम्भ में प्रधानतः परस्पर लाभ और सुधार कार्य के लिए स्थापित हुए, वे क्रमशः बढ़ती मजदूरी व काम के घंटे घटाने के उद्देश्य की ओर निर्देशित किये गये। १९२१ से १९३१ के बीच की दशाब्दी में इस हेतु कई हड़तालें हुईं, यद्यपि फिर भी राजनीतिक और अराजनीतिक हड़तालों में स्पष्ट अंतर करना कठिन था। पीकिंग के एक भाषायी समाचार पत्र ने सूची दी है, कि सितम्बर १९२२ से दिसम्बर १९२२ तक कुल ४१ हड़तालें हुईं। इसका कहना है ७०.९ प्रतिशत हड़तालें बढ़ी मजदूरी के लिए, १२.२ प्रतिशत फोरमैन के विरोध में, १२.२ प्रतिशत सहानुभति की हड़तालें और ४.७ प्रतिशत यूनियन संगठित करने के अधिकार के लिए।[१३] यह उल्लेखनीय है, कि चीन में

राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना होने तक यूनियन बनाना न तो निषेध था और न ही उसके लिए कानूनी अधिकार प्राप्त था। अक्टूबर १९२९ में श्रम-संगठन-कानून पारित किया गया, जिसमें कई निश्चित बंधनों के साथ संगठन बनाने का अधिकार स्थापित किया गया।

उल्लेखनीय बात यह नहीं है, कि १९२० के बाद कई हड़तालें हुईं, बल्कि यह तथ्य उल्लेखनीय है, कि उससे अधिक नहीं हुईं। जीवन-निर्वाह की लागत में लगातार वृद्धि न दोनों कारखाने के कर्मचारियों और हाथ करघा व अन्य धंधों में लगे हुए अनेकों लोगों के लिए गंभीर परिस्थिति निर्माण कर दी। मूल्यों, मजदूरी और जीवन-स्तर की पीकिंग के सावधानीपूर्ण अध्ययन[१४] ने दिखाया कि १९०० के बाद वहाँ खाद्यान्न की विभिन्न वस्तुओं की कीमतें व कपड़ों की कीमतें धीरे-धीरे ऊँची हो रही थीं। इसमें कुछ अंतर व उतार-चढ़ाव थे, परन्तु मूल्यों का झुकाव वृद्धि की ओर ही था। यह वृद्धि १९२० के बाद विशेष रूप से दिखायी दी। जीवन-निर्वाह की समस्या ताँबा-विनिमय के कारण और जटिल हो गयी थी, जो कि ऊपर उठता जा रहा था। यह पूर्ति के निरन्तर विस्तार तथा उसके गुण में गिरावट के कारण थी। फिर १९२० के बाद मजदूरी ताँबे के सिक्के के स्थान पर चाँदी के सिक्कों में भुगतान आरम्भ करने के कारण अत्यधिक खराब परिस्थिति पैदा हो गयी। १९०० के बाद के वर्षों के दौरान गिल्ड की कार्रवाई ने मजदूरी-वृद्धि कई बार करायी, परन्तु यदि १९०० या १९२३ के वर्षों को तुलना का आधार माना जाय तो १९२४ में मजदूर की वास्तविक मजदूरी उन वर्षों की अपेक्षा नीची थी। "गिल्ड का जीवन का न्यूनतम स्तर था, जिसे रखने का वे प्रयास करते थे। यदि परिस्थितियाँ कर्मचारियों को उनके जीवनस्तर में अस्थायी वृद्धि देती है, गिल्ड मजदूरी बढ़ाये रखने में उनकी सहायता का प्रयास नहीं करती। वह तब तक मजदूरी बढ़ाने का प्रयास नहीं करेगी, जब तक कि मूल्य ऐसे हों कि वास्तविक मजदूरी-प्रथा के अनुसार न्यूनतम पर पहुँची हो।"[१५]

मूल्यों में वृद्धि पीकिंग में संभवतः सम्पूर्ण देश से काफी लाक्षणिक थी। तथ्यों के अनुसार, कहा जाता था कि कैन्टन में मूल्य पीकिंग से भी अधिक ऊँचाई पर पहुँच गये थे। अन्य शहरों के इसी प्रकार के विस्तृत अध्ययन के अभाव में यह कल्पना की जा सकती है, कि जहाँ तक वे प्रभावकारी थे, एक स्थान पर मूल्यों में वृद्धि करने वाली बातों का अन्यत्र भी उसी प्रकार का असर होता था। ये तत्त्व राजनीतिक उतने नहीं थे, जितने कि आर्थिक थे। "अनेक राजनीतिक घटनाएँ, क्रांति, गृह-युद्ध ने सम्राट् को पुनःस्थापित करने का प्रयास किया, उनका बहुत कम असर हुआ। तब तक जब तक कि उनके साथ काफी प्रखर उपद्रव हुए हों, जिनका कि असर खेतों की फसल नष्ट करने में हुआ हो अथवा आते-जाते संग्रह पर कब्जा करने और संचार-साधन तोड़ने से यातायात की कठिनाई

पैदा हो गयी हो।"[१६] आर्थिक तत्वों में सूखा और बाढ़ का उल्लेख हो सकता है, जिसका विस्तृत क्षेत्र पर असर होने से उत्पादन पर विपरीत असर हुआ हो तथा तीसरा तत्व था जनसंख्या-वृद्धि। श्रम-परिस्थितियाँ ठीक करने के लिए तीन तरीके उपलब्ध होते थे। पहला था, औद्योगिक विवाद से कई पश्चिमी देशों की तरह सुधारकारी कानूनों अथवा परिस्थितियों को ठीक करना, जो कि नीचे से या तो सरकार या मालिक पर दबाव से जबरन खींची जा रही थीं, ये सुविधाएँ विकसित हो सकती थीं। यूनियनों के संगठन से और साथ ही साथ १९२० के बाद हड़तालों के कई गुना होने से यह भविष्यवाणी प्रतीत हुई। दूसरा था, संगठन, जैसे चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट, पर्याप्त श्रमिक प्रतिनिधित्व के साथ कठिनाइयों के समन्वय के लिए माध्यम सिद्ध हो सकते थे। भूतकाल की परम्पराओं और रीतियों से यह अधिक अच्छी तरह से एकरस हो सकती थी। तीसरा ऊपर से स्वैच्छिक सुधार, शायद नीचे से दबाव डालने पर उसे ग्रहण करने के साधन के रूप में, जो सफल सिद्ध हो सकता था! यह पश्चिमी देशों में अधिक जागृत व्यवहार से एक स्वर में होगा।

कुछ मालिक पहले से ही तीसरी विधि विकसित कर रहे थे। चांगचिएन ने अपने कारखानों के आसपास एक "नमूने के शहर" की रचना की। १९३२ के दौरान शंघाई में चीन-जापान-उपद्रवों से कारखाना नष्ट होने तक शंघाई के कार्मशियल प्रेस ने बच्चों के लिए स्कूल की सुविधा का प्राविधान किया, अपने कर्मचारियों के लिए एक अस्पताल कायम किया, अपने महिला-कर्मचारियों को प्रसवकाल के पूर्व व पश्चात् एक मास की छुट्टी दी, तथा कर्मचारियों के लिए एक आकर्षक आरामदेह स्थल की व्यवस्था की। साथ ही, १९२२ में वह ५० प्रतिशत लाभांश की घोषणा करने में सक्षम था और उसके हिस्सों का मूल्यांकन लगभग एक सौ प्रतिशत होता था। हानयेहपिंग कारपोरेशन ने भी इसी प्रकार से अपने कर्मचारियों के लिए प्राविधान किया, जैसा कि श्री वाय. एच. मोह जो निकटता से चीन के "कॉटन किंग" के नाम से जाना जाता था। जहाँ तक यह हुआ, सब ठीक था परन्तु इस तथ्य के कारण कमजोर हो गया कि यह ऊपर से नीचे किया गया। इसके अलावे "आदर्श मालिक" ने मजदूरी की दर नीची रखी, इस अपेक्षा से कि बगीचों और आराम कमरों के रूप में मुआवजा उच्चतर वेतन का स्थान लेगा। सामान्यतया यह आन्दोलन इस तथ्य के कारण कष्ट सहन किया कि यह "सबसे उत्तम विदेशी तरीके पर" किया गया था, जो पश्चिम में औद्योगिक संघर्ष को रोकने में सिद्ध नहीं हुआ। और अन्ततः इन व्यक्तिगत सफलताओं ने इस तथ्य को गुप्त रखने का काम किया कि काम की अच्छी शर्तें कोई नियम नहीं थीं।

यह मान्य करना चाहिए कि चीन में अधिकतर मालिक, जैसे कि अन्यत्र उसी या विकास की आगे की स्थिति में हुआ करते हैं, स्वेच्छा से मजदूरी बढ़ाकर, काम के घंटे कम

करके, उद्योगों में महिलाओं को संरक्षण देकर और बालक मजदूरों का उपयोग करना अस्वीकार करके मजदूरी की स्थिति सुधारने में कोई रुचि महसूस नहीं करते थे। मजदूरी बहुत नीची थी और तिस पर भी जीवन-निर्वाह की लागत में वृद्धि के साथ आंशिक रूप से बराबरी रखने के लिए, शंघाई जैसे स्थानों में मजदूरी बढ़ाने के लिए हड़तालें आवश्यक थीं। बहुत जागृत मालिकों में भी महिलाओं और बालकों को काम पर रखने के विरुद्ध कोई भावना नहीं थी और निश्चित रूप से आम जनता में यहाँ तक कि औद्योगिक मजदूरों में भी बहुत कम थे, क्योंकि महिलाओं व बच्चों के श्रम की आय परिवार की आय बढ़ाने में जरूरी दिखायी पड़ती थी। नीचे से महिलाओं और बच्चों की उद्योग में सुरक्षा के कोई निश्चित माँग आने के पहले उच्चतर मजदूरी देना आवश्यक होता था। इस सम्बन्ध में जागृत मालिक श्रमिक की माँग पर बहुत आगे होते थे। सरकारी नियमों का प्रयास होता था (कृषि व कामर्स मंत्रालय ने ऐसे श्रम का नियंत्रण करते हुए एक नियम जारी किया), परन्तु सरकारी कदम की प्रभावशीलता के लिए राजनीतिक स्थिरता पूर्व आवश्यकता होती है।

उद्योग का कानूनी नियमन और नियंत्रण कहाँ तक १९३१ के बाद बढ़ेगा, यह समस्यामूलक था। पुरानी परम्परा देश के आर्थिक जीवन को स्वयं नियंत्रित करने की स्वीकृति देती थी, परन्तु इसमें जब जनशांति को खतरा होता था तो मजिस्ट्रेट को मध्यस्थता करनी पड़ती थी। चेम्बर ऑफ कामर्स कोर्ट के विकास में यह परम्परा चलती रही, जैसा कि उल्लेख किया गया है। परन्तु यह अपेक्षा की जा सकती थी कि सरकारी समारोहों के प्रति नया दृष्टिकोण स्वयं अभिव्यक्त होता रहेगा, जब औद्योगिक परिस्थितियों के कानूनी नियमन के कुछ माप के विकास के जरिये राजनीतिक स्थिरता प्राप्त की गयी है।

(७) चीनी उद्योग में विदेशी साझेदारी का प्रभाव

१९३१ में यदि राजनीतिक स्थिरता थी तब भी अधिकांश देशों की अपेक्षा नये उद्योग के नियमन और नियंत्रण की समस्या हल करना और भी कठिन होता, जिसका कारण था, उसमें विदेशी साझेदारी। उदाहरण के लिए, वर्तमान सूतकताई कारखानों का ३४ प्रतिशत जापानियों के, अथवा उनके द्वारा नियंत्रित थे और इसके अलावा ३ प्रतिशत ब्रिटिश लोगों के उनके द्वारा नियंत्रित थे, शेष ६४ प्रतिशत चीनियों द्वारा नियंत्रित थे। जहाँ यही अनुपात अन्य उद्योगों के लिए सत्य नहीं होता; कुछ उद्योगों में विदेशी साझेदारी बहुत कम थी और कुछ में और भी अधिक थी, चीनी कारखाना उत्पादन में आम तौर पर भारी विदेशी स्वार्थ थे। युद्ध के बाद जापान में मुद्रास्फीति, साथ ही चीन में औद्योगिक संस्थानों में पूँजी को प्रोत्साहित करने के जापानी सरकार के प्रयास, चीन में

भारी मात्रा में जापानी पूंजी लगने में मदद करते हैं और चीनी मजदूर सस्ता होने से आमतौर पर चीन में कारखाना स्थापित करने में विदेशी पूंजी लगाने की रुचि पैदा होती थी। नियंत्रण की समस्या इस तथ्य से उठी कि विदेशी संधि-पद्धति का संरक्षण मिलता था। यह कई उद्योगों की स्थापना से और जटिल हो गयी, जिनमें कुछ में चीनी पूँजी लगी थी वे विदेशी आवास-क्षेत्रों में थे, जहाँ कि मोटे तौर पर वे चीनी नियंत्रण से हटा लिये जाते थे।

यह तुरन्त स्पष्ट है, कि औद्योगिक आत्म-नियंत्रण और नियमन का पुराना तरीका कायम नहीं रखा जा सकता था, जब तक कि सम्पूर्ण उद्योग नियंत्रण करने वाले संगठन में नहीं लाया जाता, भले ही वह शिल्प गिल्ड में था या औद्योगिक गिल्ड में। यहाँ तक कि सरकारी नियम भी ठीक प्रकार से आरम्भ नहीं हो सकते थे, जब तक कि वह एक ही प्रकार के उत्पादन संलग्न सभी पर लागू नहीं होता। उदाहरण के लिए, स्वदेशी सूत-उद्योग कीमत, प्रकार, मजदूरी और श्रम-परिस्थितियों के विषय में नियम स्थापित नहीं कर सकता और तब तक उन्हें असरदार नहीं बना सकता, जब तक कि शंघाई में विदेशी मिलें अनियन्त्रित थीं। वास्तव में इसके विपरीत बात भी सही थी। शंघाई के १९२४ के बालक श्रमिक-आयोग द्वारा नगरपालिका के विचार हेतु सिफारिश करने में एक समस्या का मुकाबला करना पड़ा, जो समस्या उसी औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगी उद्योग के अस्तित्व में निहित थी, जिस पर इस प्रकार से बनाये जानेवाले किसी कानून का असर नहीं होता। आयोग ने रिपोर्ट में कहा "यह स्पष्ट है कि किसी भी काररवाई, जिसका समझौते में उत्पादन की लागत बढ़ाने में असर हो सकता हो, वह न केवल बाहर के उद्योगों से प्रतियोगिता करने वाले उद्योग के लिए अनुचित होगा, परन्तु अधिक सामान्य दृष्टिकोण से बुद्धिहीनता भी होगी, चूँकि उन दोषों के समझौते के बाहर आर्थिक सहायता की ओर प्रवृत्त होगा, जिनका कि मुकाबला किया जा रहा था।"[१७] जब तक कि निपटारा विदेशी कार्यक्षेत्र के अंतर्गत रहा, यह विसंगत परिस्थिति जारी रहेगी। चीनी नियमन, भले ही वह कानूनी हो अथवा स्वदेशी उद्योगों के संगठन द्वारा हो, विदेश-नियंत्रित उद्योग पर लागू नहीं हो सकता था, जो कि रिआयत में स्थापित हुए थे और रिआयत का नियमन विस्तार और कार्य में नियमानुकूल होगा, सिवाय इसके कि दोनों अधिकार के बीच कोई सहकारी कारगर व्यवस्था की जाय।

दूसरी समस्या विदेश द्वारा व्यवस्थापित उद्योगों से हुई प्रस्तुत यह सवाल नहीं है, कि वे कहाँ स्थापित थे, पर यह इस तथ्य के कारण आयी कि सभी श्रमिक-विवादों में मूलजाति और राष्ट्रीय संकट पैदा होने की संभावना होती थी। किसी जापानी, ब्रिटिश, अथवा अमेरिकी मिल में फोरमैन के व्यवहार के कारण अथवा मजदूरी पर विवाद होने से पैदा होनेवाली हड़ताल जल्द ही जापानी-विरोधी, ब्रिटिश-विरोधी अथवा अमेरिकी-

विरोधी स्वरूप ले लेती थी, जिससे अंतराष्ट्रीय कठिनाई आ जाती थी। १९२४ की हांगकाउ के सामुद्रिक कर्मचारियों की हड़ताल, तथा १९२५ में शंघाई में जापानी मिल की हड़ताल ने यही हमेशा उपस्थित रहनेवाली कठिनाई को ही प्रदर्शित करने का काम किया। राष्ट्रीय भावना के उद्भव ने खतरे को विशेष रूप से गंभीर बना दिया। प्रश्न का इस प्रकार का कोई भी पलटाव अथवा विस्तार वातस्व में, स्वरूप में राजनीतिक और आंशिक रूप से कृत्रिम था। परन्तु यह एक मूल तत्व था, जिसका गंभीरतापूर्वक विचार करना था।

तब, ये सारभूत आर्थिक परिवर्तन थे, जो १९०० से १९३१ तक के वर्षों में हो रहे थे :– ––(१) आयात और निर्यात व्यापार के स्वरूप में परिवर्तन और विस्तार, (२) कृषि में कुछ प्रगति तथा संचार साधनों के सुधार द्वारा कृषि-उत्पादन के लिए बाजार की व्यापकता, (३) आधुनिक मशीन और कारखाना-पद्धति का आरम्भ; और इसके परिणामस्वरूप (४) आर्थिक संगठन में परिवर्तन जो कि भविष्य के लिए बहुत अर्थपूर्ण थे। १९३१ से, जब कि जापान ने अपने महाद्वीपीय विस्तार को पुनः ताजा किया चीन के आर्थिक और सामाजिक जीवन में उल्लेखनीय परिवर्तन घटित हुए हैं।

तेरहवाँ अध्याय

चीन की प्रगति—बौद्धिक और सांस्कृतिक

(१) राजनीतिक क्रांति तथा बौद्धिक जागृति का द्वन्द्वकाल

नियमानुसार यदि सांस्कृतिक वंश-परम्परा का सुधार नहीं तो विचारों में पहले मूलभूत परिवर्तन होता है और एक राजनीतिक महापरिवर्तन को संभव बना देता है, जिसे कि सच्ची क्रांति कहा जा सकता है। परन्तु चीन में बौद्धिक क्रांति राजनीतिक क्रांति के साथ-साथ चली और एक अंश तक उसके कारण की अपेक्षा परिणाम कहा जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि १९ वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों के दौरान नये विचारों का धीरे-धीरे प्रवेश हुआ जिसने १८९८ के सुधार-आन्दोलन का मार्ग तैयार किया। सुधार के इस प्रयास में तथा १९११ के पहले सुधार की दशाब्दी में भी नये तरीकों पर शिक्षा पर पर्याप्त जोर दिया गया है। १९०५ में परीक्षा-पद्धति की समाप्ति से मध्ययुगीन पद्धति के विद्वान् पदाधिकारि-वर्ग की पुरानी व्यवस्था पर गम्भीर आघात हुआ। परीक्षापद्धति में नये विषयों के आरम्भ से इसका सुधार पहले से ही आरम्भ हो गया था। "परीक्षापद्धति की समाप्ति जितनी उस समय के बहुत दूरदर्शी अधिकारियों ने कल्पना की होगी, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मौलिक कदम सिद्ध हुआ। कन्फूशियसवाद पर इसने मृत्युकारक आघात किया।"[1] इसके अलावा नयी शिक्षा-पद्धति मानवीय और ऐतिहासिक विषयों पर से जोर हटाकर वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा पर जोर देना आरम्भ कर दिया (मानवनीय व ऐतिहासिक विषयों में हमेशा वैज्ञानिक विधि की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर स्पष्ट रूप से पर्याप्त जोर दिया गया था)। परन्तु "चीनी वैज्ञानिक गतिविधियाँ गणतंत्र के प्रथम वर्षों तक आरम्भ नहीं हुईं। पुराने सुधारवादियों ने विज्ञानों का किताबी ज्ञान, बिना उनका बौद्धिक महत्त्व पूर्णतया समझे, प्रयोगशाला के कार्यों हेतु पर्याप्त उपकरणों के बिना तथा नेताओं को अध्ययन और अनुसंधान संगठित करने के लिए समुचित शिक्षा के बिना आरम्भ कर दिया था।[2] सबके ऊपर, शासकीय पद पाने के उद्देश्य से साधन के बतौर छात्रवृत्ति पर जोर दिया जाता रहा, जो कि राजनीतिक प्रसिद्धि के अलावा चीन में बढ़ रहे अन्य शिक्षा-व्यवस्था के विरुद्ध कार्य कर रहा था।

परिणामस्वरूप बहुत सीमा तक १९११ की क्रांति मंचू-विरोधी विद्रोह था, जिसने मंचू के अनुपयुक्त तरीके के प्रशासन के कोई भी अन्य विकल्प की कमी के कारण गणतांत्रिक स्वरूप ले लिया, बजाय इसके कि वह लोगों के मौलिक दर्शन में मूलभूत परिवर्तन की अभिव्यक्ति होता अथवा उनके, जो देश के नये शासक बन गये थे, मौलिक दर्शन में मूलभूत परिवर्तन की अभिव्यक्ति होता। नेताओं में इसके उल्लेखनीय अपवाद थे, पर वे स्पष्टतया अपवाद थे। "पश्चिमी अध्ययन" पर लाभ होने से वे (यकायक परीक्षापद्धति की समाप्ति से छात्र "विपत्ति में पड़ गये थे") बड़ी संख्या में जापान में एकत्र हो गये, और कुछ छोटी संख्या में पश्चिमी देशों में गये, जहाँ उन्होंने पश्चिमी तरीकों व व्यवस्थाओं का ऊपरी ज्ञान प्राप्त किया। चीन वापस आने पर उन्होंने अपने ज्ञान को समझदारी अथवा चीनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की कमी के साथ साहसपूर्वक लागू करने का प्रयास किया।[३]

तथापि १९११ के बाद धीरे परन्तु निश्चयात्मक रूप में वहाँ नया बौद्धिक और सांस्कृतिक वातावरण विकसित हुआ, जिसने १९१७ तक जागृति के द्वन्द्व की परिस्थितियाँ प्रस्थापित कीं और वह स्थिति राजनीतिक क्षेत्र के बाहर अगली दशाब्दी में आयी। यह नया विकास चीन, उसकी जनता और सारे विश्व के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक भविष्य के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना कि १९३१ तक सुदूरपूर्व में कोई एक प्रवृत्ति के लिए था। परिणामस्वरूप इसके तात्कालिक व दूरगामी कारणों व परिणामों दोनों दृष्टिकोणों से जितनी जगह की गुंजाइश हो उतनी निकटता से, आधुनिक समय में सुदूर पूर्व के इतिहास के अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दौर के रूप में इसका परीक्षण करना आवश्यक है। जहाँ सन् १९२० से १९३० तक दशाब्दी में यह बहुत महत्त्व का था, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि उस समय तक इसने व्यापक रूप में केवल शिक्षित-वर्ग को ही प्रभावित किया था और कि पूरा प्रभाव केवल इससे महसूस किया जाता था, कि इसका जनसाधारण में प्रवेश हो गया था।

(२) शैक्षणिक विकास

चीनी विचारों में परिवर्तन का प्राथमिक कारण शिक्षा थी। १८९८ के पूर्व, और वास्तव में १९०५ के पहले देश में सार्वजनिक शिक्षा का बहुत कम प्रयास हुआ था। शिक्षा से सत्ता का सम्बन्ध व्यापक तौर पर परीक्षा की व्यवस्था तक ही, जब तक कि वह १९०५ में जब उसको समाप्त कर दिया, सीमित रहा। इसका वर्णन पहले ही हो चुका है। जहाँ तक परीक्षाएँ उच्चकोटि के साहित्य अथवा उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्धों पर आधारित थीं, शैक्षणिक प्रेरणा सीधे तौर पर नवीनीकरण और नये विचारों के प्रचार से दूर थी। दूसरे शब्दों में शिक्षा का प्रसार व्यापक रूप से पुरातन ज्ञान की विशेष भाषा में विकसित

हुआ, न कि प्राथमिक रूप से वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध में। इसके साथ ही शिक्षा का परिणाम, योग्यता जिससे निर्माणकारी विचार विकसित होते हैं, की अपेक्षा धारणायुक्त स्मृति ही था। इसके अतिरिक्त 'शिक्षित' वर्ग तथा अधिकारि-वर्ग के बीच आंतरिक सम्बन्धों ने पुरानी बौद्धिक व्यवस्था को कायम रखने में निहित स्वार्थ पैदा कर दिये। इसने शैक्षणिक परिवर्तन के लिए गंभीर बाधक का कार्य किया, चूँकि नये शैक्षणिक क्षमता की स्वीकृति पुराने उच्च साहित्यिक विषयों में शिक्षित अधिकारियों का महत्त्व कम कर देगी। परिणामस्वरूप यह केवल धीरे-धीरे ही हुआ कि अधिक जागरूक अधिकारी भी, जो कि विदेशियों के निकट सम्पर्क में आये "पश्चिमी शिक्षा" की महत्ता का आदर करने लगे।

इस प्रकार चीन की 'शुरुआत' करने की विधि के दूसरे और अधिक महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में चीनी मस्तिष्क को स्पष्ट करना आरम्भ करने का कार्य विदेशियों पर ही छोड़ दिया गया। चीन के अनेकों विदेशी गुटों में केवल मिशनरी तत्व ही ऐसे थे, जिनकी शिक्षा में स्वाभाविक रुचि थी। व्यापारिवर्ग चीनियों से चीनी व विदेशियों से व्यापारियों के मध्यवर्गियों के जरिये व्यवहार करते थे, भाषा सीखने का बहुत कम प्रयास करते थे और आम तौर पर चीनी दुनियाँ से, जिसके बीच वे स्वयं को पाते थे अलग ही रहते थे। दूसरी ओर मिश्नरियों का कार्यकलाप, जहाँ तक यह उन्हें स्वीकार करें, इन्हें आवश्यक रूप से चीनी समाज के सम्पर्क में ला दिया। और उसने शीघ्र ही यह पाया कि यह समाज उसको तत्परता से अपना लेगा यदि वह सेवाएँ अर्पित करे, जो कि स्पष्टतया ईसाइयत के प्रचार की नहीं थी, जितनी कि उसके धार्मिक संदेश की भूमिका थी। परिणामस्वरूप स्कूलों और अस्पतालों की भी स्थापना की प्रारम्भिक प्रेरणा उसकी चीनी समाज के अधिक निकट आने की इच्छा में निहित है, जितना कि उसके ईसाइयत के प्रचार के कार्य तक सीमित होने पर सम्भव नहीं होता।

मिश्नरियों की शिक्षा में रुचि की दूसरी सफाई, जो कि करीब उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, उनकी ईसाई-समाज के लिए वही सेवा करने की इच्छा में मिलती है, जो कि पश्चिमी देशों में चर्च स्कूल करते हैं। एक शिक्षित क्षेत्र के महत्त्व का निश्चित रूप से आदर होता है, विशेष कर चीन में शिक्षा पर शुल्क लगाने को देखते हुए। ईसाई-शिक्षा का जितना सम्भव हो उतने व्यापक प्रमाण में फैलाव आवश्यक भी था, यदि ईसाई आचार-पद्धति को कनफूशियन पद्धति का स्थान लेना था, अथवा उसमें सुधार करना था। इसके अतिरिक्त यदि अपने धार्मिक कार्य को सफलता पूर्वक चलाना हो तो चर्च पर ही निर्भर था कि स्वदेशीय नेतृत्व को प्रशिक्षित करे। निस्संदेह उपयुक्त चर्च-नेतृत्व प्रशिक्षित करने की इच्छा ही शिक्षा में रुचि की बहुत कुछ सफाई दे देती है। मेडिकल शिक्षा का आरम्भ होना तथा

अस्पतालों की स्थापना को उतना ही महान् आवश्यकता को महसूस करने का कारण कहा जा सकता है,जितना कि लोगों से विस्तृत आधार पर संबंध स्थापित करने की इच्छा को। ईसा के उपदेशों के सामाजिक भावों की मान्यता से चीनियों की उक्त तथा अन्य तरीकों से सेवा करने की इच्छा को समझने में मदद होगी। परन्तु स्वभावतः अन्तिम उद्देश्य था, ईसाइयत का प्रचारकार्य और इस उद्देश्य के प्रयासयुक्त साक्षात्कार ने ही बहुत सीमा तक मिश्नरी-कार्य के ईसाइयतके प्रचार के अलावा अन्य कार्यों को जोड़ा या उन्हें रंगा था।

मिश्नरी भी शीघ्र ही और स्वाभाविक ही ईसाइयत प्रचार के प्रारंभ में शब्दकोष बनाने, भाषा का अध्ययन करने और अनुवाद करने के कार्य में जबरन पड़ गये, क्योंकि वही चीनियों से सीधे प्रकट कर सकता था और वही उनके उपयोग की सामग्री को उस रूप में रख सकता था, उससे ही अपने धार्मिक उद्देश्य पूर्ण करने की अपेक्षा की जा सकती थी। पहले उसके अनुवाद-कार्य ने छोटी धार्मिक पुस्तिकाएँ तैयार करने का रूप लिया। परंतु फिर उसके रास्ते का आधार विस्तृत करने के लिए उसे अन्ततः धर्म-निरपेक्ष साहित्य का अनुवाद करने के लिए लगाया जाता था। यह कार्य स्पष्टतया शैक्षणिक प्रकार का था, और इसने शिक्षा में अधिक औपचारिक रुचि का चीनी-समाज में प्रवेश के तरीके के रूप में विकास करने की ओर उन्मुख किया।

तथापि अधिक मानवीय व अन्य रुचियों ने उसे प्रवृत्त किया होगा कि मिश्नरी के लिए शिक्षा, बौद्धिक पुनर्जन्म की ओर अग्रसर करने की अपेक्षा एक साध्य के लिए साधन था। इसका परिणाम यह था कि जो शिक्षण के लिए रखे जाते थे, वे बहुधा मुख्यतः ईसाई उपदेशों के प्रसार में उनकी रुचि के आधार पर चुने जाते थे, न कि इस कारण से कि वे शिक्षक के रूप में प्रशिक्षित किये गये हैं। स्कूल में अक्सर कर धार्मिक पाठों पर जोर देते थे न कि कक्षा के कार्यक्रम मेंऔर तदनुसार वे चीन में शैक्षणिक समस्या का कोई महत्त्वपूर्ण अध्ययन नहीं करते थे अथवा ऐसा न करने के लिए योग्य होते थे। १९ वीं शताब्दी के अंत तक स्कूल प्राथमिक विभाग के होते और बहुधा मिशन के हिस्से होते थे।

प्रथम उच्चतर स्कूल जो स्थापित हुआ वह रोमन कैथोलिक प्रचारकों का था। १८७९ में शंघाई में सेंट जॉन्स विश्वविद्यालय की स्थापना के बाद कुछ नाममात्र की कालेजी श्रेणी के प्रोटेस्टेंट मिशन स्कूलों की संख्या तेजी से कई गुनी होने लगी। कुछ समय तक, काम की श्रेणी की दृष्टि से वे अमेरिकी हाई स्कूलों के सदृश होते थे, यद्यपि वे कालेज या विश्वविद्यालय कहलाते थे। १९११ की क्रांति के बाद तक उक्त उच्चतर स्कूलों की समालोचना वही हो सकती है, जो मिश्नरी-स्कूलों की आम तौर पर होती थी--जहाँ तक रुचि व प्रशिक्षण का सम्बन्ध था, शिक्षक, मिश्नरी पहले होते थे और शिक्षक बाद में। परिणामस्वरूप, उच्चतर स्कूलों में जो काम होता था, वह शिक्षाशास्त्रियों

के दृष्टिकोण से कड़ी आलोचना के लिए खुला था। यह कहना संभवतः कुछ ठीक होगा कि वर्तमान शताब्दी की पहली दशाब्दी तक यह बात सही रही। प्राथमिक, माध्यमिक व उच्चतर स्कूलों की संख्या बहुगुणित हो गयी और १९०० से १९१० तक छात्रों की संख्या बढ़ी, तरीके और उद्देश्य लगभग वही रहे।

कालेज में अध्यापन का जो तरीका हमेशा अपनाया गया, वह भाषण का तरीका था, जिसके साथ जहाँ संभव हो पाठ्य पुस्तकों का प्रयोग भी जोड़ दिया गया था। प्रयोगशालीय वैज्ञानिक अध्यापन थोड़ा कुछ होता था, और प्रयोगशालीय विधि का बहुत कम उपयोग होता था। परिणामस्वरूप आम तौर पर मिशन-स्कूल में जिस बात पर जोर दिया जाता था, वह भिन्न थी, परन्तु चीनी गैरसरकारी स्कूल से बहुत कम भिन्न थी। विद्यार्थी स्मरण-कार्य करते रहे और विश्व के, जिसमें वे रहते थे, विचारपूर्ण परीक्षण की ओर बहुत कम प्रोत्साहित हुए। पश्चिमी विषय चीनी शास्त्रीय विषयों के साथ पढ़ाये जाते थे, परन्तु वे छात्रों के अनुभवों से असम्बद्ध थे। वह पढ़ता था और याद रखता था और परीक्षा में उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण अपनी स्मरण-शक्ति की धारणा-शक्ति के अनुसार होता था।

चीन में सार्वजनिक शिक्षा १९ वीं शताब्दी के अंत से आरम्भ होती है। यह सही है, टंगवेन कालेज १८६५ में स्थापित हो गया था, परन्तु वह सार्वजनिक स्कूल-पद्धति के प्रारम्भ को नहीं दर्शाता। प्रथम वास्तविक चीनी विश्वविद्यालय की स्थापना ली-हुंग-चांग द्वारा १८९५ में तिएनसिन में की गयी। दो अन्य विश्वविद्यालयों चियाओ—तुंग-पु-नान्यांग और पीकिंग विश्वविद्यालयों की स्थापना १९०० के पूर्व हुई। अन्यथा पूर्ण जनरुचि नौसेना और मिलिटरी स्कूलों में, जो अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए थे, अभिव्यक्त होती थी।

नये दिवस के प्रारम्भ की परीक्षा-पद्धति में सुधार के साथ तथा राष्ट्रीय नयी स्कूल-पद्धति की स्थापना के साथ राज्य-घोषणा हुई थी। नयी स्कूल-पद्धति १८९८ के सुधार कार्यक्रम के हिस्से के रूप में प्रस्तावित हुई थी। परन्तु नय युग का केवल १९०५ में परीक्षा-पद्धति की समाप्ति के साथ तथा १९०८ में विस्तृत शैक्षणिक कार्यक्रम की स्थापना के साथ संवैधानिक शासन के प्रारम्भ के लिए तैयारी के बुनियादी हिस्से के रूप में उद्घाटन हुआ। स्कूलों का निर्माण हुआ और कई मंदिर पश्चिमी शिक्षा के लिए स्कूल में परिवर्तित कर दिये गये। स्कूलों की संख्या का कई गुना होना आगे गणतंत्र के अंतर्गत जारी रहा, जिससे कि १९३१ में प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालय तक वहाँ सभी श्रेणी के लगभग १,३०,००० शासकीय स्कूल थे, जिनमें लगभग ४२.५ लाख विद्यार्थी भरती किये जाते थे। यह विस्तार इतना तेज था कि आधुनिक स्कूलों के लिए प्रशिक्षित शिक्षकों की पूर्ति करना

असम्भव था। परिणामस्वरूप, कई, जिनका पश्चिमी विद्या का ऊपरी अल्पज्ञान था, नौकरियों में डाल दिये गये। कई मिशन-स्कूलों से आये, अन्य १९०० के पश्चात् अध्ययन हेतु जापान जाने वाले विद्यार्थियों के बहाव में से पूर्ति किये गये, और कुछ विशेषकर उच्चतर स्कूलों में यूरोप में और अमेरिका में प्रशिक्षित किये गये थे। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, जो अध्ययन हेतु जापान गये, उनकी ज्ञान प्राप्त करने की अपेक्षा डिप्लोमा प्राप्त करने में अधिक रुचि थी। वे, जो पश्चिमी देशों में पढ़े थे, उनमें पृष्ठभूमि का अभाव था, केवल यही उन्हें अपने अध्ययन से पूरा लाभ लेना सम्भव कर सकता था। और छात्रों में से कुछ, जो कि १९ वीं शताब्दी के प्रथम १५ वर्षों में चीन अथवा बाहर प्रशिक्षित किये गये प्राथमिक रूप से शिक्षा की समस्या में रुचि रखते थे। पश्चिमी ज्ञान सार्वजनिक पद पाने के लिए खुला गुप्त द्वार समझा जाता था और इसी कारण उसकी खोज होती थी। परिणामस्वरूप, अक्सर निराश पदाभिलाषी ही शिक्षण की ओर सहायता के साधन के बतौर जाते थे, ठीक उसी तरह जैसे पूर्व के काल में होता था।

विदेशों में प्रशिक्षित चीनी की देश को जगाने की योग्यता उसकी स्वयं की जागृति के प्रमाण पर ही निर्भर होती थी। १९१० के बाद विदेश जाने वालों में बढ़ती संख्या में लोग पश्चिमी कालेज और विश्वविद्यालयों में पश्चिमी विषयों का अध्ययन करने को तैयार थे। विदेशी भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी के प्रयोग में उनकी दक्षता थी, और वे अंशतः विदेशियों द्वारा ही प्रसिद्ध संस्थाओं में जैसे कि सेंट जॉन्स विश्वविद्यालय और अमेरिकन क्षतिपूर्ति-स्कूल, शिंगुआ कालेज में प्रशिक्षित किये जाते थे। परन्तु यह दुहराया जाना चाहिए कि उन्होंने बहुत अधिक व्यापक रूप से पश्चिमी इतिहास, दर्शन, राजनीति विज्ञान तथा अन्य विषयों का अध्ययन किया था, मानो वे अमेरिकन या अंग्रेज लड़के थे न कि चीनी जो कि उनमें चीनी जीवन और चीनी वातावरण के सम्बन्ध में रुचि रखता था। यह तरीका बहुधा पश्चिमी कालेजों में, जिनमें वे जाते थे, जारी रहा। वे जॉन स्टुअर्ट मिल को जानते थे, परन्तु उनके शिक्षक जो चीन के विषय में अपरिचितों में प्रमुख थे, उन्हें चीन के सम्बन्ध में सरकार के बारे में उसके विचारों का परीक्षण करने की ओर ले जाने के योग्य नहीं थे या ऐसा नहीं करते थे। यदि वे समाजशास्त्र पढ़ते थे, तो वह अध्ययन पश्चिमी परिस्थितियों और समस्याओं के बारे में होता था, न कि उसके देश की परिस्थिति या समस्याओं के सम्बन्ध में। जितनी अवधि तक वे विदेश में पढ़ते थे, उनका ध्यान इस दृष्टिकोण पर होता था कि उनका देश सीधा-सीधा पश्चिमी देश ही है। वहाँ से उनके लौटने पर उनके समक्ष पुनः समन्वय करने की गंभीर समस्या उपस्थित हो जाती थी, जिसने प्रारम्भ में बहुत अधिक निराशावाद बढ़ाया, और केवल धीरे-धीरे ही चीनी-समाज की रचनात्मक आलोचना की ओर

बढ़ा जो कि पश्चिमी समाजों से उसके स्वभाव के भेद का बुद्धिवादी ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न पर आधारित था ।

जैसे समय बीता चीन के स्कूलों में अधिक समझदार शैक्षणिक हल अस्तित्व में आया । विदेशी शिक्षक और विदेशों में प्रशिक्षित चीनी शिक्षकों ने समान रूप से चीनी-जीवन की कुछ समस्याओं के ज्ञान पर जोर देना आरम्भ कर दिया और इसने शैक्षणिक कार्यक्रम को पुनः निर्देशित करने का आह्वान किया। यह परिणाम था, आंशिक रूप से मिशन-स्कूलों के लिए शिक्षकों के चयन का, वह भी कार्य के लिए कुछ उपायों का प्रशिक्षण न कि असभ्य मनुष्यों की रक्षा के लिए "आह्वान", और आंशिक रूप से यह परिणाम था चीनियों द्वारा विदेशों में किये जा रहे अध्ययन में परिवर्तन का। इसके अतिरिक्त शासकीय कार्यक्रम के हिस्से के रूप में नार्मल स्कूल स्थापित किये गये और नीचे के स्कूलों के शिक्षकों को कुछ प्रशिक्षण दिया गया ।

यह ध्यान देने के लिए महत्त्वपूर्ण है, कि १९१६ के पश्चात् उन्नतिशील विद्यार्थियों का सरकारी पद पाने के लिए प्रशिक्षण की अपेक्षा गैरसरकारी व्यवसायों के लिए जोर देने की तैयारी की ओर झुकाव होने लगा। १८९८ से राजनीति ही उस समय तक विद्वानों का ध्यान आसक्त किये रही, जब यह बहुत कुछ स्पष्ट हो गया कि १९११ का राजनीतिक आन्दोलन चीन को एक उन्नतिशील किस्म के पश्चिमी राज्य में बदलने में असफल हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह केवल १९१५ के बाद व १९२० के पूर्व इस सत्य का आदर होने लगा कि मूलभूत परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक परिवर्तन पर निर्भर है। दुर्भाग्य से यह प्रशंसा उसके बाद हुई, जब पश्चिम में प्रशिक्षित चीनियों ने पाया कि गणतंत्र ने व्यापक रूप से स्वयं के हाथ में रातोरात सत्ता लेने के स्थान पर, उसका नियंत्रण पुरानी शैली के पदाधिकारियों के हाथों में छोड़ दिया । १९१६ के पश्चात् बुद्धिवादियों का दृष्टिकोण अच्छी प्रकार से उनकी पत्रिका के शब्दों में मिलता है, जिसने लिखा है :—

'मेरे नम्र मत में राजनीति ऐसे भ्रम में है, कि यह जान नहीं पाता कि किस बात की चर्चा करूँ......। जहाँ तक मूलभूत उद्धार की बात है, मेरा विश्वास है, कि इसका आरम्भ नये साहित्य में खोजा जाना चाहिए। संक्षप में हमें चीनी विचारों को विश्व के समकालीन विचारों के सीधे सम्पर्क में लाने का साहसिक प्रयास करना चाहिए और उसके बाद उसकी मौलिक जागृति का। और हमें यह देखना चाहिए कि विश्व-विचारों के आधारभूत आदर्श सामान्य मनुष्य के जीवन से सम्बद्ध होना चाहिए ।"[६]

बुद्धिवादियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन का एक परिणाम हुआ व्यावसायिक शिक्षा का आरम्भ और उसका शैक्षणिक विधि के एक भाग के रूप में स्वीकृति। यह अपने आप में

शिक्षा की वर्षों पुरानी कल्पना से स्पष्टतया अलग था, पुरानी कल्पना थी मस्तिष्क (स्मृति) का प्रशिक्षण, हाथ का प्रशिक्षण नहीं। इसी प्रकार पुरानी कल्पना से दूर जाने की बात उच्चतर टेकनिकल स्कूलों में देखी गयी, जहाँ कि प्रयोगशाला में और खेतों में हाथ से काम करने की इच्छा क्रमशः पनपी। चिकित्सा के अध्ययन में प्रयोगशाला-विधि आरम्भ की गयी, जिससे कि छात्रों को पूर्णतया भाषणों पर ध्यान देने, किताबें पढ़ने और चित्र देखने की अपेक्षा आंशिक रूप से प्रयोग द्वारा अध्ययन करना पड़ता था। इंजीनियरिंग के विद्यार्थियों ने विस्तृत क्षेत्र के कार्य को कक्षा की पढ़ाई से जोड़ना—लागू करना आरम्भ किया। इस बात की मान्यता का, कि एक व्यक्ति हाथों से कार्य करके भी विद्वान् रह सकता है, स्पष्ट रूप से चीनी मस्तिष्क पर विस्तृत प्रभाव हुआ। वैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक रुख के विकास ने साहित्यिक और सामाजिक अध्ययन के प्रति छिद्रान्वेशी मार्ग को प्रोत्साहित किया।

(३) समाचार-पत्र तथा बौद्धिक जागृति

स्कूलों के अलावा, बौद्धिक जागृति पैदा करने में दूसरा प्रभाव निस्सन्देह रूप से समाचार-पत्रों का था। इसने नये विचारों की अभिव्यक्ति का साधन प्रस्तुत किया और विदेशों व चीनी दुनियाँ की घटनाओं व गतिविधियों के सम्बन्ध में जानकारी देन के माध्यम का काम किया। वहाँ पर काफी समय से विदेशी भाषा, मुख्यतः अंग्रेजी के पत्र थे, जिन्होंने चीन व अन्यत्र होने वाली घटनाओं की चर्चा करने का उपयोगी कार्य किया। कुछ सारयुक्त पत्रिकाएँ जैसे "चाईनीज़ डिपासिटरी" जो 'चीनी वस्तुओं' की भक्त थीं। परन्तु अन्ततः उक्त विदेशी संस्थाएँ मूलतः विदेशियों को जानकारी देने और पश्चिमी दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति करने के लिए चलती थीं, न कि चीनियों में विचारों को प्रोत्साहित करने के और आगे जाने का मार्ग पैदा करने के उद्देश्य से। यह तो स्वदेशीय प्रकाशनों में ही चीन ने स्वयं का मूल्यांकन करना और अभिव्यक्त करना आरम्भ किया। प्रथम चीनी समाचार पत्र १८७० में स्थापित हुआ। दो अन्य पत्र जापान के साथ युद्ध के पहले स्थापित हुए। उस युद्ध के बाद दूसरे पत्र आये। बॉक्सर-आन्दोलन को दबाया जाना, मंचू-सुधार-आंदोलन का आरम्भ और मंचू-विरोधी भावनाओं की वृद्धि, सभी विभिन्न मतों की अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित करने के लिए समाचार पत्रों की स्थापना के कारण थे। परन्तु विशेष रूप से १९११ की क्रांति के बाद ही पत्रों की संख्या कई गुनी हो गयी। १९३१ तक प्रत्येक प्रमुख शहर का अपना समाचार-पत्र था। आवागमन के साधनों में सुधार से अधिक प्रमुख समाचार-पत्रों का बिक्री का क्षेत्र विस्तृत हो गया और उनके लिए स्थानीय समाचारों से अधिक समाचारों को प्रकाशित करना संभव हो गया। बहुत नहीं तो भी

कई समाचार-पत्र मुख्यतः प्रचारात्मक पत्रिकाएँ थीं, कुछ को तो विदेशों से आर्थिक सहायता मिलती थी, और कुछ व्यक्तियों अथवा गुटों के मुखपत्र थ। परन्तु उन सब ने चर्चाओं में उत्तेजना लाने और विदेशों से सम्बन्धों और घरेलू राजनीति और समस्याओं के बारे में विचारों को उकसाने का कार्य किया।

समाचार-पत्रों के अतिरिक्त, बाद की प्रगति के रूप में, महिला-पत्रिकाओं से लेकर तो साहित्यिक और वैज्ञानिक पत्रिकाओं तक कई पत्र-पत्रिकाएँ पैदा हो गयीं। अध्ययन-कर्ता-शिक्षक वर्ग नये विचारों के लिए आगे जाने का मार्ग पैदा करने की दृष्टि से बाद को वे विशेष महत्त्वपूर्ण थे। विद्वत्तापूर्ण पत्रिकाओं का अच्छा उदाहरण था 'चीनी सामाजिक और राजनीतिक विज्ञान का सिंहावलोकन'। अन्य पत्रिकाएँ जो नये विचारों की अभिव्यक्ति में ही विशेष रूप से संलग्न थीं वे थीं 'न्यू यूथ' जिसकी स्थापना १९१५ में पीकिंग-विश्वविद्यालय के डीन ने की थी, १९१७ में जिसका प्रकाशन स्थगित हो गया परन्तु १९१८ में विश्वविद्यालय के ६ आचार्यों के संपादकत्व में पुनः कार्य प्रारम्भ हुआ; 'वीकली रिव्यू' भी विश्वविद्यालय का प्रकाशन था जिसका विषय मुख्यतः राजनीति था, और 'न्यू टाइड' (जिसे बाद में दी रेनेसां कहा गया) का प्रकाशन पीकिंग-विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा प्रेरित था। अन्य स्कूलों ने भी अपने प्रकाशन आरम्भ किये, जिनमें कहानियाँ, नाटक, निबंध और सामाजिक रुचि के गंभीर लेख प्रकाशित होते थे।

अन्ततः बौद्धिक शक्ति के रूप में हम जनता की बढ़ती हुई गति का उल्लेख कर सकते हैं। रेलमार्ग न प्रतिवर्ष उससे सफर करने वाले हजारों लोगों के दृष्टि-क्षेत्र का विस्तार कर गतिशील बौद्धिक जीवन पैदा करने में मदद की। कुलियों ने, जिन्होंने फ्रांस में रेलवे लाइनों पर काम किया, युद्ध के बाद चीन के अपने ग्रामों को व्यक्तिगत निरीक्षण पर आधारित बाहरी दुनिया की गाथाएँ लेकर वापिस लौटे, उन्होंने लोगों में उत्सुकता जगाने में मदद की, जिसको संतुष्ट करने की कोशिश में समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने उसे और भी आगे उत्तेजित किया।

(४) साहित्यिक क्रांति

नये तूफान की एक अभिव्यक्ति थी "साहित्यिक क्रांति" जिसकी १९१७ में व बाद में व्यवस्थित तरक्की हुई। इसका औपचारिक उद्घाटन अमेरिका-प्रशिक्षित विद्वान् तथा पीकिंग राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की फैकल्टी के सदस्य डॉ० हु शुह (शिह) ने किया। १९१७ के आरम्भ में उसने केवल बोलचाल की ही भाषा में लिखने तथा विचारों की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में पुरानी साहित्यिक भाषा का पूर्णतया परित्याग करने के अपने इरादे की घोषणा की। इस साहित्यिक भाषा का चीनी विद्वानों में वही स्थान था

जो कि यूरोप के विद्वान् लेखकों में लेटिन भाषा को उस समय प्राप्त था, जब कि राष्ट्रीय भाषाओं का जन्म हो रहा था। वेन ली, अथवा चीनी पौराणिक भाषा "मृत" हो गयी थी, सिवाय इसके कि विद्वान् लम्बे समय तक इसका प्रयोग करते थे, परन्तु चीनी पदाधिकारियों की बोलियाँ न केवल व्यापक रूप से बोली जाती थीं बल्कि उन्होंने "बहुत प्रमाण में साहित्य तैयार किया, जो कि राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्थापना के बाद किसी भी यूरोपीय भाषा का स्थान रहा हो उसकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और विविध साहित्य तैयार किया"[5] परन्तु इसके बावजूद भी चीनी पौराणिक भाषा की साहित्यिक सर्वोच्चता कायम रही। यह साहित्य मुख्यतः उपन्यास का रूप था, जिस रूप को उच्चकोटि के पुरातन साहित्य की परम्परा में मान्यता नहीं दी गयी थी अथवा समाविष्ट नहीं किया गया था। इस चीनी "लेटिन" का अधिकार उसकी निपुणता विद्वानों को विशिष्टता प्रदान करती थी, उसके कारण कायम रहता था। तथापि इसके आगे भी इसकी प्रतिष्ठा इस तथ्य के कारण थी यह "लम्बे समय से संगठित सत्ता की शक्ति द्वारा लादी जाती थी, और शिक्षा की बहुत विस्तृत पद्धति द्वारा समर्थित थी, जहाँ उसके विद्यार्थियों का शास्त्रीय भाषाएँ पढ़ने व लिखने की उनकी योग्यता की शक्ति के आधार पर, पद, प्रतिष्ठा और मान्यता प्राप्त करना ही एकमेव उद्देश्य था।"[6] इस प्रकार परीक्षा-पद्धति का उन्मूलन साम्राज्य की समाप्ति दोनों बातें विद्वानों द्वारा शास्त्रीय भाषा के उपयोग दूर जाने के सीधे सूचक थे। इसके अतिरिक्त लम्बे समय से चली आ रही परम्परा से विकसित गतिहीनता पर काबू पाना भी आवश्यक था। यह केवल राष्ट्र के जीवन से शास्त्रीय भाषाओं के परित्याग की केवल खुली और स्पष्ट मान्यता से ही और साहित्यिक व विद्वत्तापूर्ण कार्यों के लिए स्वदेशी भाषा के उपयोग की संभावना से ही हो सकता था। जनसाधारण की लोक-भाषा की सबल वकालत डॉ० हू ने की। उनके लक्ष्य का समर्थन करने में अन्य भी आकर्षित हुए, यद्यपि कुछ समय तक नये आन्दोलन का काफी विरोध था।

१९२० में शिक्षा मंत्रालय ने लागू करने के लिए एक आदेश जारी किया कि शीतकालीन सत्र के आरम्भ से प्राथमिक स्कूलों की प्रथम दो श्रेणियों में राष्ट्र भाषा पढ़ाई जानी चाहिए। कुछ वर्षों के अन्दर प्राथमिक शालाएँ अपनी सभी श्रेणियों में पुरातन भाषा के स्थान पर जीवित भाषा का उपयोग करने लगेंगी। इस परिवर्तन का माध्यमिक और नार्मल स्कूलों पर आवश्यक असर हुआ, जहाँ प्राथमिक शिक्षक प्रशिक्षित होते थे और ये उच्चतर स्वेच्छा से शास्त्रीय भाषा के रूप में पाठ्य को स्वीकार कर आने वाले परिवर्तन का पूर्वाभास पा रहे हैं। समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं ने शास्त्रीय भाषाओं में कविताएँ प्रकाशित करना अधिकांश मामलों में बंद कर दिया है, और बोलचाल की चीनी भाषा में "नयी कविता" उनका स्थान ले रही है।[7] पुराने साहित्यिक स्वरूप के

बंधनों के ढीले होने का अभिप्राय स्पष्ट है। इसने वास्तव में नये और लचीले माध्यम में निर्माणकारी साहित्यिक गतिविधियों को पुनर्जीवित करने का मार्ग तैयार किया। इस मूलभूत विषय में परम्परा के टूटने ने शिक्षित चीनियों के मस्तिष्क को मुक्त करने में भी मदद की और उनको उत्पन्न करने की शक्ति के प्रयास की अपेक्षा रचनात्मक प्रयास की ओर प्रेरित किया। पुरानी शास्त्रीय परम्परा साहित्यिक शुद्धीकरण का प्रतिनिधित्व करती थी, जो कि पीढ़ियों पूर्व अपने अन्तिम परिणामों की ओर ले जाया गया था। उस स्थान से प्रस्थान ने नये साहित्यिक जीवन का द्वार खोल दिया।

भाषा का सरलीकरण आन्दोलन भी और अज्ञानता कम करने के लिए सामूहिक शिक्षण का इसका साथी भी महत्त्व का था। बोलचाल की भाषा के एकीकरण का कार्य १९१३ में शिक्षा-मंत्रालय के तत्त्वावधान में हुए एक सम्मेलन द्वारा हाथ में लिया गया। इस सम्मेलन ने ३१ संकेतों अथवा अक्षरों की एक ध्वन्यात्मक वर्णमाला तैयार की, जिस पर अधिकार व्यक्ति को रूपों को शासकीय बोले जाने वाली भाषा के अनुसार उच्चारण करने की क्षमता देता है। इस पद्धति का चीन के गैर-पदाधिकारी क्षेत्रों, जैसे शंघाई और कैंटन में व्यापक उपयोग किया गया। प्रोटेस्टेंट ईसाई-क्षेत्रों में रोमनीकरण पद्धति प्रारम्भ में का रूपों वास्तविक स्थान करनेवाले के रूप में उपयोग होती थी।

इस पद्धति के एकीकरण के लिए राष्ट्रवादी उद्देश्य से इस आन्दोलन में निकट से सम्मिलित हुआ सामूहिक शिक्षा-आन्दोलन, जो अपने प्रमुख नेता वाय० सी० जेम्स येन के नाम से जुड़ा था और जिसका संगठन नेशनल पॉपुलर एजुकेशन एसोसिएशन के जरिये होता था। श्री येन और उनके सहयोगियों ने १३०० रूपों पर आधारित अध्ययन का एक पाठ्यक्रम तैयार किया। ये स्वदेशी भाषाओं में अत्यधिक सामान्य उपयोग में आनेवाले रूपों में से थे। भाषा पर उनके अधिकार ने व्यक्ति को "सरल व्यापारिक पत्र लिखने, हिसाब-किताब रखने तथा सरल समाचार-पत्रों को चतुराई से पढ़ने" के योग्य बना दिया। प्रतिदिन डेढ़ घंटा अध्ययन करने से प्रदर्शन द्वारा यह योग्यता साढ़े चार महीनों में प्राप्त की जा सकती है। शिक्षकों ने स्वेच्छा से अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। वे नियमित शिक्षक व विद्यार्थियों में से थे। आन्दोलन तेजी से फैला और उसे अशिक्षित जनसमुदाय का बहुत सहयोग व रुचि मिली। आम तौर पर यह कार्य शहरों तक ही सीमित था, जब तक कि कुछ उपयोगिता के साथ कम्युनिस्टों ने हाथ में न ले लिया।

(५) बौद्धिक उफान

देश में सैनिक शासन की स्थापना के बाद चीनी बुद्धिवादियों की रुचि राजनीति के क्षेत्र से स्थानांतरित होने का परिणाम हुआ बौद्धिक उफान, साहित्यिक क्रांति तो

जिसकी केवल एक अभिव्यक्ति थी। समालोचना का प्रकाश सभी क्षेत्रों व आचरणों, चीनी व विदेशी दोनों की ओर निर्देशित था। यह प्रयास था समकालीन चीनी जीवन व समस्याओं व आधुनिक विज्ञान व विचारधारा के प्रकाश में उनका मूल्यांकन करना। सामाजिक उपयोगिता की व्यावसायिक टेस्ट आमतौर पर लागू की जाती थी। इससे नये चीन की पीढ़ी पर जॉन दिवे का प्रभाव दिखायी दिया और यह प्रभाव चीनियों की संख्या के कारण था, जो अमेरिका निवास के दौरान उसके और उसके मत के सम्पर्क में आये। इस प्रभाव को तब शक्ति मिली, जब उन्हें पीकिंग विश्वविद्यालय व देश भर में भाषण देने हेतु आमंत्रित किया गया। अन्य बलशाली प्रभाव था बर्ट्रेन्ड रसेल का, जिसके दर्शन ने नये चीन के बुद्धिवादी नेताओं के एक गुट को लुभाया था।

इस बात को भी मान्यता देनी चाहिए कि महायुद्ध तथा उसके बाद के परिणाम ने चीनियों के मस्तिष्क में विदेशी व्यवस्था के प्रति आदर घटाकर आलोचनात्मक प्रवृत्ति उत्तेजित करने में मदद की, जिसने शांति के ईसाई-सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी इतने व्यापक पैमाने पर संगठित वध की अनुमति दी। जर्मन-विरोधी प्रचार, जो चीन तक पहुँचा, उसने भी पश्चिमी दुनिया व उसकी संस्थाओं के बारे में विचारों को उकसाने का काम किया। परन्तु इन सबके ऊपर पेरिस-सम्मेलन में शांटुंग अवार्ड राष्ट्रीय व देशभक्तिपूर्ण स्वरूप को भावनाओं के उफान की ओर ले गया।

(६) विद्यार्थी-आन्दोलन

पीकिंग के विद्यार्थी ही ऐसे थे जिन्होंने पेरिस के निर्णयों के समाचार चीन पहुँचने पर सर्वप्रथम विरोध की आवाज बुलन्द की। वे अमेरिकन तथा अन्य सम्बद्ध प्रतिनिधियों के मध्यस्थीकरण का प्रश्न करने मोर्चा बनाकर दूतावास तक गये। दूतावास-कार्यालय में प्रवेश अस्वीकार होने पर वे अन्फू मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्यों के घर गये, जो कि जापान के हाथ की कठपुतली समझे जाते थे। उनमें से त्साओ-जू-लिन सर्वाधिक कुख्यात था। उसके घर को अंशतः ध्वंस कर दिया, परन्तु वह स्वयं बच निकला और जापानियों के पास शरण ली। विद्यार्थियों ने सब मंत्रियों से त्यागपत्र की माँग की कि पेरिसस्थित चीनी प्रतिनिधियों को आदेश दिया जाय कि वह जर्मनी के साथ शांति-संधि पर हस्ताक्षर करना अस्वीकार कर दें। पीकिंग तथा अन्य शहरों में विद्यार्थियों के विरुद्ध पुलिस ने कदम उठाये, जहाँ कि पीकिंग से खबर आने पर विद्यार्थी "यूनियन" द्वारा संगठित किये गये थे। जेल भर गये, परन्तु आन्दोलन का अन्त नहीं हुआ। हर एक विद्यार्थी को कैद होते ही लोगों में हलचल पैदा करने के लिए अन्य कई आन्दोलनकारी सामने आ जाते थे। चेम्बर ऑफ कामर्स तथा व्यापारिक संस्थाएँ भी छात्रों के साथ हो गये, जो कि हड़ताल

पर गये और जापानी वस्तुओं के बहिष्कार की घोषणा द्वारा उनके प्रचार-कार्य की परिपूर्ति की। कुछ महीनों के लिए यह बहिष्कार कायम रखा गया और व्यापारियों के विरुद्ध कारस्वाई के लिए चीनी सरकार पर जापानी दबाव इसको समाप्त करने में असफल रहा। गैर-राजनीतिक वर्ग की शक्ति निष्कर्ष रूप में प्रदर्शित हुई, क्योंकि सरकार को झुकने के लिए बाध्य होना पड़ा। संधि पर हस्ताक्षर नहीं हुए और "गद्दारों" को स्तीफा देना पड़ा।

तथापि आन्दोलन की शीघ्र सफलता दूरगामी परिणामों अथवा काम में लाये तरीकों के रूप में इतन अधिक महत्त्व के नहीं थे। विभिन्न कारणों से छात्रों का हड़ताल पर जाना स्कूली जीवन की साधारण बात हो गयी। परन्तु विद्यार्थियों के लिए सड़कों पर घूमकर आम जनता को वर्तमान व भूतकाल में चीन में की गयी गलतियों के बारे में सिखाना व उपदेश देना, उनके लिए प्रदर्शन आयोजित करना एवं राष्ट्रीय उद्देश्यों की घोषणा करते हुए झंडों को लेकर जुलूस निकालना, तथा आदर्शों के लिए स्वेच्छा से कारावास भुगतना—ये नयी बातें थीं, जो जल्द ही अपना प्रभाव खोये बिना साधारण होनेवाली थीं। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार कोई नयी बात नहीं थी। यह दोनों १९वीं सदी तथा २०वीं सदी के आरम्भ में किया गया। परन्तु राष्ट्रीय शस्त्र के रूप में इसका प्रभाव पहले की अपेक्षा १९वीं शताब्दी में अधिक निष्कर्ष रूप से प्रदर्शित हुआ। इन सबसे ऊपर आन्दोलन का राष्ट्रीय चरित्र स्वयं में अर्थपूर्ण था क्योंकि इसने चीन के एक सत्ता के रूप में बोध का संकेत दिया, उदाहरणार्थ १८९५ व १९०० में भी प्रदर्शित स्थान विशेष के प्रेम के साथ अद्भुत तुलनात्मक अंतर में।

वास्तव में आरम्भिक उबाल दब गया यद्यपि १९१९ और १९२५ के बीच समय-समय पर विद्यार्थियों की आवाज सुनाई दी। परन्तु आन्दोलन का शैक्षणिक पहलू जारी रहा। आम जनता के लिए अज्ञानता कम करने और लोगों को चीन की गलतियों का आदर करने को जगाने हेतु प्रयत्न के रूप में संचालित होते थे। सड़कों के किनारे संचालित अथवा छात्रों द्वारा भाग ली जाती बहसों ने इसके परिपूरक का कार्य किया। मिशन-स्कूलों के विदेशी विचारों के प्रचार के कारण उनके विरुद्ध काफी आलोचना की आवाज उठी और विद्यार्थियों में सबल ईसाई-विरोधी आन्दोलन विकसित हुआ। पश्चिम की सामान्यतया हानि इस बढ़ते विश्वास के कारण हुई कि पश्चिमी देश चीन में अपनी पुरानी स्थिति पुनः प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से मदद नहीं देंगे।

वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणामस्वरूप यह भावना केवल अस्थायी ही घटी। एक वर्ष के भीतर डॉ सन ने सोवियत रूस के साथ सहकारिता का समारम्भ किया और नयी कोमिनतांग-विचारधारा का विकास और फैलाव आरम्भ किया, जो कि आन्तरिक

दृष्टिकोण से मौलिक था तथा विदेश-संबंध के दृष्टिकोण से साम्राज्य-विरोधी था। उसके आन्दोलन ने विद्यार्थी-जगत् से बहुत-से अनुयायी आकर्षित किये, जिनमें पीकिंग के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के बुद्धिवादी गुट के साथ सहानुभूतिपूर्ण संबंध स्थापित करके रूसी प्रतिनिधियों ने बीज पैदा करना आरम्भ कर दिया। रूसियों ने मस्तिष्क की आलोचक प्रवृत्ति की सराहना की जबकि "संधिपत्र द्वारा व्यापारिक बन्दरगाह बनानेवाले" पश्चिमी देश इस नये विचार की यह कहकर निन्दा करने लगे कि यह अपरिपक्व, परिवर्तनकारी और बोलशेविक-प्रचार का परिणाम है। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन तथा उसके कौमिनतांग में प्रवेश के साथ आगे भी देश के दक्षिणी भाग में विचारों का एक प्रवाह बहने लगा, जो कि बौद्धिक उफान और राजनीतिक भ्रम में और जुड़ गया।

कोमिनतांग को साम्राज्य-विरोधी दल के रूप में विद्यार्थियों के समर्थन की पुष्टि १९२५ में जापानी मिलों में हड़ताल के समय हुई, जब हड़ताल हड़तालों के समर्थन में विद्यार्थियों के जूलुसों के परिणामस्वरूप ३० मई की "घटना" घटी। शंघाई पुलिस ने जो कि अंग्रेजों के कमांड में थी, प्रदर्शनकारी छात्रों पर गोली वर्षा की, जिसमें कुछ मरे और अन्य घायल हुए। इससे सीधे कथित शमीन कत्लेआम घटना भड़की, जिसमें शंघाई की ब्रिटिश काररवाई के विरोध में प्रदर्शन कर रहे छात्रों पर कैंटन में गोली चलायी गयी। इसका परिणाम हुआ बहिष्कार का पुनर्जन्म जो कि हांगकांग के समुद्री कर्मचारियों की हड़ताल के समय जारी हुआ। छात्रों की गतिविधियों से पैदा बहिष्कार, जिसे कोमिनतांग का समर्थन व निर्देशन प्राप्त था, उससे स्वभावतः विद्यार्थी व दल में परस्पर संबंध सुदृढ़ हुए। दो घटनाओं से ब्रिटिश सम्बन्ध से जापान से दुश्मनी हटकर ब्रिटेन पर हो गयी, जिससे उसे साम्राज्यवादी दुश्मन का रोल अदा करनेवाला निरूपित किया गया। यह परिवर्तन अत्यधिक सरलता से हुआ जितना कि यह कुछ वर्षों पूर्व होता जिसका कारण था वाशिंगटन सम्मेलन के तुरंत बाद के वर्षों में जापान की चीन के प्रति उल्लेखनीय सांत्वना-प्रदर्शन की नीति। १९२६ के वानसिएन घटना के पश्चात् ब्रिटिश-विरोधी भावना तीव्र हो गयी, जब कि एक ब्रिटिश तोपवाही नौका ने चीनी सेना द्वारा ब्रिटिश व्यापारिक नौका पर गोली चलाने की काररवाई की सजा के बतौर, यांगसी ग्राम पर गोली वर्षा की। नानकिंग सरकार की स्थापना के बाद अंग्रेजों की नीति स्पष्टतः राष्ट्रवादी चीन के प्रति सांत्वनाकारी होने और राष्ट्रवादी आन्दोलन कम परिवर्तनकारी होने के कारण ब्रिटिश-विरोधी भावनाएँ दब गयीं। १९२७ तक पीकिंग में विदेशी शक्तियों द्वारा एकता कायम रखने से ब्रिटिश-विरोधी भावना को विदेश-विरोधी के रूप में साधारणीकरण करने में मदद मिली। विदेशवाद-विरोधी विचारधारा को दल की सामान्य साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा के आधार पर स्पष्ट किया जाना

चाहिए। परन्तु यह स्पष्ट है, कि चीनी राष्ट्रवादियों की यह प्रवृत्ति विदेशियों से छुटकारा पाने की इच्छा और उनसे मेलजोल समाप्त करने की इच्छा के कारण नहीं थी। यह तो तथाकथित "असमान संधियों" के बंधनों से छुटकारा पाने की इच्छा प्रदर्शित करती थी, जिससे कि चीन राष्ट्रों के परिवार में समानता का पद प्राप्त कर सके। इससे भी आगे यह भावना के एकाएक पूर्ण परिवर्तन को प्रदर्शित करती थी कि चीन अपनी अंतराष्ट्रीय समस्याओं के हल के लिए पश्चिम पर भरोसा कर सकता था और उस भावना से कि संस्थाएँ, व्यवहार, और विचार अच्छे थे क्योंकि वे पश्चिमी थे। परिणामस्वरूप इसने आलोचनात्मक विवाद कें तूफान को बलवान् बनाने का कार्य किया।

आलोचनात्मक विचार को जापान ने योजना प्रदान की, जब वह चीन से मंचूरिया को पृथक् करने की ओर बढ़ा। चीन-सरकार ने निश्चयात्मक रूप से पश्चिमी संस्था लीग ऑफ नेशन्स पर समर्थन के लिए विश्वास किया। पश्चिमी देश लीग के जरिये काम करते थे। परन्तु जिनेवा में जापान की निन्दा के बावजद चीनियों ने शीघ्र ही स्वयं को भूभाग की हानि के सामने पाया। इसकी छात्रों में प्रतिक्रिया वैसी ही हुई जिसका उल्लेख हो चुका है, अर्थात् इस प्रवृत्ति का विस्तार कि चीन को स्वयं पर ही भरोसा करना चाहिए, किसी अन्य राज्य अथवा संस्था पर संरक्षण और अपनी शिकायतों के निवारण के लिए भरोसा नहीं करना चाहिए। इस प्रकार मंचूरिया के मामले ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया को शक्ति दी, इसने पहले से व्यापक रूप से अभिव्यक्त विचार को दृढ़ किया कि प्राथमिक जोर शस्त्रों और सैनिक शिक्षा पर देना चाहिए और इसन अंतराष्ट्रीयवाद की वकालत करनें वालों की स्थिति कमजोर करते हुए चीन के राष्ट्रीयतावाद की पुष्टि की। जैसा कि डॉ० सन ने पहले कहा है, केवल सशक्त राष्ट्र ही अंतष्राट्रीय आधार पर सोचने की हिम्मत कर सकता है।

(७) परिवार-पद्धति में परिवर्तन

चीनी प्रथाओं की सजग आलोचना का शक्तिशाली उदाहरण प्राचीन वंशगत परिवार-पद्धति पर आक्षेप और उसके खुले सम्बन्ध-विच्छेद के रूप में प्रस्तुत हुआ। युवक बुद्धिवादियों द्वारा सजग रूप से संबंधविच्छेद के पहले ही परिवार-पद्धति को कमजोर करने के लिए बहुत सी बातें कार्य कर रही थीं। इनमें जो उल्लेखनीय थीं, उनमें प्रथम था रेलवे के विस्तार के कारण लोगों का व्यापक आवागमन। इसने पुश्तैनी मकान से दूर जाना सरल बना दिया और इस प्रकार उससे लगाव कमजोर कर दिया। इसने पौतृक परिवारों को छोटे गुटों में तोड़ने की ओर प्रवृत्त किया। पश्चिमी औद्योगिक पद्धति के आरम्भ का भी काम करने वालों को ग्रामों से कस्बों व नगरों की ओर आकर्षित

करने से भी इसी प्रकार का असर हुआ, जहाँ कि वे पारिवारिक सत्ता से दूर हो गये और पृथक् बसने के लिए बाध्य हुए। एक शताब्दी से चल रहे ईसाई-प्रचार, व वंशानुगत पूजा, उपपत्नी-प्रथा व परिवार-व्यवस्था से संबद्ध अन्य व्यवहारों पर उनके आक्षेप भी अन्य तथ्य था। दूसरा था पश्चिम का व्यापक ज्ञान और व्यक्ति पर बल देने से तथा एक परिवार-पद्धति से प्रस्तुत कुछ लाभों की प्रशंसा। इस ज्ञान ने कम से कम चीनी पद्धति को तुलनात्मक आधार पर मूल्यांकन करने का अवसर प्रदान किया।

अन्य पहलू जो परिवार-पद्धति को कमजोर बनाने का कारण और परिणाम था वह था क्रमशः महिलाओं की मुक्ति। इसका प्रादुर्भाव गणतांत्रिक शैक्षणिक कार्यक्रम के हिस्से के रूप में लड़कियों के स्कूलों के प्रादुर्भाव के साथ आरम्भ हुआ। राजशाही के दिनों में उनके शिक्षण की व्यापक अवज्ञा की गयी, क्योंकि वे परीक्षाएँ नहीं ले सकती थीं और किसी भी मामले में उनके शास्त्रीय शिक्षण की आवश्यकता नहीं सोची गयी। तथापि कुछ मिशन-स्कूलों ने इसका आरम्भ कर दिया था। १९११ के पश्चात् दोनों ने शासन और मिशन व गैरसरकारी स्कूलों ने लड़कियों व महिलाओं के प्रारम्भिक व उच्च शिक्षण की सुविधाएँ अधिकाधिक प्रदान कीं। इसका परिणाम लड़कियों के घर के बाहर आने व एक दूसरे के व दुनिया के सम्पर्क में आने में हुआ, और इसने शिक्षित वर्ग में विवाह का समय आगे बढ़ा दिया। इसके आगे अधिकाधिक संख्या में पढ़ने विदेश जाने से भी विवाह आगे टलता गया। पढ़न हेतु विदेश जाने वाली प्रथम लड़कियाँ १८८० में अमेरिका भेजी गयीं। १९३१ तक अमेरिका में उच्च शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर रही चीनी लड़कियों की संख्या २०० हो गयी। स्वभावतः जैसे-जैसे यह शिक्षण बढ़ा कुछ महिलाओं ने घरों को सम्हालने की अपेक्षा स्वयं को व्यवसाय में लगाने की तैयारी की। प्रमुख आकर्षण था मेडिकल व नर्सिंग में, परन्तु कुछ ने वकालत का प्रशिक्षण प्राप्त किया व अन्य पत्रकार बन गयीं। इस प्रकार चीन के इतिहास में पहली बार आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर अविवाहित महिलाओं के वर्ग का निर्माण हुआ जो लगातार बढ़ता ही गया।

१९१९ के विद्यार्थि-आन्दोलन व बाद के आन्दोलनों में स्कूल की लड़कियों ने लड़कों के कंधे से कंधा मिलाया व लड़कों के समकक्ष स्थान पाया। इस अप्रत्याशित प्रदर्शन का कोई बुरा परिणाम नहीं निकला, परन्तु इसने यह अवश्य प्रदर्शित किया कि महिलाएँ संभवतः चीनी जीवन में नयी पहल करेंगी। शायद इसी के फलस्वरूप कुछ कालेजों व विश्वविद्यालयों में सह-शिक्षा आरम्भ हुई, और नीचे की कक्षाओं में भी इसका अंततः प्रयोग किया गया।

युवक-वर्ग, विशेषकर अमेरिका में शिक्षित विद्यार्थी क्रमशः देश की विवाह-पद्धति

के विरुद्ध विद्रोह की ओर बढ़ने लगे, जिसमें वे अपनी वधू का चयन करने में अपनी आवाज उठाने से वंचित थे, यद्यपि विदेशों में शिक्षित छात्रों की प्रथम पीढ़ी ने अन्य प्रथाओं की तरह इसमें भी अपनी मौन स्वीकृति दे दी थी। परन्तु अंततः पैतृक शक्ति के प्रयोग के विरुद्ध लड़कों की आवाज में नवशिक्षित महिलाओं की आवाज भी मिल गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि पारिवारिक व्यवस्थाओं की अवज्ञा होने लगी, शादी करने वाले दोनों पक्ष स्वयं अपनी इच्छा से चुनाव करने लगे। पैतृक सत्ता इन्हें पारिवारिक निवास में रहने देने से इन्कार करने से और भी कमजोर हुई। कुछ मामलों में यह मानना चाहिए कि विवाह्-समारोह, मुक्ति के प्रतीक के रूप में अलग किया गया। पेंडुलम एक छोर से दूसरे छोर तक घूम रहा था, यद्यपि एक ही छोर को अपनाने का मत नियम की अपेक्षा अपवाद होना चाहिए था। तब समग्र रूप से महिला-शिक्षा का प्रभाव था, परिवार-पद्धति को कमजोर करना, यद्यपि जान-बूझ कर यह उस उद्देश्य के लिए संचालित नहीं थी।

अन्त में हम उपयोगिता की दृष्टि से पद्धति की सजग आलोचना द्वारा दिये गये योगदान की ओर आते हैं। परिवार या पैतृक द्वारा ज़ीवन-साथी चुनने के विरुद्ध प्रतिक्रिया का अभी उल्लेख हुआ है। परन्तु यह प्रत्यक्ष और ऊपरी आलोचना केवल एक पहलू में थी। यह दिखाने के लिए ऐतिहासिक अध्ययन की आवश्यकता पड़ी कि पैतृक परिवार वंधनयुक्त विकास का था, यह वह स्थिति थी, जहाँ से अन्य वर्गों ने व्यक्ति पर निर्मित समाज उत्पन्न किया। इसके अनुभव ने कुछ बुद्धिवादियों को इसकी यह कहकर अवज्ञा करना संभव बना दिया कि यह पूरी पद्धति भविष्य के चीन के लिए अनुपयुक्त है। कुछ चीनियों ने, जिनकी संख्या पुनः अपेक्षाकृत बहुत कम थी, जीवन के सोचने व कार्य के वंशानुगत तरीकों की प्रभावहीनता का और समाज में जिसके सदस्य का प्रमुख कार्य बालक पैदा करना था, पारम्परिक पूजा को चलाना मात्र था, इनका पीछा किया। यह मनोरंजक बात है कि युद्ध के बाद चीन में संतति-नियंत्रण के प्रचारकों को सुना जाता था। उग्रवादी लोग पैतृक-पूजा पर भी आक्षेप करने की सीमा तक गये, जो कि पद्धति का केन्द्र और प्राण था। इस सचेत आलोचना के प्रकाश में यह उल्लेख करना उचित है, कि परिवार-पद्धति को कुछ ठोस बचाव करनेवाले भी मिल गये, जिनमें कुछ विदेशी थे। इसके बचाव का प्रमुख युक्तिसंगत तर्क इसकी एकता रखने की शक्ति के आधार पर दिया जाता था। इसका उल्लेख सही ही किया जाता था, कि चीन अपने पास व दूर के पुरातन पड़ोसी देशों से अधिक समय तक जीवित रहा है, जिसका व्यापक कारण है, कि उसका जीवन पैतृक परिवारों से ही संरक्षित रहा है। चीन के "युवक" पीढ़ी के बन्धन की कमी को उसके राजनीतिक अव्यवस्था से भी अधिक गंभीर विघटन और ह्रास का लक्षण निरूपित किया

गया। परन्तु बिना किसी तर्क में पड़े यह सिर्फ कहा जा सकता है, कि दोनों बातें—पुरानी पद्धति को ठीक समझ कर बिना बहस वर्षों पूर्व जो स्वीकार किया गया था, उसका समर्थन व विरोध इस बात का संकेत था कि पुरानी व्यवस्था बदल रही थी।

परिवार-पद्धति का प्रश्न छोड़ने के पहले हमें इस तथ्य पर जोर देना चाहिए कि केवल बहुत छोटी संख्या में ही चीनियों ने इसकी स्वस्थता पर शंका की अथवा खंडन किया। विदेशों में शिक्षित चीनियों की नयी पीढ़ी ने तथा शहरों में विशेषकर विदेशियों के निवास, व्यापार के स्थानों के सम्पन्न चीनियों ने परिवर्तित दृष्टिकोण को अभिव्यक्त किया। ग्रामीण दृष्टिकोण समग्र रूप से तब तक पूर्व-आधुनिक ही था। तथापि परिवर्तन यद्यपि एक छोटे वर्ग तक सीमित थे, वे अर्थपूर्ण थे, क्योंकि उसी वर्ग का रुख अन्ततः राष्ट्र का रुख निर्धारित करता था। परिवार पद्धति से संबंधित सावधानी की दृष्टि से जो कहा गया है, वह पैतृक पूजा-पद्धति से संबंधित पूजा के लिए भी सही था। जनसाधारण अभी भी उसे करता था, यद्यपि युवक बुद्धिवादी उन पर आक्षेप करते थे। पैतृक पूजा धीरे-धीरे दब गयी, परन्तु वह समाप्त नहीं हुई थी। समाप्ति से कोसों दूर थी। पैतृक-पूजा-पद्धति पर बुद्धिवादियों का आक्षेप दूसरे दृष्टिकोण से विद्यार्थि-वर्ग व उनके शिक्षकों में कई के मस्तिष्क की शुद्ध आधुनिक व शंका करने की प्रवृत्ति का संकेत था। इसका मूल था आत्मा की दुनिया पर विश्वास का अभाव तथा परिणामस्वरूप पैतृक पूजा के फल पर विश्वास की समाप्ति।

(८) धार्मिक शंकावाद

उसी शंकावाद के कारण आमतौर पर धार्मिक विश्वासों पर आक्षेप आरम्भ हुआ तथा यह कारण और ईसाइयों के विदेशी मूल व समर्थन दोनों ईसाई विरोधी भावना के मूल कारण थे, साथ ही यह भावना थी कि ईसाइयत पश्चिमी साम्राज्यवाद का अग्रिम एजेंट है। परन्तु ईसाइयत के साथ-साथ बौद्ध मत, ताओ मत, कन्फूशियसवाद से उत्पन्न धार्मिकता पर भी आक्षेप हुए।

कन्फूशियन नैतिक आचरण-पद्धति की, उससे सम्बद्ध पूजा-तत्व के अलावे, अधिक कड़ी टीका नहीं हुई, और नहीं उसे उखाड़ फेंकने का कोई बलपूर्वक प्रयास हुआ। इसका मूलभूत समर्थन किसी भी नैतिक पद्धति की स्वस्थता द्वारा होता रहा, क्योंकि इससे वर्षों पूर्व ये स्वीकार हुए थे और परम्परा के अधिकार के कारण और उस ऋषि के सम्मान के कारण उनका और चीन का नाम लगभग समानार्थी बन गया था।

युद्ध के उपरान्त कन्फूशियस उपासना-पद्धति पर बुद्धिवादियों के परित्याग का आम जनता पर कोई गंभीर असर नहीं हुआ यद्यपि यह समय पर हो सकता हो। साम्राज्य

की समाप्ति से राज्य के प्रधान द्वारा स्वर्ग की पूजा करने का तो अंत हो गया सिवाय इसके कि यूआन-शि-के ने अस्थायी तौर पर इसको पुनः आरम्भ किया। कन्फूशियसवाद को संवैधानिक अधिनियम द्वारा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र-पद्धति के रूप में प्रस्थापित करने के प्रयत्न असफल हो गये। प्रांतों के कुछ शासकीय समारोह स्थगित कर दिये गये। परन्तु कन्फूशियस के सम्मान में पूजा व्यापक रूप से जारी रही, जो शासनाधिकारियों द्वारा अथवा कन्फूशियस समितियों द्वारा, जिनकी कि स्थापना हुई, संचालित होता था। उस ऋषि को कई शासकीय स्कूलों में भी सम्मान प्रदर्शित किया गया। परिणामस्वरूप आम जनता का आनेवाले समय में कन्फूशियसवाद से जुड़े रहना संभव था, बावजूद इसके कि गणतंत्र के इनसे छुटकारा पाने के प्रयास हुए।

कन्फूशियन राजनीतिक-सामाजिक पद्धति निश्चयात्मक रूप से दुनियाँ के मामलों को व्यवस्थित रूप देने से संबंधित थी—पुत्र के संबंध पिता के साथ, पति-पत्नी, भाई-भाई, मित्र के साथ मित्र के और शासक के संबंध जनता के साथ। इन सम्बन्धों को उस महान् शिक्षक और उसके उत्तराधिकारियों ने विशेषकर मेन्शियस और चु-त्सु ने नियमबद्ध किया है। आत्मविद्या के ५ गुण जिनपर पद्धति में जोर दिया गया है, वे हैं दयालुता, सदाचार, शिष्टाचार, विवेक, और प्रामाणिकता। कन्फूशियस ने घोषणा की थी, "जिस बात को आप स्वयं पसंद नहीं करते वही दूसरों के साथ मत करिये" यह कीमती नियम है, जो निषेधात्मक तरीके से व्यक्त किया गया है। न तो कन्फूशियस ने न उनके टीकाकारों ने ही प्राचीनों के विवेक को व्यवस्थित करने व नियमबद्ध करने से अधिक कुछ करने का दावा किया। परिणामस्वरूप वे हमेशा उच्च प्रकार के जीवन की अभिव्यक्ति के रूप में भूतकाल का ही जिक्र करते थे, इस प्रकार आगे के विचारों की अपेक्षा पिछड़े विचारों का उपदेश देते थे। पुत्र-पुत्री की ईश्वरभक्ति पर सद्‌गुणों में सर्वोच्च के रूप में जोर देने से पैतृक उपासना-पद्धति का विकास हुआ, जिसने पिछड़ेपन के लिए अर्द्ध-धार्मिक सत्ता प्रदान की। इन दो बातों पर कन्फूशियसवाद का परिवर्तनकारी बुद्धिवादियों का जानकर संघर्ष हुआ न कि कन्फूशियस की नैतिक पद्धति पर।

वास्तव में परिवर्तनकारी प्रवृत्ति के लिए कन्फूशियस और मेंशियस के उपदेशों में ही अधिकार पाया गया। जहाँ तक ईश्वर की कल्पना और मृत्यु के पश्चात् जीवन का सम्बन्ध है, उन्होंने प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण अपनाया। जब तक इस जीवन की समस्याएँ ही हल करनी हैं, अज्ञात के पीछे परेशान क्यों होना ? उन्होंने ईश्वर की कल्पना की अवज्ञा नहीं की, परन्तु उन्होंने इसका विकास नहीं किया।

यह सही है, कि सम्राट् द्वारा शासकीय रूप से स्वर्ग की उपासना का कन्फूशियसवाद से निकट संबंध था, पर इसने पुराने समारोह को कायम रखना व विकसित करना ही

प्रदर्शित किया। यह भी सही है, कि कन्फूशियस तथा आकाशमण्डल के छोटे ग्रहों दोनों की पूजा के साथ ही पूर्वजों की पूजा-पद्धति के एक अंग के रूप में प्रस्थापित हुई और १९०७ में शासकीय आदेश द्वारा ऋषि को स्वयं नियमानुसार माना गया। परन्तु ये तत्त्व राजनीतिक पद्धति पर विकास को प्रदर्शित करते थे, जिससे यह अनुभव किया गया कि, काटे-छाँटे जा सकते हैं, जैसा कि पद्धति की वैधता को क्षय किये बिना स्वर्ग की पूजा का किया गया था।

अन्य महान् स्वदेशोत्पन्न दर्शन—ताओवाद—ने बहुत पहले अपना दार्शनिक स्वरूप खो दिया। धर्म-दार्शनिक के बतौर यह निश्चयात्मक रूप से गूढ़ और निवृत्तिमार्गी था। इसका नाम उसके 'ताओ' पर जोर के कारण है :—

...एक अवैयक्तिक सिद्धान्त या अधिकार, जो कि स्वतंत्र भाव से देखने पर दुर्बोध, अवर्णनीय और जिसे नाम देना असंभव है। आपेक्षिक भाव से देखने पर वह बहुत-सी वेश-भूषा में और सम्पूर्ण विश्व के सभी भागों में दीखता है। इसे सही प्रकार से ईश्वर के रूप में नहीं रखा जा सकता। वास्तव में एक अगम्य गद्यांश में वे कहते हैं, "यह ईश्वर के सम्मुख हुआ दिखायी पड़ता है।" ताओ, तथापि सभी वस्तुओं का स्रोत और सहारा है। शांतिपूर्वक, बिना प्रयत्न के और निरन्तर, यह अच्छे के लिए काम करता है, और मनुष्य स्वयं को उसे समर्पण करके, बिना प्रतिरोध किये, बिना प्रयास के अपने उच्चतम कल्याण तक पहुँच सकता है। पीड़ा मनुष्य की मौलिक निर्दोषिता व सरलता ताओ की स्थिति से दूर भागने का परिणाम है। सारे अध्ययन और ज्ञान की खोज को त्याग देना और ताओ की पूर्णतया सरल स्थिति की ओर वापिस लौटना अच्छा होगा। युद्ध, प्रयास, पीड़ा सभी तब समाप्त हो जायँगे और समय शान्त नदी में तैर कर, व्यक्ति उचित समय में ताओ के समुद्र में समा जायेगा।[९]

यह श्रेष्ठ गूढ़ दर्शन जनसाधारण के लिए बहुत अधिक कठिन था और शिक्षितों की भी जड़ नहीं जमा पाया, जिससे यह कनफूशियस-दर्शन का स्थान ले पाता। परिणामस्वरूप जल्द ही इसका जादू और अंधविश्वास की पद्धति में विघटन हो गया। ताओवादी पुरोहित "जादू और टोना के प्रमुख नेता थे, जो कि अन्य देशों की तरह प्रागैतिहासिक उत्पत्ति का है, और आत्मवाद के महान् पुरोहित हैं...। वे किसी भी प्रकार के कार्य के लिए तैयार हैं, भले ही झाड़-फूँक कर भूत भगाने का हो, नरक से आत्मा की मुक्ति का हो, दैवीकरण या अध्यात्मवादी माध्यम से ईश्वर की सलाह प्राप्त करना हो, प्लेग के शैतान से प्रतिष्ठापूर्वक रक्षा के लिए आम जुलूस आयोजित करना, ईश्वरों की जन्मतिथियाँ" मनाने के लिए नाटकीय प्रदर्शन आयोजित करना—वास्तव में कोई अंधविश्वासी कार्य नहीं है, जिनमें वे हाथ डालने व शंका दूर करने को तैयार नहीं हों।"[१०]

इस पद्धति और फेंग-शुई पद्धति, जो कि इसके निकट थी, में समान व्यक्ति जो शिक्षित थे, इसकी पकड़ में थे। फेंग-शुई पद्धति ने रेलवे तथा अन्य पश्चिमी मशीनों का प्रारम्भ रोक दिया, क्योंकि अंधविश्वासी को हवा और पानी की आत्मा पर उनके असर का भय था। वास्तव में बहुत से कुशाग्र और तर्कपूर्ण चीनियों ने १९वीं सदी में भी अंधविश्वास और जादू के व्यवहार की पूरी सत्ता पर अविश्वास जाहिर किया परन्तु संकट की स्थिति में वे शायद ही कभी पुरोहित की सेवा स्वीकार करने से चूकते थे, इस अल्प सम्भावना से कि इसमें शायद कुछ हो सकता है।

पश्चिमी वैज्ञानिक शिक्षा के श्वास ने तथापि, शिक्षितों और अंशतः शिक्षितों में अलौकिक के भय के धुंध को साफ करना आरम्भ कर दिया। ताओवादियों की आश्चर्यजनक ढंग से विकसित आत्मा की दुनिया पर शंकावाद का प्रसार निश्चित था, क्योंकि जनसाधारण में शिक्षा व्यापक रूप से फैल गयी थी। वास्तव में १९११ के बाद बहुत से मंदिरों की मूर्तियाँ नष्ट कर दी गयीं और हटाकर अँधेरे में किसी कोने में रख दी गयीं और स्वयं मंदिर पश्चिमी शिक्षा को समर्पित कर दिये गय। तथापि भूत और आत्मा में अंधविश्वास को पूरी तरह समाप्त करने में पहले बहुत समय लगेगा। तथापि मेडिकल विज्ञान का आरम्भ, ऊँचे भवनों का निर्माण, रेलवे का निर्माण, मशीन का चलाना और आलोचना की वृद्धि सभी इसी समाप्ति की ओर बढ़ रहे थे।

चीन का तीसरा महान सम्प्रदाय बौद्ध मत भी बीसवीं सदी के तूफान में बहने का अनुभव कर रहा था। मूल स्वरूप में "बुद्ध मत सभी वस्तुओं की स्थायी अस्थिरता, दुःख का अतिशयोक्तिपूर्ण अनुमान, और मुक्ति के लिए स्वयं को समाप्त कर देना ही एकमेव मार्ग है, इन पर आधारित है। नव-बुद्ध मत अथवा महायान मत उस प्राणी को मान्यता देता है, जो अस्थिर की सीमा के बाहर जाता है और उसका उद्देश्य है विश्वास और मुक्तिदाता की स्तुति से स्थायी स्वर्ग की ओर उद्धार।"[११] बुद्ध मत के महायान स्वरूप ने ही चीन में अपनी शक्तिशाली जड़ें जमायीं। ईसा की एक शताब्दी पूर्व यह चीन में प्रविष्ट हुआ, परन्तु ढाई सौ वर्षों तक उसकी प्रगति बहुत कम रही—जिस अवधि में किसी भी चीनी को बौद्ध संन्यासी बनने की अनुमति नहीं थी। रुकावट उठने के बाद नये पंथ के प्रति कन्फूशियस विद्वानों के विरोध के कारण उपस्थित अनेकों उत्पीड़न के बावजूद इसका प्रसार तेजी से हुआ। विद्वानों के मध्य अधिक प्रगति नहीं होने के कारण आम जनता की इसमें विशेष रुचि बढ़ी। चीन में प्रवेश के पूर्व भी बुद्ध मत ने अपने उन्नत स्वरूप को खोना शुरू कर दिया। यह विधि चीन में जारी रही। बुद्ध संन्यासी अक्सर अनभिज्ञ और अंधविश्वासी, बुद्ध धर्म के उच्च नैतिक उपदेशों का आदर करने में यदि वे उन्हें जानते भी थे, अक्षम होते थे। "कथित जनता के धर्म के बतौर यह ताओवाद से बहुत कम

भिन्न है, जिसके ईश्वरवाद को अपने स्वयं के मंदिरों को लोकप्रिय बनाने के लिए इसे लेना पड़ा। लोगों पर इसका प्रभाव मुख्यतः मृत्यु और समाधि के समारोहों और विश्वासों तक ही सीमित है।"[१२] दूसरी ओर ताओवाद ने बुद्धवाद से जितना पाया है, उतना अधिक मन की कल्पनाएँ उससे पूर्णतया अपना ली हैं। और इसके दोषों के बावजूद बुद्ध मत का चीन पर बहुत अच्छा प्रभाव भी हुआ है। "इसने देश को सुन्दर बौद्ध मन्दिरों से भर दिया है। इसने देशीय दृश्यपूर्ण बागवानी सिखायी है व शिल्पकला व पेंटिंग को प्रोत्साहित किया है। इसके प्रतीक सभी सजावटी कला में सामान्य हैं। प्रत्येक महल के द्वार पर सिंह दिखायी देता है, छत्र शाही और न्यायिक सत्ता का चिह्न है। गुलाब प्रत्येक उच्च अधिकारिक सरकारी वेषभूषा का अंग है, या था। स्वस्तिक पुनर्जन्म का जाल, कानून का चक्र––ये सब और अन्य प्रतीक उनके कपड़ों में अंकित हैं, लकड़ी की पच्चकारी में काटकर बनाये गये हैं और छत पर अंकित किए गए हैं।"[१३] सभी पुरोहित दोषपूर्ण या अनभिज्ञ नहीं रहे और अनेक कालों में बुद्ध मत ने शिक्षित समाज में बहुत-से अनुयायी पाये। परन्तु १९वीं शताब्दी में इस चित्र का अंधकारपूर्ण पहलू निश्चित रूप से अधिक ऊँचा था।

परिणामस्वरूप इसे भी ताओवाद की तरह आधुनिकता के आधार पर आलोचना और अस्वीकृति का सामना करना पड़ा, यद्यपि जनसाधारण में इसकी पैठ कायम रही। परन्तु ताओवाद के विपरीत इसने पुनः खोया स्वरूप पाने और पुनर्निमाण की शक्तियाँ दिखाना शुरू किया, जो कि उसे उसके विरुद्ध हो रही आलोचना के अधिकांश का सामना करने की और इस प्रकार फिर से चीनी जीवन में जीवन्त शक्ति के लिए सक्षम बना सकता था। ठीक जापान और श्रीलंका तथा अन्य देशों की तरह युद्ध के बाद के चीनी बौद्ध मत में बहुत शक्तिशाली सुधार आन्दोलन चला था। १९३१ तक इसने बहुत कम तरक्की की परन्तु इसका यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि इसका परिणाम सम्प्रदाय के पुनर्जीवित करने में नहीं निकलेगा। अंशतः बुद्ध धर्म के उपदेशों को कार्य में परिणत करने तथा ज्ञान के उद्देश्य से यह दार्शनिक रूप ले रहा था। इसका अर्थ था अंधविश्वासी तरक्की और वर्षों के संग्रह को काटकर रास्ता बनाना। वहाँ ईसाइयत का उसीके तरीकों पर सामना करने के लिए बुद्धमत की मिशनरी काररवाई भी विकसित हो गयी। युवकों की बौद्धवादी समितियाँ बनने लगीं और समाज-कल्याण-कार्य का आरम्भ होने लगा था। परन्तु समग्र रूप में जहाँ तक चीन का सम्बन्ध है, इस बात को मान्यता देनी चाहिए कि पुनः चेतनता लाने का कार्य १९३१ में केवल प्रारम्भिक अवस्था में था।

ईसाई-मत की भी कड़ी आलोचना कई आधारों पर हो रही थी। राष्ट्रवादी आन्दोलन के अंग के रूप में इसके विदेशीकरण के प्रभाव पर प्रहार किये जाते थे। इस तथ्य के कारण कि मिशन का कार्य अब तक विदेशी-राशि से संचालित एवं विदेशों से नियंत्रित

था इससे ईसाई-धर्म का संगठन उसे प्रधान रूप से परकीय के रूप में लोगों को दिखाता था। जिस सीमा तक ईसाइयत में धर्मान्तिरण करनेवाले सामान्य ग्रामीण जीवन से अलग खिचकर ग्रामों की सामान्य गतिविधियों में भाग नहीं लेने से और अपने हितों को चर्च या मिशन के आसपास केन्द्रित करने से वर्तमान शताब्दी में इस बात को और बल मिलता था। इसका यूरोपियनवाद के प्रभाव के विरोध के विकास से सम्बन्ध का प्रकारान्तर से उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु अधिक विशेषकर १९२३ के बाद मिशन के शैक्षणिक कार्य के उसके प्रधान रूप से विदेशी तत्त्व तथा चीनी जीवन की आवश्यकता को ग्रहण न करन के आधार पर आलोचना हुई। जिस समय चीन पर पश्चिमी राष्ट्रवादी दर्शन का आधिपत्य था, उस समय इसके अराष्ट्रीयकरण के प्रभाव के कारण उसे रोका गया।

ये आलोचनाएँ कम-से-कम आंशिक रूप से वैध थीं, इसे मिशन-क्षेत्रों और चीनी ईसाइयों में मान्यता दी गयी। इसने दो भिन्न, किन्तु निकट संबंधित आन्दोलनों को बढ़ावा दिया। एक था स्वतंत्र चीनी चर्च का विकास जो मोटे रूप से आत्म-निर्भर था और पूर्णतया स्वनियंत्रित था। प्रत्यक्ष रूप से सभी प्रोटेस्टेंट मिशनरी अन्ततः मिशनरी गतिविधियों के ईसाइयत के प्रचार के पक्ष को इस स्वदेशी चर्च को हस्तांतरित करने पर ध्यान दे रहे थे, यद्यपि इसे शीघ्रता से उन्हें देने के संबंधित मत पर मतभेद था। यह आशा की गयी कि इस प्रकार चर्च कुछ समय में मिशन के साथ केवल एक जुड़ी वस्तु नहीं रह सकेगा, मिशन जिसने कि उसे छोटा प्रस्तुत किया है। जैसे यह हुआ तो देशी ईसाई चीन में मुख्यतः चीनियों के सलाहकार के रूप में दिखायी देंगे। दूसरे स्थान पर, मिशन का नियंत्रण ही चीनियों को देने के लिए आन्दोलन चला था। यह वाय० एम० सी० ए० द्वारा पहले ही किया जा चुका था और यह केवल समय का प्रश्न रह गया, जब तक कि कई मिशन बोर्ड ईसाई-संघों के कदमों का पूरी तरह अनुगमन करते। जब यह किया गया चीन में ईसाइयत का राष्ट्रीयकरण हो जायगा, जैसा कि यह अन्य देशों में हुआ है। रोमन कैथोलिक जिनकी श्रेणी प्रोटेस्टेंट से काफी प्रमाण में ऊँची थी, स्वदेशी धर्मसत्ता की स्थापना की ओर बढ़ते प्रतीत हुए और परिणामस्वरूप चर्च के विदेशी नियंत्रण को कम करने की ओर। परन्तु स्वभावतः संगठन में मूलभूत मतभेद के कारण इस प्रकार की आलोचनाओं का सामना करने के उनके तरीके में प्रोटेस्टेंट के तरीकों से काफी भिन्नता थी।

शिक्षा के क्षेत्र में ईसाई-संस्थाओं द्वारा उनकी जो आलोचनाएँ की गयीं, उनसे प्रस्तुत समस्याओं का अध्ययन कर रहे थे। इसका परिणाम था पूरी समस्या को चीनी एवं विदेशी दृष्टि से देखने का प्रयास। चीन में ईसाई-शिक्षा के प्रश्न का विस्तृत अध्ययन १९२२ में इसके कार्य के लिए गठित मिशन-मण्डलों और समितियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले आयोग द्वारा १९२२ में किया गया। इस आयोग में कई चीनी सदस्य थे।

प्रतिवेदन में भूतकाल में किये गय शैक्षणिक कार्यों की तीखी आलोचना की गयी और भविष्य के लिए विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। इस अध्ययन से तथा अन्य कई संकेतों से यह स्पष्ट था कि ईसाई शक्षणिक कार्य का उन पर लगाये गये आक्षेपों का सामना करने के लिए पुर्निर्धारण हो रहा था।

बुद्धिवादी लोग ईसाइयत पर उसके विदेशवाद की अपेक्षा अधिक महत्त्व के सवाल पर आक्षेप कर रहे थे। वे इसका परीक्षण उस तरीके से कर रहे थे, जिससे कि अधिक स्वदेशीय पद्धतियों का करते थे, और उनमें कुछ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मिशनरी चीनियों को एक प्रकार के अंधविश्वासों के समूह को त्याग कर दूसरे समूह को स्वीकार करने में लाना चाहते थे। उनमें से कुछ नास्तिक थे, उससे कुछ अधिक प्रत्यक्षवादी और इस तरह वे ईसाइयत के विरुद्ध कई तर्क पुनः प्रस्तुत कर रहे थे, जो कि पश्चिमी देशों में सुने जाते थे। उनके आक्षेपों का सामना करने के प्रयास तथा कई मिशनरियों द्वारा उदार धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने से मैदान में कार्य करनेवाले कार्यकर्त्ताओं में परस्पर दरार पड़ गयी, ठीक उसी तरह जैसी कि अमेरिका के चर्च में पड़ी थी। इस प्रकार चीन में आधुनिकता में विश्वास करनेवाले आये, जो सामाजिक संदेश पर जोर देते थे और बाइबिल का उदार अर्थ लगाते थे और कुछ मौलिकतावादी थे, जो इस पर जिद करते थे कि चर्च का प्राथमिक कर्त्तव्य व्यक्तिगत उद्धार है। इस विभाजन ने साम्प्रदायिक रेखाओं की अवज्ञा की। अंत में यह उल्लेख किया जा सकता है, कि चीनियों ने कभी सम्प्रदायवाद को नहीं समझा अथवा उसकी अथवा प्रतियोगी ईसाई-मत की आवश्यकता का आदर नहीं किया। परिणामस्वरूप जो सही विकास होना था, वह था उदार और अनुदार विचारों के साथ स्वतंत्र चीनी चर्च जब तक कि प्रत्यक्षवादी विचार इतना व्यापक नहीं फैलते कि ईसाइयत को वास्तव में विलीन कर दें। बाद में यह असंभव प्रतीत हुआ। बीसवीं सदी की आलोचनाओं का मुख्य अन्तिम फल यही दिखेगा कि वह इसका ईसाई मत में रुचि रखने वाले विदेशी या चीनी को उनके विचारों के बचाव के लिए कुछ आधुनिक आधार खोजने के लिए बाध्य होना।

(९) चीनी कलाएँ और भवन-निर्माण-विद्या

अन्य क्षेत्र जिसमें नये विचार घुस आये और पश्चिमी प्रभाव अनुभव किया जाने लगा, यद्यपि १९३१ तक, वह था कला का क्षेत्र। पूर्व-आधुनिक काल में उच्च कलात्मक विकास उल्लेखनीय रूप से पेंटिंग में हुआ था। अन्य का संबंध धार्मिक विषयों से था, जो दोनों बौद्ध और ताओ मतों के शक्तिशाली प्रभाव को दिखाते थे। भावना की उच्चता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था और उसकी ध्वनि पर न कि उसे पुनः प्रस्तुत करने

की टेकनिकल यथार्थता पर। चीनी कला के पूर्ण प्रवाह में से प्रतीकवाद का एक सबल प्रवाह दौड़ गया था। चित्रों को "आवाज रहित कविताएँ" समझा जाता था। वे पश्चिमी कला की अपेक्षा अधिक निकटता से कविता के स्तर की पुष्टि करते थे। उसके चुने क्षेत्र में और उसकी मर्यादाओं में निश्चयात्मक रूप से चीनी कला उतनी उच्च विकसित थी, जितनी कि यूरोपीय कला। पश्चिमी दृष्टिकोण से मुख्य कमजोरी उसके स्वरूप में और टेकनिकल यथार्थता में थी। वैज्ञानिक ज्ञान टेकनिकल यथार्थता को हटाने की ओर बढ़ेगा विशेषकर चित्रकला के क्षेत्र में, जबकि पश्चिम में अध्ययन करने और पश्चिमी कला का अध्ययन करने से स्वरूप की कल्पना को लाने में सहायता होगी। तथापि, समग्र रूप से, पश्चिम के साथ सम्पर्क चीनी कला के लिए लाभकारी नहीं था। स्वदेशीय कला के उत्तम गुणों को खोकर मुआवजे के रूप में स्वरूप-चित्रण और यथार्थता के रूप में जो प्राप्ति हुई, वह अपेक्षाकृत अधिक थी। पश्चिमी गुण चीनी गुणों के प्रधान रूप से परिपूरक हैं, परन्तु दोनों को मिलाने के प्रयास से आरम्भ में दोनों के लाभों को कुछ क्षति हुई।

यही बात भवन-निर्माण-कला के विषय में सही थी। पुरानी शैली के भवन समरूपता की दृष्टि से बहुत नीरस थे, परन्तु वे स्पष्ट रूप से चीनी थे। प्रमुख विशिष्ट बात थी छत जिसके छोर ऊपर की ओर घुमावदार और विस्तृत सजावट वाले होते थे। "विदेशी शैली" के भवनों का आरम्भ कुछ समय तक शुद्ध नकल थी, उससे बिना किसी विशिष्टता के भवन बनने लगे, सिवाय इसके कि जो वातावरण के साथ एकरसता की कमी के परिणाम थे। कुछ प्रयास, जो कि अंशतः विदेशी शिल्पकारों द्वारा पश्चिमी और चीनी विचार-धाराओं को एकरस सम्मिलन निकालने के लिए हुए, अंशतः सफल हुए। वे इस बात का संकेत करते थे कि पश्चिमी कल्पनाओं को आरम्भ करने का अन्तिम परिणाम अच्छे निर्माण करने में अनुत्पादक नहीं होगा।

यूरोप और अमेरिका में युद्ध वाद के वर्षों में स्पष्टतः चीनी वस्तुओं के फैशन ने पश्चिम का आँख मूंदकर नकल करने को रोका और परिणामस्वरूप चीनी कला को कायम रखने में मदद की। कुछ समय तक एक गंभीर खतरा था कि नयी कला विशिष्ट रूप से चीन के विकास के स्थान पर पुरानी कला से नयी पर पूर्ण वेग से घूम जायगी, क्योंकि वह पुरातन पर आधारित, तिस पर नयी थी, क्योंकि वह पश्चिम से ज्ञान के योगदान के प्रकाश में सुधारी गयी थी।

(१०) नाटचगृह और मनोरंजन

चीनी नाट्यगृह पर पश्चिम से आये विचारों के प्रवाह का अधिकतर लाभकारी प्रभाव हुआ, यद्यपि सुधार मुख्यतः अपरिपक्व कहे जाने वाले क्षेत्र में ही दृष्टिगोचर था।

नाट्यगृह की कला, जहाँ तक मंच की सेटिंग अथवा न्यूनताओं का संबंध है, वह उसी स्थिति में था, जहाँ तक एलिजाबेथ-काल का इंग्लैण्ड था। न तो परदे का उपयोग होता था और न ही मंच के सेट्स तैयार होते थे। सम्पत्तिशाली व्यक्ति मंच पर दर्शकों को पूर्ण दिख सके ऐसा प्रस्तुत कर दिया जाता था और इस प्रकार वह खुले रूप में अपना कार्य करता था। गंभीर किस्म के नाटक, बहुधा ऐतिहासिक नाटक, अभिनीत किये जाते थे और कई विस्तृत प्रहसन भी प्रस्तुत किये जाते थे। दोनों मामलों में भ्रमजाल पैदा करने का भार पूर्णतया अभिनेता और श्रोता पर होता था, चूँकि पश्चिमी श्रोताओं को प्रस्तुत किये जाने वाले साधनों का अभाव था। परन्तु व्यावसायिक नाट्यगृहों का अभिनय उत्कृष्ट था, क्योंकि वहाँ निर्माण के लिए बहुत स्वाभाविक योग्यता रहती थी और मंच पर आने की अनुमति के पूर्व अभिनेताओं को बहुत सख्त प्रशिक्षण में से होकर निकलना पड़ता था।

पश्चिम से जो योगदान मिला वह था नाटक-प्रस्तुति के यांत्रिक पक्ष का और नाट्य विषयों के विकास का जो चीनी नाट्यगृह के लिए नये थे। इसके अलावे पश्चिमी प्रभाव ने पारस्परिक छोटी दिलचस्प कथाओं की लम्बी श्रृंखला के स्थान पर संगठित कथानक के दो अंकों में बँटे नाटक के प्रदर्शन को प्रोत्साहित किया। विदेशों में शिक्षित विद्यार्थियों में ही पश्चिम के नाट्य-साहित्य के प्रति रुचि थी और चीनी मिडिल स्कूलों और कालेजों में पश्चिमी तरीके से नाटक लिखने एवं प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया। यह अपने-आप में रुचिकर था, क्योंकि पिछले समय के चीनी विद्वान् नाट्यगृह को अपनी गंभीर रुचि के अन्तर्गत मानते थे। स्कूलों में प्रस्तुत होनेवाले नाटकों में यदि अभिनीत करने की कठिनाइयों का स्मरण किया जाय तो कई काफी अच्छे थे और अभिनय और भी अधिक अच्छा था।

सिनेमा चित्र जो कि पूर्णतया पश्चिमी नवीन पद्धति थी, संधिपत्र द्वारा व्यापार के खोले गये बन्दरगाहों पर आरम्भ हुआ और कुछ सीमा तक उनके बाहर। प्रस्तुत मनोरंजनों में जैसे वाय० एम० सी० ए० द्वारा यह अधिक रुचिकर प्रकार का था। चित्र स्वयं आंशिक पश्चिमी थे और समग्र रूप में चीनी पश्चिमी जीवनको तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने की कोशिश करते थे, विशेषकर जहाँ तक यौन संबंधों का प्रश्न था। १९१९ के बाद चीनी प्रोड्यूसर कंपनी बन गयी और स्वदेशी उत्पादन ने अधिक महत्त्वपूर्ण होने का वचन दिया। कुछ समाचारों, दृश्यों के और शैक्षणिक चित्रों के विस्तृत प्रभाव को मान्य करना चाहिए, क्योंकि सिनेमा चित्रों ने पश्चिमी सभ्यता के भौतिकवादी पहलुओं को निगाहों के सामने और स्थानापन्न तौर पर चीनियों के अनुभवों में लाने के लिए आश्चर्यजनक अवसर प्रदान किया।

अन्य दृष्टि से पश्चिम के साथ सम्पर्क ने चीनियों के जीवन को बदल दिया, विशेषकर

शिक्षित गुट के जीवन को उसके मनोरंजक पहलू से। अध्ययन में रत कन्फूशियस विद्वान् ने युवक या मनुष्य के बतौर किसी प्रकार का शारीरिक व्यायाम नहीं अपनाया। बहुत अधिक उसने जो किया, वह था छोटे कदमों का विचारमग्न टहलना। विदेशी अपने साथ अपने खेलकूद और खेल लाया, जो कि चीनियों ने स्कूलों में अपनाने आरम्भ कर दिये। टेनिस, बास्केटबाल, फुटबॉल और मैदानों की दौड़ या स्पोर्ट्स ने १९२० तक काफी रुचि व ध्यान आर्कषित किया। वाय० एम० सी० ए० ने स्कूलों में दौड़ व कुश्ती की कला लागू करने में प्रमुख पार्ट अदा किया और वहाँ से लौटकर विद्यार्थियों ने भी अपना प्रभाव डाला। चीनी मैदानी प्रतियोगिताएँ स्थानीय व क्षेत्रीय स्तर पर आयोजित हुईं और जापान, फिलिपाइन द्वीपों के साथ एक बार आयोजित सुदूर पूर्व ओलंपिक में उक्त देशों के प्रतिनिधियों के साथ चीनी खिलाड़ियों ने सफल प्रतियोगिता की।

इस परिवर्तन का अभिप्राय तब अनुभव हो सकता है, जब नयी गतिविधियाँ विद्वानों की गतिविधियों से की जायँ, जो इस पर आश्चर्य करते थे कि असभ्य विदेशी ने उसके लिए ये सब बातें करने के लिए एक नौकर क्यों नहीं रख लिया। १९३१ के विद्यार्थियों को शारीरिक स्वास्थ्य की महत्ता रखनी सिखायी गयी, जो बात क्रांति के पहले नहीं थी। उन्होंने शरीर के साथ मस्तिष्क का आदर करना सीखा और उसका ध्यान रखना आरम्भ कर रहे थे। अनुमान द्वारा इसका अर्थ यह भी था कि उन्हें कुछ शरीर विज्ञान और उसके साथ सफाई का ज्ञान दिया जा रहा था। अन्ततः इसका अर्थ था चीनी रहन-सहन की स्थिति में रूपान्तरण।

शरीर-विज्ञान और सफाई में रुचि, वास्तव में केवल खेलकूद में रुचि बढ़ने मात्र से नहीं थी। यह आधुनिक चिकित्सा-ज्ञान के प्रसार के कारण भी अधिक था, क्योंकि चिकित्सा-शिक्षा का पश्चिमी प्रभाव के अंतर्गत सुधार और आधुनिकीकरण हो रहा था। तथापि दोनों मिलकर अधिक पुष्ट विद्यार्थी व विद्वद्-वर्ग के निर्माण और रहन-सहन की परिस्थितियों में सुधार की ओर उन्मुख थे, यद्यपि दूसरी बात लगभग सूक्ष्म रूप में ही थी।

यह सही है, कि जो आन्दोलन और परिवर्तन उल्लिखित हैं, उन्होंने उच्चवर्ग को ही प्रभावित किया और अधिकांश व्यक्ति आमतौर पर उनसे अछूते थे। इससे विदेशी को अपनी महत्ता व अभिप्राय को घटाना पड़ा। इतना ही नहीं, परन्तु इससे उनमें कुछ तो विद्यार्थी-वर्ग की आलोचना करने लगे, क्योंकि वही उत्तेजना में दिखायी देता था, और देशवासियों द्वारा अब तक पहनी जा रही वेशभूषा की अवहेलना करता दिखता था। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि चीन में विद्यार्थियों की हमेशा एक विचित्र प्रतिष्ठा और महत्त्व रहा है। यदि वे चले गये हैं, लोग भी अंततः चले गये हैं। बहुत समय तक वे शक्तिशाली अनुदार-वादी और चीनी राज्य में विदेशी प्रभाव के विरोधी रहे हैं। १९१७ के बाद उन्होंने

हटना आरम्भ किया और तेजी से हटे। उनके कई विचार अपरिपक्व थे; असभ्य तरीके से रखे गये थे, यह स्वीकार किया जा सकता है। कन्फूशियन संयम की तुलना में वे अनुशासनहीन थे और अपने नये ज्ञान की शक्ति में वे अंशतः आवश्यकता से अधिक दृढ़ता वाले थे।

परन्तु उनमें अधिकांश आलोचना की जड़ इस तथ्य में निहित थी कि उन्होंने पश्चिम से आये विचारों और उनके स्वयं के जीवन को तर्कपूर्ण ढंग से देखना आरम्भ किया—. उदाहरण के लिए ये कल्पनाएँ थीं राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र। इसी बीच उन्होंने पश्चिमी संस्थाओं, विश्वासों व पुरानी रीतियों को तार्किक दृष्टि से देखना शुरू किया। उन्होंने पश्चिम से वैज्ञानिक विधि की प्रामाणिक जाँच की, उसको भावना के साथ पाया था और उसी का उपयोग करना आरम्भ कर रहे थे।

यह किस ओर ले जायेगा यह निश्चित रूप से कहना असंभव है। तीन दशाब्दियों में यह बौद्धिक द्वन्द्व की ओर ले गया था। निश्चिततः १९३१ तक चीन शक्तिहीन और गतिहीन नहीं रह गया था। वह बौद्धिक और सामाजिक जीवन के गतिमान दौर में प्रविष्ट हो चुका था।

चौदहवाँ अध्याय

जापान की बौद्धिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति

जापान की सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति पर विचार आरम्भ करने के पूर्व, यह अच्छा होगा कि परिवर्तनशील विचारों तथा सामाजिक संस्थाओं द्वारा निर्मित व्यापक पृष्ठभूमि को चित्रित किया जाय। चूँकि सांस्कृतिक दृष्टि से जापान संक्रमण की स्थिति में है, अतः यह निश्चित स्वरूप में तो नहीं हो सकता। विकास की धाराएँ मोटे तौर पर काफी स्पष्ट हैं, अतः उनसे ही अच्छी खासी शुरुआत हो सकती है।

(१) नेतृत्व पर विश्वास

यह स्पष्ट है, कि मीजी जापान वैसा ही है, जैसा कि योग्य व्यक्तियों के गुट ने, जिन्होंने सत्ता हस्तगत कर पुनर्नवीकरण के बाद उसे बनाना चाहा। उनकी एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने में रुचि थी—जो पश्चिमी आक्रामक प्रवृत्तियों के मुकाबले अपनी स्वतंत्रता कायम रखने में समर्थ हो और पूर्वी एशिया में प्रभुत्वपूर्ण रोल अदा कर सके। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने पश्चिम से वे चीजें खुली तौर उधार लीं, जिनके विषय में उन्हें महसूस हुआ कि वे राज्य की सुदृढ़ नींव डाल सकेंगी। प्रथमतः उन्होंने पश्चिमी फौजी तथा नौसेना के शस्त्रास्त्रों तथा तरीकों का आयात किया। यह सही है, कि यह राष्ट्रीय सैनिक-परम्परा के अनुकूल था, परन्तु यह वर्तमान विश्व में वास्तविक स्वतंत्रता के आधार पर, अनुभवों एवं पर्यवेक्षणों से विकसित एक तीखी समझदारी का परिणाम भी था। उन्हें कृषि की कमजोरी का ज्ञान हुआ तथा उन्होंने पश्चिमी मशीनों व मॉडलों को प्राप्त कर जागरूकता व कार्यशीलतापूर्वक आधुनिक उद्योगों के विकास में तेजी लायी। इससे वर्तमान बैंकिंग तथा मुद्रा-पद्धति प्रस्थापित हुई, रेलवे का निर्माण हुआ, तथा दोनों प्रकार के सामुद्रिक व्यापार—अनुतटीय व विदेशी व्यापार—की उत्पत्ति हुई। पश्चिमी सरकारों तथा पूँजीवादियों के लिए यह आवश्यक नहीं था, कि इन उपायों को जापान पर जबरन थोपते। विदेशी मेलजोल को स्वीकार करने व पुनःस्थापना के बाद देश के नेतागण परीक्षण अथवा जानकारी प्राप्त करने हेतु विदेश गये अथवा भेजे गये। जिस बात को वे सीखना चाहते थे, उसके लिए विदेशियों को खुले-आम अपने देश में लाये और

उन्ह तब तक यहाँ रखा जब तक कि उनके शिक्षण की आवश्यकता महसूस हुई। हालाँकि इस पर जोर दिया जाना चाहिए कि पश्चिमी देशों में उनकी रुचि व्यापक तौर पर भौतिक और प्राय: पूरी तरह उपयोगितावादी ही थी। फलस्वरूप वे पश्चिमी देशों की औद्योगिक-व्यवस्था के सामाजिक आशय को समझने में असफल रहे। तत्त्वत: कुछ अपवादों को छोड़कर, जिनका कि उल्लेख किया जायेगा, जापान में ऐसे नैतिक और दार्शनिक तत्त्व लाने का भार पश्चिम पर छोड़ दिया गया, जैसे कि पूर्व की जनता को प्रदान करने के लिए उसके पास थे, जब कि अपने लिए पश्चिम के मशीनी व भौतिक लाभों की ही खोज में रहा।

वर्तमान जापान का निर्माण करने के लिए राज्य के नेताओं को कुछ सामग्रियों व कुछ नींवों का निर्माण करना था। उन्हें ऐसे लोगों से व्यवहार करना था जो नेतृत्व के अभ्यस्त व उससे संतुष्ट थे। सामंतशाही व्यवस्था के साथ विकसित वफादारी धर्मसत्तात्मक शृंखला जारी रही। पुन: स्थापना के बाद के प्रचार से वंशगत गुटों की वफादारी को सम्राट् के प्रति निष्ठा के रूप में केन्द्रित करना और उसके जरिये उन्होंने जो भी परिवर्तन या विकास कार्यक्रमों का शुभारम्भ किया, उसके लिए समर्थन हस्तगत करना संभव हो गया। राष्ट्रीय धर्म के रूप में शिन्टो के पुनरुत्थान ने नयी व्यवस्था को, जिसका वे निर्माण करना चाहते थे, अतिरिक्त सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त उन्हें देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण नहीं करना पड़ा, जैसा कि चीन में करना पड़ा था। सामंती वफादारी सम्राट् के प्रति वफादारी में परिवर्तित कर दी गयी। सम्राट् के प्रति वफादारी आप-ही-आप नये राज्य के प्रति वफादारी में परिवर्तित हो गयी, क्योंकि सम्राट् और राज्य संगठनात्मक दृष्टि से एकीकृत थे।

(२) लोगों के जीवन में परिवर्तन

नेतृत्व की इस स्वीकृति से जापान के लिए यह सम्भव हो गया कि वह तेजी से पश्चिमीकरण का स्वरूप लेने लगा। इसी के कारण जापानियों की विदेशियों के प्रति जो शत्रुता की भावना थी, वह बहुत जल्दी बदलने में और बहुत अर्थों में विदेशियों की अनेक बातों को पूर्णतया स्वीकार करने में सहायक हुई। क्योंकि लोगों ने उनके सम्मुख उपस्थित उदाहरण का अनुगमन किया और विदेशियों का बहुत विषयों में विदेशी दुनिया का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। यहाँ फिर, उन्होंने पश्चिम के विचारों, नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों की अपेक्षा भौतिक वस्तुओं में रुचि लेने की ही परवाह की। शहरों में जापानी सैंडल और गेटा का स्थान पश्चिमी जूते लेने लगे। जापानी किमोनो के स्थान पर पश्चिमी कपड़े बहुत अधिक मात्रा में पहने जाने लगे। कोट और पैंट या स्कर्ट के साथ ही पश्चिमी फर्नीचर भी प्रविष्ट हो गया। राष्ट्रीय भोजन में मांस और दूध का

स्थान हो गया। आंशिक रूप से नयी सैनिक भर्ती में भोजन में मांस को स्थान देने से मांस का राष्ट्रीय भोजन में स्थान हुआ। मांस के कारण चावल खाने की जापानी सींकों के स्थान पर या उनके साथ-साथ छुरी-काँटों का प्रयोग भी शुरू हो गया। पश्चिमी घड़ियों की तरह बिजली भी सामान्य उपयोग की वस्तु बन गयी। परन्तु पश्चिम के स्वतंत्रता, समानता तथा नैतिकता आदि सिद्धान्त इतने मुक्त रूप से लाये अथवा अपनाये नहीं जा सके।

आंशिक रूप से यह परिवर्तन पुनर्नवीकरण के एक वर्ष बाद की अवधि में विदेशी वस्तुओं के फैशन के कारण भी हो सकता है। यह फैशन राष्ट्रीय उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आधुनिक जापान के निर्माताओं ने आरम्भ किया था। परन्तु अंशतः यह और भी कारणों से भी था ! उदाहरण के लिए, विदेशी कपड़े कुछ कम खर्चीले सिद्ध हुए, विशेषकर उच्च वर्ग, महिलाओं और बालकों के लिए। कुछ विशेष प्रकार के कार्यों के लिए वे अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते थे। दूसरे शब्दों में मूल पहनावे की दृष्टि से उसकी जो कमजोरी थी, वह अतिरिक्त उपयोगिता से पूरी हो गयी। यद्यपि विदेशी पहनावा काम की दृष्टि से स्वीकार कर लिया गया था, तो भी पुरानी वेशभूषा घरों में अकसर पहनी जाती थी, उन घरों को छोड़कर जिनका आंतरिक रूप से विदेशी फर्नीचर के अपनाने से विदेशीकरण हो गया था। विदेशी तरीके की वेशभूषा का सेना तथा नेवी में, जिसमें अधिकांश नवयुवक प्रभाव में आते थे, अंगीकार किया जाना, एक समान वर्दी के रूप में स्कूल के वच्चों के हेतु वेश की आवश्यकता, तथा उन लोगों द्वारा विदेशी कपड़ों का प्रयोग जो पढ़े-लिखे हैं अथवा विदेशों में व्यापार में लगे हैं, ये सब तथ्य राष्ट्रीय वेशभूषा में परिवर्तन के कारण थे।

विदेशी कपड़े परम्परानुसार जमीन पर पल्थी मारकर वैठने में अनुकूल नहीं लगते। स्वाभाविक रूप से वेश में परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि स्कूलों में कक्षाओं में बेंचें, तथा टेबल, कुर्सी और अन्य पश्चिमी फर्नीचर उनके घरों में या व्यापारिक स्थानों में काम में आने लगा, जिन्होंने वेशभूषा में परिवर्तन किया था। यह परिवर्तन और भी हुआ क्योंकि स्वयं घर ही पश्चिमी स्टाइल का था।

फिर, जहाँ ठंड में घर के वाहर पहनने में जापानी कपड़ों की अपेक्षा विदेशी कपड़ों के कुछ अधिक लाभ हैं, वहाँ वे गद्दी में या घर की गर्मी का स्थान लेने के लिए वहुत अधिक कपड़े धारण करने में अनुकूल नहीं होते। इसलिए कोयले की अँगीठी की जगह स्टोव का प्रयोग आरम्भ करना जरूरी है, जो केवल हाथ ही गरम करने के लिए उपयोगी है।

यह केवल एक उदाहरण है, कि किस प्रकार लोगों की पोशाक और रीति-रिवाजों में परिवर्तन आरम्भ होता है। हलचल की अधिक स्वच्छंदता रेलवे और ट्राम की लाइनों के निर्माण के साथ आयी। दोनों का आयात पश्चिम से हुआ, जिनका पुरानी

संस्थाओं और रीति-रिवाजों को तोड़ने या परिवर्तित करने में भी प्रभाव हुआ। तो भी विकसित यातायात साधनों की महत्ता, व्यापार को सुविधाजनक बनाने को छोड़कर, अधिक नहीं थी, जैसी कि वह चीन में अंततः होगी, क्योंकि दोनों के आकार में अंतर है, और क्योंकि १९वीं शताब्दी के चीन की अपेक्षा पुराने जापान में पर्यटन की प्रवृत्ति अधिक थी। तथापि यह जनसंख्या को एक जगह से उखाड़कर उसे अधिक चलायमान बनाने में, और परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के स्थानीय नियंत्रण को कमजोर बनाने में प्रवृत्त हुई।

(३) शिक्षा

विश्व से एक और विचार लाया गया और वह था राष्ट्रीय स्कूल-पद्धति और अनिवार्य शिक्षा। वर्तमान स्कूलों की स्थापना और प्रसार का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।[१] यहाँ तो शिक्षण-पद्धति पर राष्ट्र के बौद्धिक जीवनमें महत्त्व की दृष्टि से पुर्नविचार करना चाहिए। १८९४–१८९५ के चीन से महायुद्ध के बाद सभी श्रेणी के स्कूलों की संख्या बढ़ी। स्कूल में अनिवार्य उपस्थिति की अवधि १९०८ में बढ़ाकर ४ वर्ष से ६वर्ष कर दी गयी। जिनपर स्कूल में उपस्थित होने का बंधन था, उनकी तुलना में वास्तव में स्कूलों में बच्चों की संख्या प्राथमिक स्कूलों की सुविधाओं के प्रसार के साथ बढ़ने लगी। १९२२ तक बच्चों की उपस्थिति शत-प्रतिशत से जरा ही कम थी। स्वतंत्र रूप से अथवा अत्यधिक विकसित पश्चिमी राज्यों की तुलना में, दोनों दृष्टि से इस संख्या का विलक्षण रिकार्ड स्थापित हुआ। यदि इसमें लगे समय पर विचार किया जाय तो यह और भी अधिक विलक्षण था। स्वभावतः विकास की तीव्र गति के कारण पद्धति में कुछ दोष थे। बहुसंख्यक प्राथमिक स्कूलों के लिए आवश्यक शिक्षकों को पर्याप्त प्रशिक्षण देना सम्भव नहीं था। जो व्यापक कार्यक्रम अपनाया गया था उसको दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा हेतु धनराशि अपर्याप्त होने से शिक्षकों को कम वेतन का निर्णय करना पड़ा और अत्यधिक विकसित पश्चिमी स्तर की माप में पूर्ण संतोषजनक उपकरण उपलब्ध कराना असंभव हो गया। प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों का व्ययभार आंशिक रूप से स्थानीय सरकारों को सौंपा गया, राष्ट्रीय खजाने से १९२९ में शिक्षा पर व्यय १५ खरब था। शिक्षा-पद्धति के व्यय में सहायता हेतु निर्धनों को छोड़, सभी छात्र थोड़ी फीस देते थे, इसके अलावे वे अपनी पुस्तकें भी खरीदते थे। इन पुस्तकों की पूर्ति व्यापारिक संस्थाओं की अपेक्षा सरकार ही करती थी।

प्रारम्भिक स्कल की अध्ययन-सूची में "जापानी इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, ड्राइंग, गायन, व्यायाम, लड़कियों के लिए सिलाई, बालकों के लिए श्रम-प्रशिक्षण,

तथा प्राथमिक कोर्स के अंतिम तीन वर्षों में कृषि, वाणिज्य तथा अंग्रेजी की शिक्षा को स्वीकार किया गया।"[२] स्कूल में कार्य के घंटे बहुत थे, छुट्टियाँ बहुत कम थीं, तथा शिक्षक और विद्यार्थी शिक्षा के काम को गंभीरता से करते थे।

माध्यमिक शालाओं के लिए, जो आवेदन करते थे, उनमें से आधे को ही स्थान दिया जा सकता था, और जहाँ तक ऊँची शिक्षा का सवाल है, यह अनुपात और भी घटता जाता था। अतः केवल प्राथमिक शिक्षा ही ऐसी थी, जो प्रत्येक जापानी की पहुँच के भीतर-भीतर थी। इससे आगे अवसर सीमित थे, क्योंकि सरकारी नौकरी, बैंकों और वाणिज्य-गृहों, शिक्षा के धंधों के स्थान उनके लिए ही खुले थे, जिनके पास आकर्षक डिप्लोमा होते थे। मिडिल तथा माध्यमिक शिक्षा के लिए अवसर प्रदान किये गये थे, तथापि वे गैरसरकारी संस्थाओं में, जो कि शासकीय गतिविधियों की परिपूरक थीं। गैरसरकारी स्कूलों में बहुत से ईसाई स्कूल थे, यद्यति कुछ धर्म-निरपेक्ष थे, जिन्हें देशीय धर्मादा-संपत्ति का सहयोग था। सभी सरकार की देखरेख के अंतर्गत रखे जाते थे और यदि अपने डिप्लोमा का प्रत्यक्ष मूल्य उन्हें बनाना है, तो उन्हें शासकीय आवश्यकताओं की पुष्टि करनी होती थी। उनकी तुलना शासकीय संस्थाओं से हो सकती थी, और कई अर्थों में वे उच्चतर स्तर भी रखते थे।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण के बाद हम मौलिक प्रश्न पर जा सकते हैं, कि जनता के बौद्धिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रसारित शिक्षा का क्या प्रभाव था। क्या हमें इस वक्तव्य में उल्लेखनीय अपवाद मिलता है, कि आधुनिक जापान की, अधिकतर बड़े रूप में, या अनन्य रूप से आधुनिक जीवन के भौतिक पक्ष में ही रुचि थी, और इस तुलना में विचारों की दुनिया, और नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों में रुचि नहीं थी ?

सर्वप्रथम इस पर ध्यान रहना चाहिए कि यह दृष्टिकोण पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया था कि शिक्षण राज्य के कार्य के लिए होना चाहिए न कि व्यक्ति की मुक्ति के लिए। यही भाव समाहित हो गया और प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालय तक सम्पूर्ण पद्धति को इसी स्वरूप में समाहित कर लिया। स्वीकृत दृष्टिकोण के अनुसार राज्य को उनकी आवश्यकता थी, जो उसके प्रति तथा उसके प्रस्थापित संस्थानों के प्रति वफादारी से ओतप्रोत थे। परिणामस्वरूप प्राथमिक स्कूल की शिक्षा में एकछत्र वफादारी के विकास पर ही पूरा ध्यान केन्द्रित था। उदाहरणार्थ जापानी आचारशास्त्र की शिक्षा, व्यावहारिक रूप में सम्राट् के प्रति वफादारी में वृद्धि, जापान के प्रति निष्ठा में वृद्धि तथा सत्ता की शक्तिमत्ता की स्वीकृति ही था। तथापि यहाँ उसी विचार का प्रसार पुत्रीय दया या आज्ञाकारिता को भी जोड़ देना चाहिए। प्राथमिक जापानी गुण है, घर तथा राज्य के प्रति आज्ञाकारी होना। इस बात पर बल ने कार्य की एकता को सत्तावाद के

आधार पर विकसित किया, परन्तु इसने व्यक्तिवादिता बढ़ने तथा मस्तिष्क की शंका उठाने की प्रवृत्ति को पैदा होने से रोका।

अन्य सभी विषय अपनी विषय-वस्तु की सीमा में उसी आधार पर पढ़ाये जाते थे। चूँकि पाठ्यपुस्तकें राष्ट्रीय शिक्षा-विभाग द्वारा तैयार की जाती थीं, देश भर में, पढ़ाई में विषय-वस्तु की अनेकता की सम्भावना बहुत कम थी। तैयार की जानेवाली पुस्तकों में जापानी राष्ट्र पर अधिक जोर दिया जाता था, जो सीधा और सुस्पष्ट था। दूसरे स्थान में संगीत और संभवतः ड्राइंग को छोड़कर, राष्ट्रवादिता के आधार पर नहीं आनेवाले उपयोगितावादी विषय आते थे और उनका उद्देश्य राज्य की भौतिक नींव को सुदृढ़ करने के लिए होता था। प्रारम्भिक श्रेणी में यह स्वाभाविक और अपरिहार्य था। पढ़ना, लिखना और गणित तथा भूगोल मिलकर निश्चित रूप से ऐसे आवश्यक औजार हैं, जिन्हें प्रत्येक नागरिक के हाथ में दिया जाना चाहिए। और औजारों में पारंगत हो पाना पश्चिमी देशों की तुलना में जापान में अधिक कठिन था, क्योंकि इसका कारण था भाषा के विकास का तरीका, तथा साहित्यिक वंशपरंपरा, जिसमें चीनी-चरित्र का ज्ञान आवश्यक होता था और चूंकि उच्च कोटि के चीनी साहित्यिक लेखन का मिडिल स्कूल के पाठ्यक्रम के रूप में अध्ययन करना होता था। इस प्रकार के अध्ययन के परिणामों का अन्यत्र उल्लेख किया गया है, अतः इस पर यहाँ अधिक कहना आवश्यक नहीं हैं।

तथापि विश्वविद्यालयों सहित माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा के इस उपयोगितावादी स्वरूप का अधिक नाम था। यांत्रिकी तथा वाणिज्य-स्कूलों का स्वाभाविकतया वही स्वरूप था। टोकियो-विश्वविद्यालय में कानून, मेडिसिन, साहित्य, विज्ञान, इंजिनियरिंग तथा कृषि फैकल्टी सन्निहित थीं। फैकल्टी की संख्या के अंतर से इसी प्रकार की स्थिति अन्यत्र थी। अनेक धंधों व कार्य में राज्य की सेवा करने के लिए आवश्यक अधिकाधिक तैयारी करने का अवसर प्रदान किया जाता था और इसी प्रकार, वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वयं के लिए कैरियर बनाने के लिए तैयारी का अवसर प्रदत्त था। आधुनिक जापानी समाज के लिए वकीलों, डॉक्टरों, इंजिनियरों, प्रशिक्षित कृषकों की आवश्यकता थी, जैसी कि बैंकरों, यांत्रिकों तथा वाणिज्य और व्यावसायिक क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों की थी। परन्तु साहित्य तथा ललित कला के बाहर मानव-शास्त्रों में अध्ययन का कोई प्रोत्साहन नहीं था। अपने देश की सीमा के बाहर किसी भी दर्शन के अध्ययन में जिसमें कन्फूशियस की परम्परा में सुसज्जित दर्शन भी शामिल है, के अध्ययन का अथवा सामाजिक विज्ञानों में अध्ययन व खोज के लिए कोई तीव्र प्रोत्साहन नहीं था। जहाँ तक संभव था, सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति में से ऐसी बात निकाल दी जाती थी, जिसका फल "खतरनाक विचार" का विकास या आरम्भ निकले और जो छात्रों के अथवा जनता के राजनीतिक और सामा-

जिक दृष्टिकोण को बदलनेवाले हों। प्राकृतिक तथा भौतिक विज्ञान और प्रयुक्त अर्थशास्त्र का अध्ययन और खोज संतोषजनक रूप से तैयार हुआ था, जिसका परिणाम यह था कि जापानी स्कूलों ने इन क्षेत्रों में योग्य और अच्छे प्रशिक्षित व्यक्ति पैदा किये थे। परन्तु राज्य और सामाजिक संस्थाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का तरीका विकसित नहीं हुआ। यह काफी सत्य है कि यह अनुभव किया गया कि उस प्रकार के अध्ययन और खोज से कम जिज्ञासु और अधिक छिद्रान्वेषी भावना पैदा होगी तथा शायद आगे चलकर यह विचार स्वीकार करने की ओर बढ़े कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की सेवा के लिए है, न कि व्यक्ति से सेवा कराने के लिए। इस तरह यह कहा जा सकता है, कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण तथा "खतरनाक विचार" के भय द्वारा निर्धारित तुलनात्मक दृष्टि से संकुचित मर्यादा को छोड़कर शिक्षा जापान में सक्रिय बौद्धिक जीवन की अभिवृद्धि करने में प्रभावकारी एजेंसी नहीं थी।

(४) महिलाओं का समाज में स्थान

बीसवीं शताब्दी के प्रथम ३० वर्षों में विकास का उल्लेखनीय लक्षण था, महिलाओं व लड़कियों की शिक्षा की ओर तथा उनके लिए कार्य के विभिन्न क्षेत्रों का विकास करने की ओर ध्यान दिया जाना। पहले महिलाओं का स्थान एकमात्र घर में ही समझा जाता था, बौद्धिक शिक्षण के अर्थ में शिक्षा मोटे तौर पर उनके लिए नहीं होती थी। तथापि, प्राथमिक स्कूल लड़के और लड़कियों दोनों के लिए, संस्थाओं के पृथक् पृथक्करण के बिना खुले रहते थे। पुनर्नवीकरण के कुछ समय बाद तक महिलाओं की उच्च शिक्षा के लिए कोई शासकीय प्रविधान नहीं किया गया था, यद्यपि १८७१ में विभिन्न उम्र की ५ लड़कियाँ प्रशिक्षण के लिए अमेरिका भेजी गयी थीं। यह समझा जाता था, कि वहाँ से लौटकर वे महिला-वर्ग में शिक्षा के प्रसार में अपनी पूरी शक्ति समर्पित कर देंगी। ईसाई-मिशनों के कार्यकर्ताओं ने सर्वप्रथम महलाओं को उन्नत प्रशिक्षण के लिए सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य हाथ में लिया और उन्होंने बहुत बहुमूल्य सेवा प्रदान की। तत्पश्चात्, सरकार ने लड़कियों के लिए हाईस्कूलों का प्रविधान किया तथा प्राथमिक स्कूलों के लिए महिला-शिक्षिकाओं के हेतु उच्च नार्मल स्कूलों को भी चलाया।

महायुद्ध के बाद के वर्षों में टोकियो के इम्पीरियल विश्वविद्यालय में वे भाषणों में श्रोताओं के रूप में प्रवेश पाती थीं। महिलाओं के ईसाई कालेजों के अलावा महिलाओं के लिए एक जापानी महिला-विश्वविद्यालय, गैरसरकारी तौर पर चलाया जाता था, जिसकी स्थापना १९०१ में हुई थी।

जहाँ महिलाएँ व्यापक रूप से पढ़ाने का कार्य करती थीं और कुछ डॉक्टरी, पत्र-

कारिता व अन्य धंधों में लगी थीं, एक बात सही थी, कि पुराने व आधुनिक जापान की महिलाएँ शादी के लिए अभिभावक के सहारे होती थीं और वह भी अपेक्षाकृत कम उम्र में शादी होती थी। इससे उच्च शिक्षा में रुचि रखनेवाली लड़कियों के लिए समस्या काफी जटिल हो जाती थी, क्योंकि बहुधा उनके परिवार वाले पढ़ाई पूरी होने के पहले ही उन्हें स्कूल छोड़ने को बाध्य करते थे, क्योंकि परिवार संतोषजनक वर खोज शादी तय कर लेता था। तथापि जापान में उच्च वर्ग में देर से शादी करने की प्रवृत्ति प्रतीत होती थी। यह बात आंशिक रूप से शिक्षा के अवसरों के प्रसार के कारण थी या नहीं वरन् पहले जैसा होता था, उसकी अपेक्षा इससे शादी के पहले कुछ आगे तक पढ़ाई जारी रखना संभव हो गया था। जापान में सम्पन्न वर्गों के बाहर, यह बात समझी जानी चाहिए कि जापान में सम्पन्न वर्ग के बाहर शादी के पहले और बाद में महिलाएँ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का अत्यावश्यक भाग थीं। चूँकि जनसंख्या का बड़ा हिस्सा कृषि में लगा हुआ था, यह प्रथा थी कि जापानी लड़कियाँ और महिलाएँ चावल की खेती में मदद करती थीं, रेशम के कीड़ों की वे प्रमुख जानकार थीं, चाय की पत्तियाँ तोड़ती थीं तथा घर में कताई और बुनाई करती थीं। जापान में बाल श्रमिक का अर्थ मुख्यत: लड़की-श्रमिक होता था क्योंकि जो बच्चे काम पर लगाये जाते थे, उनमें ८० प्रतिशत लड़कियाँ होती थीं।

कारखाने विषयक कानून या उसकी आवश्यकता पर अन्यत्र कुछ कहा जा चुका है। यहाँ पर उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनमें महिलाएँ और लड़कियाँ रहती थीं और काम करती थीं। इसमें कुछ उल्लेखनीय अपवाद अवश्य थे परन्तु आम तौर पर औद्योगिक जीवन की परिस्थितियाँ भयानक थीं। इसका हमारे पास एक उदाहरण और है, किस प्रकार से जापानी पश्चिम से भौतिकवादी सभ्यता, उसकी मशीनें व उन्नत प्रकार के कला-कौशल लाये, परन्तु यह सब मानवीय मूल्यों को कायम रखने के लिए जिन तरीकों का विकास शुरू हुआ उनकी खोज का प्रयास किये बिना किया गया।

कारखाने के लिए श्रमिक ग्रामीण जिलों में व्यवस्थित भरती के जरिये प्राप्त किये जाते थे। शहरी जीवन के लाभों को काफी सजीवता से चित्रित किया जाता था, जिससे लड़की ग्रामीण-क्षेत्र छोड़ने को तैयार हो जाय। परन्तु उसके परिवार के लिए प्रभावकारी विचार था रकम दिया जाना, जिसमें ही कई बार लोगों को ग्राम के बाहर लाने की क्षमता होती थी, परिवार की आय में ठोस वृद्धि हो जाती थी, जो कि शादी होने तक जारी रहेगी। संयोगवश धनिकों में शिक्षा के कारण देर से शादी होने की अपेक्षा गरीब तबके में महिलाओं के कारखानों में जाने के कारण देर से विवाह की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

जब लड़की कारखाने पहुँचती थी, वह बहुधा घिरें हुए अहाते वाले मकान में रखी जाती थी, जहाँ लड़कियाँ भाग जाने से रोकने के लिए बंद कर दी जाती थीं। उन्हें कोई एकान्त नहीं मिलता था और सोने के लिए केवल चटाई के बराबर जगह प्रत्येक को मिलती थी। कभी-कभी जब रात और दिन की पाली कारखाने में होती थी तब बिस्तर लगातार किसी-न-किसी के कब्जे में रहता था। काम के घंटे लम्बे होते थे और अच्छे प्रकार के मनोरंजन का प्रबन्ध होने पर थकावट आवश्यक मनोरंजन में भी बाधक होती थी। जिन परिस्थितियों में वे काम करती और सोती थीं, उसके कारण कारखाने के महिला और पुरुष दोनों कर्मचारियों में तपेदिक व्यापक रूप से था। नैतिक दृष्टि से भी परिस्थितियाँ खराब थीं। "एक जापानी कारखाना-विशेषज्ञ ने प्रमाणित किया है, कि कुछ कारखानों में यह कोई असामान्य बात नहीं थी, कि आधे से अधिक लड़कियाँ एक वर्ष में अपने सद्‌गुणों को खो देती थीं। काम के लम्बे घंटे श्रमिकों को इतना थका देते हैं, कि किसी प्रकार की उत्तेजना का स्वागत होता है और तत्पश्चात् पतित आनन्द तथा क्रीड़ाओं को प्रोत्साहन होता है और यह बहुत सामान्य है। हमेशा के अधिकतर मनोविनोद हैं शराब पीना, जुआ खेलना और विषय-सुख।"[५] परिणाम यह होता था, कि बीमारी से, भाग जाने से तथा विवाह समीप आ जाने से महिला श्रमिकों में करीब ८० प्रतिशत का स्थानांतर होता रहता था और इस कारण भरती निरन्तर जारी रखना पड़ता था।

स्वास्थ्य और औद्योगिक कार्यनिपुणता के विचार से इस प्रकार की परिस्थिति बनाये रखने से देश की बहुत बड़ी क्षति हुई। यही है, जहाँ जापानी नेतागण बुरी तरह असफल हुए, यहाँ तक कि पश्चिम से आयात करने में शुद्ध उपयोगितावादी आधार पर भी असफल हुए। उन्होंने पश्चिम के सामाजिक विचारों और कार्यनिपुणता के विचारों का भी आदर नहीं किया, जो कि स्वयमेव अभिव्यक्त होना आरम्भ हो गये थे। उन्होंने मशीन को तो देखा परन्तु मशीनी अर्थव्यवस्था के सामाजिक परिणामों को नहीं। इसके पश्चात् उन्होंने उद्योगों में कार्यरत भविष्य की माताओंके रहने की अच्छी परिस्थिति की निश्चित व्यवस्था करके देश के स्वास्थ्य को परिरक्षित रखने का कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया। ईसाई-उद्योगपतियों ने अपने कर्मचारियों पर ध्यान देने का प्रयास करके बहुधा नियम के उल्लेखनीय अपवाद प्रस्तुत किये तथा मानव-जीवन की पवित्रता के ईसाई आदर्श कुछ-न-कुछ ईसाई-समाज के बाहर भी फ़ैल गये थे। परन्तु जापानी औद्योगिक नेताओं का दृष्टिकोण इतना भौतिकवादी हो गया था, कि उनसे संतोषजनक सामाजिक कार्यक्रम का विकास करने की अपेक्षा तभी हो सकती थी, जब कि यह प्रदर्शित हो कि यह भी अच्छा व्यापार है और महिला कर्मचारियों के कल्याण की ओर ध्यान देना राष्ट्र के प्रत्यक्ष लाभ के लिए है। वास्तव में उन्हें इसका समादर करने में सहायता होगी यदि श्रमिक स्वयं की

सुरक्षा हेतु संगठित हों। यह कथन कि कारखाने की बहुत अधिक महिलाएँ अपने सद्‌गुण खो बैठीं, इससे कारखाना-पद्धति का कोई नैतिक कलंक नहीं बनता, जैसा कि अन्य कई देशों में होता। कई ग्रामीण क्षेत्रों में स्त्री-पुरुषों के विवाह-पूर्व सम्बन्ध बहुत सामान्य बात है, यद्यपि अनुपात इतना अधिक प्रतीत नहीं होगा और यह लड़की के विवाह में कोई बाधक नहीं होता, जैसा कि अन्यत्र यह बहुत होता है।

वेश्या का धंधा जैसा चलता था, उसमें और इसमें नैतिक संहिता का अंतर आगे खुलकर चित्रित किया है। वेश्यावृत्ति का पेशा सरकारी देख-रेख में मान्यताप्राप्त धंधे के रूप में चलाया जाता है, यद्यपि यह सम्मानपूर्ण धंधा नहीं होता। अनुमान लगाया गया था देश में लायसेंस-प्राप्त वेश्याओं की संख्या पचास हजार से कम नहीं थी। ये महिलाएँ दासत्व की परिस्थितियों में रखी जाती थीं, क्योंकि अन्यथा उन्हें संयत रखना बहुत कठिन था।

उनमें बहुतों को जल्द ही इस पेशे से घृणा होने लगती है, परन्तु वे असहाय और निराश कैदी रहती हैं, क्योंकि उन्हें रखनेवाले संरक्षक उनके माता-पिता को थोड़ा ऋण या कुछ सैकड़ा यन दे देते थे और उन्हें सुन्दर कपड़ों से लाद देते थे, सारी चीजों का खर्च उनके हिसाब में लिखते थे, जिससे कि वे भारी कर्ज से लदी रहती थीं, जिसका भुगतान वहाँ से छोड़ने के पहले होना ही चाहिए। सिद्धान्त रूप से देश के कानून इस ऋण को कोई मान्यता नहीं देते, परन्तु व्यवहार में मान्यता देते हैं, क्योंकि "संरक्षक" वेश्यालयों के साथ-साथ वही भी रखता है और अक्सर पुलिस और अधिकारी उसके ही पक्ष में होते हैं।[६]

अधिकारियों के रुख के अलावा इस पद्धति के प्रमुख सहयोग निम्न वर्गों की निर्धनता में निहित है। "लड़की अपने माता-पिता की आज्ञानुसार वेश्यालय में जाती है। माता-पिता उसे अपने स्वयं के लिए जीविका कमाने तथा उन्हें आर्थिक कठिनाइयों से छुड़ाने में मदद करने के हेतु वहाँ भेजते हैं। इस प्रकार शुरू से अंत तक, जहाँ तक लड़कियों, माता-पिता और संरक्षकों का सम्बन्ध है। यह प्रश्न आर्थिक है।"[७] यह कहना चाहिए कि वेश्याओं में से बहुत पहले की इटा अथवा निम्न जातियों से आती थीं।

लायसेंस-प्राप्त वेश्याओं की संख्या में नैतिकता के विचार से होटल व चाय-घर की लड़कियाँ भी जोड़ी जानी चाहिए, क्योंकि उनमें से कई वास्तव में उसी वर्ग में होती थीं। मनोरंजन करने वाला वर्ग गीशा भी कभी-कभी उसी श्रेणी में रखा जाता था। उनका पेशा भी चाय-घरों की लड़कियों की तरह वेश्यावृत्ति की ओर ही ले जा सकता था या अक्सर उसी मार्ग पर ले जाता था। परन्तु व्यावसायिक दृष्टि से उच्च प्रशिक्षण प्राप्त जन-मनोरंजक होते थे।

जैसे निम्नतर वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधारी गयी माता-पिताओं की अपने बच्चों को इन धंधों में देखने की इच्छा भी कमजोर होना निश्चित था और पश्चिम के व्यक्तिवादी विचारों का शुभारम्भ होने के परिणामस्वरूप, जिस सीमा तक माता-पिता का नियन्त्रण क्षीण हुआ, इस पद्धति को भी कमजोर होना ही था। इसके अतिरिक्त आंशिक रूप से जापानियों की विदेशी मत के प्रति आरम्भिक शीघ्र-प्रभावशीलता के परिणाम-स्वरूप वहाँ लायसेंस-प्रथा के जरिये शासन के वेश्यालयों से खुले सम्बन्ध की कुछ निन्दा भी बढ़ने लगी। इसका परिणाम हमेशा वेश्यावृत्ति की समाप्ति में तो नहीं, परन्तु उसे अधिक भूमिगत करने व लोकदृष्टि के बाहर खींचने में हुआ। ऐसा विस्तार अन्ततः उसी प्रतिक्रिया की ओर ले जा सकता था, जैसा कि पश्चिमी देशों में पाया जाता है। निश्चित रूप से १९२१ की अपेक्षा १९३१ के जापान में वेश्यावृत्ति की प्रमुखता कम हो गयी थी।

(५) परिवार-पद्धति

भौतिक विकास पर जोर देने से जापान के सामाजिक ढाँचों में आर्थिक की अपेक्षा कम परिवर्तन हुए। परिवार समाज की आधारभूत इकाई बना रहा, यद्यपि सरकार व्यक्ति से व्यवहार करती थी, जैसा कि १९३१ तक आधुनिक चीन में ऐसा नहीं होता था। पूर्वजों की उपासना तथा कनफूशियस के परिवार पर जोर देने और देश को विशाल पारिवारिक गुट मानने के दृष्टिकोण के अलावा इसका मुख्य आधार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था-पद्धति में मिलता है। "परिवार-पद्धति, जिसके द्वारा सब कुछ परिवार के मातहत होता है, किसानों के लिए सुविधाजनक है, क्योंकि इसका अर्थ होता है श्रम में वृद्धि तथा जीवन-निर्वाह में बचत.....आम तौर पर परिवार-पद्धति एक समय और उसी समय युवकों को दुनिया में यत्न से बचने से रोकती है और उन्हें उनकी जल्दी शादी के लिए बाध्य करती है, जिससे कि परिवार को मदद करनेवाले हाथों की संख्या बहुत हो जाये।"[८] औद्योगिक विकास ने इस दृष्टिकोण को नहीं तोड़ा है, कारण कि लड़कियों का श्रम बहुत सीमा तक उपयोग होता था। परिवार की आय बढ़ाने की यह दूसरी विधि है, तथापि औद्योगिक केन्द्रों में विवाह का परिणाम बहुधा वैयक्तिक घरों की स्थापना में होता था। आगे चलकर औद्योगिक पद्धति के विस्तार का अन्ततः प्रभाव परिवार-पद्धति को कमजोर करने में होगा क्योंकि यह ग्राम से शहर में आने की गति को बढ़ावा देती है।

परन्तु जहाँ परिवार-पद्धति रहती आयी, इसमें कुछ रूपान्तर किये गये। अधिक विकसित वर्गों में विवाह की व्यवस्था केवल मात्र माता-पिता के हाथों में ही नहीं होती थी। "मुक्त" विवाह की प्रथा प्रत्येक दशाब्दी में अधिक व्यापक होती जा रही थी। कभी-कभी, इसका मतलब शादी की व्यवस्था पूर्ण होने के पहले केवल भेंट का अधिकार

भी होता था। अधिक चरम रूप में इसके साथ चयन का अधिकार तक हो जाता था। जनसंख्या के शहरों की ओर खिचने के साथ गृहस्थी का अपने अंगों में बिखरने की प्रवृत्ति का उल्लेख किया ही जा चुका है। पश्चिमी उदाहरणों के प्रभावों के अंतर्गत तथा ईसाई-स्कूलों और मिशनों में पढ़ाई के प्रभाव से मध्यम तथा उच्च वर्गों में आर्थिक के अलावे अन्य कारणों से भी यही बात हो रही थी। देर से विवाह करने की प्रवृत्ति का भी परिवार पर अपना प्रभाव होता था और पारिवारिक नियंत्रण की कमजोरी का संकेत करता था।

(६) वर्ग विभेद की समाप्ति

पुनर्नवीकरण के बाद जो एक सामाजिक परिवर्तन हुआ वह था समाज का पुनर्विभाजन। दो भिन्न वर्गों को मान्यता दी गयी— कुलीन वर्ग, जिन्हें कई प्रभुता सम्पन्न दर्जे में रखा गया था तथा सामान्य वर्ग। वर्ग विभेद का, जो कि सामान्य वर्ग के विभिन्न गुटों में होता है, कानूनन अन्त कर दिया गया। इसने दरबारी अंगरक्षक-वर्ग को गिरा दिया और ईटा जैसे जातिच्युत वर्गों को ऊँचा उठा दिया। वास्तव में, पेशा तथा धन के कारण विभेदों की स्थापना या दूषित कर्मकरण को इसने नहीं रोका परन्तु इसने विशेष अधिकारों और खास-खास अयोग्यताओं का अन्त कर दिया। इस तरह अब ईटा-वर्ग अत्यधिक नीच कर्म और अप्रिय कर्म करने से कानूनन रोके नहीं जाते थे। उन्हें पृथक् ग्रामों में रहने की आवश्यकता नहीं थी। उनके गुट के बाहर शादी करने का बंधन अब नहीं था। तथापि, जहाँ दरबारी अंगरक्षक-वर्ग के लिए परिवर्तन का शीघ्र और वास्तविक परिणाम हुआ वहाँ ईटा के लिए यह अधिक नाममात्र को था। अब तक वे स्वयं को दरबारी अंगरक्षक मानते थे और माने जाते थे और उन्हें सामान्य जनसंख्या के साथ घुला-मिलाया जा सके इसके लिए कई पीढ़ियाँ लगेंगी, यदि वास्तव में कभी उसका अंत होता है।

(७) नये वर्गों से लगाव

जैसे राजशाही वर्गों के भागों का रूपान्तर हुआ अथवा अंत हुआ, नये वर्ग उभरने लगे।[१] दूसरे स्थान पर शिकमी किसान-वर्ग की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। इससे संकेत मिलता है, वहाँ जमींदार-वर्ग भी था। यह सही है, किसान आंशिक शिकमी और आंशिक मालिक थे, और कई जमींदार किसान भी थे। परन्तु सामान्य गति दो चरम सीमाओं की ओर थी—जमींदार जो उन्हें पटाये जानेवाले लगान पर निर्वाह करते थे तथा शिकमी, जिनके पास जमीन ही नहीं थी। इसने आरम्भ में कुछ मतभेद तथा वर्ग-द्वेष पैदा कर दिया। जापानी जमींदार केवल आर्थिक-प्राप्ति पर ही विचार करने को उद्यत था और शिकमी की परिस्थिति की उसे स्वयं को चिन्ता नहीं थी। उसका दृष्टिकोण

अन्य स्थानों का काम नहीं करनेवाले जमींदार का दृष्टिकोण था, जबकि वह ग्रामीण क्षेत्र में रहता था। वह बहुधा अपना लगान रकम की अपेक्षा चावल के रूप में प्राप्त करता था जिससे परस्पर वैमनस्य बढ़ता था। जब फसल कम होती थी और उस कारण कीमतें ऊँची होती थीं, जमींदार को शिकमी किसान से अधिक प्राप्ति होती थी। जब फसल अच्छी होती थी, तब भी उसे हानि की अपेक्षा प्राप्ति ही होती थी। दूसरी ओर लगान के भुगतान के इस तरीके के कारण किसान यह कोशिश करने लगा था कि वह लगान तब दे जब फसल कम हो। चूँकि वह जमींदार को फसल का अधिक हिस्सा देता था, वह कभी-कभी खाद और फसल-वृद्धि के अन्य साधनों पर होनेवाले व्यय को काट लेता था। इससे जमींदार को किसान से हमेशा शिकायतों का कारण रहता था। देश के बहुत हिस्सों में शिकमी किसान धीरे-धीरे कर्ज में दबाये जाते थे, क्योंकि उनका वार्षिक आवश्यक व्यय उनकी आय से अधिक होता था। यह इतना व्यापक तो नहीं था परन्तु छोटे किसानों के बारे में भी यह सच था। चूँकि ब्याज की दर बहुत ऊँची थी, इसका परिणाम होता था निराशाजनक परिस्थिति।

शिकमी किसान की समस्या का एक उत्तर औद्योगिक नगरों में एकत्र होने की प्रवृत्ति में मिलता था। यह इतना निश्चित हो गया कि अच्छा शिकमी सम मूल्य पर रहता था और जमींदार व सरकार सुधार के कदम उठाने को बाधित होते थे। सरकार ने किसानों को कम ब्याज दर पर ऋण देने के लिए भू-बैंकों की स्थापना द्वारा मदद की। ये प्रायः प्रत्येक आधिकारिक क्षेत्र में पाये जाने लगे। जमींदार को सामाजिक जिम्मेदारी का भाव विकसित करने के लिए बाध्य किया गया। कुछ अपनी माँगों में अधिक विचारवान् थे, दूसरों ने धान और खेतों के लिए अधिक अच्छी खाद का प्राविधान करने में मदद की, दूसरों ने सरकार के सहयोग से किसान को उसके तरीके में सुधार हेतु प्रशिक्षित करने का प्रयत्न किया।

ग्रामीण सहयोग बहुत बढ़ा, अंशतः जमींदार द्वारा बढ़ाया गया परन्तु अधिक व्यापक तौर पर स्वतंत्र रूप से बढ़ा। अन्य बातों में धान के सुधार ने सहकारी-कार्य द्वारा अच्छे परिणाम प्राप्त करने की सम्भावना प्रदर्शित की। प्रायः प्रत्येक विचारणीय काम के लिए सभी भाँति की अधिक अच्छे प्रकार की ग्रामीण या ग्राम-समितियाँ थीं। प्रदत्त कार्य के अनुसार कुछ शुद्ध आर्थिक थीं, परन्तु वे क्रम में ग्रामीणों को प्रातः जल्दी जागने की आदत के लिए प्रोत्साहित करने से लेकर अधिक सामान्य प्रकार की कृषि सहकारी-संस्थाओं तक की समितियाँ थीं। ये समितियाँ ग्राम के सभी युवकों अथवा उनके एक हिस्से से बनी होती थीं। उनमें से कई मूल्यवान थीं, क्योंकि वे उनकी मुख्यतः अतिरिक्त शक्ति को सोखती थीं।

परन्तु साथ ही यह मानना पड़ेगा कि वर्ग-विभाजन तथा वर्ग-भावना ग्रामीण क्षेत्रों में वृद्धि पर थी।

श्रम-आन्दोलन से प्रभावित होकर, जो कि महायुद्ध-काल या उसके पश्चात् औद्योगिक केन्द्रों में विकसित हुआ, इस दलित वर्ग ने (अर्थात् शिकमी) वाद में साहस दिखाया। उसने भूमि-मालिक के विरुद्ध अपने दावों पर जोर देना आरम्भ कर दिया। १९२० के अंत तक वहाँ शिकमी किसानों के ९० संघ वन गये और इसमें ६० संघ भू-स्वामी के विरुद्ध शिकमी के हितों का प्रतिनिधित्व करने के निश्चित कार्य के लिए आरम्भ किये गये। शिकमियों की हड़तालें शुरू हुई और चलती रहीं। लोकप्रसिद्ध रूढ़िवादी वर्ग के इस आन्दोलन का अंत बिलकुल निश्चित नहीं है।[१०]

अनुमान लगाया गया है, कि १९२० के बाद की दशाब्दी में शिकमियों के संगठनों की संख्या ४०० तक बढ़ गयी, जिनमें से एक-तिहाई निश्चित रूप से लड़ाकू थे। १९१४ के बाद जीवन-निर्वाह की लागत में आम वृद्धि हुई थी और विशेषकर महायुद्ध के बाद की अवधि में इसमें अधिक वृद्धि हुई, जिसने इस विरोध-प्रदर्शन के आन्दोलन को जन्म दिया।

कारखाना-पद्धति की स्थापना से औद्योगिक-क्षेत्र में भी वर्ग-विभाजन बढ़ा। इसके कारणों की चर्चा यहाँ नहीं होनी चाहिए, चूँकि वे वही हैं, जिनका अन्य देशों में भी वही परिणाम निकला है। जापान में, जैसा कि अन्यत्र है, मालिक और मजदूर के बीच की आर्थिक दूरी, पूर्वापेक्षा तेजी से बढ़ी। मजदूरों की मजदूरी कम थी, काम के घंटे अधिक थे तथा रहने की परिस्थितियाँ खराब थीं।

मजदूरों के संगठन के आंदोलन का वर्णन दूसरे संदर्भ में किया गया है।[११] यहाँ उसके प्रभावकारी संगठन के मार्ग की कुछ बाधाओं का संकेत दिया जा सकता है। पहले स्थान पर, लोगों के मस्तिष्क में यूनियनवाद को समाजवाद से जोड़ा गया। समाजवाद ने "खतरनाक विचारों" के कुछ समूहों को अंगीकार किया, जिन्हें सरकार ने देश के बाहर निकालने का भरसक प्रयत्न किया, क्योंकि वह सार्वजनिक शांति व कल्याण के लिए क्षतिकारक होता। इसके पश्चात् यूनियनवाद को देशभक्ति का विरोधी करार कर दिया गया। यह वह छाप थी, जिसने बहुतों को बने हुए संगठनों से बाहर रखा। दूसरे स्थान पर "शांति कायम रखनेवाले कानून" को लागू करने से यूनियन की बैठकें आदि करना कठिन हो गया अथवा लाभकारी गतिविधि छोड़कर अन्य गतिविधि हाथ में लेना कठिन हो गया। तीसरे स्थान पर पुरुषों की तुलना में महिला मजदूरों के अनुपात ने यूनियन के प्रभावकारी संगठन और कार्य में रुकावटें पैदा कर दीं। विवाह के पहले, महिला एक अस्थायी मजदूर होती थी और वह आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर बनने के स्थान पर परिवार की आय के परिपूरक के बतौर उद्योग में कार्य करती थी। इस प्रकार संगठन में उसकी

रुचि पैदा करना अधिक कठिन था। उसके दब्बूपन को ध्यान में रखना था। चूँकि, इतनी अधिक श्रमिक महिलाएँ थीं, इसलिए मालिक पर प्रभावकारी दवाव डालने के लिए कारखाने को संगठित करना स्पष्टतया बहुत कठिन था। श्रमिकों को संगठित करने में चौथी बात शायद यह हो सकती थी, कि आधुनिक उद्योगों की प्रवृत्ति कुछ बड़े संस्थानों में केन्द्रित होने के स्थान पर छोटे कारखानों में बिखरे रहने की ओर थी।

ऐसे देश में जहाँ यह मान कर चला गया कि पहल ऊपर से आयेगी, जहाँ अधिकार के दावे के साथ लोगों को सिद्धान्त की शिक्षा दी जाती थी और जहाँ राज्य के अधिकार व्यक्ति अधिकारों से उन्नत रखे जाते थे, यह आश्चर्य नहीं है, कि जनता के अधिकार के लिए आग्रह करने की प्रेरणा बाहरी देशों से मिली। इतागाकी के निधन के साथ प्रारम्भिक आंतरिक मुक्तिवाद ने प्रधान नेता खो दिया। राजनीतिक दृष्टिकोण से संविधान के लागू होने तथा राज्य के नियंत्रण में सैन्य नौकरशाही की स्थापना से यह निरर्थक बना दिया गया। यदि इसे विकसित होने दिया गया होता तो शायद इसमें से आर्थिक और सामाजिक मुक्तता आ सकती थी। प्रारम्भिक मजदूर-सुधार-आंदोलन भी अवरुद्ध हो गया क्योंकि यह भी पश्चिम से आया था, जिसमें नेतागण विकासवादी अथवा समाजवादी गुट और क्रांतिकारी अथवा अराजकतावादी गुटों में विभाजित थे। १९१० में सम्राट् के विरुद्ध षड्यंत्र की लपेट में रेडिकल नेताओं के एक गुट के आने के परिणामस्वरूप कुछ को फाँसी हुई और कुछ को जन्म कैद की सजा हुई। मजदूर-आंदोलन पर यह सांघातिक आघात था।

लोगों के दिमाग में इसका संबंध गद्दारी व राष्ट्रघातक सिद्धान्तों से जोड़ा जाने लगा। यह ठीक वैसा था, जैसा कि इसके विरोधी इसे उखाड़ फेंकने के लिए चाहते थे। तब से मजदूर-आंदोलन पर सन्देह जारी रहा और जापान में हाल के भूकम्प के दौरान कानून-व्यवस्था स्थगित रहने के दौरान कट्टर देशभक्तों ने समय हाथ में लेकर समाजवाद और मजदूर नेताओं की छुरे भोंक कर हत्या कर दी।

किसी भी नये आन्दोलन को नष्ट करने के लिए, अधिकारियों को केवल यही करना पड़ता था कि उसे समाजवाद के घृणित और भयकारी नाम की छाप लगा देते थे।...... मजदूर-यूनियन समाजवाद और अराजकता से संबंधित कानूनों के अंतर्गत आ गये, जो कि इसकी समाप्ति के लिए पर्याप्त था। इतना ही नहीं, जापान में अभी भी कई समाजवादी हैं, जिनमें कुछ मजदूर-क्षेत्रों में हैं और कुछ मध्यमवर्ग के युवकों में हैं, परन्तु उन्हें अभिव्यक्ति के लिए जरा-सा सुराख भी नहीं मिलता।[१२]

तथापि कुछ प्रतिकूल प्रवाह विद्यमान थे। सर्वप्रथम तो यह तथ्य था कि श्रमिकों तथा उनके बच्चों की स्कूली पढ़ाई पर्याप्त होती थी, ताकि वे पढ़ने योग्य हो सकें। इस प्रकार परीक्षण पूर्ण होने तथा देशभक्तिपूर्ण प्रचार प्रचलित होने के पहले वे अंततः

निश्चित रूप से यह अनुभव करते प्रतीत होने लगे कि पश्चिम के मजदूर से उनका भाग्य कई अर्थों में भिन्न है और वे अपने अधिकारों की मान्यता के लिए शक्तिपूर्वक अड़ना आरम्भ करने की बात भी अनुभव करने लगे थे। दूसरी ओर कुछ मालिक तथा निगम उदाहरणार्थ कानेगाफुचि स्पीनिंग कंपनी, अपने कर्मचारियों के हित-चिंतन में रुचि दर्शाने लगे। दूसरे शब्दों में, आंशिक रूप से ईसाई-उपदेशों के अंतर्गत; आंशिक रूप से पश्चिमी उदाहरणों के बल से और आंशिक रूप से स्वस्थ व्यापार सिद्धान्त की मान्यता के कारण एक सामाजिक जिम्मेदारी दिखती प्रतीत होने लगी। १९३१ के बाद तक तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव विदेशी मत था। दूसरों के मतों के प्रति जापानी संज्ञाशीलता का व्यापक प्रसार हुआ था। जैसे श्रम-सम्मेलनों में जापान का सामाजिक पिछड़ापन जापानी प्रतिनिधियों के समक्ष प्रकट हुआ और वहाँ जापान की परिस्थितियों की अधिकाधिक आलोचना हुई, जापानी नेता उनके निवारण की ओर प्रवृत्त हुए, कम-से-कम आलोचना को कम करने के लिए आवश्यक हल की ओर प्रवृत्त हुए। चौथे जनमत के विस्तार ने श्रमिकों को राजनीतिक कार्य का मार्ग दिया, जो कि पहले उनको नहीं दिया गया था। इसने प्रकट आश्वासन दिया कि कानून केवल मात्र औद्योगिक और व्यापारिक धनिकों के राष्ट्रीय आर्थिक हितों की धारणाओं और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करना बंद कर देगा। इस प्रकार जहाँ "जापानी पूँजीपति-वर्ग श्रमिक-हितों और श्रमिक-प्रश्नों के प्रति तक उदासीन हैं, जहाँ विश्वविद्यालय श्रम के मानवीय पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू के प्रति अधिक चिन्तित हैं,"[१३] जहाँ मजदूर अपनी पिछड़ी परिस्थिति और कष्ट कम करने की सम्भावनाओं के प्रति तिस पर भी जागरूक नहीं है, १९३१ में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति अनुभव करना और यह विश्वास करना कि समय बीतने के साथ इसकी पुष्टि होगी, सम्भव हुआ।

दो अन्य शक्तियों ने पारस्परिक से भिन्न बौद्धिक और सामाजिक दृष्टिकोण पैदा करने का कार्यारम्भ किया और यहाँ इस पर ध्यान देना चाहिए। प्रथम स्थान पर गुट की सफलता के आधार पर प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के साथ ही विगत डेढ़ वर्ष तक प्रजातंत्र तथा उसके सह-अस्तित्व पर जोर या कम कम-से-कम उसके प्रचार में जोर ने एकतंत्री दृष्टिकोण को कमजोर किया और पहले से विद्यमान उदार आन्दोलन की सक्रिय अभिव्यक्ति को प्रोत्साहित किया। राजनीतिक दृष्टि से जैसा कि अन्यत्र देखा गया है,[१४] यह उदार आन्दोलन का परिणाम मताधिकार का विस्तार व्यापक पुरुष मताधिकार तक में हुआ। इसका परिणाम यदि अस्थायी हो तो भी विदेशी और औपनिवेशिक नीति के उदारीकरण में भी हुआ। और अंततः इससे भी अधिक महत्त्व की बात बुद्धिवादी तथा उच्च मध्यम-वर्ग द्वारा इस बात का आदर होने लगा कि जापान में सामाजिक वैचारिकता भौतिक विकास के साथ-साथ नहीं बढ़ सकी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि

१९१८ तथा १९३१ में मिनेसिटो-सरकार के उलटने की बीच की अवधि में जापान के सामाजिक विचारकों में अधिक मौलिक परिवर्तन महसूस हुए—कि वहाँ विचारों का अत्यधिक उदारीकरण हुआ—जितना कि अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती ३०–४० वर्षों में नहीं हुआ। दुर्भाग्य से १९३१ के पश्चात् महाद्वीप में सैनिक जोखिम हाथ में लेने से उसने राजनीतिक नियंत्रण को फिर से सैनिक टुकड़ी के हाथ में फेंक दिया। सामाजिक चिन्तन में सर्वोच्च महत्त्व के अपने अधिकार के दावे तथा पारस्परिक मूल्यों पर पुनः जोर द्वारा प्रतिक्रिया लाने का इसका असर हुआ। कुछ समय के लिए जापान में उदारवाद पुनः शिथिल हो गया। इसके साथ ही पश्चिमी आदर्शों का अनुकरणीय बल समाप्त हो गया।

अन्य देशों की तरह जापान में दूसरा महान् प्रभाव रूसी क्रांति का हुआ। शासन तथा सत्ताधारी वर्गों में नवीन रूसी विचारों से तथा जापान में उनको आरम्भ करने के असर से भयंकर डर था। अतएव, उन्हें देश में नहीं आने देने का प्रत्येक प्रयास किया गया। इसके अलावे यदि किसी प्रकार वे सारी सावधानी के बाद भी देश में प्रवेश कर जाते हैं तो उनके असर को समाप्त करने के लिए उसके विरुद्ध एक प्रतिकूल-प्रवाह कायम रखा गया। परन्तु प्रतिकूल प्रवाह ने निश्चिततया प्रवाह में वह रुचि पैदा की, जिसे कम करने और समाप्त करने हेतु वे बनाये गये थे। इस प्रकार कुछ सीमा तक जापानी विचारों को रूसी प्रभाव को अनुभव करने से रोकना असम्भव था। ऐसे समय इस प्रभाव का आना जबकि शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूर अशांति का प्रकटीकरण आरम्भ होने लगा था, ऐसे आन्दोलन का, जो स्पष्ट रूप से मजदूरों द्वारा राज्य का नियंत्रण के विचार पर आधारित था तथा जिसकी विश्वव्यापी प्रतिध्वनि हुई थी, जापानी मजदूर-आंदोलन पर उसका कुछ असर होना निश्चित था। इसका अधिक असर नहीं हुआ, क्योंकि "समाजवादी" विचारों का देशद्रोह की तरह तिरस्कार था और यह प्रवृत्ति महायुद्ध के पहले ही जड़ पकड़ गयी थी। इस प्रकार विचारों की दो धाराएँ एक पश्चिम के पूँजीपति राज्यों की तथा दूसरी कम्युनिस्ट रूस की आकर जापान में प्रथम महायुद्ध के बाद सामाजिक संबंधों के प्रति विचारों में सुधार करने के लिए मिल गयीं।

(८) साहित्य और समाचार पत्र

आर्थिक और सामाजिक विकास के क्षेत्र की तरह साहित्य-जगत् में भी जापान ने पश्चिमी प्रभाव की शक्ति को महसूस किया। इसे ततपरता से समझने लायक है, चूँकि पुराने साहित्यिक स्वरूप में से अधिकांश का विकास विदेशी (चीनी) प्रभाव के अंतर्गत हुआ। इसका महान् अपवाद है कविता, जिसका स्वरूप पृथकतया और स्पष्टतया जापानी था और जापानी ही बना रहा। इसका विचित्र गुण क्रमशः एक के बाद एक लाइन

पाँच और सात अक्षरों का होना था। आमतौर पर इसकी लम्बाई ५ पंक्ति की होती थी—पहली और तीसरी पाँच अक्षरों, दूसरी, चौथी और पाँचवीं ७ अक्षरों की, अक्सर १७ अक्षरों के छोटे स्वरूप का उपयोग होता था, परन्तु एक लाइन ५ व दूसरी क्रमशः ७ अक्षरों की होना अनिवार्य था। इन बंधनों के अंतर्गत रचित कविताएँ पूर्ण अभिव्यक्त होने के स्थान पर उपदेशात्मक अधिक होती थीं। वे मुक्त प्रसंग की अपेक्षा विचार बताती थीं। जापानी कविता प्रधान रूप से गेय थी, वीरकाव्य इसके छंदों और भावों के लिए पूर्णतया विदेशी स्वरूप था। प्राचीन तथा आधुनिक दोनों कालों में राजगृह तथा उच्च वर्ग के स्त्री व पुरुष कविता के निर्माण में जैसे एक प्रमुख व्यापार की तरह लगे रहे। कविता-लेखन की बहुत बार प्रतियोगिताएँ होती थीं और बहुधा उसमें विजयी निम्न वर्ग का होता था, उसकी कविता में रुचि भी विचार करने योग्य होतीं थी। जब कि टोसन या कुछ अन्य को छोड़कर जिन्होंने कि काफी दूरी तक बंधनों को तोड़ा, जापानी कविता के स्वरूप वस्तुतः आधुनिक विश्व से अप्रभावित थे। नये विचार और प्रभाव को व्यक्त करने के लिए व्यापक रूप से पुराने स्वरूप प्रयुक्त होते थे। इस तरह, निश्चित रूप से जापानी कविता ने अपने पृथक् जापानी रस को खोये बिना पश्चिम के धक्के को अनुभव किया।

कविता को छोड़, साहित्य के क्षेत्र में पूर्व-आधुनिक जापान को पैदा करना भी बराबर महत्त्वपूर्ण था। परन्तु महाद्वीप से यह इतना अधिक प्रभावित था, कि यह कविता की तरह इतना स्पष्टतः जापानी नहीं था। बिलकुल प्रारंभ के कार्य का अवशिष्ट है, कोजिकी (पुरातन बातों का रिकार्ड), जो कि चीजों के प्रारम्भ की तथा जापानी राष्ट्र के विकास की गाथा है। यह अति प्राचीन जापानी में लिखी गयी थी, तथापि जल्द ही इसका स्थान निहोंगी (जापान के अभिलेख) ने ले लिया, जिसमें समान विषय पर ही काम किया गया है, परन्तु यह "शास्त्रीय" अथवा अर्धचीनी भाषा में लिखा गया है। चीन से आये हुए साहित्यिक विधानसहित यह शास्त्रीय भाषा जापान में साहित्यिक जागृति-काल तक छायी रही, जो कि टोकूगावा शॉगुन के सुदृढ़ शासन की स्थापना के कुछ काल बाद हुई। चीनी प्रभाव जारी रहा, परन्तु उससे दूर हटने का जानबूझ कर प्रयास चलता रहा। यह बात विशेष कर ऐतिहासिक लेखन तथा धार्मिक शोध में अधिक देखी गयी। टोकूगावा के शासन में गैर-ऐतिहासिक लेखन के विस्तृत प्रकारों का विकास हुआ। लोक-कथाएँ और बच्चों की कहानियाँ, नैतिक उपदेश और उपन्यास बहुतायत में दिखायी दिये।

पुनस्संस्थापन के साथ जापानी चीजों में रुचि कुछ समय के लिए घटी और पश्चिमी साहित्य, विशेषकर अंग्रेजी पर ध्यान केन्द्रित हो गया। १८६८ से १८८५ तक के वर्ष साहित्य-सृजन के वर्ष नहीं थे। जापानियों ने नयी शिक्षा की नयी दुनिया के साथ घर तथा विदेश में अध्ययन द्वारा तथा पश्चिमी पुस्तकों के अनुवाद द्वारा कुछ घनिष्ठता प्राप्त

कर ली, परन्तु प्रत्यक्ष कारणों से राष्ट्र की मुख्य निर्माणकारी रुचि राजनीतिक और आर्थिक पुर्ननिर्माण पर केन्द्रित रही। इस बात ने तथा साथ ही पश्चिम की शक्ति ने साहित्य-सृजन को यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य बना दिया। पश्चिमी साहित्य में मुख्य रुचि प्रथमत: इंग्लैण्ड में थी और उसके पश्चात् महाद्वीप में।

सामान्यतया अगली दो दशाब्दियों में रोमान्स का प्रतिपादन करनेवालों का साम्राज्य छाया रहा। इस मत का प्रतिपादन करने वाले एक वर्ग का नेतृत्व शेक्सपियर-शैली के विद्यार्थी शोयो, दूसरे का कोयो कर रहे थे जापानी साहित्य में जिनका प्रमुख योगदान उनके वर्णन की स्थूलता तथा उनकी प्रखर शैली में निहित है। तीसरे रोमानी वर्ग का नेतृत्व आदर्शवादी रोहन कर रहे थे। चीन के साथ महायुद्ध के पारिणामस्वरूप राष्ट्रीय भावनाओं की प्रचण्डता, इसके साथ ही जापान की उसके विशाल पड़ोसी पर विजय से उत्पन्न आशावाद ने ही अधिकांशतः वर्ष १८९५ से १९०४ तक के साहित्यिक-सृजन की धारा को निश्चित किया। शैली की दृष्टि से १८९५–१९०५ की दशाब्दी बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें शैली उच्च स्तर तक पहुँची। इन वर्षों में पहले से छाया हुआ पश्चिमी प्रभाव क्रमशः बदल कर अंग्रेजी से रूसी हो गया।

१९०० के पश्चात् तेजी से रूमानीवाद का स्थान प्रकृतिवाद और यथार्थवाद ने ले लिया। इस परिवर्तन के लिए अंग्रेजी का स्थान लेने वाला महाद्वीपीय साहित्य भी अंशतः जिम्मेदार था। वैज्ञानिक अध्ययन से विकसित प्रवृत्तियों तथा रूस-जापान युद्ध के बलिदानों व क्षतियों से उत्पन्न निराशावाद ने भी परिवर्तित दृष्टिकोणों के लिए उल्लेखनीय योगदान दिया। कुछ सीमा तक इसे रूमानीवाद के अत्यधिक विकास से स्वाभाविक आवर्तन भी माना जा सकता है। अपनी प्रारम्भिक स्थिति में यह प्रकृतिवाद स्पष्टतः जापानी साहित्य को लाभकर था, जिसका फल राष्ट्र के साहित्य में उल्लेखनीय योगदान तथा लेखकों के लिए मान्यता प्राप्त करने में हुआ, जिनका कार्य यद्यपि विचारयोग्य था, पर अनिश्चित भविष्य की ओर स्थिर होता दिखायी देता था। परन्तु आंदोलन विषय पर जोर के साथ शैली में ह्रास का कारण हुआ और समय बीतने के साथ, प्रकृतिवाद, यौन संबंधों के मुक्त चित्रण के साथ पतन और इन्द्रिय-जनित सुखों में प्रतिफलित हुआ।

१९१२ के लगभग एक स्वतंत्र धारा, जो कि प्रकृतिवाद के प्रवाह के समानान्तर प्रवाहित हो रही थी, प्रमुख धारा बन गयी। साहित्य में आदर्शवाद सोसेकी नत्सुमे की लेखनी द्वारा ही संरक्षित रहा था। सोसेकी शास्त्रीय के साथ ही पश्चिमी ज्ञान के भी विद्यार्थी थे। १९१२ के प्रकृतिवादी लेखकों की चरम सीमा की प्रवृत्तियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप आदर्श अधिक शक्तिशाली हो गया। यह प्रतिक्रिया प्रथम महायुद्ध के परिणामों में से एक थी, इसकी पुष्टि हुई तथा यह पुनः संचालित हुई। महायुद्ध

के बाद वर्ग-संघर्ष के महत्त्व के विकास के साथ जापानी साहित्य वर्ग-सुधार की समस्या से अत्यधिक प्रवाहित था।

साहित्यिक क्षेत्र ही ऐसे थे, जहाँ कि पश्चिम के गैर आर्थिक विचारों और आदर्शों को बहुत अधिक सुना जाता था। और स्कूलों कि अपेक्षा साहित्यिक के जरिये ही ये विचार आधुनिक जापान में प्रचलित हुए। तीन चौथाई शताब्दी के विदेशी सहवास द्वारा जहाँ नाटकों पर उपन्यासों की तरह बहुत अधिक असर तो नहीं हुआ, पर नाटक एकदम अछूते नहीं रहे। पुनस्संस्थापन के पूर्व नाटकीय कला के चार स्वरूप थे।

राजगृहों, अधिकारसम्पन्न शाही व्यक्तियों तथा दरबारी अंगरक्षकों के लिए "नो" नामक धार्मिक नृत्य से विकसित जापानी नाटक होता था, राजकीय नृत्य या गीत होते थे, जिनकी भावना धार्मिक अथवा युद्धीय होती थी। नाटक करने वालों की वेश-भूषा काफी परिष्कृत होती थी। नो-नृत्य की निरुल्लासता के कारण उसमें बीच के अवकाशों में प्रहसन जोड़ना रिवाज-सा बन गया। परिणामस्वरूप काबुकी अथवा प्रहसन अस्तित्व में आया और इसके साथ पश्चिमी तरीके पर नाट्यशाला का उदय हुआ। पूर्व-पुनस्संस्थापन की अवधि के अंत तक यह स्थायी रिवाज था। प्रारम्भ में यह कानूनी राजाज्ञा द्वारा था, कि महिला का अभिनय पुरुषों को करना चाहिए। नाटक के पुरुष स्थायी रूप से पेशेवर होते थे, इस काम के लिए बहुत अधिक प्रशिक्षित होते थे। अन्य यांत्रिक व्यवस्थाओं के साथ घूमता-फिरता मंच का पदार्पण भी हो गया था। नाटकों की विषय-वस्तु या तो ऐतिहासिक अथवा पारिवारिक होती थी।

पुनस्संस्थापन के बाद कुलीन-वर्ग ने खुले रूप से जनसामान्य थियेटर को संरक्षण देना आरम्भ कर दिया, यद्यपि उन्होंने 'नो' नाटकों में रुचि लेना जारी रखा। महिलाएँ मंच पर प्रविष्ट हुईं। नये नाटकीय कला-कौशल भी प्रारम्भ किये गये, परन्तु जहाँ तक व्यावसायिक नाट्य-प्रदर्शन का सवाल था, जापानी कला प्रधान रूप से जापानी ही रही। शेक्सपियर के कुछ नाटकों का अनुवाद किया गया और अभिनीत किया गया, कुछ यूरोपीय नाटककारों के नाटक भी अभिनीत हुए, परन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। कुछ प्रसिद्धि-प्राप्त नाटककार ऐसे थे, जिनके नाटकों का प्रदर्शन पश्चिम में हुआ था, परन्तु उनके नाटकों को बहुधा व्यावसायिक कलाकारों की अपेक्षा नये कलाकार ही अभिनीत किया करते थे। वे अपने कार्यों को मंच की अपेक्षा पत्रिकाओं में अधिक अंगीकार किया जाता, अनुभव करते थे।

जापान में बहुत अधिक ध्यान देने योग्य क्रमिक विकासों में से एक था, वहाँ के समाचार-पत्र और पत्रकारिता का साहित्य। समाचार-पत्र ऐसी चीज तो पूर्णतया आधुनिक है, और इसका वास्तविक विकास बीसवीं सदी की प्राथमिक दशाब्दियों की बात थी। कुछ समाचार-

पत्रों का प्रारम्भ प्रथम संधिपत्रों पर हस्ताक्षर होने के तुरन्त बाद हो गया, परन्तु अधिकांश का जीवन बहुत छोटा था। १८६८ में केवल दो समाचार-पत्र थे। अन्य की स्थापना १८७१-१८७२ में हुई और जैसे संविधान के लिए आन्दोलन आरम्भ हुआ, पत्रों की संख्या कई गुना हो गयी। वे अधिकांशतः उन व्यक्तियों के मुखपत्र थे, जो शासन के विरोध में थे। इससे शासकीय दैनिक पत्रों की स्थापना की दिशा में कदम बढ़ा। वे सब परस्पर आरोप-प्रत्यारोप में ही रुचि रखते थे, न कि प्रतिदिन के समाचारों के एकत्रीकरण और प्रस्तुतीकरण में। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने पाठकों का समर्थन खो दिया जिन्हें कुछ समय में वादविवाद से चिढ़ हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक दृष्टिकोण से वे अपवाद ही ठीक उपक्रम थे। इनमें एक उल्लेखनीय अपवाद था "जिजि शिम्पो" जिसकी स्थापना १८८२ में हुई। यह राजनीतिक-साहित्यिक उपक्रम था न कि पूर्णतया व्यावसायिक, जैसे कि टोकियो के कुछ पत्र थे। पूर्णतया व्यावसायिक समझा जानेवाला समाचार-पत्र पहली बार ओसाका में पनपा। ओसाका "असाही शिम्बुन" तथा ओसाका "मैनिची शिम्बुन" पत्र निकाले गये, मालिकों और सम्पादकों के विचारों का प्रसार करने के लिए नहीं, बल्कि समाचारों के एकत्रीकरण व विक्रय द्वारा उनके लिए कमाने के लिए। वे इतने सफल हुए कि इसी उद्देश्य के लिए और भी स्थापित हुए। इसके पश्चात् शासकीय निगरानी व अन्य कई कठिनाइयों के बावजूद संख्या तब तक बढ़ती गयी, जब तक जरा भी महत्त्व के शहर का अपना समाचार-पत्र हो गया, जबकि टोकियो में ५० से अधिक पत्र थे। ९०० जापानी समाचार-पत्रों के अलावे कई विदेशी भाषाओं के पत्र भी थे, जिनमें कुछ तो उत्कृष्ट पत्रिकाएँ थीं। सभी प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ जिनमें धार्मिक प्रकाशन, वैज्ञानिक, व्यापारिक और आर्थिक, साप्ताहिक व मासिक, महिलाओं और बच्चों की पत्रिकाएँ तथा हास्य-पत्रिकाएँ शामिल थीं, जापान में प्रकाशित होने लगे। इन सभी प्रकाशनों पर, १९३१ के पहले तक भी, कम या अधिक कड़ा पूर्व-निरीक्षण रहता था, यद्यपि समाचार-पत्र और राजनीतिक पत्रिकाएँ ही केवल ऐसे थे, जिन पर गम्भीर असर हुआ था।

निरीक्षण अधिकारी द्वारा चेतावनी दी जाती है, कि किस बात का उल्लेख नहीं किया जाय और उस आदेश की अवज्ञा पर जुर्माने की सजा दी जाती है। प्रत्येक पत्रिका को उसकी प्रस्थापना पर २००० येन अथवा इससे कम धनराशि जमा (अधिकारियों के पास) करनी चाहिए, यह राशि राशिस्थान और अंक के प्रकाशन की अवधि पर निर्भर करती थी और प्रत्येक अपराध पर इस राशि में से जुर्माना काट लिया जाता है। जब इस प्रकार जमा राशि समाप्त हो जाती है, तो उसे फिर जमा करनी पड़ती है। प्रतिवर्ष समाचारों के प्रतिबंध को तोड़ने पर जारी होने वाले सम्मन का औसत लगभग २५० है, और

बिक्री से रोके जाने वाले अथवा निलम्बित होने वाले अंकों का औसत १७५ है। इसी प्रकार प्रकाशन-पूर्व निरीक्षण पुस्तकों के प्रकाशन पर लगाया जाता है और प्रतिवर्ष बीस हजार के कुल प्रकाशनों में निषेध होने वालों की संख्या करीब ५०० है जिनमें ३७ विदेशों से आयात होने वाली पुस्तकों के सम्बन्ध में हैं।[५]

प्रकाशन के पूर्व निरीक्षण का उद्देश्य "खतरनाक विचारों" के प्रसार को रोकना अथवा अवांछनीय समझी जाने वाली सूचनाओं को विभिन्न कारणों से लोगों के पास पहुँचने से रोकना था।

इस नियंत्रण के बावजूद भी, यह मानना पड़ेगा, कि समाचार-पत्र लगातार ताकतवर होते गये। यदि उसका पक्ष काफी अच्छा है, तो वस्तुतः एकमतेन पत्रों का विरोध शासन को गिराने की स्थिति ला सकता है अथवा अन्य देशों की तरह जापान में नीति के सुधार की स्थिति ला सकता है। पूर्व-निरीक्षण मंत्रिमंडल अथवा प्रशासकों की आलोचना को रोकने के लिए कायम नहीं रखा गया था, बल्कि वर्तमान व्यवस्थापनाओं के लिए विध्वंसक विचारों के प्रसार को रोकना था।

जापानी कला-कौशल

जापानी कला और कलात्मक प्रकार के स्वदेशीय कौशल ने आलोच्य अवधि में निश्चयात्मक प्रगति नहीं दिखायी और कुछ अर्थों में उसका ह्रास हुआ। पुनस्संस्थापन के पूर्व पेंटिंग तथा सजावट-कला बहुत अधिक विकसित थी, जहाँ उसमें प्रभावशाली चीनी असर दिखता था, बहुत-से अंशों में जापानी छात्रों ने अपने महाद्वीपीय शिक्षकों को भी पीछे डाल दिया। चीनियों की तरह उनका रेखा-कार्य उत्कृष्ट था, जिसका कारण था अच्छे लेखन की कला के हिस्से की तरह ब्रश के उत्तम कार्य का विकास। चित्रण किये जाने वाले विषयों की खोज प्रकृति में होती थी, और प्राकृतिक तथा ग्राम्य दृश्य का चित्रण विशेष कर अच्छा होता था, यद्यपि सजायी हुई आकृति उत्कृष्टतया अंकित होती थी। प्राकृतिक या ग्राम्यदृश्य की पेंटिंग में जहाँ तक चित्र-विज्ञान का संबंध है और जहाँ तक चित्रण पूर्णतया काल्पनिक नहीं है, उसे छोड़, प्रकृति का काफी मात्रा में अनुसरण किया जाता था। पुराने जापानी पेंटिंग और प्रिंट का उद्देश्य विषय का संकेत करना होता था न कि उसके विस्तार को दर्शाना। इससे उनके चित्रण को यूरोपीय मालिकों के साथ अच्छी तुलना करना असम्भव है।

पुनस्संस्थापन के पश्चात् पश्चिमी कला की विधियों व धार्मिक नियमों को आरम्भ करने का प्रयास किया गया, इस हेतु १८७५ में एक शिक्षक इटली से बुलाया गया। परन्तु यूरोपीय कला ने लम्बे और सम्मानित स्वदेशीय परम्परा का मुकाबला किया, जल्दी ही

जापानी कला में प्रतिक्रिया हुई। यह विदेशियों द्वारा स्वयं प्रोत्साहित की गयी, केवल एक बहुत अच्छे कारण के लिए कि जापानी कला के यूरोपीकरण से विश्व को विचारणीय प्राप्ति की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। इसके अतिरिक्त जापानी जनता ने पश्चिमी शैली की पेंटिंग में स्वयं इस सीमा तक रुचि नहीं दिखायी कि कुछ को इस बात के लिए प्रोत्साहित करती, जो कि स्वराष्ट्रीय परम्परा से पूर्णतया अलग हो गये थे। तरुण पेंटरों ने पश्चिम को खींचने का प्रयास किया, अनुकरण द्वारा नहीं, बल्कि दोनों कलाओं के उत्तम तत्त्वों के मेल द्वारा। इस आन्दोलन से कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं आयी। इस प्रकार संक्षिप्त में कहा जा सकता है। एक प्रबल रूढ़िवादी प्रभाव था, जो इस प्राचीन धर्म-नियमों को कायम रखने की प्रवृत्ति को सबल करता था, पेंटरों का एक छोटा-सा गुट था जो पश्चिमी तरीकों पर पेंटिंग करने का प्रयास करता था, तथा एक बीच का गुट था जापानी परम्परा का संरक्षित रखने की कोशिश की, परन्तु जिसने पश्चिम में अध्ययन किया था और वह पुरातन कला के साथ विदेश की टेकनिक की तरक्की का मेल कर उसका विकास करने का प्रयास करता था।

पुरातन जापान सभी प्रकार के धातु-कार्यों में भी बहुत आगे था। ब्रोंज का काम आकार में बुद्ध की कामाकुरा और नारो सदृश विशाल मूर्ति से लेकर छोटे मंदिर व घरों के आभूषणों तक होता था। बड़े पैमाने के काम में ढलाई की उपलब्धियों का अतिक्रमण केवल छोटों की उत्तमता ही करती थी। बाद के सब काम केवल ब्रोंज़ के ही नहीं थे। अद्‌भुत तलवार-रचना तथा तलवार-सजावट तथा तम्बाकू के पाइप केस और तम्बाकू की थैली के लिए छोटे घुमावदार सज्जा-सामग्री अन्य पदार्थों में किये जाने वाले कामों के उदाहरण हैं। हाथी-दाँत, काष्ठ की मूर्तिकला तथा नक्काशी अत्यधिक विकसित थे। बौद्ध मत तथा सैन्य समाज दोनों ने इन सब रास्तों में उपलब्धियों को प्रोत्साहित किया।

तुलनात्मक दृष्टि से आधुनिक कार्य में से कुछ पुरानी कला के बहुत सन्निकट था। परन्तु जापान और पश्चिम दोनों में सस्ती सजावट कला की बढ़ती माँग और उत्पादन में समय की कीमत का तथ्य प्रविष्ट होने से काम की प्रवृत्ति व्यावसायिक होने लगी जिसका परिणाम उपलब्धियों की कमी में हुआ। अधिकांश काम वास्तविक व सही दृष्टि से कलात्मक की अपेक्षा सज्जात्मक अधिक होता था।

पश्चिम में जापान के चीनी मिट्टी के बर्तन व पाटरी की बहुतायत माँग का मिट्टी के बर्तन बनाने के उद्योग पर बुरा असर हुआ। घरेलू बाजार के लिए उत्तम बर्तन तैयार किये जाते थे, और पुराने स्तर के पूर्णतया बराबर थे। यही बात धातु के छोटे टुकड़ों से बने खाने के जापानी सामानों पर भी लागू होती थी। अधिकांश आधुनिक कार्य निम्नस्तर का था। तथापि कुछ कलाकारों का काम न केवल बराबर था, बल्कि भूतकाल के उत्तम

कार्य से भी सचमुच अच्छा था। "ताँबे के स्थान पर चाँदी का आधार बनाने प्रयोग, और सतह पर इश्मे-विधि से अच्छे डिजाइन बनाना वह अधिक आराम से, कला का नवीनतम विकास है। एण्डो ने अल्प पारदर्शक डिजाइन की फ्रांस-विधि का सफलतापूर्वक अनुकरण किया तथा ओटा लाल एकरंगा चित्र तैयार कर रहा है, जो कि इस सुन्दर कला-कौशल में सभी कामगारों की महत्त्वाकांक्षा है।"[१६] मद्यसार में मिला वारनिश व चित्रकारी का काम, कसीदाकारी तथा बुनाई भी कम से कम उतनी अधिक विकसित हुई, जितनी कि भूतकाल में थीं। पश्चिम में जापान के स्वदेशीय कार्य का स्वागत हुआ, साथ ही शाही दरबार व शाही व्यक्तियों के संरक्षण ने इन स्वदेशीय कला-कौशल के विकास व संरक्षण को प्रोत्साहित करने का काम किया। आधुनिक व्यावसायिक प्रभाव ने कलाकार को बदल कर केवल शिल्पी बने रहने की ओर प्रवृत्त किया, यह सही है परन्तु अन्य प्रभावों ने कलाकार को संरक्षित रखने में साथ दिया। बहुत से उदाहरण यूरोपीय और अमेरिकी बाजार में निम्नस्तर व सस्ती वस्तुओं के पहुँचे। वे व्यावसायिक उत्पादन में से थे, जिसकी जापान में खपत होती थी अथवा जो बिरले ही पश्चिम में पहुँच पाता था वह आधुनिक जापानी कलाकार की कलात्मक उपलब्धि को प्रदर्शित करता था।

जापान में गैरसरकारी कला का विशिष्ट गुण उसकी अत्यधिक सरलता के साथ ही उसकी निर्माण की निर्बलता था। शहरों में छतों पर टाइल्स छाये जाते थे, जबकि ग्रामों में धनी किसानों को छोड़ जो कि टाइल्स का प्रयोग करते थे, छतें फूस की होती थीं। भीतरी दीवारें सरक सकनेवाले चौखटे की बनी होती थीं, जो पूरी तरह से हटायी जा सकती थीं, जब भी दो या तीन कमरों को मिलाकर एक करना हो। सार्वजनिक भवन, जैसे बौद्ध-मंदिर विशेष परिष्कृत रहते थे, कला की दृष्टि से उतने नहीं, जितने शायद सज्जा सौंदर्य की दृष्टि से। उनकी शैली चीनी थी और वह स्वाभाविक रूप से जापानी परिस्थितियों में अपरिवर्तित थी। शिन्टो-समाधियों में स्वदेशी कला-सौंदर्य और लोगों की प्रारम्भिक सरलता प्रदर्शित होती थी। पुरातन निवासियों की पुरानी काष्ठ की झोपड़ियों के ये विस्तृत रूप थे। इसकी विशेषता थी, मुख्य द्वार जिसमें होकर उपासनार्थी समाधि तक पहुँचते थे। यह दो सीधे लकड़ी के दोनों ओर खड़े खम्भों पर ऊपर लकड़ी के बने हुए आड़े चौखटे से जो छिद्र से उसमें फँसे रहते थे, और बाहर निकले रहते थे, मिल कर बनता था।

पश्चिम के सम्पर्क का कलात्मक दृष्टि से मंदिर व समाधि अप्रभावित रहे। दूसरी ओर सरकारी भवन पश्चिमी या छद्म-पश्चिमी शैली में निर्मित होना आरम्भ हो गया जो अपने अगल-बगल की स्थिति से तादात्म्य बनाने में एकदम असफल हुए। शहरों में विदेशी शैली पर निर्मित आवास, स्टोर्स तथा उत्पादन-संस्थान बड़ी संख्या में व सामान्य

थे। भवनों की ऐसी कोई शैली नहीं निकाली गयी; जो कि विदेशी भवनों के लाभ भी दे सके साथ ही जापानी वातावरण में भी पूरी तरह एकरस होकर जम सके ।

(१०) धर्म

जापानी भूखंडों में प्रमुख सौंदर्य है, वहाँ के मंदिर अथवा समाधियाँ, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि लोग बहुत धर्मनिष्ठ थे तथा अपनी रुचियों व दृष्टिकोण में तीव्र धार्मिक थे। तदनुसार यह वर्णन आधुनिक जापान में धर्म के स्थान पर विचार किये बिना पूर्ण नहीं हो सकता ।

संगठित सम्प्रदाय तीन थे––शिन्टो जो शासन का धर्म भी था, बौद्ध व ईसाई सम्प्रदाय। कन्फूशियस मत का अस्तित्व पृथक्-उपासना-पद्धति के रूप में नहीं था, यद्यपि सम्भवत: सभी गैर-ईसाई उच्चवर्गीय जापानी स्वयं को कन्फूशियसवादी कहते । परिवार-पद्धति और वंशगत पूजा पद्धति सचमुच में स्वदेशीय थी परन्तु नैतिकता की कन्फूशियन्न संहिता पुत्र या पुत्र संबंधी सद्‌गुणों पर जोर देता था, स्वदेशी पद्धति को रखने पर जोर देता था।

शिन्टो जो "ईश्वरों का मार्ग" था जापानियों का मूल विश्वास था, जो एक आंदोलन के भाग के रूप में पुनर्जीवित किया गया, जो निजी के पुनस्संस्थापन के बाद शिखर पर पहुँच गया। इस सम्प्रदाय का शासन पक्ष लेता था यद्यपि सरकार सार्वजनिक रूप से इसे सम्प्रदाय की तरह नहीं मानती थी। सार में यह एक पुश्तैनी पूजा-पद्धति थी। शिन्टो देवता और समाधियों का शासकीय स्थान के अनुसार वर्गीकरण होता था। राष्ट्रीय समाधियाँ, जिनमें आइस की महान् समाधि को प्रथम स्थान देना चाहिए, पौराणिक काल के देवताओं की पूजा के लिए समर्पित थे। प्रत्येक ग्राम की अपनी समाधि होती थी, जो स्थानीय हीरो अथवा अन्य महान् कार्य करने वाले व्यक्ति को समर्पित की जाती थी। इन दो के बीच में वे होती थीं, जो प्रसिद्ध देशभक्तों की स्मृति में समर्पित की जाती थीं। इसके अलावे प्रत्येक कुटुम्ब की अपनी समाधि होती थी, जिसके समक्ष वह अपने पारिवारिक पूर्वजों की पूजा करता था, क्योंकि सभी मृतकों की आत्माएँ राष्ट्रीय देवता अथवा "ईश्वरवत्" प्राणी थे। १९३३ में १२ श्रेणी की समाधियों की कुल संख्या १,११,०३७ थी। इनकी सेवा में १५,५८६ पुजारी संलग्न थे। इससे अधिकृत रूप से व्यवस्थापित व सक्रिय उपयोग में आने वाली समाधियों की संख्या में गिरावट प्रदर्शित होती है, क्योंकि १९०८ में समाधियों की कुल संख्या १,६२,००० से अधिक थी। पुजारियों की संख्या लगभग वही रही, उसमें बहुत कम गिरावट हुई। अधिकृत मान्यता प्राप्त १३ शिन्टो पंथ थे और १९३३ में घोषित आस्थावान् व्यक्ति १७० लाख थे।[१७]

आधुनिक समय में शिन्टोवाद की प्रमुख महत्ता धार्मिक की अपेक्षा राष्ट्रवादी अधिक

थी। अनुमानानुसार राष्ट्र की और उसके शासकों की दैवी उत्पत्ति पर आधारित प्रखर देशभक्ति पैदा करने के द्वारा राज्य और राजभवन के प्रति भक्ति को विकसित करने में इसका उपयोग होता था। शिक्षा के प्रसार के साथ इसका जनता पर अधिकार कमजोर होने लगा, यद्यपि मुख्यतः अधिकतर शिक्षित-वर्ग में ही यह था कि आधुनिक वैज्ञानिक विश्व में इसकी असम्बद्धता की टीका अनुभव की जाती थी, तथापि शासक यह अनुभव करते थे कि देशभक्ति की उपासना-रीति में उनके पास राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति को 'यथावत्' कायम रखने के उत्कृष्ट साधन हैं। इसके परिणाम के बतौर लोग उनके विश्वासों में उनके द्वारा प्रोत्साहित किये जाते थे, जो सम्भवतः स्वयं उन्हें अस्वीकार कर दिये होते।

जापान में महाद्वीप से बौद्ध मत का प्रवेश छठीं शताब्दी में हुआ। इसने आपको संघर्ष के बाद और उसके समझौता करने के रिवाज द्वारा स्थापित किया। इसने अपने देवताओं में शिन्टो देवताओं को बुद्ध अवतार मंजूर किया तथा जापान की शौर्य-भावना को भी छूट दी। जापान में नैतिक उत्थान और व्यक्तिगत चरित्र के क्षेत्र की अपेक्षा इसका प्रमुख योगदान कला, साहित्य और देश की सामान्य संस्कृति को प्रभावित करने में था।

१९३३ में अनेक विषयों के साथ १२ प्रमुख बुद्ध-पंथ थे। इनमें से तीन में अत्यधिक चेतन-शक्ति और वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल होने की अधिक शक्ति थी। ये पंथ थे जेन, निचिरिन और शिन। विभक्त होने की यह प्रवृत्ति जापानी बौद्ध मत के विशिष्ट गुणों में से एक थी। सभी पंथों के मिलाकर १९३३ में ७१ हजार से अधिक बौद्ध मंदिर थे, जिनकी देखभाल ५५ हजार से अधिक पुरोहित करते थे। बौद्धमत के लगभग ४८५ लाख अनुचर थे। चूँकि कई बुद्धवादी शिन्टोवादी और कई शिंन्टोवादी बुद्धवादी भी थे। उक्त आँकड़ों का यह संकेत पाने के लिए ठोस मूल्य नहीं है कि जिनसे दोनों संप्रदायों के अनुयायियों की तुलनात्मक शक्ति का संकेत मिल सके।

बुद्धधर्म के सम्बन्ध में शिन्टो धर्म की तरह यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि लोगों पर इसका प्रभाव वास्तविक की अपेक्षा नाममात्र को ही अधिक था। विगत शताब्दी के मध्य में बौद्ध मत निश्चल व प्रवाहहीन था। इसकी शक्ति पूर्व के कालों में अर्जित गति व कन्फूशियसवाद को छोड़ अन्य कोई विकल्प के अभाव से आयी। कन्फूशियसवाद की जड़ें कभी आम जनता में नहीं जमीं। चीन की तरह, बौद्धवादी पुरोहित का संबंध जीवन की अपेक्षा मृत्यु से ही था। पुनस्संस्थापन के बाद, राज्य से बौद्धमत का संबंध टूटने तथा ईसाई-मत से प्रतियोगिता ने आरम्भ में इसको कमजोर करने में किन्तु बाद को उसकी पुरानी जीवन-शक्ति काफी प्रमाण में लाने का कार्य किया। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध-

वादी नवयुवक संगठन संगठित किये गये, बालकों के लिए रविवासरीय स्कूल स्थापित हुए तथा फारमोसा व अन्यत्र प्रचार-कार्य हाथ में लिया गया। कुछ पुरोहितों ने ग्रामीण गिरजा-क्षेत्रों की समस्याओं में रुचि लेना आरम्भ किया तथा मंदिरों में ग्रामीण जीवन में पुनःप्रवेश का प्रयास किया। परन्तु आम तौर पर जापानी बौद्ध मत ने समुचित नैतिक संहिता अथवा कोई सामाजिक कार्यक्रम का विकास नहीं किया, जो कि वर्तमान समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप हो।

जैसा कि बताया जा चुका है, जापान में ईसाई-मत का सर्वप्रथम १६वीं सदी के मध्य में प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु लोगों में ठोस जड़ जमा लेना आरम्भ होने के बाद इसी शताब्दी के अंत तक इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। प्रारम्भ का यह कार्य रोमन केथोलिक का था। जापान के विदेशी आदान-प्रदान पुनः आरम्भ होने के बाद प्रोटेस्टेंट जापान में पुनः प्रवेश करने वाले प्रथम ईसाई थे। रोमन तथा रूढ़िवादी चर्च दोनों भी शीघ्र कार्य करने लगे। रोमन मुख्यतः फ्रांसीसी केथोलिक को रूढ़िवादी चर्च रूसी ईसाई-मत का प्रतिनिधित्व करते थे।

ईसाई-मत के प्रचार ने लम्बे समय तक धीमी प्रगति की और १९३३ तक भी केवल ३ लाख ने धर्मपरिवर्तन किया, जिनमें से आधे से अधिक पूर्व की दो दशाब्दियों में चर्चों में ले जाये गये थे। ऐसा दिखायी देता है, कि ६० वर्षों से अधिक काल में कुछ प्रगति हुई थी। दूसरी ओर ईसाइयत का प्रभाव और महत्ता को चर्च के दर्ज सदस्यों की संख्या से नहीं नापा जा सकता। मिशन-स्कूलों, ईसाई-युवक-सभा (वाय. एम. सी. ए.), ईसाई नवयुवती-सभा (वाय. डब्ल्यू. सी. ए.), पापों से मुक्ति की फौज तथा अन्य कई परोपकारी संगठनों द्वारा ईसाई-आदर्श का लोगों में अत्यधिक विस्तृत व व्यापक फैलाव हुआ, जितना कि आँकड़ों से प्रदर्शित हो सकता हो उससे भी अधिक।

ईसाई-मत के सफल प्रचार में सबसे बड़ी बाधा तीव्र और संकुचित राष्ट्रवाद था, जो कि ईसाई मत को विदेशी अंतरराष्ट्रीयता में विश्वास करनेवाला मानते थे और परिणामस्वरूप उसे ऐसी कुछ चीज समझते थे, जो राज्य को तथा व्यक्तिगत वफादारी को कमजोर करने वाला असर डालने वाली हो। दूसरे स्थान पर आधुनिक जापान का पदार्थवाद धर्म-परिवर्तन के कार्य में प्रमुख अड़चन थी। "ईसाई-मत का अनुयायी होना जापानियों को कोई समस्या नहीं हुई, क्योंकि वह शिन्टो और बौद्धमत के कारण इस अनुयायीकरण के अभ्यस्त हैं", परन्तु वह "ईसाई मत के नैतिक आदर्शों को सामान्य मनुष्य के लिए बहुत ऊँचा मानता है, विशेषकर व्यापारिक और घरेलू जीवन के लिए।[१८]

१९२० से १९३३ के तुलनात्मक दृष्टि से धर्मांतरण करने वालों की संख्या में अधिक वृद्धि को तीन प्रकार से समझाया जा सकता है। यह इस तथ्य के कारण हो सकता है, कि

समुचित परिणाम की अपेक्षा करने के पूर्व काफी लम्बे समय तक बहुत कठिन परिश्रम करना पड़ता है। इस प्रकार १९२० के बाद तो फसल काटने का समय था। नैतिक स्तरों को उन्नत करने और सामाजिक कार्यक्रमों का विस्तार करने की आवश्यकता की बढ़ती हुई मान्यता को यह प्रदर्शित कर सकता था। चूँकि समय की आवश्यकता के अनुरूप नैतिक और सामाजिक संहिता के जरिये अन्य पंथ बहुत कम योगदान प्रदान कर सकते थे, वहाँ ईसाइयत के प्रति एक आन्दोलन हो सकता था। अथवा यह ईसाई गिरजों के आंशिक जापानीकरण के परिणामस्वरूप हो सकता था, जिससे कि उनका विदेशी के नाते भय नहीं रह गया था। सम्भवतः ये सब धर्मान्तरण की तेजी का कारण समझा सकते हैं।

जापानी गिरजा-घर और अन्य ईसाई-संस्थाएँ धीरे-धीरे आत्म-नियंत्रण की ओर बढ़ने लगीं। यहाँ तक कि धीरे-धीरे आर्थिक दृष्टि से विदेशियों पर निर्भरता कम होने लगी, कुछ चर्च तो इस स्थिति तक पहुँच गये कि वे अपना खर्च पूर्णतया जापानी सदस्यों के चन्दों से स्वयं चलाने लगे। वास्तव में आनुपातिक दृष्टि से ईसाई-समाज इतना अधिक नहीं बढ़ा, जितना कि उसकी सहायतार्थ चन्दा। स्वतंत्रता की प्रवृत्ति १९२४ के बाद बहुत तेज हो गयी, चूँकि "हाल में जापानी चर्चों में एक आंदोलन दिखायी दिया जिसका उद्देश्य था, विदेशी मिशन मंडलों से, बहुत कर ब्रिटिश और अमेरिकनों से वित्तीय और अन्य संबंध विच्छेद कर लिये जायँ तथा ईसाइयत के प्रचार में पूरी छूट प्राप्त कर लें। यह कहना महत्त्वपूर्ण है, कि स्वतंत्रता-आन्दोलन की आवाज प्रथम बार १९२४ में अमेरिका में नये जापान-विरोधी देशान्तर-गमन-कानून के लागू होने के तुरन्त बाद उठी और तेजी से जड़ पकड़ने लगी, रोमन कैथोलिक और रूसी आरथाडाक्स चर्च को छोड़ प्रभावशाली जापानी ईसाइयों की बैठक टोकियो में आन्दोलन को सिद्धि की ओर ले जाने के तरीकों व रास्तों पर विचार-विमर्श हेतु की गयी।"[१९]

यह ध्यान देने योग्य है, कि यह आन्दोलन मिशनों के विरुद्ध लक्षित नहीं था परन्तु इसका उद्देश्य चर्च को विदेशी सहायता-प्राप्त मिशन से पूर्णतया स्वतंत्र करना था। यह भी कहा जा सकता है, कि सामान्य तौर पर इस आन्दोलन को जापान के मिश्नरियों का समर्थन प्राप्त था, जैसा कि ऐसे आन्दोलन को चीन में था। बहुतों को यह महसूस होता था, कि ईसाइयत जापान में शुद्ध जापानी संस्थाओं द्वारा कहीं अधिक प्रभावशाली तौर पर फैलायी जा सकती है। चर्च के साधनों द्वारा ईसाई-आदर्शों के प्रसार के जरिये अधिक स्वस्थ समाज-व्यवस्था विकसित हो सकती है, बनिस्बत उसके जो जापान के आर्थिक जीवन के आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप विकसित हुई थी। इस प्रकार इलाज भी पश्चिम से ही आरम्भ हो सकता है, क्योंकि बुराइयाँ आंशिक रूप से पश्चिम से जापान द्वारा उधार ली गयी वस्तुओं के परिणामस्वरूप विकसित हुई थीं।

तथापि अनेकों सम्प्रदायों और पंथों, तथा अपूर्व स्थानों पर निर्मित सुन्दर समाधियों व मंदिरों के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि जापानी तीव्र धार्मिक लोग हैं। समग्र रूप से पदार्थवाद पर जोर देने का प्रभाव, आधुनिक विज्ञान-शिक्षा का प्रसार और लोगों को बड़ी संख्या में शहरों में लाकर काम हेतु कारखानों में लगाना स्पष्ट रूप से पारम्परिक विश्वासों को कमजोर करने के लिए था। कहा जाता है, कि यह विश्वासों की कमी औद्योगिक कर्मचारियों में अधिक दिखायी देती थी। निश्चित रूप से, १९३१ तक उन पर शिन्टो के राष्ट्रीय पंथ का प्रभाव क्षीण हो गया था। विश्वासों की हो रही यह कमी राजनीतिक और औद्योगिक नेताओं को बहुत अधिक चिन्तित किये थी, क्योंकि इसने उनके सम्मुख इस विश्वास को पुनर्जीवित करने अथवा दूसरा लाने की आवश्यकता प्रस्तुत कर दी, जो समकालीन विचारों व आवश्यकताओं के साथ एकरस हो एवं कुछ उपयोगी होने के साथ व्यक्ति और राज्य में एकात्मता स्थापित करने वाले बंधन की तरह हो। यह सब १९३१ और १९४५ के बीच, सुरक्षात्मक कदम की तरह विस्तार से संलग्न राष्ट्रीय सरकार के समर्थन की परिश्रमी उन्नति में खोजा गया। शिन्टो-विचारों पर पुनः बल देने में यह बात प्रधान रूप से पायी गयी। पुनस्संस्थापन के पूर्व के दिनों की तरह जापान की बुराइयों का आरोपण विदेशी आयात पर किया गया तथा व्यापक हितों की तुलना में निजी और वर्गहितों को गौणता के जरिये राज्य के शुद्धीकरण पर बल दिया गया, जैसा कि व्यापक हितों को मिलिटरी-नेताओं ने शासकीय परिभाषा में समाज का निर्लिप्त तत्त्व निरूपित किया है। इस नये राष्ट्रवाद ने विदेशी संपर्कों से रंगे हुए संस्थाओं अथवा कार्यों—जैसे कि ईसाई-मत—पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

पन्द्रहवाँ अध्याय

जापान की आर्थिक व राजनीतिक प्रगति (१८९५--१९३१)

चीन और रूस के साथ हुए युद्धों व उनके परिणामों के वर्णन से सन् १८९५ के बाद के जापान के आंतरिक राजनीतिक इतिहास का विवरण में व्याघात हो गया था, किन्तु सन् १९०५ के बाद की जापानी नीतियों और उसकी अंतरराष्ट्रीय स्थिति समझने के लिए सन्. १८९५ के बाद जापान में हुई घटनाओं का विवरण आवश्यक है।

सन् १८८९ में जापान में संविधान लागू हुआ था और नयी शासन-प्रणाली सन् १८९० में चालू हुई थी। इस नयी प्रणाली में शासनतंत्र का नियंत्रण आम जनता को नहीं सौंपा गया था, क्योंकि कार्यकारिणी पर नियंत्रण की शक्ति प्रतिनिधि-सभा को नहीं मिली थी। अतएव, सन् १८८९ से सन् १८९४ तक मंत्रिमण्डल में जमे हुए कुल नेताओं तथा प्रतिनिधि-सभा का नियंत्रण करने वाले राजनीतिक-दलों के बीच लगातार खींचातानी होती रही। डायट में सरकार पर नियंत्रण रखने की शक्ति नहीं थी, किन्तु, इतनी शक्ति तो अवश्य ही थी कि वह सरकार को व्याकुल और व्यग्र बनाये रहे।

(१) राजनीतिक दलों का विकास

इटागाकी व ओकूमा के नेतृत्व में राजनीतिक दल संगठित ही इसलिए हुए थे कि चोशू व सत्सूमा कुलों द्वारा सरकार के नियंत्रण के विरुद्ध संघर्ष किया जा सके और राजनीतिक प्रणाली को कम से कम अर्धप्रतिनिधित्वपूर्ण होने का रूप दिया जा सके। काफी समय तक ये दल, मूलतः, ओकूमा व इटागाकी जैसे नेताओं के अनुयायियों के समूह मात्र थे और एक दल में उनकी मौजूदगी सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके राजनीतिक विश्वास या सिद्धान्त नहीं, नेताओं के व्यक्तित्व के कारण थी। जियोटो (उदार दल) जिसके नेता काउण्ट इटागाकी थे, और काइ शिण्टो (प्रगतिशील दल), जिसके नेता काउण्ट ओकूमा थे, दोनों ही संविधान की स्थापना और कुल-नियंत्रण से मुक्त प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन के लिए संघर्षरत थे, किन्तु सन् १८९८ तक वे एक दल नहीं बन सके, और जब हुए भी तब भी केवल अस्थायी रूप से, क्योंकि मूलतः तो वे दो सबल व्यक्तियों द्वारा संगठित गुट मात्र थे।

डायट की स्थापना से दलों के नेताओं को एक ऐसा सुविधाजनक केन्द्र प्राप्त हो गया था जहाँ से वे कुल-नियंत्रण के विरोध के लिए प्रतिनिधिपूर्ण शासन पर दल-नियंत्रण के सिद्धान्त को अमल में लाने के लिए काम कर सकते थे। शुरू से ही उन्होंने अपना यह इरादा प्रकट कर दिया था कि वे ऐसी सरकार का विरोध करेंगे, जिस पर डायट का नियंत्रण नहीं हो। उन्हें आशा थी कि इस विरोध के द्वारा वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करवा लेंगे कि मंत्रिमण्डल ऐसे बनें, जिन्हें डायट के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। इस योजनाबद्ध विरोध के द्वारा सदन ने एक के बाद दूसरे मंत्रिमण्डलों का पतन तो करवा दिया, पर एक मंत्रिमंडल के गिरने के बाद दूसरा कौन बनाये, इसका नियंत्रण वह नहीं कर सका। दूसरी ओर, इस विरोध को समाप्त करने के लिए शासन ने कई बार सदनों को भंग करवा दिया था। निर्वाचन-तंत्र के नियंत्रण के द्वारा शासन ने चुनावों पर भी प्रभाव डालने का प्रयत्न किया। किन्तु दोनों पक्षों के अपनी-अपनी स्थिति पर कायम रहने के कारण दल-नियंत्रण व उत्तरदायित्वहीन शासन के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। स्वयं ईटो भी सदन का विरोध समाप्त नहीं कर सके और उन्हें भी सम्राट् के शासनादेश का सहारा लेना पड़ा। इस परिस्थिति में, सरकार के समर्थन में जनमत बनाने के लिए सन् १८९४ में उन्होंने कोरिया के प्रश्न का उपयोग किया।

अस्थायी रूप से ईटो इसमें सफल भी हुए, किन्तु, युद्ध के फलस्वरूप एक नये सघर्ष का जन्म हो गया, यह था स्वयं अल्पतंत्र के भीतर का संघर्ष। सम्राट् की पुनस्संस्थापना के समय से ही राष्ट्रीय नीति के संबंध में दो परस्पर विरोधी मत रखने वाले दो गुट इस अल्पतंत्र में मौजूद थे। यह मत-वैषम्य फारमोसा के प्रश्न पर युद्ध या शांति के रूप में प्रकट हुआ था। जैसा कि बताया जा चुका है, चीन-जापान युद्ध के समय तक शांति-दल ही सबल रहा। युद्ध के साथ युवराज यामागाटा के नेतृत्व में दूसरे दल का प्राधान्य हो गया और उसने धीरे-धीरे ईटो के गुट को पीछे, गौणस्थान में धकेलना शुरू कर दिया। इस प्रकार, एक विदेश में युद्ध छेड़कर ईटो ने इस संघर्ष को तो अस्थायी रूप से समाप्त कर दिया, किन्तु इसके फलस्वरूप, उन्होंने नेतृत्व के विरुद्ध ऐसी चुनौती पैदा कर ली, जो दलों के विरोध से भी अधिक प्रबल थी।

शासन की कुल-प्रणाली की तर्कसंगत परिणति सैनिक-नियंत्रण में होनी ही थी। पुनस्संस्थापना के बाद सेना के पुनस्संगठन और नौसेना के संगठन पर देश के दो सबसे बलवान् कुलों ने दोनों के उच्चपदों पर अपनी इजारेदारी कायम कर ली। नौसेना पर सत्सूमा का आधिपत्य हुआ और सेना पर चोशू का, क्योंकि यामागाटा ने, जोकि स्वयं चोशू थे, सेना का राष्ट्रीय आधार पर पुनस्संगठन किया था। जो भी किसी ऊँचे पद पर था, चाहे वह चोशू हो या न हो, वही यामागाटा का अनुयायी था क्योंकि उन्हीं के

बदौलत उसे यह पद प्राप्त हुआ था। स्वभावतः सेना व नौसेना के लोग अपनी-अपनी शाखा के विकास में दिलचस्पी रखते थे। शुरू में सेना का महत्त्व अधिक था, क्योंकि राष्ट्रीय सुरक्षा व अधिकार-क्षेत्र के विस्तार के लिए वही अधिक आवश्यक मानी जाती थी और इसीलिए अल्पतंत्र के आंतरिक संघर्ष में सेना की भूमिका ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही।

साधारणतः, समझा यह जाता था कि नागरिक शासन की विभिन्न शाखाओं द्वारा निश्चित राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वय के लिए ही रक्षा-सेना के दोनों भागों का अस्तित्व था। किन्तु युवराज यामागाटा सैनिक नेता होने के साथ ही साथ राजनीतिज्ञ भी थे। उनकी राजनीतिक दिलचस्पी सेना के विकास तथा अपने गुरु तथा पुनस्संस्थापना के पूर्व के बड़े साम्राज्यवादी नेता, योशिदा के स्वप्न को पूरा करने के लिए उस सेना के उपयोग में थी। और जब तक सरकार के नीति-निर्धारक विभागों पर अल्पतंत्र के शांति व आंतरिक प्रगति के समर्थक गुट का नियंत्रण था, इसकी उपयुक्त व्यवस्था हो नहीं सकती थी। किन्तु, जब चीन से युद्ध चल ही रहा था, प्रिवी कौंसिल को इस बात पर राजी कर लिया गया कि एक अध्यादेश जारी कर यह व्यवस्था कर दी जाय, युद्ध व नौसेना के मंत्री केवल इन सेवाओं के उच्चपदस्थ अधिकारी ही हुआ करें।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी मंत्रिमण्डल तब तक पूरा नहीं हो सकता था, जब तक सत्सूमा व चोशू (अर्थात् मुख्यतः यामागाटा) कुलों के सैनिक नेता उसका समर्थन न करें। यह समर्थन सामान्यतः तभी प्राप्त होता था, जब मंत्रिमण्डल इन दोनों रक्षा-सेवाओं के विकास के लिए अपने आय-व्यय में उपयुक्त धनराशि की व्यवस्था कर देता था, और इसका तात्पर्य यह होता था कि अप्रत्यक्ष रूप से मंत्रिमण्डल को मुख्य एशिया महाद्वीप की भूमि पर जापान के विस्तार की नीति का समर्थन करना पड़ता था।

सन् १८९४ में ईटो प्रधान मंत्री थे। चीन से युद्ध में सफलता से उत्पन्न उत्साह तथा इटागाकी को गृहमंत्री बनाने से जियोटो-दल से हुई साँठ-गाँठ के फलस्वरूप ईटो दो वर्ष तक इस पद पर बने रह गये। उनके बाद सन् १८९६ में काउण्ट मत्सूकाटा प्रधान मंत्री हुए, जिनके छोटे-से कार्यकाल में "प्रगति-दल के नेता के रूप में नहीं, वरन् उन्हें अपने दल से पृथक् कर देने के उद्देश्य से ही"[2] काउण्ट ओकूमा मंत्री बनाये गये। चूंकि यह मंत्रिमण्डल डायट पर नियंत्रण नहीं रख सका ईटो को फिर से प्रधान मंत्री बनाया गया।

सन् १८९८ तक यह प्रकट हो चुका था कि एक ओर अल्पतंत्र के भीतर और दूसरी ओर कुल-नेताओं व राजनीतिक दलों के बीच भीषण संघर्ष चल रहा था। जब ईटो ने दूसरे कुल-नेताओं के समक्ष सुझाव रखा कि एक शासन-दल की स्थापना की जाय तो दोनों संघर्ष मिलकर एक हो गये। यामागाटा ने यह सुझाव नहीं माना, किन्तु ईटो

का यह दूसरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि प्रतिनिधि-सभा में किसी भी कुल-नेता का बहुमत न होने के कारण दल-नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया जाय। यह लगता है कि यामागाटा अपने इस विश्वास के कारण ही इस प्रस्ताव से सहमत हो गये थे कि पहले तो दल-शासन चलेगा ही नहीं और फिर उस पर युद्ध व नौसेना के मंत्रियों द्वारा नियंत्रण किया जा सकेगा।

अतएव, सन् १८९८ में, ओकूमा व इटागाकी को, जिन्होंने अपने-अपने राजनीतिक दलों को मिलाकर संविधान-दल, केनसीटो की स्थापना कर ली थी, मंत्रिमण्डल बनाने का आमंत्रण मिला। यह तथाकथित दल-मंत्रिमण्डल केवल चार महीने ही टिका। शुरू से ही दल के दो भागों में, मुख्य रूप से पदप्राप्ति के प्रश्न पर, मतभेद हो गया। दोनों दलों को मिले हुए इतना समय अभी नहीं हुआ था कि उनके बीच कार्यक्रम के संबंध में संतोषजनक समझौता हो चुका होता या दोनों मिलकर एकरस हो गये होते। जब नेताओं को मंत्रिमण्डल बनाने को बुलाया गया, तब उन्हें आश्चर्य ही हुआ था और इरादा भी शायद उन्हें आश्चर्य में डाल देने का ही था, दोनों दलों के बीच समझौता बहुत हड़बड़ी में हुआ था। यह प्रयोग अपने उपयुक्त समय से पहले होने के कारण असफल रहा और इससे कुल-नेताओं की स्थिति पहले से भी अधिक मजबूत हो गयी।

राजनीतिक-दलों के हाथ शासन-संचालन देने को व्यर्थ सिद्ध कर देने के पश्चात् यामागाटा एक ऐसी सरकार बनाने को तैयार हुए, जो हो तो निर्दलीय, पर जिसे जियोटो-दल का व्यावहारिक समर्थन प्राप्त हो। इस प्रकार, कुल-नेता दलों को स्वीकार करते जा रहे थे, किन्तु अभी उन्हें शासन-सत्ता देने को तैयार नहीं थे। यह यामागाटा मंत्रिमण्डल अल्पतंत्र में फौजीगुट की विजय का भी प्रतीक था।

स्पष्ट था कि केवल ईटो ही ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति थे, जो यामागाटा गुट के स्थायी नियंत्रण की स्थिति में जमने का विरोध कर सकते थे, और उन्हें भी अल्पतंत्र के बाहर की शक्ति की सहायता की अपेक्षा थी। अपनी इस स्थिति को स्पष्टतः स्वीकार कर उन्होंने सन् १९०० में रिक्कन सीयूकाई (वैधानिक शासन के मित्रों का संघ) दल को जन्म दिया और वह ही उसके मान्य नेता हुए। संगठन के साथ ही यह दल डायट में सबसे बड़ा दल हो गया। इसी समय प्रगतिशील दल का पुनस्संगठन हुआ और ओकूमा के ही नेतृत्व में वह केनसीहोण्टो नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन दो घटनाओं से डायट में यामागाटा के अनुयायियों की संख्या नगण्य हो गयी और उन्होंने अपने पद से अवकाश ग्रहण कर लिया। उनके बाद पद पर आने वाले ईटो को प्रतिनिधि-सभा में तो काफी समर्थन मिला, किन्तु कुल-प्रतिनिधित्व वाले उच्च सदन में इस बात को बुरा माना गया कि ईटो राजनीतिक दलों का समर्थन लेने गये और यामागाटा के निर्देशन में उच्च सदन ने उनका

विरोध शुरू कर दिया । इसके अतिरिक्त, दल-नेता के रूप में भी ईटो असफल सिद्ध हुए । अपने तानाशाही ढंगों से उन्होंने अपने कुछ समर्थकों को नाराज कर दिया और कुछ अन्य समर्थक इस बात से अप्रसन्न हो गये कि सार्वजनिक सेवाओं में उनकी इजारेदारी कायम न करके ईटो ने उनके हितों का खयाल नहीं किया था । अब यह स्पष्ट हो चुका था कि राजनीतिक-दल सार्वजनिक हित में शासन पर नियंत्रण करने की जगह पदों के लाभ में अधिक दिलचस्पी रखते थे ।

सन् १९०३ में ईटो ने सीयूकाई का नेतृत्व दरबार के कुलीन नेता युवराज साइओंजी को सौंप दिया और वह मीजी युग की समाप्ति तक नेता के रूप में कार्य करते रहे । सन् १९०१ में ईटो-मंत्रिमण्डल के पतन के बाद यामागाटा के एक समर्थक प्रधान मंत्री बने थे । अब वयोवृद्ध राजनयिक नेता धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में जा रहे थे, यद्यपि नीतियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और नये प्रधान मंत्रियों के चयन में सम्राट् द्वारा उनसे लगातार सलाह लेने और उस पर अमल करने के कारण मंत्रिमण्डलों के बनाने वालों के रूप में उनका प्रभाव कायम रहा ।

जापान के संवैधानिक जीवन के प्रथम दशक में ही राजनीतिक-दलों को सीख मिल चुकी थी । वे जान गये थे कि सरकार का विरोध करने से वे पदों के लाभ से वंचित रह जाते हैं और चुनाव, आन्दोलनों व मतों की खरीद की होड़ आदि की राजनीतिक काररवाई पर काफी धन खर्च करना पड़ता है । राजनीति की महँगाई बार-बार डायट के भंग होने से और भी बढ़ गयी थी, क्योंकि चुनाव चार वर्ष में एक बार नहीं, कभी-कभी तो, कुछ महीनों के बाद ही फिर से लड़ने पड़ते थे । सरकार के गठन और पदों के वितरण के लिए मंत्रिमण्डलों पर नियंत्रण के अभाव में विभिन्न दलों ने शासन के साथ कामचलाऊ समझौते करने की होड़ करना शुरू कर दिया, ताकि राजनीतिक जीवन व काररवाइयों का कुछ लाभ तो उन्हें मिल सके । इससे राजनीतिक प्रगति तो रुक गयी, किन्तु आंतरिक राजनीति में, अपेक्षतया एक प्रकार का स्थायित्व व समरसता आ गयी, जो संविधान लागू होने के बाद के प्रथम दशक में बिलकुल नहीं थी ।

(२) राजनीतिक दल व सरकार (१९०१–१९१२)

रूस के साथ हो रहा युद्ध जब समाप्त होने लगा, उस समय काउण्ट कटसूरा प्रधान मंत्री बने । जब युद्ध छेड़ा गया था, राजनीतिक मतभेद तब फिर भुला दिये गये थे । इस बार इसका आशय यह था कि विरोधी दल ने विरोध बन्द कर दिया, क्योंकि सीयूकाई-दल का समर्थन तो कटसूरा को शुरू से ही प्राप्त था । सम्राट् की मृत्यु व मीजी-युग की समाप्ति तक यही स्थिति चली । सन् १९०१ से सन् १९१२ तक कटसूरा या साइओंजी

ही प्रधान मंत्री बनते रहे। सीयूकाई के नेता के रूप में साइओंजी को इस दल का समर्थन मिलता ही रहता था। अपेक्षा यह की जाती थी कि दलों के सिद्धान्ततः विरोधी होने व अहलकारी समाज के होने के कारण कटसूरा को इस दल का समर्थन प्राप्त न होगा, किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि कटसूरा को भी साइओंजी के समान ही सीयूकाई का समर्थन प्राप्त रहता था, क्योंकि दल ने सिद्धान्त की जगह कार्य-साधन को अधिक इष्टकर मान लिया था। इन दोनों में से कोई जब प्रधान मंत्री का पद छोड़ कर दूसरे को यह पद देता तो बहुधा इसका तात्पर्य यह नहीं होता था कि डायट में उसका बहुमत नहीं रह गया था। काफी समय शासन कर चुकने के बाद डायट एक प्रधान मंत्री से ऊब जाती थी। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधि-सभा के निर्वाचनों का समय निकट आने पर दल के सदस्य सरकार का समर्थन समाप्त कर देते थे और सरकार से बड़ी-बड़ी माँगें शुरू कर देते थे और प्रधान मंत्री अवकाश ग्रहण कर लेते थे। आर्थिक समस्या का समाधान ढूँढ़ने की कठिनाई भी प्रधान मंत्रियों के इस्तीफों का महत्त्वपूर्ण कारण थी। रूस से हुए युद्ध के कारण राष्ट्र पर भारी कर्ज हो गया था और युद्ध-विजय के लाभों को संगठित करने व उन्हें आगे बढ़ाने तथा आंतरिक विकास के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती थी। सन् १९०५ में जब शांति होने लगी, कटसूरा ने प्रधान मंत्री पद से इस्तीफा देकर यह पद साइओंजी को सौंप दिया और आर्थिक कठिनाइयों का सामना करने का बोझ साइओंजी पर आ पड़ा। करों के भारी बोझ से जब जनता में असंतोष बढ़ने लगा और साइओंजी आर्थिक समस्याएँ हल नहीं कर पाये, तब सन् १९०८ में कटसूरा फिर प्रधान मंत्री बन गये और सुधारों का एक कार्यक्रम चलाया, किन्तु उससे स्थिति सुधरी नहीं। सन् १९११ में फिर साइओंजी ने पदभार सम्हाला और अगले वर्ष सन् १९१२ में, फिर कटसूरा वापस प्रधानमंत्री पद पर लौट आये। आय और व्यय के संतुलन स्थापित करने में सबसे बड़ी बाधा जल व थल-सेनाओं की यह माँग थी कि उनके लिए अधिक से अधिक अनुदान प्राप्त होते रहें; और इसी के कारण एक के बाद दूसरे मंत्रिमण्डलों का पतन होता रहा। युद्ध के फौरन बाद नौसेना के विस्तार का अनेक वर्ष तक चलने वाला एक कार्यक्रम अपनाया गया था। आर्थिक कठिनाइयों के कारण कार्यक्रम की अवधि तो बढ़ा दी गयी किन्तु कार्यक्रम तथा उसे लागू करने पर यामागाटा का जोर कायम रहा, जिसके कारण वित्तीय समस्या और जटिल होती गयी।

(३) राजनीतिक विकास का पुनरारम्भ

सन् १९१२ में हुई घटनाओं के फलस्वरूप, तत्कालीन हर सरकार का समर्थन करनेवाले राजनीतिक दल सीयूकाई के कारण जो राजनीतिक विकास अवरुद्ध हो रहा

था, वह फिर से आरम्भ हो गया। सन् १९११ में कटसूरा ने प्रधान मंत्री पद छोड़ने के बाद राजनीति से संन्यास लेने की घोषणा कर दी। इसका एक कारण यह बताया जाता था कि उन्हें यामागाटा का प्रभुत्व असह्य हो उठा था, यामागाटा ही हर बदलने वाले मंत्रिमण्डल की असली शक्ति हुआ करते थे, दूसरे यामागाटा ने कटसूरा को सम्राट् के घरेलू विभाग में एक पद पर नियुक्ति दिला दी थी, जिसके लिए राजनीति का त्याग आवश्यक था। सन् १९१२ में प्रधान मंत्री के फिर इस्तीफा देने से सम्राट् के परामर्शदाताओं में मतभेद उपन्न हो गया, जिसके कारण कटसूरा फिर राजनीतिक संन्यास छोड़ सक्रिय राजनीति में उतर आये। किन्तु इससे उनके पुराने राजनीतिक सहायक, यामागाटा, से संबंध-विच्छेद हो गया और वह नये सहायक ढूँढ़ने को बाध्य हुए; ईटो की भाँति उन्होंने भी एक नये राजनीतिक दल की स्थापना की। उनके दल, दोशीकाई, में अधिकांशतः संवैधानिक राष्ट्रीयतावादी (कोकूमिण्टो) दल के, जो सन् १९१० के पहले का प्रगतिवादी दल ही था, सदस्य ही शामिल हुए। ये सदस्य लगातार विरोधी दल में रहने के कारण सरकारी पदों से वंचित रहे थे और अब पद-लोलुपता से आकृष्ट होकर ही कटसूरा के साथ आये थे। कोकूमिण्टो की शक्ति अवश्य कम हो गयी थी, किन्तु इनागाई के योग्य नेतृत्व में वह विरोधी दल के रूप में कार्य करता रहा। कोकूमिण्डो से कटसूरा को केवल ७० सदस्य ही प्राप्त हुए थे—और सीयूकाई से सदस्य फोड़ लेने के उनके प्रयत्न विफल हुए थे। अतएव, प्रतिनिधि-सभा में बहुमत के अभाव, सीयूकोई के विरोध, जनमत के समर्थन के अभाव तथा वयोवृद्ध राजनयिक नेताओं का समर्थन न मिलने के कारण कटसूरा मंत्रिमण्डल का पतन हो गया। किन्तु कटसूरा के साथ ही साइओंजी का पतन हो गया, क्योंकि, कटसूरा ने सम्राट् को इस बात के लिए राजी कर लिया था कि वह साइओंजी से सरकार का विरोध समाप्त करने के लिए कहें, साइओंजी अपने दल को इस बात के लिए तैयार नहीं कर सके और सम्राट् की इच्छा पूरी न कर सकने के कारण उन्हें भी राजनीति से अवकाश लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

कटसूरा के इस्तीफे के बाद सीयूकाई के समर्थन से फिर कुल-सरकार की स्थापना हुई; सत्सूमा कुल के नौसैनिक एडमिरल, यामामोटो, सन् १९१३ में प्रधान मंत्री बने। उनकी सरकार का समर्थन करने के कारण सीयूकाई दल में फूट और विद्रोह हो गया जिसके कारण दल के अधिक आदर्शवादी सदस्यों ने सीयू (संवैधानिक) क्लब की स्थापना कर ली। नौसेना में हुए एक गड़बड़घोटाले के कारण यामामोटो की सरकार भी गिर गयी और चूँकि नौकरशाही समाज के नेताओं में कोई सरकार बनाने में सक्षम नहीं था, राजनीतिक दलीय बनने के लिए रास्ता खुल गया।

८० वर्षीय काउण्ट ओकूमा, "जो जापानी जनता के अपने आदमी थे और जो

लगातार स्वशासन के लिए लड़ते रहे थे,"[४] सन् १९१४ में प्रधान मंत्री बने। उन्होंने अपने कार्यक्रम में "आर्थिक सुधार, भ्रष्टाचार के उन्मूलन, उत्तरदायी शासन की स्थापना, शिक्षा-विकास, शांति-स्थापना, उत्पादन-वृद्धि तथा कर कम करने"[५] को प्रधानता दी। सीयूकाई ने उनका समर्थन करने से इनकार कर दिया और उन्होंने तत्काल डायट भंग करवा दी तथा देश की जनता से समर्थन माँगा। जब से सीयूकाई-दल की स्थापना हुई थी तब से पहली बार अब वह प्रतिनिधि-सभा में अल्पमत में हुआ था। दोशी काई, सीयू क्लब तथा ओकूमा के व्यक्तिगत अनुयायियों ने मिलकर केनसीकाई दल की स्थापना की जो बहुमत में था।

चूँकि केनसीकाई की स्थापना दल-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का द्योतक थी, तत्कालीन राजनीतिक दलों का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ उपयुक्त होगा। सन् १९०५ के बाद, कुल-प्रणाली समाप्त कर उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष रुक गया था, क्योंकि दलों के उद्देश्यों में परिवर्तन आ गया था। शासकीय पदों की लोलुपता संतुष्ट करने की प्रवृत्ति का उल्लेख हो ही चुका है; किन्तु,इसी समय एक और अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ था कि आधुनिक उद्योगों का विकास हो रहा था और नया पूँजीपति वर्ग अस्तित्व में आ रहा था, जिसके हितों की रक्षा का प्रश्न उठ रहा था। कोकूमिण्टो के उद्योगपतियों से घनिष्ठ संबंध थे, किन्तु सन् १९१४ के बाद केनसीकाई ने पूँजीपतियों का प्रतिनिधित्व करना आरम्भ कर दिया। अतएव, इस दल ने आय व व्यवसाय-करों में कमी व अन्य वे माँगें अपनायीं, जो इस वर्ग के हित में थीं। वैदेशिक संबंधों में यह दल क्षेत्रीय नहीं वित्तीय व आर्थिक साम्राज्यवादी विस्तार का पक्षपाती था, और चीन के समक्ष रखी गयी २१ माँगों से यह वैदेशिक नीति स्पष्ट हो चुकी थी। सीयुकाई के निकट संबंध नौकरशाही समाज से थे और आर्थिक प्रवेश की जगह बलपूर्वक विस्तार की नीति से हुए लाभ उसे प्राप्त हुए थे, यद्यपि, सन् १९१८ के बाद वह भी मूलतः आर्थिक विस्तार का पक्षपाती बन गया था। यह दल औद्योगिक पूँजीपतियों के विरुद्ध नहीं था, किन्तु इसके सदस्यों में बड़े जमींदारों व व्यापारियों का बाहुल्य था। अतएव, करों के संबंध में वह भूमि-कर कम कराने का पक्षपाती था, आय कर या व्यवसाय कर नहीं। सबसे कमजोर दल था कोकूमिण्टो, जिसका समर्थन बड़े औद्योगिक नगरों में था। राजनीतिक दल की हैसियत से इसे पदों में हिस्सा मिलने की आशा न थी और न वह सरकारी नीतियों पर ही कोई प्रभाव डाल सकता था;" अपने सिद्धान्तों को अधिक आदर्शवादी बनाने और मताधिकारहीन जनता पर लगने वाले अप्रत्यक्ष उपभोक्ता कर कम कराने की बात वह कर सकता था।"[६]

(४) राजनीति-विकास पर युद्ध का प्रभाव

काउण्ट ओकूमा ने जो वादे किये थे वे कभी पूरे नहीं हुए। आर्थिक परिवर्तन व करों में कमी पर विचार होने के पहले ही यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया। और जापान के उसमें शामिल हो जाने तथा बाद की घटनाओं से दिलचस्पी आंतरिक विकास से हटकर वैदेशिक मामलों की ओर चली गयी। ओकूमा-शासन के इस पक्ष का बाद में वर्णन किया जायगा, यहाँ केवल यह कह देना काफी है कि ओकूमा सरकार का सबसे प्रबल विरोध इस बात पर हुआ कि उसकी परराष्ट्र-नीति काफी कठोर और सशक्त नहीं थी। सन् १९१६ में अंशतः यामागाटा के विरोध के कारण और अंशतः अधिक कठोर वैदेशिक नीति चालू न करने के आरोप के कारण ओकूमा-सरकार का पतन हो गया।

कोरिया में बड़ी सख्ती के साथ गर्वनर-जनरल के पदभार ग्रहण करने की ख्याति प्राप्त, यामागाटा के प्रिय कृपापात्र, काउण्ट तेरौची ने वयोवृद्ध राजमर्मज्ञों की सिफारिश पर निर्दलीय सरकार वनायी; डायट में उन्हें सीयूकाई दल का समर्थन मिला। उन्होंने आते ही प्रतिनिधि-सभा भंग कर दी और सरकारी अधिकारियों का प्रभाव केनसीकाई सदस्यों के विरूद्ध शुरू किया, जिससे केनसीकाई का नियंत्रण तो समाप्त हो गया, पर सीयूकाई को सदन में तब भी बहुमत नहीं मिला। तेरौची ने सन् १९१८ तक शासन किया, जब चावल के भाव कृत्रिम रूप से बढ़ने के कारण व्यापक असंतोष फैला और औद्योगिक नगरों में इसके कारण उपद्रव हो गये। इस स्थिति का लाभ उठाकर तेरौची से इस्तीफा लिया गया।

युवराज साइओंजी के अवकाश ग्रहण करने पर सीयूकाई के नेता हारा हुए और तेरौची की जगह वह ही प्रधान मंत्री बने; वह पहले "अ-कुलीन" प्रधान मंत्री थे। यह पद कुलों के बाहर जाने के कई कारण थे। पहले तो वह एक सशक्त दल के मान्य नेता थे। दूसरे महायुद्ध-संबंधी प्रचार में सन् १९१७–१९१८ में जनतंत्र के सिद्धान्त पर इतना बल दिया गया था कि यह दिखाना उपयुक्त समझा गया कि जापान ने भी यह नया विचार स्वीकार कर लिया है। यह इसलिए भी वांछनीय था कि सन् १९१४ के बाद अमरीका व अन्य पश्चिमी देशों में जापान के सेनावाद व 'कुलीन' शासन की आलोचना हुई थी। इसके अतिरिक्त, अहलकारी समाज में कोई ऐसा व्यक्ति भी नहीं था, जो शासन की बागडोर सम्हाल लेता।

सन् १९२० में डायट फिर भंग कर दी गयी, क्योंकि प्रकटतः "वह (हारा) कोकूमिण्टो व केनसीकाई दलों द्वारा डायट में पेश किये गये वयस्क मताधिकार संबंधी विधेयक को जनता के लिए खतरा मानते थे।"[७] किन्तु वास्तविकता यह थी कि सीयूकाई को स्थायी

बहुमत दिलाने का प्रयत्न किया जा रहा था। इसमें सफलता मिलने के कारण शासन कुछ दिन तक रक्षित रहा। दुर्भाग्यवश, एक राष्ट्रीयतावादी उन्मादी ने सन् १९२१ में हारा की हत्या कर दी, जब वाशिंगटन-सम्मेलन चल रहा था। उनके बाद वाइकाउण्ट ताकाहाशी प्रधान मंत्री व सीयूकाई के नेता बने। किन्तु सन् १९२२ में मंत्रिमण्डल के पुनस्संगठन के संबंध में प्रधान मंत्री की नीति को लेकर सीयूकाई में फूट पड़ गयी। फलस्वरूप, एक नये दल, सीयू होण्टो, की स्थापना हुई और मंत्रिमण्डल का पतन हो गया। सन् १९२२ में, वयोवृद्ध राजमर्मज्ञों में साइओंजी व मत्सूकाटा जीवित थे और उनकी राय से नये प्रधान मंत्री का चयन हुआ। वाशिंगटन-सम्मेलन में शामिल हुए जापानी प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य, एडमिरल काटो का जापान के बाहर काफी अच्छा प्रभाव पड़ा था और वाशिंगटन समझौतों को पूरी तरह लागू करने की घोषणा के आधार पर वह ही प्रधान मंत्री बने। वह अपने वादे पूरे करने में तत्पर थे तभी २४ अगस्त, १९२३, को उनकी मृत्यु हो गयी। अगले महीने, सितम्बर में, जापान में जब भारी भूकम्प आया और जिससे अपार क्षति हुई, वहाँ संक्रमणकालीन मंत्रिमण्डल के नेता के रूप में एडमिरल यामामोटो प्रधान मंत्री थे; शीघ्र ही वाइकाउण्ट कियूरी ने अधिक स्थायी निर्दलीय सरकार बनायी। इस प्रकार दो वर्ष तक जापान में निर्दलीय सरकारों की स्थापना हुई जिन्हें पुराने सरकारी दल का समर्थन तो प्राप्त था, किन्तु जो उसी के बल पर स्थापित नहीं हुई थीं।

मई, १९२४, के निर्वाचन के बाद ही जापान में फिर दलीय शासन स्थापित हुआ। चुनाव में केनसीकाई के १५१, सीयूहोण्टो के ११६ तथा सीयूकाई के १०० प्रतिनिधि जीतकर आये, शेष महत्त्वहीन गुटों के थे या स्वतंत्र थे। केनसीकाई के नेता, काउण्ट काटो से, जो सन् १९१४–१९१६ में ओकूमा मंत्रिमण्डल में परराष्ट्र मंत्री रह चुके थे, सरकार बनाने को कहा गया। निर्दलीय कियूरी-मंत्रिमण्डल को हटाने की इच्छा से प्रेरित हो सीयूकाई व केनसीकाई-दलों के गठबंधन से यह सरकार बनी। यह उद्देश्य पूरा होते ही गठबंधन भंग हो गया और सन् १९२५ में काटो ने केवल केनसीकाई के समर्थन पर नया मंत्रिमण्डल बनाया। सन् १९२७ तक यह सरकार चली जब ताइवान बैंक की सहायता के लिए लाये गये विधेयक के प्रिवी कौंसिल के विरोध के कारण सरकार ने इस्तीफा दे दिया। सीयूकाई दल को सशक्त बनाने के लिए फौजी नेता टनाका को नेता बनाया गया था और सदन में बहुमत न होने पर भी सन् १९२९ तक टनाका की सरकार ने ही शासन चलाया।

बढ़ते हुए असंतोष के कारण टनाका शासन ने जब इस्तीफा दिया, तब सन् १९२७ में केनसीकाई व सीयूहोण्टो के मिलन द्वारा स्थापित नये दल मिनसीटो के नेता ने सरकार

बनायी। सदन में सबसे बड़ा दल होते हुए भी तब इसका बहुमत नहीं था। किन्तु सन् १९३० के चुनाव में इसे बहुमत मिल गया जब मिनसीटो को २७३ व सीयूकाई को १७४ स्थान प्राप्त हुए। किन्तु, इस बहुमत के बावजूद सन् १९३१ के अंत में मिनसीटो सरकार गिर गयी क्योंकि उसके आर्थिक कार्यक्रम तथा १८ सितम्बर, १९३१ की मुकडेन में हुई घटना के बाद उसकी मंचूरिया संबंधी 'कमजोर' नीति से असंतोष उत्पन्न हो गया था। वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ व पुराने उदारपंथी, इनूकाई, ने सीयूकाई-दल की सरकार बनायी; इन्काई इस दल में सन् १९२४ में शामिल हो गये थे और टनाका के बाद इसके अध्यक्ष बने थे। डायट में बहुमत प्राप्त करने के लिए उसे भंग कर दिया गया। सन् १९३२ के चुनाव में सीयूकाई के ३०४ व मिनसीटो के १४७ उम्मीदवार विजयी हुए। बाद में इनूकाई की हत्या के उपरान्त फिर सीयूकाई समर्थित निर्दलीय शासन हुआ, जिस पर युद्ध मंत्री, जनरल अराकी का पूरा प्रभाव रहा।

इस संक्षिप्त वर्णन से यह नहीं लगता कि सन् १८९५ के बाद जापान में कोई भी वास्तविक राजनीतिक प्रगति हुई। राजनीतिक-दल अधिकांशतः अवसरवादी थे और जनहित के कार्यक्रम बनाने की जगह व्यक्तियों के ही भक्त बने हुए थे। सन् १९२५ में अंततः पुरुषों के लिए बालिग मताधिकार प्राप्त हो चुका था, किन्तु इसके कोई व्यापक राजनीतिक परिणाम नहीं हुए थे; मताधिकार पहले सन् १९०० में विस्तृत किया गया था और फिर सन् १९१८–१९१९ में इसे और व्यापक बनाया गया था। सामान्यतः, राजनीति पद-लोलुपता के आधार पर चलती थी और इसीलिए राजनीतिक-दल व डायट दोनों के प्रति आम जनता की भावना किसी हद तक घृणा व क्रोध की ही थी। दलगत शासन से उत्पन्न असंतोष का नवयुवकों में, विशेषकर सैनिक-वर्ग में, बढ़ रही इस भावना से सामंजस्य हो गया था कि नौकरशाही शासन ही चले और संसदीय प्रक्रिया की बाधाएँ उसके मार्ग से हटा दी जायँ। सर्वहारा व किसानों के हितों की बात करने वाले राजनीतिक-दलों की स्थापना के प्रयास भी हुए, किन्तु वे विशेष सफल नहीं हो सके।

(५) आर्थिक विकास

सन् १८९५ के बाद जापान में सबसे अधिक परिवर्तन जिस क्षेत्र में हुआ, वह आर्थिक था। यदि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली के विकास, विदेशी व्यापार के विस्तार तथा व्यापारिक नौ-संवहन के विकास को प्रगति का प्रतीक माना जाय तो इस क्षेत्र में भारी प्रगति हुई थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चीन से युद्ध के पहले ही जापान में उद्योग-व्यवसाय के विकास की नींव पड़ चुकी थी।[८] रेल-मार्गों का निर्माण हुआ था, आधुनिक बैंक संगठित हुए थे, और कुछ प्रयोगों के उपरान्त संतोषजनक बैंक-व्यवस्था स्थापित हुई

थी; मुद्रा-विनिमय-प्रणाली का पुनस्संगठन किया गया था, और युद्ध के कुछ दिनों बाद ही उसे स्वर्णमान पर आधारित कर दिया गया था, आधुनिक डाक-व्यवस्था संगठित की गयी थी, टेलीफोन व तार के संचार साधनों का विकास हुआ था; जहाज बनाने का उद्योग व व्यापारिक जहाजों का वेड़ा वन चुका था। इस प्रकार औद्योगिक विकास का आधार कायम हो चुका था। शासकीय प्रेरणा से नयी औद्योगिक पद्धतियाँ अपनायी जा रही थीं, किन्तु मोटे तौर पर, सन् १८९५ के बाद ही विशेषकर सन् १९०३ के बाद ही, जापान के औद्योगिक राष्ट्र बनने की क्रिया चली और ओसाका व अन्य नगर बर्मिंघम जैसे औद्योगिक नगरों का रूप लेने लगे।

सन् १९३१ के पहले जिन युद्धों में जापान फँसा था, उनका उसकी औद्योगिक प्रगति पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा था। हर युद्ध से उद्योगों का विस्तार हुआ, हर युद्ध के बाद बाजार में तेजी आयी, सट्टेबाजी हुई, अस्थायी रूप से नये उद्योग स्थापित हुए और उद्योग का अतिशय विकास हुआ; और असीमित समृद्धि के हर युग के बाद मन्दी आयी और अनेक अस्थायी समृद्धि जनित कल-कारखाने बैठ गये। किन्तु हर मन्दी के बाद भी जापान हर युद्ध के पहले की तुलना में और अधिक औद्योगिक होता गया और स्थायी आधार पर क्रमिक प्रगति की तैयारी करता गया।

सन् १८९५ के बाद की आर्थिक प्रगति के वर्णन के लिए कुछ आँकड़े उपयुक्त होंगे। सन् १८८५ में जापान का कुल निर्यात ३७० लाख येन का था और आयात २९० लाख येन का, अर्थात् कुल विदेशी आयात-निर्यात् ६६५ लाख येन का था। सन् १८९४ के युद्ध के समय यह व्यापार बढ़कर २३ करोड़ येन से भी अधिक का हो गया था। सन् १९०४ के युद्ध के समय तक यह बढ़कर ६९ करोड़ येन पर पहुँच गया था। सन् १९१४ में आयात ५९.६ करोड़ और निर्यात ९९.१ करोड़ येन का हो गया था। सन् १९१९ में आयात व निर्यात दोनों २००–२०० करोड़ येन के हो चुके थे। सन् १९२० व उसके बाद की मंदी में यह व्यापार कम हुआ था पर सन् १९२९ तक फिर यह सन् १९१९ के व्यापार से बहुत आगे बढ़ चुका था। मूल्यों में वृद्धि तथा विनिमय के उतार-चढ़ाव को भी ध्यान में रखें तब भी ये आँकड़े व्यापार के अत्यधिक विस्तार के ही द्योतक हैं।

इन आँकड़ों से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट होते हैं। सन् १८८२ से सन् १८९४ तक लगभग लगातार जापान का आयात व्यापार निर्यात की तुलना में कम था क्योंकि खेतिहर जनता अब भी विगत में ही रह रही थी और पश्चिमी वस्तुओं की आवश्यकता उसे महसूस नहीं हो रही थी। सन् १८९५ से प्रथम महायुद्ध तक जापान का आयात-निर्यात से लगातार अधिक रहा। युद्ध के वर्षों में जापान का निर्यात फिर आयात से आगे बढ़ गया। युद्ध के उपरान्त मंदी व उद्योग के क्षेत्र में अन्य प्रतियोगी देशों के फिर से व्यापार के मैदान में

उतर आने के कारण और सन् १९२३ के भीषण भूकम्प से हुई क्षति को पूरा करने के लिए आयात फिर बढ़ गये थे।

विदेशी व्यापार के आँकड़ों से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट है कि सन् १८९५ के बाद व्यापार का स्वभाव ही बदल गया। अब तैयार औद्योगिक माल की जगह कच्चे माल या आधे तैयारशुदा माल ले रहे थे और निर्यात तैयार औद्योगिक माल का होने लगा था। सन् १९१९ में व्यापार की जो स्थिति थी, उससे परिवर्तन की व्यापकता और स्वभाव का पता लगता था। कुल निर्यात का केवल ३.१ प्रतिशत भाग ही खाद्य-सामग्री था, यद्यपि इसी मद में आयात १२ प्रतिशत था; खाने का तैयार माल आयात का ४.२ प्रतिशत व निर्यात का ४ प्रतिशत था; खाद्यान्न छोड़ अन्य कच्चे माल का निर्यात कुल निर्यात का केवल ५.२ प्रतिशत था, किन्तु आयात ५०.३ प्रतिशत था, औद्योगिक उत्पादन-सामग्री निर्यात का ४३.२ प्रतिशत और आयात का २० प्रतिशत थी; तैयार औद्योगिक माल कुल आयात का १२ प्रतिशत और कुल निर्यात का ४३ प्रतिशत था। आरम्भ में, सन् १८९५ से मीजी-युग के अंत तक, जब विदेशी व्यापार का संतुलन जापान के विरुद्ध था, अर्थात् आयात अधिक थे और निर्यात कम, तब वह उद्योगों के लिए विदेशों से केवल कच्चा माल ही नहीं, यंत्र व औद्योगिक साज-सज्जा भी मँगा रहा था और राष्ट्रीय उद्योग तैयार माल की देश की आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पा रहा था। सन् १९१४ के बाद के दशक में यह स्थिति बिलकुल बदल चुकी थी, जापान न केवल अपनी ही औद्योगिक आवश्यकताएँ पूरी कर ले रहा था बल्कि निर्यात के लिए भी उसके पास माल बच रहता था।

जापान के औद्योगिक व पूँजीवादी समाज में परिवर्तित होने का एक अन्य लक्षण उद्योग व उद्यम के मिश्रित पूँजी आधार का विकास था। सन् १९०५ तक भी कुल २० लाख येन की चुकती पूँजी की ८३ मिश्रित पूँजी वाली कंपनियाँ जापान में थीं, जब कि १३० लाख येन की पूँजीवाली सीमित साझेदारी वाली १४८ कंपनियाँ मौजूद थीं; सन् १९१४ में २१० लाख येन की पूँजी वाली १९८ मिश्रित पूँजी कंपनियाँ बन चुकी थीं और सीमित साझेदारी की २९३ कंपनियों की कुल पूँजी ६० लाख येन ही रह गयी थी।

सन् १९०५ में देश में १९,०४० यांत्रिक और ७,१६,००० हथकरघे थे; सन् १९१४ में यांत्रिक करघों की संख्या बढ़ कर १,२३,००० हो गयी थी और हथकरघों की संख्या घटकर ४,००,००० रह गयी थी, जिससे प्रकट था कि नया उद्योग पुराने उद्योग की जगह ले रहा था। सन् १९१४ के बाद यह विकास और अधिक तेजी से हुआ और वस्त्रोद्योग के विकास के समान ही अन्य उद्योगों में विकास हुआ। पुराना, सुन्दर, गृह-उद्योग भी यांत्रिक उद्योग के साथ-साथ चलता रहा पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उसका महत्त्व कम

होता गया था। जापानी जनता की रुचि और स्वभाव व आदत यांत्रिक एकरसता वाली सामग्री के उपभोग के प्रति कम थी, इसलिए हस्त-उद्योग के उत्पादन के लिए माँग लगातार बनी रही, किन्तु कारखानों में बने माल के फलस्वरूप जापान का औद्योगीकरण तेजी से होता रहा।

यह बात ध्यान देने की है कि आधुनिक यंत्रों के उपयोग से उद्योगों की स्थापना में जापान-सरकार ने आगे बढ़ कर पहल की थी। सरकार की दिलचस्पी इस बात में थी कि दैनिक जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं के लिए देश पश्चिमी राष्ट्रों पर निर्भर न रहे और उसका निर्यात बढ़े। इससे दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं के बड़े परिमाण में उत्पादन को बल मिला, सुन्दर घरेलू धन्धों की कलापूर्ण वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिला। फलतः नया उद्योग पश्चिम के समानान्तर विकसित होने लगा। जो नये, आधुनिक उद्योग स्थापित हुए, उनमें प्रमुख थे रेशम व सूती वस्त्रोद्योग, जहाज़-निर्माण, कागज व दियासलाई बनाने, रासायनिक खाद तैयार करने, लोहे व इस्पात के उत्पादन व शराब बनाने के कारखाने। प्रथम विश्व युद्ध के समय व उसके बाद रसायन उद्योग पनपा। नये उद्योगों में बड़े परिमाण में प्रतिमानित उत्पादन पर ही बल दिया गया।

आधुनिक जापान में बिजली उद्योग भी महत्त्वपूर्ण था। सारे देश में रोशनी के लिए बिजली ही काम में आती थी और इसके अतिरिक्त उद्योगों को चलाने में भी बिजली का उपयोग होता था। पहाड़ी नदियों व झरनों से बनी बिजली सस्ती व प्रचुर थी। किसी भी देश की तुलना में जापान की जल-विद्युत्-संभावनाएँ अधिक हैं। जैसे-जैसे बिजली उत्पादन बढ़ता गया, देश में कोयले की कमी पूरी होती गयी।

रूस से हुए युद्ध के समय व उसके बाद विदेशी वस्तुओं का चलन इतना बढ़ गया था कि देशी उद्योग-धंधों को बड़ी क्षति हुई थी। पहले तो लोगों ने पश्चिम के अनुकरण में कला के अपरिचित मानों की नकल करने की कोशिश की, जिससे एक ऐसी संकर अभिरुचि पैदा हो गयी, जो न पश्चिमी और न जापानी दृष्टिकोण से ही उचित थी। किन्तु पश्चिम के लोगों ने ही जापानी घरेलू धन्धों में बनी वस्तुओं को पश्चिमी वस्तुओं से वरीयता देकर उनमें दिलचस्पी दिखायी। तब स्वयं जापानी लोगों ने अपने देशी धन्धों की संभावनाओं के प्रति जागरूकता का दृष्टिकोण अपनाया और पश्चिमी प्रभाव को त्यागा। इससे जापान के स्वदेशी माल में फिर से दिलचस्पी बढ़ी। मिट्टी के बरतन बनाने के धन्धे पर पश्चिमी प्रभाव सबसे अधिक पड़ा था, पर शीघ्र ही वहाँ जापानी प्रतिमान व अलंकरण व नमूनों का आदर्श चालू हो गया। धातु के सामान पर शीशे के समान पालिश व वारनिश कर उस पर चित्रकारी करने की कला का जापानी फिर आदर करने लगे। घरों पर रेशम से कसीदे के दुपट्टे व अन्य वस्त्र बनाने के काम का महत्त्व भी कायम रहा और उसमें

रूप प्रतिमानीकरण नहीं हुआ। ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि जापान के स्वदेशी घरेलू धन्धों का अस्तित्व या आर्थिक महत्त्व ही मिट गया हो, हुआ यह था कि ये वस्तुएँ जनरुचि से अस्थायी रूप से गिर गयी थीं, क्योंकि वे पश्चिमी नहीं थी; जनरुचि के अभाव में कुछ समय के लिए इन वस्तुओं की विशिष्टता कम होने लगी थी, किन्तु कुछ समय बाद ही उनमें फिर स्वाभाविक अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी।

(६) औद्योगिक विकास के प्रभाव

जापान में कारखाने बनने से राज्य की भौतिक नींव तो अवश्य मजबूत हुई, किन्तु, साथ ही वे खराबियाँ भी आ गयीं जो पश्चिमी औद्योगिक समाजों में थीं। घनी गन्दी बस्तियों व धुएँ भरे वातावरण वाले औद्योगिक नगर, कल-कारखानों व खदानों में काम करने के लिए अपने-अपने घरों को छोड़ कर आये बच्चे व स्त्रियाँ, जो घरों पर दस्तकारियों में सुविधापूर्वक फुरसत के समय काम करते थे, व्यवसाय के यंत्रों का स्वामित्व कारीगरों से छिन जाना, कारीगरों व शिल्पियों का लगातार घण्टों तक एक ही काम करते रहने वाले श्रमिक बन जाना, संपत्ति की असमानता व औद्योगिक केन्द्रों में पारस्परिक सहयोग व सहायता की सामंती पारिवारिक परंपरा का अभाव, समूहों व वर्गोंके बीच पारस्परिक वैमनस्य व विरोध—औद्योगीकरण के सभी लक्षण तेजी से आधुनिक जापान की विशेषताएँ बनने लगे।

ये परिवर्तन इस तेजी से आये कि कुछ समय तक उनसे उत्पन्न समस्याओं के निराकरण का प्रयत्न ही नहीं किया गया। वास्तव में, नेताओं व मतदाताओं का बड़ा भाग इन समस्याओं के प्रति उदासीन ही रहा और पूँजीपतियों का वर्ग उत्पन्न होकर इतना शक्तिशाली हो गया कि राजनीतिक-दलों की सहायता से मजदूरों की दशा सुधारने के प्रस्तावों पर विचार करना ही रुकवा दिया गया। साथ ही, पुराने कुलीन व भूस्वामियों के वर्ग ने इस दशा के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं माना और इन समस्याओं की अवहेलना करते रहे। कारखानों के संबंध में कानून बनाने का पहला प्रस्ताव सन् १८९७ में आया, पर कानून जाकर सन् १९११ में बना और वह भी सन् १९१६ के पहले लागू न हो सका। इस कानून का महत्त्व उसके स्वीकार हो जाने में ही था, इसमें नहीं कि उससे मजदूरों को कोई बहुत अधिक सुविधाएँ मिल गयी थीं। यह कानून केवल उन्हीं कारखानों पर लागू था जहाँ १५ से अधिक मजदूर काम करते थे; जिन कारखानों में जहाँ खतरनाक चीजें बनती थीं या जहाँ काम करने की हालतों में खतरा निहित था, वहाँ मजदूरों की संख्या की कैद नहीं रखी गयी थी। कुछ अपवादों को छोड़कर, १२ वर्ष से कम आयु के बालकों के कारखानों में मजदूरी करने पर रोक लगाने की व्यवस्था कानून में की गयी

थी। स्त्रियों व १५ वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए काम के अधिकतम घण्टे १२ करने की व्यवस्था थी, किन्तु इसमें भी कुछ अपवादों की गुंजाइश कर दी गयी थी, जहाँ अधिकतम घण्टे बढ़ाकर १४ कर दिये गये थे। महीने में दो दिन का अवकाश नियत किया गया था, किन्तु चूँकि कानून की धाराएँ तत्कालीन व्यावहारिक परिस्थितियों पर आधारित थीं, काम की दशा व शर्तों के संबंध में निर्धारित निम्नतम मान बहुत ही नीचे थे और कानून लागू करने में इतने अपवाद छोड़ दिये गये थे कि कानून एक मखौल बनकर रह गया था। सन् १९२३ में हुए संशोधन से, जो सन् १९२६ में लागू हुआ, और फिर सन् १९२९ के संशोधन द्वारा, कानून उन सभी कारखानों पर लागू कर दिया गया जो बिजली से चलते थे। सन् १९१९ के अंतरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में काम के घण्टों के संबंध में जो अंतरराष्ट्रीय मान निर्धारित किये गये थे, जापान में भी उन्हीं मानों को चलाने का प्रयत्न हो रहा था। और तदर्थ कानून में संशोधन भी किये गये थे।

बढ़ती हुई आबादी के फलस्वरूप बड़ी संख्या में मिलने वाले मजदूरों, देहाती मजदूरों के लिए नागरिक जीवन के आकर्षण तथा औद्योगिक संस्थानों में लगातार स्त्रियों की भरती के कारण जापान में मजदूरी का स्तर सन् १९१४ तक, वरन् सन् १९१८ तक भी, बहुत ही नीचा रहा, जब एकाएक ही उद्योग के व्यापक विकास और मजदूरों की लगभग असीमित खपत व माँग के कारण मजदूरी की दरें तेजी से बढ़ीं। किन्तु, बढ़े हुए वेतन, बढ़ती हुई मँहगाई तथा नयी समृद्धिजनित वढ़े हुए उपभोग के कारण मजदूरों को विशेष सुविधा नहीं प्रदान कर सके। फिर प्रश्न यह भी था कि क्या ये बढ़े हुए वेतन युद्ध के बाद भी कायम रह सकेंगे। युद्धोत्तर गरम बाजारी का मुख्य कारण कच्चे रेशम व रेशमी माल की अमरीका में खपत थी; दूसरा कारण दलालों के समझौतों के कारण सूती वस्त्रों के दाम कृत्रिम रूप से ऊँचे रहना था। किन्तु, यह गरम बाजारी सन् १९२० में समाप्त हो गयी और इसके साथ ही रूस व चीन से युद्धों के समय की भाँति सट्टे, अत्यधिक विकास व अत्यधिक पूंजी निर्माण में परिलक्षित समृद्धि का दौर भी समाप्त हो गया।

मन्दी का तात्कालिक कारण था जापान-बैंक का निजी बैंकों को और अधिक ऋण देने से इनकार और बकाया ऋणों की अदायगी की माँग करना। किन्तु सन् १९२० तक जापानी रेशम की अमरीकी माँग कम हो चुकी थी, युद्ध समाप्त होने से, प्रशान्त सागर में माल ढोने की जो लगभग इजारेदारी-सी जापान को मिल गयी थी, वह समाप्त हो गयी थी और जहाज उद्योग को गहरा धक्का लगा था, और पेरिस सम्मेलन के शानतुंग-संबंधी निर्णय चीन में ज्ञात होने से वहाँ जापानी सूती-वस्त्रों का बहिष्कार शुरू हो गया था, जिससे माँग बहुत घट चुकी थी। फिर आवश्यकता से अधिक औद्योगिक विकास का दण्ड तो मिलता ही है। यह मन्दी वाशिंगटन-सम्मेलन तक जारी रही, और सरकार के समक्ष

एक बड़ी समस्या यह आयी कि बड़े जहाजों के निर्माण के स्वीकृत कार्यक्रम को जारी रखना असंभव हो रहा था, क्योंकि वाशिंगटन में इस संबंध में जापान वचन दे चुका था, और यह कार्यक्रम जारी न रखने से शेष उद्योग भी ठप होने का डर था। जहाज-उद्योग में लगे मजदूरों को बेकारी से बचाने के लिए सरकार ने पर्यटक या क्रूजर जहाज बनाने का फैसला किया। फिर भीषण भूकम्प से आयी तबाही के बाद मरम्मत के काम से औद्योगिक जीवन में आयी शिथिलता किसी हद तक दूर हुई।

बीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों में जापान में करों के भारी बोझ के कारण जीवन दूभर हो गया था। सरकारी खर्च सन् १९०२ और सन् १९१४ के बीच ३० करोड़-येन से बढ़कर ५५ करोड़ येन हो गया था और जापान के महायुद्ध में शामिल होने पर सरकारी खर्च बहुत तेजी से बढ़कर १०० करोड़ येन से भी अधिक हो गया था। खर्च बढ़ने का एक कारण एशिया महाद्वीप की मुख्य भूमि पर पैर जमाने के लिए की गयी काररवाई, तथा सन् १९१६ में निश्चित व सन् १९२० में संशोधित, जल व थल-सेनाओं के विकास के कार्यक्रम भी थे, इस बीच प्रशासकीय व्यय भी बढ़ा था। सन् १९०२ से सन् १९१४ के बीच की अवधि में राष्ट्रीय ऋण भी ५० करोड़ से बढ़कर २५० करोड़ येन का हो चुका था। रूस से हुए युद्ध के फलस्वरूप यह ऋण बहुत तेजी से बढ़ा था, किन्तु सन् १९०६ में रेल-मार्गों के राष्ट्रीयकरण तथा रेल-मार्गों के विकास तथा मंचूरिया में जापानी हितों के विकास के कारण भी ऋण का परिमाण बढ़ा था। सन् १९१४ के बाद राष्ट्रीय ऋण और भी बढ़ा। इसके विपरीत सन् १९१४ से सन् १९१८ तक राजनीतिक कारणों से जापान ने चीन को ऋण दिये भी, जिनके मूल व ब्याज की अदायगी की किश्तें बकाया पड़ी थीं।

इस भारी बोझ को ढोने के लिए सरकार हर संभव उपाय काम में ला रही थी। उदाहरणार्थ, सरकार ने वित्तीय कारणों से तम्बाकू, कपूर व नमक की इजारेदारी स्थापित कर ली थी—चीन से हुए युद्ध के बाद तम्बाकू की इजारेदारी कायम हुई। फारमोसा में कपूर-उद्योग के विकास के लिए इस उद्योग में इजारेदारी आयी और नमक की इजारेदारी रूस से हुए युद्ध के समय कायम हुई। किन्तु इस सबके बाद भी करों का बोझ बढ़ता ही गया; विलास-सामग्री, पंजीकरण-शुल्क, भूमि-आय, व्यवसाय व उत्तराधिकार-कर आदि से जनता पर कर बोझ असह्य हो उठा। इसके अतिरिक्त, स्थानीय करों का भी बोझ था। इस प्रकार संपन्न व निर्धनों के बीच की खाई बढ़ती गयी और निर्धन और भी अधिक निर्धन होते गये, और इस प्रक्रिया के लिए केवल मात्र औद्योगीकरण ही उत्तरदायी नहीं था।

(७) श्रमिक-समस्याएँ

यहाँ श्रमिक-संगठनों के विकास का कुछ विवरण उपयुक्त होगा। सन् १९०० में लागू 'शांति नियम' में एक धारा यह भी थी कि जो भी हड़ताल कराने के उद्देश्य से दूसरों को भड़कायेगा या फुसलायेगा उसे एक से छः महीने तक की कड़ी कैद व तीन से तीस येन तक के जुरमाने की सजा होगी; इस धारा के कारण श्रम-संगठनों की स्थापना, या कम से कम, प्रभावकारी उपयोग पर एक प्रकार की रोक लग गयी। ये संगठन केवल मात्र सामाजिक व सहायता प्रदान करने वाली संस्थाएँ ही बने रह जाने को ही बाध्य थे। किन्तु इसके बावजूद, श्रम-संगठन बनने शुरू हुए, यद्यपि ये संगठन समय-समय पर इतने बदलते रहे कि उनकी वास्तविक शक्ति आँकना असंभव था। सन् १९१२ में जापानी श्रमिक-संघ स्थापित हुआ। सन् १९२० में बूंजी सुजूकी ने इसका पुनस्संगठन किया और दावा किया कि उसके ५० हजार सदस्य हैं; किन्तु ये सदस्य कोई भी सामूहिक कदम उठाने में इसलिए समर्थ नहीं थे कि उनके मत व दृष्टिकोण स्पष्ट नहीं हुए थे। जब यह रोक सन् १९१९ में अंशतः हटा ली गयी, तब इस तथा इस तरह के अन्य संगठनों की स्थिति कुछ हद तक सुधरी।

युद्ध व युद्धोत्तर संपन्नता के युग में जापान में सुविकसित मजदूर-संगठनों के अभाव में भी अनेक हड़तालें हुईं। उनमें से कई बहुत बड़े पैमाने पर भी हुईं और उन सबका मुख्य कारण असंतोषजनक वेतन-दरें थीं। सन् १९२० के बाद की मंदी के फलस्वरूप मजदूर-आंदोलन घटा पर उद्योग व कृषि दोनों में पूँजी व श्रम के बीच खटपट जारी रही और बढ़ती गयी तथा सरकार की ओर से सुविधा प्रदान करने वाले कोई भी संतोषजनक कदम नहीं उठाये गये। सन् १९३१ के बाद सेना-कार्यक्रम के लिए उत्पन्न जनमत और जन-सहयोग का एक कारण यह भी था।

(८) आबादी की समस्या

औद्योगिक विकास से अनेक जापानी धनवान् हो गये थे और ऐसी संपत्ति के निर्माण से, जिस पर कि कर लग सकते थे, शासन भी भारी वित्तीय बोझ उठाने में समर्थ हो गया था। इस समृद्धि से आम जनता के रहन-सहन का स्तर ऊंचा इसलिए नहीं हुआ कि जैसा सामान्यतः होता है, संपत्ति का बड़ा भाग मुट्ठी भर लोगों ने हड़प लिया था, किन्तु इसका मूल कारण यह था कि पुनस्संस्थापना के बाद जापान की आबादी बहुत तेजी से बढ़ी थी। सन् १८६७ के पहले जापान की आबादी लगभग तीन करोड़ पर स्थिर थी। सन् १९१३ में सरकारी अनुमान के अनुसार यह आबादी बढ़ कर ५.३ करोड़ हो चुकी थी और सन्

१९२० में यह ५.६ करोड़ व सन् १९३१ में ७ करोड़ हो गयी थी। तब से यह ६.९ करोड़ से भी अधिक हो गयी है।

आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली अपनाने तथा स्वच्छता आदि के उत्तम स्तर के फलस्वरूप मृत्युसंख्या घट रही थी और जन्मसंख्या में कोई कमी नहीं हो रही थी। आधुनिक युग के पूर्व के जापान में वहाँ की खेती तीन करोड़ व्यक्तियों का किसी-न-किसी तरह भरण-पोषण कर देती थी। यदि जनसंख्या स्थिर रहती, खेती के सुधार, नयी भूमि पर खेती, वन-संपत्ति के अधिक वैज्ञानिक उपयोग, खाद्यान्न लाने–ले जाने के उन्नत साधन आदि से जनता का जीवन-स्तर ऊंचा हो सकता था, चाहे औद्योगीकरण न भी हुआ होता। किन्तु सन् १८६७ के बाद आबादी जिस गति से बढ़ी उसके भरण-पोषण के लिए जापानी कृषि-साधन सर्वथा अपर्याप्त थे; चाहे उनका उतना बढ़िया व वैज्ञानिक उपयोग भले ही होता जितना सन् १९३१ में, विशेषकर होक्कायडो द्वीप में होना शुरू हुआ था। अतएव, सन् १९०५ के बाद जब जापान में व्यापक पैमाने पर औद्योगिक परिवर्तन शुरू हुए सरकार राज्य की औद्योगिक नींव ठोस धरातल पर रखने में दत्तचित्त हुई। भूमिगत कोयले, लोहे व मिट्टी के तेल के नियंत्रण, कपास की व्यवस्था, औद्योगिक व व्यावसायिक आबादी के लिए भोजन की व्यवस्था आदि में सरकारी दिलचस्पी प्रकट हुई। सन् १९०५ के बाद, विशेष कर सन् १९१४ के बाद, जापान ने एशिया में जो नीति अपनायी, वह इसी परिवर्तित गृह-नीति व दिलचस्पी की ही प्रतीक थी।[९]

दूसरे दृष्टिकोण से औद्योगिक राज्यों की सबसे बड़ी दिलचस्पी यह होती है कि उसके माल की खपत हो, उसे बाजार मिले और जहाँ तक संभव हो, इन बाजारों की इजारेदारी—या कम-से-कम वरीयता—उन्हें मिल जाय। पश्चिमी देशों में जापान के रेशम व चाय की अच्छी खपत थी और सूती वस्त्रोद्योग के लिए जापान की दिलचस्पी चीन के बाजार में थी, जहाँ सूत व वस्त्र दोनों बेचता था। सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध के पहले ही जापान चीन के व्यापार पर छाया जा रहा था। महायुद्ध के बाद चीन में जापानी प्रतियोगिता के कारण ब्रिटेन की प्राथमिकता पर आँच आने लगी। भौगोलिक दृष्टि से उपयुक्त स्थिति और उत्पादन के क्षेत्र में अपेक्षतया जल्दी उतर आने से महाद्वीप के बाजारों में जापान की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी थी; इस स्थिति पर चीन और भारत के औद्योगीकरण से अवश्य एक धक्का लगा था। जापान की परराष्ट्र नीति से भी उसकी चीन में व्यापारिक स्थिति को धक्का पहुँचा था। फिर भी, जैसा कि एक लेखक ने सन् १९१२ में ही कहा था—"पश्चिमी देशों ने अपने उद्योग जापान को दिये हैं तो इन उद्योगों के फल चीन पहुँचते हुए वे देखेंगे ही।"[१०]

इस प्रकार सन् १९०५ के बाद जापान ने औद्योगिक विकास द्वारा अपनी जनसंख्या

के विकास की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया और रहन-सहन के स्तर को गिरने से रोकने की कोशिश की। किन्तु जनसंख्या इस तेजी से बढ़ रही थी कि औद्योगीकरण से रहन-सहन का स्तर ऊंचा नहीं हो सका। इससे जापान की परराष्ट्र-नीति के विकास पर भी भारी प्रभाव पड़ा।

बढ़ती हुई आबादी की समस्या का एक अन्य समाधान उपनिवेशीकरण होता है। यद्यपि कोरिया, फारमोसा व मंचूरिया में पैर जमाने का मूल उद्देश्य वहाँ उपनिवेश स्थापित करने का नहीं था, फिर भी, मंचूरिया में अपनी अतिरिक्त आबादी को भेजने के इरादे का आरोप जापान पर सन् १९१५ व सन् १९३१ के बीच लगाया गया और इस आरोप के लगाये जाने की गुंजाइश भी थी। किन्तु उपनिवेश-संगठन में जापान बहुत कुशल नहीं था। कोरिया में शासन और शोषण की दृष्टि से जापान को सफलता मिली, किन्तु उपनिवेशीकरण की दिशा में संगठित प्रयासों के बावजूद वहाँ बड़ी संख्या में जापानी नहीं बसे; दूसरे स्वयं कोरिया की अपेक्षतया बड़ी आबादी को तो वहाँ प्राथमिकता मिलनी भी चाहिए थी। फारमोसा में अवश्य ही बड़ी संख्या में जापानी बस सकते थे पर इसके लिए जिस तरह पहल करके काम संगठित करने की आवश्यकता थी वह जापानियों को बहुत रुचिकर नहीं लगा। कोरिया की ही भाँति फारमोसा में भी जापानी पहुँचे अधिकारी, शोषक, दूकानदार के रूप में, वहाँ बसनेवालों के रूप में नहीं। यही स्थिति मंचूरिया में भी रही, जहाँ जापानियों की जगह चीनी ही जाकर भूमि पर जम गये और अपने को सफलतापूर्वक जमाये रहे।

जापानी खेतिहर मजदूर पूर्व की अपेक्षा हवाई व अमरीका बड़ी संख्या में पहुँचे; इसका एक कारण संभवतः यह था कि वहाँ पुरोगामी कार्य पहले ही हो चुका था। जापानी आँकड़ों के अनुसार सन् १९२० में मंचूरिया व हांगकांग मिलाकर चीन में ३.५ लाख जापानी थे, सिंगापुर, मलय प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, फिलिपीन तथा दक्षिण-सागर के क्षेत्र में कुल १८,००० जापानी थे। हवाई में उनकी संख्या एक लाख थी, जो वहाँ की आबादी की लगभग आधी थी, अमरीका में उनकी संख्या ९०,००० थी, जबकि कुछ अमरीकी इसे "वास्तविकता से बहुत कम" समझते थे, कनाडा में १४,००० जापानी थे, दक्षिणी अमरीका में ४३,००० थे, आस्ट्रेलिया व निकटवर्ती क्षेत्रों में जापानियों की संख्या १२,००० के लगभग थी। जिस क्षेत्र में भी ये प्रवासी बड़ी संख्या में पहुँचे, उन्होंने वहां के विकास में ठोस योग दिया; किन्तु उत्तरी अमरीका व आस्ट्रेलिया में इनकी संख्या बढ़ने पर वह विरोध फिर से प्रकट होने लगा, पहले जिसका सामना चीन को करना पड़ा था। अमरीका व आस्ट्रेलिया में इनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के नियम-कानून बन गये। जापानियों से भेदभाव करने वाले जो नियम-कानून अमरीका में पहले से ही जारी थे, उनके साथ इन

नये नियमों ने जुड़ कर अतिरिक्त जापानी आबादी के प्रवेश को तो रोक दिया पर साथ ही इससे जापानियों में अमरीका के प्रति एक कटुता बढ़ गयी। किन्तु यह कटुता गृह नहीं परराष्ट्र नीति में परिलक्षित हुई और इसका वर्णन अन्यत्र होगा।[११]

(९) कृषक-जीवन

जापान के आर्थिक जीवन पर विचार के समय अबतक केवल उद्योगों की ही चर्चा की गयी है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि कृषि का महत्त्व कम था। वास्तव में जापान के आर्थिक जीवन में खेती का ही महत्त्व अधिक था और इस अध्याय के शेष भाग में जापानी खेती पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार किया जायगा।

जापान में सदैव ही खेती का अर्थ अधिकांशतः चावल की उपज ही समझा जाता रहा है। गेहूँ, जौ आदि अन्य अनाज भी थोड़े बहुत पैदा किये जाते हैं, किन्तु खेती और भोजन दोनों में चावल ही मुख्य है। सन् १९१९ में ३१ लाख से अधिक जो भूमि पर चावल की खेती हुई जबकि गेहूँ व जौ आदि की खेती केवल १७ लाख चो पर हुई। चावल का उत्पादन ६,०८,१८,००० कोकू हुआ जो गेहूँ-जौ आदि के संयुक्त उत्पादन से कहीं अधिक था। जितना भी चावल जापान में पैदा होता था उसकी लगभग पूरी खपत वहीं हो जाती थी और लोग इस चावल को अन्यत्र कहीं भी पैदा किये गये चावल से बेहतर मानते थे।[१२]

जापान में जोतें हमेशा ही छोटी थीं और खेती सघन होती थी। औसत जोत ढाई एकड़ प्रति परिवार थी। पुनस्संस्थापना के पूर्व किसान सामुराई या दाइम्यो के शिकमी या आसामी की हैसियत से काम करता था। सामन्तवाद की समाप्ति पर किसानों को भूमि पर स्वामित्व मिल गया। किसानों के भूस्वामी होने के उपरान्त, विशेषकर पिछले २५ वर्षों में फिर शिकमी या आसामी काश्तकारों की संख्या बढ़नी शुरू हुई, क्योंकि बड़े, संपन्न व दूरंदेश किसान अपनी-अपनी जोतें बढ़ाने में दिलचस्पी रखते थे।

"कोई ३४ प्रतिशत काश्तकार भू-स्वामी हैं, लगभग ४० प्रतिशत भू-स्वामी भी हैं, असामी भी, और लगभग २८ प्रतिशत केवल असामी हैं......किन्तु, इधर हाल के वर्षों में एक अस्वस्थ प्रवृत्ति यह दिखाई पड़ी है कि भू-स्वामियों की संख्या घट रही है और असामियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। उदाहरणार्थ, सन् १९१९ में सन् १९१४ के मुकाबले में भू-स्वामियों की संख्या में ३०,५०० की कमी हो गयी और असामियों की संख्या में २५,६१३ की वृद्धि हो गयी...इस प्रकार अनेक लोग भूमिहीन होते जा रहे हैं और कुछ लोग अपनी खेती का क्षेत्र बढ़ा कर स्वतंत्र जमींदार बनते जा रहे हैं। पश्चिमी देशों की तुलना में जापानी जमींदार बहुत अधिक शोषक व परजीवी होता है। यदि यह

प्रक्रिया जारी रही तो स्थिति बिगड़ेगी क्योंकि असामियों की संख्या बढ़ने से जापान में किसान की स्वतंत्रता व स्वयं निर्णय व प्रेरणा पर आघात होता है।"[१३]

इसके अतिरिक्त असामियों की संख्या में वृद्धि से जमींदारों व असामियों के बीच संघर्ष बढ़ता था। सन् १९१४ के बाद महँगाई बढ़ने से असामी की जीविका का प्रश्न जटिल हो गया था और उसके व जमींदारों के बीच शत्रुभाव पैदा हो रहे थे। दूसरी ओर, भूमिहीन किसान औद्योगिक नगरों की ओर अधिक आसानी से आकृष्ट होता था। इससे उद्योग का लाभ भले ही हो, देश का नहीं था। उद्योग से होड़ में जमींदार अपने असामियों को खेती में रोक रखने में कठिनाई का अनुभव करता था। यद्यपि असामियों की संख्या में वृद्धि कोई शुभ लक्षण नहीं था, इससे जोतों का क्षेत्रफल बढ़ता था और भूमि के फिर से बँटवारे व चकबन्दी से उतनी ही मेहनत से अधिक उत्पादन होता था। एक सीमा तक, इससे आधुनिक औजारों व नये तरीकों का उपयोग संभव था। समस्या यह थी कि स्थिति की खराबियाँ हटा कर किस पर संभावनाओं का भरपूर उपयोग किया जाय।

हर वर्ष नयी भूमि खेती के लिए तोड़ी जाती थी। सन् १९०५ से सन् १९३४ के बीच खेती की भूमि ५३,८२,३७८ चो से बढ़ कर ६०,३७,६४५ चो हो गयी थी। सन् १९०९ में खेती की भूमि कुल भूमि का १४.६ प्रतिशत थी, सन् १९३४ में वह १५ प्रतिशत हो गयी थी। इसका यह अर्थ नहीं था कि जापान में ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र पड़े थे, जिन पर नये सिरे से खेती की जा सकती थी। जापानी द्वीप ज्वालामुखी पर्वतों के लावे से बने हैं और उनमें अनेक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई हैं। खेती की दृष्टि से भूमि की प्रकृति समझने के लिए यह बताना उपयुक्त होगा कि वहाँ लगभग ५० ज्वालामुखी पहाड़ ऐसे हैं जो बीच-बीच में आग उगलने लगते हैं और लगभग एक हजार झरने गरम पानी के हैं। अतएव, पूरे क्षेत्र की तुलना में खेती या रहने की भूमि हमेशा ही कम रहेगी। अभी ही, पहाड़ों के ढलानों का जितना व जिस ढंग से खेती के लिए उपयोग होता था, वही आश्चर्यजनक था। भूमि की प्रकृति ही जापान में ऐसी है कि जोतें अनिवार्यतः छोटी हैं।

खेती के क्षेत्रफल में जो वृद्धि थी वह उपज की वृद्धि की तुलना में बहुत कम थी। सन् १८८२ में चावल का कुल उत्पादन १,०६,९२,००० कोकू था, सन् १९१३ में यह बढ़ कर ५,०२,२२,००० कोकू और सन् १९२८ में ६,०३,०३,००० कोकू हो गया था।[१४] उत्पादन की यह वृद्धि ७५ प्रतिशत प्रति एकड़ थी। इस बीच आबादी केवल ५५ प्रतिशत ही बढ़ी थी। चावल का अतिरिक्त उत्पादन व उसके आयात से उसकी प्रति व्यक्ति औसत खपत बढ़ी और इससे प्रकट होता था कि आम जनता का, विशेषकर संपन्न वर्गों का रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ था। किन्तु, यदि आबादी का बढ़ाव अपनी पुरानी गति से ही होता रहता तो कुछ ही वर्षों में कृषि-उत्पादन आबादी की आवश्यकताओं

से कम पड़ने लगता। इससे जापान भोजन के लिए बाहरी दुनिया पर आश्रित होता, जैसा कि वह अपने उद्योगों की कच्चे माल की आवश्यकतापूर्ति के लिए सन् १९३३ तक हो चुका था।

जैसा कि कहा जा चुका है कृषि-उत्पादन में वृद्धि का एक कारण तो कृषि-क्षेत्र में वृद्धि थी। साथ ही, इस वृद्धि के बड़े कारण थे धान के खेतों का बदलाव ताकि उनकी सिंचाई हो सके, वैज्ञानिक ढंग से खाद देना, उन्नत औजारों का उपयोग, यंत्र व जानवरों की शक्ति का उपयोग, बीज का ठीक चयन और उन्नत बीज का अधिकाधिक उपयोग, बाढ़ रोकने के लिए वृक्षारोपण तथा ग्रामीणों को ऋण देने की उपयुक्त व्यवस्था का विकास।

विकास के अन्य क्षेत्रों की भाँति खेती की उन्नति में भी सरकार ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। कृषि-शिक्षा के लिए उसने स्कूल खोले और निचली कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में भी कृषि-शिक्षा शामिल कर दी। नये प्रयोगों के लिए उसने केन्द्र खोले जहाँ किसानों की प्राविधिक समस्याओं पर विचारपूर्वक हल ढूंढ़े जाते और उन्हें किसानों तक पहुँचाया जाता; नये प्रयोग करने के लिए किसानों को प्रोत्साहित भी किया जाता था। खेती के साथ चल सकनेवाले दूसरे धंधों के–जैसे कि बागबानी या रेशम उद्योग के विकास में भी सरकार ने सहायता दी, यद्यपि रेशम आदि में उसकी दिलचस्पी ग्रामीण क्षेत्रों में समृद्धि लाने के लिए उतनी नहीं थी, जितनी कि उद्योगों के विकास और निर्यात योग्य घरेलू आवश्यकता से अधिक सामान तैयार करने के लिए। सरकार ने कृषि विशेषज्ञों को गाँव-गाँव दौरा करने के लिए भेजा और गाँव से माल बाहर निकालने के लिए सड़क आदि आवागमन के साधनों को विकसित किया।

इस दिशा में सरकार और अधिक काम करना चाहती थी, पर धन की कमी एक बड़ी वाधा थी। "क्षेत्रीय राज्यपालों व कृषि विशेषज्ञों ने मुझे बार-बार आश्वासन दिया कि विनाशकारी बाढ़ों की रोक-थाम के लिए, नयी भूमि पर खेती करने के लिए, किसानों को ऋण देने व जनता का कृषि-संबंधी ज्ञान बढ़ाने व उनकी समृद्धि बढ़ाने के लिए तैयार की गयी योजनाएँ धनाभाव के कारण ही लागू होने से रह जाती थीं; और एक विदेशी से बात करते समय अतिशयोक्ति से काम लेने की संभावना बहुत कम ही थी।"[१५] विकास के लिए धनाभाव का एक बड़ा कारण राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग जल व थल सेनाओं तथा विभिन्न युद्धों में लिये गये ऋणों की अदायगी में चला जाना था। यही स्थिति जापान के अतिरिक्त अन्य देशों की भी थी।

किसान खेती के साथ जो अन्य धन्धे अपनाते थे, उनमें मुख्य थे चाय पैदा करना, रेशम का उत्पादन, बागबानी, वृक्षों व पौधों को बौना बना कर खुशनुमा बनाना तथा

पशुपालन। कुछ क्षेत्रों में चाय व रेशम का महत्त्व खेती से भी अधिक था, किन्तु सामान्यतः देश भर में ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्यान्न-उत्पादन ही अधिक महत्त्वपूर्ण था। सबसे उत्तर के कुछ क्षेत्रों को छोड़ कर, चाय देश भर में पैदा की जाती थी, किन्तु चाय के खेत छोटे-छोटे थे और इसे "दूसरा धन्धा" के समान ही रखा जाता था। इसके अतिरिक्त अधिकांशतः चाय को बिक्री के लिए तैयार करने का काम भी यंत्र से नहीं हाथों से ही किया जाता था।

चाय की खेती का महत्त्व इस बात से समझा जा सकता है कि सन् १९३१ में ३८,१०९ चो भमि पर चाय उगायी गयी थी और ११,२६,३१८ घरेलू कारखानों में चाय तैयार की गयी थी। सन् १९१९ में ३.४ करोड़ येन की चाय जापान में पैदा हुई थी; हर वर्ष १.८५ करोड़ येन की चाय का निर्यात होता था, मुख्यतः अमरीका व कनाडा को। अमरीका में जापानी चाय का आयात कम हो रहा था; सन् १९१८ में ५०,००० टन चाय जापान से आयी थी और सन् १९२० में यह घट कर २३,००० टन ही रह गयी; इसका एक कारण तो यह था कि खुद जापान में ही चाय की खपत बढ़ रही थी किन्तु, मुख्य कारण यह था कि अमरीका काली चाय का अधिकाधिक प्रयोग करने लगा था।

रेशम के कीड़ों व रेशम के वार्षिक उत्पादन का अनुमान १७ करोड़ येन का था। "हर एक दर्जन एकड़ों में कम-से-कम एक एकड़ पर शहतूत के पत्ते उगाये जाते थे, जो रेशम के कीड़ों का भोजन थे; देश के एक तिहाई से अधिक, २० लाख किसान परिवार रेशम के कीड़े पालने का कष्टसाध्य काम करते थे।"[१६] इससे प्रकट है कि किसान के लिए कच्चा रेशम पैदा करने का क्या महत्त्व था। खेती के साथ करने के लिए यह आदर्श धन्धा था क्योंकि कीड़ों की देखभाल परिवार की स्त्रियाँ व लड़कियाँ कर लेती थीं और इन्हें पालने का काम भी केवल वसन्त व शरद् ऋतुओं तक ही सीमित रहता था।

सन् १९१० में जापान के रेशम का निर्यात उसके सबसे बड़े प्रतियोगी चीन से बढ़ गया और बाद में वह चीनी रेशम निर्यात से दुगुना हो गया। यह उत्पादन इटली के उत्पादन से तिगुना और फ्रांस के उत्पादन से बहुत अधिक था, यद्यपि जलवायु की दृष्टि से उसके प्रतियोगी देश बेहतर स्थिति में थे। जापान में शहतूत के वृक्षों की बहुतायत थी। काफी समय तक जापान कच्चे रेशम की उपज का तीन चौथाई निर्यात करता रहा, किन्तु जैसे-जैसे रेशम के कारखाने देश में स्थापित होने लगे, कच्चे माल से रेशम का माल तैयार करने का काम देश में ही होने लगा। इस ग्रामीण धन्धे ने देश के सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योग की नींव डाली।

जैसे-जैसे रेशम की खपत देश में बढ़ने लगी, इसके उत्पादन पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा और कुछ क्षेत्रों में खाद्यान्न-उत्पादन की जगह रेशम को ही मुख्य धन्धा बना लिया

गया। घरेलू धन्धे की हैसियत से रेशम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था और किसानों की संपन्नता बढ़ाता था। किन्तु यदि किसान केवल इसी काम को करने लगते तो परिणाम उलटे हो जाते, क्योंकि वे दुनिया के बाजार की स्थिति पर निर्भर रहने लगते और एक ऐसे उद्योग पर उनकी निर्भरता बढ़ जाती, जिसके नियंत्रण में उसका अप्रत्यक्ष हाथ ही था।

बहुत से ग्रामीण परिवारों की आय मछली पालने से भी बढ़ी थी। लगभग १५ लाख व्यक्ति मछली-उद्योग में लगे थे और इससे प्रतिव्यक्ति औसत वार्षिक आय ७० येन थी। सरकार ने मत्स्य-पालन की वैज्ञानिक जाँच कर उसे प्रोत्साहित किया था। सरकार ने साइबेरिया तट व तट के निकट जलाशयों में मछली पकड़ने के अधिकार जापानी नागरिकों के लिए प्राप्त करने का भी प्रयास किया। सन् १९३३ तक गहरे समुद्रों में मछली पकड़ने का धन्धा जापान में अर्ध-पूंजीवादी स्वरूप ग्रहण कर चुका था।

किन्तु होक्काइडो को छोड़कर शेष देश में पशुपालन को प्रोत्साहित करने में इतनी सफलता नहीं मिली। होक्काइडो में सरकार ने एक केन्द्र स्थापित किया था, जहाँ सेना के उपयोग के लिए जानवर पाले जाते थे। कुछ अन्य व्यक्ति भी जानवर पालते थे। भोजन की आदतें बदलने से दूध व मांस की बढ़ी हुई माँग पूरी करने के लिए पशुपालन का विकास तो संभव लगा, किन्तु ग्रामीण जनता में इसका विशेष महत्त्व नहीं था और चरागाहों की कमी से पशु-पालन बढ़ नहीं रहा था।

दूसरी ओर, बागबानी व शाक-सब्जी का उत्पादन बढ़ रहा था। देश में २० करोड़ येन के फल-तरकारी हर वर्ष पैदा किये जाते थे। नये किस्म के फलों व फलोंवाले वृक्षों की संख्या तो बढ़ी ही थी, फलों की किस्मों में भी प्रयोगों द्वारा सुधार किया गया था।

जापानी किसान अपनी छोटी जोत पर गुजारे के लिए चावल व अन्य अनाज के साथ इन अन्य वस्तुओं के उत्पादन में लगा रहता था और इन पूरक कामों व उपजों से ही वह निर्वाह के लिए आवश्यक आय कर पाता था। भूमि पर काम करने के लिए साल में कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक २०० दिन काफी होते थे। इस प्रकार उसके व उसके परिवार के सदस्यों के पास पूरक धन्धे करने के लिए समय की कमी नहीं रहती थी और खेती के काम की उपेक्षा भी नहीं होती थी और न काम के घण्टे बढ़ने का ही सवाल उठता था। आवश्यकता इस बात की थी कि फसल कटने के बाद और खेत में काम करने के मौसम शुरू होने के बीच के समय में किसान के लिए अधिकतम लाभ के धन्धे ढूँढ़े जायँ और उन धन्धों के विकास के लिए किसान को उस सीमा से आगे भी प्रोत्साहित किया जाय, जो कि सन् १९३३ तक पहुँच चुकी थी।

होक्काइडो के विकास का भी संक्षिप्त वर्णन यहाँ उपयुक्त होगा। उस द्वीप की कठिन शीत की जलवायु के कारण जापानियों ने न तो वहाँ कुछ विकास ही किया था

और न वे वहाँ जाकर बसे ही थे; इसका एक कारण यह भी था कि जापानियों में कठिन शीत से घृणा है, क्योंकि जापानी जीवन में शीत का सामना करने की शिक्षा का अभाव है। मुख्य द्वीप-समूह से निर्वहन-संघर्ष में पराजित निर्धन लोग ही बाहर जाते थे और जीवन-यापन की परिवर्तित परिस्थितियों को स्वीकार करने की जानकारी व क्षमता के बावजूद वे होक्काइडो में इसलिए नहीं रह सकते थे कि उनके पास शीशे की खिड़कियों व कमरों को गर्म रखने वाले चूल्हों वाले घर बनाने के साधन नहीं थे। द्वीप की भूमि भी ऐसी थी कि वहाँ खेती का परंपरागत ढंग बदलना आवश्यक था। इसलिए लोग वहाँ जाकर बस नहीं रहे थे। फिर होक्काइडो के उपनिवेशीकरण में एक बड़ी बाधा वहाँ जमीनों पर कब्जा कर लेने के बड़े गड़बड़घोटाले भी थे, जिनके कारण जापान के मंत्रिमंडलों तक का पतन हुआ था। लार्ड सैलिसबरी के अनुसार भूमि के जो सबसे अच्छे टुकड़े थे, उन पर बड़े जमींदारों ने कब्जा कर रखा था; उनमें से कुछ को तो जनहित का खयाल था, पर अधिकतर जमींदार उस भूमि पर किसानों को बसने नहीं देते थे, जो रेलमार्गों व सड़कों के निकट हो सकती थी, जिसकी मिट्टी अच्छी थी और जो बहुत सरलता से विकसित हो सकती थी।[१७] इसका नतीजा यह हुआ था कि होक्काइडों में भूमि के मालिक किसान नहीं, शिकमी-असामी की माँग थी और जो लोग वहाँ बसनेग ये भी थे वे भी, वहाँ की परिस्थितियों से असंतुष्ट होकर वापस लौट आये थे।

इस द्वीप को बसाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम २५ वर्षों में उसे बसाने के लिए जो कदम शुरू में उठाये गये थे, उन्हें फिर आगे नहीं बढ़ाया गया, क्योंकि विश्व-स्तर की सैनिक-शक्ति का राष्ट्र बन जाने के बाद जापान को अन्य बहुत से खर्च करने होते थे और इस काम के लिए पैसा नहीं बचता था। नये रेल-मार्ग व सड़कें बननी थीं। द्वीप में बसनेवालों के लिए रिआयती दर पर पूँजी चाहिए थी। जमींदारी को निरुत्साहित करने के लिए भूमि-संबंधी नीति में परिवर्तन चाहिए था।

इसका यह अर्थ नहीं कि होक्काइडो में कोई विकास हुआ ही नहीं। वहाँ एक रेल-लाइन बिछायी गयी, आटा-मिल, चुकन्दर की शकर बनाने के कारखाने, फलों के अचार-मुरब्बे बना कर डिब्बों में भरने के कारखाने और शराब बनाने के कारखाने बनाये गये; और भी नये काम-धन्धे वहाँ शुरू हुए। एक कृषि-विद्यालय वहाँ खोला गया, जो बाद में विश्वविद्यालय बना और जिसका द्वीप के जीवन में बड़ा महत्त्व हुआ। दूध का उत्पादन बढ़ाने के लिए पशुपालन का विकास हुआ और दूध से बनने वाले सामान के उत्पादन के लिए कारखाना स्थापित हुआ। और ये सभी विकास-कार्य बहुत पहले ही हो गये थे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विकास की संभावनाएँ होक्काइडो में बहुत थीं। एक क्षेत्र था, जहाँ जापान की अतिरिक्त आबादी का एक भाग आसानी से बसाया जा

सकता था। किन्तु जब तक जापानी बड़ी संख्या में जाकर होक्काइडो में बसने को तैयार न हों, शेष दुनिया तो यह मानने को तैयार नहीं थी कि जापान को जनसंख्या-संबंधी किसी समस्या का सामना करना पड़ रहा था और यह मानने के बाद भी कि समस्या है, उसके सही समाधान के प्रश्न पर मतभेद हो सकता था।

पाँच वर्ष तक लगातार टोकियो ने होक्काइडो का आय-व्ययक काट कर बहुत कम कर दिया। सार्वजनिक निर्माण व विकास की अनेक योजनाएँ बार-बार स्थगित कर दी गयीं या उन पर काम रोक दिया गया। जब होक्काइडो का हित इस बात में है कि वहाँ जाकर अधिक-से-अधिक किसान बसें, जब वहाँ मजदूरों की कमी है, जब बाहर जाकर बसने की लगातार माँग है, तब जितने लोग होक्काइडो में जाकर जमीन पर बसने के लिए आवेदन पत्र देते हैं उनके एक-दो तिहाई को अनुमति मिलती है।[१८]

इस प्रकार जनसंख्या की समस्या के कृषि-पहलू व औद्योगिक पहलू, दोनों ही जापान की परराष्ट्र-नीति के प्रश्न पर लौट आते हैं; आधुनिक जापान में सबसे अधिक दिलचस्पी व महत्त्व का प्रश्न परराष्ट्र-नीति का ही है।

सोलहवाँ अध्याय

सुदूर पूर्व में जापानी प्रभुत्व का दावा

सन् १९१७-१९१८ तक पूर्वी एशिया में जापानी शक्ति का एक नया स्तर बन चुका था। प्रथम महायुद्ध की बदौलत जापान ऋण लेनेवाले की जगह ऋण देनेवाला राष्ट्र बन गया था, आयात-निर्यात का संतुलन जापान के पक्ष में हो गया था और अपर्याप्त स्वर्ण प्रारक्षण की जगह जापान के पास अब पर्याप्त के अतिरिक्त भी सोना मौजूद था। विश्वयुद्ध के कारण ही उसे एशिया महाद्वीप पर पैर जमाने की अपनी अभिलाषा पूरी करने की पूरी छूट मिल गयी थी और इसमें किसी विदेशी हस्तक्षेप का डर नहीं था। किन्तु जापान युद्ध द्वारा प्रदत्त अवसर का लाभ केवल इसीलिए उठा सका था कि वह पहले ही इसके लिए पूरी तैयारी कर चुका था। उत्पादन के आधुनिक साधन अपना चुकने के कारण ही वह अपने बाजारों का विस्तार कर सका; व्यापारिक जहाज पहले से ही निर्मित कर लेने के कारण ही वह प्रशान्तसागरीय व्यापार में अपना एकाधिकार कायम कर सका। पहले से ही जो तैयारी जापान कर चुका था, उसी के फलस्वरूप वह सुदूर पूर्व में अस्थायी ही सही, अपना प्रभुत्व जमा सका था।

(१) जापान के अधीन क्षेत्र—फारमोसा व कोरिया

प्रथम महायुद्ध के समय के जापान का चित्र समझने के लिए उसे एक राज्य की जगह एक साम्राज्य के रूप में देखना होगा। पहले जापान के अधीन क्षेत्र—कोरिया व फारमोसा, फिर सन् १९०५ से १९१४ तक मंचूरिया में जापान की दिलचस्पी व कारवाई और फिर सन् १९१४ से सन् १९१८ तक जापान की चीन-संबंधी नीति पर विचार करने से यह चित्र स्पष्ट हो सकेगा।

साम्राज्य की सबसे दक्षिण की चौकी थी फारमोसा जिसके कारण फूकिन प्रान्त से उत्तर के समस्त चीनी समुद्र तट पर आवागमन व प्रवेश पर नियंत्रण संभव था; फारमोसा पर अधिकार के फलस्वरूप ही वह फूकिन प्रान्त में अपनी विशेष दिलचस्पी का दावा कर सका था। आधुनिक काल में जापान ने अपने पहले सफल युद्ध की निशानी के रूप में फारमोसा प्राप्त किया था और इसलिए भी उसकी यहाँ दिलचस्पी थी; वैसे फारमोसा

एक आर्थिक बोझ तो बना ही हुआ था और सन् १९१४ तक वहां के उत्तरी पठार के आदिवासियों के दमन के लिए उसे वहाँ काफी सैनिक रखने पड़ते थे। सड़कें, रेल-मार्ग, बन्दरगाह, पाठशालाएँ आदि के निर्माण में जापान लगातार यहाँ धन लगा रहा था और युद्ध के समय जाकर ही यहाँ का प्रशासन लगभग स्वावलम्बी हो पाया था। आर्थिक दृष्टि से जापान को यहाँ से अफीम, कपूर, नमक और सीमित मात्रा में तम्बाकू प्राप्त होती थी और इन सभी के व्यापार की इजारेदारी सरकार की थी; निर्यात के बड़े मद चाय व शकर थे; ६५ लाख येन की मछली व अन्य समुद्री फसल हर वर्ष आती थी; कुछ सोना, कोयला व खनिज तेल भी यहाँ था। यहाँ का लगभग सारा व्यापार जापान से ही था, कुछ थोड़ा-बहुत व्यापार चीन से भी था और तीसरे नम्बर पर अमरीका से था। उपनिवेशीकरण के प्रयासों के बावजूद जापानी लोग यहाँ बड़ी संख्या में आकर नहीं बसे, क्योंकि सन् १९२५ तक यहाँ कुल १,८७,००० जापानी नागरिक थे।

कोरिया, जिसका नाम जापान के अधीन होने पर बदल कर चोजेन कर दिया गया था, जापान के अधीन राज्यों में सबसे अधिक महत्त्व का था। सन् १९०५ तक की कोरिया की राजनीतिक स्थिति का वर्णन ऊपर हो चुका है।[1] सन् १८९५ में कोरिया का चीन से अंतिम रूप से संबंधविच्छेद हो गया था और इसके बाद रूस व जापान के बीच स्पर्धा चलती रही थी। इस स्पर्धा के अंतिम मोर्चे के पहले, सन् १९०२ में, ब्रिटेन व जापान के बीच समझौता हो गया था। इस समझौते में अन्य बातों के अतिरिक्त, कोरिया की स्वतंत्रता की स्वीकृति और साथ ही वहाँ जापान के विशिष्ट राजनीतिक, व्यापारिक व औद्योगिक हितों की मान्यता थी। सन् १९०५ के पुनरीक्षित समझौते के अनुसार "कोरिया में जापान के सर्वोच्च राजनीतिक, सामरिक व सैनिक तथा आर्थिक हित होने के फलस्वरूप ब्रिटेन कोरिया में जापान द्वारा इन हितों को सुरक्षित रखने व उनके विस्तार करने की दृष्टि से निर्देशन, नियंत्रण व सुरक्षा के लिए उपयुक्त व आवश्यक कारस्वाई करने के अधिकार को स्वीकार करता है; सिर्फ शर्त यह है कि ऐसी कारस्वाई से कोरिया के साथ उद्योग-व्यवसाय के लिए अन्य सभी राष्ट्रों के समान अधिकारों के सिद्धान्त पर आँच न आये।"[2] युद्ध होने पर कोरिया जापान का संरक्षित राज्य बन गया और ईटो यहाँ के लिए सबसे बड़े अधिकारी नियुक्त हुए। यह स्थिति सन् १९१० तक कायम रही, जब कोरिया के शासक व जापान के सम्राट् के बीच एक अधिनयन-संधि हुई और कोरिया जापान में मिला लिया गया; सम्राट् की ओर से उस समय कोरिया में नियुक्त रेजिडेण्ट अधिकारी, जनरल तेरौची ने हस्ताक्षर किये। जापानी साम्राज्य में शामिल होने पर अस्थायी रूप से कोरिया का अंतरराष्ट्रीय व्यक्तित्व समाप्त हो गया। इस परिवर्तन की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति का एक परिणाम यह हुआ कि कुछ समय के लिए कोरिया में

विदेशी शासनों के षड्यंत्र समाप्त हो गये, यद्यपि, बीच-बीच में, अमरीकी पादरियों के विरुद्ध ये आरोप लगाये जाते रहे कि वे अपनी पाठशालाओं में राजद्रोहात्मक सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं; सन् १९२० में, आनटुंग रहने वाला एक अंग्रेज कोरिया आने पर इसलिए गिरफ्तार कर लिया गया कि उस पर "कोरिया की स्वाधीनता के लिए आंदोलन करने वालों का मित्र और सहायक होने का काफी समय से सन्देह था।"[३] स्वाधीनता-आंदोलन के अतिरिक्त कोरिया में कोई आंतरिक खलबली नहीं रही।

जापानी शासन के अधीन कोरिया की स्थिति का विशद और उपयुक्त वर्णन यहाँ कठिन है; विवादास्पद बातें छोंड़कर शेष, निश्चित तथ्यों का संक्षेप भर यहाँ दिया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि देश की आर्थिक स्थिति काफी सुधर गयी थी। फारमोसा की भाँति यहाँ भी सड़कें व रेल-मार्ग बनाये गये और बन्दरगाहों का सुधार हुआ; बिजली का प्रकाश राजधानी सिऊल से अन्य नगरों को ले जाया गया; नयी भूमि पर खेती शुरू की गयी और खेती की प्रणाली में भी सुधार हुआ; सफाई के बेहतर तरीके वहाँ चालू किये गये, आधुनिक बैंक-व्यवस्था की स्थापना की गयी; उद्योग पनपे और आयात-निर्यात व्यापार का परिमाण बढ़ा।

व्यापार बढ़ने से सबसे अधिक लाभ जापान का हुआ। सन् १९२९ में कोरिया से होनेवाले निर्यात में ३० करोड़ येन से अधिक का माल जापान गया, तीन करोड़ का चीन गया और कुछ थोड़ा एशियाई रूस, अमरीका व अन्य देशों को गया। इसी प्रकार, आयात में ३० करोड़ येन से अधिक का माल जापान से आया, सात करोड़ का चीन से आया और सबसे कम माल अमरीका से आया जो इस व्यापार से तीसरे नम्बर पर था। इस प्रकार आयात-निर्यात व्यापार का ९० प्रतिशत भाग जापान तक ही सीमित था।[४] कोरिया के आंतरिक विकास में जापान की यह प्रमुख स्थिति और भी स्पष्ट थी। केवल सोने की खदानों में कुछ समय तक 'अ-जापानी' हित कायम रहे। और यह स्वाभाविक भी था, यद्यपि कोरिया के स्वाधीन होन पर उसके विकास में विदेशी पूँजी और बड़े परिमाण में लग सकती थी। किन्तु व्यापार के क्षेत्र में जापान की प्रभुता, व्यापार में एकाधिकार कायम करने की प्रवृत्ति के कारण नहीं, भौगोलिक निकटता तथा जापान की कोरिया की आवश्यकताएँ पूरी कर सकने और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वहाँ का माल जापान ले जाने की क्षमता के कारण थी।

यह बात भी ध्यान देने की है कि टोकियो द्वारा नियंत्रित तथा फौजी ढंग की होने के बावजूद जापान ने जो शासन कोरिया को प्रदान किया, वह स्वयं कोरियावासियों की क्षमता व इंच्छा से कहीं अधिक अच्छा था। सन् १९१९ के आंदोलन के बाद सन् १९२० में शासन का पुनस्संगठन किया गया, जिससे उसका स्वरूप और अधिक राष्ट्रीय हो गया।

इस पुनस्संगठन के फलस्वरूप एक ही पद पर काम करने वाले जापानी व कोरियावासियों के वेतनों में जो अंतर था, वह समाप्त कर दिया गया, कोड़े लगाने का दण्ड खत्म कर दिया गया और स्थानीय शासन की दिशा में एक कदम बढ़ाया गया।

किन्तु यह भी स्वीकार करना होगा कि जापान ने जो कुछ किया, उसके पीछे भावना यह नहीं थी कि कोरियाई जनता की हालत सुधरे, बल्कि यह भावना थी कि कोरिया-क्षेत्र जापान के लिए और अधिक लाभदायक सिद्ध हो। जो अनेक सुधार हुए, उनसे कोरियाई जनता का लाभ अवश्य हुआ; किन्तु दूसरी ओर यह भी स्वीकार करना होगा कि कोरियाई भाषा की जगह बलात् जापानी भाषा लादना, कोरिया के साहित्य व कोरिया की संस्थाओं को दबाना, जनता के सामूहिक रूप से काम आनेवाली जमीनों का बड़ा भाग छीन कर अधिकांशतः जापानियों के हाथ बेच देना, बहुत सी निजी संपत्ति के सबसे मूल्यवान् भाग को बेच डालना, जिसके फलस्वरूप इस संपत्ति के स्वामी जाकर मंचूरिया में बस गये, कोरिया में भाषण की स्वतंत्रता छीन लेना और वहाँ के समाचारपत्रों को बन्द कर देना, जनता से व्यवहार में नृशंसता व बर्बरता वरतना, आदि ऐसे कृत्य थे, जिनसे जापानी प्रभुसत्ता को खुशी से पूरी तरह स्वीकार करने की भावना को कोई बल नहीं मिला। साथ ही, शिक्षा के क्षेत्र में जापान ने जो कदम उठाये उनसे कोरियावासी संतुष्ट नहीं थे। केवल जापानी बच्चों के लिए ३५० प्राथमिक पाठशालाएँ थीं, जब कि कोरियाई बच्चों के लिए ४०० पाठशालाएँ थीं और कोरियाई जनता की तुलना में जापानी जनता दो प्रतिशत से भी कम थी। यह अनुपात या संतुलन की नीति नहीं थी। फिर, कोरियाई बच्चों की पाठशालाओं में जो शिक्षा दी जाती थी, वह उन्हें जापान की अच्छी प्रजा बनाने के उपयुक्त थी और इसका वहाँ विरोध भी शुरू से ही किया गया था। मिशनों व निजी तौर पर चलायी गयी ८०० से अधिक पाठशालाओं को जाब्ते से प्रशासकीय नियंत्रण में रख दिया गया और वहाँ धार्मिक शिक्षा पर रोक लगा दी गयी।

सन् १९१८ में सारे संसार में जनतंत्र तथा राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के लिए उत्साह की जो लहर दौड़ी थी, उस लहर तथा जापानी शासन से असंतोष के कारण सन् १९१९ में कोरिया में जापान के विरुद्ध भीषण विद्रोह हुआ। देश में तो इसने सविनय अवज्ञा का रूप लिया और देश के बाहर विद्रोहियों ने पेरिस शांति-सम्मेलन से अपील की; सम्मेलन ने शंघाई में संगठित "कोरिया की अस्थायी सरकार" के दावों पर विचार करने से इनकार कर दिया। फ्रांसीसी निबटारे के आधार पर (?) यह अस्थायी सरकार तो भंग कर खदेड़ दी गयी और कोरिया का आंतरिक विद्रोह नृशंसतापूर्वक दबा दिया गया, जिससे जापान की प्रतिष्ठा कायम रही। बहुत से असंतुष्ट लोगों व विद्रोहियों को मंचूरिया या साइबेरिया की ओर देश-निकाला दे दिया गया और स्वतंत्रता-आंदोलन कुछ समय के

लिए समाप्त हो गया; जापानी अधिकारियों ने कोरिया की चीनी बस्तियों पर लगातार कई बार हमले किये। इस आंदोलन के फलस्वरूप जो सुधार हुए और जापान की कोरिया नीति में जो परिवर्तन हुए, उसका हवाला दिया जा चुका है।

(२) मंचूरिया में जापान

जापान के एशिया में दूसरे बड़े हित-क्षेत्र, मंचूरिया में न तो उसकी स्थिति स्वयं ही इतनी स्पष्ट थी और न जापान की तत्संबंधी नीति की स्पष्ट व्याख्या ही सरल है। सन् १९०५ से सन् १९१४ के बीच जापान ने मंचूरिया में जो कुछ भी किया, उसके परस्पर-विरोधी विवरण और उससे निकले परस्पर-विरोधी निष्कर्ष उपलब्ध हैं। इस मत-वैषम्य का एक कारण यह भी है कि अध्ययन का आधार ही भिन्न था। मूल रूप से जापान की स्थिति यह थी कि उसने मंचूरिया से रूसियों को खदेड़ने के लिए बहुत जन-धन की बरबादी सही थी और फिर संधि द्वारा वहाँ एक स्थिति प्राप्त कर ली थी, जिसे जाब्ते से "दिलचस्पी का क्षेत्र" कहा जा सकता था। जापान का दावा था कि इस क्षेत्र में दिलचस्पी व हित बनाने में उसने केवल उन्हीं उपायों का अवलम्बन किया था, जो यूरोपीय देशों ने चीन या अन्यत्र उपयोग किये थे और जब तक इन उपायों को सामान्यतः व सर्वत्र निन्दित और बहिष्कृत न किया जाय, केवल मात्र उसे ही (जापान को) इन उपायों के उपयोग के लिए लांछित नहीं किया जाना चाहिए। जापान का यह भी कहना था कि मंचूरिया में रूस की जो स्थिति थी, युद्ध के बाद वही स्थिति जापान की हो गयी; उस पर केवल दो सीमाएँ लगी थीं—एक तो यह कि मंचूरिया में 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त लागू होगा, जिसका अर्थ जापान सन् १८९९ के अमरीकी परराष्ट्र मंत्री हे के 'उन्मुक्त द्वार' गश्ती पत्र में वर्णित तीन शर्तों तक सीमित मानता था, और दूसरी सीमा यह थी कि जापान चीन की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का आदर करेगा। और उसका दावा था कि कम-से-कम सन् १९३१ तक उसने इन सीमाओं की मर्यादा रखी है और उनका अतिक्रमण नहीं किया; अतएव मंचूरिया में उसकी काररवाइयों की जो इतनी आलोचना हुई वह बिलकुल अनावश्यक तथा अवांछनीय थी।[५]

मंचूरिया की स्थिति के संबंध में दूसरा बड़ा मत यह था कि वह चीन का अविच्छिन्न अंग था और इसलिए इस क्षेत्र पर चीनी नियंत्रण तथा उसकी इस अविच्छिन्नता को कायम रखने के संदर्भ में ही जापानी कार्य-कलाप का मूल्यांकन होना चाहिए; या कम-से-कम, सन् १९०५ तक क्वांगतुंग अंतरीप के पट्टे और रेलमार्ग बनाने व उससे संबंधित अन्य अधिकारों के देने से चीनी सत्ता का जिस सीमा तक ह्रास हुआ, उसे छोड़ कर शेष सत्ता की रक्षा तो होनी ही चाहिए थी। इस स्थिति से जापान जिस हद तक आगे बढ़ा और

उसने अपनी स्थिति मंचूरिया में मजबूत की उस हद तक चीन के हितों को कमजोर करने व चीन के अधिकारों का अपहरण करने का अभियोग उस पर लगता ही था। जापानी नीति के आलोचक उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त के आधार पर तथा चीन की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का आदर करने के जापान के वादों के आधार पर भी उसकी निन्दा करते थे और कहते थे कि सन् १९०५ से सन् १९१४ तक जापान ने अपने इन दोनों वादों को लगातार भंग किया।[६]

यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि एक ही तथ्य को उन्मुक्त द्वार सिद्धान्त या चीन की स्वतंत्रता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के पक्ष में या उनके विरुद्ध मान लेने का कारण क्या था। पहली बात तो यह थी कि यूरोपीय राष्ट्रों की भाँति जापान भी यह मानता था कि उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त हे की तीन शर्तों में निहित था कि (१) "दिलचस्पी के क्षेत्र" या पट्टे पर दिये गये क्षेत्र में निहित स्वार्थों या संधि-बन्दरगाहों में कोई भी हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, (२) संधि द्वारा निश्चित चीन सीमा-शुल्क एक 'क्षेत्र' के भीतर लागू होगा और चीन यह शुल्क वसूल करेगा, और (३) रेलमार्गों व बन्दरगाहों के भाड़े इस प्रकार नियत होंगे कि उनमें किसी देश के साथ पक्षपात या भेदभाव नहीं बरता जायगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त ही क्षेत्र-धारण पर आधारित था और किसी 'क्षेत्र' के भीतर पूंजी लगाने के सभी देशों को समान अवसर देने की बात इसमें नहीं थी। इस सिद्धान्त के सीमित स्वरूप को सन् १९०० के बाद अमरीका में भुला दिया गया और सामान्यतः उसे "अवसरों की समानता" माना जाने लगा। इसका फल यह हुआ कि जापान ने जिस सीमित सिद्धान्त को स्वीकार किया था, उसके व्यापक संदर्भ और अर्थ लगाकर जापानी नीति की आलोचना की गयी। अगर यह मान भी लिया जाय कि अंततः अमरीकी सिद्धान्त ही अधिक ठोस व वांछनीय था, तो भी, जापानी नीति की इस आधार पर आलोचना करना अनुचित होगा कि जापान पर भी यह सिद्धान्त लागू होता था, जबकि स्थिति यह थी कि जापान पर वह लागू नहीं था। उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त के संदर्भ में जापान की मंचूरिया नीति के मूल्यांकन के समय इस भेद पर हमेशा ध्यान रखना आवश्यक है।

इसी प्रकार जापान की अविच्छिन्नता के प्रश्न की व्याख्या उपयुक्त होगी। इस सिद्धान्त को जापान ने सन् १९०५ के आंग्ल-जापानी समझौते, सन् १९११ की आंग्ल-जापानी मैत्री-संधि, सन् १९०७ के फ्रांसीसी-जापानी समझौते, सन् १९०७ की रूस-जापान उपसंधि तथा सन् १९०८ के रूट-टाकाहीरा पत्र-व्यवहार में स्वीकार किया था। किंतु ऐसा आभास होता है कि जापान इस सिद्धान्त को चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता तक ही सीमित समझता था, जैसा कि वास्तव में रूस के साथ हुई उपसंधि में स्पष्ट वर्णित था। जापान की धारणा थी कि जब तक वह मंचूरिया को जाब्ते से चीन से पृथक् न कर दे,

तब तक वह इन समझौतों के अनुरूप ही कार्य कर रहा है। किन्तु अमरीका ने सन् १९०० में ही समझ लिया था कि क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के लिए प्रशासकीय अविच्छिन्नता आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, अमरीका की मान्यता थी कि जाब्ते व औपचारिक रूप से कायम रखते हुए भी स्वाधीनता व अविच्छिन्नता का तब लोप हो सकता है, जब प्रशासकीय सेवाओं में लगातार घुस-पैठ की जाय; और इसके अतिरिक्त, उसकी यह मान्यता भी थी कि राज्य के किसी क्षेत्र के विकास की दिशा क्या होगी, इसके निर्णय के अधिकार में हस्तक्षेप से देश की स्वतंत्रता व अविच्छिन्नता पर आघात होता था। दुर्भाग्यवश, यह व्यापक और चीनी दृष्टिकोण से अधिक उचित व संगत सिद्धान्त विभिन्न राष्ट्रों से (और जापान से भी) स्वीकार तो करा लिया गया, किन्तु, जाब्ते से इस सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की गयी। इस व्याख्या के अभाव में, रूस-टाकाहीरा पत्रव्यवहार में बिना किसी नयी परिभाषा के पुराने शब्दों व वाक्यांशों का प्रयोग हुआ, जिससे उचित मतभेद की काफी गुंजाइश रह गयी और बाद में बदगुमानी हुई। इसी पत्रव्यवहार में अमरीकी सरकार ने यह स्वीकार किया कि वह यथास्थिति कायम रखने में सहयोग देगी; इसका जापान ने यह अर्थ लगाया कि सन् १९०८ तक मंचूरिया में जो स्थिति बन चुकी थी, वह इस यथास्थिति का ही अंग है।

इस पृष्ठभूमि में सन् १९०५ से सन् १९१४ तक मंचूरिया में जापान के जो हित बने, उनका अध्ययन उपयुक्त होगा। यह अध्ययन आर्थिक क्षेत्र से आरम्भ हो सकता है। आर्थिक विकास अंशतः विदेशी व्यापार के आयतन से नापा जा सकता है; सन् १८९८ में इस व्यापार में आयात-निर्यात माल का मूल्य चार करोड़ ताएल आँका गया था, और सन् १९०८ में यह बढ़ कर १० करोड़, सन् १९११ में १८ करोड़ और सन् १९२० में ५४ करोड़ ताएल से भी अधिक हो गया था। मूल्यों में बढ़ोतरी की गुंजाइश छोड़ते हुए भी यह व्यापार विकास बहुत बड़ा था। देश में उत्पादन भी बढ़ा था; सोयाबीन, काओलिआंग, मोटे अनाज, मक्का, गेहूँ, जौ, चावल तथा अन्य अनाजों का उत्पादन बहुत काफी बढ़ा था। इस वृद्धि का बड़ा कारण तो प्रवासी चीनियों का वहाँ जा बसना था, किन्तु साथ ही जापानी रेलमार्ग प्रशासन के कार्यों व आवागमन के साधनों के विकास से नये बाजार मिल जाने के फलस्वरूप भी उत्पादन-वृद्धि हुई थी।

दक्षिणी मंचूरिया रेलवे-कम्पनी रेलवे कम्पनियों के सामान्य कामों के अतिरिक्त भी अनेक काम करती थी। रेलगाड़ियाँ चलाने के अलावा वह रेल-क्षेत्र का प्रशासन करती थी, स्कूल व अस्पताल चलाती थी, शोध के लिए प्रयोगशालाएँ चलाती थी, प्रयोग केन्द्र संचालित करती थी, फूशुन व येण्टाई जैसी खानों का नियंत्रण करती थी, पानी के जहाज चलाती थी, डैरेन के बन्दरगाह के सुधार, होटलें चलाने के काम करती थी तथा डैरेन,

मुकडेन, चांगचुन व आनटुंग में बिजली-उत्पादन करती थी । ये सब काम, जिनमें कुछ शासकीय या अर्ध-शासकीय भी थे, वह मंचूरिया को समृद्ध बनाने और, इसलिए, जापान के लिए उसका मूल्य बढ़ाने के लिए करती थी ।

वास्तव में इस कम्पनी के द्वारा ही जापान अपने हित व दिलचस्पी के इस क्षेत्र का विकास कर रहा था। किन्तु कम्पनी ये कार्य तो जापान-सरकार के लिए ही कर रही थी, क्योंकि कम्पनी की २० करोड़ येन की पूँजी का आधा भाग सरकार का था । जब कंपनी की पूँजी बढ़ा कर ४४ करोड़ येन कर दी गयी, तब भी सरकार ने अधिक पूँजी लगाकर उसके ५० प्रतिशत भाग अपने पास ही रखा । सरकार ने १० करोड़ येन की मूल संपत्ति इस कंपनी के नाम कर दी थी और शेष पूँजी के लिए लन्दन के पौंड ऋणपत्र (डिबेंचर) इसमें लगा दिये थे । मूल संपत्ति का विकास मुख्यतः अंग्रेजी धन से हुआ था; जापान सरकार ने यह ऋण लिया था, क्योंकि निजी कंपनियों को ब्याज अधिक देना पड़ता था । इस प्रकार, अप्रत्यक्षरूप से, मंचूरिया के विकास में ब्रिटेन की पूँजी लगी थी, यद्यपि इस विकास का लाभ ब्रिटेन को नहीं मिला । वास्तव में, यूरोप से आयी पूँजी से रेलमार्ग का विस्तार हुआ और उसके लिए साज-सज्जा व आवश्यक उपकरण अमरीका से खरीदे गये, ऋण देने वाले देश से नहीं । चूँकि कंपनी व जापान-सरकार के बीच इस प्रकार के निकट संबंध थे, यह मानना होगा कि कंपनी की नीति-रीति वास्तव में सरकार की ही रीति-नीति थी ।

मंचरिया की स्थिति पर विचार समाप्त करने के पहले उन कारखाइयों पर दृष्टिपात आवश्यक है, जो जापान ने वहाँ अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए की । मंचूरिया का विकास सन् १९०५ के बाद हुआ । क्या इस विकास से जापान को लाभ हुआ ? जापान के कार्यों से चीन व अन्य देशों के हितों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

रेल-यातायात के विकास के संबंध में जापान की नीति का वर्णन पहले हो चुका है ।[7] दक्षिणी मंचूरिया-रेलवे चलाने के निर्णय के बाद जापान ने दावा किया कि चीन से हुई सन् १९०५ की कोमूरा-सन्धि में यह समझौता हो चुका था कि जापान की सहमति बिना चीन ऐसा कोई रेलमार्ग नहीं बनायेगा, जो इस मार्ग के समानान्तर हो या जिसकी इस मार्ग से प्रतियोगिता हो सकती हो । इस समझौते के आधार पर ही जापान ने हसिमिनटुन-फाकूमेन-रेलमार्ग नहीं बनने दिया और रूस की सहायता से चिनचाउ-आइगुन-मार्ग के लिए मिली रिआयत का उपयोग नहीं होने दिया और न अमरीकी मंत्री नौक्स की व्यापक निष्प्रभावीकरण योजना को ही चलने दिया । जैसा कि कहा जा चुका है, जापानी दृष्टिकोण से यह उन्मुक्त द्वार के लिए दिये गये वचन का उल्लंघन नहीं था, क्योंकि जापान के अनुसार आर्थिक अवसरों की समानता की कोई बात उसमें शामिल नहीं थी ।

किन्तु, अपने साम्राज्य के एक भाग के विकास की दिशा निर्धारित करने की चीन की स्वतंत्रता पर तो यह एक प्रतिबन्ध था ही और इसे चीन की स्वतंत्रता व प्रशासकीय अविच्छिन्नता पर आघात माना जा सकता था। किन्तु जापान इसे भी वचनभंग नहीं मानता था, क्योंकि, उसके अनुसार, उसकी कारवाइयों से मंचूरिया चीन से पृथक् नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, जापान का यह भी दावा था कि मंचू-शासन वचनबद्ध था कि वह वे काम नहीं करेगा जो इन रिआयतों के लागू होने से होते; इस प्रकार जापान चीन पर अपनी नीयत बिगाड़ कर गैर ईमानदारी से धोखा देने का आरोप लगा रहा था। सन् १९०५ से सन् १९१४ तक मंचूरिया की रेल-राजनीति के संबंध में जो निर्विवाद निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं वे हैं (१) जिस प्रकार रूस उत्तर में कर रहा था, जापान दक्षिण के अपने हित-क्षेत्र में अपने अनन्य अधिकार स्थापित करने को कटिबद्ध था और अपनी इस स्थिति को संगठित करने के लिए वह चीन से नये समझौते कर रहा था; (२) चीन जापान की रेलवे-इजारेदारी कायम होने देने के लिए खुशी से तैयार नहीं था, किन्तु काफी विदेशी आर्थिक व राजनीतिक सहायता के बिना वह जापान को रोकने में असमर्थ था; और (३) विदेशी राष्ट्रों में केवल अमरीका ही ऐसा था, जो जापान की इजारेदारी बनने में अड़ंगा लगाना चाहता था और स्थापित इजारेदारी को ध्वस्त करना चाहता था, किन्तु इस काम के लिए आवश्यक विदेशी सहयोग तथा समर्थन उसे प्राप्त नहीं हो रहा था। अतएव, सन् १९१४ तक जापान-रेलवे-क्षेत्र में पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर चुका था, किन्तु इससे उसने इस काम में दिलचस्पी रखने वाले अमरीकियों का अविश्वास व शत्रुता मोल ले ली थी।

व्यवसाय की दृष्टि से भी जापान मंचूरिया में अपने पैर जमा चुका था। रूस से हुए युद्ध के बाद, जब फौजें वापस लौट रही थीं, तो गैर-जापानी व्यापारियों को उस क्षेत्र में इस आधार पर नहीं घुसने दिया गया कि अभी फौजी शासन समाप्त नहीं हुआ। किन्तु इसी अवधि में केवल सैनिक प्रयोजन के लिए चल रही रेलगाड़ियों में जापान से व्यापारिक माल आ रहा था। इस प्रकार, प्रतियोगिता के अभाव में, उस क्षेत्र में सबसे पहले प्रवेश करनेवालों की हैसियत से जापानी व्यापारी वहाँ जम गये। अतएव, सन् १९०६ के ग्रीष्म के पहले उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त वहाँ लागू होना माना ही नहीं गया। युद्ध से पहले मंचूरिया का प्रवेश-द्वार न्यू चुआंग नामक चीनी बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह का उपयोग लगभग पूरी तरह से समाप्त हो गया और उसकी जगह जापानी बन्दरगाह डैरेन का उपयोग होने लगा, क्योंकि एक तो, डैरेन में व्यापार की बेहतर सुविधाएँ प्राप्त थीं, और दूसरे, जापानी रेलवे चीनी बन्दरगाह के साथ सीमाशुल्क की दरों में भेदभाव बरत रही थी। यह भी उन्मुक्त द्वार-नीति का उल्लंघन नहीं माना गया, क्योंकि स्थानों या बन्दरगाहों में भेद न

करना उस सिद्धान्त में शामिल नहीं था; किन्तु, इस नीति के फलस्वरूप उन अंग्रेज व अमरीकी व्यापारियों के साथ भेदभाव अवश्य होता था, जो चीनी बन्दरगाह पर आ बसे थे। दक्षिणी मंचूरिया रेलवे ने सीमा-शुल्क की दरों में तो भेदभाव नहीं बरता था और जापानी व्यापारियों को उनमें विशेष सुविधाएँ नहीं दी थीं, किन्तु उसने दरों में रिआयतों की एक प्रणाली चालू कर रखी थी, जिसका प्रभाव जापान के पक्ष में भेदभाव ही होता था; विदेशी शिकायतों व आलोचना के कारण बाद में यह रिआयत-प्रणाली समाप्त कर दी गयी। इस प्रणाली की जगह आर्थिक सहायता या उपदान देने की प्रणाली चालू कर दी गयी, जिस पर आपत्ति नहीं की जा सकती थी, क्योंकि अन्य सरकारें भी बहुधा इस प्रणाली का उपयोग करती थीं। कोरिया से आयात किये हुए माल को मंचूरिया-व्यापार में सुविधाएँ मिलती थीं,[8] किन्तु यह सुविधा सभी को समान रूप से प्राप्त होने के कारण इसे उन्मुक्त द्वार-वचन का उल्लंघन नहीं माना जा सकता था। जो जापानी कोरिया के द्वारा व्यापार करते थे, वे अपनी ही सीमा-शुल्क-प्रणाली के भीतर व्यापार कर रहे होते थे, किन्तु यह बात विदेशी व्यापारियों पर तो लागू थी नहीं; इस प्रकार जापानी व्यापारियों को निश्चित रूप से एक ऐसी सुविधा प्राप्त हो जाती थी, जो अन्य विदेशियों को प्राप्त नहीं थी। अतएव, सामान्यतः, गैर-जापानी व्यापारी अपना माल कोरिया होकर नहीं मँगाते थे। शुरू-शुरू में, जब माल का लदान बहुत हो रहा था और ढुलाई के साधन सीमित थे, गैर-जापानी विदेशी माल बहुधा देर में पहुँचाया जाता था और जापानी माल जल्दी; कभी-कभी गैर-जापानी माल के साथ छेड़छाड़ भी होती थी।[9] जापानी व्यापारी विदेशी व्यापार चिह्नों या छापों व मार्क का भी प्रयोग कर लेते थे, किन्तु व्यापारिक नैतिकता का अभाव ही था, उन्मुक्त द्वार-नीति का उल्लंघन नहीं; यह चीन, जापान व चीन की दीवार के उत्तर में, सभी जगह होता था। फिर अपने विदेशी प्रतियोगियों को हराने के लिए जापानी अपने राजनीतिक प्रभुत्व के बल पर चीन में उत्पादन व उपभोक्ता-कर देना भी बचा जाते थे या उन्हें कम करा लेते थे। यह अवश्य सही है कि जब भी उन्मुक्त द्वार सिद्धान्त के विपरीत हो रहे कार्यों की ओर जापान का ध्यान दिलाया जाता था, तो जापान अपने वचन का शाब्दिक पालन करने को तैयार हो जाता था, किन्तु तब भी, इस सिद्धान्त के शाब्दिक उल्लंघन के बिना भी, प्रतियोगिता के अनेक अनुचित ढंग अपनाये जाने की शिकायतें तो रहती ही थीं। और इसी कारण मंचूरिया के प्रश्न को लेकर अमरीका और जापान के बीच मनमुटाव हुआ।

प्रशासकीय दृष्टि से जापान ने अपनी शक्ति व्यापक रूप से बढ़ा ली थी। रेलवे कंपनी व वाणिज्य दूतावासों के द्वारा पट्टे में प्राप्त क्षेत्र से जापानी अधिकारि-वर्ग अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। इसका फल यह हुआ है कि केवल पट्टे द्वारा प्राप्त क्षेत्र

व रेलवे-क्षेत्र में ही नहीं, वरन्, अप्रत्यक्ष रूप से पूरे दक्षिण-पूर्वी मंचूरिया में जापान की अधिकार-सत्ता सर्वोच्च और ऐकांतिक हो गयी है, क्योंकि चीनी प्रशासन का अस्तित्व तो है, किन्तु हर महत्त्वपूर्ण विषय में चीनी अधिकारी जापानियों का आज्ञापालन करते हैं और व्यावहारिक रूप में अंतिम रूप से अधिकार-सत्ता जापानी अधिकारियों की ही रहती है।[१०]

संधियों की शर्तों के अनुसार जापानियों व अन्य विदेशियों का निवास केवल संधि-बन्दरगाहों में ही हो सकता था, किन्तु अवैध रूप से प्रान्त के भीतरी भागों में भी घुस रहे थे, इससे चीन के लिए प्रशासन की समस्या और जटिल हो गयी थी, क्योंकि राज्य-क्षेत्रातीतता का सिद्धान्त मंचूरिया में लागू था। अपने नागरिकों पर नियंत्रण करने के लिए जापान ने पुलिसघर बनाने की प्रणाली चालू की और इस प्रकार रेलवे-क्षेत्र के बाहर भी अधिकार-क्षेत्र का दावा करना शुरू कर दिया; और जानबूझ कर या अनजाने ही जापान ने अपनी स्थिति ऐसी बना ली, जिससे चीनी अधिकारी व्यग्र हो उठे।

संक्षेप में, सन् १९१४ तक, आर्थिक दृष्टिकोण से मंचूरिया का काफी विकास हो चुका था, जिसका लाभ मुख्यत: जापान को ही मिल रहा था, यद्यपि जो रेलवे उपकरण आदि जापान स्वयं तैयार नहीं कर पाता था उनकी अमरीका में खरीद के फलस्वरूप कुछ अप्रत्यक्ष लाभ अमरीका को भी हो रहा था। जहाँ तक रेल-मार्गों का संबंध था, रूस की सहायता और ब्रिटेन की सहमति से जापान ने अपनी एकांतिक स्थिति बना रखी थी। चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता भंग किये बिना, जापान ने अपना राजनीतिक प्रभाव भी बढ़ा लिया था। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट हो चुका था कि जापान से मैत्री के फलस्वरूप जो लाभ मिल रहे थे, उनके बदले में ब्रिटेन अपने इस मित्र को मंचूरिया में अपनी स्थिति मजबूत करने में सहायता देन को तैयार था; दूसरी ओर, अमरीका और जापान के संबंधों में खिंचाव बढ़ रहा था।

(३) प्रवास का प्रश्न

अमरीका व जापान के बीच बढ़ते हुए मनमुटाव का जापान की मंचूरिया-संबंधी नीति के अलावा एक अन्य कारण भी था। रूस से युद्ध तथा विश्व-युद्ध के बीच के वर्षों में अमरीका के प्रशान्तसागरीय तट पर जापानी प्रवासियों के विरुद्ध तीव्र भावना फैली थी। एक तरह से यह उसी भावना का एक अंग थी, जो पहले चीनियों के बड़ी संख्या में वहाँ जाकर बसने पर, चीनियों के विरुद्ध उठी थी। अब यह भावना अधिक तीव्र थी, क्योंकि जापान की विश्व-स्थिति ऊँची थी।

जापानियों ने बड़ी संख्या में अमरीका पहुँचना सन् १९०० के बाद ही शुरू किया था;

उस समय तक वहाँ उनकी संख्या २४,००० थी। सन् १९१० में यह संख्या बढ़कर ७२,००० हो गयी और सन् १९२० में, १,१०,०००। अमरीका की पूरी आवादी के अनुपात में यह संख्या वहुत बड़ी नहीं थी, किन्तु जापानी प्रवासियों का अधिकांश जमाव कैलिफोर्निया व प्रशान्तसागर-तट पर ही था, जिससे उनका खतरा बड़ा भारी लगने लगा था, और जापानियों के वहाँ खेती-वाड़ी करने से यह खतरा और भी वड़ा लगने लगा था।

पहले जिस प्रकार चीनी-विरोधी आंदोलन के समय काररवाई हुई थी, उसी की पुनरावृत्ति इस बार हुई। कैलिफोर्निया-वासियों ने माँग की कि अमरीकी कांग्रेस की वैठक बुलाकर उसमें इस प्रश्न पर विचार किया जाय और जापानियों के अमरीका-प्रवेश पर रोक लगा दी जाय। सन् १९०६ में सैन फ्रांसिस्को के शिक्षा-मंडल ने एक प्रस्ताव द्वारा जापानी बच्चों का उन सभी स्कूलों में प्रवेश वर्जित कर दिया, जो जापानियों द्वारा नहीं चलाये जाते थे। जापान ने इसका विरोध किया और अमरीकी राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव वापस करवा दिया और आश्वासन दिया कि जापानियों का प्रवेश रोकने के लिए काररवाई की जायगी। इसके बाद अमरीका व जापान के बीच 'भलेमानसों की बात' सन् १९०७ में पक्की हो गयी कि जापान अमरीका जाने वाले मजदूरों को पारपत्र (पासपोर्ट) नहीं देगा। यही नीति हवाई द्वीप व मैक्सिको के संबंध में निश्चित हो गयी। इससे अमरीका पहुँचने वाले जापानियों की संख्या में कुछ कमी आयी और अगले १५ वर्षों में कुल ९८,००० जापानी पुरुष वहाँ पहुँचे जबकि १,२०,०००, वहाँ से वापस लौटे। किन्तु प्रवासियों की वास्तविक संख्या में वृद्धि इसलिए हो गयी कि इस भलेमानसों की बात की एक शर्त यह थी कि अमरीका में बसे जापानियों की पत्नियाँ वहाँ जाकर बस सकेंगी।

जापान ने अपनी ओर से बात निवाहने की ही कोशिश की, किन्तु कैलिफोर्निया वालों को संतोष नहीं हुआ और वह जापानियों के प्रवेश के ही विरुद्ध कानून बनाने की माँग करते रहे। जापानियों की बढ़ती हुई संख्या को लेकर उन्होंने जापान पर वचन-भंग करने का आरोप लगाया और उन जापानी स्त्रियों को भी प्रवासी जापानियों की पत्नी बनाकर पासपोर्ट देकर भेज देने की शिकायत की, जिनका विवाह तस्वीर देखकर समुद्र पार इतनी दूरी से ही हो जाता था। यह प्रथा जापानियों के लिए असामान्य नहीं थी, किन्तु कैलिफोर्निया के अमरीकियों ने आरोप लगाया कि प्रथा को प्रोत्साहन इसीलिए दिया जा रहा है कि बच्चा पैदा करने वाली स्त्रियाँ अमरीका जाकर बस जायें। कानून बनवाने के लिए जापान के विरुद्ध बहुत-सी गलत बातें भी कही गयीं।

जापानियों के प्रवेश-निषेध के आंदोलन मात्र से संतुष्ट न रह कर, सन् १९१३ में कैलिफोर्निया की विधानसभा ने एक कानून बना दिया, जिसके अन्तर्गत नागरिकता के

अधिकारों से वंचित विदेशियों की हैसियत से जापानियों[11] पर यह प्रतिबंध लगा दिया गया कि वे जमीन पट्टे पर केवल तीन वर्ष के लिए ही ले सकते थे और वह भी केवल संधि में वर्णित उपयोग के लिए ही। यह जापान के विरुद्ध स्पष्ट भेदभाव था; सन् १९२० में यह कानून और भी कठोर कर दिया गया।

इन कारखाइयों से जापान में अमरीका के विरुद्ध भावना फैली और जापान-सरकार ने इनके विरुद्ध कड़े विरोध पत्र भी भेजे। विद्वेष की यह जनभावना और भी व्यापक हो उठी, जब सन् १९२४ में प्रवास-कानून द्वारा जापानियों के विरुद्ध प्रवेश-निषेध लागू कर दिया गया; जापानी राजदूत, हानी हीरा के इस वक्तव्य के बाद यह कानून और भी जल्दी बन गया कि इसके "परिणाम गंभीर" होंगे।

इन कार्यवाहियों के संबंध में जापानी दृष्टिकोण के दो पहलू थे। एक तो वह भेदभाव के लिए इस प्रकार छाँटे जाने का विरोध करता था, मानों जापानी यूरोपीय लोगों से निम्न-श्रेणी के मनुष्य हों। प्रवेश पर सीमा लगाने का विरोध जापान नहीं करता था, जैसा कि भलेमानसों के समझौते से प्रकट था। जापान का यह दृष्टिकोण इस बात से भी प्रकट था कि वह उस परीक्षा-प्रणाली को स्वीकार करता था, जिसके अंतर्गत हर प्रवेशार्थी को लिखने की परीक्षा में बैठना होता था, यद्यपि यह परीक्षा इस प्रकार ली जाती थी कि एशियावासी उसमें उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे; अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट से हुए भलेमानसों के समझौते के समान ही कनाडा से समझौता कर वहाँ जापानियों के बसने पर स्वेच्छा से नियंत्रण लगाने के लिए तैयार होकर भी जापान ने इसी दृष्टिकोण का परिचय दिया था। जापान की आपत्ति अमरीका में प्रवेश-निषेध पर ही नहीं भेदभाव बरतने वाले अन्य कानूनों व कारखाइयों पर भी थी, जैसे कि कैलिफोर्निया के भूमि-संबंधी कानून तथा जापानियों के अमरीकी नागरिक बनने पर रोक लगाने वाले कानून।

जापान के दृष्टिकोण का दूसरा पहलू कुछ उसी प्रकार का था, जैसा कि वह एशिया में अपने विस्तार के संबंध में अपना रहा था। जापान की जनसंख्या की समस्या काफी जटिल हो रही थी। उसका तर्क था कि अतिरिक्त आबादी का प्रश्न प्रवास द्वारा हल हो सकता था या एशिया की भूमि और साधनों के नियंत्रण द्वारा या औद्योगीकरण द्वारा हल हो सकता था। जापानियों के लिए अपने देश के दरवाजे बन्द कर लेने में अमरीका सबसे आगे और सबसे अधिक सक्रिय था और इसी प्रकार सन् १९०५ और सन् १९१४ के बीच वही जापानी साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा विरोधी था, चाहे फिर यह साम्राज्यवाद आर्थिक हो या क्षेत्रीय। इस प्रकार जापान की जनसंख्या की समस्या के जो दो संभव व संतोषजनक समाधान थे, सन् १९०५ के बाद अमरीका ही उन दोनों के रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा था। दूसरे शब्दों में, मंचूरिया व प्रवास की कठिनाई––ये दो ऐसी समस्याएँ

थीं, जो एक दूसरे के बीच संघर्ष बढ़ाने में सहायता दे रही थीं । इस स्थिति पर विचार के लिए फिर जापानी पूर्वी एशिया संबंधी-नीति का अध्ययन आवश्यक होगा ।

(४) जापान का प्रथम विश्वयुद्ध में प्रवेश

सन् १९१४ तक की स्थिति पहले ही बतायी जा चुकी है । प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही जापान ने सोचा कि मंचूरिया के बाहर एशिया महाद्वीप पर विस्तार करने और वहाँ अपने साम्राज्य की जड़ें जमा देने का यह बहुत बढ़िया अवसर है। विभिन्न राष्ट्रों के हित चीन में निहित होने के कारण सुदूरपूर्व की परिस्थिति अनिवार्यतः जटिल और नाजुक थी। यूरोप में युद्ध शुरू होते ही पीकिंग सरकार ने अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी थी। किन्तु चीन के उन क्षेत्रों की स्थिति के संबंध में तत्काल ही प्रश्न उठ खड़ा हुआ, जो उसने विदेशी शक्तियों को पट्टे पर दे रखे थे । यह प्रश्न जर्मनी के त्सिंगताओ पर अधिकार पर आकर केन्द्रित हो गया। पहले जर्मनी व चीन के बीच इस संबंध में बातचीत चली कि जर्मनी पट्टे पर मिले अपने क्षेत्र को चीन को वापस कर दे । समझौते की शर्तों में ही यह बात मौजूद थी कि जर्मनी जब चाहेगा किआओचाउ-क्षेत्र का पट्टा चीन में किसी अन्य उपयुक्त स्थान के बदले में छोड़ देगा। अतएव ऐसा आभास होता है कि जर्मनी कुछ समय के लिए अपने पट्टे के अधिकार छोड़ने पर सहमत हो गया, ताकि युद्ध के बाद वह पूर्व में आकर अपने पैर फिर जमा ले। कम-से-कम, कहा यही जाता है कि पट्टा क्षेत्र के संबंध में जर्मनी व चीन के बीच समझौते का जो विरोध ब्रिटेन ने किया, उसका एक कारण यह भी था।[१२] यह न होता, तो दूसरा रास्ता यह निकल सकता था कि विदेशी शक्तियाँ इस बात पर राजी हो जायँ कि वे चीन में अपने-अपने अड्डों को युद्ध के लिए प्रयोग नहीं करेंगी और इस प्रकार चीन सरकार की तटस्थता की घोषित नीति चीन के सारे क्षेत्र में ही चालू रह सकती थी। सुदूरपूर्व की स्थिति देखते हुए यही समाधान सबसे अधिक उपयुक्त होता, किन्तु इस संबंध में कोई समझौता हो, इसके पहले ही जापान ने ऐसे कदम उठा लिये कि इस समझौते के लिए बातचीत चला सकना असंभव हो गया।

सुदूरपूर्व व भारत में शांति कायम रखने के घोषित उद्देश्य के लिए ब्रिटेन व जापान के बीच पहले से ही एक मैत्री-संधि हो चुकी थी। इस संधि की पहली धारा के अनुसार "जब भी, ब्रिटेन या जापान के अनुसार, समझौते की प्रस्तावना में वर्णित हितों व अधिकारों पर आँच आयेगी, दोनों सरकारों के बीच खुल कर पूरी बात होगी और संकटग्रस्त हितों या अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक संयुक्त उपायों पर विचार होगा।" समझौते की दूसरी धारा के अनुसार "यदि किसी उत्तेजना के बिना, किसी भी राष्ट्र या राष्ट्रों द्वारा, कहीं भी, दोनों पक्षों में से कोई भी, हमले या आक्रमण का शिकार होता है और समझौते

की प्रस्तावना में वर्णित विशेष हितों या क्षेत्रीय अधिकारों की रक्षा में युद्धरत होता है, तो, दूसरा पक्ष तत्काल अपने मित्रराष्ट्र की सहायता में सन्नद्ध होगा और दोनों संयुक्त रूप से युद्ध करेंगे और पारस्परिक समझौते के आधार पर शांति की शर्त स्वीकार करेंगे।"

यूरोप में युद्ध छिड़ने से न तो जापान के क्षेत्रीय अधिकारों या विशेष हितों पर ही प्रभाव पड़ता था, और जहाँ तक युद्ध के प्रारम्भ का संबंध था, न ही ब्रिटेन के सुदूरपूर्व या भारत के स्थित हितों पर ही कोई ऐसा आघात होता था कि संधि की ये शर्तें अमल में आ जायँ और जापान ब्रिटेन के पक्ष में युद्धरत हो जाय। फिर, कम-से-कम अपेक्षा तो यही थी कि संधि-पक्षों में से ब्रिटेन ही युद्ध में फँसने के कारण वह ही जापान को युद्ध में उतारने में पहल करेगा। लगता है कि अपने उपक्रम में ब्रिटेन ने जापान से बहुत ही स्पष्टतः सीमित रूप से युद्ध में भाग लेने को कहा, किन्तु जापान सरकार को उसमें दिलचस्पी नहीं थी। शुरू में जापान ने युद्धरत होने के लिए संधि की शर्तों का हवाला दिया, किन्तु ऐसा लगता है कि विषुवत्-रेखा के उत्तर में प्रशान्त महासागर के द्वीपों व चीन के शानतुंग प्रान्त से जर्मनी को खदेड़ देने के बाद जापान को इन शर्तों के दायित्व का आभास कुछ कम ही लगने लगा था। कम-से-कम एक जानकार पर्यवेक्षक का विचार है कि ब्रिटेन की सरकार की इच्छा के बावजूद ही जापान ने युद्ध में प्रवेश किया। इस संबंध में, पीकिंग स्थित अमरीकी मंत्री, पॉल एस० राइंश ने लिखा था––

"८ अगस्त, १९१४ को जापान के युद्धपोत त्सिगताओ के निकट प्रकट हुए। १० अगस्त को जापान ने सुझाव रखा कि ब्रिटेन संधि की शर्त के अनुसार उससे सहयोग माँगे। संभावित परिणामों के कारण ब्रिटेन यह सहयोग माँगने में हिचकिचाता रहा; चीन में जो अंग्रेज थे, वे इस बात के महत्त्व पर जोर दे रहे थे कि जापान की चीन में कोई स्वतंत्र काररवाई नहीं होनी चाहिए और उसे रोकने का प्रयास होना चाहिए।"

"१५ अगस्त को जापान ने अपने आप ही जर्मनी को शानतुंग अंतिमेत्थम् भेज दिया। यह काररवाई करने के बाद इसकी सूचना ब्रिटेन को दी गयी।"[१३]

इससे प्रकट है कि जापान या तो संधि के दायित्व निबाहने की असाधारण रूप से विकसित भावना से प्रेरित हुआ था, या फिर युद्ध के विश्व-व्यापी होने के पहले ही यूरोपीय युद्ध में उतरने के पीछे जापान का कोई गूढ़ उद्देश्य था। जापान की बाद की काररवाई से यह स्पष्ट है कि उसके युद्ध में उतरने का कारण गूढ़ उद्देश्य ही था। १५ अगस्त, १९१४, को जर्मनी को दिये गये अंतिमेत्थम् में जापान ने जर्मनी से माँग की कि वह शानतुंग प्रान्त के अपने पट्टा-अधिकार, १५ सितम्बर से पूर्व छोड़ दे "ताकि वे अंततः चीन में फिर से निहित हों"; जर्मनी को इसका उत्तर देने के लिए एक सप्ताह का समय दिया गया। जब जर्मनी का इस संबंध में कोई उत्तर नहीं आया, २३ अगस्त को जापान ने जर्मनी के

विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और उसे त्सिंगताओ से बलपूर्वक खदेड़ देने के प्रयास आरम्भ कर दिये। शेष संसार को जापान के इरादों की सूचना देने के लिए, प्रधान मंत्री ओकूमा ने एक संदेश प्रकाशनार्थ अमरीका भेजा, जिसमें कहा गया था कि "जापान की कोई क्षेत्रीय आकांक्षा नहीं है और वह पूर्व में शांति के संरक्षक के रूप में खड़ा होना चाहता है।"

त्सिंगताओ की ओर बढ़ने के लिए जापान ने बन्दरगाह से लगभग १०० मील उत्तर में अपनी फौजें उतार दीं, जो चीन के क्षेत्र में होती हुई दक्षिण की ओर बढ़ने लगीं, यद्यपि चीन ने अपनी तटस्थता की पहले ही घोषणा कर दी थी। इस काररवाई का विरोध करने के बाद चीन इस अनिवार्य स्थिति को स्वीकार कर चुप बैठ गया और कोशिश करने लगा कि उसकी तटस्थता के उल्लंघन की जितनी कम घटनाएँ हों उतना ही अच्छा है। चूंकि यह पहला अवसर नहीं था, जब चीन के क्षेत्र पर अन्य राष्ट्रों का ऐसा संघर्ष हुआ हो, जिसमें स्वयं चीन शामिल ही न रहा हो, चीन को पूर्वदृष्टान्त के अनुरूप कार्य करने की सुविधा थी। अतएव अमरीका के सुझाव पर चीन ने सन् १९०४ में जो युद्धक्षेत्र को पृथक् व सीमित घोषित किया था, उसी के समान उसने इस बार भी युद्धक्षेत्र घोषित कर दिया और कहा कि लड़ाई इस क्षेत्र के बाहर नहीं निकलनी चाहिए। जापान की काररवाई के लिए यह क्षेत्र काफी व्यापक था, किन्तु उसने इस व्यवस्था की फौरन ही अवहेलना कर दी और प्रान्त के भीतर के एक रेलमार्ग पर अधिकार कर लिया। सन् १८९८ के चीन व जर्मनी के बीच हुए समझौते के अनुसार यह रेलमार्ग चीन व जर्मनी के कुछ लोगों का संयुक्त प्रयास निजी क्षेत्र में था, यद्यपि इसकी देखभाल का काम त्सिंगताओ-शासन करता था। पट्टे पर जर्मनी को दिये गये क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए, जिसका क्षेत्रफल आंग्ल-जापानी सैनिकों के अधिकार के कारण बहुत घट चुका था, इस रेल-मार्ग पर कब्जा करना बिलकुल आवश्यक नहीं था।

७ नवम्बर को त्सिंगताओ के पतन के बाद जापान ने योजनाबद्ध रीति से शानतुंग प्रान्त पर अपने पैर जमाने शुरू किये। पट्टा-क्षेत्र के बाहर के जर्मनी के हितों पर भी जापान ने कब्जा कर लिया, जिनमें त्सिनानफू-त्सिंगताओ रेलमार्ग, काओमी के दक्षिण का रेलमार्ग, अपने अधिकार के १५ वर्षों में जर्मनी द्वारा विकसित खानें तथा प्रान्त भर के जर्मनी के सार्वजनिक व निजी संपत्ति पर अधिकार भी शामिल थे। जर्मनी को प्राप्त अधिकार, विशेष सुविधाओं व स्वामित्व पर कब्जा करके ही जापान संतुष्ट नहीं हुआ और इनके विस्तार के लिए प्रयत्न करने लगा। उदाहरणार्थ, पट्टा-क्षेत्र के बाहर के रेलमार्ग की रक्षा का काम उस प्रान्त में चीन ही करता था, क्योंकि जर्मनी को उस प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे, जैसे कि मंचूरिया में रूस व जापान को प्राप्त थे, किन्तु जापान ने सारे रेलमार्ग-क्षेत्र का

प्रशासन व रक्षा-कार्य अपने हाथ में ले लिया। सैनिक दृष्टि से इन्हें आवश्यक बताने की संभावना तक जब असंभव हो गयी थी, तब भी जापान इन अत्यधिक विस्तृत अधिकारों पर अड़ा रहा। जापान का रुख एक अन्य बात से भी प्रकट था। जर्मनी के अधिकार के समय त्सिंगताओ की सीमा-शुल्क-सेवा चीनी समुद्री सीमाशुल्क-व्यवस्था के अंतर्गत ही कार्य करती थी, केवल शर्त यह थी कि वहाँ का आयुक्त व अमला जर्मनी का होगा। किन्तु यह सेवा, सन् १८९८ के समझौते के अनुसार नियुक्त अंग्रेज अध्यक्ष के निर्देश पर काम करती थी और इसके लिए चीन की नौकरी में लगे जर्मनी के नागरिकों में से ही नियुक्तियाँ होती थीं। इससे जो भी आय होती थी, उसका २० प्रतिशत स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए त्सिंगताओ-शासन के लिए दे दिया जाता था। जब यह क्षेत्र जापान के कब्जे में आया उसने भी जोर दिया कि आयुक्त व अमला पूरा-पूरा जापानी होगा (चीन की सेवा में लगे जापानियों में से ही नियुक्ति करने की बात नहीं थी)। इससे त्सिंगताओ सेवा पर से चीनी नियंत्रण समाप्त हो जाता; और संभवतः कुल वसूल की हुई राशि में भी कमी-कटौती हो जाती, यद्यपि इस आय से मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति व अन्य अंतरराष्ट्रीय देयों का भुगतान होता था। काफी लम्बी बातचीत के बाद जापान इस बात पर राजी हो गया कि जर्मनी से हुए समझौते के अनुरूप ही कार्य होगा, यद्यपि त्सिंगताओ में नौकरियों में जर्मनी की जगह जापानी लोग रहेंगे।

जहाँ तक जर्मनी से प्राप्त इस क्षेत्र को खाली कर, उसे फिर से चीन को सौंप देने का प्रश्न था (जैसा कि जापान ने अपने अंतिमेत्थम् में कहा था), डायट में प्रश्नोत्तर में जापानी परराष्ट्र मंत्री ने कह दिया कि पट्टे के क्षेत्र को चीन को सौंप देने का कोई दायित्व जापान पर नहीं है, यह बात तब कही गयी थी, जब जर्मनी द्वारा पूरा क्षेत्र शांतिपूर्वक छोड़ देने की बात थी। बन्दरगाह को जर्मनी से खाली कराने में जापान का जो धन लगा और जो जापानी सैनिक काम आये, उससे एक बिलकुल नयी परिस्थिति पैदा हो चुकी है, जिसका समाधान बिलकुल भिन्न प्रकार से हो सकता है। यह भिन्न प्रकार क्या था, यह भी शीघ्र ही स्पष्ट हो गया।

सन् १९१४ के अंत में जब शानतुंग में जर्मनी का प्रतिरोध बिलकुल समाप्त हो चुका था और उसके साथ ही सैनिक क्षेत्र कायम रखने की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी; (७ जनवरी, १९१५ को) राष्ट्रपति युआन शिह-का'ई ने जापान को सूचना दी कि पट्टे के क्षेत्र को छोड़ कर शेष शानतुंग प्रान्त में फिर से चीनी तटस्थता कायम होगी। जापान ने फौरन इसका विरोध करते हुए कहा कि यह तो अमैत्रीपूर्ण कार्य है और इसी बहाने चीन के समक्ष लम्बी-चौड़ी माँगों की एक सूची पेश कर दी।

(५) इक्कीस माँगें

१८ जनवरी, १९१५, को पाँच समूहों में २१ धाराओं वाली ये माँगें चीन के समक्ष पेश कर दी गयीं और मई के अंत तक इन पर समझौते की बातचीत चलती रही। चीन के परराष्ट्र-मंत्रालय की उपेक्षा करते हुए ये माँगें सीधे चीनी राष्ट्रपति के सामने पेश की गयी थीं और समझौते की बातचीत पूरी होने तक इन्हें बिलकुल गुप्त रखने का निर्देश भी राष्ट्रपति को दिया गया था। पीकिंग-स्थित विदेशी संवाददाताओं को इस समझौता-वार्ता का सुराग लगा और बात सारी दुनिया में फैल गयी। गोपनीयता का पर्दा उठने पर जापान को पीकिंग से आये समाचारों की पुष्टि करनी पड़ी। पहले तो टोकियो में "साधिकार सूत्रों" के आधार पर कहा गया कि जापान ने चीन के समक्ष कोई माँग पेश ही नहीं की है। जब माँगों के तथ्य का निरूपण हो गया, तब कहा गया कि कुल ११ माँगें पेश की गयी थीं; इनमें से जो साधारण व निरीह थीं वे माँगें भी प्रकाशित कर दी गयीं। अंत में यह स्वीकार किया गया कि माँगें तो २१ अवश्य हैं पर माँगों का पाँचवाँ समूह केवल चीन सरकार के विचारार्थ प्रस्तुत किया गया है, उसकी स्वीकृति पर जोर नहीं दिया जा रहा। एक के बाद एक, धीरे-धीरे जापान सरकार इन माँगों की सच्चाई स्वीकार करने के लिए इसलिए बाध्य हुई कि उनका प्रकाशन हो गया था और वह बाध्य थी कि या तो यह स्वीकार करे कि उसने माँगें पेश की हैं, या फिर उनसे मुकर जाय और इस संबंध में कोई काररवाही न करे। जापान की इस बलवती इच्छा का पुष्ट प्रमाण है कि पीकिंग में जो कुछ हो रहा है, उसकी सूचना विदेशों को प्राप्त न हो और जब तक सूचना उन तक पहुँचे, सुदूरपूर्व की स्थिति में व्यापक परिवर्तन हो चुके और इन विदेशों के लिए इन परिवर्तनों को स्वीकार करने के सिवा कोई चारा न रहे।

अपनी इन माँगों को स्वीकार करवाने के लिए जापान ने राष्ट्रपति युआन पर दोहरा दबाव डाला। पहले तो बराबर यह धमकी दी गयी कि यदि जापान की इच्छा पूरी न हुई तो सैन्यबल के प्रयोग की संभावना रहेगी। दूसरी ओर, युआन को बताया गया कि सन् १९१४ के बाद जो व्यक्तिगत शासन उन्होंने कायम कर रखा था, उसका विरोध करने वाले अनेक चीनी क्रांतिकारी जापान में एकत्र हैं और यदि राष्ट्रपति युआन ने जापान की माँगों का समर्थन न किया तो इन चीनी क्रांतिकारियों को जन-धन से सहायता दी जायगी और वे ऐसी शक्ति बन जायँगे, जिससे युआन के लिए खतरा पैदा हो जायगा। फिर, यह भी कहा गया कि जापान चीन में राजतंत्र की स्थापना का समर्थन भी कर देगा यदि सम्राट् का जापान के प्रति दृष्टिकोण रहे। यह संकेत भी किया गया कि सम्राट् अपना मैत्रीपूर्ण दृष्टिकोण इन माँगों को स्वीकार कर प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार,

जापान ने एक ओर चीन-राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त करने की धमकी दी, दूसरी ओर युआन के शासन को मिटा देने की धमकी दी और साथ ही राष्ट्रपति व उनके परिवार को राजतंत्र स्थापित करने में सहायता देने का लालच या रिश्वत भी दी। किन्तु जापान में इस बात की आशा कम ही रही होगी कि युआन जापान के अधीन होकर कोई स्थिति स्वीकार कर लेंगे, क्योंकि वह जापान के एशिया में प्रसार-विस्तार के सिऊल में चीनी प्रतिनिधि बनने के समय से ही विरुद्ध थे।

समझौते की बातचीत के दौरान में चीन ने अलग-अलग माँग-समूहों पर अलग-अलग विचार करने का सुझाव रखा, उसे आशा थी कि इस तरह से अलग-अलग विचार कर कम आपत्तिजनक माँगों को स्वीकार कर संभवतः अधिक आपत्तिजनक माँगों की स्वीकृति से बचाया जा सकेगा। उसे यह भी आशा थी कि बातचीत के लम्बे खिचने पर और जापानी प्रस्तावों पर विशद विचार में लगने वाली देर से विदेशी जनमत उभर सकता है और विदेशी राष्ट्र जापान पर दवाव डाल कर स्थिति में कुछ सुधार करवा सकेंगे। अंत में पींकिग-स्थित जापानी मंत्री ने चीन सरकार को अंतिमेत्थम् दे दिया कि एक निश्चित तिथि तक, बातचीत द्वारा संशोधित माँगें (बदनाम पाँचवें समूह की माँगें छोड़ कर जिन पर कभी भविष्य में विचार-विमर्श हो सकता था) स्वीकार कर ली जायँ। एक निश्चित समय के भीतर उत्तर की माँग और माँगें स्वीकार न होने पर बलप्रयोग की धमकी होने के कारण चीन ने अंतिमेत्थम् की शर्तें मान लीं और इस समझौते को कई संधियों व पत्र-व्यवहारों में लिखित रूप दिया गया।

सन् १९१४ में अमरीकी प्रतिनिधि से राष्ट्रपति युआन ने कहा था कि "इस युद्ध का लाभ उठा कर जापान चीन पर नियंत्रण करना चाहता है।"[१६] इन जापानी माँगों का विवरण प्राप्त कर उनकी विवेचना से यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि जापानी नीति उसी दिशा में बढ़ रही थी, जिस ओर राष्ट्रपति युआन ने इंगित किया था। जैसा कहा गया है, माँगें थीं—

जापान मंचूरिया, शानतुंग व फूकिन के तीन केन्द्रों से अपने प्रभाव का उपयोग करेगा। मंचूरिया जापानी पूंजी व उपनिवेशीकरण के लिए पूरी तरह उसी का सुरक्षित क्षेत्र बन जायगा और ऋणों में प्राथमिकता तथा परामर्शदाताओं की नियुक्ति द्वारा जापान इस क्षेत्र का प्रशासकीय नियंत्रण करेगा। शानतुंग में पहले जो हित-अधिकार जर्मनी के थे वे अब जापान के हो जायँगे और इन हित-अधिकारों का विस्तार होगा। फूकिन में पूंजी लगाने व विकास-कार्य करने में जापान को प्राथमिकता दी जायगी जिससे अन्य राष्ट्र वहाँ प्रवेश न कर सकें और अंततः वह क्षेत्र मंचूरिया में आत्मसात् हो जायगा। जापान के प्रभाव के उत्तरी क्षेत्र का विस्तार करके भीतरी मंगोलिया उसमें शामिल कर लिया

जायगा। शानतुंग के प्रभाव क्षेत्र का रेल मार्गों द्वारा शांसी व होनान प्रान्तों के भीतर विस्तार होगा। इसी प्रकार, रेलमार्गों संबंधी रिआयतें फूकिन के प्रभाव क्षेत्र को किआंगसी, हुपेइ व क्वांगतुंग प्रान्तों तक बढ़ा ले जायँगी। हानी एफ इंग की लोहे व कोयले की खानों में बंधक व विशेष दरों पर कच्चा या ढलवाँ लोहा खरीदने की शर्तों के कारण मौजूद जापानी हितों को जापानी नियंत्रण में बनी एक कंपनी के रूप में संगठित किया जायगा। इसके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण माँग यह भी थी कि इस कंपनी की खानों के आसपास की किसी खान का उपयोग, जापान की पूर्वअनुमति के बिना किसी अन्य देश को नहीं दिया जायगा; और बिना इस अनुमति के कोई भी राष्ट्र उस क्षेत्र में कोई भी ऐसा काम करने की अनुमति पायेगा, जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कंपनी के हितों पर प्रभाव पड़े। इस आश्चर्यजनक माँग के फलस्वरूप चीन की मध्य यांग्त्सी घाटी के औद्योगिक विकास की एकमात्र निर्णायक यह कंपनी हो जाती।[१५]

यदि जापान की ये माँगें चीन स्वीकार कर लेता तो औपचारिक रूप से तो उसकी स्वतंत्रता, सर्वोच्च सत्ता या क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु चीन इस प्रकार जापान के नियंत्रण या अधिकार-क्षेत्र में आ जाता, जैसा कि आधुनिक साम्राज्यवाद चाहता है।

दूसरी ओर, व्यापक माँगों का पाँचवाँ समूह ऐसा था, जिससे अपने मामलों में ही चीन सरकार का नियंत्रण बिलकुल छिन जाता। सैनिक, आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में प्रभावकारी जापानी परामर्शदाताओं की नियुक्ति, महत्त्वपूर्ण स्थानों में पुलिस का संयुक्त चीनी-जापानी-संगठन, युद्धसामग्री की कम-से-कम आधी, या उससे अधिक की जापान से खरीद, और, चीन व जापान, दोनों द्वारा संयुक्त रूप से संचालित शस्त्रागार, इन माँगों में शामिल थे। बाद वाली माँगों से चीन के सैनिक-संगठन का प्रभावकारी नियंत्रण जापान के हाथों में चला जाता।[१६]

माँगों का यह पाँचवाँ समूह, शुरू में बातचीत से हटा दिया गया था, पर अंततः जो समझौता हुआ, उसमें यह शर्त रख दी गयी कि इन माँगों पर भविष्य में विचार-विमर्श होगा और इस प्रकार इन माँगों की तलवार खतरे की भाँति चीन के सिर पर बाद में भी मँडराती रही।

२५ मई, १९१५ को जो समझौता हुआ, उसके संक्षिप्त वर्णन से स्थिति स्पष्ट हो जायगी। उत्तर से लेकर दक्षिण तक चीन के भौगोलिक क्षेत्रों पर इस समझौते का जो प्रभाव पड़ता था, उसका विवरण ही यथेष्ट होगा।

(६) सन् १९१५ की संधियाँ

दक्षिणी मंचूरिया व पूर्वी भीतरी मंगोलिया से संबंधित संधि में व्यवस्था थी कि (१) डालनी व पोर्ट आर्थर तथा दक्षिणी मंचूरिया व आनटुंग-मुकडेन रेल-मार्गों के पट्टों की अवधि बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दी जाय; (२) संधि-बन्दरगाहों के बाहर जापानी नागरिक दक्षिणी मंचूरिया में रह सकें, यात्रा कर सकें, उद्योग व व्यापार में लग सकें और पट्टे पर भूमि प्राप्त कर सकें और उस पर खेती या व्यवसाय कर सकें; (३) जो भी संयुक्त चीनी-जापानी औद्योगिक प्रयास किये जायँ, उन्हें चीन-सरकार अपनी अनुमति दे दिया करे; (४) जापानी नागरिकों पर स्थानीय चीनी कानून लागू तो हों, किन्तु अपराधियों को दण्ड देने के संबंध में क्षेत्रातीतता का सिद्धान्त लागू हो; (५) पूर्वी भीतरी मंगोलिया में उपयुक्त स्थान विदेशियों के निवास व व्यापार के लिए खोले जायँ; (६) किरिन-चांगचुन-रेलमार्ग के लिए ऋण-संबंधी समझौते का जापानी हित में पुनरीक्षण किया जाय। पृथक् टिप्पणियों द्वारा ये रियायतें देना भी स्वीकार हुआ कि (१) जापान जिन क्षेत्रों में बताये, वहाँ जापानी नागरिक खानें खोदने और उनका उपयोग करने में स्वतंत्र हों; (२) यदि चीन भविष्य में कभी मंचूरिया में रेल-मार्गों के निर्माण के लिए विदेशी पूंजी प्राप्त करना चाहे, तो सबसे पहले वह यह पूँजी जापान से माँगे; और (३) यदि चीन कभी दक्षिणी मंचूरिया में विदेशी आर्थिक, सैनिक या पुलिस परामर्शदाताओं की नियुक्ति करना चाहे तो वे परामर्शदाता केवल जापानी ही हों।

शानतुंग-संधि में व्यवस्था थी कि : (१) "शानतुंग प्रान्त में, संधियों द्वारा या अन्यथा, जर्मनी ने जो भी हित, अधिकार या रियायतें प्राप्त की थीं, उनके संबंध में जापान जर्मनी से जो भी समझौता करे, उसे चीन-सरकार अपनी पूर्ण स्वीकृति दे दे" (धारा १); (२) यदि जर्मनी चेफू-वीहसीन रेल-मार्ग में पूँजी लगाने का अपना अधिकार छोड़ दे तो यह अधिकार जापानी पूँजीपतियों को दे दिया जाय; (३) इस प्रान्त में विदेशियों के निवास तथा व्यापार के लिए चीन स्वयं नये स्थान खोले। जो टिप्पणियाँ दोनों पक्षों ने एक दूसरे को दीं, उनमें चीन ने यह स्वीकार कर लिया कि इस प्रान्त या प्रान्त के समुद्र-तट से लगे द्वीपों का कोई भी क्षेत्र किसी भी बहाने से किसी भी विदेशी को नहीं देगा। दूसरी ओर जापान ने यह संकेत किया कि जर्मनी से मुक्त होने के बाद किआओचाओ खाड़ी के पट्टा-क्षेत्र को जापान चीन को इस शर्त पर वापस कर देगा कि चीन पूरी खाड़ी को व्यावसायिक कार्यों के लिए खोल दे, जापान जिस क्षेत्र को बताये वह जापान के पूर्ण नियंत्रण में जापानी निवास-क्षेत्र के रूप में सुरक्षित कर दिया जाय, और यदि अन्य विदेशी चाहें तो उनके निवास के लिए एक अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र बना दिया जाय।

हेनी' एफ' इंग रेल-मार्ग के संबंध में जापान की जो माँग थी, वह टिप्पणी के रूप में आयी। चीनी परराष्ट्रमंत्री ने लिखा—"मुझे यह लिखने का गौरव प्राप्त हुआ है कि भविष्य में यदि हेनी' एफ'इंग कंपनी व जापानी पूँजीपति एक दूसरे से सहयोग करना चाहें तो उन दोनों के बीच के निकट संबंधों को देखते हुए चीन सरकार इस प्रकार के सहयोग के लिए अपनी अनुमति प्रदान कर देगी। चीन सरकार यह भी स्वीकार करती है कि वह न तो इस कंपनी की संपत्ति को छीनेगी, न जापानी पूँजीपतियों की अनुमति के विना इस कंपनी के काम को सार्वजनिक या सरकारी क्षेत्र में लेगी और न जापानी छोड़ कर किसी अन्य विदेशी पूँजी का उपयोग करने के लिए हीं कंपनी को बाध्य करेगी।"

जहाँ तक फूकिन प्रान्त का संबंध था, चीन-सरकार ने औपचारिक रूप से घोषणा कर दी कि उसने इस प्रान्त के तट पर गोदीबाड़ा, सैनिक उपयोग के लिए कोयला भरने के स्थान या नौसैनिक-अड्डा बनाने का कोई अधिकार किसी विदेशी राष्ट्र को नहीं दिया है और न उसका कोई इरादा इस प्रकार के विकास के लिए ऋण लेने का ही है।

यह स्पष्ट है कि एशिया महाद्वीप में जापान की दिलचस्पी केवल क्षेत्रीय न रहकर आर्थिक भी हो चुकी थी। अपनी नीति के समर्थन में शुरू में जापान कहता था कि उसे महाद्वीप पर अपने विस्तार की इसलिए आवश्यकता है कि वहाँ उपनिवेशीकरण द्वारा अपनी अतिरिक्त आबादी की समस्या हल कर सकें। किन्तु, सन् १९१४ के बाद उसने उपनिवेशीकरण के लिए किसी क्षेत्र पर नियंत्रण की माँग नहीं की क्योंकि, इस दिशा में उसने जो भी प्रयोग किये थे, उनमें वह असफल हुआ था। कोरिया, फारमोसा या दक्षिणी मंचूरिया में जापानी किसान नहीं जापानी दूकानदार, रियायतें माँगने वाले या विकास करने वाले ही दिखाई पड़ते थे। जापान के उद्देश्य में जो परिवर्तन हुआ, उसका आंशिक कारण यह असफलता भी थी। इसके साथ ही, जापान की आंतरिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आया था, जिसने राष्ट्रीय विकास की धारा हीं बदल दी थी। युद्ध से जापानी उद्योग को बहुत बड़ी प्रेरणा व उद्दीपन मिला था। जिस तरह अमरीका में युद्धसामग्री बनाने वाले उद्योगों का हर तरफ विकास हुआ था, उसी प्रकार जापान में शस्त्रास्त्र व उनसे संबंधित उद्योगों तथा यूरोप द्वारा अस्थायी रूप से खाली किये गये बाजारों में बेचने के लिए असैनिक माल के स्थापित उद्योगों का बड़ा व्यापक विस्तार हुआ तथा नये उद्योगों की तेजी से स्थापना हुई। इस औद्योगिक विकास से जापान को कोयला व लोहे जैसे आवश्यक माल के लिए विदेश निर्भरता का तीव्रता से आभास हुआ। फलतः जापानी राजमर्मज्ञ यह सोचने लगे कि इन आवश्यक सामग्रियों को प्राप्त करने के लिए युद्ध के इस अवसर का उपयोग करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक विकास के फलस्वरूप जापान में पूँजीपति-वर्ग बन रहा था, जो रूस से युद्ध के बाद पनपा था और विश्वयुद्ध के

समर्थ सर्वशक्तिशाली हो चुका था। डायट का समर्थन प्राप्त करने के लिए तथा अपनी काररवाईयों में डायट के हस्तक्षेप को रोकने के लिए बड़े उद्योगपतियों व व्यवसायियों ने कुछ राजनीतिक-दलों के नेताओं से गहरी मित्रता कर रखी थी। सन् १९१३ में राजनीतिक-दल की स्थापना कर उसके नेतृत्व के कत्सूरा के विफल प्रयास के बाद, सन् १९१४ में, यामामोटो के मंत्रिमंडल के पतन के बाद, डायट में राजनीतिक-दलों के समर्थन से ओकुमा ने मंत्रिमंडल बनाया था। इसी मंत्रिमंडल ने, जिसे जापान के इतिहास में राजनीतिक-दल पर आधारित पहला दलीय मंत्रिमंडल होने का गौरव मिला था, औद्योगिक पूँजीपतियों के हित में चीन के समक्ष २१ माँगें प्रस्तुत की थीं। इससे इन माँगों का मूलतः आर्थिक रूप स्पष्ट था।

इन माँगों का चीन में यह प्रभाव पड़ा कि सभी दल व गुट राष्ट्रपति के समर्थन में खड़े हो गये। यद्यपि चीन के पास सफल प्रतिरोध के साधनों का अभाव था, अनेक बड़े समुदायों ने माँग की कि चाहे युद्ध ही क्यों न लड़ना पड़ जाय, इन माँगों का विरोध होना चाहिए। राष्ट्रीय तैयारी के लिए राष्ट्र-मुक्ति-कोष की स्थापना की गयी, जिसमें धनी, निर्धन, सभी वर्गों और व्यक्तियों ने चन्दे दिये। राष्ट्रपति जिस सीमा तक जापानी दबाव का सामना कर सकते थे और जिस सीमा तक परिस्थिति सुधार सकते थे, वह निस्सन्देह उस सीमा तक गये। किन्तु वह उस सीमा तक जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे, जहाँ युद्ध छिड़ जाने की आशंका हो जाय। अपनी सरकार के समर्थन में हुई तात्कालिक प्रतिक्रिया और जनभावना की अभिव्यक्ति से वह बहुत उत्साहित हुए, और जैसा कि कहा जा चुका है,[१७] काफी हद तक राजतंत्र की पुनस्संस्थापना के पक्ष में आंदोलन खड़ा करने का यही कारण भी था। इस प्रकार, अप्रत्यक्षतः चीन की आंतरिक परिस्थिति पर इन माँगों का काफी प्रभाव पड़ा था।

इन माँगों को स्वीकार करने के उपरान्त उनसे पीछे हटने का कोई उपाय युआन-सरकार के पास नहीं था। किन्तु राष्ट्रपति को हटाने के बाद और पीकिंग में विधान सभा के फिर से संगठित होने के बाद, केन्द्रीय सरकार ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि जापान से हुए समझौते अवैध हैं, क्योंकि, एक तो, वे दबाव में आकर किये गये हैं और दूसरे, उनका संसद् द्वारा अनुसमर्थन नहीं हुआ है; यह दृष्टिकोण केवल उसी समय अपनाया गया जब केन्द्रीय सरकार जापान के दबाव में नहीं थी, जैसा कि आनफू-शासन के समय था। चीन के युद्ध में प्रवेश के अध्ययन के समय, अगले अध्याय में, इस संबंध में विस्तार से विचार होगा और तभी जापान के बढ़ाव का विवेचन भी होगा; यहाँ केवल यह बताना आवश्यक है कि जापान ने चीन में जो प्रभाव बढ़ा लिया था और अपनी स्थिति मजबूत कर ली थी, वह वहीं पर रुका नहीं, वरन् अवसर प्राप्त होते ही, उन माँगों को मनवाने

का भी प्रयास करता रहा जो सन् १९१५ के समझौते में शामिल नहीं थीं। मंचूरिया में चीनियों व जापानियों के बीच लगातार झगड़े चलते रहे और हर झगड़े का उपयोग जापान ने अपने हितों के विस्तार के लिए किया। इन झगड़ों में अनेक बार दोष जापान का ही था, पर इससे जापान के नये दावे करने में कोई बाधा नहीं पड़ी। इन घटनाओं में सबसे कुख्यात चेंगचियाटुन की घटना थी, जिसमें एक जापानी सैनिक ने एक चीनी दूकानदार से माल ले लिया और कीमत चुकाने से इनकार कर दिया; दोनों ओर के सैनिक इस झगड़े में शामिल हुए, किन्तु इस अवसर का भी लाभ उठाकर जापान ने चीन के समक्ष नये दावे पेश कर दिये और नयी रिआयतें प्राप्त भी कर लीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि जापान ने युआन शिह-का'ई को संकेत किया था कि यदि उन्होंने जापान की माँगें स्वीकार नहीं कीं तो उपद्रव खड़ा होगा। ज़ापान को तमाम रिआयतें दिये जाने के बाद भी यह उपद्रव हुआ ही, यद्यपि यह उपद्रव तब तक नहीं उभाड़ा गया जब तक युआन ने सम्राट् बन बैठने का उपक्रम नहीं किया। चीन में राजतंत्र की पुनर्संस्थापना के प्रयास का विरोध सक्रिय होने के पहले ही, जापान अन्य राष्ट्रों का अगुआ बन कर आशंका प्रकट करने लगा था कि इस प्रयास का जो विरोध चीन में होगा, उसे दबाने में चीन सरकार समर्थ नहीं होगी। जब युआन ने उत्तर दिया कि चीन राष्ट्र पुनस्संस्थापना के पक्ष में है और किसी उपद्रव की आशंका नहीं है, जापानी प्रतिनिधि ने कहा था कि उसकी सूचना के अनुसार युआन को परिस्थिति का ठीक ज्ञान नहीं है। जैसा कि बाद में प्रकट हुआ, युआन गलत साबित हुए और जापानी प्रतिनिधि सही। जापानी प्रतिनिधि की सूचना सही साबित करने में स्वयं जापान का भी हाथ था, क्योंकि उपयुक्त समय पर, सन् १९१३ से जापान में शरण पाये हुए चीनी क्रांतिकारी वहाँ से रवाना होकर दक्षिणी पश्चिमी चीन जा पहुँचे और वहाँ विद्रोह का झण्डा फहरा दिया। इन क्रांतिकारियों को जापानी सूत्रों से आर्थिक सहायता मिली थी और उनके पास जापान से आये शस्त्रास्त्र थे। और बीच में वाशिंगटन-सम्मेलन के समय कुछ अवधि छोड़ कर तभी से (यदि जापानी दावों के अनुसार और पहले से नहीं तो) जापान लगातार चीन सरकार के विरोधी तत्वों की सहायता करता रहा; उसे आशा थी कि चीन की उपद्रवग्रस्त स्थिति का लाभ उठाकर वह और भी अधिक लाभ प्राप्त कर सकेगा।

(७) सन् १९१७ की गुप्त संधियाँ

जब अन्य राष्ट्र यूरोप में युद्धरत थे, तब चीन पर दबाव डाल कर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर लेना ही जापान के लिए काफी नहीं था; उसे अपनी नयी स्थिति को संगठित और सुरक्षित करने के लिए सुदूरपूर्व में दिलचस्पी रखने वाले राष्ट्रों से समझौते भी

करते थे। इन राष्ट्रों में केवल अमरीका ही इस स्थिति में था कि सन् १९१५ की संधियों से उसके चीन के साथ हुई संधियों द्वारा प्रदत्त अधिकारों पर जहाँ आँच आती थी, उनका प्रभावकारी विरोध कर सके। किन्तु उसने औपचारिक रूप से अपना दृष्टिकोण पेश करते हुए एक राजनयिक वक्तव्य देने के अतिरिक्त, सक्रिय विरोध के लिए और कोई कदम नहीं उठाया। चीन सरकार को दिये गये इस वक्तव्य में अमरीका ने कहा कि वह "चीन व जापान की सरकारों के बीच हुए या होने वाले किसी ऐसे समझौते या उपक्रम को मान्यता नहीं दे सकता, जो अमरीका व अमरीकी नागरिकों के चीन में संधि अधिकारों को क्षीण करते हों या चीन-संबंधी अंतरराष्ट्रीय नीति का, जिसे उन्मुक्त द्वार-नीति के नाम से जाना जाता है, उल्लंघन करते हों।"

यूरोप में युद्ध की प्रगति में जर्मनी को सफलताएँ मिलीं तो समहित राष्ट्रों को संगठित रहने की और भी अधिक आवश्यकता पड़ने लगी। सन् १९१६ में अपने मित्रराष्ट्र के उद्देश्य में जापान की निष्ठा डिगने लगी। आंग्ल-जापानी मैत्री-संधि को कायम रखने के विरुद्ध जापानी पत्रों में कड़ी आलोचना की बाढ़ आ गयी; समाचार-पत्रों के अनुसार यह मैत्री भी एकतरफा और इसलिए अनुचित थी। इसके अतिरिक्त, जर्मनी की प्रत्यक्ष अजेयता की ओर इंगित करते हुए इन पत्रों ने खुला संकेत किया कि ब्रिटेन की जगह जर्मनी से मत्री-संधि कर लेना अधिक वांछनीय होगा। असंतोष का बीज अच्छी तरह अंकुरित कर लेने के बाद जापान सरकार ने मित्र राष्ट्रों से अपने मित्र बने रहने की कीमत माँगनी शुरू की। ब्रिटेन ने यह कीमत यह आश्वासन देकर चुकायी कि जब शांति-समझौता होगा, तब वह शानतुंग प्रान्त व विषुवत् रेखा के प्रशान्त महासागर-स्थित जर्मनी के अधिकार वाले द्वीपों में जर्मनी के अधिकार को जापान को सौंप देने की माँग का समर्थन करेगा। दूसरी तरफ, जापान ने यह वादा किया कि वह विषुवत् रेखा के दक्षिण के टापुओं के लिए ब्रिटेन के दावे का समर्थन करेगा। इसी समय फ्रांस ने इस शर्त पर जापानी दावे का समर्थन करने का आश्वासन दिया कि जापान चीन को मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में उतरने को प्रोत्साहित करेगा। इटली ने भी ऐसा ही समझौता कर लिया। ये सभी समझौते सन् १९१७ में, अमरीका के विश्वयुद्ध में प्रवेश करने के पहले हो गये थे और इन्हें शांति-सम्मेलन शुरू होने तक गुप्त रखा गया था।

ये समझौते इसलिए और भी आवश्यक हो गये थे कि मार्च, १९१७, में रूस में क्रांति हो गयी थी और जापान ने पहले अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए रूस की जार सरकार से समझौता करने की कोशिश की थी। यह समझौता सन् १९१६ के ग्रीष्म में हो गया था, जब ऊपर से, विज्ञापित रूप से दोनों देश सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने के उद्देश्य से प्रगाढ़ मैत्री में आबद्ध हुए थे किन्तु, गुप्त उपसंधियों द्वारा पूर्वी-एशिया में अपने-अपने हितों की

हलकेबन्दी करने तथा किसी भी बाहरी हमले के समय इन हितों की रक्षा के लिए सहयोग करने का निर्णय हुआ था। हितों के इस परिसीमन में रूस ने सन् १९१५ के चीन-जापान समझौते के फलस्वरूप यथास्थिति में हुए परिवर्तनों को स्वीकार किया और मैत्रीसंधि द्वारा इन परिवर्तनों को अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता स्वीकार की; उधर जापान ने सन् १९१२ से १९१५ के बीच बाहरी मंगोलिया में रूसी प्रभाव के विस्तार को तथ्य रूप में स्वीकार कर लिया। मनोरंजक बात यह थी कि, जानबूझ कर ऐसा रहा हो या अनजाने ही, जापान ने रूस से हुई मैत्री की अवधि अंग्रेजों से हुई मैत्री की अवधि से एक दिन अधिक रखी थी।

(८) लैनसिंग–इशी समझौता

इन संधियों के बाद केवल अमरीका ही ऐसा बचा था, जिसने महाद्वीप पर जापान के प्रभुत्व को मान्यता नहीं दी थी। जब युद्ध का दबाव अमरीका में महसूस होने लगा तब यह मान्यता मिलने में देर नहीं लगी। नवम्बर, १९१७ में अमरीका व जापान के बीच के मनमुटाव या शत्रु-भावना की अफवाहों का खण्डन करने की दृष्टि से (अमरीकी परराष्ट्र मंत्री ने इन अफवाहों को जर्मनी के प्रचार का परिणाम बताया था, जो कि सही नहीं था), अमरीका व जापान के बीच हित व नीति का पूर्ण साम्य प्रकट करने के लिए पत्र-व्यवहार हुआ, जो बाद में लैनसिंग–इशी समझौते के नाम से जाना गया। इस टिप्पणी के आदान-प्रदान के फलस्वरूप अमरीका ने स्वीकार किया कि भौगोलिक नैकट्य के कारण चीन में जापान के विशिष्ट हित निहित हैं। इन विशेष हितों की सूची बना कर उनका विशद वर्णन करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया और फलतः, चीन व जापान दोनों ने यह समझा कि सन् १९१४ के बाद हुए बढ़ाव और सन् १९१७ की स्थिति तक की मान्यता इस समझौते में है। यह सही है कि इन टिप्पणियों में दोनों देशों की चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता तथा उन्मुक्त द्वार-नीतियों में निष्ठा की पुष्टि की गयी थी। बाद में प्रकट हुआ कि इन विशिष्ट हितों की मान्यता का जापान ने एक अर्थ लगाया था और अमरीका ने दूसरा। व्याख्या का यह भेद जापान-सरकार की दृष्टि से ओझल नहीं था किन्तु, जैसा कि उसने टोकियो-स्थित रूसी राजदूत से कहा, यह बात जापान के हितों के प्रतिकूल नहीं समझी गयी, क्योंकि जापान समझता था कि उपयुक्त समय आने पर वह अपनी व्याख्या और अपने अर्थ अमरीका से मनवा लेगा। किन्तु एक गुप्त संलेख में लैनसिंग ने जापान को सीमित रखने की दृष्टि से उसे इस बात पर राजी करने का प्रयत्न किया कि "वह......चीन में ऐसे विशेष अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए वर्तमान

परिस्थिति का फायदा उठाने का प्रयत्न न करेगा जिनसे अन्य मित्र राष्ट्रों के नागरिकों या प्रजा के अधिकार सीमित हों।"[१८]

इस प्रकार, जापान ने चीन के समक्ष अपनी माँगें पेश कर, चीन के आंतरिक राजनीतिक संघर्ष में हस्तक्षेप की धमकी देकर और बाद में हस्तक्षेप करके भी उस देश पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली व अमरीका से मुख्यतः युद्ध की आवश्यकताओं के फलस्वरूप, अलग-अलग समझौते करके, जापान ने बाहरी दुनिया के अपनी सर्वोच्च सत्ता पर हो सकने वाले हमलों से अपने आपको सुरक्षित कर लिया।

सत्रहवाँ अध्याय

चीन और प्रथम विश्वयुद्ध

(१) तटस्थता के परिणाम

अगस्त , १९१७, में चीन ने भी जर्मनी के विरुद्ध-युद्ध की घोषणा कर दी और मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में युद्धरत हो गया। सन् १९१४ से सन् १९१७ तक चीन अपनी क्षमता के अनुसार ईमानदारी से तटस्थता की अपनी घोषित नीति पर डटा रहा था; इसका अर्थ यह था कि अपने देश को झगड़ों से बचाने की निषेधी नीति का ही वह पालन करता रहा। इसी नकारात्मक नीति के फलस्वरूप जापान शानतुंग प्रान्त में आकर जम गया था, और चीनी साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों में उसने अपने हित व दिलचस्पियाँ बढ़ा ली थीं।

यह निर्विवाद है कि चीन के लिए ऐसे युद्ध में तटस्थता बरतने की नीति ही उपयुक्त थी, जिससे उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। किन्तु, यह संभव था कि युद्ध के शुरू में ही वह मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में शामिल हो जाता—इसलिए नहीं कि उसकी जर्मनी से शत्रुता थी, बल्कि इसलिए कि उसे जापान से भय था। युआन शिह-का'ई ने सन् १९१४ में ही अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि त्सिंगताओ पर कब्जा कर लिया जाय, ताकि चीन उस स्थिति से बच सके जो बाद में आयी ही, अर्थात् जापान का उस क्षेत्र पर अधिकार हो गया। पर तब न केवल चीन को इस युद्ध में शामिल होने से ही निरुत्साहित किया गया, बल्कि जापान ने उसे स्पष्ट रूप से ऐसा करन से रोक दिया। तब और बाद में भी यूरोप में युद्ध में व्यस्त होने के कारण अन्य राष्ट्र जापान का ही अनुसरण करते थे। बाद में फिर एक बार राष्ट्रपति युआन ने तटस्थता छोड़ कर मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल होने की इच्छा व्यक्त की, पर इस बार भी उन्हें कोई उत्साहवर्धक उत्तर नहीं मिला।

यह कहा जा सकता है कि यदि चीन समझता था कि युद्ध में शामिल होने में उसका कोई लाभ था तो स्वयं अपने उत्तरदायित्व पर युद्ध में शामिल हो जाना चाहिए था। पर स्मरण रखने की बात यह है कि विदेशी राष्ट्रों ने अब तक उसे यही सिखाया था कि परराष्ट्र विषयों में उसे कोई पहल नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जब भी उसने अपने उत्तरदायित्व पर कोई कदम उठाया, उसे कष्ट और झंझट ही झेलने पड़े थे। युद्ध के प्रति चीनी दृष्टिकोण

समझने के लिए एक बात ध्यान में रखने की यह भी है कि उसका कोष खाली था और विदेशी सहायता से ही उसका काम चल रहा था। अंतरराष्ट्रीय बैंक-समूह से अमरीका के हट जाने के बाद और सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अमरीकी आर्थिक सहायता की बाद की अविश्वसनीयता के कारण चीन के पुनस्संगठन के लिए आवश्यक धन जापान से ही आ रहा था। सन् १९१४ के बाद इस बैंक-समूह में से केवल जापान से ही धन आ रहा था और वह भी योकोहामा सोना-चाँदी-बैंक के द्वारा। पुनस्संगठन के लिए इस प्रकार विदेशी सहायता पर निर्भर होने के कारण पीकिंग का यह दृष्टिकोण समझ में आ जाता है कि वह ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहता था, जिसका विदेशी राष्ट्रों से समर्थन प्राप्त न हो।

(२) तटस्थता समाप्त करने के लिए आंदोलन

किन्तु, सन् १९१७ तक एक बिलकुल भिन्न परिस्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। इस वर्ष के शुरू में ही अमरीका में चीन के संबंध में एक नये नेतृत्व का उदय हुआ और जब तक यह नेतृत्व चला चीन को लाभ हुआ। सन् १९१७ में अमरीकी नेतृत्व में चीन को युद्ध में उतारने का जो आंदोलन हुआ था, उसका संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। फरवरी में अमरीका ने सभी तटस्थ राष्ट्रों से अनुरोध किया कि वे उसके साथ मिलकर जापान के पनडुब्बी-युद्ध के विस्तार का इस आधार पर विरोध करें कि इससे अंतरराष्ट्रीय कानून के मान्य सिद्धान्तों का हनन होता है और यह मानवता के विरुद्ध अपराध है। पीकिंग स्थित अमरीकी प्रतिनिधि ने चीन को सुझाव दिया कि इस अवसर का लाभ उठाकर उसे अमरीका की रक्षा के अंतर्गत एक अधिक फलदायक व ठोस नीति बरतनी चाहिए। चीन को बताया गया कि शांति-सम्मेलन में शामिल होने और सुदूरपूर्व के उन प्रश्नों के हल करने के संबंध में अपना मत देने का केवल यही एक उपाय है, जिनमें उसकी गहरी दिलचस्पी है। संभवतः, यह पूरी तरह समझे बिना ही कि इस तरह के विरोध-पत्र उस शृंखला की पहली कड़ी ही है जो अंततः उसे युद्ध में भी धकेल सकते हैं, चीन ने जर्मन सरकार को एक संयत पत्र भेजा, जिसमें अंतरराष्ट्रीय कानून व मानवता के नाम पर अबाध रूप से पनडुब्बी युद्ध चालू रखने का विरोध किया गया था। जब इस पत्र का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला, चीन के समक्ष जर्मनी व उसके गुट के देशों से राजनयिक संबंध विच्छेद करने का प्रश्न आया। यदि चीन-सरकार अपने इस विरोध-पत्र के उत्तर के अभाव में कोई और कदम न उठाती तो विदेशों तथा स्वयं चीनी जनता में उसकी साख गिरती और उसका अपमान होता; और कोई अन्य कारण न भी होता, तो भी कोई कदम उठाने के लिए यही कारण बहुत काफी था।

जब जर्मनी से राजनयिक संबंध-बिच्छेद करने का प्रश्न उठा चीन में तेजी से इस बात की समझ आयी कि इससे युद्ध में पड़ना अनिवार्य हो सकता है। अतएव, वे लोग भी जिन्होंने विरोध-पत्र भेजने का समर्थन किया था, अब राजनयिक संबंध विच्छेद करने में हिचकिचाने लगे। प्रधान मंत्री तुआन ची-जुई इस पक्ष में थे कि संबंध-विच्छेद कर लिया जाय, क्योंकि सबसे अधिक अपमान होने की आशंका उन्हीं को थी। किन्तु राष्ट्रपति इस कदम की आवश्यकता तथा विवेक के प्रति संशयालु थे और संविधान के अनुसार यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर अंतिम निर्णय राष्ट्रपति या मंत्रिमंडल ही कर सकते थे। इस प्रश्न पर निर्णय के पहले ही तुआन ने प्रधान मंत्री के पद से इस्तीफा दे दिया और वह अपने घर टींटसीन में वापस लौट गये। इससे राष्ट्रपति ली उद्विग्न हो उठे, क्योंकि वह समझते थे कि किसी भी अन्य व्यक्ति के नेतृत्व में मंत्रिमंडल का गठन करना असंभव होगा। अंततः, तुआन को प्रधान मंत्री की हैसियत से वापस पीकिंग लाने के लिए राष्ट्रपति ने युद्ध के संबंध में उन्हीं की बात मान ली। जब जर्मनी से संबंध-विच्छेद का प्रश्न संसद् के समक्ष पेश हुआ तो दोनों सदनों के बड़े बहुमत ने प्रधान मंत्री का समर्थन किया।

अमरीका के नेतृत्व में जिन तटस्थ राष्ट्रों ने जर्मनी को विरोध-पत्र भेजा था, उनके राजनयिक संबंध-विच्छेद कर लेने से जर्मनी की नीति में कोई अंतर नहीं आया। अतएव चीन के सामने तीसरा कदम उठाने, अर्थात् युद्ध की घोषणा करने का प्रश्न आया। यह कदम उठाने की तैयारी में प्रधान-मंत्री ने चीन के युद्धरत होने की सीमा तथा इससे मिल सकने वाले ठोस लाभों के संबंध में अन्य राष्ट्रों से बातचीत शुरू की। अमरीका और मित्रराष्ट्रों द्वारा चीन के युद्ध में शामिल होने की उत्कट इच्छा के अनुरूप जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के बदले में तुआन ने माँग की कि मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति का जर्मनी व आस्ट्रिया को जाने वाला भाग समाप्त कर दिया जाय, मित्र राष्ट्रों को इस क्षतिपूर्ति के मूल-ब्याज की जो किस्तें जा रही हैं, उन्हें निलंबित कर दिया जाय, मुक्का-उपसंधि के अनुरूप जो विदेशी सेनाएं चीन में स्थित हैं वे हटा ली जायँ, और परंपरागत सीमा-शुल्क की दरें बढ़ा दी जायँ। इसके बदले में चीन कच्चा माल, श्रमिक व खाद्यान्न देने को प्रस्तुत था। मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने तुआन को अपनी-अपनी सरकारों की ओर से कोई आश्वासन नहीं दिया और कहा कि चीन युद्ध में अभी शामिल हो जाय और माँगों के संबंध में बातचीत बाद में करे; किन्तु उन्होंने चीन से यह अवश्य कहा कि यदि वह मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ा और उनके साथ रहा तो उसके साथ अच्छा व्यवहार ही किया जायगा।

अनेक चीनी नेताओं का भी यही मत था कि विदेशी प्रतिनिधियों के रुख या प्रतिक्रिया से प्रभावित हुए बिना चीन को स्वतंत्र रूप से अपनी नीति निर्धारित करनी चाहिए और

इस प्रकार अनेक वर्षों के बाद पहली बार वैदेशिक मामलों में स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। ऐसा करने से चीन सरकार अपनी उन विगत परंपराओं से भी संबंध तोड़ लेगी जिनसे अब तक हानि ही हुई थी। इसके अतिरिक्त युद्ध की घोषणा से मित्र-राष्ट्रों में चीन के प्रति मित्रता का भाव ही बढ़ेगा और चीन के प्रति अमरीका की मैत्री ही बढ़ेगी क्योंकि, चीन अमरीका की सलाह पर ही यह कदम उठायगा। प्रसिद्ध विद्वान्, लिआंग ची'चा'ओ ने अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा—"......जब भी कोई नीति लागू की जाय हमें उसकी तर्कसंगत सीमा तक उसे निबाहना चाहिए। यदि हम बीच में ही ढुलमुल होकर हिचकिचाने लगे और आगे बढ़ने से डरने लगे हमारी स्थिति शीघ्र ही गलत हो जायगी। इसलिए सरकार व संसद् को हिम्मत के साथ निर्णय लेकर अगला कदम उठाना चाहिए।"[१]

किन्तु इस प्रकार मित्र बनाने से शत्रु भी बनते हैं। चीन को इस बात का अनुभव कई प्रकार से हुआ। सरकार को बताया गया कि जर्मनी अबतक अजेय सिद्ध हुआ है और उससे शत्रुता करना चीन के लिए भारी गलती होगी। बेहतर नीति यही होगी कि सारे संसार से ही अर्ध-मैत्री का संबंध कायम रखा जाय जैसा कि पहले किया जाता था।

जर्मनी का यह भय एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् तथा शुरू के सुधार-आंदोलन के नेता, का'ग यू–वी के एक लेख में किये गये उद्बोधन से भी प्रकट होता है। उन्होंने लिखा था—

"युद्ध में कौन पक्ष जीतेगा? इस संबंध में भविष्यवाणी करने का प्रयास मैं यहाँ नहीं करूँगा, किन्तु यह तो असंदिग्ध ही है कि यूरोप के सभी शस्त्रास्त्र तथा अमरीका व जापान की औद्योगिक व आर्थिक शक्ति मिल कर जर्मनी के विरुद्ध विशेष सफल नहीं हो सकी है। दूसरी ओर, फ्रांस के उत्तरी प्रान्त उसके हाथ से निकल चुके हैं और बेल्जियम, सर्बिया व रूमानिया का नाम ही नक्शे से मिट चुका है। यदि जर्मनी विजयी हुआ तो सारा यूरोप—निर्बल चीन का तो कोई उल्लेख ही नहीं है—समाप्ति के संकट में फँस जायगा। यदि वह हारा, शांति संधि होने के बाद भी, जर्मनी एक नौसैनिक बेड़ा हमारे विरुद्ध रवाना कर देगा। और चूँकि अन्य राष्ट्र एक दूसरे विश्वयुद्ध की आशंका के कारण डरे हुए रहेंगे, हमारी सहायता को कौन आयगा? क्या कोरिया का उदाहरण हमारे सामने नहीं है? सत्य के लिए लड़ने वाली ऐसी किसी सेना का अस्तित्व नहीं है, जो निर्बल राष्ट्रों की सहायता के लिए आ खड़ी हो। मैं जर्मनी की क्रुद्ध तोपों के चीन के तटों पर गर्जन की कल्पना भी नहीं करना चाहता!"[२]

युद्धरत राष्ट्रों की कारवाईयों और नीतियों की दृष्टि से युद्ध-विरोधी लोग यह कह सकते थे कि सन् १८९८ के त्सिंगताओ पर अधिकार कर लेने की प्राचीन घटना के अतिरिक्त जर्मनी से शत्रुता मोल ले लेने का कोई भी कारण चीन के पास नहीं है। दूसरी ओर,

सन् १९१४ से जापान से लगातार झगड़ा और विवाद चलता रहा है और फ्रांस से भी, अपेक्षतया कम महत्त्वपूर्ण किन्तु उल्लेखनीय विवाद और संघर्ष हो चुका है, जब उसने चीन की इच्छा के विरुद्ध (लाओहसीकाई घटना) टींटसीन में अपनी बस्ती की सीमा बढ़ाने का प्रयास किया था। तिब्बत और मंगोलिया के प्रश्नों पर ब्रिटेन व रूस से हुए मनमुटाव और झगड़े का कोई उल्लेख न भी किया जाय तो भी मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी की तुलना में अंतरराष्ट्रीय व्यवहार का कोई ऊँचा मान तो स्थापित किया नहीं था।

दूसरी ओर, अमरीका के वक्तव्यों की ईमानदारी पर लोगों को भरोसा था और इससे वे यह आश्वासन प्राप्त करते थे कि यदि चीन युद्ध में उतर आया तो वह चीन की रक्षा उसके मित्रों व शत्रुओं दोनों से ही करेगा और यह भी स्वीकार करना होगा कि छोटे राष्ट्रों के अधिकारों तथा एक अधिक आदर्श अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था कायम करके युद्धों को समाप्त करने के लिए विश्व-युद्ध लड़ने के अमरीकी वक्तव्य चीनी विद्वानों को अधिक प्रभावित करते थे। किन्तु युद्ध के विरोध में दिये गये तर्कों को काटने के लिए और अधिक महत्त्व की बात यह थी कि, जहाँ तक परराष्ट्र संबंधों का प्रश्न था, जर्मनी चीन को आर्थिक या अन्य किसी प्रकार की सहायता देने की स्थिति में नहीं था, जबकि अमरीका व मित्रराष्ट्र इस प्रकार की सहायताएँ तत्काल ही दे सकते थे।

साथ ही, युद्ध से अलग रहने के कुछ आंतरिक कारण भी थे। अनेक चीनियों का विचार था कि अपनी बड़ी व तात्कालिक समस्याओं को हल करना शुरू किये बिना ही चीन का एक विदेशी युद्ध में फँस जाना गलत होगा। चीनी राष्ट्र को कायम रखने के लिए एक सशक्त वैदेशिक नीति की नहीं, आंतरिक पुनस्संगठन तथा शक्ति-संचय आवश्यक था। युद्ध के संबंध में सोचते समय सेनाओं की बात सामने आ ही जाती है और अनेक चीनी सेनाओं की बात सोचते समय इसी नतीजे पर पहुँचते थे कि युद्ध-घोषणा से चीन में सैनिक दल की शक्ति बढ़ेगी और इससे सच्चे प्रतिनिधित्वपूर्ण शासन की स्थापना अनिश्चित काल के लिए टल जायगी।

और हुआ भी यही, यद्यपि यह युद्ध में भाग लेने के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में नहीं हुआ। प्रधान मंत्री द्वारा टूचुनों का सम्मेलन बुलाने तथा उसके बाद की घटनाओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है, जैसे कि मंचू-राजतंत्र की पुनस्संस्थापना का प्रयास तथा पीकिंग पर सेनावादियों के नियंत्रण का प्रयास। युद्ध की घोषणा से पहले ही विदेशी राष्ट्रों से सुविधाएँ प्राप्त कर सकने में प्रधान मंत्री की असफलता के कारण ही ये घटनाएँ घटीं, क्योंकि प्रधान मंत्री ने संसद् को बताया था कि वह समझौते की बातचीत चला रहे हैं और उन्हें विश्वास है कि चीन की तटस्थता समाप्त करने से उसे जो ठोस सुविधाएँ व लाभ प्राप्त होंगे, वे शीघ्र ही सामने आ जायँगे। जब बातचीत का सिलसिला लम्बा खिचा

लोगों की युद्ध के प्रश्न में दिलचस्पी खत्म होने लगी। जनता का ध्यान उसकी असंतोषजनक परिस्थितियों से हटाने के लिए और संसद् व उसके बाहर की स्थिति पर नियंत्रण कायम रखने के लिए टूचुनों का सम्मेलन बुलाया गया। उसके बाद युद्ध का प्रश्न गौण हो गया और उसकी जगह सेनावादियों से परामर्श के राजनीतिक प्रभाव की चीनियों के लिए दिलचस्प समस्या ने ले ली।

सन् १९१७ के शरद में, जब स्थिति फिर से सामान्य होने लगी और तुआन चीजुई फिर प्रधान मंत्री हो गये और राष्ट्रपति पद पर फेंग कुओ-चांग आसीन हुए, युद्ध का प्रश्न फिर से उठाया गया। १४ अगस्त, १९१७ को युद्ध की घोषणा कर दी गयी। नये शासन के लिए विदेशी राष्ट्रों की सहायता प्राप्त करने के लिए तुआन को अपनी ईमानदारी का परिचय देना था और इस शासन के लिए आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए विदेशियों के समक्ष अनुकूल स्थिति पैदा करनी थी, इसीलिए यह कदम उठाया गया।

(३) युद्ध-घोषणा के तात्कालिक परिणाम

इस काररवाई से चीन व मित्रराष्ट्रों दोनों के लिए वांछनीय परिणाम हुए। चीन के लिए, एक तो कुछ बातचीत के बाद, सीमा-शुल्क के पुनरीक्षण से काफी सुविधा मिल गयी—शुल्क वास्तविक ढाई से प्रभावकारी पाँच प्रतिशत कर दिया गया और इस प्रकार सन् १९०१ की दरों की तुलना में आयात-निर्यात के मूल्यांकन में नयी दरें सात प्रतिशत अधिक हो गयीं। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रों ने चीन को यह कोई सुविधा नहीं दी थी प्रारम्भिक न्याय ही दिया था। मुक्का-आंदोलन के बाद की उपसंधि के समय से ही चीन को यह पाँच प्रतिशत शुल्क मिलना था, किन्तु वह सन् १९०१ के बाद संधियों के पुनरीक्षण कराने में सफल नहीं हुआ था, ताकि उसे राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत सीमाशुल्क की आय प्रतिशत के रूप में प्राप्त हो सकती; और मूल्य बढ़ ही रहे थे। दूसरे, मार्च में जर्मनी व उसके मित्रों से राजनयिक संबंधविच्छेद कर देने और अब युद्ध की घोषणा कर देने से चीन को टींटसीन जैसे संधि-बंदरगाहों में आस्ट्रिया व जर्मनी की उन निवास-बस्तियों का नियंत्रण प्राप्त हो गया था, जहाँ इन दोनों देशों ने अनन्य अधिकार प्राप्त कर रखे थे। युद्ध समाप्ति के बाद समझौते के फलस्वरूप समायोजन होने तक जर्मनी व आस्ट्रिया की सार्वजनिक व निजी संपत्तियों पर भी चीन का अधिकार हो गया था। तीसरे, मित्र राष्ट्रों ने मुक्का आंदोलन की क्षतिपूर्ति में जर्मनी व आस्ट्रिया के भागों को समाप्त कर दिया था और मित्र राष्ट्रों को राशि की जो अदायगी हो रही थी वह पाँच वर्ष के लिए स्थगित कर दी थी। सीमा-शुल्क की आय वृद्धि के साथ इन सुविधाओं से चीन की आर्थिक समस्या एक

सीमा तक सुलझ गयी थी। और चीन को यह भी विश्वास हो गया था कि जब भी शांति-सम्मेलन होगा, उसे जापान के समकक्ष बैठने का अधिकार होगा।

दूसरी ओर, चीन के युद्ध में भाग लेने से मित्रराष्ट्रों को भी लाभ हुआ था। चीन से मजदूरों की भरती पहले से ही हो रही थी और अब इस भरती, मजदूरों के प्रशिक्षण व उनके फ्रांस भेजे जाने की सुविधाएँ बढ़ गयी थीं। यद्यपि चीन ने न तो कोई सेना ही पश्चिम भेजी थी और न मित्रराष्ट्रों के साइबेरिया-अभियान में ही कोई भाग लिया था, किन्तु मोर्चे के पीछे, फ्रांस में, चीनी मजदूरों ने काफी अच्छा काम किया था। उनकी मौजूदगी से बहुत-से ऐसे व्यक्ति खाली हो गये थे, जिन्हें इन पीछे के मामूली कामों से छुटकारा दिला कर युद्ध में लगाया जा सकता था। मित्रराष्ट्रों को चीनी मजदूरों से जो सहायता मिली, उसकी काफी प्रशंसा हुई थी।

फिर, चीन ने खाद्यान्न व कच्चे माल की सप्लाई का भी वादा किया था। यद्यपि चीन में खपत के बाद अतिरिक्त मात्रा में इस सामान की सप्लाई कम थी, किन्तु वह तेजी से बढ़ायी जा सकती थी। चीन की औद्योगिक संभावित शक्ति भी बड़ी थी। यदि वह कच्चे लोहे व ऐसे ही अन्य माल का उत्पादन बढ़ाने के लिए साधन जुटा सकता तो चीन युद्ध में बहुत बड़ा योग दे सकता था। दुर्भाग्यवश, इस कार्य के लिए उसके पास अपनी पूँजी थी नहीं और मित्रराष्ट्र उसे यंत्रों व अन्य साज-सज्जा के लिए आवश्यक पूँजी या ऋण दे नहीं सके। यह दोष विशेषतः अमरीका का ही था, क्योंकि केवल वह ही चीन की बहुत साधारण आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ था। अमरीकी प्रतिनिधि, अपनी सरकार की ओर से वादा करने के आदेश के अभाव में, आर्थिक सहायता के जो भी आश्वासन दे सकता था, दे रहा था, किन्तु ये आश्वासन कभी पूरे नहीं हुए। इस प्रकार युद्ध में भाग लेने का एक परिणाम यह हुआ कि चीन जापान पर पूरी तरह निर्भर हो गया। लाभदायक परिस्थितियों में एक सीमा तक चीन में पूँजी लगाने की बुद्धि जापान में तो थी, पर अमरीका इतनी दूर आगे तक नहीं देख पा रहा था। यदि वाशिंगटन भविष्य की संभावनाएँ समझ पाता तो चीन के लिए युद्ध का परिणाम बिलकुल भिन्न होता।

चीन के युद्ध में शामिल होने से मित्रराष्ट्रों को जो तीसरा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ हुआ वह था चीनी बन्दरगाहों में रुके जर्मनी के जहाजों का उपयोग। सन् १९१७ में जहाजों की बड़ी आवश्यकता और माँग थी और चीन को युद्ध में शामिल कराने की कोशिश के पीछे यही बलवती इच्छा काम कर रही थी कि जर्मनी के इन जहाजों का उपयोग किया जाय। फिर, युद्ध की अवधि के लिए जर्मनी के अनेक नागरिकों को नजरबन्द कर देने या खदेड़ देने से और चीन के द्वार उनके लिए बन्द हो जाने से जर्मनी की सुदूरपूर्व में काररवाइयों का बिलकुल अंत हो गया था। इसका महत्त्व बड़ा था, विशेषकर ब्रिटेन व

जापान के लिए जो सुदूर पूर्व में जर्मनी की व्यापारिक प्रतियोगिता से चौकन्ने थ। यह सर्वविदित था कि जर्मनी युद्ध के बाद अपनी आर्थिक व व्यापारिक कारवाइयों के लिए चीन में जितने भी व्यावसायिक संपर्क संभव थे, उन सभी को कायम रख रहा था। जर्मनी व आस्ट्रिया के नागरिकों की नजरबन्दी व उनकी संपत्तियों के अलग कर दिये जाने से इस प्रकार फिर से व्यापार चालू कर देने की संभावना बहुत कम हो गयी थी।

(४) चीन के युद्ध-प्रवेश के राजनीतिक प्रभाव

सन् १९१७ के पहले तक के युद्ध के सुदूर पूर्व पर पड़े प्रभाव का ऊपर उल्लेख हो चुका है। यहाँ अब युद्ध के शेष समय और शांति-सम्मेलन शुरू होने तक चीन के युद्धरत होने के राजनीतिक प्रभाव का विवरण उपयुक्त होगा।

चीन के युद्ध प्रवेश के लिए पहला कदम अमरीकी सुझाव पर उठाया गया था और कुछ महीनों तक चीन प्रशान्त महासागर पार के अपने इस पड़ोसी के आदर्श पर आचरण करने का प्रयास करता रहा। यदि अमरीकी नेतृत्व कायम रहता और प्रभावकारी होता तो युद्ध के पहले तीन वर्षों में जापान ने महाद्वीप में अपने प्रभुत्व का जो रूप बड़ी सावधानी व योजनाबद्ध उपायों से कायम किया था, उसे समाप्त करने में बड़ी सहायता मिलती। अमरीकी नेतृत्व को नगण्य बनाने के लिए जापान ने पहले रूस से मैत्री-संधि करके और फिर सन् १९१७ में ब्रिटेन, फ्रांस व इटली से गुप्त संधियाँ करके चीन को युद्ध में उतारने का श्रेय स्वयं लेने के प्रयत्न शुरू कर दिये। पहले तो पीकिंग-स्थित जापानी राजदूत ने बड़े दिखावे के साथ चीन को 'सलाह' दी कि वह महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की ओर से शामिल हो जाय, जबकि चीन पहले से ही यह कदम उठाने पर विचार कर रहा था। इसी समय चीन में जो जापानी समाचारपत्र थे, उन्होंने लगातार यह लिखना शुरू किया कि सुदूरपूर्व में अमरीका का प्रभाव नगण्य है; उन्होंने बड़े विशद रूप से बताना शुरू किया कि चीनी हितों के लिए सहानुभूति के बड़े वक्तव्य और दावे करने के बावजूद अमरीकी सरकार विदेशी राष्ट्रों द्वारा उसकी लोट-खसोट रोकने में लगातार असफल रही थी। उदाहरण के लिए यह बताया गया कि ऋण की शर्तों को चीन की स्वतंत्रता व प्रशासकीय अक्षुण्णता के लिए खतरा बता कर अमरीका चीन को पुनस्संगठन ऋण देने वाले राष्ट्र गुट से अलग हो गया था। इस अंतरराष्ट्रीय गुट ने जिन शर्तों पर चीन को ऋण दिये थे, अमरीका उनसे अधिक सुविधाजनक शर्तों पर चीन को ऋण देने में भी असफल रहा था और अंततः चीन को इसी गुट से ऋण लेने को बाध्य होना पड़ा था। इन समाचारपत्रों ने यह भी बताना शुरू किया कि, दूसरी ओर यदि चीन जापान को ही अपना मित्र मान ले (क्योंकि जापान बातें करने वाला नहीं, काम करने वाला देश है) तो उसे उसकी अनेक कठिनाइयों

को दूर करने में बड़ी सहायता मिल सकती है। अमरीकी नीति में जो भी त्रुटियाँ दिखायी पड़ती थीं, जापान उन सबका लाभ उठाता था और चीन को अमरीकी वादों-वक्तव्यों का खोखलापन दिखा कर साबित करता था कि सभी पश्चिमी राष्ट्र सुदूर पूर्व में जापान के प्रभुत्व को स्वीकार करते हैं; लैनसिंग-इशी-संधि का भी इसी संदर्भ में हवाला दिया गया। अमरीका के युद्ध में सक्रिय रूप से शामिल होने के बाद जब युद्ध के पश्चिमी क्षेत्र की अधिकार सत्ता वाशिंगटन में केन्द्रीभूत हो गयी, तब यह नीति और भी अधिक जोर पकड़ गयी। हर बात इसी दृष्टिकोण से देखी जाने लगी कि पश्चिम का युद्ध किस प्रकार जीता जाय।

अतएव, सन् १९१७ के ग्रीष्म व वसन्त में जब चीन आंतरिक रूप से विश्रृंखल हो रहा था, उस समय अमरीकी सरकार ने चीनी परराष्ट्र-मंत्रालय को पत्र लिखा कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने से अधिक बेहतर यह होगा कि चीन अपने घर में व्यवस्था ठीक करे। यह परामर्श सद्भावनापूर्ण और उचित था। किन्तु आश्चर्यजनक यह था कि यह परामर्श उसी सरकार ने दिया था, जो कुछ ही महीने पहले चीन को युद्ध में शामिल होने की सलाह दे रही थी। जापान ने इसका पूरा फायदा उठाया और चीनी पत्रों में प्रतिवाद छपवाये कि जापान के पड़ोसी राष्ट्र के घरेलू मामलों में अमरीका 'हस्तक्षेप' कर रहा है। जब अमरीका ने इस संबंध में आगे कोई काररवाई नहीं की, जापान ने चीन को बताना शुरू कर दिया कि अमरीका ने उसका (जापान का) यह अधिकार स्वीकार कर लिया है कि वाशिंगटन व पीकिंग के बीच किस प्रकार का पत्र-व्यवहार हो इसका निर्णय वह (जापान) ही करेगा। जहाँ तक चीन का संबंध था, उसे इसमें यही संकेत मिला कि पूर्वी एशिया में पश्चिमी राष्ट्र जापानी प्रभुत्व को ही स्वीकार करते हैं।

जब पीकिंग-स्थित सेनावादी शासन ने युद्धरत होने का संकल्प कर लिया तो जापान ने इस नयी घटना का भी पूरा फायदा उठाया। जब अमरीका चीन-सरकार को ऋण देने में असफल रहा, जापान ने खुशी-खुशी यह काम भी अपने जिम्मे ले लिया। सन् १९१८ व युद्ध की समाप्ति के बाद भी तुआन ची-जुई की सरकार को जापान से लगातार ऋण मिलते रहे। इन ऋणों के भुगतान के लिए कभी-कभी प्रान्तीय करों को बंधक रखने की माँग की जाती थी, किन्तु बहुधा ऋणों के बदले में उद्योग स्थापित करने, खानों का उपयोग करने या रेलमार्ग बनाने आदि हर तरह की रिआयतें व सुविधाएँ प्राप्त कर ली जाती थीं। इन सुविधाओं में से अनेक तो सन् १९१८ में युद्ध में सहयोगात्मक रूप से शामिल होने के समझौते की शर्तों के रूप में स्वीकार हो गयीं। युद्ध कार्यों के लिए पीकिंग में एक मंडल स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य औपचारिक रूप से तो यह बताया गया कि मित्रराष्ट्रों को सैनिक सहायता की योजनाएँ बनायी जायँगी, किन्तु उसका वास्तविक

उद्देश्य था देश के आंतरिक कार्यों के लिए जापान से ऋण लेना; और इन ऋणों का बड़ा भाग अधिकारियों की जेबों में जा रहा था। उस समय से सन् १९३१ के बाद तक चीन में जापानी अधिकार व प्रभुत्व का चरम उत्कर्ष रहा। युद्ध में भाग लेने के लिए स्थापित मंडल के निर्देशन में सन् १९१८ में चीन व जापान के बीच एक सैनिक समझौता हुआ, जिसकी शर्तों के अनुसार युद्ध की तैयारी के लिए दोनों देशों ने सहयोग का निर्णय किया; इस सहयोग में चीनी नौ सेना व स्थल सेना के लिए जापानी सलाहकार नियुक्त हुए और युद्ध कार्यों के लिए जापानी आर्थिक सहायता का आश्वासन प्राप्त हुआ; चीन ने अपनी ओर से वादा किया कि अपने युद्ध-साधनों का ब्योरा वह जापान को देगा और युद्ध-सामग्री जापान से खरीदेगा। जब महायुद्ध के अंत में विराम-संधि हुई, यह मंडल समाप्त हो जाना चाहिए था, किन्तु उत्तर से बोल्शेविकवाद (साम्यवाद) आने के खतरे और उसकी रोक-थाम की आवश्यकता के बहाने मंडल बाद तक कायम रखा गया। आन फू गुट की जनरल वू-पी'-फू की सेना के हाथों पराजय और पीकिंग से खदेड़े जाने के बाद सन् १९२० में यह मंडल भंग हुआ।

किन्तु जापान की काररवाई पीकिंग तक ही सीमित नहीं थी। उसने यह व्यवस्था कर रखी थी कि एक गुट की जय-पराजय से उसके हितों पर आँच न आये। आनफू-गुट के लोगों की जेबों में जापानी रुपया भर रहा था तो उसका कुछ भाग कैण्टन स्थित डाक्टर सुन यात-सेन की सरकार के पास भी पहुँच रहा था और एक भाग मंचूरिया में चांग त्सो-लिन को सशक्त बनाने में भी लग रहा था। जापान का हित-साधन चीन में अराजकता व अव्यवस्था कायम रहने से ही होता था और इसका एक सरल उपाय यह था कि हर गुट को धन व शस्त्रास्त्र मिलते रहें। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि चीन की हर सरकार का संचालन टोकियो से ही होता था। चीन के आंतरिक विग्रह को कायम रखने के लिए जापान को यह जरूरत नहीं थी कि शासन की हर गतिविधि का वह नियंत्रण करे। वह प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न गुटों को शस्त्रास्त्र व युद्ध-साधन उपलब्ध कराता रहता था और इन गुटों के वास्तविक या काल्पनिक हित-वैषम्य शेष काम पूरा कर देते थे। हर गुट यही समझता था कि केवल उसी के निर्देशन में चीन विश्व में अपनी पहले की सम्मानित स्थिति प्राप्त कर सकता है। डाक्टर सुन यात-सेन पीकिंग के आनफू-शासन का विरोध करते थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं था कि आनफू-शासन के बाद पीकिंग में स्थापित हुई त्सा'ओ कुन या चांग त्सो-लिन सरकारों को उनका समर्थन प्राप्त हो गया था। इसके विपरीत, डाक्टर सुन ने निष्कासित आनफू-गुट से तत्कालीन पीकिंग-शासन को हटाने के लिए सहयोग की बात चलायी और जब जनरल वू पी'-फू की सेना चांग त्सो-लिन को पीकिंग से खदेड़ रही थी, डाक्टर सुन अपने पहले के शत्रु, जनरल चांग से मैत्री कर रहे थे।

यह संभव हुआ था हर गुट को जापानी शस्त्रास्त्र मिलने से और युद्ध-सामग्री जापान में खरीदने के लिए जापान में ऋण मिलते रहने से।

(५) पेरिस-सम्मेलन के समय वैधानिक स्थिति

शांति सम्मेलन तथा उसके निर्णयों के सुदूर पूर्व की स्थिति पर प्रभाव पर विचार करने के पूर्व, सन् १९१४ के बाद उत्पन्न परिस्थिति के वैधानिक पहलू पर विचार कर लेना आवश्यक है। सन् १८९८ के ठेके या पट्टे की शर्तों के अनुसार जर्मनी को न तो शानतुंग के किसी क्षेत्र में स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हुए थे और न उसे शानतुंग प्रान्त या उसके किसी भाग में सर्वोच्च सत्ता के ही अधिकार मिले थे। सर्वोच्च सत्ता निश्चित रूप से चीन की ही थी और चीन सरकार ने पट्टे के क्षेत्र में इस सत्ता को ९९ वर्ष के लिए जर्मनी के पक्ष में उत्सर्जित कर रखा था। कानून की दृष्टि से पट्टे की शर्तों से बँधा जर्मनी उस क्षेत्र में अधिष्ठाता मात्र था। अतएव, जर्मनी से कोई अन्य राष्ट्र जो कुछ भी प्राप्त कर सकता था, वह अधिक से अधिक पट्टे का उत्तराधिकार भर था। पट्टे को कायम रखने की एक शर्त यह भी थी कि जर्मनी उसके अंतर्गत मिले अधिकारों को किसी अन्य राष्ट्र को हस्तांतरित नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में, पट्टा कायम रहना ही इस बात पर निर्भर था कि वह मूल पट्टेदार के पास ही रहे। इस प्रकार शांति-संधि की शर्तों के अनुरूप यदि जर्मनी अपना पट्टा किसी अन्य राष्ट्र को हस्तांतरित करता तो उसी से पट्टे का समझौता समाप्त हो जाता था।

अतएव, बलपूर्वक किआओचाओ खाड़ी के क्षेत्र का उत्तराधिकार जर्मनी से ले लेने से जापान के अधिकार कानून की दृष्टि से अपूर्ण थे। फिर, जब यह देखा जाय कि यह पट्टा-समझौता जर्मनी ने चीन पर जबरदस्ती लाद दिया था, तब जापान की स्थिति चोरी का माल पानेवाले जैसी हो जाती थी। किसी चोर से चोरी का कोई सामान पानेवाला उस सामान का मालिक नहीं हो जाता, वह तो उसे केवल उस समय तक अपने पास रखने का अधिकारी होता है, जबतक वह सामान उसके असली मालिक तक न पहुँच जाय। इस प्रकार जापान की स्थिति यही थी कि सन् १९१४ की कारररवाई के फलस्वरूप उसे ऐसी चीनी संपत्ति प्राप्त हुई, जिसे वह अस्थायी रूप से तब तक अपने पास रख सकता था, जब तक वह उसे उसके असली मालिक चीन को वापस न लौटा दे या उस संपत्ति के संबंध में चीन से कोई अंतिम समझौता न कर ले। दूसरे शब्दों में, इस संपत्ति का स्वामित्व चीन व जापान के बीच समझौते पर निर्भर था, जापान व जर्मनी के बीच किसी समझौते पर नहीं, क्योंकि जर्मनी को पट्टे के अधिकार किसी अन्य राष्ट्र को हस्तांतरित करने का और इस प्रकार उसका स्वामित्व किसी अन्य राष्ट्र को सौंप देने का कोई वैधानिक हक नहीं था।

किन्तु शानतुंग-संबंधी सन् १९१५ के समझौते से स्थिति में एक मौलिक अंतर आ गया था। शानतुंग-संधि के अनुसार चीन व जापान के बीच इस चीनी संपत्ति के अंतिम रूप से निर्वर्तन या ठिकाने लगाने का एक समझौता हो गया था। चीन-सरकार पहले से ही यह स्वीकार कर चुकी थी कि जर्मनी व जापान के बीच इस संपत्ति के संबंध में जो भी समझौता होगा, वह उसे मान लेगी; यह भी माना जा चुका था कि यदि जर्मनी ने अपना पट्टा जापान को हस्तांतरित किया तो वह (जापान) कुछ शर्तों पर यह पट्टा चीन को वापस कर देगा। इसके अतिरिक्त सन् १९१८ में चीन-सरकार ने सन् १९१५ के समझौते के पूरक रूप में, शानतुंग के मामलों के संबंध में पत्र-व्यवहार द्वारा एक नयी व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। इस समझौते के अनुसार व्यवस्था थी कि (१) किआओचाओ-त्सिनान रेलमार्ग की स्थिति और स्वामित्व स्पष्ट हो जाने के बाद दोनों देश मिलकर उसे चलायेंगे; (२) त्सिंगताओं के बाहर जापानी नागरिक-प्रशासन समाप्त हो जायगा; (३) जापानी फौजें वापस त्सिंगताओ लौट जायँगी और रेलमार्ग की सुरक्षा की देखभाल चीनी सैनिक करेंगे; और (४) "इस पुलिस टुकड़ी के मुख्यालय, प्रमुख रेलवे स्टेशनों व पुलिस प्रशिक्षण पाठशाला" में जापानियों की नियुक्ति होगी। सन् १९१६ में रूस की जार-सरकार तथा सन् १९१७ में ब्रिटेन, फ्रांस व इटली से हुई संधियों के द्वारा जापान ने अपनी यह स्थिति और भी मजबूत कर ली थी। किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि शानतुंग में जर्मनी के जो अधिकार थे, उनके जापान के पक्ष में हस्तांतरण की मान्यता इन देशों ने किसी वैधानिक या अंतरराष्ट्रीय कानून के आधार पर नहीं दी थी, वरन् कालोचित कार्यसाधक काररवाई के रूप में थी।

दूसरी ओर, चीन के महायुद्ध में शामिल होने से कुछ कानूनी संबंध व कानूनी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। पहले तो, चीन के युद्ध-प्रवेश से उसके व जर्मनी के बीच के वे सभी समझौते समाप्त हो गये थे, जो युद्ध-संचालन या शांति-समझौते से मेल नहीं खाते थे। यदि चीन जर्मनी के विरुद्ध सन् १९१४ में ही युद्ध छेड़ देता, तो स्पष्ट है कि इस घोषणा मात्र से सन् १८९८ के समझौते और जर्मनी के चीन में राज्य-क्षेत्रातीतता-संबंधी अधिकार समाप्त हो जाते, संधि की शर्तों पर आधारित ये अधिकार दोनों देशों के बीच शांतिपूर्ण समझौते और दोनों की पारस्परिक सहमति के बाद ही फिर से चालू हो सकते थे। दूसरे, जर्मनी से युद्ध की घोषणा के बाद जर्मनी की सरकार की जो भी संपत्ति चीन में थी, वह अस्थायी रूप से चीनी प्रशासकीय अधिकार में आ गयी थी और उसे तत्काल जब्त कर लेना चीन सरकार की कार्यवाही पर निर्भर था। इस प्रकार चीन पट्टे के क्षेत्र पर अपनी सर्वोच्च सत्ता के अधिकार प्रयोग कर सकता था। किन्तु चीन ने सन् १९१७ तक युद्ध की घोषणा नहीं की और तब तक वह इस बात पर राजी हो चुका था

कि जर्मनी के हितों के संबंध में जर्मनी व जापान के बीच जो भी समझौता होगा, वह उसे मान्य होगा। चीन के युद्ध में शामिल होने से जापान से हुआ यह समझौता रद नहीं हुआ था, यद्यपि पेरिस में चीनी प्रतिनिधिमंडल ने यही तर्क दिया था कि चीन के युद्ध में शामिल हो जाने से वह स्थिति बिलकुल ही बदल चुकी थी जो सन् १९१५ की संधि के समय थी और जिसकी कल्पना संधि में की गयी थी; और........के सिद्धान्त के अनुसार यह समझौता लागू होना समाप्त हो चुका था और इसका वैधानिक अस्तित्व समाप्त हो गया था।[३]

(६) पेरिस-सम्मेलन व सुदूर पूर्व

जनवरी, १९१९ में पेरिस में शांति-सम्मेलन शुरू होने पर चीन के विभिन्न गुटों ने मिलकर एक प्रतिनिधिमंडल अपने देश का प्रतिनिधित्व करने के लिए वहाँ भेजा। इस प्रतिनिधिमंडल ने सम्मेलन से अनुरोध किया कि सन् १९१५ व सन् १९१८ में जापान व उसके बीच जो समझौते हुए हैं, वे रद कर दिये जायँ और शानतुंगप्रान्त में जर्मनी के जो पट्टे व अधिकार थे, वे अब उसे (चीन को) ही दे दिये जायँ। अपने पक्ष में उसने कई तर्क दिये। पहले तो चीन ने कहा कि जापान व जर्मनी के बीच समझौते के परिणाम को स्वीकार कर लेने के सन् १९१५ के समझौते के बावजूद, चीन के युद्ध में शामिल होने से ही जर्मनी को पट्टे पर दी गयी भूमि स्वयमेव सीधे चीन की हो गयी। क्योंकि चीन का दावा था कि शानतुंग-संधि व अन्य सभी संबंधित समझौते पूर्णरूपेण समाप्त हो गये, जिस दिन वह युद्ध में शामिल हुआ। इसीलिए सन् १९१८ के समझौते भी समाप्त हो गये, क्योंकि उनकी वैधता का आधार सन् १९१५ के समझौते थे, जो चीन के युद्धरत होने से समाप्त हो चुके थे। सन् १९१५ की संधि को अवैध करार देने के लिए प्रतिनिधिमंडल के तर्क ये थे कि एक तो युद्ध की धमकी देकर ही इस पर चीनी प्रतिनिधियों के दस्तखत कराये गये थे और दूसरे इस संधि को चीनी संविधान में वर्णित प्रक्रिया द्वारा अनुसमर्थन ही प्राप्त नहीं हुआ था।

शांति-सम्मेलन शुरू होने के पहले से ही जापान ने उन अधिकारों को कायम रखने के लिए प्रयत्न शुरू कर दिये थे, जिनके संबंध में मित्रराष्ट्रों ने वादे कर रखे थे। समाचारपत्रों में शानतुंग प्रान्त के लिए जापानी दावे के संबंध में विशेष कुछ भी प्रकाशित नहीं हुआ, किन्तु सम्मेलन में पेश करने के लिए एक दूसरा ही मसला तैयार किया गया था। यह था विभिन्न जातियों की समानता व बराबरी के सिद्धान्त को स्वीकार करने की माँग। यदि तत्कालीन समाचारपत्रों ने जापान की इच्छाओं को सही रूप में प्रतिबिम्बित किया था, तो ऐसा मालूम पड़ता था कि जापानी जनता को इस सिद्धान्त को स्वीकार करा लेने

में अधिक दिलचस्पी थी—और जनतंत्र के नाम पर लड़ने वाले राष्ट्रों द्वारा इस सिद्धान्त का विरोध करने की ऊपर से तो कोई संभावना लगती नहीं थी—युद्ध के फलस्वरूप भौतिक सुविधाएँ प्राप्त करने में कम दिलचस्पी थी। यह स्पष्ट करना आवश्यक नहीं है कि यह सिद्धान्त अमरीका व ब्रिटेन के विरुद्ध ही पड़ता था, क्योंकि उन्होंने एशियाई जनता के लिए अपने दरवाजे बन्द कर रखे थे। इस माँग का अन्य कोई महत्त्व हो ही नहीं सकता था, क्योंकि अन्य सभी बातों में जापान को राष्ट्रों के समाज में पूर्ण समानता का स्थान प्राप्त ही था। यह सही है कि यह स्थान चीन या एशिया के अन्य देशों को प्राप्त नहीं था, किन्तु जापान ने पहले ही उन सभी विशेष सुविधाओं के लिए अपनी माँग स्वीकार करवा रखी थी, जो किसी भी अन्य देश को प्राप्त थीं और इस स्थिति को अब त्याग देने का उसका कोई भी इरादा नहीं था।

जापान ने इस सिद्धान्त को सामने केवल इसीलिए रखा था कि शानतुंग प्रान्त में वह जो माँगें करने वाला था, उनका अमरीका द्वारा विरोध होने की संभावना थी और इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की माँग से अमरीका निष्प्रभाव होता था। यह सर्वविदित था कि चीन को पेरिस में अमरीकी सहायता व समर्थन की आशा थी और लैनसिंग-इशी समझौते के बावजूद जापान-सरकार को आशंका थी कि चीन को यह समर्थन प्राप्त हो सकता है।

जापान की माँगें संक्षेप में इस प्रकार थीं—एक तो, जापान चाहता था कि उत्तरी प्रशान्त महासागर में तथा शानतुंग प्रान्त में जर्मनी के कब्जे में जो भूमि थी और उसके जो भी अधिकार थे, उन्हें उत्तराधिकार के रूप में जापान को मिलने की बात शांति-संधि में शामिल कर दी जाय। इस माँग की पुष्टि में उसने एक तो महायुद्ध में अपने धन-जन की क्षति का हवाला दिया और दूसरे विभिन्न मित्रराष्ट्रों से हुए तत्संबंधी समझौतों को पहली बार औपचारिक रूप से खुलेआम पेश कर दिया और फिर कहा कि जर्मनी से मिलने के बाद वह किआओ चाओ को कुछ शर्तों के अधीन समझौते के बाद चीन को वापस लौटाने को तैयार है। दूसरी माँग जापान ने यह पेश की कि राष्ट्रों की समता और उनके नागरिकों के साथ उपयुक्त व्यवहार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय।

अमरीकी राष्ट्रपति विलसन के इस आधार पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने से दूसरी माँग अस्वीकार कर दी गयी कि इसका संबंध प्रवासियों के दूसरे देशों में जाकर बसने और उन पर लगे प्रतिबन्धों से है और इसलिए अमरीका को अमान्य है। इस अस्वीकृति से जापान को अपनी पहली माँग पर अड़ने में बल मिला और वही माँग वास्तव में जापान के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थी। जापान ने एक मित्रराष्ट्र की हैसियत से सुदूरपूर्व से जर्मनी का प्रभाव समाप्त करने और प्रशान्त महासागर को सुरक्षित रखकर यूरोप का एक

मार्ग खुला रखने का अपना उत्तरदायित्व निभाया था। इससे जापान के राजकोष को गहरी क्षति हुई थी तथा जापानी नागरिकों की जानें भी गयी थीं। फिर क्या मित्रराष्ट्रों में से उसे अकेला छाँट कर विजय के भौतिक फलों से वंचित कर दिया जायगा ? यदि ऐसा ही होना है तो जापान भविष्य में अकेला ही अपनी काररवाई करेगा और प्रस्तावित राष्ट्रसंघ से भी कोई संबंध नहीं रखेगा।

फियूमे के प्रश्न पर सम्मेलन से हटने के इटली के निर्णय की भाँति जब जापानी प्रतिनिधिमंडल ने भी सम्मेलन का बहिष्कार करने की धमकी देना शुरू की तो अमरीकी राष्ट्रपति विलसन कमजोर पड़ गये और विलसन की सहायता के बिना चीनी प्रतिनिधिमंडल पेरिस में हार गया, क्योंकि अन्य राष्ट्र तो युद्ध के समय हुए समझौतों के अनुसार जापान के समर्थन के लिए बाध्य थे ही। इस प्रकार, जापान जातीय समता का सिद्धान्त मनवाने में तो असफल हुआ, किन्तु "सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने" के उद्देश्य से महायुद्ध में शामिल होने का जो मुख्य लाभ वह पाना चाहता था, वह उसे प्राप्त हो गया। अर्थात्, सुदूरपूर्व स्थित जर्मनी के सभी स्वत्व व अधिकार उसे उत्तराधिकार स्वरूप प्राप्त हो गये।

(७) वार्साइ-संधि में सुदूर पूर्वीय व्यवस्था

संधि की शर्तों के अनुरूप, मुक्का-आंदोलन के फलस्वरूप क्षतिपूर्ति देने के लिए हुई उपसंधि में वर्णित, जर्मनी को देय की जिम्मेदारी से चीन मुक्त कर दिया गया; टींटसीन व हैनकाउ में जर्मनी को जो रिआयतें व सुविधाएँ प्राप्त थीं, वे भी चीन को वापस लौट गयीं; राजनयिक व राजदूतावास-संबंधी संपत्तियों को छोड़कर चीन में स्थित जर्मनी की शेष सभी सार्वजनिक संपत्ति चीन को मिल गयी; चीनी समुद्र में जर्मनी के जहाजों व चीन में जर्मनी के नागरिकों को युद्ध की अवधि में रोक रखने के हरजाने से चीन मुक्त कर दिया गया; मुक्का-विद्रोह के समय जो ज्योतिष शास्त्र व वेधशाला संबंधी यंत्र पीकिंग से ले जाये गये थे, वे चीन को वापिस मिल गये। सन् १८९८ तथा बाद के समझौतों के अनुरूप शानतुंग प्रान्त में जर्मनी ने जो भी आर्थिक व अन्य अधिकार प्राप्त किये थे और किआओचाओ खाड़ी का पट्टा जापान को मिल गया। जापान के इस उत्तराधिकार पर 'तीन की परिषद्' के समक्ष दिये गये इस मौखिक आश्वासन की सीमा अवश्य लगी थी कि जापान चीन से समझौते की सीधी बातचीत कर शानतुंग प्रान्त के राजनीतिक अधिकार चीन को ही वापस कर देगा और केवल आर्थिक सुविधाओं व अधिकारों का ही उपयोग स्वयं करेगा।

इस फैसले के पक्ष में राष्ट्रपति विलसन ने इसी मौखिक आश्वासन को तर्क रूप में प्रस्तुत किया और कहा कि राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद चीन को अंततः न्याय मिल ही

जायेगा। किन्तु, वह यह बिलकुल ही नहीं समझ पाये कि शानतुंग प्रान्त में आर्थिक अधिकार जापान को और राजनीतिक अधिकार चीन को देने का अर्थ है असली पदार्थ तो जापान को मिल जाना और चीन को उसकी छाया मात्र दिया जाना।

शांति-सम्मेलन के निर्णय का समाचार जब चीन पहुँचा तो वहाँ लोगों की यही प्रतिक्रिया हुई। पेरिस-सम्मेलन में शामिल प्रतिनिधियों की भी यही प्रतिक्रिया थी। चीनी प्रतिनिधियों ने पहले तो कहा कि शांति-संधि पर वे शानतुंग प्रान्त-संबंधी धारा का विरोध करते हुए हस्ताक्षर करेंगे, पर जब उन्हें शर्त लगा कर दस्तखत करने की अनुमति नहीं मिली तो उन्होंने संधि पर दस्तखत करने से ही इनकार कर दिया। चीन के क्रुद्ध जनमत के अनुरूप ही उन्होंने यह इनकार किया था। वार्साइ-संधि की शानतुंग-संबंधी धारा की प्रतिक्रिया चीन में छात्र-आंदोलन के रूप में प्रकट हुई, जिसमें चीन-स्थित जापानियों व जापान के हाथ की कठपुतली बने चीनी अधिकारियों का विरोध किया गया। जापान के विरुद्ध यह आंदोलन जनता को वास्तविक स्थिति समझाने के प्रचार तक ही सीमित था किन्तु जापान पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा और उसने पीकिंग सरकार पर दबाव डाला कि वह बलपूर्वक छात्रों का दमन करे। छात्रों का प्रतिवाद शुरू होने के बाद उसे व्यापारियों का समर्थन मिला, जिन्होंने पूरे देश में जापानियों का बहिष्कार शुरू कर दिया। इन दो तत्वों के दबाव के फलस्वरूप जापान ने शानतुंग-संबंधी समझौते की बातचीत का अपना वादा पूरा करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु पीकिंग-सरकार ने बातचीत का आधार ही यह बनाने को कहा कि प्रान्त पूरी तरह और बिना किसी शर्त के उसे वापस कर दिया जाय। वाशिंगटन-सम्मेलन तक यह गतिरोध जारी रहा।

(८) अंतरराष्ट्रीय बैंक-संगठन का पुनरुज्जीवन

महायुद्ध का एक महत्त्वपूर्ण प्रभाव और भी हुआ। पहले जब अंतरराष्ट्रीय बैंक-गुट में भाग लेने वाले अमरीकियों ने अमरीका सरकार की सहायता माँगी थी, तब राष्ट्रपति विलसन ने ही इसका विरोध किया था। किन्तु नवम्बर, १९१७ तक वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि चीन पर किसी एक देश का आर्थिक प्रभुत्व होने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि चीन को आर्थिक सहायता देने में अंतरराष्ट्रीय सहयोग वांछनीय हो। अतएव, अमरीकी परराष्ट्र मंत्रालय ने जर्मनी व रूस को छोड़ कर शेष राष्ट्रों से ऐसा संगठन बनाने के संबंध में बातचीत शुरू की; इस अंतरराष्ट्रीय गुट में अमरीका के शामिल होने से चार राष्ट्र हो गये। संगठन का उद्देश्य यह था कि चीन सरकार को आर्थिक सहायता देने व चीन के उद्योग तथा संचार-संवहन के विकास के लिए जो भी समझौते भूत, भविष्यत् व वर्तमान में हों, उन सबको एक स्थान पर केन्द्रित कर लिया जाय। सभी राष्ट्रों के

आर्थिक प्रतिनिधियों से बातचीत करने के बाद इस अंतरराष्ट्रीय बैंक-संगठन के कार्य व क्षेत्र से संबंधित शर्तों पर समझौता हुआ; इस में अपवाद केवल एक था। जापान चाहता था कि संगठन का काम केवल चीन में ही होने तथा मंचूरिया व पूर्वी भीतरी मंगोलिया के चीन के अविच्छिन्न भाग होने के बावजूद यह संगठन इन दो क्षेत्रों से बाहर रहे। कुछ दबाव पड़ने के बाद जापान राजी हो गया, पर उसे यह आश्वासन भी दिया गया कि इन दो क्षेत्रों में ऐसी कोई काररवाई नहीं की जायगी जो जापान के हितों के विरुद्ध हो।

संगठन का जन्म सन् १९२० में फिर हुआ, किन्तु इसे शुरू में कार्य करने के लिए क्षेत्र ही नहीं मिला, क्योंकि चीनी जनता को भय था कि चीन के विकास और सहायता के बहाने कहीं देश में अंतरराष्ट्रीय आर्थिक नियंत्रण की स्थिति तो नहीं लायी जा रही; अतएव, संगठन को चीन का सहयोग नहीं मिला। यह आशंका धीरे-धीरे कम हुई और संगठन के घोषित व वास्तविक उद्देश्य एक ही हैं। किन्तु संगठन तब भी निष्क्रिय ही रहा; अंशतः तो इसलिए कि उसके सदस्यों का राष्ट्र-स्तर पर सहायता देने में दिलचस्पी थी, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर नहीं; किन्तु बड़ा कारण संभवतः चीन की आंतरिक अव्यवस्था ही थी।

(९) संधि की चीनी अस्वीकृति के परिणाम

वार्साइ-संधि की शानतुंग-व्यवस्था-संबंधी धारा को चीनी जनता व सरकार द्वारा अमान्य करने और फलतः संधि पर हस्ताक्षर करने से इनकार करने का परिणाम यह हुआ कि चीन व जापान के महायुद्ध में शामिल होने से संबंधित कुछ प्रश्न हल होने से रह गये। इन प्रश्नों में सबसे जटिल था शानतुंग प्रान्त में जर्मनी के हित, अधिकार व स्वत्वों का निपटारा। इस प्रश्न का हल वाशिंगटन-सम्मेलन तक नहीं हो सका था और तब तक के लिए इस पर विचार भी स्थगित किया जा सकता है।

जर्मनी से सामान्य संधि-संबंध स्थापित करने का प्रश्न भी था। १५ सितम्बर, १९१९ को एक घोषणा द्वारा चीनी राष्ट्रपति ने युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी और जर्मनी से राजदूत व वाणिज्य-दूत-संबंध स्थापित हो गये। इसके बाद समझौते की बातचीत शुरू हुई जो २० मई, १९२१ के समझौते तक चलती रही; इस समझौते का चीनी राष्ट्रपति ने २८ जून को अनुसमर्थन किया। समझौते की सबसे अधिक महत्वपूर्ण शर्तें यह थीं कि जर्मनी ने चीन में अपने नागरिकों के कार्यकलाप से अपना कार्यक्षेत्र स्थायी रूप से समाप्त मान लिया और उन्हें चीनी कानून और अदालतों के आधीन कर दिया; जहाँ तक जर्मनी से आयात-निर्यात का संबंध था, जर्मनी ने चीन की सीमा शुल्क-संबंधी सर्वोच्च सत्ता भी स्वीकार कर ली।

'संधि की राज्यक्षेत्रातीतता-संबंधी अधिकार समाप्त करने वाली धारा इस प्रकार थी —एक दूसरे देश के क्षेत्र में रहने वाले दोनों राष्ट्रों के नागरिकों को यात्रा करने, बसने और उन सभी क्षेत्रों में उद्योग व व्यवसाय चलाने का अधिकार उस देश के नियम कानूनों के अधीन प्राप्त होगा, जहाँ किसी भी अन्य देश के नागरिकों को प्राप्त हो।

ये नागरिक तथा उनकी संपत्ति स्थानीय अदालतों के कार्यक्षेत्रों के अंतर्गत होगी; जहाँ वे रहते हैं, इन नागरिकों को उस देश के कानूनों का पालन करना होगा। वे उस देश के नागरिकों से अधिक कर, शुल्क या चन्दा नहीं देंगे।

जर्मनी के प्रतिनिधि के प्रश्नों के उत्तर में, एक टिप्पणी के रूप में, चीनी प्रतिनिधि, डाक्टर डब्लू. डब्लू. येन ने निम्नलिखित वक्तव्य दिया :—

(१) चीन सरकार आश्वासन देती है कि चीन में जर्मनी के नागरिकों के सभी शांतिपूर्ण कामों को सुरक्षा प्रदान की जायगी और चीन के कानूनों व अंतरराष्ट्रीय विधान के मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप जो संपत्ति पृथक् की जानी चाहिए, उसे छोड़ कर कोई अन्य संपत्ति नहीं ली जायगी; केवल शर्त यह है कि चीनी नागरिकों को जर्मनी में समान अधिकार मिलेंगे।

(२)......चीन में जर्मनी के नागरिकों के मुकदमें आधुनिक नियम-कानून के अनुसार आधुनिक अदालतों में नियमित कानूनी प्रक्रिया के अनुसार चलाये जायँगे और अपील करने का अधिकार सुरक्षित रहेगा। मुकदमों के दौरान में अदालतों द्वारा मान्यता प्राप्त जर्मनी के वकील व दुभाषिये सहायता कर सकेंगे।

(३) मिली-जुली अदालतों में ऐसे मुकदमों में, जहाँ एक या दोनों पक्ष जर्मनी के नागरिक हों, चीन सरकार भविष्य में प्रयत्न करेगी कि मामलों का ऐसा हल निकल आये जो सभी पक्षों को मान्य हो।[६]

इसी के साथ जर्मनी ने एक घोषणा द्वारा वार्साइ-संधि की १२८ से १३४ तक धाराओं की वैधता स्वीकार कर युद्ध के पहले चीन में जर्मनी को प्राप्त विशेष सुविधाओं को समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त इन घोषणाओं में यह व्यवस्था भी कर दी गयी कि युद्ध के दावों व चीन द्वारा जर्मनी के नागरिकों की संपत्ति अलग करने से उत्पन्न दावों को हल करने का आधार क्या हो। महायुद्ध की अवधि में जर्मनी के साथ व्यापार करने के संबंध में चीन ने जो भी नियम-कानून बनाये थे, उनकी समाप्ति से जर्मनी चीन के साथ व्यापार करने में अन्य राष्ट्रों के साथ सक्रिय होड़ में उतर आया।

इस प्राथमिक व्यावसायिक समझौते तथा बाद में टिप्पणियों के आदान-प्रदान के द्वारा अन्य प्रश्नों के संबंध में हुए समझौते से महायुद्ध की सुदूरपूर्व में समाप्ति हो गयी और केवल दो मित्रराष्ट्रों—चीन व जापान—के बीच कुछ प्रश्नों का सुलझाव शेष रह गया।

किन्तु चीन के उत्तर में मित्रराष्ट्रों के हस्तक्षेप से सुदूरपूर्व की राजनीति अस्थायी रूप से जटिल हो गयी थी। यह जटिलता रूस में बोल्शेविकों (साम्यवादियों) के शासनतंत्र के नियंत्रण के कारण उत्पन्न हुई थी। अतएव, वाशिंगटन-सम्मेलन की आवश्यकता व परिणामों पर विचार करने के पूर्व साइबेरिया के प्रश्नों पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

अट्ठारहवाँ अध्याय

रूस, सुदूर पूर्व में

(१) साइबेरिया के साधन व क्षेत्र

रूसी हितों व नीतियों के विकास को समझे बिना सुदूरपूर्व के आधुनिक इतिहास का अध्ययन अपूर्ण होगा। इसके अतिरिक्त, अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण से प्रथम महायुद्ध के समय तथा उसके बाद की घटनाओं के कारण रूसीक्षेत्र चीन व जापान की भाँति ही महत्त्वपूर्ण हो चुके थे। इन घटनाओं को समझने के लिए सन् १९१७ के पहले रूसी साम्राज्य में साइबेरिया की स्थिति समझ लेना आवश्यक है; सन् १९१४-१९१७ के विश्व-आंदोलनों में रूसी साम्राज्य के एक भाग की हैसियत से साइबेरिया की स्थिति उसकी आबादी की प्रकृति, उसके साधन आदि की जानकारी इसके लिए जरूरी है।

जैसा कि क्रोपोटकिन ने कहा है—"साइबेरिया बर्फ से जमा हुआ और केवल निष्कासित लोगों से बसा हुआ देश नहीं है, जैसाकि बहुत से लोग—अनेक रूसी भी—समझते हैं। इसके दक्षिणी भाग उतने ही उपजाऊ हैं जितने कि दक्षिणी कनाडा के और इसकी प्रकृति व भूगोल में दक्षिणी कनाडा से साम्य भी बहुत है।"[1] वास्तव में साइबेरिया जिस ढंग से साम्राज्य में शामिल किया गया और जिस ढंग से आबाद किया गया, उसी के कारण लोग इसे बिलकुल वीरान समझने लगे हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने के समय रूसी साम्राज्य के एक भाग के रूप में साइबेरिया का क्षेत्रफल ४८ लाख वर्ग मील का था और उसकी आबादी एक करोड़ से कुछ अधिक थी। यह क्षेत्र पश्चिम में यूराल पर्वत से पूर्व में ओखोत्स्क सागर तक और दक्षिण में मंगोलिया व मंचूरिया से लेकर उत्तर में ध्रुव सागर तक फैला था। इसके बड़े क्षेत्र गैर-आबाद थे और उनमें यूरोपीय लोग बस भी नहीं सकते थे। कुछ क्षेत्रों में रेनडियर (हिरन) व मुलायम व कीमती फर वाले जानवर बहुतायत से पाये जाते थे और शिकार व मछली मारने के लिए ये क्षेत्र बहुत उपयुक्त थे। दूसरे क्षेत्रों में इमारती लकड़ी बहुतायत से पायी जाती थी। दक्षिण के विस्तृत क्षेत्र खेती के लिए उपयुक्त थे। यहाँ की जलवायु ऐसी थी कि गेहूँ व अन्य अनाज आसानी से पैदा किये जा सकते थे और लाभप्रद खेती हो सकती थी।

शासन की दृष्टि से साइबेरिया दस प्रान्तों में बंटा हुआ था। सन् १९१५ में इनमें सबसे अधिक घना बसा हुआ प्रान्त था तोम्स्क, जिसकी आबादी लगभग ४० लाख थी।

(२) साइबेरिया पर अधिकार

आज जो संयुक्त राज्य अमरीका है, उसे जिस प्रकार पहले ब्रिटेन व बाद में अमरीका ने धीरे-धीरे अपने अधिकार में किया था, उसी प्रकार रूस ने साइबेरिया के क्षेत्रों पर धीरे-धीरे कब्जा जमाया था। कहते हैं कि सन् १५५५ तक में रूस यूराल पर्वत के पूर्व में बसी जातियों से प्रतिवर्ष एक हजार फर वाली खालों के रूप में कर वसूल करता था। किन्तु, इस क्षेत्र की विजय और वास्तविक अधिकार सन् १५८० के बाद ही शुरू हुए, जब यरमाक नामक एक कज्जाक लुटेरे ने अपने कुछ अनुयायियों के साथ यूराल पार कर इस क्षेत्र में प्रवेश किया और सिविर नामक स्थान को अपना शासन-केन्द्र बनाया; यूरोपीय रूस में यरमाक झंझटों में फँस गया था और इसीलिए वहाँ से भागा था। पूरे क्षेत्र का नाम सिबिर के ही नाम पर पड़ गया। यरमाक ने अपने पुराने अपराधों के लिए क्षमा के बदले में यह सारा क्षेत्र जार को देने को कहा। तब से एक शताब्दी तक धीरे-धीरे पर लगातार रूस इस क्षेत्र में बढ़ता गया। सन् १५८७ में तोबोल्सक नगर की नींव पड़ी; सन् १६३२ में याकुत्स्क नगर बसाया गया; सन् १६५१ में रूस बैकाल झील तक पहुँच गया और अर्कुत्स्क नगर बसा; सन् १६५५-१६५८ में बैकाल झील के आसपास बसी बुरियात जाति के कठिन प्रतिरोध के बावजूद वहाँ अधिकार स्थापित किया गया; इसके पहले बर्फ से जमे उत्तरी क्षेत्र में तेजी से रूसी प्रसार हो चुका था और सन् १६३९ में ओखोत्सक सागर तक रूस पहुँच चुका था और इस प्रकार पूरा उत्तरी क्षेत्र रूसी साम्राज्य में शामिल हो चुका था। इसके उपरान्त बकाल के पूर्व के क्षेत्र में दक्षिण की ओर से प्रवेश करने का प्रयास हुआ। मंचूरिया के उत्तर की ओर से बढ़ कर हाबारोव पूर्वी साइबेरिया में आमूर तक जा पहुँचा और उसके किनारे-किनारे चल कर उसुरी नदी तक आ गया और उसने उस नदी के क्षेत्र पर अधिकार करन का प्रयत्न किया।

अभी तक रूसी प्रसार का मुकाबला केवल असंगठित, निर्बल, अर्ध-जंगली जातियाँ ही कर रही थीं। किन्तु आमूर और उसुरी क्षेत्रों में पहुँचने पर रूसियों को मंचुओं के विरोध का सामना करना पड़ा जो तभी चीन पर अधिकार जमा चुके थे। उत्तरी मंचूरिया से रूस को निकाल बाहर करने में मंचुओं को सफलता मिली जो २७ अगस्त १८८९, की नर्चिस्क संधि से प्रकट था; अपने आधुनिक काल के इतिहास में चीन की किसी यूरोपीय देश से यह पहली संधि थी। इस संधि में रूस ने आमूर-क्षेत्र से हटना स्वीकार किया। सन् १८८९ से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के पहले २५ वर्षों तक रूस का इस ओर प्रसार थमा रहा।

किन्तु, जब यूरोप के देश चीन का द्वार पश्चिमी समागम के लिए खोलने के लिए प्रयत्नशील हुए और इस संपर्क-समागम के लिए लगायी गयी चीनी शर्तों की कड़ाई कम करवाने की कोशिश करने लगे, तभी रूस ने फिर से आमूर-क्षेत्र में दिलचस्पी दिखानी शुरू की। सन् १८४६ में आमूर नदी के मुहाने का सर्वेक्षण करने के लिए एक अभियान हुआ। अभियान का प्रतिवेदन जानबूझ कर प्रतिकूल बनाया गया; पूर्व में रूस की दिलचस्पी बढ़ाने का श्रेय केवल एक व्यक्ति को है और उस व्यक्ति का रूस के दूसरे प्रसार युग में वही महत्त्व है, जो प्रथम प्रसार युग में यरमाक का था। सन् १८४७ में जार ने मुरावीव को साइबेरिया का प्रधान शासक (गवर्नर-जनरल) नियुक्त किया। मुरावीव के निर्देशन में आमूर के मुहाने तक एक दूसरा अभियान हुआ और इसका प्रतिवेदन इतना अनुकूल था कि मुरावीव ने आमूर को साइबेरिया की सीमा बनाने का संकल्प कर लिया। सन् १८५० में निकोलाईवस्क नगर नदी के मुहाने पर बसाया गया। वह समझता था कि एक सर्वेक्षण-अभियान तथा एक बस्ती के आधार पर पूरे क्षेत्र पर रूसी अधिकार साबित नहीं किया जा सकता और इसलिए उसने पूरे क्षेत्र का उपनिवेशीकरण करने का निश्चय किया। इसके लिए उसे अपने ही साधनों पर निर्भर रहना था, क्योंकि रूस से इस काम के लिए साधन तथा लोग नहीं मिल सकते थे। इसलिए उसने साइबेरिया के निवासियों की एक सेना बनाने की अनुमति माँगी, जो उसे मिल गयी। यह सेना इस क्षेत्र की रक्षा व उपनिवेशीकरण के लिए बनायी गयी थी। इसके उपरान्त उसने कैदियों को मुक्त कर सेना में भरती करना शुरू किया और कज्जाकों को भी इस काम में लगाना शुरू किया। इनसे उसने आमूर के उपनिवेशीकरण व रक्षा का काम लिया। डिकैस्ट्रीज खाड़ी पर कब्जा कर वहाँ एलेक्जैण्ड्रोस्क नगर बसाया गया और खोज-पड़ताल व कब्जे के आधार पर सखालीन द्वीप पर अधिकार का दावा किया गया। यह काम सन् १८४७ में मुरावीव के साइबेरिया के शासक नियुक्त होने से लेकर सन् १८५६ में क्रीमिया के युद्ध तक चलता रहा। उस समय आमूर के मुहाने पर ब्रिटेन व फ्रांस के एक जहाजी बेड़े के आ जाने से समस्या जटिल हो गयी। शुरू के हमलों को रूसियों ने नाकाम कर दिया और अन्यत्र फँसे रहने के कारण ब्रिटेन व फ्रांस ने वहाँ से रूसियों को हटाने में विशेष दिलचस्पी नहीं ली।

सन् १८५८ में जब पश्चिमी राष्ट्र चीन से संधियों के पुनरीक्षण की माँग कर रहे थे, मुरावीव ने उत्तर में प्राप्त किये गये रूसी अधिकार क्षेत्रों को चीन से संधि द्वारा संगठित करने का प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप सन् १८५८ में आइगुन की संधि हुई, जिसमें उसुरी नदी तक रूस व चीन की संयुक्त सीमा आमूर पर स्थिर कर दी गयी; उसुरी के आगे यह सीमा अनिश्चित ही रही। सन् १८६० में पीकिंग-स्थित रूसी राजदूत काउण्ट पुटियाटिन ने चीन से एक पूरक संधि की जिसके द्वारा उसुरी के पूर्व का क्षेत्र रूसी

साम्राज्य में शामिल हो गया और रूस को पोसीट व पीटर महान् खाड़ियों पर अधिकार मिल गया। इससे रूस की सीमा बढ़ कर प्रशान्त महासागर तक आ गयी और उसका क्षेत्र कोरिया की सीमा तक पहुँच गया; इससे रूस को व्लाडीवोस्टक का बढ़िया प्राकृतिक बन्दरगाह मिल गया, यद्यपि बर्फ से मुक्त किसी प्रशान्त सागरीय बन्दरगाह की रूसी इच्छा पूरी नहीं हो पायी।

ध्यान देने की बात यह है कि यह सारा प्रसार केवल एक व्यक्ति, मुरावीव, के परिश्रम व सूझ-बूझ का परिणाम था और इससे यह साबित नहीं होता कि रूस की राष्ट्रीय नीति पूर्व में प्रसार की थी। वास्तव में, मुरावीव को इसके लिए राजधानी, सेण्टपीटर्सबर्ग, के प्रभावशाली अधिकारियों से लगातार टक्कर लेनी पड़ी थी। अधिकारियों के इस विरोध का एक कारण तो यह था कि शुरू में तो सबकी इच्छा यही थी कि रूस लगातार पश्चिम की ओर ही देखता रहे, और फिर, सन् १८५८-१८६० में यह आशंका उठ खड़ी हुई कि इस प्रसार के फलस्वरूप कहीं चीन से संघर्ष न हो जाय। मुरावीव ने जब चीन से हुई संधियों के फलस्वरूप प्राप्त क्षेत्रों को दरबार में एक तथ्य के रूप में पेश किया तब कहीं जाकर उसकी सेवाओं को मान्यता दी गयी, और तब उसे काउण्ट बनाकर काउण्ट मुरावीव आमुर्स्की का नाम दिया गया।

(३) साइबेरिया में बस्तियाँ

तीन शताब्दियों में जो यह विस्तृत क्षेत्र रूस के हाथ आया, उसमें बसने का काम, शुरू में तो बहुत धीरे-धीरे चला, पर सन् १८९० के बाद इसमें गति आ गयी। बुरियात जैसी स्थानीय जातियों को छोड़कर तीन अन्य जातियाँ भी इस उपनिवेशीकरण में शामिल हुईं। शुरू में आकर कज्जाक बसे। जो क्षेत्र रूस के अधिकार में आते जाते थे, वहाँ कज्जाक जाकर विरल रूप से बस जाते थे और उस क्षेत्र पर रूसी आधिपत्य कायम रखते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों के बाद जो तत्व यहाँ बड़ी संख्या में बसाये गये, वे बिलकुल भिन्न थे। सन् १८२३ व सन् १८८७ के बीच यहाँ यूरोपीय रूस से निष्कासित सात लाख व्यक्ति निर्वासित किये गये थे। इनमें से कुछ तो जरायम पेशा या अपराधशील थे, पर बहुत से राजनीतिक बन्दी भी थे और ऊँचे दरजे के लोग थे। इन लोगों के परिवार भी इनके साथ आये और अनेक यहाँ ही स्थायी रूप से आबाद हो गये। राजनीतिक निर्वासितों में प्रमुख थे सन् १८२५ के क्रांतिकारी आंदोलन की असफलता के बाद आने वाले दिसम्बरवादी, सन् १८६३ में तथा उसके बाद आने वाले पोलैण्ड के विरोधी तथा सन् १९१४ में युद्ध शुरू होने तक होने वाले एक के बाद एक क्रांतिकारी आंदोलनों में भाग लेनेवाले लोग। सन् १९१४ में राजनीतिक बंदियों व अन्य सभी

लोगों के लिए यह निर्वासन-प्रथा बन्द कर दी गयी, किन्तु तब तक इन लोगों के द्वारा जनसंख्या की दृष्टि से साइबेरिया काफी हद तक बसाया जा चुका था।

साइबेरिया में बसनेवाले तत्त्वों में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवासी किसान थे। किसानों का यह प्रवास-आंदोलन सन् १८६० में शुरू हुआ था और रूस में कृषक दास-प्रथा की समाप्ति से इसे प्रोत्साहन मिला था। इस आंदोलन में सन् १८६० से सन् १८६३ तक लगभग बीस लाख प्रवासी साइबेरिया पहुँचे थे। सन् १८७० के बाद के बीस वर्षों में लगभग पाँच लाख लोग और आये। इसके उपरान्त, रेलमार्ग के निर्माण हो जाने के फलस्वरूप यहाँ आकर बसने वालों की संख्या बढ़ती गयी। इस क्षेत्र के विकास में सबसे बड़ा योग निस्सन्देह ही ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग का था।

प्रशान्त महासागर तक रेलमार्ग बनाने का विचार सन् १८५८ में शुरू हुआ था। सन् १८७५ में पर्म-एकटरीनबर्ग-तिऊमेन-रेलमार्ग का प्रस्ताव हुआ, जो सन् १८८४ तक कार्यरूप में परिणत हुआ। सन् १८९० में यूराल पार का रेलमार्ग बढ़ाकर चेलियाबिंस्क तक पहुँचा दिया गया और सन् १८९१ में जार के शाही निर्णय के अनुसार ट्रांस साइबेरिया (साइबेरिया के एक से दूसरे छोर तक) रेल मार्ग चालू हो गया। रेलनिर्माण से सुदूरपूर्व के प्रान्तों से रूसी संबंधों का स्वरूप ही बदल गया। जैसे-जैसे यह विकास-कार्य होता गया प्रदेश की बस्तियाँ घनी होती गयीं और रेलमार्ग के साथ-साथ प्रवासियों की टोलियाँ पूर्व में आगे बढ़ती गयीं। इन बस्तियों और यातायात के साधनों के विकास से बैकाल झील के पूर्व में शाही सरकार का ध्यान आकृष्ट होता गया।

रेलमार्ग-निर्माण का मूल उद्देश्य आर्थिक था पर साम्राज्य के एकीकरण में भी इससे बहुत सहायता मिली। जब रेलमार्ग का निर्माण शुरू हुआ तब देखा गया कि उत्तरी मंचूरिया से होकर व्लाडीवोस्टक तक यह मार्ग बनाने में बहुत किफायत होगी और जापान से युद्ध में चीन के हार जाने से रूस के लिए मंचूरिया में रेलमार्ग बनाने की सुविधा प्राप्त करने में बड़ी आसानी हो गयी।[२] मंचूरिया से गुजरने वाले मार्ग का नाम चीनी पूर्वी रेलवे पड़ा।

सन् १८९६ के बाद रूसी सरकार ने सुदूरपूर्व में खुले प्रसार की नीति अपनायी। इससे रूस को मंचूरिया व कोरिया में कुछ ऐसे काम हाथ में लेने पड़े, जिनके कारण उसकी जापान से अनबन हो गयी। यह प्रसार-नीति रूसी किसान को पूर्व की ओर बढ़ने के लिए सरकारी प्रोत्साहन में भी परिलक्षित थी। सन् १९०४-१९०५ के युद्ध में हार के बाद साम्राज्य में शामिल क्षेत्रों को रूसी आबादी व रूसी रंगढंग देने के लिए किसानों को वहाँ बसने के लिए और भी अधिक बढ़ावा दिया जाने लगा। सन् १९०४ में साइबेरिया में रूसियों की जनसंख्या लगभग ६५ लाख थी। सन् १९०६ में प्रवास प्रोत्साहन पर १३

लाख डालर खर्च किये गये और सन् १९०८ में यह राशि बढ़ा कर एक करोड़ डालैर कर दी गयी और उस वर्ष लगभग पाँच लाख रूसी लोग आकर साइबेरिया में बसे।

जापान से हुए युद्ध में जापान ने साइबेरिया पर कभी हमला नहीं किया, किन्तु मंचूरिया के मोर्चे पर लड़ने के लिए अनेक रूसी सैनिक साइबेरिया होकर गुजरे और इस प्रकार उस क्षेत्र के संबंध में उनकी जानकारी हुई, जिसके बारे में युद्ध से पहले लोगों को अधिक ज्ञान नहीं था। इस युद्ध के कारण उपनिवेशीकरण को प्रोत्साहन मिला और सेना से निवृत्ति पाने के बाद अनेक रूसी सैनिक इसी क्षेत्र में आ कर आवाद हो गये।

पोर्ट्समाउथ संधि का साइबेरिया पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा, क्योंकि संधि की दो शर्तों का वहाँ की जनता के लिए विशेष महत्त्व था। एक तो सखलीन द्वीप के दक्षिणी भाग से रूस का अधिकार उठ गया; रूस ने सन् १८७५ में जापान से यह अधिकार कुराइल द्वीप पर नाममात्र के स्वामित्व के बदले में प्राप्त किया था। दूसरे, रूस को बाध्य होकर साइबेरिया के तटीय सागर में जापानी मछुवाहों को मछली पकड़ने का अधिकार देना पड़ा। युद्ध का एक परिणाम यह भी हुआ कि लिआओतुंग प्रायद्वीप में बन्दरगाह-संबंधी सुविधाएँ रूस से छिन गयीं; जिससे रूस के लिए व्लाडीवोस्टक का महत्त्व बढ़ गया और उसने इसे मजबूत किलेबन्दी कर के अपना नौसैनिक अड्डा बनाया।

सन् १९१४ तक साइबेरिया रूसी साम्राज्य का एक अविच्छिन्न अंग बन चुका था; उस पर सेण्टपीटर्सबर्ग से शासन होता था और इस शासन से पृथक् होने की कोई विशिष्ट इच्छा कहीं नहीं थी। कई अर्थों में साइबेरिया में बसे लोगों का रुतबा और रहन-सहन का स्तर यूरोपीय रूस के किसानों से बेहतर था। यूरोप की अपेक्षा यहाँ जोतें बड़ी-बड़ी थीं, क्योंकि भूमि काफी थी और बसने वाले कम थे। क्षेत्र का विकास बाद में होने और वहाँ के जीवन में पुरोगमन के फलस्वरूप व्यक्तिवाद को यहाँ प्रोत्साहन मिला था। और इस भावना को इस बात से भी बढ़ावा मिला था कि भूमि व्यक्ति की थी, उसका सामाजिक स्वामित्व नहीं था। इस प्रकार यहाँ के लोगों के जीवनयापन के ढंग और विचारों में तथा अमरीका या पश्चिमी कनाडा के उपनिवेशीकरण के शुरू के दिनों के लोगों के ढंग व विचारों में बड़ी समानता थी।

किन्तु निवासियों के रूसी और क्षेत्र के साम्राज्य के अविच्छिन्न अंग होने के बावजूद लोग पूर्ण स्वतंत्रता की इच्छा व्यक्त किये बिना अधिक सार्वभौम अधिकार तो चाहते ही थे। अनेक लोग कहते थे, और उनकी बात उचित भी थी, कि जब तक बिलकुल स्थानीय विषयों पर भी निर्णय दूरस्थ सेण्टपीटर्सबर्ग में होता रहेगा, क्षेत्र के सम्यक् विकास में बाधा पड़ती रहेगी। सार्वभौम अधिकारों के लिए पहले-पहल सन् १९०५ में माँग की गयी और इस आंदोलन के फलस्वरूप प्रथम ड्यूमा (निर्वाचित स्थानिक स्वायत्त शासन

संस्था) की स्थापना हुई। इसके उपरान्त साइबेरिया के निवासियों ने माँग की कि क्षेत्र को पूर्ण स्वायत्त शासन मिले और केन्द्रीय शासन का नियंत्रण केवल उन्हीं विषयों तक सीमित रहे, जिनमें केन्द्रीय हित निहित हों। जो उन्होंने माँगा वह नहीं मिला, फिर भी, सन् १९०५ में जेम्स्त्वो (निर्वाचित विधानसभा) प्रणाली लागू हुई और वांछित दिशा में एक कदम उठाया गया।

महायुद्ध के शुरू के काल में, रूसी क्रांति के पहले तक साइबेरिया में असंतोष के कोई विशिष्ट चिह्न प्रकट नहीं हुए थे। जिस प्रकार साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों के लोग उनसे की गयी माँगें पूरी करते थे, उसी प्रकार साइबेरिया के लोग भी करते थे। युद्ध से उनका संबंध जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्धबंदियों के निवास के लिए स्थान देने और व्लाडीवोस्टक से ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग द्वारा अमरीका व जापान में खरीदी हुई युद्ध-सामग्री को युद्धक्षेत्र तक ले जाने के लिए मार्ग देने तक सीमित था।

रूस ने जापान से बहुत अधिक युद्धसामग्री खरीदी, किन्तु बाद में वह इस सामग्री के दाम चुकाने में असमर्थ हो गया। परिणाम-स्वरूप, उसे उत्तरी मंचूरिया से और पीछे हटना पड़ा। युद्ध के लिए खरीदे गये आवश्यक गोला-बारूद व शस्त्रास्त्र के दाम आंशिक रूप से चुकाने और इस सामान की जापान से आमद जारी रखने के लिए रूस ने चांगचुन से लगभग हारबिन तक की अपनी रेल-संपत्ति जापान के सिपुर्द कर दी और जापान की ट्रांस साइबेरिया-मार्ग तक पहुँचने की पुरानी बलवती कामना लगभग पूरी हो गयी।

(४) रूसी क्रांति का साइबेरिया पर प्रभाव

मार्च, १९१७, में रूस में जो क्रांति हुई, उसकी साइबेरिया में भी वही प्रतिक्रिया हुई जो यूरोपीय रूस में हुई थी, किन्तु उसके परिणाम भिन्न हुए। क्रांति का एक नये युग के प्रारम्भ के रूप में स्वागत व आह्वान किया गया और इसलिए इस अवसर का लाभ उठा कर साइबेरिया का पृथक् राज्य बनाने का कोई प्रयत्न तत्काल नहीं किया गया। गया। शुरू में जो क्रांतिकारी सरकारें बनीं, उनका हार्दिक स्वागत किया गया या उन्हें निष्क्रिय स्वीकृति प्राप्त होती रही। किन्तु क्रांति के कारण एक सीमा तक अनिश्चितता और इसलिए अस्थिरता तो आही गयी थी। तत्काल, जेम्स्त्वो जैसी स्थानिक संस्थाओं ने कार्यसंचालन अपने हाथों में ले लिया। इसके अतिरिक्त, अनेक नगरों में अधिकारियों के निरीक्षण तथा जनता व क्रांति के हितों की रक्षा के लिए स्थानीय समितियों (सोवियतों) की स्थापना हो गयी; ये अधिकारी अधिकांशतः पिछली सरकार द्वारा नियुक्त लोग थे।

जिस तरह साइबेरिया बसाया गया था, उसमें स्वभावतः ही, वहाँ अनेक उग्र व क्रांतिकारी व्यक्ति तथा समुदाय मौजूद थे। क्रांति के तत्काल बाद्र ऐसे लोगों की संख्या

वढ़ गयी कि अनेक निर्वासित लोग व्लाडीवोस्टक तथा ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग से रूस पहुँचने का प्रयास करने लगे और उनमें से काफी साइवेरिया में ही रुक गये।

दस वर्ष पुरानी अपनी स्वशासन की माँग को अपनी सरकारें बना कर पूरी कर लेने के अतिरिक्त साइबेरिया के लोगों ने उस संविधानसभा में अपने प्रतिनिधि भी भेजे, जो सारे रूस के लिए संविधान बनाने और शासनतंत्र का रूप निश्चित करने के लिए बुलायी गयी थी।

इस संविधानसभा के भंग होने और यूरोपीय रूस में बोल्शेविक-दल का नियंत्रण हो जाने के बाद साइबेरिया को लेकर तथा साइबेरिया में ही अशांति शुरू हुई। नगरों में मजदूरों के बीच ऐसे तत्व मौजूद थे, जो बोल्शेविकों के साम्यवादी कार्यक्रम के समर्थक थे; किन्तु किसान सामान्यतः समाजवादी विचारधारा के होते हुए भी कम्युनिस्ट-विरोधी थे। यह कहना असंभव है कि यदि उन्हें अपना भाग्यनिर्णय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता तो परिणाम क्या होता; वस्तुतः, उन पर बाहरी प्रभाव पड़ा तथा कुछ स्थानों पर पहली क्रांति के बाद आये लोगों ने सक्रिय भाग लिया। बाहर से आने वाले लोग दो विचारधाराओं के थे; एक तो जार द्वारा निष्कासित उग्र विचारों के लोग थे और दूसरे वे रूढ़िवादी लोग थे, जो पहली क्रांति के समय रूससे भाग आये थे या केरेंस्की-सरकार के पतन के बाद बोल्शेविकों द्वारा निर्वासित कर दिये गये थे। पहले वाले तत्व साइबेरिया के उग्र विचारवालों से मिल कर सुदूरपूर्व में साम्यवादी राज्य स्थापित करना चाहते थे; दूसरे वाले तत्व पुराने शासन को फिर से स्थापित करना चाहते थे।

(५) विदेशी हस्तक्षेप का प्रस्ताव

साइबेरिया में विदेशी हस्तक्षेप सन् १९१८ तक नहीं हुआ और गंभीरतापूर्वक इस ओर तब तक ध्यान भी नहीं दिया गया, जब तक लेनिन व ट्राट्स्की के नेतृत्व में रूस महायुद्ध से अलग नहीं हो गया। किन्तु क्रांति के फौरन बाद युद्धपोत व्लाडीवोस्टक भेज दिये गये। शुरू में, अमरीकी नौसेना के सह-नौबलाध्यक्ष (रीअर–एडमिरल) नाइट ने नगर के विभिन्न राजनीतिक गुटों से संपर्क कायम करने का प्रयास किया और जब इन गुटों में मतभेद बढ़ने लगे, उन्होंने एक योजना पेश की कि मित्र राष्ट्रों की सहायता व समर्थन से वे एक हो जायँ। अमरीकी सरकार ने इस योजना के अनुसार काम नहीं किया और साइबेरिया में स्थिति बदलती रही और लगने लगा कि साम्यवाद की जड़ें वहाँ गहरी बैठ जायँगी।

सन् १९१८ के शुरू में साइबेरिया में मित्र-राष्ट्रों के हस्तक्षेप के सुझाव औपचारिक रूप से आने लगे। ब्रिटेन की संसद् में १४ मार्च को बालफर ने सुझाव दिया कि उस क्षेत्र

में जर्मनी का प्रभुत्व होने से रोकने के लिए मित्रदेश जापान से हस्तक्षेप करने को कहा जाय। यह कहा गया कि जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्धबंदियों को बड़ी संख्या में मुक्त कर दिया गया है और वे पूर्व की ओर बढ़ रहे हैं; यदि समय रहते काररवाई न की गयी तो इन युद्धबंदियों का साइबेरिया पर आधिपत्य हो जायगा। उस समय प्रस्ताव केवल जापान द्वारा हस्तक्षेप का था, मित्रराष्ट्रों के संयुक्त हस्तक्षेप का नहीं।

हस्तक्षेप के संबंध में जापान का दृष्टिकोण जाब्ते से प्रकट करते हुए परराष्ट्रमंत्री, बैरन गोटो, ने १ मई, १९१८ को कहा—रूस में "पुनस्संगठन के काम में जापान को प्रोत्साहन, सहायता व समर्थन देना ही चाहिए" और "सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने" के उत्तरदायित्व को जापान को निबाहते रहना चाहिए। इसके बाद फ्रांस व ब्रिटेन की सहमति से जापान ने अमरीका से प्रस्ताव किया कि मित्रराष्ट्रों के हितों की रक्षा के लिए जापानी सैनिक व्लाडीवोस्टक में उतार दिये जायँ। जब राष्ट्रपति विलसन ने इस नीति के औचित्य व विवेक के संबंध में शंका प्रकट की, तब जापान सरकार ने यह रुख अपनाया कि जब तक मित्रराष्ट्र आपस में यह तय नहीं कर लेते कि उचित कदम क्या होगा, वह (जापान) इस संबंध में कोई काररवाई करने के लिए तत्पर न होगा। किन्तु क्रांति होने के पूर्व ही, रूसी मोर्चे पर साइबेरिया होकर भेजने के लिए जो सामान व्लाडीवोस्टक जमा कर लिया गया था, उसकी सुरक्षा के लिए ब्रिटेन व जापान के नौसैनिक अप्रैल में ही उस नगर में पहुँचा दिये गये थे। जापान ने १६ मई, १९१८ को चीन से समझौता करके संभावित घटनाओं का सामना करने के लिए अपनी तैयारी भी कर ली; इस समझौते के अनुसार चीन व जापान उत्तर में अपने हितों की रक्षा के लिए और चीनी पूर्वी रेल मार्ग से फौजें भेजने में सहयोग देने के लिए सहमत हो गये।

ग्रीष्म में अमरीका ने स्वयं ही मित्रराष्ट्रों द्वारा साइबेरिया में सक्रिय हस्तक्षेप करने का प्रस्ताव किया। अमरीका के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन का कारण यह बताया गया कि रूसी सरकार के चेकोस्लोवाकों के प्रति दृष्टिकोण बदल जाने से उन लोगों के लिए जो संकटापन्न स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, उससे उन्हें बचाना आवश्यक था। चेकोस्लोवाक सेना में वे लोग थे, जो पहले के आस्ट्रिया के साम्राज्य की प्रजा थे और जो या तो रूसियों द्वारा बंदी बना लिये गये थे और या जो अवसर पाते ही आस्ट्रिया की सेना से भाग निकले थे और जिन्हें रूस में शरण मिली थी। क्रांति के बाद रूस के सैनिक पराभव पर इन लोगों ने इच्छा प्रकट की उन्हें रूस छोड़ कर फ्रांस पहुँच कर पश्चिमी मोर्चे पर मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ने के लिए सुविधाएँ प्रदान की जायँ। इस इच्छा के पीछे यह आशा निहित थी कि मित्रराष्ट्रों की विजय के उपरान्त चेक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो सकेगा।

बोल्शेविकों के शासन में आने के शीघ्र बाद चेकोस्लोवाकों ने रूस छोड़ने की अनुमति

चाही। यह अनुमति उन्हें फरवरी में प्राप्त हो गयी और उन्होंने पूर्व की ओर प्रस्थान किया। किन्तु मार्च में रूस व जर्मनी के बीच ब्रेस्ट-लिटोव्स्क-संधि हो गयी। अब जर्मनी ने रूस पर दबाव डालना शुरू किया कि चेक-सेना को रूस से हटने की जो अनुमति दी गयी थी वह वापस ली जाय। सोवियत्-शासन इस दबाव में आ गया और मई में चेक-सेना को निश्शस्त्र करने का प्रयास किया गया। इस पर चेक-सेना ने चेलियाबिंस्क से क्रासनोयार्स्क तक के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार स्थिति यह हो गयी कि चेक-सेना ने उस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, जो शत्रु-क्षेत्र बन गया था; किन्तु वहाँ से निकलने के लिए ट्रांस-साइबेरिया-रेलमार्ग पर नियंत्रण आवश्यक था। कहा यह गया कि उनकी मुख्य कठिनाई जर्मनी व आस्ट्रिया के वे युद्धबंदी थे, जो मुक्त करके सशस्त्र कर दिये गये थे, किन्तु, वास्तविकता यह थी कि रूस के भीतर सशस्त्र सेना के रूप में मौजूद रहना ही उनके लिए असली खतरा था।[3] हस्तक्षेप के संबंध में अमरीकी दृष्टिकोण बदलने का कारण यह स्थिति ही थी।

कोई कदम उठाने के पूर्व जापान व अमरीका ने अपने इरादों की औपचारिक रूप से घोषणा कर दी। अमरीकी घोषणा में पहले तो यह प्रस्ताव किया गया कि सामान्य सैनिक-अभियान विवेकपूर्ण न होगा, क्योंकि इसका प्रभाव रूस की सेवा नहीं उसका उपयोग मात्र होगा और इससे मित्रराष्ट्रों की शक्ति का अनुचित विभाजन हो जायगा। इसके फलस्वरूप पश्चिमी मोर्चे से अनावश्यक रूप से ध्यान हट जायगा। अमरीका के मौलिक दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति के रूप में यह कह कर घोषणा में आगे बताया गया :

> आज की स्थिति में अमरीकी सरकार रूस में सैनिक काररवाई केवल इसलिए आवश्यक समझती है कि चेकोस्लोवाक-सेना को हर संभव सुरक्षा व सहायता दी जाय, क्योंकि उस पर जर्मनी व आस्ट्रिया के सशस्त्र युद्धबन्दी आक्रमण कर रहे हैं और स्वशासन व स्वरक्षा के लिए रूसी लोग जो भी सहायता स्वीकार करें, वह सहायता उन्हें दी जाय। चाहे व्लाडीवोस्टक में हो या मर्मांस्क में या आर्केंजिल में, अमरीकी सैनिकों का एकमात्र लक्ष्य होगा उस सैनिक-सामग्री की रक्षा करना, जो बाद में रूसी सेना के काम आ सके और ऐसी सहायता प्रदान करना, जो स्वरक्षा संगठन के लिए रूसियों को ग्राह्य हो।[4]

अमरीकी घोषणा में यह आश्वासन भी दिया गया था कि रूस की राजनीतिक प्रभुसत्ता, उसके आंतरिक मामलों या उसकी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

जापान सरकार ने भी हस्तक्षेप के उद्देश्य स्पष्ट करते हुए इसी प्रकार के आश्वासन दिये कि वह रूस के आंतरिक मामलों में दखल नहीं देगा और रूस की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता का सम्मान करेगा। दोनों पक्षों ने घोषणा की कि हस्तक्षेप के सीमित उद्देश्यों की पूर्ति होते ही सैनिक हटा लिये जायँगे।[5]

यूरोपीय राज्यों ने इस सैनिक-अभियान के लिए अपनी-अपनी सैनिक टुकड़ियाँ भेजीं और अमरीका व जापान ने, समझौते के अनुसार, साढ़े सात-सात हजार सैनिक व्लाडीवोस्टक भेज दिये। अमरीकी सैनिकों की संख्या तो समझौते के अनुरूप ही रही, किन्तु जापान ने घोषित उद्देश्यों व हस्तक्षेप के महत्त्व से कहीं अधिक सैनिक उतार दिये, जिससे साइबेरिया में जापान के हस्तक्षेप के गुप्त उद्देश्यों की आशंका करने वालों के सन्देह तत्काल पुष्ट हो गये। जापान ने साइबेरिया में जो सैनिक भेजे, उनकी संख्या का अनुमान ३० से ९० हजार तक लगाया गया।

साइबेरिया में हस्तक्षेप के औचित्य के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि ब्रेस्ट-लिटोव्स्क-संधि के उपरान्त सशस्त्र किये गये जर्मनी व आस्ट्रिया के युद्धबंदियों से चेकोस्लोवाक-सेना की रक्षा करनी थी। किन्तु वास्तविकता यह थी कि हस्तक्षेप के पीछे असली उद्देश्य साम्यवाद का डर था। "स्वशासन के रूसी प्रयासों को स्थायित्व प्रदान करने का अर्थ पश्चिमी राष्ट्रों के लिए यही था कि जो भी गुट साइबेरिया में सोवियत्-शासन की स्थापना का विरोध करे, उसे सहायता व समर्थन प्रदान किया जाय। जापान का भी यही दृष्टिकोण था, यद्यपि बाद में जापानी नीति का एक उद्देश्य साइबेरिया के समुद्रों में मछली मारने का अधिकार प्राप्त करना भी प्रकट हुआ।

कुछ अपवादों को छोड़कर, व्लाडीवोस्टक-स्थित, गैर-जापानी, विदेशी सेनाएँ व्लाडीवोस्टक में ही रहीं, यद्यपि चेकोस्लोवाक-सेना को सरलता पूर्वक बाहर निकाल लाने के लिए कुछ छोटे-मोटे अभियान उस क्षेत्र के भीतर भी हुए। किन्तु दूसरी ओर जापानी सेना बड़ी संख्या में क्षेत्र के भीतर घुस गयी। आमूर के मुहाने पर, निकोलाइव्स्क में फौजें उतार दी गयीं; ब्लागोवेंस्क व एलेक्सिव्स्क पर कब्जा पर लिया गया; हाबारोव्स्क पर अधिकार कर लिया गया। इसके अतिरिक्त, ट्रांस-साइबेरिया रेलमार्ग पर सुनियोजित बढ़ाव शुरू हुआ। हर स्थान पर, हर अवसर पर, जापानी साइबेरिया के स्वामी के रूप में व्यवहार करते थे और इस प्रकार उनके प्रति अविश्वास व दुर्भावना बढ़ती जा रही थी।

(६) आंतरिक संघर्ष

इसी बीच साइबेरिया के निवासियों ने संगठित होना शुरू कर दिया था। अनेक स्थानों पर स्थानीय सोवियतों की स्थापना हो गयी थी और उन्होंने शासन-संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था। किन्तु दूसरी ओर अनेक स्थानों पर गैर-साम्यवादी शासन स्थापित करने के भी प्रयत्न हुए। क्षेत्र की आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप न करने के वचन के बावजूद, इन साम्यवाद-विरोधी शासनों को मित्रराष्ट्रों में से किसी-न-किसी की सहायता मिलती ही रही और जापान तो सुनियोजित ढंग से उन

सभी शासनों को प्रोत्साहित करता रहा को जापान से उसकी शर्तों पर समझौता करने को तैयार थे। इन स्थानीय 'सरकारों' का विशद वर्णन अनावश्यक है। जनरल होरवाथ ने चीनी भूमि पर साम्यवादी शासन हारबिन के लिए कायम किया और उसे कुछ समय तक जापानी सहायता मिलती रही। इस सहायता के बावजूद या इस सहायता के कारण ही होरवाथ को साइबेरिया में कोई जन-समर्थन प्राप्त नहीं हुआ। होरवाथ की असफलता का एक कारण यह भी था कि साइबेरियावासी किसी भी ऐसे काम से डरते थे, जिससे प्रतिक्रियावाद की गंध आती हो। होरवाथ की 'त्राता' की भूमिका समाप्त होने पर जापानियों को अपना मंतव्य पूरा करने के लिए अन्यत्र देखना पड़ा। जून, १९१८ के मित्रराष्ट्रीय अभियान के पूर्व ओम्स्क में सर्व-साइबेरिया सरकार स्थापित करने के प्रयास हुए। यह शासन साम्यवाद-विरोधी था। इस शासन में बाद में ऊफा में बनी सरकार भी शामिल कर दी गयी। इस संयुक्त सरकार के नियंत्रण के लिए पाँच-सदस्यीय संचालन-समिति बनी; इन पाँच में से तीन सदस्य समाजवादी विचारधारा के थे। इस समिति ने एडमिरल कोलचाक को अपना युद्धमंत्री बनाया। १७ नवम्बर, १९१८ को कोलचाक ने विप्लव द्वारा सरकार का तख्ता उलट दिया और स्वयं संचालक बन बैठे; उन्होंने साम्यवादियों को साइबेरिया से निकाल बाहर करने का इरादा प्रकट किया।

कोलचाक की शक्ति देख कर जापान ने उसका समर्थन शुरू किया, यद्यपि कज्जाक अटामान सेमेनोव को भी जो चीटा में प्रभुत्व जमाये हुए था, जापान धन व सामग्री दे रहा था। सेमेनोव और कोलचाक के ध्येय एक ही थे और इसलिए उन दोनों को मिलाकर उनसे मिल-जुल कर काम कराने के प्रयत्न किये गये; सेमेनोव को नाममात्र के लिए कोलचाक के अधीन कर दिया गया। किन्तु, सेमेनोव ने इस शासन को सहयोग व सहायता नहीं दी जिसके कारण इस सरकार का अंततः पतन हो गया। किन्तु कोलचाक-सरकार के पतन का एक मुख्य कारण यह था कि उसने अपने बूते के बाहर का काम अपने ऊपर ओढ़ लिया था; यूराल के पूर्व में साम्यवादियों को खत्म करने का जो बीड़ा उसने उठाया था, उसमें शुरू में तो कुछ सफलता मिली, क्योंकि उस समय साम्यवादी लाल सेना का पुनस्संगठन हो रहा था, किन्तु पुनस्संगठन का काम पूरा होते ही कोलचाक की सेना की हार शुरू हो गयी और अंततः उसका भी वही परिणाम हुआ जो साम्यवाद को सामाप्त करने के अन्य प्रयासों का हुआ था।

कोलचाक की पराजय के बाद बैकाल झील से यूराल तक के पश्चिमी साइबेरिया के क्षेत्र ने साम्यवाद के पक्ष में होने और रूस में आत्मसात् होने के पक्ष में घोषणा कर दी। इस घोषणा के उपरान्त साइबेरिया के पूर्वी क्षेत्र में होनेवाले संघर्ष से पश्चिमी साइबेरिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पूर्वी क्षेत्र में राजनीतिक स्थायित्व आने में समय लगा और

काफी समय तक वहाँ उपद्रव व अशांति रही। सेमेनोव चीटा में अपना प्रभुत्व जमाये रहा और कोलचाक के पराभव से लाभ उठाकर उसने उसकी सेना के अवशेष अपनी सेना में भरती कर लिये। चीटा के आसपास के क्षेत्र में बड़ी अशांति रही, क्योंकि उस क्षेत्र पर सेमेनोव आतंकवादी ढंग से शासन करता था। कुछ क्षेत्र पर जापानी सैनिकों ने कब्जा कर रखा था या रूसी व्यक्ति नाममात्र के लिए शासनाध्यक्ष बना दिये गये थे जो जापानी शक्ति व सहायता से शासन चलाते थे। इन क्षेत्रों के बाहर संगठित सरकार का अस्तित्व भी नहीं था।

विघटन की इस परिस्थिति में 'पक्षपातियों' के गिरोहों का जन्म हुआ; ये साइबेरिया के देशभक्त या लूट-खसोट करनेवालों के गिरोह होते थे, जो कभी अलग-अलग और कभी मिलकर काम करते थे; इन लोगों की विचारधारा साम्यवादी थी और ये मास्को सरकार से संबद्ध शासन पूर्वी एशिया में स्थापित करना चाहते थे। सन् १९१९ में ये गिरोह अपना प्रभुत्व पूर्व की ओर बढ़ाते गये और उनके साथ कुछ-कुछ व्यवस्था आती गयी। अंततः सेमेनोव भी चीटा से खदेड़ दिया गया और वहाँ एक नयी सरकार का केन्द्र बना।

जब ये गिरोह पश्चिम की ओर बढ़ रहे थे, इनका सामना एक अन्य आंदोलन से हो गया, जिसका प्रणेता क्रासनौसचैकोफ नामक एक व्यक्ति था, जो मास्को के निर्देशानुसार पूर्व की ओर बढ़ रहा था। वह मूलतः साम्यवादी था, किन्तु उसका यह विश्वास हो गया था कि प्रगति की इस विशिष्ट स्थिति में साइबेरिया का विकास पूँजीवादी माध्यम से ही संभव है। वह यह भी समझ गया था कि मित्रराष्ट्र सुदूरपूर्व में एक साम्यवादी शासन को आसानी से सहन नहीं करेंगे। इसलिए उसने मास्को-शासन को समझाया कि जापान व रूस के बीच व्यवधान स्वरूप एक जनतंत्रीय राज्य की स्थापना वांछनीय होगी; और इस काम में वह सफल भी हो गया; इन गिरोहों को भी वह यह समझाने में सफल हो गया कि बैकाल झील के पूर्व के क्षेत्र में साम्यवाद की स्थापना का प्रयत्न उपयुक्त न होगा। उसके प्रयत्नों के फलस्वरूप साइबेरिया का सुदूरपूर्वीय गणतंत्र स्थापित हुआ। किन्तु अभी तक रूस का जो क्षेत्र साइबेरिया नाम से जाना जाता था, वह पूरा का पूरा इस नये राज्य में शामिल नहीं था। पहले तो बैकाल झील के पश्चिम के क्षेत्र ने रूस में शामिल होने का फैसला कर लिया; फिर मास्को से हुए समझौते के अनुसार[६] कामचाटका का पहले का प्रान्त रूसी क्षेत्र के रूप में सुरक्षित कर दिया गया; तीसरे, समुद्र तट के प्रान्त पर कुछ दिनों तक जापान नाममात्र के रूसी कठपुतली शासकों के द्वारा अपना कब्जा जमाये रहा; उधर सुदूरपूर्वीय रूसी क्षेत्र के एक अंग पचासवें अक्षांश के उत्तर के सखालीन द्वीप के क्षेत्र पर जापान ने निकोलाईव्स्क घटना-संबंधी समझौते के होने तक अपना कब्जा जमाये रखा।[७] परिणाम यह हुआ कि इस नये सुदूरपूर्वीय गणतंत्र का क्षेत्र बैकाल झील से

पूर्व में समुद्री प्रान्त तक एक सँकरी पट्टी के रूप में रह गया। जापानी सेनापति ने इसकी स्थापना पर प्रसन्नता प्रकट की, पर जापान सरकार ने इस शासन को मान्यता नहीं दी और इसकी सत्ता के प्रसार को रोकने का प्रयास किया। किन्तु, सन् १९२० के अंत तक व्लाडीवोस्टक-शासन ने चीटा-सरकार को साइबेरिया की सरकार के रूप में मान्यता दे दी। इसके उपरान्त संघर्षरत गुटों से समझौते और सेमेनोव को उसके अधिकार-क्षेत्र से खदेड़ देने के फलस्वरूप वहाँ एक सुगठित राज्य की स्थापना संभव हुई।

फलतः, केरेंस्की शासन के चुनाव-कानून के अनुरूप संविधानसभा में प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था हुई। इस सभा का पहला अधिवेशन १२ फरवरी, १९२१ को हुआ जिसमें निर्दलीय किसानों का बहुमत था। सभा ने नवस्थापित गणतंत्र के लिए संविधान बनाने का काम शुरू किया और १७ अप्रैल को संविधान स्वीकार कर लिया; यह सभा इस राज्य के शासन के रूप में १५ नवम्बर, १९२२ तक कार्य करती रही, जबकि सुदूरपूर्वीय गणतंत्र औपचारिक रूप से सोवियत्-संघ में शामिल हो गया।

दो वर्ष तक यह राज्य मान्यता प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा, ताकि सन् १९१७ के बाद से सुदूरपूर्व के मामलों में बोलने के जिस अधिकार से रूस वंचित हो गया था, वह उसे फिर प्राप्त हो जाय। इस गणराज्य ने वाशिंगटन-सम्मेलन के लिए भी अपने प्रतिनिधि इस आशा से भेजे कि उसे मान्यता प्राप्त हो जायगी, उसके प्रतिनिधि उस सम्मेलन में भाग ले सकेंगे और जापान के साइबेरिया में हस्तक्षेप कायम रहने के प्रश्न पर वे अपना दृष्टिकोण स्पष्टतः रख सकेंगे। जब यह मान्यता नहीं मिली तो इस राज्य के अस्तित्व को कायम रखने का एक बड़ा कारण खत्म हो गया। इसके अतिरिक्त, कुछ समय तक यह भी समझा गया था कि चीन और जापान से समझौते की बात एक गैर-साम्यवादी शासन के माध्यम से करने में सोवियत्-शासन को अधिक सुविधा रहेगी।

(७) सोवियत् रूस व जापान

इस सुदूरपूर्वीय गणतंत्र व जापान के प्रतिनिधियों के दो सम्मेलन हुए; इनमें से पहले सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि केवल पर्यवेक्षक के रूप में शामिल था, किन्तु दूसरे में उसने सक्रिय भाग लिया। पहला सम्मेलन डैरन में अगस्त, १९२१ में शुरू हुआ और अप्रैल, १९२२ तक बीच-बीच में मिलता रहा; इस प्रकार यह सम्मेलन वाशिंगटन-सम्मेलन के समय भी जारी रहा। सम्मेलन के समय जो प्रश्न प्रस्तुत थे, उन पर कोई समझौता नहीं हो सका, क्योंकि जापान के प्रस्ताव अत्यधिक आपत्तिजनक थे और वह उन्हें स्वीकार्य बनाने के लिए उनमें कोई भी संशोधन करने को तैयार नहीं था। इस सम्मेलन में भाग लेने के पीछे जापान का उद्देश्य यह था कि साइबेरिया का प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन

में इस आधार पर न उठाया जा सके कि संबंधित पक्ष इस समय आपसी समझौते की बातचीत में संलग्न हैं। इसमें जापान को आंशिक सफलता भी मिली।

दूसरा सम्मेलन चांग-चुन में सितम्बर, १९२२ में हुआ। यह बिलकुल भिन्न कारणों से भंग हुआ। उस समय तक जापान में प्रभावशाली व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि साइबेरिया में जापानी अभियान अत्यधिक व्ययसाध्य व निरर्थक था और उससे जापान के अन्य देशों के संबंधों पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। अतएव जापान-सरकार अब समझौते के लिए काफी हद तक तैयार थी। किन्तु वह रूस की इस माँग को स्वीकार नहीं कर रही थी कि इस राज्य को मान्यता प्रदान की जाय और पूर्ण समता के आधार पर इस राज्य से स्वतंत्र रूप से संबंध स्थापित किये जायँ; और न वह इस बात पर तैयार थी कि निकोलाईव्स्क के नरसंहार के लिए क्षतिपूर्ति प्राप्त किये बिना ही वह सखालीन से हट जायगी, यद्यपि वह साइबेरिया से हटने के लिए तैयार थी। अतएव यह दूसरा सम्मेलन भी असफल रहा। किन्तु समझौते के अभाव में भी जापान ने साइबेरिया से अपने सैनिक हटा लिये और १ नवम्बर, १९२२ तक उस क्षेत्र में अपना हस्तक्षेप लगभग समाप्त कर दिया; अमरीकी सैनिक दो वर्ष पूर्व, जनवरी, १९२० में ही हटाये जा चुके थे। इस प्रकार सन् १९२२ के अंत तक साइबेरिया फिर से रूस का अविच्छिन्न अंग बन चुका था; किन्तु सखालीन पर जापान का कब्जा अब भी बना हुआ था और कुछ प्रश्नों का हल अब भी शेष था, जो केवल सीधी आपसी बातचीत से ही संभव था और यह बातचीत तभी संभव थी जब जापान रूस की सोवियत्-सरकार को मान्यता दे देता।

सोवियत्-शासन को मान्यता देने के लिए जापान बाध्य हो गया, जब चीन ने यह मान्यता प्रदान कर दी; २० जनवरी, १९२५ को मान्यता दी गयी; इस बीच सन् १९२३ व सन् १९२४ में बीच-बीच में समझौते की बातचीत चलती रही। जापान व सोवियत् संघ के प्रतिनिधियों के बीच पीकिंग में हुई इस उपसंधि की पहली धारा में दोनों देशों के बीच राजदूत व वाणिज्यदूत रखने का समझौता हुआ; दूसरी धारा में रूस ने पोर्ट्समाउथ-संधि को मान्यता दी, किन्तु सन् १९०५ से सन् १९१७ के बीच हुई अन्य संधियों के संबंध में तय हुआ कि फिर एक सम्मेलन करके उन पर विचार कर लिया जाय; तीसरी धारा में कुछ समय के लिए साइबेरिया के समुद्र में मछली मारने का जापान का अधिकार स्वीकार कर लिया गया; चौथी धारा में वे शर्तें स्वीकार की गयीं जो बाद की वाणिज्य संधि का आधार बननेवाली थीं; पाँचवीं धारा में स्वीकार किया गया कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष के संगठनों-संस्थानों के विरुद्ध प्रचार की अनुमति नहीं देगा और अपने अधिकार-क्षेत्र में ऐसे संगठनों या गुटों का अस्तित्व सहन नहीं करेगा जो दूसरे पक्ष के किसी भी क्षेत्र की सरकार होने का दावा करते हों; छठी धारा में रूस ने यह आश्वासन दिया था कि

वह वन, खनिज व अन्य प्राकृतिक साधनों के उपयोग या शोषण की सुविधाएँ जापान को देने के लिए तैयार है। इस समझौते के संलेख व नत्थियों में यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि सार्वजनिक ऋणों व संपत्तियों का हिसाब कर लिया जायगा, जापानी सैनिक सखालीन से हट जायँगे, उत्तरी सखालीन में मिट्टी के तेल की जितनी खानें हैं, उनमें से आधी जापानियों द्वारा उपयोग में लायी जायँगी, तथा कुछ वर्षों तक जापान को नये क्षेत्रों में खनिज तेल आदि खोजने की सुविधा रहेगी। रूसी अधिकारियों ने सन् १९२० के उस निकोलाईव्स्क नरसंहार के लिए क्षमा-याचना भी की, जिसके फलस्वरूप जापान ने उत्तरी सखालीन पर अधिकार जमा रखा था।

रूस से संधि संबंध स्थापित करने में जापान वहुत झिझकता रहा था। रूसी क्रांति के प्रति भय और अविश्वास की जो भावना जापान सरकार में व्याप्त थी वह किसी भी अन्य सरकार में नहीं थी। और सोवियत् दर्शन के 'खतरनाक विचारों' का इतना अधिक भय भी किसी अन्य सरकार को नहीं था। महाद्वीप की राजनीति और यह भावना कि मास्को से समझौता कर लेने के वाद राजद्रोहात्मक प्रचार पर अधिक सफलतापूर्वक नियंत्रण पाया जा सकेगा ही वे कारण थे जिनसे जापानी शासन सोवियत् शासन से वात करने और उसे मान्यता देने के लिए राजी हुआ।

(८) सोवियत् रूस व चीन (१९१९-१९३३)

रूसी क्रांति के समय चीन में रूस के जो हित व अधिकार थे, उन्हें दो श्रेणियों में वाँटा जा सकता है। एक तो सामान्य संधि-प्रणाली में भाग लेकर रूस ने अनेक लाभ उठाये थे, जैसे कि राज्यक्षेत्रातीतता का अधिकार, सीमा-शुल्क-व्यवस्था में सुविधा, मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति में भाग तथा पीकिंग में दूतावास की रक्षा के लिए सैनिक रख सकने की सुविधा। दूसरे, उत्तरी मंचूरिया में रूस के कुछ विशिष्ट अधिकार थे, जिनमें सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण था चीनी पूर्वी रेलमार्ग। रूसी शासन ने मंगोलिया में भी दिलचस्पी रखी थी और सन् १९११ के मंगोलिया-स्वातंत्र्य-संघर्ष को प्रोत्साहित किया था। रूस-मंगोलिया-चीन के संबंध सन् १९१५ की संधि में उल्लिखित थे, जिसमें चीनी अधिराजत्व में मंगोलिया की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार की गयी थी।

रूस में बोल्शेविकों की विजय से चीन में एक गलत स्थिति पैदा हो गयी थी। मार्च की अस्थायी रूसी सरकार को जो मन्यता दे दी गयी थी, वह केरेंस्की के शासन के वाद आने वाले सोवियत्-शासन को प्राप्त नहीं हुई थी; चीन पहले वाली सरकार के राजनयिक व राजदूत-प्रतिनिधियों को ही मान्यता देता रहा यद्यपि इन लोगों को नये सोवियत्-शासन के प्रतिनिधित्व का कोई अधिकार नहीं था। यह स्थिति सन् १९२० तक कायम रही।

किन्तु इस बीच चीन में रूस की स्थिति बराबर कमजोर होती जा रही थी। पहले तो परिस्थितिवश, रूसी वाणिज्य-अदालतें संतोषजनक रूप से कार्य नहीं कर पा रही थीं, इसलिए चीन-सरकार ने रूसियों के राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार समाप्त कर रूस को मिली रिआयतें वापस ले ली थीं। इसी प्रकार चीनी पूर्वी रेलमार्ग सोवियत्-शासन के नियंत्रण से निकल चुका था। जिस समय मित्रराष्ट्रों ने हस्तक्षेप आरम्भ किया, यह रेलमार्ग, जिसका प्रशासन रूसियों के हाथ में था और जिसे पीकिंग के आनफू-शासन की सहायता से जापान अपने नियंत्रण में लेना चाहता था, एक मित्रराष्ट्रमंडल के अधीन कर दिया गया था। यह मंडल सन् १९२० को तक इस रेलमार्ग का नियंत्रण करता रहा, जब अमरीका ने अपना हस्तक्षेप समाप्त कर दिया। फिर, साइबेरिया के रेलमार्गों के मित्रराष्ट्रीय-नियंत्रण के संबंध में हुए समझौते में यह व्यवस्था होने के कारण कि समझौता "साइबेरिया से विदेशी सैनिकों के हटने के बाद रद"[८] हो जायगा, चीन ने इस रेलमार्ग पर अपना दावा पेश किया। २ अक्तूबर, १९२० वाणिज्य मंत्रालय ने रूसी-एशियाई बैंक से यह समझौता कर लिया कि मान्यता-प्राप्त रूसी शासन से समझौता होने तक इस रेलमार्ग पर चीन का ही सर्वोच्च नियंत्रण-निर्देशन रहे। रेलमार्ग को व्यावसायिक संस्थान के रूप में चलाने के लिए नये प्रबन्ध किये गये और रेल-क्षेत्र की पुलिस-व्यवस्था आदि के शासकीय अधिकार चीन सरकार ने ले लिये। यह अस्थायी व्यवस्था सोवियत्-शासन से नया समझौता होने तक चलती रही। रूसी स्थिति कमजोर होने का तीसरा प्रमाण बाहरी मंगोलिया की हैसियत में हुए परिवर्तन में प्रकट थी। आनफू-शासन के पतन तक चीन-सरकार ने मंगोलिया के संबंध में कड़ा रुख कायम रखा। सन् १९१५ की संधि का उल्लंघन कर चीन ने मंगोलिया के क्षेत्र में अपनी फौजें उतार दीं और वहाँ के शासन पर इतना दबाव डाला कि उसने अपनी सर्वोच्च सत्ता को समाप्त कर देने के लिए आग्रह किया।

किन्तु इसी समय, जब सुदूरपूर्व में रूस का प्रभाव पिछले ७५ वर्षों में सबसे कम था, संभवतः अपनी कमजोरी के कारण, सोवियत्-शासन ने चीन के संबंध में अपनी नयी नीति निर्धारित की, जिससे अंततः उसे वही प्रतिष्ठा और प्रभाव प्राप्त हो गया, जो पहले जारकालीन रूस को प्राप्त था। सन् १९१९ में घोषित और सन् १९२० में फिर प्रतिपादित नीति के अनुसार रूस ने उन सभी हितों और अधिकारों को त्याग दिया, जो जार-सरकार ने चीन की सर्वोच्च सत्ता व क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर आघात करके प्राप्त किये थे और रूसी जनता की ओर से चीन की संत्रस्त जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इस घोषणा का तात्कालिक प्रभाव इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं हुआ कि चीन-सरकार रूसियों के राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार को अपने कानून द्वारा समाप्त करने और चीनी पूर्वी रेल-

मार्ग का प्रशासन अपने हाथ में ले लेने को प्रोत्साहित हुई; चीन में समझा यही गया कि रूस की इस नीति की घोषणा के कारण वह इन अधिकारों के छीने जाने पर आपत्ति नहीं करेगा। किन्तु रूसी घोषणा की उदारता व सदाशयता का पीकिंग पर यह प्रभाव नहीं पड़ा कि वह सोवियत्-शासन को मान्यता प्रदान कर दे या मान्यता प्रदान करने के लिए समझौते की बात शुरू करे। इसका एक कारण निस्संदेह ही पश्चिमी राष्ट्रों का पीकिंग पर यह दबाव था कि नये रूसी शासन को मान्यता न दी जाय। इस दबाव का दोहरा असर था, क्योंकि वाशिंगटन-सम्मेलन तक पीकिंग शासन सहायता, समर्थन व संधि पुनरीक्षण के संबंध में चीन पूँजीवादी देशों की ओर ही ताकता था। किन्तु सन् १९२२ के बाद, चीन में वाशिंगटन-सम्मेलन के निर्णयों पर विचार के फलस्वरूप तथा इन राष्ट्रों में फूट पड़ने के कारण इस दबाव का असर कम होने लगा। इस फूट के लक्षणों के रूप में स्वर्ण-फ्रांक-विवाद, लिनचेंग डाकू-काण्ड के समय राजनयिक प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण तथा कैण्टन-सीमाशुल्क-व्यवस्था-संबंधी विवाद गिनाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, सन् १९२२ के बाद चीन में पश्चिमी राष्ट्रों की मान-प्रतिष्ठा भी गिरने लगी थी और काम करने के पश्चिमी ढंगों की बड़ी बदनामी होने लगी थी।

फलतः, वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद तक, रूस पीकिंग में अपने पैर नहीं जमा पाया था। सन् १९२१ के अंत तक तो निश्चय ही रूस ने अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए कोई सीधा व मजबूत कदम नहीं उठाया, यद्यपि सुदूरपूर्वीय गणतंत्र के माध्यम से, अप्रत्यक्ष रूप से चीन से संबंध स्थापित करने के प्रयत्न अवश्य किये गये थे। मान्यताहीन सुदूर-पूर्वीय गणतंत्र से कोई संबंध रखने के जापान के विरोध के बावजूद इग्नेशियस यूरिन के नेतृत्व में आये प्रतिनिधिमंडल का अनौपचारिक रूप से स्वागत किया गया। पुरानी रूसी सरकार के राजदूत से पीकिंग सरकार का संबंध-विच्छेद कराने में यूरिन सफल भी हो गये और अंततः, वह उस नीति के संचालन में योग देने के दायित्व के भी भागी हुए, जिसके फलस्वरूप राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त हुई और चीनस्थित अनेक रूसियों के हितों का हनन हुआ, किन्तु चीन व सुदूरपूर्वीय गणतंत्र के बीच संधि-संबंध कायम करने में वह सफल नहीं हुए। पारस्परिक संबंधहीनता की दीवार में एक बड़ा छेद तब हुआ, जब सिंकियांग के तूचुन तथा ताशकन्द के सोवियत् के बीच हुई व्यापारिक संधि का चीन-सरकार ने अनुसमर्थन कर दिया। किन्तु इससे भी चीन व रूस के संबंधों पर अप्रत्यक्ष प्रभाव ही पड़ा।

चीन व रूस के बीच राजनयिक संबंध फिर से स्थापित करने का असली काम सन् १९२२ में आरम्भ हुआ जब चतुर व जानकार राजनयिक प्रतिनिधि जौफ को पीकिंग भेजा गया। तब से सीधे दोनों देशों के बीच बातचीत का युग शुरू हुआ; यह बातचीत बीच-

वीर्च में सन् १९२४ तक चलती रही, जब समझौते की बात सफल हो गयी। जौफ और उनके बाद लिओ कराखान ने जो उपाय अपनाये वे इस प्रकार थे–(१) पश्चिमी पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा नये रूस के सन् १९१९–१९२० की घोषणाओं में व्यक्त साम्राज्यवाद-विरोधी उद्देश्यों के भेद पर लगातार जोर देते रहना; (२) चीन व जापान से समझौता-वार्ता में लगातार एक को दूसरे के विरुद्ध उभाड़ते-भड़काते रहना; (३) चीन के बुद्धिजीवियों से मैत्री कर उनकी सहायता प्राप्त करना और इस सहायता से चीन सरकार पर दवाव डालना; तथा (४) कैण्टन से संपर्क स्थापित करना और इस संपर्क को पीकिंग-सरकार को सक्रिय बनाने में काम में लाना।

चीन के आंतरिक राजनीतिक घटनाक्रम पर सोवियत् रूस के प्रभाव का विवरण आगे दिया जायगा;[१] यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि इस प्रभाव से चीन में रूस के हितों को समर्थन प्राप्त हुआ और राजनयिक संबंध फिर से स्थापित करने में सहायता मिली।

सोवियत्-प्रतिनिधियों को चीन-रूस-मैत्री में उपस्थित तीन बड़ी बाधाएँ हटानी पड़ीं। एक बाधा थी अन्य देशों की भाँति चीन में भी यह भय व्याप्त होना कि साम्यवादी प्रचार से स्थापित व्यवस्था पर आँच आयेगी, किन्तु यह भय वाशिंगटन-सम्मेलन के पहले जिस मात्रा में व्याप्त था उसकी तुलना में सन् १९२२ के बाद कम हो गया था। दूसरी बाधा थी मंगोलिया का प्रश्न, और तीसरी बाधा थी चीनी पूर्वी रेलमार्ग का भविष्य।

सन् १९२०–१९२१ में मंगोलिया के प्रश्न का एक नया अध्याय शुरू हुआ था। सन् १९१५ के चिहली-समझौते के अनुसार मंगोलिया के चीनी अधिराजत्व के अधीन जो सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हुई थी, उसे चीन ने सन् १९१९ में ही समाप्त कर दिया था, किन्तु पहले सुरक्षा-आयुक्त ह्स् शू-त्सेंग से लेकर अन्य अधिकारियों तक सभी ने शुरू से ही मंगोलिया में जिस कठोरता से शासन किया, उससे मंगोल-जनता उनके विरुद्ध होने लगी; और चीनी अधिराजत्व के प्रति सहानुभूति का कोई भाव तो जनता में पहले भी नहीं था। फलतः, श्वेत रूसी सेनापति, बैरन उनगर्न फौन स्टर्नबर्ग को उस समय बाहरी मंगोलिया में अपना नियंत्रण स्थापित कर लेने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई थी, जब सुदूर पूर्वीय गणतंत्र के सैनिकों के समक्ष सेमेनोव को अपनी चीटा-स्थित सरकार कायम रखना असंभव हो गया था। सन् १९२० में "स्वतंत्र" मंगोलिया की घोषणा हो चुकी थी और हुतुखत् (सजीव बुद्ध) वहाँ शासनाध्यक्ष बन गये थे, यद्यपि वास्तविक नियंत्रण श्वेत रूसियों का ही था। इस प्रकार "लाल" साइबेरिया सरकार पर हमला करने के लिए मंगोलिया एक अच्छा अड्डा बन गया था। रूसी सेना के पुनस्संगठन के बाद सोवियत्-लाल सेना ने मंगोलिया के श्वेत रूसी शासन पर हमला बोला और सन् १९२१ में बैरन

उनगर्न खदेड़ दिये गये तथा लाल सेना की सहायता से अस्थायी क्रांतिकारी मंगोलियाई जन-सरकार की स्थापना हुई। इस प्रकार मंगोलिया की स्वाधीनता फिर से स्थापित हुई, रूसी क्रांति के तत्काल बाद रूस का जो प्रभाव क्षीण हुआ था, वह फिर से कायम हो गया। लाल सेना ने स्वतंत्र सरकार की सहायता ही नहीं की, स्वयं मास्को ने इस सरकार से संधि-संबंध स्थापित कर लिये। किन्तु चीन मंगोलिया को अपना अविच्छिन्न अंग मानता था और इसलिए रूस की नयी सरकार को मान्यता देने के बड़े प्रश्न पर विचार करने के पहले वह मंगोलिया के संबंध में कोई समझौता चाहता था।

चीनी पूर्वी रेलवे के संबंध में कठिनाई इसलिए उठ खड़ी हुई कि सन् १९१९ की रूसी घोषणा से चीन ने यह समझा था कि वह बिना किसी प्रकार का हरजाना या क्षति-पूर्ति माँगे रेलमार्ग चीनी जनता को वापस देने को तैयार है[१०] किन्तु सन् १९२० में रूस ने माँग की कि इस संबंध में संधि हो जानी चाहिए और सन् १९२२ में जौफ के पीकिंग आने पर रूसियों ने इस रेलमार्ग पर अपने प्रशासकीय अधिकार फिर से स्थापित करने में लगातार बढ़ती हुई दिलचस्पी दिखायी।

इस प्रकार, इन तथा रूस को मान्यता देने के प्रश्न पर सन् १९२२ से सन् १९२४ तक बीच-बीच में समझौते की बात चलती रही और अंत में रूसी प्रतिनिधि की इच्छा के अनुकूल शर्तें तय हो गयीं और औपचारिक रूप से समझौता हो गया। ३१ मई, १९२४ को जिस उपसंधि पर हस्ताक्षर हुए, उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त दोनों देशों के बीच सामान्य राजनयिक व वाणिज्य-दूत-संबंध स्थापित करने की व्यवस्था थी। सार्वजनिक संपत्तियों व संधियों के संबंध में व्यवस्था करते हुए इस समझौते के अनुसार जार-सरकार से हुई वे सभी संधियाँ रद कर दी गयीं, जो चीन से या चीन के संबंध में की गयी थीं और जिनसे चीन के सार्वभौम हितों व अधिकारों पर आँच आती थी; इसी प्रकार रूस-संबंधी चीन की संधियाँ भी रद कर दी गयीं।[११] मंगोलिया से रूसी सेना के हटने की भी व्यवस्था इस उपसंधि में थी और यह भी कि एक देश दूसरे देश की स्थापित संस्थाओं के विरुद्ध प्रचार नहीं होने देगा। सीमा-संबंधी विवरण तैयार करने के लिए, जल-संचार-संवहन के उपयोग के लिए तथा चीनी पूर्वी रेलमार्ग का प्रश्न हल करने के लिए बाद में एक सम्मेलन करने का निश्चय हुआ; रेलमार्ग के प्रश्न को हल करने के लिए यह आधार भी माना गया कि (१) यह रेलमार्ग विशुद्ध व्यावसायिक कार्य ही माना जायगा; (२) उस पर चीन का प्रशासकीय नियंत्रण होगा; (३) चीन को अपना धन लगाकर इस रेलमार्ग को ले लेने का अधिकार होगा; (४) रेलमार्ग के प्रबन्ध की जो व्यवस्था सन् १८९६ में निश्चित हुई थी, वह अस्थायी रूप से कायम रहेगी, केवल उसमें उन्हीं बातों में संशोधन कर दिये जायँगे, जो नयी रूसी सरकार के प्रतिकूल पड़ती हों; और (५) रूस व चीन

के पारस्परिक मसलों का समझौता किसी तीसरे पक्ष को बीच में लाये बिना किया जायगा।[१२] उपसंधि में यह व्यवस्था भी की गयी कि मुक्का-आंदोलन-संबंधी क्षतिपूर्ति में रूस अपना भाग छोड़ देगा और यह भाग शिक्षा पर व्यय किया जायगा।

चीनी पूर्वी रेलमार्ग के संबंध में हुआ समझौता तभी कार्यान्वित किया जा सकता था, जब उसकी शर्तें चांग त्सो-लिन को स्वीकार होतीं; चांग ने सन् १९२२ में मंचूरिया को स्वाधीन घोषित कर दिया था; सन् १९२४ में चांग को जिन राजनीतिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनका लाभ उठा कर २० सितम्बर को उनसे एक पृथक् व बृहत् समझौता कर लिया गया, जिसमें रेलमार्ग के नियंत्रण व संचालन की शर्तें निश्चित कर दी गयीं।[१३]

चीन से हुए इस समझौते तथा सन् १९२५ में जापान से हुए समझौते से उत्तरी मंचूरिया में रूस की स्थिति फिर से मजबूत हो गयी। और यद्यपि सन् १९२४ के समझौते के अनुसार बाहरी मंगोलिया को चीन का अविच्छिन्न अंग माना गया था और वहाँ से रूसी सैनिकों को हटाने की व्यवस्था की गयी थी, मंगोलिया की सरकार व मास्को के बीच, परामर्श देने के लिए, निकट संबंध स्थापित होने का कोई निषेध नहीं था। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में चीन का नियंत्रण वहाँ फिर से स्थापित नहीं हुआ। फलतः, सन् १९१५ की तुलना में वहाँ रूस की स्थिति अधिक मजबूत हुई। जब इस स्थिति को उन अन्य उपलब्धियों के संदर्भ में देखा जाय, जो रूसी प्रतिनिधियों ने प्राप्त कर ली थीं, तब स्पष्ट हो जायगा कि सन् १९१७ की क्रांति के तत्काल बाद के वर्षों में रूस का जो प्रभाव क्षीण हुआ था, उसे इन प्रतिनिधियों ने बड़े सुचारु रूप से फिर स्थापित कर दिया था; इन उपलब्धियों में प्रमुख थीं (१) सन् १९२४ में कुओमिनतांग से घनिष्ठ परामर्श-संबंधों की स्थापना; (२) पीकिंग में राजदूतावास की स्थापना, जिससे उत्तरी चीन में प्रभाव बढ़ाया जा सकता था; तथा (३) उत्तर-पश्चिम में फेंग यू-ह्सियांग से मैत्री-संबंधों की स्थापना।

किन्तु लगभग तत्काल ही मुख्य चीन में रूस का प्रभाव बहुत कम हो गया।[१४] सन् १९२७ में कुओमिनतांग से रूसी व साम्यवादी प्रभाव समाप्त कर दिया गया और रूसी सलाहकार वापस रूस भेज दिये गये। उसी समय, चांग त्सो-लिन ने पीकिंग-स्थित रूसी दूतावास व उसके आसपास की इमारतों पर आक्रमण कर दिया और फिर सोवियत्-सरकार से संबंधविच्छेद कर लिया।

किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, बाहरी मंगोलिया में चीन से हुए समझौते के बावजूद रूस ने अपनी स्थिति कायम रखी तथा उसे सुदृढ़ बनाया, तथा मुकडेन के अधिकारियों से खटपट व कठिनाइयों के बावजूद उत्तरी मंचूरिया में रूस ने मंचूकुओकी

स्थापना तक अपनी स्थिति बनाये रखी। मंचूरिया में रेलमार्गों से संबंधित नीति, साइबेरिया के समुद्र में मछली मारने के अधिकार तथा व्लाडीवोस्टक में एक बैंक की शाखा बन्द करने के संबंध में जो मतभेद जापान से उत्पन्न हुए उन्हें शांतिपूर्ण समझौते से सुलझा लिया गया। दूसरी ओर, मंचूरिया के प्रश्न पर रूस व चीन के बीच जो मतभेद पैदा हुए, उनके कारण सन् १९२९ में युद्ध हो गया।

इससे पहले, सन् १९२५–१९२६ में ही, चांग त्सो-लिन ने जो नीतियाँ अपनायी थीं और जिनके फलस्वरूप पूर्वी चीनी रेलवे के रूसी प्रबन्धक इवानोव को गिरफ्तार कर लिया गया था, उनसे गंभीर संकट उत्पन्न हो चुका था। रूस के कड़े विरोध के समक्ष चांग के झुक जाने से ही स्थिति बिगड़ने से रुकी थी। सन् १९२८ में चांग की हत्या के बाद, फिर संकट पैदा हो गया था, जब सोवियत्-सहायता से "तरुण मँगोलियावासियों" ने मंचूरिया के बरगा जिले को अलग काट कर वहाँ स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने की कोशिश की थी। किन्तु सबसे अधिक गंभीर संकट तब आया था, जब चांग ह्सूएह-लियांग के शासन में मंचूरिया के तीन प्रान्तों ने नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार का नियंत्रण स्वीकार कर लिया था। विभिन्न देशों से संधियों द्वारा स्थापित संबंधों के फलस्वरूप जिन अधिकारों का अपहरण हुआ था, उन्हें फिर से प्राप्त करने के राष्ट्रीय कार्यक्रम की आंशिक सफलता के बाद यह निश्चय किया गया था कि चीनी पूर्वी रेलमार्ग पर नियंत्रण का अधिकार फिर से प्राप्त कर लेने को भी इस कार्यक्रम में शामिल कर लिया जाय। सन् १९२९ के वसन्त में उत्तरी मंचूरिया स्थित रूसी वाणिज्य-दूतावासों पर आक्रमण कर उन्हें बन्द कर दिया गया। इसके उपरान्त रूसी वाणिज्य-दूतावासों के अधिकारियों व रेलमार्ग के एक संचालक को गिरफ्तार कर लिया गया। फिर, १० व ११ जुलाई को चीनी पूर्वी रेलमार्ग की तार व टेलीफोन-व्यवस्था पर चीनियों ने अधिकार कर लिया, रेल-क्षेत्र व हारबिन में हर प्रकार के रूसी संगठनों-संस्थानों को बन्द कर दिया गया, रेलमार्ग के प्रशासन को चीनियों ने अपने हाथ में ले लिया तथा रेलमार्ग के २०० से अधिक रूसी कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लिया। इस काररवाई के समर्थन में कहा गया कि रूस ने सन् १९२४ के समझौते का उल्लंघन किया है; उधर रूस भी चीन पर आरोप लगा रहा था कि उसने सन् १९२४ के इस समझौते का उल्लंघन किया है। चीन की इस काररवाई के प्रतिरोध-स्वरूप रूसियों ने अपने क्षेत्र में आगे बढ़ना शुरू किया।

अमरीका ने प्रारम्भ में ही दोनों पक्षों का ध्यान कैलग-समझौते के अधीन उनके उत्तरदायित्वों की ओर दिलाया था, किन्तु दोनों ही पक्षों ने कह दिया था कि युद्ध छेड़कर उन दायित्वों से बचने का उनका कोई इरादा नहीं है। और, दोनों ही पक्षों ने शुरू में ही सन् १९२४ के समझौते की उस शर्त का हवाला दिया था जिसमें कहा गया था कि

चीनी पूर्वी रेलवे की अधिकार-स्थिति के संबंध में समझौते में कोई तीसरा पक्ष शामिल न होगा और यह समझौता केवल इन्हीं दो देशों का सीमित मामला रहेगा। बाद में चीन ने तीसरे पक्ष के प्रभाव को मामले में डालने की कोशिश की; किन्तु उसे इसमें सफलता नहीं मिली।

अंततः इस मतभेद का निर्णय चीन के विरुद्ध रूस के सैनिक दबाव के आधार पर हुआ, किसी बाहरी हस्तक्षेप के फलस्वरूप नहीं। २२ दिसम्बर को एक प्राथमिक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसकी शर्तों के अनुसार पहले की यथास्थिति स्वीकार कर ली गयी। सितम्बर, १९३१ में जब चीन व जापान के बीच मतभेद व विवाद शुरू हुए, उस समय स्थिति यह थी कि चीनी पूर्वी रेलमार्ग पर तब भी रूस का नियंत्रण था, किन्तु मुख्य चीन में रूस का प्रभाव बहुत कम था; केवल चीनी साम्यवादी रूसियों से संपर्क बनाये रखते थे।

उन्नीसवाँ अध्याय

वाशिंगटन-सम्मेलन और उसके बाद

(१) सम्मेलन की पृष्ठभूमि

वाशिंगटन-सम्मेलन का विचार नौसैनिक शस्त्र-सज्जा को आर्थिक दृष्टिकोण से कम करने की अभिलाषा से शुरू हुआ। किन्तु, चूँकि नौसेना राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वय का एक साधन होती है, यह स्पष्ट है कि उन नीतियों तथा हितों में जिनसे संघर्ष का जन्म होता है तथा उन साधनों को समाप्त कर देने या कम कर देने में जो इन नीतियों व हितों की रक्षा के लिए होते हैं घनिष्ठ संवंध होता है। जहाँ तक अमरीका का संवंध था, सन् १९२१ में भविष्य के संघर्ष का क्षेत्र सुदूरपूर्व में ही था। ऐसा लगता था कि मुख्य संघर्ष चीन में ही होगा, क्योंकि वह निर्बल और असंगठित था। जापान व अमरीका की नीतियों में टकराव था और वही मुख्य विरोधी मालूम पड़ता था। अतएव नौसेना कम करने के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के लिए सुदूरपूर्व के प्रश्न का हल ढूँढ़ना आवश्यक था। जिस समय शस्त्र-सज्जा-संबंधी बात चल रही थी, उसी समय प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व के प्रश्नों पर विचार करने के लिए राष्ट्रों को आमंत्रित करने का यही कारण था।

सुदूर पूर्व का आधुनिक इतिहास ही वाशिंगटन-सम्मेलन की पृष्ठभूमि था। जापान, ब्रिटेन व अमरीका की नीतियों के संक्षिप्त वर्णन से यह पृष्ठभूमि अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एशिया महाद्वीप के संबंध में जापान की जो स्थिति थी, उसके विकास का पिछले पृष्ठों में विवरण आ चुका है। सन् १९२१ तक जापान इस स्थिति में आ चुका था कि वह सामरिक दृष्टि से सुदूरपूर्व का नियंत्रण कर सके। उत्तर से दक्षिण तक सभी समुद्री प्रवेश-द्वार उसके नियंत्रण में थे। उत्तर में सखालीन द्वीप के आधे क्षेत्र पर, कुराइल द्वीपों तथा होक्काइडो पर आधिपत्य होने के कारण ओखोत्स्क-सागर में प्रवेश पर जापान का नियंत्रण था; सखालीन, होक्काइडो, जापान व कोरिया पर प्रभुत्व होने के कारण जापान-सागर शेष दुनिया के लिए बन्द था और त्सुशीमा द्वीप पर जापान के स्वामित्व से इस स्थिति को और भी दृढ़ता प्राप्त होती थी; लूचू द्वीप-समूह तथा पेस्काडोर पर प्रभुत्व जो मुख्य जापानी द्वीप से फारमोसा तक फैले हुए थे तथा स्वयं फारमोसा पर

कब्जा होने के कारण पीत सागर में किसी विदेशी का प्रवेश वर्जित था। इस प्रकार चीन व साइबेरिया के सभी समुद्री प्रवेशद्वारों पर जापान का नियंत्रण था। इसके अतिरिक्त सखालीन पर नियंत्रण के फलस्वरूप जापान को आमूर के मुहाने का भी नियंत्रण प्राप्त था और इस प्रकार साइबेरिया के सभी जलमार्गों पर प्रभावकारी नियंत्रण जापान का ही था। कोरिया तथा क्वांगतुंग-पट्टा-क्षेत्र से वह मंचूरिया के प्रवेश-द्वार रोके हुए था। चीन की बड़ी दीवार के उत्तर में उसकी स्थिति तथा शानतुंग प्रान्त में उसके जोर के कारण वह जब भी चाहता पीकिंग पर दबाव डाल सकता था। शानतुंग के जर्मनी के रेल-अधिकार व सन् १९१४ के बाद उन अधिकारों के विकास के फलस्वरूप जापान इस स्थिति में था कि जब भी चाहे वह चीन के उत्तरी भाग को मध्य भाग से काट कर अलग कर सकता था। और फूकिन प्रान्त से उत्तर तथा शानतुंग प्रान्त से दक्षिण की ओर चल कर जापान मध्य चीन पर भी प्रभावकारी नियंत्रण कर सकता था। इस प्रकार सामरिक दृष्टि से जापान चीन पर नियंत्रण करने की स्थिति में था और उन प्रतियोगियों से बहुत बेहतर स्थिति में था, जिन्हें पूर्व से समुद्री मार्ग से आ कर चीन पहुँचना होता था।

क्षेत्रीय दृष्टि से इस स्थिति में पहुँचने के लिए जापान ने दस-दस वर्ष के अंतर पर तीन युद्ध सफलतापूर्वक लड़ कर विजय प्राप्त की थी और फारमोसा व कोरिया से चीन को, मंचूरिया व दक्षिणी सखालीन से रूस को व शानतुंग से जर्मनी को हटा दिया था। इन क्षेत्रीय उपलब्धियों का लाभ आर्थिक प्रसार के फलस्वरूप दुगुना हो गया था। कोरिया पर जापानी शोषण की इजारेदारी थी, मंचूरिया के बाजार पर जापान छाया हुआ था और वहाँ पूँजी लगाने के एकाधिकार का दावा करता था; शानतुंग में रेलमार्गों में पूँजी लगाने में जापान ने विशिष्ट हित बना लिये थ, पूर्वी भीतरी मंगोलिया में जापान सन् १९१५ में ही आर्थिक प्रवेश कर चुका था; सन् १९२१ में साइबेरिया में अपनी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति बनाने के लिए जापान प्रयत्नशील था; मंचूरिया व शानतुंग के बाहर भी चीन के कुछ साधनों पर जापान विशेष दिलचस्पी स्थापित कर चुका था।

सन् १९०५ के बाद से जापान के एशिया में प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयत्नों का मुख्य विरोधी अमरीका ही था। जापान के मित्र होने के नाते तथा यूरोपीय राष्ट्रों के संबंधों में विशेष रुचि होने के कारण ब्रिटेन जापान का विरोध करने की स्थिति में नहीं था। जापान व ब्रिटेन के बीच सन् १९०७ के समझौता तथा जापान के हाथों युद्ध में हार के बाद रूस की दिलचस्पी सुदूरपूर्व में घट गयी थी। जार-सरकार सन् १९०७, सन् १९१० तथा सन् १९१६ में जापान से समझौते करके उत्तरी मंचूरिया व बाहरी मंगोलिया में अपनी स्थिति कायम रख कर ही संतुष्ट थी। अतएव, अमरीका को जो

रूजवेल्ट-शासन में जापान को रूस के खिलाफ सिद्धान्त-संरक्षक मानता था और जो आंग्ल-जापानी समझौते को पूर्वी एशिया में शांति कायम रखने का बहुत सुन्दर साधन समझता था, जापान पर अंकुश लगाने का कठोर काय करने का प्रयत्न करना पड़ा। मंचूरिया में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में अमरीकी विरोध का सामना करने के कारण जापान अमरीका के प्रति कटुता का अनुभव करता था और अमरीकी नीति की असफलता के कारण अमरीका जापान का अविश्वास करता था। यह मनमुटाव प्रवासियों के विवाद के कारण और भी गहरा हो गया था।

अमरीका की चीन में दिलचस्पी सन् १८९५ में ही शुरू हो गयी थी, किन्तु गृहयुद्ध-के ३० वर्ष बाद तक अमरीका ने सुदूरपूर्व की राजनीति में लगातार कोई दिलचस्पी नहीं ली। संधि-संबंध स्थापित होते ही अमरीका ने परममित्र राष्ट्र के व्यावसायिक व्यवहार की माँग की किन्तु अपने लिए कोई विशेष अधिकार न तो माँग ही और न उन्हें पाने की कोई चेष्टा ही की; राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली व संधिसीमा-शुल्क-प्रणाली-संबंधी जो सुविधाएँ अन्य राष्ट्रों को मिल रही थीं, अमरीका उन्हीं से संतुष्ट था। अन्यथा, व्यक्ति ही अमरीकी नीति को प्रभावित करते रहते थे, जैसे कि सेवर्ड के परराष्ट्र-मंत्री होने के समय हुआ या बर्लिंगेम के पीकिंग रहने के समय हुआ; और इसका परिणाम यही था कि अमरीकी दिलचस्पी व कारवाइयों में बीच-बीच में जोर आ जाता था और शेष समय इसका बिलकुल ही अभाव रहता था। यही बात बड़े प्रशान्त-क्षेत्र के लिए भी लागू थी और इसका एकमात्र अपवाद हवाई द्वीप था, जहाँ कैलिफोर्निया व प्रशान्त महासागर-तट पर बस्तियाँ हो जाने के बाद लगातार दिलचस्पी कायम रही, और हवाई द्वीप-समूह के संबंध में भी अमरीकी नीति कभी बिलकुल एक ओर और कभी बिलकुल दूसरी ओर झुकती रही। परराष्ट्र-सचिव वेब्सटर की नीति थी कि द्वीप-समूह की स्वतंत्रता का सभी को सम्मान करना चाहिए, अमरीका को भी। परराष्ट्र सचिव मेसी का कहना था कि अमरीका को चाहे द्वीप-समूह पर कब्जा कर लेना पड़े, वह उन्हें किसी अन्य देश के हाथ में न जाने देगा। सेवर्ड सबल प्रशान्त नीति के समर्थक थे और क्षेत्रों पर आधिपत्य तक कर लेने के लिए तैयार थे। इसके उपरान्त समता की नीति अपनायी जाने लगी जो सन् १८७५ की संधि से प्रकट था; इसके उपरान्त सन् १८८१ से ब्लेन-नीति चालू हुई, जिसके अनुसार "हमारे और हवाई द्वीप-समूह के बीच प्रगाढ़ पारस्परिक संबंध होने चाहिए, ताकि उनकी पूर्ण स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखते हुए भी द्वीप-समूह व्यावहारिक रूप से अमरीका का ही अंग बन जाय।"[1] सन् १८५० के बाद अमरीकी नीति का आधार यही था कि किसी तीसरे पक्ष के बीच में पड़ने की जगह अमरीकी दिलचस्पी का ही दावा किया गया।

किन्तु, सन् १८९५ के बाद प्रशान्त महासागर में अमरीका की दिलचस्पी बढ़ गयी और चीन में अमरीकी दिलचस्पी फिर से शुरू हुई। इसके कारण अनेक थे और अमरीका की बाद की सुदूरपूर्वीय काररवाइयों पर उनका प्रभाव पड़ा। पहले तो स्पेन से युद्ध और हवाई द्वीप-समूह पर कब्जा हुआ, जिसके कारण अमरीका की सीमा काफी दूर तक प्रशान्त महासागर में आ गयी। हवाई पर कब्जा करने के लिए सन् १८९३ से ही आंदोलन चल रहा था, जब क्रांति के उपरान्त एक अमरीकी—सैनफर्ड बी० डोल—के नेतृत्व में वहाँ सरकार की स्थापना हुई थी। शासन में परिवर्तन के कारण समामेलन-संधि का अनुसमर्थन तब तक नहीं हो सका, जब तक क्लीवलैण्ड-शासन समाप्त नहीं हो गया; १६ जून, १८९७ को राष्ट्रपति मैककिनले ने एक दूसरी संधि पर हस्ताक्षर किये और ७ जुलाई, १८९८ को संयुक्त प्रस्ताव द्वारा समामेलन स्वीकृत हुआ। हवाई में जापानी लोग काफी बड़ी संख्या में बसने लगे थे और उसने अमरीका के इस कब्जे का विरोध किया किन्तु, समामेलन हो चुकने के बाद उसने नयी स्थिति स्वीकार कर ली।

स्पेन से युद्ध का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ फिलिपींस द्वीप-समूह तथा बीच के एक अड्डे गुआम, पर अमरीका का अधिकार हो गया। अमरीका के साथ हुई शांति-संधि द्वारा फिलिपींस द्वीप अंततः अमरीका को ही मिल गये और सन् १९०० के आंदोलन से यह इरादा भी स्पष्ट हो गया कि जब तक वहाँ के लोग स्वशासन-योग्य न हो जायँ अमरीका फिलिपींस को अपने ही अधिकार में रखना चाहता था। अमरीका की फिलिपिनी नीति का विवरण यहाँ अनावश्यक है, क्योंकि वह अमरीका के इतिहास का अंग है, किन्तु फिलपींस को अपने अधिकार में रखने से अमरीका की सुदूरपूर्वीय नीति पर प्रभाव तो पड़ा ही। इस अधिकार को कायम रखने का एक कारण यह भी था कि सुदूरपूर्व में क्षेत्रीय हित बना लेने के आधार पर अमरीका सुदूरपूर्व के मामलों में साधिकार रूप से बोल सकता था। दूसरा कारण यह था कि मनीला चीन से व्यापार का उपयुक्त आधार-केन्द्र बन सकता था और अमरीका इस व्यापार में अधिक प्रभावकारी ढंग से भाग ले सकता था।

जिस प्रकार कैण्टन के व्यापार के कारण अमरीका की चीन में मूल दिलचस्पी पैदा हुई, उसी प्रकार विदेशी बाजारों की आवश्यकता के आभास से चीन में अमरीका की दिलचस्पी फिर से पैदा हुई। सन् १८९८ तक अनेक लोगों का यह मत बन चुका था कि भविष्य में अमरीका की समृद्धि का आधार विदेशी व्यापार के विस्तार तथा चीन जैसे क्षेत्रों में पूँजी लगाने की सुविधाएँ प्राप्त करने में ही निहित है। बाजार व पूँजी लगाने के क्षेत्र—दोनों दृष्टियों से चीन पिछड़ा व अनियंत्रित देश होने के नाते अत्यधिक उपयुक्त स्थान था। यह स्थिति वास्तविक रही हो या न रही हो, इस भावना के कारण

ही अमरीका ने फिलिपींस में दिलचस्पी कायम रखी और उसे चीन के रास्ते की एक मंजिल बनाया तथा चीनी साम्राज्य की गतिविधियों में दिलचस्पी ली।

जब आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से अमरीका ने फिर से बाहर की ओर देखना शुरू किया, चीन में रिआयतें व सुविधाएँ प्राप्त करने की दौड़धूप अपनी चरम सीमा पर थी और उसके अस्तित्व और इस प्रकार भविष्य के एक बाजार के अस्तित्व पर संकट आया लग रहा था। इस स्थिति में, व्यावसायिक अवसरों की समानता के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति (जैसी कि हे की टिप्पणियों से प्रकट थी) ही अमरीका ने उपयुक्त नीति मानी। किन्तु, सन् १९०० व सन् १९०४ के बीच यह स्पष्ट हो गया कि इस नीति को लागू रखने के लिए जो हित व दिलचस्पी आवश्यक थी, वह अमरीका ने अभी नहीं बनायी थी और इसीलिए वह मंचूरिया में रूस को रोकने में असमर्थ था। तब रूस को रोकने का काम अमरीका ने भी ब्रिटेन की भाँति और लगभग उसी सीमा तक जापान पर छोड़ दिया और जापान के प्रति सहानुभूति व प्रोत्साहन का रुख अपनाया। जहाँ तक अमरीका का प्रश्न था, वह यही मान रहा था कि जापान "उन्मुक्त द्वार" नीति व चीन की क्षेत्रीय अविच्छिन्नता कायम रखने के लिए लड़ रहा था। किन्तु, रूजवेल्ट काफी यथार्थवादी थे और वह समझ रहे थे कि यदि जापान पर भी अंकुश न लगाया गया तो चीनी राजनीति से रूस के हटा दिये जाने के बाद स्वयं जापान ही अमरीकी हितों के लिए खतरा बन जायगा। अतएव वह सन् १९०५ के बाद चाहते थे कि रूस व जापान एक दूसरे के ऊपर अंकुश का काम करते रहें।

जब दक्षिणी मंचूरिया में जापान रूसी हितों व नीतियों का उत्तराधिकार पा गया और रूस उसे रोकने में केवल असमर्थ ही नहीं रहा बल्कि एक दूसरे की अपने-अपने क्षेत्रों में संगठित होने में सहायता करने के लिए राजी हो गया, तब अमरीका अपनी नीति चलाने के लिए कोई दूसरी योजना बनाने को बाध्य हो गया। यह योजना थी मंचूरिया के रेल मार्गों के तटस्थीकरण या प्रभावहीन कर देने की या कम से कम मंचूरिया में अमरीकी व ब्रिटेन की पूँजी लगा देने की। सन् १९०७ से सन् १९१० के बीच के प्रस्तावों व कारर-वाइयों से अमरीका व जापान की नीतियों व हितों में परस्पर विरोध प्रकट होता है। इस राजनयिक संघर्ष में भी जापान की उसी प्रकार विजय हुई, जैसी उसे रूस व चीन से युद्धों में मिली थी। किन्तु हित-विरोध तथा जापान की जीत भी ऐसे तथ्य थे, जिनसे पारस्पारक शत्रुता व कटुता बढ़ीं और उनका प्रभाव दोनों देशों की नीतियों पर पड़ा। अमरीका में बसनेवाले जापानियों के प्रति अनुचित व्यवहार व उन्हें निकालने के प्रयत्नों से यह शत्रुता और भी गहरी हो गयी। सन् १९११ में ही दोनों देशों के बीच युद्ध की बात लोग करने लगे थे।

विश्व-युद्ध में जापान के शामिल होने से यह हित-विरोध व संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। सन् १९१४ के पहले जापान की सरकार अपनी कथनी व करनी को अपने सहायकों को संतोषजनक ढंग से समझा लेती थी और मंचूरिया में अपनी काररवाइयों के औचित्य को किसी न किसी तरह सिद्ध कर लेती थी; किन्तु, सन् १९१४ के बाद जापान के कार्य खुले रूप से आक्रमण और चीन पर काबू रखने की इच्छा प्रकट करने वाले हो गये। अतएव जापान में अधिकृत व अनधिकृत अमरीकी आलोचना के कारण और अमरीका में, दोनों देशों में स्थिति विस्फोटक व संकटापन्न समझी जा रही थी।

इसलिए २६ मई, १९२१ को सीनेट व २९ जून, १९२१ को पाने कांग्रेस पारस्परिक समझौते द्वारा नौसैनिक-व्यय कम करने के लिए विभिन्न राष्ट्रों का सम्मेलन बुलाने का आग्रह बोरह प्रस्ताव द्वारा राष्ट्रपति से किया और अमरीकी सरकार इस दिशा में कार्यशील हुई तो प्रशान्त महासागरीय व सुदूरपूर्वीय प्रश्नों को भी सम्मेलन के विचारणीय विषयों में शामिल कर लिया गया। बोरह-प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य खर्च कम करना था, किन्तु प्रशासन ने व्यावहारिक रूप में यह देखा कि अंतरराष्ट्रीय विग्रह के कुछ कारणों को समाप्त किये बिना शस्त्रसज्जा में सफलतापूर्वक कमी नहीं की जा सकती। साथ ही अमरीका ने यह भी समझ लिया था कि विग्रह या संघर्ष का कारण चीन की स्थिति तथा चीन व साइबेरिया के प्रति जापान की नीति थी।

प्रशान्त क्षेत्र में शक्ति-संमजन के प्रस्ताव का अर्थ था जापान व अमरीका के अतिरिक्त अन्य राष्ट्रों से भी परामर्श करना। इन राष्ट्रों में चीन भी शामिल था और उसे भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आमंत्रित किया गया, क्योंकि अमरीका कोई गृद्धों की दावत तो कर नहीं रहा था, जिसमें चीन भोजन के स्वरूप परोसा जा रहा हो। चीन की जो स्थिति थी, उसका विवरण पहले ही दिया जा चुका है और यहाँ पर इतना ही कहना काफी होगा कि अपने आधुनिक काल के इतिहास में चीन ने जो कुछ खोया था, उसे वापस पाने के लिए वह प्रयत्नशील था।

सुदूर पूर्व की समस्या के हल में ब्रिटेन को भी, जिसमें कनाडा व आस्ट्रेलिया भी शामिल थे—सक्रिय दिलचस्पी थी। पूर्वी एशिया में ब्रिटेन की भूमिका को समझे बिना वाशिंगटन-सम्मेलन का उपयुक्त परिचय प्राप्त नहीं हो सकता। सन् १८४०–१८४२ के युद्ध के बाद हुई नानकिंग-संधि से तथा चीन के द्वार उन्मुक्त होने से ब्रिटेन को हांगकांग मिल गया था, जो शीघ्र ही सुदूरपूर्व का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक केन्द्र बन गया। इसके बाद सन् १८९८ तक ब्रिटेन ने चीन में कोई क्षेत्रीय उपलब्धि नहीं की थी; केवल उत्तरी बर्मा पर उसने अवश्य आधिपत्य जमा लिया था। ब्रिटेन की मुख्य दिलचस्पी व्यापार में थी यद्यपि सन् १८५८–१८६० के युद्ध के फलस्वरूप दूतावास

स्थापित करने के अधिकार प्राप्त कर लेने के बाद पीकिंग में ब्रिटेन की राजनैतिक भूमिका महत्त्वपूर्ण थी, जैसा कि सन् १८६० से सन् १८९५ के बीच प्रकट हुआ । सर्वप्रमुख व्यापारिक शक्ति होने के नाते ब्रिटेन की नीति अमरीकी नीति के समानान्तर चलती रही थी । यह नीति थी 'परम मित्रराष्ट्र' के आधार पर व्यापार के लिए चीन के द्वार अधिकाधिक उन्मुक्त करवाना । भारत की सुरक्षा में दिलचस्पी के कारण—और यह प्रश्न ब्रिटेन की एशियाई नीति की पृष्ठभमि में सदा ही बना रहा—ब्रिटेन नहीं चाहता था कि चीन अत्यधिक कमजोर पड़ जाय और इससे रूस लाभ उठा ले ।

ब्रिटेन की नीति में चीन की सहायता छोड़कर जापान की सहायता करने का परिवर्तन तब प्रकट हुआ, जब उसने सन् १८९५ में न केवल जापान को एशिया महाद्वीप से बाहर रखने के आंदोलन का नेतृत्व करने से ही इनकार कर दिया, बल्कि उस हस्तक्षेप में शामिल होने से भी इनकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप लिआओतुंग प्रायद्वीप की वापसी हुई । और जब, सन् १८९५ के बाद, चीन में अधिकार जमानें की आपाधापी शुरू हुई, ब्रिटेन ने वीहाईवी तथा काओलून का क्षेत्र ले लिया, यांग्त्सी घाटी में रेलमार्ग की रिआयतें प्राप्त कर लीं और उस क्षेत्र में किसी अन्य देश का कब्जा न होने देने का वचन ले लिया और इस प्रकार अपनी दिलचस्पी का एक क्षेत्र बना लिया । सन् १८९९ में हे के प्रस्तावों को स्वीकार कर वह फिर अपनी पुरानी चीन-संबंधी नीति पर वापस लौटा और सन् १९०० में विभाजन के विरुद्ध खड़ा हुआ । जब रूस ने मंचूरिया व उत्तरी चीन में बहुत मजबूती के साथ अपने कदम जमाने शुरू किये, ब्रिटेन को इसमें भारत व अपने व्यापार के लिए संकट दिखायी दिया और रूसी बढ़ाव को रोकने के लिए ब्रिटेन ने सहायता व समर्थन की खोज की । ब्रिटेन व जर्मनी के बीच समझौते की कोशिश हुई, पर वह असफल रहा, क्योंकि जर्मनी उन्मुक्त द्वार और क्षेत्रीय अविच्छिन्नता के सिद्धान्त को मंचूरिया में लागू करने को तैयार नहीं था । अमरीका अपने राजनयिक दाँव अलग अकेले ही खेलना चाहता था । तब ब्रिटेन जापान की ओर मुड़ा और सन् १९०२ का समझौता हो गया । तब से ब्रिटेन लगातार ईमानदारी से जापान का समर्थन करता रहा, न केवल रूस के ही विरुद्ध, बल्कि अमरीका के विरुद्ध भी जब अमरीकी सरकार की सहायता से अमरीकी पूँजी ने मंचूरिया पर धावा बोलना चाहा ।

किन्तु अमरीका और जापान की अनबन बढ़ने से ब्रिटेन में कई कारणों से चिन्ता हो गयी । पहले तो ब्रिटेन व अमरीका के बीच मैत्री-संबंध दृढ़तर हो रहे थे और सन् १९०२ में पश्चिमी द्वीप-समूह से हटने से ये संबंध और भी अच्छे हो गये थे । इस मैत्री पर ब्रिटेन द्वारा मंचूरिया में जापान के समर्थन से संकट आया था । दूसरे, अंग्रेज सामान्यतः इस बात को पसन्द नहीं कर रहे थे कि यदि जापान का अमरीका से युद्ध हो जाय तो

उसमें ब्रिटेन जापान का साथ दे, और सन् १९०५ के संशोधित समझौते के अनुसार ब्रिटेन को जापान का साथ देना पड़ता, यह भावना इसलिए भी प्रबल थी कि चीन के साथ व्यापार करने वाले और वहाँ पूँजी लगाने वाले प्रमुख अंग्रेज जापान की एशियाई नीति के उतने ही कटु आलोचक थे, जितने कि अमरीकी। और तीसरे, जहाँ तक इस संभाव्य संघर्ष से प्रवासियों का प्रश्न जुड़ा हुआ था, कनाडा व आस्ट्रेलिया की नीति व हित बिलकुल अमरीका के समान ही थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९११ की मैत्री-संधि में व्यवस्था कर दी गयी कि जिन देशों से किसी भी पक्ष की सामान्य विवाचन-संधि हो, जैसी कि अमरीका व ब्रिटेन के बीच हाल में ही हुई थी, उन देशों के संबंध में इस संधि की शर्तें लागू न होंगी। किन्तु अमरीकी प्रतिनिधिसभा (सीनेट) द्वारा इस संधि का अनुसमर्थन न होने के कारण मामला तब तक जैसा का तैसा लटका रह गया, जब तक तथाकथित "ब्रायन शांति-आयोग" संधि न हो गयी। इस संधि को ब्रिटेन ने सामान्य विवाचन-संधि की श्रेणी में माना और जापान ने इसका खुला विरोध नहीं किया। किन्तु यदि युद्ध छिड़ जाता तो जापान ब्रिटेन की इस संधि-संबंधी व्याख्या को स्वीकार करता या नहीं, यह प्रश्न अपनी जगह बना रहा।

महायुद्ध की आवश्यकताओं से बाध्य होकर सन् १९१४ के बाद ब्रिटेन ने जापान की शक्ति व प्रभाव के प्रसार को स्वीकार कर लिया और फिर सन् १९१७ का गुप्त समझौता भी कर लिया। जापान के प्रति वफादारी और अपने वचन का मूल्य ही ब्रिटेन को जापान के पेरिस में किये गये दावों को विरोध से रोके रहा, किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि अनेक अंग्रेज चाहते थे कि जापान से यह मैत्री समाप्त कर दी जाय, क्योंकि इससे चीन में ब्रिटेन के व्यापार व पूँजी-संबंधी हितों के विकास में बाधा पड़ती थी और सुदूरपूर्व में जापान के अत्यधिक प्रसार को अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त होता था और इससे ब्रिटेन व अमरीका के संबंधों पर गंभीर विपरीत प्रभाव पड़ता था।

इन कारणों से तथा उपनिवेशों, विशेषकर कनाडा के दबाव के कारण सन् १९२१ की ग्रीष्म में लन्दन में हुए सम्मेलन में ब्रिटेन-जापान की मैत्री का प्रश्न विचारणीय विषयों में प्रमुख हो गया। उस समय विचार-विनिमय में यह स्पष्ट कर दिया गया कि न तो यह मैत्री-संधि राष्ट्रसंघ में प्रसंविदा या ब्रिटेन के दायित्वों के विरुद्ध मानकर समाप्त की गयी थी और न दस वर्ष की अवधि पूरी होने पर वह स्वतः ही समाप्त हुई थी; इसे समाप्त करने के लिए ब्रिटेन या जापान द्वारा स्वयं सक्रिय कदम उठाना आवश्यक था। ब्रिटेन संधि को अकस्मात् या ऐसे ढंग से समाप्त कर देने के पक्ष में नहीं था जिससे लगे कि उसने जापान का पूरा लाभ उठाने के बाद उसे छोड़ दिया। अतएव यह मानना होगा कि

अमरीकी राष्ट्रपति के निमंत्रण का अर्थ यह लगाया गया कि सुदूरपूर्व के पूरे प्रश्न के समझौते के एक अंग के रूप में यह संधि समाप्त कर देने का एक अवसर है।

वाशिंगटन-सम्मेलन के सुदूरपूर्वीय अंग में शामिल होने वाले अन्य देशों के संबंध में कहने को विशेष कुछ भी नहीं था। फ्रांस आमंत्रित हुआ था क्योंकि चीन में दिलचस्पी का क्षेत्र होने का उसका दावा था, उसे पट्टे पर वहाँ क्षेत्र प्राप्त था और चीन में उसके आर्थिक हित थे और इस प्रकार वह एक एशियाई शक्ति था। चीन के संबंध में उसकी जो नीति थी, वह रूस व जापान की नीति से मौलिक रूप से भिन्न नहीं थी। हालैण्ड इसलिए आमंत्रित था कि पूर्व में उसके अधिकार में क्षेत्र थे, इसलिए नहीं कि वह राजनीतिक दृष्टि से वहाँ सक्रिय था, पुर्तगाल सुदूरपूर्वीय शक्ति इसलिए माना गया था कि मकाओ उसके अधिकार में था और उसके ज्वलंत अतीत की स्मृति था और बेल्जियम को इसलिए बुलाया गया था कि उस क्षेत्र में उसके आर्थिक हित थे।

सम्मेलन में आमंत्रित राष्ट्रों में एक महत्त्वपूर्ण नाम छूटा हुआ था। रूस या सुदूर पूर्वीय गणतंत्र को आमंत्रित नहीं किया गया था। संभवतः उस समय रूस के पूर्वीय हितों व दिलचस्पियों को नगण्य समझा गया, यद्यपि रूस को न बुलाने का असली कारण अमरीकी सरकार की मान्यताहीन रूसी सरकार से प्रत्यक्ष या सुदूरपूर्वीय गणतंत्र के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से कोई संबंध रखने में अनिच्छा ही था। सम्मेलन में रूस के न शामिल होने से उसके समझौतों का अंतरराष्ट्रीय स्वरूप तो कम हो ही गया और इससे रूस के सदूरपूर्व में महत्त्वपूर्ण स्थान फिर से प्राप्त कर लेने पर कोई रोक भी नहीं लग सकी।

११ नवम्बर १९२१ को शुरू हुए इस वाशिंगटन-सम्मेलन के काम के दो स्पष्ट भाग थे—एक था नौ-सैनिक शस्त्र-सज्जा में कमी करने के प्रश्न पर विचार और दूसरा था प्रशान्त-क्षेत्र में विभिन्न राष्ट्रों के हित-वैषम्य का कोई सुलझाव ढूँढ़ना। इस दूसरे काम में चीन, साइबेरिया व प्रशान्त महासागर के प्रादेशाधीन द्वीपों का संबंध था। नौसेना की शक्ति सीमित करने का जो प्रभाव सूदूरपूर्व पर पड़ा तथा प्रशान्त-क्षेत्र की समस्याओं व समाधानों का सुदूरपूर्व पर जो प्रभाव पड़ा, यहाँ केवल उन्हीं का वर्णन अभीष्ट है।

(२) शस्त्र-समझौते और उनका सुदूर पूर्व पर प्रभाव

नौ-सैनिक शस्त्र-सज्जा तथा प्रशान्त-क्षेत्र-संबंधी समझौतों का संक्षिप्त विवरण यहाँ उपयुक्त होगा। इस संबंध में चीन व साइबेरिया में जापान की स्थिति का जो विवरण ऊपर दिया जा चुका है और फारमोसा से फिलिपींस द्वीप-समूह की समीयता को ध्यान में रखना उचित होगा।

सामरिक व नौ-सैनिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि जापान पर सैनिक दवाव सफलतापूर्वक केवल प्रशान्त महासागर की ओर से ही डाला जा सकता था और फारमोसा व जापान के मुख्य द्वीप-समूह पर प्रशान्त महासागर की ओर से आक्रमण करके ही यह दवाव पड़ सकता था। और, फिर आवश्यकता पड़ने पर जापान के विरुद्ध चीन की सहायता करने का भी यही उपाय था; केवल रूस ही दूसरी ओर से चीन की सहायता कर सकता था। उस समय के नौ-सैनिक-विशेषज्ञों का मत था कि जापान के विरुद्ध सफल युद्ध छेड़ने के लिए किसी भी देश को जापान की नौ-सैनिक-शक्ति से कम से कम दुगुनी शक्ति चाहिए थी और तब भी यह आवश्यक था कि इस युद्ध के लिए किलेबन्दी नौ-सैनिक आधार-केन्द्र जापान के निकट ही हो; हवाई द्वीप भी इस काम के लिए बहुत दूर माने जाते थे।

वाशिंगटन-सम्मेलन के नौ-सैना-संबंधी निर्णयों पर इन तथ्यों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित था। परराष्ट्र-सचिव ह्यूज ने जो प्रस्ताव रखे,उनमें नौ-सेना का अनुपात इस प्रकार था––अमरीका व ब्रिटन पाँच-पाँच, जापान तीन, और फ्रांस व इटली पौने दो-पौने दो। इसका अर्थ था कि अमरीका या ब्रिटेन अकेले जापान पर सफलतापूर्वक आक्रमण नहीं कर सकते थे। कुछ अपवादों को छोड़कर, प्रशान्त महासागर के द्वीपों की किलेबन्दी के संबंध में 'यथस्थिति' कायम रखने के संवंध में जो समझौते हुए, उनसे भी यह निष्कर्ष सही सावित होता था। अमरीका के लिए ये अपवाद थे "अमरीका के तट, अलास्का और पनामा नहर के क्षेत्र के निकट के द्वीप, जिनमें हवाई व एल्यूशियन द्वीप शामिल नहीं थे"। ब्रिटेन के लिए ये अपवाद थे ११०वें पूर्वी देशान्तर के पश्चिम के द्वीप[२] तथा "कनाडा, आस्ट्रेलिया व उसके क्षेत्र तथा न्यूजीलैण्ड" के तटवर्ती द्वीप। इसका अर्थ यह था कि यदि जापान व अमरीका के बीच युद्ध हो जाय तो अमरीका को अपना युद्ध-संचालन हवाई से करना पड़ता, क्योंकि गुआम में नौ-सैनिक बेड़ा रखने की पक्की व्यवस्था नहीं की गयी थी और न अब की जा सकती थी और फिलिपींस द्वीप-समूह नौ-सेना के संचालन के लिए उपयुक्त रूप से सज्जित नहीं था। जब नौ-सैनिक-शक्ति का अनुपात ५ : ३ का हो अमरीका महाद्वीप से युद्ध-संचालन विनाशकारी ही होता। जब तक ब्रिटेन व अमरीका मिल कर युद्ध न छेड़ें या जब तक युद्ध-संचालन के लिए सिंगापुर का अड्डा न मिल जाय, जापान बाहरी हमले के संकट से तब तक के लिए मुक्त था जब तक यह समझौता कायम था। दूसरी ओर, यद्यपि जापान हवाई या अमरीका के विरुद्ध कोई युद्ध सफलतापूर्वक नहीं छेड़ सकता था, वह फिलिपींस द्वीप-समूह पर जब चाहे तब कब्जा कर सकता था और इस प्रकार यह जापान की दया पर ही आश्रित हो गया था।

ब्रिटेन व अमरीका के संयुक्त आक्रमण की आशंका से जापान को चार राष्ट्रों के

उस समझौते के द्वारा रक्षा मिली हुई थी जिसमें पश्चिमी राष्ट्र सुदूरपूर्व में हस्तक्षेप न करने के लिए वचनबद्ध थे। जापान पश्चिम से आक्रमण की आशंका से तो मुक्त था ही, एशिया महाद्वीप पर उसके जो हित थे, वे भी सुरक्षित थे, क्योंकि सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों पर मौजूद रह कर वह चीन और साइबेरिया पर नियंत्रण कर सकता था; सम्मेलन ने ऐसे पनडुब्बी व हवाई जहाजों के निर्माण पर कोई सीमा नहीं लगायी थी, जो महाद्वीप के विरुद्ध प्रयुक्त हो सकते थे; और सम्मेलन ने स्थल-सेना की शस्त्र-सज्जा पर सीमा लगाने के लिए समझौता करने का प्रयास भी नहीं किया था। इससे स्पष्ट है कि सम्मेलन में जापान की भारी जीत हुई थी और इस जीत को पिछले २५ वर्षों में एशिया महाद्वीप में प्राप्त लाभों को इस सुरक्षा के बदले में छोड़ कर या आक्रमण की आशंका से मुक्ति प्राप्त कर जापान-सरकार स्वेच्छापूर्वक अपनी नीति बदल कर ही विफल कर सकती थी। जब तक यह नीति-परिवर्तन न हो वाशिंगटन-सम्मेलन में एकत्र प्रतिनिधियों के प्रयास-परिश्रम के वावजूद संघर्ष का एक स्थायी कारण वहाँ बराबर मौजूद रहता।

(३) चीन संबंधी नव राष्ट्रों की संधि

जहाँ तक चीन व साइबेरिया का प्रश्न है सम्मेलन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी नव राष्ट्रों की चीन संबंधी नीति। साइबेरिया के प्रश्न पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। उसे बड़े और अविकसित क्षेत्र के संबंध में जापान से यह आश्वासन प्राप्त कर ही सम्मेलन संतुष्ट हो गया कि जब भी उपयुक्त होगा, वह (जापान) साइबेरिया से हट जायगा और साइबेरिया के संबंध में उसके इरादे न तो कभी आक्रामक रहे हैं और न हैं ही। इस पर केवल अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल की ओर से सचिव ह्यज ने यह कहा कि यह घोषणा तो ठीक है, किन्तु जापान इस प्रकार की घोषणा पहले भी कर चुका है और आशा है कि पहले की घोषणाओं की अपेक्षा जापान इस घोषणा के पालन की ओर अधिक ध्यान देगा।[3]

चीन के संबंध में स्थिति बिलकुल भिन्न थी। सम्मेलन की सुदूरपूर्वीय समिति की ३१ बैठकों में से ३० में चीन, उसके दावों तथा उसकी समस्याओं पर ही विचार हुआ था। पहले तो यह कोशिश की गयी कि जो सिद्धान्त चीन के संबंध में लागू हों, उनकी व्याख्या कर ली जाय। अमरीकी सरकार के अनुरोध पर, सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर चीन ने अपनी आवश्यकताओं का एक वक्तव्य तैयार किया और सिद्धान्तों की घोषणा के रूप में दससूत्री कार्यक्रम समिति के समक्ष पेश कर दिया। ये दस सूत्र इस प्रकार थे[4]—

(१) (अ) विभिन्न राष्ट्र चीनी गणतंत्र की राजनीतिक व प्रशासकीय स्वाधीनता तथा क्षेत्रीय अविच्छिन्नता को स्वीकार करें और उनका सम्मान करें।

(ब) अपनी ओर से चीन यह वचन देने को तैयार है कि वह अपने क्षेत्र के किसी भाग या तटवर्ती क्षेत्र को किसी भी राष्ट्र को नहीं हस्तांतरित करेगा और न पट्टे पर देगा।

(२) तथाकथित 'उन्मुक्त द्वार' सिद्धान्त, अर्थात् चीन से संधि-संबंधों से बंधे सभी राष्ट्रों को व्यवसाय व उद्योग के समान अवसर प्राप्त होने के सिद्धान्त से पूर्णतः सहमत होने के कारण चीन इसे बिना किसी अपवाद के अपने पूरे क्षेत्र में लागू करने को तत्पर है।

(३) पारस्परिक विश्वास दृढ़तर करने तथा प्रशान्त-क्षेत्र व सुदूरपूर्व में शांति कायम रखने के लिए, राष्ट्रों को चाहिए कि वे इन क्षेत्रों व चीन पर प्रभाव डालने वाले ऐसे कोई समझौते या संधियाँ न करें जिनकी चीन को पूर्व सूचना न हो और जिनमें शामिल होने का अवसर उसे प्राप्त न हुआ हो।

(४) चीन में या चीन के संबंध में सभी विशेष अधिकार, सुविधाएँ, वादे या प्रतिरक्षाएँ, उनका जो भी स्वरूप हो और समझौते का जो भी आधार हो, और वे किसी भी राष्ट्र से किये गये हों, रद समझे जायँगे और भविष्य में इस प्रकार के जो भी दावे प्रकट किये जायँगे वे भी रद समझे जायँगे। अभी तक घोषित या व्यक्त सभी अधिकारों, दावों, सुविधाओं व प्रतिरक्षाओं को उनकी परिधि व वैधता निर्धारित करने के लिए जाँचा जायगा और यदि उन्हें वैध पाया जायगा तो उन्हें इस सम्मेलन में घोषित सिद्धान्तों से तथा आपस में एक दूसरे से ताल-मेल बैठा कर समरस बनाया जायगा।

(५) चीन की राजनीतिक, क्षेत्रीय तथा प्रशासकीय स्वाधीनता पर लगी सीमाएँ तत्काल या परिस्थिति के अनुसार शीघ्रातिशीघ्र हटा ली जायँगी।

(६) अभी चीन के वर्तमान दायित्वों पर अवधि की कोई सीमा न होने के कारण उन पर निश्चित और न्यायोचित सीमा निर्धारित की जायगी।

(७) विशेष सुविधाओं व अधिकारों के समझौतों की व्याख्या के समय इस सुस्थापित सिद्धान्त का अनुसरण किया जायगा कि दान की व्याख्या देनेवाले के पक्ष में होगी।

(८) जिन युद्धों में, भविष्य में, चीन शामिल न हो उनमें चीन की तटस्थता का सम्मान किया जायगा।

(९) प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व में जो अंतरराष्ट्रीय विवाद उठ खड़े हों, उनके शांतिपूर्ण सुलझाव की व्यवस्था की जायगी।

(१०) प्रशान्त तथा सुदूरपूर्व के क्षेत्रों से संबंधित अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों पर विचार-विनिमय के लिए तथा समझौते पर हस्ताक्षर करनेवाले राष्ट्रों द्वारा उन प्रश्नों पर समान नीतियाँ निर्धारित करने के लिए भविष्य में समय-समय पर सम्मेलन करने की व्यवस्था की जायगी।

चीन से यह वक्तव्य तैयार कराने के बाद, उस पर सम्मेलन में विशदरूप से विचार कराने और उसे स्वीकार कराने की कोशिश करने की जगह अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल ने उस वक्तव्य से ध्यान हटाने के लिए तत्काल एक प्रस्ताव के रूप में चीन पर लागू होने वाला एक सिद्धान्त-वक्तव्य पेश कर दिया। एलीहू रूट द्वारा पेश प्रस्ताव इस प्रकार था—

सम्मेलन में भाग लेनेवाले राष्ट्रों का पक्का इरादा है कि

(१) चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता, स्वाधीनता व सार्वभौम सर्वोच्च सत्ता का सम्मान किया जाय।

(२) शासन के प्राचीन व अतिप्रयुक्त साम्राज्यवादी ढाँचे को बदलने में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उन पर विजय प्राप्त कर, एक स्थायी व प्रभावशाली सरकार के निर्माण व विकास के लिए चीन को पूरा और निर्बाध अवसर प्रदान किया जाय।

(३) चीन के पूरे क्षेत्र में सभी राष्ट्रों के उद्योगों तथा व्यवसायों के लिए समान अवसर का सिद्धान्त, जहाँ तक संभव हो, सारी दुनिया के लिए सुरक्षित रहे।

(४) चीन की वर्तमान परिस्थिति का लाभ उठा कर ऐसे विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त करने की चेष्टा से बचा जाय, जिनसे मित्रराष्ट्रों की प्रजा या नागरिकों के अधिकार सीमित होते हों; जिनसे मित्रराष्ट्रों की सुरक्षा पर आँच आये, उन कारर-वाइयों को बरदाश्त न किया जाय।

स्पष्ट है कि चीनी प्रश्न के विभिन्न पहलुओं पर लागू होने वाले सिद्धान्तों के निरूपण के लिए चीन के दस सूत्री कार्यक्रम को न लेकर, रूट के प्रस्ताव को विचार का आधार बना कर, सम्मेलन ने विचार-क्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया था। अतएव यदि सम्मेलन चीन के हित में कोई व्यावहारिक निर्णय नहीं कर सका तो उसकी जिम्मेदारी सीधी अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल की ही थी। इसका एक कारण यह था, कि अमरीका को निहित स्वार्थों की पवित्रता में विश्वास था, जिसके फलस्वरूप भविष्य में लागू होने वाले सामान्य सिद्धान्तों के निरूपण से आगे बढ़ने और वर्तमान अधिकारों व उत्तरदायित्वों की वैधता परखने को वह खतरनाक समझता था। जो भी हो, नव राष्ट्रों की संधि में केवल सामान्य सिद्धान्त ही थे।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, चीन में विगत काल में झगड़ों की सबसे बड़ी जड़ थी विभिन्न राष्ट्रों द्वारा वहाँ अपनी-अपनी दिलचस्पी व हितों के विशिष्ट क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति। 'दिलचस्पी के क्षेत्र' के सिद्धान्त की जो तर्कसंगत पराकाष्ठा थी, उस ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है और इस ओर भी कि यह समझ लेने के बाद कि 'उन्मुक्त द्वार' का अर्थ चीन का स्वतंत्र अस्तित्व है, अमरीका ने अपनी नीति को विस्तार दिया।

उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त को स्वीकार करने से जो उत्तरदायित्व उत्पन्न होते थे, उनकी व्याख्या में जो मतभेद उठ खड़े हुए, उनका भी वर्णन किया जा चुका है।[६] सम्मेलन में यह व्याख्या-भेद जापान के एक प्रतिनिधि, बैरन शिदे हारा के भाषण और ह्यूज के वक्तव्य से प्रकट हो चुका था। जापानी प्रतिनिधि ने कहा कि "सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है—विषयवस्तु के संबंध में भी और क्षेत्र की दृष्टि से केवल चीनी क्षेत्र में लागू होने के संबंध में भी; मूलतः, इस सिद्धान्त की व्यवस्था यही है कि जिन राष्ट्रों के चीन में दिलचस्पी के क्षेत्र हैं या जिनके पास चीन की भूमि पट्टे पर हैं वे न तो संधि-बन्दरगाहों में हस्तक्षेप करें और न रेल तथा बन्दरगाह-शुल्क या सीमा-शुल्क की वसूली में कोई भेदभाव बरतें।"[७] अमरीकी परराष्ट्र-सचिव तथा अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल के नेता, ह्यूज ने शिदेहारा के उत्तर में सिद्धान्त का इतिहास बताते हुए कहा कि इसके पीछे जो भावना थी, उसे राष्ट्रों ने अच्छी तरह समझ लिया था और हे की गश्ती चिट्ठी में वर्णित तीन बातों से वृहत्, उसकी आत्मा ही यह सिद्धान्त थी। फलतः, इस विचार-विमर्श से यही प्रकट हुआ कि सिद्धान्त की परिभाषा और अधिक स्पष्ट होनी चाहिए, नहीं तो भविष्य में फिर इस प्रकार के मतभेद और तज्जनित परेशानी व व्याकुलता हो सकती है।

अतएव, सम्मेलन में प्रगति की ओर एक निश्चित कदम उठाया गया, जब इस नीति की परिधि-सीमा के संबंध में समझौता हो गया। अमरीका की जो सिद्धान्त-कल्पना थी, वही एक संकल्प के रूप में नव राष्ट्रों की संधि में शामिल कर ली गयी—(१) चीन की क्षेत्रीय व प्रशासकीय अविच्छिन्नता तथा स्वाधीनता व सार्वभौम सत्ता का सम्मान करना; (२) चीन में व्यावसायिक अवसरों की समानता के सिद्धान्त को लागू करना व आगे बढ़ाना; तथा (३) ऐसी कोई काररवाई न करना और ऐसी किसी काररवाई में सहायता-समर्थन न प्रदान करना जिससे दिलचस्पी के विशिष्ट हित-क्षेत्र बनें या चीन के विशिष्ट क्षेत्रों में ऐसे अवसरों का उपभोग हो जो अन्य राष्ट्रों को उपलब्ध नहीं हैं।[८]

दिलचस्पी के क्षेत्र तथा उन्मुक्त द्वार के परस्पर विरोधी सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोध में आ खड़े हुए; जहाँ तक भविष्य में अधिकार प्राप्त करने का प्रश्न था, उसका निषेध हो चुका था। अमरीका लगभग अकेले ही व्यापक उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त का प्रतिपादन-समर्थन करता रहा था; अब इस सम्मेलन में, लार्ड बालफर के माध्यम से, ब्रिटेन ने अपने पहले वक्तव्य की फिर से घोषणा की कि जहाँ तक ब्रिटेन का संबंध है दिलचस्पी के क्षेत्र विगत की बात बन चुके हैं। नव राष्ट्रों की संधि में भविष्य में लागू होने वाले सिद्धान्तों के अनुमोदन के अतिरिक्त ही ब्रिटेन ने यह नीति-वक्तव्य किया था। वाशिंगटन में प्रतिपादित नीति के समर्थन में यदि सभी राष्ट्र ईमानदारी से काम लेते या इस सिद्धान्त के प्रतिकूल काररवाई करनेवालों के विरुद्ध प्रभावकारी दण्ड की व्यवस्था

क़ी कल्पना कर ली गयी होती तो संधि के मूल्य के संबंध में जो संशय लोगों के मन में था वह पैदा न होता। इस आशा की कि संधि-सिद्धान्त लागू ही होंगे तर्कसंगति केवल यही थी कि संधि के हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्रों में सबसे सशक्त दो राष्ट्रों में ऐसा हितसाम्य रहेगा कि वे संधि-सिद्धान्तों को लागू करवा लेंगे। किन्तु देखने की बात यह रह गयी थी कि संधि-सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण होने पर ब्रिटेन व अमरीका किस सीमा तक एक ही दिशा में चलने का प्रयास करते हैं।

उन्मुक्त द्वार की परिभाषा व स्वीकृति के अतिरिक्त नव-राष्ट्र-संधि में यह भी व्यवस्था की गयी थी कि चीन के रेलमार्गों पर भाड़ों व सुविधाओं के संबंध में जो अनुचित भेदभाव बरता जाता था, वह भविष्य में नहीं बरता जायगा। इस धारा की भाषा से लगता था कि इस संबंध में चीन दोषी था। यह सत्य से विपरीत था, क्योंकि जैसा कि चीनी प्रतिनिधि ने सम्मेलन में कहा था, जहाँ भी रेलमार्ग चीनी प्रशासन में थे वहाँ कहीं भी भेदभाव का आरोप नहीं लगाया जा सकता था। चीन के विभिन्न रेलमार्गों पर, जिन विदेशों का प्रभुत्व था, उनमें से अनेक इस दोष के भागी थे और उन्हीं की काररवाइयों के कारण यह धारा जोड़ी गयी थी।

संधि में, अंत में यह भी व्यवस्था कर दी गयी थी, भविष्य में किसी युद्ध में चीन के तटस्थ रहने पर उसकी तटस्थता का सम्मान किया जायगा। अपनी ओर से चीन ने तटस्थता के दायित्व निबाहने का वचन दे दिया। इस ओर ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है कि जिस समय जर्मनी द्वारा बेल्जियम की तटस्थता पर आक्रमण की निन्दा की जा रही थी, उसी समय मित्रराष्ट्रों में से एक ने चीन की तटस्थता को भंग किया था। जापान की इस काररवाई के विरुद्ध उस समय अधिक कुछ नहीं कहा गया था, किन्तु नव-राष्ट्र-संधि में यह व्यवस्था निस्सन्देह ही जापान के इस कृत्य के कारण तथा महायुद्ध के पहले की ऐसी ही घटनाओं के कारण ही की गयी थी। संधि की अन्य व्यवस्थाओं की भाँति इस व्यवस्था का मूल्य भी तभी आँका जा सकता था, जब परीक्षा का कोई अवसर आता।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि उन्मुक्त द्वार-सिद्धान्त की व्यापक परिभाषा व व्याख्या स्वीकार कर जापान ने एक रिआयत की थी; किन्तु इस स्वीकृति से उसे कोई बहुमूल्य वस्तु छोड़नी पड़ी हो, इसमें सन्देह है। यदि संधि-सिद्धान्त उन सभी विदेशी हितों व दिलचस्पियों पर लागू होता, जो चीन में पिछले २५ वर्षों में बनाये गये थे तो उन सभी को रद घोषित कर दिया जाता। चीन-जापान के युद्ध के बाद के वर्षों में जो क्षेत्र पट्टों पर ले लिये गये थे, उन्हें वापस करना होता, क्योंकि वे चीन की प्रशासकीय अविच्छिन्नता तथा सर्वोच्च सत्ता के प्रतिकूल थे; चीन के क्षेत्र से विदेशी डाकखाने हटाने पड़ते; सीमा-शुल्क व न्याय-व्यवस्था से संबंधित सर्वोच्च सत्ता फिर से अक्षुण्ण

बनानी पड़ती; विदेशी बेतार के तार की व्यवस्था या तो नष्ट करनी पड़ती या चीन को सौंप देनी पड़ती; आंग्ल-जापानी-मैत्री, लैनसिंग-ईशी-समझौता तथा २१ माँगों को या तो संशोधित करना पड़ता या फिर समाप्त कर देना पड़ता। इन्हीं बातों में हृदय-परिवर्तन निस्सन्देह परिलक्षित हो सकता था।

लैनसिंग-ईशी समझौता तथा आंग्ल-जापानी मैत्री-संधि समाप्त कर दी गयी। किन्तु नव-राष्ट्र-संधि के सिद्धान्तों के लागू होने से वे समाप्त नहीं हुईं, उन्हें केवल चार राष्ट्रों के समझौते में बदल दिया गया। सन् १९१५ की संधियों व समझौतों की वैधता पर विचार-विनिमय करने से जापान ने इनकार कर दिया। जो अधिकार प्राप्त किये जा चुके थे, उन्हें 'सिद्धान्तों' की कसौटी पर परखा नहीं जा सकता था, उन्हें चुनौती दिये बिना यथावत् छोड़ दिया जाता था; चुनौती देनी थी तो केवल चीन को। सम्मेलन ने इस आधार पर विचार ही शुरू किया था कि निहित स्वार्थों में हस्तक्षेप नहीं किया जायगा, चाहे एक के स्वार्थ व दावों का दूसरे के स्वार्थ व दावों में विरोध भले ही आता हो। वास्तव में चीन को केवल एक क्षेत्र की वापसी का आश्वासन मिला; वह था वीहाईवी-क्षेत्र जिसका अब ब्रिटेन के लिए कोई उपयोग न था; फ्रांस ने भी कहा कि वह भविष्य में क्वांगचाउ खाड़ी को वापस करने की बात इस शर्त पर कर सकता है कि अन्य राष्ट्र भी अपने-अपने पट्टे वाले क्षेत्र वापस करें। किआओचाओ के पट्टे की वापसी की भी बात हुई, किन्तु संधि-सिद्धान्तों के लागू होने से नहीं। सम्मेलन ने चीन की न्याय-व्यवस्था की जाँच और उसके सुधार में सहायता-संबंधी एक प्रस्ताव स्वीकार किया था, किन्तु राज्य-क्षेत्रातीतता लागू रही। यह भी निश्चय हुआ कि पट्टे वाले क्षेत्र छोड़ कर शेष चीन से विदेशी डाकघर हटा लिये जायँगे। निश्चय हुआ कि मचूरिया के रेल-क्षेत्र व चीन के पट्टा-क्षेत्र छोड़कर शेष स्थानों पर स्थापित विदेशी रेडियो केन्द्र चीन को सौंप दिये जायँगे; किन्तु जापान के लगभग सभी रेडियो-केन्द्र उन्हीं मुक्त क्षेत्रों में ही थे। चीन के क्षेत्र से विदेशी सैनिक हटने थे किन्तु तभी जब पीकिंग स्थित विदेशी प्रतिनिधि इसे उपयुक्त समझें। चीन को सीमा-शुल्क के संबंध में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त नहीं हुए, किन्तु कुछ रिआयतें अवश्य कर दी गयीं, जिनसे उसकी आय में काफी वृद्धि हुई। इन छोटी-मोटी रिआयतों को छोड़कर नव-राष्ट्र-संधि-सिद्धान्त इस प्रकार लागू नहीं किये गये, जिससे उन विशेष अधिकारों व सुविधाओं को समाप्त किया जा सकता, जो इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे।[१]

फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि वाशिंगटन-सम्मेलन से चीन का एक लाभ यह हुआ कि उससे कुछ छीना नहीं गया। जैसा कि डाक्टर डब्ल्यू० डब्ल्यू० विलोबी ने कहा है :

तो, चीन की केन्द्रीय शासन-सत्ता के निश्चित विघटन के बावजूद, कुछ विदेशी ऋणों की अदायगी में असफल होने के बावजूद, दक्षिणी भाग में एक ऐसे राजनीतिक-दल और ऐसे राजनीतिक-संगठन के होने के बावजूद जो पीकिंग सरकार की ही वैधता से पूरी तरह इनकार करता था, चीन इस सम्मेलन से वापस लौटा तो न केवल उसकी सर्वोच्च सत्ता पर नयी प्रशासकीय या अन्य प्रकार की सीमाएँ ही नहीं लगायी गयी थीं, बल्कि उसे विदेशों से औपचारिक रूप से यह स्पष्ट आश्वासन मिल गया था कि उसकी वर्तमान परिस्थितियों से लाभ उठाकर वे उसकी कार्य-स्वतंत्रता पर नयी सीमाएँ नहीं लगायेंगे।[१०]

दूसरे शब्दों में, यह मानना चाहिए कि इस सम्मेलन से चीन को लाभ हुआ, क्योंकि जितना वह खो चुका था, उससे अधिक उसे नहीं खोना पड़ा और विदेशों ने उसकी आंतरिक परिस्थिति का लाभ उठा कर अपने-अपने हितों का प्रसार करने के लिए हस्तक्षेप नहीं किया।

यह प्रश्न पहले भी उठाया जा चुका है कि इन समझौतों के ईमानदारी से लागू होने की कितनी आशा थी। पहले भी उन्मुक्त द्वार-नीति का सबसे बड़ा दोष यही था कि उसे प्रभावकारी बनाने की कोई व्यवस्था नहीं की गयी थी। वाशिंगटन में इस दिशा में प्रयास किया गया था और एक ऐसा मंडल बना देने का प्रयत्न हुआ था, जिसके पास उन्मुक्त द्वार, सिद्धान्त के प्रतिकूल कोई समझौता या संविदा होने पर अपील भेजी जा सके। सीमा-शुल्क पुनरीक्षण के लिए जिस आयोग के गठन की व्यवस्था थी, वही आयोग इस मंडल के गठन के संबंध में सिफारिश करने वाला था, किन्तु कोई भी राष्ट्र यह सिफारिश मानने को बाध्य नहीं था। किन्तु यदि ऐसा मंडल बन भी जाता तो उसका अधिकार केवल जाँच करके प्रतिवेदन करने भर का था और उस प्रतिवेदन को स्वीकार करना आवश्यक नहीं था। अतएव सम्मेलन के बाद इस सिद्धान्त का कार्यान्वय उन पक्षों की सदाशयता मात्र पर निर्भर हो गया, जिन्होंने अतीत में इस उत्तरदायित्व को निबाहने में तत्परता नहीं बरती थी।

(४) शानतुंग के प्रश्न का समाधान

जिस प्रश्न ने अमरीकी जनता का ध्यान सबसे अधिक सुदूरपूर्व की ओर आकृष्ट किया था, वह था शानतुंग प्रान्त का प्रश्न। अमरीकी सीनेट व जनता में वार्साइ-संधि का जो विरोध हुआ था, वह पेरिस-निर्णय में चीन के साथ हुए अन्याय के कारण ही था। अतएव, अमरीकी जनता वाशिंगटन-सम्मेलन को तब तक सफल नहीं मानती, जब तक शानतुंग का प्रश्न हल नहीं हो जाता। चीन चाहता था कि इस प्रश्न पर पूरा सम्मेलन विचार करे, पर जापान ने यह कह कर इसका विरोध किया कि यह विषय केवल दो राष्ट्रों से संबंधित

है। समझौते के उद्देश्य से अमरीका ने सुझाव रखा कि सम्मेलन के साथ ही साथ चीन व जापान के प्रतिनिधियों की एक बैठक इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हो जाय और उसमें ब्रिटेन व अमरीका के प्रतिनिधि पर्यवेक्षकों के रूप में भाग लें। चीन इस सुझाव को मानने को अनिच्छा के साथ बाध्य हो गया, क्योंकि इनकार का अर्थ निकाला जाता अड़चन डालना और अमरीकी जनता में चीन के प्रति जो सहानुभूति थी उसे खो देना।

लम्बे विचार-विनिमय तथा ब्योरे में बड़े मतभेदों के बाद अंततः मामला निपट गया। जापान इस बात पर राजी हो गया कि पट्टे के सारे क्षेत्र को और जर्मनी की सरकार की सभी सार्वजनिक संपत्तियों को वह चीन को लौटा देगा। इन संपत्तियों के लिए चीन को कोई हरजाना नहीं देना था, केवल वह राशि जापान को वापस कर देनी थी, जो उसने संपत्तियों के अपने कब्जे के समय उन्हें बढ़ाने या सुधारने पर खर्च की थी। इन संपत्तियों के संबंध में एक शर्त्त यह भी थी कि त्सिंगताओ में जापान के वाणिज्य-दूतावास तथा जापानी समाज के लिए पाठशालाएँ, समाधियाँ आदि बनाने के लिए आवश्यक संपत्तियाँ जापान अपने पास ही रख लेगा।

पट्टे के क्षेत्र या त्सिंगताओ-त्सिनान-रेलमार्ग के निकटवर्ती क्षेत्र में जो भी जापानी सैनिक थे, उन्हें जितनी जल्दी संभव हो, वहाँ से हटना था; बन्दरगाह व रेलमार्ग की सुरक्षा का काम चीन अपने हाथ में तत्काल ले लेने को तत्पर था। समझौते पर हस्ताक्षर होने की तिथि के छः महीने के भीतर सभी जापानी सैनिकों को वहाँ से हट जाना था।

त्सिंगताओ-स्थित जापानी सीमाशुल्क-व्यवस्था चीनी समुद्री शुल्क-व्यवस्था का अंग बन जानेवाली थी और इस संबंध में सन् १९१५ में चीन व जापान के बीच जो समझौता हुआ था, वह रद हो रहा था।

त्सिंगताओ-त्सिनान-रेलमार्ग चीन को इस शर्त पर वापस मिल रहा था कि वह उसकी व उससे संबंधित संपत्ति की कीमत चुकायेगा; इस संपत्ति का मूल्यांकन वह आयोग करने वाला था जो जर्मनी से क्षतिपूर्ति लेने के संबंध में बना था; इसके अतिरिक्त चीन को वह राशि भी अदा करनी थी, जो जापान ने रेलमार्ग पर अपने प्रभुत्व के समय उस पर खर्च की थी। इस राशि को दोनों देशों के प्रतिनिधियों का संयुक्त आयोग तय करने वाला था। यह अदायगी पन्द्रह वर्ष तक चीनी नोटों में होनी थी, यद्यपि चीन को यह छूट थी कि वह चाहे तो पाँच वर्ष के भीतर इन नोटों को छुड़ा सकता था।[११] नोटों के विमोचन की अवधि में जापानी हितों की रक्षा के लिए यह निश्चित हुआ था कि चीन एक जापानी अधिकारी को यातायात-प्रबन्धक बना देगा और एक अन्य जापानी अधिकारी को चीनी अधिकारी के साथ संयुक्त मुख्य लेखाकार बना देगा।

शानतुंग-रेल मार्गों के विकास व प्रसार में पूँजी लगाने का जो अधिकार जापान ने

प्राप्त कर लिया था, उस संबंध में तय हुआ कि यदि चीन स्वयं इस काम में पूँजी न लगा सके तो एक अंतरराष्ट्रीय अभिषद् इस काम को करेगा ।

२६ जून, १९२२ से ५ दिसम्बर, १९२२ तक टोकियो में हुए चीन व जापान के प्रतिनिधियों के सम्मेलनों में शानतुंग-संधि को लागू करने का ब्योरा तैयार होता रहा । पट्टे के क्षेत्र व संपत्तियों का हस्तांतरण इसके तत्काल बाद हो गया और सन् १९२३ के आरम्भ में ही सन् १९१५ की वे संधियाँ जो शानतुंग प्रान्त से संबंधित थीं, सिद्धान्त तथा व्यवहार में समाप्त हो गयीं । दोनों देशों के बीच मैत्री-संबंध स्थापित होने में जो बाधा थी वह इस प्रकार समाप्त हो गयी । जब जापान का उस क्षेत्र में कब्जा था, उसके नागरिकों ने वहाँ जो काफी संपत्तियाँ बना ली थीं, वे कायम रहीं और सामान्य स्थिति में इससे सरकारों के बीच के संबंध कटु नहीं होते । किन्तु जैसा कि अन्यत्र बताया गया है[१३] शानतुंग में रहने वाले जापानी नागरिकों के जान-माल की रक्षा के लिए, टनाका शासन ने, सन् १९२७ व फिर सन् १९२८ में वहाँ फौजें उतार दीं जब कि राष्ट्रीय सेनाएँ उत्तर की ओर बढ़ रही थीं । सन् १९२८ में त्सिनान में भीषण संघर्ष हो गया और एक नया 'शानतुंग प्रश्न' उठ खड़ा हुआ, जिससे चीन व जापान के संबंध और भी जटिल हो गये । सौभाग्यवश, मार्च, १९२९ में यह प्रश्न हल हो गया ।

(५) संधि-पुनरीक्षण

वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद विभिन्न राष्ट्र चीन के साथ व्यवहार करने में नव-राष्ट्र-संधि-सिद्धान्तों की कानूनी परिधि से नियंत्रित थे । किन्तु उस समय चालू संधि-प्रणाली के स्थापित सिद्धान्तों से उनकी रक्षा भी होती थी । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी विशिष्ट सुविधाएँ भी थीं, जो सामान्य संधि-प्रणाली की उपचय या अभिवृद्धि के रूप में थीं या दो देशों के बीच हुए समझौतों के रूप में थीं । चूँकि वाशिंगटन-सम्मेलन के समझौते चीन के परराष्ट्र-संबंधों के इस पहलू पर भी थे, सम्मेलन के प्रभावों को इस दृष्टिकोण से संक्षेप में बता कर ही चीन-सरकार के संधि-पुनरीक्षण के प्रयासों का वर्णन उपयुक्त होगा ।

विदेशी चीन में एक विशेष सुविधा का उपभोग करते थे, जिसका संधि-आधार पक्का नहीं था; यह सुविधा थी चीन के क्षेत्र पर अपने सशस्त्र सैनिक रखना । मुक्का-आंदोलन के बाद की उप-संधि में यह व्यवस्था थी कि संधि-राष्ट्र पीकिंग में तथा पीकिंग से समुद्रतट तक जानेवाले रेलमार्ग पर दूतावास-रक्षकों की हैसियत से कुछ सशस्त्र सैनिक रख सकेंगे । इसके अतिरिक्त, रेलमार्गों के कुछ समझौतों की व्याख्या इस प्रकार कर ली गयी थी कि रेलक्षेत्र में रेल-रक्षकों की हैसियत से सैनिक रखे जा सकेंगे, किन्तु कई देशों ने, सन् १९११ व उसके बाद उन स्थानों पर भी अपने सैनिक तैनात कर दिये थे, जहाँ उनके नाग-

रिक बड़ी संख्या में रहते थे; इसका बहाना उन नागरिकों के जान-माल की रक्षा करना था। यांग्त्सी नदी तथा चीन के समुद्र में नौ-सैनिक भी उतार दिये गये थे। अतः, वाशिंगटन-सम्मेलन में एक प्रस्ताव द्वारा इस स्थिति की जाँच के लिए एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया; विभिन्न राष्ट्रों ने यह इरादा भी प्रकट किया कि जहाँ भी चीन विदेशी नागरिकों की सुरक्षा का आश्वासन देगा, वहाँ से वे सैनिक हटा लिये जायँगे, जिनके रखने की व्यवस्था संधियों में नहीं है। जब तक सम्मेलन के समझौतों के लागू करने का प्रश्न चलता रहा, वह समय कभी नहीं आया, जब विदेशी अपने सैनिक चीन से हटाते।

सम्मेलन का एक अन्य प्रस्ताव पट्टे के क्षेत्र तथा उन स्थानों को छोड़ कर जहाँ संधियों की शर्तों में इसकी व्यवस्था थी, शेष चीन से विदेशी डाकघर हटाने के संबंध में था। यह प्रस्ताव लागू हुआ, केवल दक्षिणी मंचूरिया के रेल-क्षेत्र में जापानी डाकखाने कायम रहे; प्रस्ताव की एक शर्त यह थी कि विदेशी डाकघर हटने पर चीन एक सुव्यवस्थित डाक सेवा का संगठन कर लेगा।

चूँकि इस प्रस्ताव से यह ध्वनि निकलती है कि चीन-सरकार डाक-सेवाएँ सुचारु रूप से नहीं चला रही थी और इसीलिए विदेशी डाकघरों की आवश्यकता पड़ी। चीन की इस व्यवस्था के संबंध में कुछ कह देना आवश्यक है। आधुनिक युग से पहले चीन में पत्र और समाचार ले ज का केवल एक माध्यम था सरकारी हरकारों का तथा देशी डाकघरों का; इसके अतिरिक्त यात्री भी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पत्र लाया-ले जाया करते थे। हरकारा प्रथा अक्षम और व्ययसाध्य होने के बावजूद गणतंत्र की स्थापना तक कायम रही, जब सन् १९१२-१९१३ में चीनी डाकखानों ने सभी सरकारी पत्रों को लाने-ले जाने का उत्तरदायित्व ले लिया। इसी प्रकार, सरकारी डाक-व्यवस्था के बाद भी कुछ दिनों तक देशी डाकघर भी चलते रहे, जो पत्र, पारसल, हुंडी तथा चाँदी की सिलें भुगतान के लिए लाते-ले जाते थे तथा स्वयं व्यापार भी करते थे। एक ही संगठन सारे चीन के लिए नहीं था और बहुधा एक संगठन एक-दो प्रान्तों या कभी-कभी प्रान्त के भीतर जिलों तक ही सीमित होता था। यह प्रथा इसलिए कायम रही कि ये संगठन शक्तिशाली थे, समुद्रतट व नदियों में जहाज चलाने वाली कंपनियों से उनके अच्छे संबंध थे, देश भर में सरकारी डाक-व्यवस्था होने के पहले वे दूर भीतरी जिलों तक डाक ले जाने का प्रबन्ध करते थे और दूर-दूर से पत्रादि लाने-ले जाने की व्यवस्था करते रहते थे। यह सही है कि राष्ट्रीय डाक ले जाने के साथ वे कुछ अन्य सामान भी ले जाते थे, जिससे उन्हें थोड़ा-बहुत लाभ और भी होता रहता था। सन् १९२२ तक इन संगठनों का कार्य-क्षेत्र कुछ छोटे जिलों तक ही सीमित रह गया था, जहाँ वे सेवाएँ भी प्रदान करते थे, जो डाकखानों के लिए असंभव थीं।

राष्ट्रीय डाक-सेवा का विचार धीरे-धीरे तब सर्वस्वीकृत हुआ जब सर रॉबर्ट हार्ट के नेतृत्व में समुद्री सीमा-शुल्क-सेवा ने इस दिशा में कुछ प्रयोग किये। सन् १८७५ तक चीन-सरकार को विश्वास हो चुका था कि यह सेवा स्वयं उसे स्थापित करनी चाहिए और चेफू-संधि में एक धारा डाक-सेवा स्थापित करने के संबंध में भी जोड़ दी गयी थी। दुर्भाग्यवश, यह हो नहीं सका और फिर सन् १८९६ में ही शाही शासनादेश से चीन-डाकघर की विधिवत् स्थापना हुई। सन् १८९७ में धन भेजने की व्यवस्था की गयी और अगले वर्ष पारसल भेजने की। सन् १९१४ में चीन विधिवत् विश्व-डाक-सम्मेलन से संबद्ध हो गया, यद्यपि तत्संबंधी नियमों का वह पहले से ही पालन कर रहा था। सन् १८९६ के बाद से डाक-सेवा का विस्तार बहुत तेजी से हुआ और सन् १९२२ तक उन सभी स्थानों में डाक सुव्यवस्थित रूप से पहुँचने लगी थी, जहाँ रेलमार्ग थे। इस प्रकार, डाकखानों की संख्या सन् १९०६ में २०९६ थी, जो सन् १९११ में बढ़कर ६२०१ हो गयी और सन् १९२२ में ११,३०६। इसी प्रकार इस सेवा से ले जाये जानेवाले पत्रों तथा अन्य वस्तुओं की संख्या जो सन् १९०६ में ३,१९,९४,१४३ थी, सन् १९२२ में बढ़ कर ४२,६३,६३,६१६ हो गयी; इसी प्रकार, पारसलों की संख्या सन् १९०६ से सन् १९२२ तक ४,००,१२६ से बढ़ कर ४७,९१,४२० हो गयी थी। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि वाशिंगटन-सम्मेलन के समय तक चीन ने कठिन परिस्थितियों में भी आधुनिक डाक-सेवा चालू करने में प्रशंसनीय प्रगति की थी। चीन को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उनमें विदेशी डाकघरों से प्रतियोगिता तथा राजनीतिक उथल-पुथल भी शामिल थीं; सन् १९२२ के बाद विदेशी डाकघरों से प्रतियोगिता समाप्त हो गयी।

संधि-प्रणाली से उत्पन्न समस्याओं के समपार्श्व ही पट्टे के क्षेत्रों की समस्या थी। यद्यपि पट्टे के क्षेत्रों का प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन में सीधे नहीं उठाया गया था, दिलचस्पी के क्षेत्र के सिद्धान्त के बहिष्कार से इस ओर ध्यान केन्द्रित हुआ था कि पट्टे के क्षेत्रों से दिलचस्पी के क्षेत्र बनने का आधार शुरू होता है। शानतुंग-संधि के अनुसार जर्मनी-जापान को मिला किआओचाओ का पट्टा समाप्त कर दिया गया था। फ्रांस ने भी आश्वासन दिया था कि यदि अन्य राष्ट्र अपने-अपने पट्टे के क्षेत्र छोड़ दें तो वह भी क्वांग-चाउ का पट्टा समाप्त कर देगा; कम-से-कम वह पट्टा समाप्त करने के लिए बात चलाने को तो तैयार था ही। उधर ब्रिटेन वीहाईवी छोड़ने के लिए बात करने को तैयार था। किन्तु जापान ने क्वांगतुंग के क्षेत्र के पट्टे को कायम रखने की बात की और ब्रिटेन ने भी कोउलून-क्षेत्र के संबंध में बात करने में तत्परता नहीं दिखायी। जब वाशिंगटन में किये गये वादों को लागू करने का समय आया फ्रांस ने बातचीत शुरू ही नहीं की। ब्रिटेन ने अक्तूबर, १९२२, में वीहाईवी वापस लौटाने की शर्तों पर बात शुरू की और ३१ मई,

१९२३ को एक अस्थायी समझौता हो गया। यह समझौता पीकिंग-सरकार को असंतोषजनक लगा और समझौते की बात फिर शुरू हुई। सन् १९२४ में इस बातचीत में गत्यवरोध आ गया और सन् १९३० तक बात आगे नहीं बढ़ सकी; ३० अप्रैल, १९३० को दोनों पक्षों के लिए संतोषजनक समझौता हो गया।

चीन की स्वतंत्रता पर जो दो प्रतिबन्ध––राज्यक्षेत्रातीतता तथा सीमाशुल्क-संबंधी संधि-प्रबन्ध––सबसे पहले लगे थे, उन्हें हटाने के जो प्रयास उसने किये, वे संभवतः सबसे अधिक महत्त्व के हैं। वाशिंगटन-सम्मेलन में यह आश्वासन दिया गया था कि चीन की न्याय-व्यवस्था की जाँच करने के लिए एक आयोग नियुक्त होगा जो राज्यक्षेत्रातीतता के संबंध में सिफारिश करेगा। यह जाँच सन् १९२५ तक टल गयी, क्योंकि देश की राजनीतिक परिस्थिति के कारण चीन-सरकार ने ही उसे स्थगित करने का अनुरोध किया था। आयोग ने पहले पीकिंग में तत्कालीन न्याय-व्यवस्था तथा उसमें प्रस्तावित संशोधनों पर विचार किया और यह जाँचने की कोशिश की कि स्थानीय प्रशासन किस सीमा तक आधुनिक विचारों से समरस हुआ है। गृहयुद्ध के फिर से शुरू होने और प्रान्तों में अशांति फैल जाने से आयोग के काम में बाधा पड़ गयी। आयोग ने सिफारिश की कि विदेश अपने नागरिकों का नियंत्रण चीन सरकार को सौंपें इसके पहले चीन सरकार को कुछ आवश्यक कदम उठाना चाहिए; चूँकि व्यवस्था की जाँच में वह अंशतः उपयुक्त पायी गयी है, विदेशी सरकारों को समझौता कर लेना चाहिए कि राज्यक्षेत्रातीतता-प्रणाली धीरे-धीरे खत्म कर दी जायगी; आयोग ने इसके लिए भी सुझाव दिये कि इस प्रणाली में ऐसे सुधार कर दिये जायँ, जिससे वह क्षमतापूर्वक व सभी पक्षों के लिए संतोषजनक रूप से संचालित हो सके।[13]

सीमाशुल्क के संबंध में नव-राष्ट्र-संधि में व्यवस्था की गयी थी कि (१) शुल्क की दरें तत्काल इस प्रकार संशोधित कर दी जायँ कि चीन को विदेशी व्यापार के मूल्य का पाँच प्रतिशत मिलने लगे; (२) संधि के अनुसमर्थन के तीन महीने के भीतर एक विशेष सम्मेलन बुला कर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त जाने वाले माल पर लगने वाली राहदारी या पारवहन चुंगी व उसकी समाप्ति के प्रश्न पर विचार किया जाय और सम्मेलन इसकी जगह ढाई प्रतिशत तक का सामान्य कर लगा दे और कुछ विलास-सामग्रियों पर पाँच प्रतिशत तक का कर लगा दे; और (३) जल व स्थल-सीमाओं पर लगने वाले करों में एकरूपता का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय, जिससे दक्षिण में फ्रांस से और उत्तर में रूस व जापान से होने वाले व्यापार को वे रिआयतें न रहें, जो समुद्र द्वारा आनेवाले व्यापारियों को प्राप्त नहीं हैं।[14]

सीमाशुल्क के तत्काल पुनरीक्षण का काम तो हो गया, किन्तु विशेष सम्मेलन सन्

१९२५ तक नहीं बुलाया जा सका; इसका मुख्य कारण यह था कि फ्रांस ने तब तक संधि का अनुसमर्थन ही नहीं किया था। यह देरी स्वर्ण-फ्रांक-विवाद के कारण हुई थी।[१५] जब सन् १९२२ में, पाँच वर्ष के युद्ध-अविस्थगन के उपरान्त, मुक्का-आंदोलन की क्षतिपूर्ति फ्रांस को देने का प्रश्न उठा, तब उसने यह शर्त रखी कि यह राशि सोने के फ्रांकों में अदा होनी चाहिए। चीन-सरकार का कहना था कि उसे कागज के उन नोटों से अदायगी का अधिकार है, जिनका मूल्य गिर गया था। विवाद सन् १९२५ तक हल नहीं हुआ। इस विवाद के अंत और संधि के अनुसमर्थन के बाद विशेष सम्मेलन बुलाने का काम शुरू हुआ। सम्मेलन के समक्ष चीन की यह माँग पेश हुई कि सीमा-शुल्क के पुनरीक्षण द्वारा दरें बढ़ाने से काम नहीं चलेगा, चीन को इस संबंध में सर्वोच्च अधिकार फिर से प्राप्त होने चाहिए। माँग सिद्धान्ततः स्वीकार कर ली गयी और यह तय हुआ कि चीन का राष्ट्रीय सीमा-शुल्क १ जनवरी, १९२९ से लागू हो, जब तक चीन लिकिन (पारवहन या राहदारी चुंगी) समाप्त कर देगा। सन् १९०२ की मैके-संधि के समय से ही विदेशी राष्ट्रों ने लिकिन और सीमा-शुल्क के प्रश्नों को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना था और सीमा-शुल्क-पुनरीक्षण के सीमित प्रश्न पर विचार के समय भी दोनों को संबद्ध रखा था, किन्तु चीन का कहना था कि राष्ट्रों ने सीमा-शुल्क के संबंध में एक वादा किया है, जिसे पूरा होना चाहिए और उसे लिकिन समाप्त करने में सफलता के प्रश्न से नहीं जोड़ा जाना चाहिए। किन्तु सन् १९२५-१९२६ में पीकिंग सरकार के गृहयुद्ध के कारण गिर जाने से सम्मेलन कोई समझौता किये बिना ही समाप्त हो गया। बाद की समझौता वार्ता वाशिंगटन-सम्मेलन के द्वारा निश्चित आधार पर नहीं हुई।

संधि-पुनरीक्षण-आंदोलन की दूसरी मंजिल सन् १९२६ में आरम्भ हुई। कुओमिनतांग का एक निश्चित उद्देश्य यह था कि चीन के परराष्ट्र-संबंध पूर्ण समता के आधार पर स्थापित हों। किन्तु इस दिशा में निश्चित कदम पीकिंग-सरकार ने उठाया जब एक ओर राज्यकोष रिक्त था और दूसरी ओर मुखर राष्ट्रीय जनमत का दबाव बढ़ रहा था। सन् १९२६ के अंत में चांग त्सो-लिन ने आदेश जारी कर दिया कि १ फरवरी, १९२७ से वाशिंगटन-अतिकर वसूल किया जाय, यद्यपि इस अतिकर की वसूली के समझौते नहीं हुए थे। सीमा-शुल्क के महानिरीक्षक, सर फ्रांसिस एगलेन ने यह "अवैध" अतिकर वसूल करने से इनकार कर दिया तो उन्हें पदच्युत कर उनकी जगह एक अन्य अंग्रेज, ए. एच. एफ. एडवर्ड्स को नियुक्त कर दिया गया। पीकिंग-स्थित राजदूतों ने इस काररवाई पर प्रतिवाद किया पर कोई नतीजा नहीं निकला।

किन्तु इसके पूर्व चीन ने अपने इस निश्चय की ओर संकेत कर दिया था कि वह सभी संधि-राष्ट्रों से सामूहिक रूप से समझौते की बात न चला कर उनसे अलग-अलग

बात करेगा। पेरिस व वाशिंगटन में सामूहिक-कारखाई के प्रयत्न हुए थे और राष्ट्र-संघ की सन् १९२५ की सभा में चीन ने संधि-पुनरीक्षण का प्रश्न उठाया था। इस संबंध में अंतरराष्ट्रीय निर्णय प्राप्त करने के परिणाम निराशाजनक रहे थे और चीन को कोई नया ढंग अपनाना था। इस नये ढंग का आधार अधिकांश संधियों की धाराओं में मिल गया, जिनके अनुसार एक या दोनों पक्षों के अनुरोध पर, दस वर्ष की अवधि के बाद संधियों के पुनरीक्षण की बात उठायी जा सकती थी। यद्यपि इन धाराओं की कल्पना यही थी कि पुनरीक्षण आंशिक होगा, पूरी संधि रद नहीं कर दी जायगी या उसकी जगह कोई बिलकुल नया समझौता नहीं कर लिया जायगा, चीन-सरकार ने तब और बाद में यह दृष्टिकोण अपनाया कि यदि पूर्ण समता तथा अन्योन्यता के सिद्धान्तों पर नये समझौते नहीं किये गये तो वह अपनी ओर से एकतरफा तौर पर ही संधियों को समाप्त कर देगी। इस प्रकार विदेशों से संतोषजनक संधि-पुनरीक्षण का अनुरोध करने की जगह चीन ने अपनी ओर से ही स्पष्ट कर दिया कि वह लागू संधियों को किन शर्तों पर कायम रखने को तैयार है। चीन के दृष्टिकोण में यह आश्चर्यजनक परिवर्तन था।

इस नये दृष्टिकोण से जिस संधि का सबसे पहले निपटारा किया गया वह बेल्जियम से थी और जिसकी धारा में यह स्पष्ट उल्लेख था कि संधि-संशोधन का प्रस्ताव लाने का अधिकार केवल बेल्जियम को ही होगा। पीकिंग-स्थित बेल्जियम के प्रतिनिधि को १६ अप्रैल, १९२६ को सूचना दी गयी कि चीन संधि का संशोधन चाहता है। प्रतिनिधि से कहा गया कि संधि अक्तूबर में समाप्त होगी और उसकी जगह लेने के लिए एक नया समझौता होना चाहिए। बेल्जियम ने कहा कि संधि-संशोवन माँगने का चीन को कोई अधिकार नहीं है, किन्तु वह सीमित पुनरीक्षण के लिए तैयार है। यह शर्त चीन को अमान्य थी; अंत में बेल्जियम इस प्रश्न को अंतरराष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत में ले गया।[१६] चीन ने यह मानने से इनकार कर दिया कि यह विषय न्याय्य है और इसलिए बिना दोनों पक्षों की सहमति के अदालत में ले जाया जा सकता है; साथ ही चीन सरकार ने टींटसीन में बेल्जियम को मिले रिआयत-क्षेत्र तथा बेल्जियम के नागरिकों को अपने नियंत्रण-क्षेत्र में ले-लेने के लिए कारखाई शुरू कर दी। इसके पहले कि बेल्जियम सरकार के आवेदन पर अदालत विचार करती बेल्जियम चीन से नयी संधि करने के लिए समझौता-वार्त्ता के लिए तैयार हो गया और इस बात पर पहले ही राजी हो गया कि चीन टींटसीन-रिआयत को वापस ले ले। १७ जनवरी १९२७ को समझौते की बात शुरू हुई और चीन-सरकार ने उन अस्थायी प्रबन्धों की घोषणा कर दी, जो बेल्जियम के नागरिकों की सुरक्षा के लिए किये जाने वाले थे; इस घोषणा में व्यवसाय-संबंधी तथा बेल्जियम के नागरिकों पर केवल आधुनिक अदालतों में ही मुकदमा चलाने की बातें भी थीं। इस प्रकार, एक छोटे

राज्य से सशक्त व्यवहार कर पीकिंग-सरकार ने अपना यह अधिकार स्थापित कर लिया कि एक अस्वीकार्य संधि की जगह संतोषजनक संधि की जा सकती है, चाहे अस्वीकार्य संधि के सीमित पुनरीक्षण की माँग का वैध अधिकार भी उसे न रहा हो। जब दस-दस वर्ष की अवधियाँ समाप्त होने पर फ्रांस, स्पेन व जापान की संधियों का प्रश्न उठा, तब पीकिंग-सरकार ने उनके प्रति भी यही नीति बरती। इन तीनों सरकारों से सन् १९२६–१९२७ में समझौता-वार्त्ताएँ शुरू की गयीं। इसी बीच सन् १९२५ व सन् १९२६ में आस्ट्रिया व फिनलैण्ड से दो नयी संधियाँ भी की गयीं, जिनका आधार काफी हद तक समता व अन्योन्यता था।

बेल्जियम, फ्रांस, जापान तथा स्पेन से 'असमान' संधियों को समाप्त करने के लिए चल रही समझौता-वार्त्ता पूरी होने के पहले ही उत्तर की सरकार बदल गयी और परराष्ट्र विषयों का निर्देशन नानकिंग से होने लगा। इससे बातचीत जारी रखने व अन्य देशों से बातचीत शुरू करने में राष्ट्रीयतावादियों को एक विशेष सुविधा मिल गयी। इस बातचीत के लिए आवश्यक था कि विदेशी प्रतिनिधि नानकिंग आयें और इस प्रकार उन संधि-अधिकारों के संबंध में समझौता-वार्ता करने के लिए, जो सामान्यतः सभी राष्ट्रों के लिए समान थे, विदेशी राजनयिक-समुदाय का एका भंग हो गया। वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद विभिन्न राष्ट्रों ने पीकिंग में सहयोगात्मक नीति का अनुसरण करने का प्रयास किया था, जिसका अर्थ था पीकिंग-सरकार के साथ व्यवहार करने में संयुक्त मोर्चा बनाना व कायम रखना। चीन के लिए यह स्थिति तभी लाभदायक हो सकती थी जब संधि-राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को आगे बढ़ाने की चेष्टा हो रही होती। किन्तु संधि-पुनरीक्षण की दृष्टि से यह सहयोगात्मक नीति चीन के हित में नहीं, विभिन्न राष्ट्रों के हित में ही थी। जैसा कि कहा जा चुका है, राष्ट्रीयतावादियों द्वारा देश की एकता स्थापित करने के पहले ही पीकिंग-सरकार ने इस विदेशी एकता की दीवार को तोड़ना शुरू कर दिया था। नानकिंग-सरकार के लिए यह काम और भी आसान हो गया। दूसरी ओर, राष्ट्रीयतावादी भी पहले से ही इस संयुक्त मोर्चे के विरुद्ध आंदोलन कर रहे थे और इससे परराष्ट्र-संबंधों में पीकिंग-सरकार को सहायता मिली थी।

जिन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर वाशिंगटन-सम्मेलन में संधि व समझौते हुए थे, चीन में राष्ट्रीय आंदोलन के विकास से वे परिस्थितियाँ मौलिक रूप से तो नहीं बदलीं, किन्तु उससे सुदूर पूर्व की राजनीति में एक नये तत्त्व का उदय अवश्य हुआ। यह तत्त्व था चीन-सरकार द्वारा कार्य-स्वतंत्रता का दावा। सीमित रूप में इससे चीन की परराष्ट्र-नीति को एक नयी दिशा मिली। किन्तु तत्काल इसने उस आंदोलन को केवल एक नयी गति ही प्रदान की, जो वाशिंगटन-सम्मेलन तथा उसके बाद पीकिंग-सरकार की

कारवाइयों के फलस्वरूप निश्चित लक्ष्यों की ओर बढ़ रहा था। फिर भी, यह समझने के लिए कि सन् १९२८ के बाद चीन के परराष्ट्र-संबंधों तथा गृहनीतियों में क्या परिवर्तन हुआ, राष्ट्रीय चीन के उदय व उसके कार्यक्रम को समझना आवश्यक है। अतएव, सन् १९३१ के बाद वाशिंगटन-सम्मेलन-प्रणाली की असफलता का विश्लेषण करने के पहले, यहाँ चीन के आंतरिक राजनीतिक विकास पर फिर विचार करना आवश्यक है।

बीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय क्रान्ति

चीनी क्रांति के पहले चरण में, जो स्वरूप में विशुद्ध राजनीतिक था, मंचुओं का सिंहासन तो पलट गया था, पर संसदीय गणतंत्र की स्थापना का उसका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। सैद्धांतिक दृष्टि से भले ही न सही, व्यवहार में यह झरण सन् १९१३ की 'ग्रीष्म-क्रांति' की असफलता पर पूरा हो चुका था। युआन शिह-का'ई की मृत्यु के बाद संसदीय गणतंत्र एक वर्ष के लिए पुनरुज्जीवित अवश्य हुआ था, किन्तु विकेन्द्रित सैनिक-शक्ति के विरुद्ध वह टिक नहीं पा रहा था और इसी ने उसे सन् १९१७ में निश्चित रूप से समाप्त कर दिया था। प्रान्तों के युद्ध-नेताओं के विरोध के फलस्वरूप संसद् को फिर से जीवन देने के सभी प्रयत्न विफल हुए थे। अतएव, कुछ समय के लिए क्रांति का राजनीतिक स्वरूप समाप्त-सा हो गया था। सन् १९१७ से सन् १९२४–१९२५ तक क्रांतिकारी शक्तियाँ आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक, बौद्धिक क्षेत्रों में गहरे पैठ कर काम करती रहीं। इससे राजनीति का क्षेत्र सैनिक शासकों को खाली मिल गया; इन शासकों को केन्द्रीय सरकार में पेशेवर राजनीतिज्ञों व पेशेवर राजनयिक अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था; राजनीतिक क्षेत्र में डाक्टर सुन यात-सेन तथा उनके अनुयायियों का छोटा-सा गुट भी काम करता रहा।

(१) कुओमिनतांग (१९१२-१९२४)

सन् १९१३ व सन् १९२४ के बीच क्रांतिकारी दल लगभग मृतप्राय रहा। गुप्त क्रांतिकारी संगठन; तुंग मेंग हुई, जो सन् १९११ की क्रांति का मुख्य अस्त्र था, मंचुओं के पतन के बाद सैद्धान्तिक दृष्टि से क्रांति पूर्ण होने पर, फिर से 'अ-गुप्त' राजनीतिक दल के रूप में संगठित हुआ और उसमें अनेक अन्य गुट भी शामिल हो गये; तुंग मेंग हुई का क्रांतिकारी स्वरूप लगभग समाप्त हो चुका था। सन् १९१३ के विद्रोह के असफल होने के बाद यह फिर एक गुप्त क्रांतिकारी दल के रूप में संगठित हुआ जिसके हर सदस्य को डाक्टर सुन यात-सेन के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठा रखने की शपथ लेनी पड़ती थी। इस शपथ के कारण संगठन की सदस्य संख्या सीमित रह गयी, क्योंकि तुंग मेंग हुई के अनेक

पुराने सदस्यों ने यह शपथ लेने से इनकार कर दिया था। तब से क्रांतिकारियों में "डाक्टर सुन यात-सेन के व्यक्तित्व के कारण ही एकता रहती थी; दल की सदस्यता एक परंपरा की बात बन गयी थी; इसका केवल एक अर्थ था कि सदस्य का डाक्टर सुन से व्यक्तिगत संपर्क था।"[1] इससे दल के निर्बल होने के लक्षण प्रकट होने लगे और क्वांगतुंग पर सन् १९२० में कब्जा होने के बाद दल का पुनस्संगठन किया गया। चीन का नया राष्ट्रीय लोकदल गुप्त संगठन तो बना रहा, पर उसमें शपथ लेने की प्रथा समाप्त हो गयी और पहले वाले कुछ और प्रतिबन्ध भी हटा दिये गये। इससे सदस्य-संख्या तो बढ़ गयी, किन्तु दल में स्फूर्ति नहीं आयी, क्योंकि आपसी सहयोग के आधार पर कार्यक्रम बनाने के लिए संगठन की बैठकें करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसके अतिरिक्त, दल के नेतृत्व तथा राजनीतिक व सैनिक सत्ता के बीच कोई संबंध नहीं स्थापित किया गया था। दल केवल नेता का ही अस्त्र था।

दल के पुनस्संगठन के बल पर डाक्टर सुन क्वांगतुंग में अधिक समय तक सत्ता में नहीं रह सकते थे। जनता को दक्षिण व पीकिंग की सरकारों में कोई अंतर नहीं लगता था, क्योंकि जैसा कि कहा जा चुका है, डाक्टर सुन की शक्ति भी प्रान्तीय सैनिक नेता ही थे। इस परावलम्बन को दूर करने के लिए डाक्टर सुन ने फिर एक बार दल का बिलकुल नये आधार पर संगठन किया।

डाक्टर सुन द्वारा आमंत्रित, सन् १९२३ के शरद में कैण्टन आये, रूसी परामर्शदाताओं ने कुओमिनतांग के पुनर्गठन के लिए जो सुझाव दिये उन्हें ही कार्यान्वित किया गया। सुदूर पूर्व के देशों के लिए नियुक्त रूसी प्रतिनिधि जौफ से शंघाई में लम्बी वार्त्ता के फलस्वरूप सोवियत् रूस से सहयोग करने का आधार उस वर्ष के आरंभ में ही बन चुका था। फलतः, एक संयुक्त वक्तव्य में,[2] जौफ की सहमति से डाक्टर सुन ने कहा कि चीन की समस्या पूर्ण स्वाधीनता तथा एकता स्थापित करने की है और यहाँ साम्यवाद या सोवियत्-प्रणाली लागू करना संभव न होगा। चीन की इस समस्या के समाधान में डाक्टर सुन को रूस के पूर्ण सहयोग का आश्वासन मिल चुका था। रूसी घोषणा में चीनी पूर्वी रेलमार्ग व बाहरी मंगोलिया के संबंध में रूस के इरादों से डाक्टर सुन को आश्वस्त किया गया था। इस आश्वासन में सन् १९१९ की सोवियत्-घोषणा के उन सिद्धान्तों की फिर से पुष्टि की गयी थी, जो पूँजीवादी देशों की साम्राज्यवादी नीति के विरोध में सोवियत्-नीति को साम्राज्यवाद-विरोधी स्वरूप प्रदान करते थे।

दक्षिण की सरकार के लिए माइकेल बोरोडिन मुख्य परामर्शदाता नियुक्त किये गये। सितम्बर, १९२३ में बोरोडिन कैण्टन आये और उसी दिन से कुओमिनतांग को नवस्फूर्ति मिलनी शुरू हुई। पहला लक्ष्य तो यह था कि दल को अनुशासित व्यक्तियों का, जो डाक्टर

सुन की व्यक्तिगत निष्ठा की जगह एक संयुक्त कार्यक्रम के सूत्र से आबद्ध हों, सुसंगठित दल बनाया जाय। इस पुनर्गठन के लिए रूसी साम्यवादी-दल को आदर्श बनाया गया। पुराने दल के सदस्यों की एक बार फिर नये सिरे से भरती शुरू हुई। इस प्रकार अनेक वे लोग दल की सदस्यता से वंचित हो गये जो अब भी सन् १९११ की विचारधारा में विश्वास करते थे या जो दल की नयी विचारधारा में रूसी झुकाव को पसन्द नहीं करते थे। दल की सदस्य-संख्या बढ़ाने के लिए चीन के साम्यवादी दल के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप में कुओमिनतांग का सदस्य बनने की अनुमति मिल गयी।

संगठन का आधार हर जगह भरती स्थानीय सदस्य हुए, जो पखवारे में एक बार मिल कर अपनी काररवाइयों को नियंत्रित करते थे। इन स्थानीय सदस्यों को संगठन, अनुशासन व प्रचार के लिए अपनी कार्यसमिति बनाने का तथा दल के हिसाब-किताब की जाँच, सामान्य नियंत्रण तथा दल के नियमों या अनुशासन भंग करने पर सदस्यों के विरुद्ध काररवाई करने के लिए अपनी निरीक्षण समिति बनाने का अधिकार था। संगठन की इस नींव से तहसील, जिला, प्रान्त तथा केन्द्र के संगठन ऊपर उठते चले जाते थे; सबसे ऊपर वार्षिक राष्ट्रीय सम्मेलन था जो नीति संबंधी सर्वोच्च संस्था थी; केन्द्रीय कार्यकारिणी व केन्द्रीय निरीक्षण समिति राष्ट्रीय सम्मेलनों के बीच की अवधि में दल का कार्य-संचालन करती थीं। सिद्धान्ततः, दल की शक्ति का स्रोत नीचे से, साधारण सदस्यों से ऊपर की ओर चलता था, न कि ऊपर से नीचे की ओर जैसा कि डाक्टर सुन के अधीन सारे सदस्यों को करने की पुरानी प्रथा में होता था। किन्तु, दल के संविधान (२१वीं धारा) में डाक्टर सुन को आजीवन दल का अध्यक्ष मान लिया गया था। (धारा २२ में) यह भी व्यवस्था की गयी थी कि "सदस्य अध्यक्ष का निर्देशन मानेंगे और दल का काम आगे बढ़ायेंगे; (२) नीति का अंतिम नियंत्रण अध्यक्ष का होगा और वह राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रस्तावों से भी असहमत हो सकेंगे; और (३) केन्द्रीय कार्यकारिणी में अध्यक्ष का मत सर्वोपरि होगा।" फिर भी दल के नियमित रूप से होने वाले राष्ट्रीय सम्मेलनों तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी की स्थापना से सिद्धान्त व व्यवहार दोनों रूप से सत्ता नेता से हट कर दल में तो आयी ही। २८ जनवरी, १९२४ को दल का पहला राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और उसमें संगठन का जो स्वरूप स्वीकार किया गया, उस पर बोरोडिन के विचारों की स्पष्ट छाप थी। अध्यक्ष के रूप में डाक्टर सुन को जो विलक्षण अधिकार प्राप्त थे, उनका आधार यह आवश्यकता बतायी गयी कि कुओमिनतांग के इतने दिनों तक उनके नियंत्रण व निर्देशन में रहने के फलस्वरूप "पुनस्संगठन के संक्रमण काल में भी उसे डाक्टर सुन यात-सेन के सक्रिय निर्देशन की आवश्यकता है।"[3]

संगठन का स्वरूप काफी हद तक दल की आवश्यकताओं के अनुरूप था और इसीलिए

वही लगभग अपरिवर्तित रूप में ही तब भी लागू रहा, जब दल की सरकार बन गयी। किन्तु परिस्थितिवश, दल के राष्ट्रीय सम्मेलन नियमित रूप से हर वर्ष नहीं हो पाये। सन् १९२४ में पहला सम्मेलन हुआ था और सन् १९३१ तक केवल दो सम्मेलन और हो पाये थे। दूसरा सम्मेलन जनवरी, १९२६ में हुआ था और तीसरा मार्च, १९२९ में। दल के दृष्टिकोण से इसका प्रभाव यह पड़ा कि राष्ट्रीय नीति-निर्देशन उस सीमा तक केन्द्रीय कार्यकारिणी के हाथ में चला गया, जिस सीमा तक उसकी शुरू में कल्पना नहीं की गयी थी।

दूसरी ओर अनेक स्पष्ट दोष होते हुए भी निर्देशन की समिति-प्रणाली के फलस्वरूप ही विभिन्न मत व प्रवृत्ति वाले लोग भी एक साथ दल के निर्देशन में लगे रहे। इस दृष्टि से यह प्रणाली उपयोगी सिद्ध हुई।

(२) दल के सिद्धान्त

कुओमिनतांग के सिद्धान्त, अर्थात् राष्ट्रीय क्रांति का दर्शन, शुरू में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रलेखों के रूप में निर्धारित किये गये थे। ये प्रलेख थे—सन् १९२४ के राष्ट्रीय सम्मेलन में दल का घोषणा-पत्र; सैन मान यू आई या 'जनता के तीन सिद्धान्त' के रूप में प्रकाशित इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए डाक्टर सुन यात-सेन द्वारा दी गयी व्याख्यानमाला, तथा १२ अप्रैल, १९२४ वाले "राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मूल सिद्धान्त।" १२ मार्च, १९२५ को अपनी मृत्यु से पूर्व डाक्टर सुनने जो 'वसीयतनामा'[६] लिखा था, उसका हवाला भी यहाँ आवश्यक है।

क्रांतिकारी दर्शन का केवल संक्षिप्त विवरण ही यहाँ संभव है। यह डाक्टर सुन के 'जनता के तीन सिद्धान्त' पर आधारित था। पहला सिद्धान्त राष्ट्रीयता था। डाक्टर सुन का विश्वास था कि चीनी जन-मानस में परंपरागत चीनी सांस्कृतिक एकता का स्थान मजबूत राजनीतिक एकता द्वारा लेना चाहिए। अपने भाषणों में उन्होंने अनेक बार चीन को 'बालू की रस्सी' की संज्ञा दी। वह कहते थे कि बालू का हर एक कण अन्य कणों के समान है; पर इसी से बालू की रस्सी में मजबूती नहीं आ सकती, जब तक कि राष्ट्रीयता के सीमेण्ट से इन कणों को एक साथ बाँधा न जाय; डाक्टर सुन के अनुसार सत्ता के विकास से सांस्कृतिक समाज को राजनीतिक राज्य बना देना ही राष्ट्रीयता है। इस प्रकार, मूलतः, उनकी राष्ट्रीयता विदेशी विरोध नहीं थी; वह तो चाहते थे कि परिवार, कुल व गाँव के प्रति जो परंपरागत निष्ठा है, वह हट कर राज्य के प्रति हो जाय। अतएव वह राष्ट्रीयता के राष्ट्रभक्ति के विकास वाले पहलू पर बहुत जोर देते थे। किन्तु राष्ट्रभक्ति जगाने का संभवतः सबसे सरल उपाय उन लोगों के प्रति शत्रुता उभार देना होता

है, जो राज्य की अविच्छिन्नता के लिए खतरा हों। इसीलिए साम्राज्यवाद के विरुद्ध, जिसने (डाक्टर सुन के शब्दों में) चीन को उपनिवेश या गुलामों की बस्ती से भी बदतर बना रखा था, एक संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने पर बहुत जोर दिया जाता था। किन्तु यह उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक है कि साम्राज्यवाद का विरोध (डाक्टर सुन की स्थिति साम्राज्यवाद-विरोध में अधिक व्यक्त होती थी——विदेशी विरोध में नहीं) मात्र राष्ट्रीयता का पूर्ण सिद्धान्त नहीं था। अभी भले ही इसका महत्त्व हो, किन्तु अंततः तो चीनी जनता की अपने प्रति भावना, उसके सोचने के ढंग को ही बदलना है। इसका अर्थ यह है कि चीनी जनता छोटे-छोटे गुटों के आधार पर नहीं पूरे राज्य के आधार पर सोचे और इसी आधार पर आगे बढ़े। इसके अतिरिक्त, जातियों की समानता के सिद्धान्त को देश के भीतर व बाहर दोनों ज़गह लागू करना चाहिए; स्वयं चीन में ही पाँच जातियाँ हैं।

दूसरा सिद्धान्त था जनतंत्र का; किन्तु जनतंत्र की यह धारणा सन् १९११ की विचार-धारा से भिन्न थी। सन् १९२४ तक डाक्टर सुन-शासन, जो सत्ता के आधार पर बनता है, और नियंत्रण, जहाँ जनता की सर्वोच्च सत्ता प्रकट होती है, के बीच स्पष्ट भेद करने लगे थे। नियंत्रण के लिए डाक्टर सुन ने चुनाव-नीति निर्धारण करने वाले अधिकारियों को वापस बुलाने की पद्धति, मतगणना तथा जनता की पहल के उपाय सुझाये थे। इन उपायों द्वारा नियंत्रित शासन-प्रणाली पाँच-शक्ति-संगठन के आधार पर निर्मित होनी चाहिए——विधायक, कार्यवाहक, न्याय, परीक्षा तथा परख या सेंसर। परीक्षा और परख पुरानी परिपाटियों के समावेश भर थे, कोई नये सिद्धान्त नहीं थे। डाक्टर सुन के बदले हुए विचारों के अनुसार शासन श्रेष्ठ या प्रवर व्यक्तियों के हाथ में होना चाहिए, किन्तु उस पर नियंत्रण जनता का होना चाहिए, ताकि शक्ति का उपयोग जनहित में हो।

इसके अतिरिक्त यह भी मान्यता प्रकट की गयी (जो सन् १९११ में स्पष्ट नहीं थी) कि जनता अभी तत्काल अपनी शक्ति के उपयोग के लिए तैयार नहीं है। जनतंत्र की ओर प्रगति की तीन स्पष्ट मंजिलें निश्चित हुईं। पहली मंजिल में सैनिक कारवाई होगी और सैन्य-शक्ति प्रबल होगी। सैनिक कारवाई पूरी होने के बाद, दूसरी मंजिल राजनीतिक संरक्षण की होगी, जब जनता को अपनी शक्ति के उपयोग की शिक्षा दी जायगी। यह काम स्थानीय स्तर पर होगा तथा स्थानीय जनता का नियंत्रण अधिक प्रभावकारी बनाया जायगा, एक-एक कदम बढ़कर फिर राष्ट्रीय जनतंत्र का श्रीगणेश होगा। इस प्रकार विकास नीचे से ऊपर की ओर होगा, ऊपर से नीचे की ओर नहीं। इस दृष्टिकोण के अनुसार यदि किसी प्रान्त या क्षेत्र में सैनिक कारवाई पहले पूरी हो जाय तो सारे देश में

इसके पूरे होने की प्रतीक्षा किये बिना ही राजनीतिक संरक्षरण का युग शुरू किया जा सकता था। इस युग में शासन-तंत्र पर जनता का नहीं, दल का पूर्ण नियंत्रण होगा। जब जनता राष्ट्रीय स्तर पर अपने अधिकारों का उपयोग करने को तैयार हो जायगी, तभी संवैधानिक गणतंत्र की सरकार बनाना विवेकपूर्ण होगा।

तीसरा सिद्धान्त जनता की जीविका का था। सत्ता प्राप्त करने के बाद उसका उपयोग किस प्रकार किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर डाक्टर सुन के इस सिद्धान्त में निहित था। मोटे तौर पर डाक्टर सुन का कार्यक्रम इतिहास की आर्थिक नहीं सामाजिक व्याख्या पर आधारित था। इस प्रश्न पर व्याख्यान देते हुए डाक्टर सुन ने मार्क्स के भौतिकतावादी सिद्धान्त की काफी लम्बी आलोचना की और यह निष्कर्ष निकाला कि वर्ग-संघर्ष और भौतिकतावाद दोनों ही चीन की परिस्थिति में लागू नहीं हो सकते।[५] चीन के मुख्यतः खेतिहर देश होने के कारण किसान की जीविका के प्रश्न पर विशद रूप से विचार किया गया। इस समस्या को हल करने के लिए डाक्टर सुन ने जो कार्यक्रम पेश किया, उस पर हैनरी जॉर्ज की झलक स्पष्ट थी; इसके अनुसार सामाजिक विकास द्वारा भूमि में लगी पूँजी सरकार से लेकर भूमि का बराबर-बराबर बटवारा कर दिया जाता। इसके आगे, अपने भाषणों में डाक्टर सुन ने जीविका के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में लागू करने के लिए जो सुझाव दिये, उनसे डाक्टर सुन बूर्जुआ उग्र समाज सुधारक के रूप में ही प्रकट होते थे, साम्यवादी के रूप में नहीं, किन्तु सिद्धान्त पर प्रकट विचार सामान्य थे, विशिष्ट नहीं और इसलिए उनसे ठोस व्यावहारिक कार्यक्रम ढूँढ़ निकालना कठिन था। इसके अतिरिक्त, विचारों की सामान्यता के ही कारण भिन्न सामाजिक व आर्थिक लक्ष्य व हित वाले नेताओं को एक साथ रखना संभव हुआ और अंत में तथाकथित साम्यवादी कार्यक्रम के पक्ष-विपक्ष में घोर विवाद हुआ।

(३) कैण्टन में शक्ति के लिए संघर्ष (१९२४–१९२६)

जब कुओमिनतांग को पुनर्गठित कर उसे मजबूत बनाने के लिए कारवाई हो रही थी, तभी कैण्टन के व्यापारियों व क्वांगतुंग प्रान्त के कुलीन वर्ग में असंतोष बढ़ रहा था। युन्नान व क्वांगसी के सैनिक नेताओं के समर्थन से ही सन् १९२३ में डाक्टर सुन यात-सेन ने फिर से सत्ता प्राप्त की थी। किन्तु इन सैनिक नेताओं की दिलचस्पी सुशासन में नहीं, नगर व प्रान्त के शोषण द्वारा अपनी जेबें भरने में थी। अपनी सुरक्षा के लिए, डाक्टर सुन की सहमति से, व्यापारियों व कुलीनों ने एक स्वयंसेवक संगठन बनाया और इसे व्यापारी स्वयंसेवक-दल का नाम दिया। सेना से जान-माल की रक्षा के लिए ये टुकड़ियाँ स्थानीय स्तर पर बनायी गयी थीं। किन्तु जैसे-जैसे कुओमिनतांग का प्रचार उग्र होता

गया और इसके फलस्वरूप मजदूरों व किसानों के संगठन बनने लगे, कुलीनों का असंतोष दल के सैनिक समर्थकों की जगह दल के विरुद्ध ही हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापारी स्वयंसेवक दल के बूते पर डाक्टर सुन को कैण्टन से निकाल देने के लिए आंदोलन खड़ा कर दिया गया; ये लोग चे'न चिउंग-मिंग को फिर नगर में वापस लाने को तैयार हो गये। सितम्बर व अक्तूबर, १९२४ में जब संघर्ष हुआ, उसकी शुरुआत डाक्टर सुन द्वारा व्यापारी स्वयंसेवक-दल के वे हथियार जब्त कर लेने से हुई जो विदेशों से मँगाये गये थे। फलतः, संघर्ष स्वयंसेवक-दल की पूरी तैयारी के पहले ही हो गया और कुओमिनतांग दल पूरी तरह जीत गया। संघर्ष के कारण कैण्टन में संपत्ति का भारी विनाश हुआ और इससे भी डाक्टर सुन की प्रतिष्ठा कुछ गिरी।

इसके तत्काल बाद ही डाक्टर सुन उत्तर की ओर रवाना हो गये। सन् १९२२ से ही वह उत्तर में तुआन ची-जुई का साथ दे रहे थे और अब वह वू पी-फू का तख्त उलटने के लिए तुआन और चांग त्सो-लिन का साथ देने का प्रयास कर रहे थे। किन्तु, सैन्य-शक्ति-हीन होने के कारण वह निर्णय में सहायक नहीं हो सके, यद्यपि फेंग यू-ह्सियांग के फूट आने के कारण निर्णय वू के विरोधियों के पक्ष में ही हुआ। वू के विरुद्ध दक्षिण में आंदोलन शुरू करने में असफल रहने के बावजूद डाक्टर सुन ने पीकिंग जाकर चांग, फेंग व तुआन की सहायता ऐसी सरकार बनाने में करने का आमंत्रण स्वीकार कर लिया, जो चीन में एकता स्थापित कर सके। पीकिंग वह दिसम्बर में पहुँचे और वहाँ उन्हें पता लगा कि सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय पहले ही हो चुके थे और इस प्रकार हुए थे, जो उन्हें अस्वीकार्य थे। बीमार तो वह पीकिंग पहुँचने के पहले ही से थे, १२ मार्च, १९२५ को उनकी वहीं मृत्यु हो गयी।

डाक्टर सुन यात-सेन की मृत्यु के दो महत्त्वपूर्ण किन्तु परस्पर विरोधी परिणाम हुए। एक तो डाक्टर सुन रातोंरात राष्ट्रीय चीन व कुओमिनतांग के जननायक और संरक्षक संत बन गये। उनके विवेक के संबंध में जो भी संशय थे, वे समाप्त हो गये, उनकी पुरानी भूलें व राजनीतिक अक्षमताएँ भुला दी गयीं। मृत्यु से पहले अनेक लोग उन्हें स्वप्नद्रष्टा मानते थे और कुछ उन्हें उत्पाती समझते थे, किन्तु अब वह समस्त ज्ञान व विवेक के स्रोत हो गये। इससे तथा रूसी प्रभाव व निर्देशन से चीनी राजनीति में कुओमिनतांग एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बन गया। सुन यात-सेनवाद सुन-यात-सेन से अधिक स्फूर्त शक्ति बन गया। उनका 'वसीयतनामा' दल के लिए पवित्र सिद्धान्त बन गये और 'जनता के तीन सिद्धान्त' राष्ट्रीयतावादियों का धर्मग्रंथ हो गया।

किन्तु इस सबके बावजूद दूसरा परिणाम भी प्रकट ही हुआ। उनकी मृत्यु से दल के नेतृत्व के लिए संघर्ष के फलस्वरूप सैद्धांतिक फूट का द्वार खुल गया। सैद्धांतिक मतभेदों

का कारण डाक्टर सुन द्वारा अपनी बातों को सामान्य या आम ढंग से कहना था, जिससे उन्हें लागू करने में व्याख्याभेद की गुंजाइश रह जाती थी।

संघर्ष में दल का वामपक्ष अधिक सुविधाजनक स्थिति में था और इसे साम्यवादी सदस्यों का समर्थन प्राप्त था। दल के केन्द्रीय यंत्र पर इसका नियंत्रण था। क्वांगतुंग के कुलीनों व कैण्टन के व्यापारियों के विरुद्ध संघर्ष में विजयी होने से कैण्टन पर इसका कब्जा था। सन् १९२५ में जब चेन चिउंग-मिग व क्वांगसी तथा युन्नान के सैनिक नेताओं ने उस पर हमला किया, तब विजय वामपक्ष की ही हुई। जनवरी, १९२६ में दल के दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के निर्णयों पर भी इसी का प्रभुत्व रहा। दल के भीतर के संघर्ष की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण निर्णय रूसी संबंध कायम रखना था। दल में साम्यवादियों की भरती तथा यह निर्णय ही वामपक्ष व दक्षिणपक्ष के बीच मतभेद के सबसे बड़े कारण थे, जैसे कि वे दक्षिणपक्ष के, तथाकथित 'पश्चिमी पहाड़ी सम्मेलन' में बनाये गये कार्यक्रम में प्रकट हुए। दक्षिणपक्ष के कार्यक्रम को दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन में विचार के लिए पेश न होने देने से दल में फूट कायम रही।

शंघाई में ३० मई की घटना के बाद ब्रिटेन से जो झगड़ा हुआ, उससे भी रूसी झुकाव को सहायता मिली। जापानी मिलमालिकों के विरुद्ध मजदूरों की हड़ताल के समर्थन में प्रदर्शन करने वाले छात्रों व अन्य व्यक्तियों पर अंतरराष्ट्रीय बस्ती की पुलिस ने एक अंग्रेज के नेतृत्व में गोली चलायी। इसका सारे देश में जोर-शोर से विरोध हुआ और कैण्टन में भी इसी प्रकार का प्रदर्शन किया गया। इस प्रदर्शन पर भी अंग्रेज पुलिस ने गोली चलायी और इसका जो परिणाम हुआ, उसे शाकी-शामीन कत्ल-आम की संज्ञा दी गयी। तत्काल इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि हांगकांग व ब्रिटेन के साथ होने वाले व्यापार का बहिष्कार शुरू कर दिया गया।[६] भविष्य के लिए इस घटना का यह परिणाम हुआ कि राष्ट्रीयतावादी यह मानने लगे कि डाक्टर सुन यात-सेन के राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का अर्थ केवल साम्राज्यवाद का विरोध था और कुओमिनतांग का यही सबसे महत्त्वपूर्ण नारा बन गया। साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में दल के सभी तत्त्व एक हो सकते थे। इस संघर्ष के प्रारम्भ से उन लोगों की स्थिति मजबूत हुई, जो रूस से संबंध कायम रखने के समर्थक थे, क्योंकि रूसी नीति घोषित रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी थी।

(४) उत्तर की ओर अभियान

किन्तु साम्राज्यवाद के विरुद्ध सफल संघर्ष के लिए कैण्टन से अधिक व्यापक आधार आवश्यक था। इस कारण ध्यान एक अन्य शत्रु की ओर गया, जिसके विरोध में भी दल में संयुक्त मोर्चा था। यह उत्तरी सेनावाद था। डाक्टर सुन सन् १९१७ से ही उत्तरी अभियान

के स्वप्न देख रहे थे और अब दल ने इसे अपना लक्ष्य बना लिया। दल के दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन में (सन् १९२६ में) तुरन्त अभियान का निर्णय हुआ था, किन्तु रूसी परामर्शदाताओं ने इसका विरोध किया था और उनकी राय थी कि अभियान स्थगित कर दिया जाय। किन्तु कैण्टन में लगातार बढ़ती हुई गुटबन्दी की प्रवृत्ति और उससे स्वयं अपनी स्थिति बिगड़ने की आशंका से (जिसका उदाहरण सन् १९२६ के वसन्त में वामपक्ष के विरुद्ध च्यांग काई-शेक के विप्लव में मिला था), बोरोडिन ने अपना मत बदल दिया और उत्तर के सैनिक नेताओं के विरुद्ध अभियान का वह समर्थन करने लगे। इस नये दृष्टिकोण में यह नयी समझ भी शामिल थी कि ब्रिटेन व अन्य पूँजीवादी देशों के विरुद्ध आंदोलन के लिए व्यापक क्षेत्र आवश्यक है।

सन् १९२६ की गर्मियों में अंततः यह उत्तरी अभियान शुरू हुआ। मुख्य रूसी सैनिक परामर्शदाता, जनरल ब्लूशर ने इस आक्रमण की रूपरेखा तैयार की, जिसके अनुसार हैनकाउ के विरुद्ध हुनान व किआंगसी प्रान्तों से एक साथ बढ़ाव होना था। योजना यह थी कि हैनकाउ से यांग्त्सी के किनारे-किनारे नानकिंग व शंघाई पहुँचने के बाद पीकिंग-हैनकाउ व टींटसीन-पुकोड-रेलमार्गों के किनारे-किनारे उत्तर की ओर पीकिंग तक पहुंचा जा सकता था। यांग्त्सी की ओर बढ़ाव में सारी सेनाएँ च्यांग काई-शेक के सेनापतित्व में कर दी गयीं और उन्हें इस अभियान की अवधि के लिए दल के निरीक्षण-पंचों के नियंत्रण से मुक्ति दे दी गयी। किन्तु किंआंगसी प्रान्त से बढ़ रही सेनाएँ हुनान हो कर हैनकाउ की ओर बढ़ने वाली सेनाओं की अपेक्षा उनके सीधे और प्रत्यक्ष नेतृत्व के अधीन थीं।

जब तक जनरल च्यांग नानचांग पहुँचे, वूपीफू के विरुद्ध मध्य से चली सेना ने हैनकाउ पर कब्जा कर लिया था। उत्तर के एक महत्त्वपूर्ण सैनिक नेता को इतनी जल्दी पराजित करने का श्रेय युद्धकौशल को था, जो वहाँ अपनाया गया था। सैन्य-संचालन और अभियान के बहुत पहले ही किसानों व विरोधी सेनाओं में व्यापक प्रचार किया गया था। परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय सेना की शक्ति बहुत बड़ी संख्या में किसानों व वूपीफू की सेना के सैनिकों के आ मिलने से बढ़ गयी और उधर वू की सेना कमजोर पड़ गयी। फिर, सेना के आगे बढ़ जाने पर दल के प्रचारक पीछे ही रुक जाते थे और अपने अधिकार के क्षेत्रों में संगठन बनाते थे और अभियान के लाभ को सुसंगठित करते थे। इन प्रचारकों में अधिकांश के साम्यवादी तथा उग्र वामपक्षी लोगों के होने से राष्ट्रीय सेना के कब्जे में आये क्षेत्रों में उग्र व साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार हुआ।

उत्तर की ओर अभियान में सफलता से कैण्टन की सरकार का स्वरूप और अधिक स्पष्टरूप से साम्यवादी हो गया। अभी तक यह सरकार साम्यवादियों व कुओमिनतांग के वामपक्ष की मैत्री पर निर्भर थी और नेतृत्व में वरीयता साम्यवादियों को नहीं वामपक्ष

को ही दी जाती थी। यह स्थिति उस विराम संधि से स्पष्ट हो जाती थी, जो बोरोडिन की अनुपस्थिति में उग्रपंथियों के विरुद्ध च्यांग काई-शेक साम्यवाद-विरोधी आक्रमण के उपरान्त की गयी थी और जिसमें साम्यवादियों के विभागाध्यक्ष होने पर निषेध लगा दिया गया था यद्यपि च्यांग बोरोडिन से ही संधि करने आये थे। यह निर्णय दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी के खुले अधिवेशन में किया गया था। किन्तु च्यांग के सैन्य-संचालन के लिए बाहर रहने तथा प्रमुख वामपक्षी नागरिक नेता वैंग चिंग-वी के विदेश चले जाने से संयम कायम रखने वाले लोग नहीं रह गये थे। फलतः, नवम्बर में जो सरकार कैण्टन से हैनकाउ गयी, उस पर रूसी परामर्शदाताओं का प्रभाव बढ़ गया। इसके अतिरिक्त, नेताओं में यह भी अभिलाषा जाग्रत हुई कि दल के भीतर अभी तक च्यांग की जो मजबूत स्थिति थी, उसे कमजोर किया जाय; फलतः, च्यांग-विरोधी आंदोलन भी चल गया।

यह स्थिति देखकर च्यांग ने केन्द्रीय कार्यकारिणी की एक बैठक नानचांग में बुलाने का प्रयत्न किया, जहाँ वह अपना प्रभुत्व फिर से जमा सकते थे। किन्तु बैठक हैनकाउ में हुई जहाँ च्यांग अनुपस्थित थे। परिणाम यह हुआ कि च्यांग को सर्वोच्च सेनापति के पद से तथा स्थायी समिति की अध्यक्षता से हटा दिया गया, किन्तु केन्द्रीय कार्यकारिणी की उनकी सदस्यता कायम रहने दी गयी।

(५) हैनकाउ और नानकिंग

यह बहुप्रतीक्षित तथा बहुधा टाल दी गयी दल की फूट की भूमिका थी, जिसके कारण, कुछ समय के लिए, उत्तरी सैनिक नेताओं व साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्ष भी थम गया।[७] कुछ समय तक तो विदेशी-विरोधी आंदोलन भी, जैसा कि साम्यवादी राष्ट्रीय सैनिकों द्वारा नानकिंग पर कब्जा कर लेने के समय हुआ था, मूलतः इसीलिए संगठित किये गये कि उनका प्रभाव विदेशों पर नहीं आंतरिक राजनीति पर पड़े। जब हैनकाउ में समाचार पहुँचा कि च्यांग नानकिंग पर कब्जा करना चाहते हैं और शंघाई पर नियंत्रण करना चाहते हैं, ताकि वहाँ के समृद्ध व्यापारियों की सहायता प्राप्त कर सकें, राष्ट्रीय फौजें पहले ही नानकिंग में घुस गयीं और विदेशी संपत्ति लूटनी शुरू कर दीं; ऊपर से यही पता था कि ये फौजें भी च्यांग के ही आदेश से आयी हैं; आशा यही की गयी थी कि इस घटना से च्यांग को विदेशी शक्तियों से उलझ जाना पड़ेगा; विदेशी पहले से आतंकित थे और देश के भीतरी भागों से अपने-अपने नागरिकों को निकाल कर बाहर ला रहे थे, शंघाई में और अधिक सैनिक भेज रहे थे और वहाँ की अंतरराष्ट्रीय बस्ती व फ्रांसीसी रिआयती क्षेत्र की सुरक्षा के लिए रोकें व बाड़ें बना रहे थे।[८] किन्तु च्यांग कुछ समय तक अंतरराष्ट्रीय कठिनाइयों से बच गये, यद्यपि उनकी प्रेरणा व प्रयास से जो सरकार अंततः नानकिंग में बनी उसने इस

घटना के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार कर लिया और विदेशी प्रतिनिधियों से नार्नकिंग की इस घटना के लिए हरजाने का समझौता कर लिया।

नार्नकिंग में इस तरह मात खाने पर च्यांग सीधे शंघाई चले गये, जहाँ उन्हें व्यापारियों व धनिकों, रूसी झुकाव के कारण असंतुष्ट हो कुओमिनतांग से बाहर निकले पुराने नेताओं (तथाकथिक पश्चिमी पहाड़ी सम्मेलन वाला गुट) तथा उन श्रमिक संगठनों के नेताओं व सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो गया, जो वामपक्षीय व साम्यवादी प्रचार से प्रभावित नहीं हुए थे। अतएव वह बिना रक्तपात नगर पर अधिकार जमाने में सफल हो गये; बलप्रयोग केवल नृशंसतापूर्वक साम्यवादियों का दमन करने में प्रयुक्त हुआ।

हैनकाउ-शासन के वे नरम दली सदस्य भी, जो नयी उग्र नीतियों से घबरा गये थे, शंघाई जाकर च्यांग से तब जा मिले, जब उन्होंने नानचांग से हट कर शंघाई को अपना केन्द्र बना लिया। कुछ ऐसे भी नेता थे, और वांग चिंग-वी उनमें प्रमुख थे, जो वामपक्ष के गैर-साम्यवादी सदस्य थे और जो दल की विनाशकारी फूट रोकने के लिए च्यांग और हैनकाउ के बीच समझौता कराने के प्रयास कर रहे थे। इन प्रयासों के असफल होने पर हैनकाउ-शासन में च्यांग को कुओमिनतांग से निकाल दिया और उधर च्यांग ने अपनी सरकार नार्नकिंग में बनाकर उन सभी लोगों के साथ आने का आह्वान किया जो रूसी प्रभाव व साम्यवाद के विरुद्ध थे। पीकिंग के रूसी कार्यालय पर चांग त्सो-लिन द्वारा आक्रमण, लन्दन में आर्कस काण्ड तथा वूहान-सरकार से संबद्ध साम्यवादी कार्यकर्त्ता, एम० एन० राय के कुछ अविवेकपूर्ण कार्यों से यह स्पष्ट हो गया कि रूस चीन में राष्ट्रीय क्रांति के लक्ष्य पूरा कराने में उतनी दिलचस्पी नहीं रखता जितनी दिलचस्पी उसे चीनी क्रांति को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए है; इससे नरमदलीय गुट को शक्ति मिली। कुओमिनतांग के वामपक्षीय सदस्य साम्यवादियों से अलग होकर नरमदल से जा मिले और वे भी इसी मत के हो गये कि दल में से साम्यवादियों को निकाल देना चाहिए और बोरोडिन व अन्य रूसी परामर्शदाताओं को वापस भेज देना चाहिए। यह काम सन् १९२७ की ग्रीष्म में पूरा हुआ, और तब भी, दल में इतनी भीतरी समरसता नहीं आयी कि उत्तर के सैनिक नेताओं के विरुद्ध सफलतापूर्वक अभियान किया जा सकता। केन्द्रीय कार्यकारिणी पर नियंत्रण होने के कारण हैनकाउ के नेता कुओमिनतांग में अपने बहुमत का दावा करते रहे और च्यांग काई-शेक व उनके नानकिंग-स्थित समर्थकों को अल्पमत में बताते रहे। इस संघर्ष में क्वांग्सी के सैनिक नेता तथा फेंग यू-ह्सियांग जैसे लोग जो वू पी-फू के विरुद्ध अपनी तटस्थता छोड़ कुओमिनतांग को सक्रिय सहयोग देने लगे थे, नानकिंग व हैनकाउ के बीच संतुलन बनाने के लिए एक या दूसरे पक्ष का समर्थन करते रहे।

संघर्ष में एक बार एक पक्ष की जीत हुई और दूसरी बार दूसरे की। सुन चुआनफेंग के विरुद्ध युद्ध में हार कर च्यांग नानकिंग में कमजोर हो चुके थे और अगस्त में वह इस्तीफा देकर नानकिंग के अन्य नेताओं के साथ अवकाश लेकर नानकिंग चले गये। तब वूहान के नेताओं ने नानकिंग को राजधानी बनाने का निश्चय किया। च्यांग के इस्तीफे के बाद नानकिंग में क्वांग्सी के सैनिक नेताओं का नियंत्रण था और हैनकाउ-शासन का सितम्बर में उनसे समझौता हो गया। किन्तु यह समझौता बहुत थोड़े दिनों तक ही चला और वामपक्षीय नेताओं के कैण्टन लौट जाने पर फिर च्यांग से समझौते की बात शुरू की गयी। तब तक च्यांग व फेंग यू-ह्सियांग में मैत्री हो चुकी थी। फलतः, सन् १९२७ के अंत तक च्यांग काई-शेक फिर सत्ता में आ गये, दल में इतनी एकता आ गयी कि उत्तर के सैनिक नेताओं के विरुद्ध अभियान फिर से चालू किया जा सका। उस समय स्थिति यह थी कि यांग्त्सी के दक्षिण का क्षेत्र नानकिंग की पुनस्संगठित सरकार के नाममात्र के नियंत्रण में आ गया था। उत्तर-पश्चिम के प्रान्तों व होनान पर फेंग यू-ह्सियांग का शासन था, जो अब कुओमिनतांग के निर्देशन में चल रहे थे। शांसी प्रान्त के राज्यपाल येन ह्सी-शान भी राष्ट्रीयतावादियों के साथ आ मिले थे। अतः, चांग त्सो-लिन की संयुक्त सरकार के अधिकार में केवल उत्तर के आनहुई, चिहली व शानतुंग के प्रान्त तथा मंचूरिया के तीन प्रांत ही रह गये थे।

(६) राष्ट्रीयतावादियों द्वारा देश में एकता की स्थापना

सन् १९२८ के वसन्त में राष्ट्रीयतावादी दल के तत्वावधान में चीन में एकता स्थापित करने के लिए सैनिक काररवाई आरम्भ हुई। इस बार भी सर्वोच्च सेनापति च्यांग काई-शेक बने। इस बार भी युद्ध की योजना यही बनी कि फौजें समानान्तर होकर उत्तर में पीकिंग की ओर बढ़ें। और इस बार भी, यांग्त्सी के उत्तर की ओर बढ़ाव की भाँति ही, च्यांग पीछे रह गये और मध्य से आने वाली सेनाएँ पहले ही लक्ष्य पर पहुँच गयीं। किन्तु इस बार च्यांग के बढ़ाव में जापान बाधक हुआ था, क्योंकि शानतुंग प्रान्त में त्सिंगताओ-त्सिनान रेलवे-मार्ग के किनारे-किनारे, अपने हितों की रक्षा के लिए उसने (जापान ने) अपने सैनिक तैनात कर रखे थे। यह एक वर्ष पूर्व ही हो चुका था, जब नानकिंग में सरकार बनाने के बाद च्यांग ने उत्तर की ओर बढ़ने की कोशिश की थी। उस समय संघर्ष बच गया था। किन्तु इस बार जापानी सैनिकों व त्सिनान पर अधिकार करने वाले क्रांतिकारी सैनिकों के बीच एक संघर्ष हो गया। किन्तु इस घटना को आगे नहीं बढ़ने दिया गया और संघर्ष स्थानीय घटना बना कर रह गया, जिससे स्थिति में गंभीरता नहीं आ पायी। किन्तु मनमुटाव तो हो ही गया था और इसी के कारण चांग त्सो-लिन को पीकिंग से खदेड़ने

के काम में च्यांग स्वयं शामिल नहीं हो सके ।[९] यह जून में हुआ और च्यांग अपने सैनिकों के साथ उत्तर में मंचूरिया चले गये । अपनी दिलचस्पी के क्षेत्र को गृहयुद्ध से सुरक्षित रखने की नीति का अनुसरण करते हुए जापान ने राष्ट्रीय सेना को चांग का पीछा करते हुए मुकडेन तक जाने से रोक दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय फौज का मंचूरिया में प्रभुत्व नहीं बढ़ने दिया । किन्तु, यह प्रभुत्व मंचूरिया में स्वयमेव पहुँच गया जब मुकडेन में एक बम-दुर्घटना में चांगत्सो-लिन की मृत्यु के बाद उनके पुत्र, चांग ह् सुएह-लिआंग, ने स्वेच्छा से राष्ट्रीय चीन में मंचूरिया के प्रान्त मिलाते हुए राष्ट्रीय झण्डा वहाँ फहरा दिया ।

पीकिंग पर अधिकार करने के बाद चीन की राजधानी नानकिंग ले आयी गयी; सन् १९११ में क्रांतिकारियों ने यही माँग की थी पर युआन शिह-का'ई तब उन्हें परास्त करने में सफल हो गये थे । अतीत से संबंध-विच्छेद करने के लिए क्रांति के पहले की राजधानी का नाम बदल कर पीपिंग कर दिया गया ।[१०] सरकार और उसके कार्यालयों के नानकिंग चले जाने के बाद पीपिंग की प्राचीन गौरव-गरिमा की याद दिलानेवाला क्षेत्र केवल विदेशी दूतावासों का ही रह गया था और वे भी धीरे-धीरे नयी राजधानी में जाने के निर्णय करते जा रहे थे ।

(७) राष्ट्रीय सरकार की स्थापना

क्रांति का सैनिक युग समाप्त होने पर च्यांग काई-शेक ने सर्वोच्च सेनापति तथा सैनिक परिषद् की अध्यक्षता से इस्तीफा देकर, सैद्धांतिक दृष्टि से शक्ति-सत्ता दल को वापस सौंप दी, जिससे यह शक्ति पहले प्राप्त हुई थी । अब देश के पुनर्निर्माण की ओर ध्यान गया । अगस्त, १९२८, में कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी के पाँचवें खुले अधिवेशन में राष्ट्रीय सरकार की संघटनात्मक विधि के निर्माण का निर्णय हुआ । यह विधि अक्तूबर में लागू हुई और अब देश औपचारिक रूप से क्रांति की दूसरी मंज़िल अर्थात् राजनीतिक संरक्षण के युग में आ गया । डाक्टर सुन की योजना के अनुसार, इस युग में नियंत्रण दल के हाथों में रहना था और दल राष्ट्रीय सम्मेलन, केन्द्रीय कार्यकारिणी व स्थायी समिति द्वारा इस नियंत्रण का उपयोग करता । संघटनात्मक विधि के अनुसार शासनतंत्र का निर्देशन व निरीक्षण दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी व केन्द्रीय राज्य-समिति के सदस्यों द्वारा निर्मित केन्द्रीय राजनीतिक परिषद् के हाथों में था । इस प्रकार दल व शासन के बीच व्यक्तियों की सीधी कड़ी बन गयी । सरकार की दृष्टि से, राज्यपरिषद् सर्वोच्च संस्था थी, जिसका अध्यक्ष राज्य का अध्यक्ष हुआ । इसके अंतर्गत शासन का डाक्टर सुन की कल्पना के अनुरूप विधायक, कार्यकारी, न्याय, परीक्षा तथा परख (सेंसर) के पाँच भिन्न युआनों में संगठन हुआ ।

२५ अक्तूबर, १९२८ के कानून में प्रान्तीय सरकारों का ढाँचा घोषित हुआ; इसके अनुसार प्रान्तीय शासनतंत्र प्रान्तीय परिषदों के अधीन कर दिया गया और उसका एकीकरण हो गया। इन परिषदों के सदस्यों व अध्यक्षों के नाम राष्ट्रीय सरकार को तय करने थे। प्रान्तीय परिषदों के ऊपर, हैनकाउ, कैण्टन, काइफेंग, ताइ यु आन, पीकिंग व मुकडेन में राजनीतिक परिषद् की शाखाएँ स्थापित की गयीं, जो प्रभाव के क्षेत्रीय केन्द्रों के रूप में थीं।

औपचारिक संविधान की जगह, शासन के आधार के रूप में संघटनात्मक विधि १२ मई, १९३१ तक कायम रही, जब इसी हेतु बुलाये गये राष्ट्रीय जन-सम्मेलन ने अस्थायी संविधान स्वीकार कर लिया। इस नये संविधान में संघटनात्मक विधि वाला शासकीय ढांचा ही काफी हद तक कायम रखा गया, और कुओमिनतांग की केंद्रीय कार्यकारिणी द्वारा सरकार के नियंत्रण की व्यवस्था भी कायम रखी गयी, केवल राज्यपरिषद् के अध्ययक्ष के अधिकार काफी बढ़ा दिये गये। किन्तु इस संविधान में राज्य के क्षेत्र, नागरिकता, जनता के कर्त्तव्य तथा अधिकार आदि के अध्याय थे; जनता की जीविका के सिद्धान्त, शिक्षा, केन्द्रीय व स्थानीय शासनों के बीच शक्ति व अधिकार-विभाजन, स्थानीय सरकारों की स्थापना आदि की व्यवस्था भी इसमें की गयी। अस्थायी संविधान के उस समय स्वीकार होने के कारण, जब मंचूरिया में जापान से संघर्ष हुआ तथा जब दक्षिण-मध्य चीन में साम्यवाद के फिर से उभर आने के कारण राज्य के स्थायित्व के लिए गंभीर संकट पैदा हो गया था, उसका वास्तविक महत्त्व केवल सैद्धांतिक ही रह गया था। जो भी हो, यह संविधान राजनीतिक संरक्षण की दूसरी मंजिल पूरी होने तक, जिसके लिए सन् १९३५ की सीमा मान ली गयी थी, सरकार चलाने के यंत्र के रूप में आया।

(८) घरेलू राजनीति (१९२९–१९३३)

उत्तर के सैनिक नेताओं के परास्त होने तथा १ जनवरी, १९२९ को कुओमिनतांग की सत्ता चांग ह्सुएह-लिआंग द्वारा स्वीकार होने के बाद यदि चीन में वास्तविक एकता स्थापित हो जाती तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की दिशा में तेजी से बढ़ा जा सकता था। किन्तु इस दिशा में बढ़ाव इसलिए बहुत कम हो गया कि सरकार को अपने आप को कायम रखने के लिए भी लगातार संघर्ष करना पड़ रहा था। च्यांग काई-शेक शासन के अध्यक्ष थे और नानकिंग सरकार उनके नियंत्रण में थी, किन्तु इनका अधिकार क्षेत्र केवल यांग्त्सी के मुहाने के प्रान्तों तक ही सीमित था। अन्यत्र सरकार की सत्ता उन मैत्रियों पर निर्भर थी जो फेंग यू-ह्सियांग, येन ह्सी-शान तथा हैनकाउ-केन्द्र के क्षेत्र पर नियंत्रण करने वाले

क्वांग्सी सैनिक नेताओं से की गयी थीं। इसके अतिरिक्त, साम्यवाद-विरोधी अभियान को इतनी सफलता तो मिल गयी थी कि दक्षिण-मध्य चीन में उनकी शक्ति समाप्त कर दी गयी थी, किन्तु साम्यवादियों को ही पूर्णतः समाप्त करने में अभियान असफल रहा था। साम्यवादी-आंदोलन गुप्त हो गया, किन्तु प्रचार जारी रहा तथा मूल राष्ट्रीय सेनाओं के एक भाग की विचारधारा साम्यवादी बनी रही और वह भाग राष्ट्रीय सरकार के विरुद्ध प्रतिरोध को जारी रखे रहा। सिद्धान्त की दृष्टि से भी कुओमिनतांग का दक्षिण पक्ष दल के यंत्र पर अधिकार जमाये हुए था और वामपक्ष व दक्षिण पक्ष के संघर्ष के फिर से उभर आने की आशंका बनी हुई थी। तत्काल, वामपक्ष, जो पुनस्संगठनवादी कहलाने लगा था, नानकिंग-शासन के प्रति तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाने लगा था।

अतएव, इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति अपने को कायम रखने में ही लग रही थी। जनवरी, १९२९ में सामन्ती-सैनिक शक्ति के विघटन की योजना बनाने के लिए जो सम्मेलन बुलाया गया था, उसकी बैठक समाप्त होने के पहले ही फेंग यू-ह्सियांग ने च्यांग की नानकिंग-सरकार को सहयोग देना बन्द कर दिया था।[११] १५ मार्च, १९२९ को दल के तीसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के गठन के ढंग के संबंध में नानकिंग के नेताओं ने जो निर्णय किये, उनका वामपक्षीय नेताओं ने कड़ा विरोध किया। और यह बाद में कैण्टन में विद्रोह का झण्डा ऊँचा करने का आधार बन गया। फिर मार्च में, क्वांग्सी गुट से खुला सैनिक-संघर्ष हो गया। नानकिंग-शासन की सहायता की माँग पर, अपने अधिकार-क्षेत्र के विस्तार की आशा में आये फेंग यू-ह्सियांग ने च्यांग से मिलकर क्वांग्सी के सैनिक नेताओं को हैनकाउ से खदेड़ दिया।

अतएव च्यांग व फेंग के बीच का निर्णायक संघर्ष सन् १९३० तक के लिए टल गया। इस बीच दोनों पक्ष आरोप-प्रत्यारोप द्वारा एक दूसरे को निर्बल बनाने की कोशिश करते रहे और चीन का परंपरागत सैनिक-राजनयिक संघर्ष का उपाय काम में आता रहा। येन ह्सी-शान व चांग ह्सुएह-लिआंग की सहायता पाने के लिए च्यांग व फेंग दोनों प्रयत्नशील थे। जब संघर्ष हुआ तो नानकिंग को येन व फेंग की संयुक्त शक्ति का सामना करना पड़ा, यद्यपि चांग ने, जो शुरू में तटस्थ थे, बाद में नानकिंग का साथ दिया। अंततः येन समाप्त हो गये और फेंग उत्तर-पश्चिम के अपने क्षेत्र में खदेड़ दिये गये;[१२] इनके क्षेत्र चांग के नियंत्रण में आ गये और इस प्रकार उनकी फिर वही स्थिति हो गयी जो सन् १९२८ में उनके पिता की थी, जब वह उत्तर से हटाये गये थे। अंतर केवल इतना था कि वह च्यांग के नियंत्रण वाली नानकिंग-सरकार के प्रति निष्ठावान् थे और उनके पिता लगातार राष्ट्रीयतावादियों से लड़ते रहे थे। नानकिंग-शासन के अधीन उनकी यह स्थिति तब तक बनी रही, जब तक मंचूरिया में जापान ने उनकी शक्ति तोड़ नहीं दी और जापान के

विरुद्ध सफल प्रतिरोध संगठित करने में असफल होने के कारण वह उत्तरी चीन में अपनी अधिकार-सत्ता छोड़ने को बाध्य नहीं हो गये।

जब उत्तर में शक्ति हथियाने के लिए यह संघर्ष चल रहा था यांग्त्सी के दक्षिण में भी नानकिंग-सरकार को अपनी सत्ता के विरुद्ध चुनौतियाँ मिल रही थीं। जैसा कि कहा जा चुका है, दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी पर दक्षिणपंथी नेताओं के प्रभुत्व को पुनस्संगठन-वादी नेता पसन्द नहीं करते थे और न वे च्यांग काई-शेक के हाथों में शक्ति व सत्ता का केन्द्रीकरण ही पसन्द करते थे। नानकिंग में जो स्थिति थी, उससे यह निष्कर्ष सही साबित होता था कि क्रांति का केवल यही फल हुआ था कि उत्तर के युद्धवादियों व सैनिक नेताओं की जगह एक सैनिक नियंत्रण ने ले ली थी। अतएव वामपंथी नेताओं ने डाक्टर सुन के ढंग अपनाये। उन्होंने कैण्टन पर अधिकार करने का प्रयास किया और जब जनरल चांग फा-क्वी ने उस नगर पर आक्रमण किया तो उसकी सहायता की। जब यह प्रयास असफल हुआ तो उन्होंने उत्तर के च्यांग-विरोधी नेताओं से समझौता करने के लिए बात चलायी। पहले तो उनकी बात ठुकरा दी गयी, किन्तु जब येन व फेंग का गठबन्धन हो गया और विद्रोह का झण्डा फहरा दिया गया, तब पुनस्संगठनवादियों के दो प्रमुख नेताओं, वांगचिंग-वी तथा चे'न कुंग-पो, को पीकिंग में एक नयी सरकार में शामिल होने का निमंत्रण मिला, जो उन्होंने स्वीकार कर लिया; यह सरकार बहुत थोड़े दिन चली। इस के बाद कैण्टन में एक पृथक् सरकार बनी, जिसे क्वांग्सी के उन नेताओं का समर्थन प्राप्त हो गया, जिन्हें पहले हैनकाउ से खदेड़ दिया गया था और उन के मूल अधिकार क्षेत्र में वापस भेज दिया गया था। इस नयी सरकार का नियंत्रण-क्षेत्र केवल क्वांग्सी व क्वांगतुंग प्रान्तों तक ही सीमित था, किन्तु वह क्रांति की उत्तराधिकारिणी होने का दावा करती थी और उसने सन् १९३१ के ग्रीष्म में च्यांग व उनकी नानकिंग-स्थित सरकार के खिलाफ हमला भी किया। जापान के साथ चल रहे झगड़े के कारण संघर्ष रुका, समझौता-वार्ता हुई और अंत में नानकिंग में एक नया शासन कायम हुआ, जिसकी सारी शक्ति तीन व्यक्तियों—च्यांग, वांग चिंग-वी तथा हू हान-मिन-की एक समिति में केन्द्रित थी। यह दक्षिण व वामपक्ष का गठबन्धन, जिसका झुकाव वामपक्ष की ओर अधिक था, थोड़े ही दिन चला। अगली बार जब शासन का पुनर्गठन हुआ, तब च्यांग काई-शेक का प्रभुत्व फिर स्थापित हो गया। किन्तु सन् १९३३ के ग्रीष्म में यह शासन फिर निर्बल हो गया, क्योंकि उत्तरी चीन में जापान की काररवाई का प्रसार हो रहा था, दक्षिण में कैण्टन में एक पृथक सरकार बनी हुई थी और दक्षिण-मध्य में साम्यवादियों की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त करने के लिए संघर्ष चल रहा था।

च्यांग ने यह नीति अपनायी कि साम्यवाद के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा जाय जिसके

फलस्वरूप जापान के बढ़ाव का लगभग कोई प्रतिरोध हुआ ही नहीं। च्यांग से वांग चिंग-वी इस बात में सहमत थे कि साम्यवाद सबसे बड़ा शत्रु है, किन्तु अन्य वामपक्षीय नेता चाहते थे कि जापान का जम कर विरोध करना चाहिए, इसमें चाहे कोई भी खतरा क्यों न मोल लेना पड़े। ये लोग च्यांग-प्रभुत्व वाले शासन से हट गये।

(९) साम्यवादी आंदोलन

सन् १९२७ के साम्यवाद-विरोधी अभियान के बाद नानकिंग शासन की शक्ति, विशेषकर सैनिक शक्ति, उत्तर में लगी रहने के कारण ही साम्यवादियों की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे नानकिंग-सरकार के लिए खतरा बन गये थे। सरकार के अन्यत्र व्यस्त रहने के कारण साम्यवादी शक्तियाँ धीरे-धीरे मज़बूत होती गयीं और अपनी रण-नीति व युद्ध-कौशल का विकास करती रहीं। साम्यवादी सैन्य-संगठन के अवशेष दक्षिण में क्वांग्सी प्रान्त के जंगलों में जाकर छिप गये थे। शुरू में इन टुकड़ियों को कायम रखना भी कठिन था, किन्तु जैसे-जैसे वे किसानों का विश्वास प्राप्त करती गयीं और यह सीखती गयीं कि प्रान्तीय सैनिक-शक्ति के साथ संघर्ष होने पर अपने आप को पहाड़ी क्षेत्रों में कैसे कायम रखा जा सकता है, वे सशक्त और आक्रामक होती गयीं। सन् १९३० तक वे इतनी सशक्त हो गयी थीं कि उन्होंने चांगशा नगर पर हमला कर उस पर कब्जा जमा लिया; किन्तु नानकिंग के पक्ष में विदेशी हस्तक्षेप के कारण यह कब्जा बहुत दिन नहीं चल पाया। साम्यवादियों की सैनिक सफलता का कारण नानकिंग सरकार का येन-फेंग संघर्ष में फँसा रहना था।

किन्तु इस संघर्ष के समाप्त होने पर, कुओमिनतांग की केन्द्रीय कार्यकारिणी ने फिर "साम्यवादी सेनाओं के समूल विनाश तथा सोवियतीकृत क्षेत्र पर फिर कब्जा करने" का फैसला किया। इस निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए दिसम्बर, १९३१ में प्रयास शुरू हुए और सन् १९३३ तक वे जारी रहे; उस समय तक साम्यवादियों से चार बार बड़े संघर्ष हुए थे। सैनिक सफलताएँ तो मिली थीं, किन्तु साम्यवादी सेनाओं को समाप्त नहीं किया जा सका था और साम्यवादी प्रभाव में भी कोई विशेष कमी नहीं की जा सकी थी। सन् १९३३ में, दक्षिणी-पूर्वी क्यांग्सी प्रान्त व पश्चिमी फुकीन प्रान्त में सोवियत्-(साम्यवादी) शासन स्थापित था, क्यांग्सी प्रान्त भर में साम्यवादियों का प्रभाव था और हूपेह प्रान्त में भी उनका काफी प्रभाव था। इसके अतिरिक्त दक्षिण में हुनान व क्वांगतुंग प्रान्तों व यांग्त्सी नदी के उत्तर में आन हुई प्रान्त के छोटे-छोटे क्षेत्रों में भी साम्यवादी प्रभाव था। साम्यवादी प्रभाव के क्षेत्र खेतिहर थे, औद्योगिक नहीं, और इसलिए, सर्वहारा-वर्ग की तानाशाही की जगह किसानों के नियंत्रण का ही विकास हो रहा था। साम्यवादी

नीति कृषि सुधार व भूमि कानूनों में सुधार की थी। बड़ी-बड़ी जमींदारियाँ समाप्त कर भूमि का बटवारा कर दिया गया था। सहकारी ऋण-समितियाँ व बैंक-प्रणाली स्थापित हुई थीं। अफीम की खेती पर रोक लगा दी गयी थी और इस प्रकार सैनिक नेताओं को समृद्ध बनाने के लिए जो भूमि खाद्यान्न से हटाकर अफीम की खेती में लग गयी थी, वह फिर खाद्यान्न की खेती के लिए मुक्त हो गयी। सार्वजनिक भूमि से हुई आय से बाढ़ रोकने व सिंचाई के निर्माण कार्य किये गये थे। कर-प्रणाली भी बदली गयी थी और संपन्न लोगों पर कर-भार सबसे अधिक कर दिया था, जबकि पहले कर-प्रणाली ऐसी थी कि निर्धन लोगों का ही शोषण होता था। सोवियत्-शासन के अंतर्गत जो नगर थे, उनमें श्रमिकों के वेतन बढ़ा दिये गये थे, जिस प्रकार खेतिहर मजदूरों के वेतन बढ़ाये गये थे, काम के घण्टे कम कर दिये गये थे तथा वे नीतियाँ कार्यान्वित की गयी थीं, जिनसे निर्धन-वर्ग की स्थिति में सुधार हुआ था।

जिस शासन के पास अपार सैनिक शक्ति हो और अत्यधिक साधन हों, उसके विरोध के बावजूद साम्यवाद के विस्तार का कारण उन नीतियों से प्रकट था, जो साम्यवादी प्रभुत्व के क्षेत्र में अपनायी जाती थीं। नानकिंग-शासन सैनिक कारवाई व उसके लिए धन जुटाने के काम में ही इतना व्यस्त रहा था कि वह उन सामाजिक व आर्थिक सुधारों को लागू करने में असफल रहा था, जो डाक्टर सुन यात-सेन के कार्यक्रम के अभिन्न व आधारभूत अंग माने जाते थे। जो सुधार कार्य किये भी गये थे, उनके आलोचक उन्हें निर्धन-वर्ग के नहीं संपन्न-वर्ग के हित में किया गया बताते थे। कुओमिनतांग ने सत्ता प्राप्त कर अपना क्रांतिकारी स्वरूप इसीलिए खो दिया था।

(१०) राष्ट्रीय सरकार की आंतरिक उपलब्धियाँ

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि नानकिंग-सरकार ने निर्माण की दिशा में कोई कदम उठाया ही नहीं था। इस शासन की मुख्य उपलब्धियाँ, मंचूरिया हाथ से निकल जाने के बावजूद, परराष्ट्र संबंधी ही थीं। किन्तु घरेलू क्षेत्र में, उसने शासन के लिए सार्वजनिक पूँजी निर्माण का कठिन काम हाथ में लिया था और उसमें कुछ सफलता भी प्राप्त की थी। सेना के बढ़ते हुए खर्च के बावजद-जो अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए मैदान में सेना को तैयार रखने के अलावा, इसी उद्देश्य से लिये गये ऋणों के परिशोधन के लिए भी हो रहा था—पीकिंग की सरकारों से उत्तराधिकार में मिले सामान्य सार्वजनिक ऋणों की अदायगी की किश्तें फिर से शुरू करने की व्यवस्था भी नानकिंग-सरकार ने की थी। जहाँ राज्यों के आय-व्ययक लगातार असंतुलित थे, वहीं अंततः चीन ने संतुलित बजट की घोषणा की। नानकिंग शासन की स्थापना से लगातार ही वित्त-मंत्रालय के

अध्यक्ष पद पर काम करने वाले केवल एक व्यक्ति, टी. वी. सुंग, को ही अधिकांशत: इसका श्रेय प्राप्त होता है।[१३] किन्तु, यह संभव तभी हुआ जब सीमा-शुल्क की सर्वोच्च सत्ता प्राप्त होने से आय के साधन बढ़ गये, नानकिंग के वित्त-मंत्रालय में वित्तीय प्रशासन का केन्द्रीकरण हो गया और मितव्ययिता अधिकतम कड़ाई से लागू की गयी।[१४] किन्तु मितव्ययिता निर्माण-कार्य में बाधक थी।

संचार-संवहन मंत्रालय के अधीन रेल-प्रशासन के केन्द्रीकरण से भी प्रगति हुई। जैसे-जैसे साधन उपलब्ध होते गये, इस मंत्रालय ने रेलमार्ग-विकास का व्यापक कार्यक्रम बहुत तीव्र गति से कार्यान्वित करना शुरू किया। मोटर यातायात के लिए उपयुक्त सड़कें भी बनायी गयीं और इस प्रकार देश में यातायात की सुविधाओं का विकास किया गया।

संचार-संवहन के अतिरिक्त, आर्थिक क्षेत्र में नानकिंग-शासन का कार्य गवेषणात्मक था। विदेशी आयोगों की सहायता से मुद्रा-विनिमय, शिक्षा, जन-स्वास्थ्य संगठन, अफीम-नियंत्रण तथा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण से संबंधित अन्य अनेक समस्याओं के संबंध में विस्तार से अध्ययन किये गये। निर्माण-कार्य की भूमिकास्वरूप इन अध्ययनों में राष्ट्र-संघ सचिवालय से निकट संपर्क स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त श्रमिक-संगठनों, श्रमविवाद के निपटारे तथा काम के दैनिक घण्टे आठ करने के लिए कानून भी बनाये गये।

न्याय के क्षेत्र में कानून व प्रक्रिया-संबंधी संहिताएँ बनाने के काम को पूरा करने की दिशा में काफी प्रगति हुई। अनेक नयी व आधुनिक अदालतें स्थापित की गयीं तथा आधुनिक कारागार स्थापित करने के काम में भी प्रगति हुई।

किन्तु ये सब कार्य पूँजीवादी राज्य के कार्यक्रम भी कहे जा सकते थे और उन्हें निर्धन जनता की जीविका की आवश्यकतापूर्ति की दिशा में प्रगति नहीं कहा जा सकता था। यही बात उन प्रस्तावों के संबंध में भी कही जा सकती थी, जो अस्थायी संविधान में उल्लिखित जीविका के सिद्धान्त को लागू करने के लिए आये। अतएव इस प्रचार के सफल होने की गुंजाइश रह गयी कि नानकिंग सरकार डाक्टर सुन के तीसरे सिद्धान्त को लागू करने में विशेष दिलचस्पी नहीं रखती। इस प्रचार से भी चीनी साम्यवादियों का हित-साधन हुआ। इस दृष्टिकोण से विरोध की इस स्थिति को जितने स्पष्ट ढंग से श्रीमती सुन यात-सेन ने रूसियों से संबंधविच्छेद करते समय सन् १९२७, फिर सन् १९२९ तथा सन् १९३१ में कहा उतनी स्पष्टता से किसी ने नहीं। मैडम सुन तथा उनकी तरह सोचने वाले अन्य लोगों का कहना था कि नानकिंग-सरकार का कार्यक्रम समाज सुधार का है, क्रांति का नहीं। इस प्रकार, सन् १९३३ में देश के भीतर मुख्य भेद उन लोगों में था, जो च्यांग काई-शेक के नेतृत्व में पूँजीवाद समर्थित, नरम सरकार कायम रखना चाहते थे और जो कृषक-क्रांति उभार रहे थे। इसका यह अर्थ नहीं है कि नानकिंग-शासन के साम्यवादियों

पर विजय प्राप्त करने भर से आंतरिक परिस्थिति में स्थायित्व आ जाता, क्योंकि, सुधार-कार्यक्रम पर मतभेद की गुंजाइश रहती ही। वास्तव में नानकिंग तथा कैण्टन के बीच जो भेद था वह उतना बुनियादी नहीं था, जितना कि नानकिंग व साम्यवाद के बीच का भेद था।

सन् १९११ के बाद चीन में हुई राजनीतिक घटनाओं से एक स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता था कि आधुनिक समाज में शासन की भूमिका व्यापक तथा निश्चयात्मक होती जा रही है। अब शासन, चाहे वह नानकिंग का हो, कैण्टन का हो या साम्यवादी हो, केवल शांति व सुरक्षा की व्यवस्था करके अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझ सकता था और इस प्रकार देश के सामाजिक व आर्थिक जीवन में निश्चयात्मक भूमिका व संबंध स्थापित किये बिना नहीं रह सकता था। यह स्थिति राष्ट्रीय चीन का कोई अन्वेषण नहीं थी, पश्चिम से संपर्क से जो विकास शुरू हुआ था, वह उसे केवल आगे बढ़ा रहा था। उदाहरणार्थ, मुद्रा-विनिमय के सुधार के लिए नियुक्त कैमरर-आयोग, आयोगों की श्रृंखला में सबसे नया था और उसे मुद्रा के क्षेत्र में फैली अराजकता को दूर कर सुव्यवस्था स्थापित करने के सुझाव देने के लिए कहा गया था। इसी प्रकार राष्ट्रसंघ के आयोग ने राष्ट्रीय सरकार के लिए शिक्षा की समस्या का फिर से अध्ययन किया और राष्ट्रीय जीवन के इस अंग पर एक बार पुनर्विचार हुआ। किन्तु महत्त्व की बात यह है कि चीन की सरकारें देश के जीवन के इन विभिन्न पहलुओं पर नये ढंग से विचार कर रही थीं और उनसे शासन को संबद्ध कर रही थीं। शुरू में सन् १९०० के बाद यह परिस्थिति परिलक्षित होने पर शासन की नयी भूमिका तय करने की प्रेरणा पश्चिम से मिलती थी। किन्तु सन् १९३३ तक स्थिति यह हो गयी थी कि शासन की भूमिका को नकारात्मक से सकारात्मक बनाने में स्वयं चीन को सक्रिय दिलचस्पी हो गयी थी। अब यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता था कि सरकार यातायात के साधन बढ़ाने, खेती की दशा सुधारने, औद्योगिक संस्थान बनाने, विकास-कार्य करने तथा सामाजिक संबंधों की दिशा में अधिकाधिक दिलचस्पी लेती जायगी। सन् १९३३ में शासन के समक्ष जो प्रश्न उपस्थित था वह केवल यह था कि कार्यक्रम पूँजीवादी सिद्धान्त पर बने या साम्यवादी सिद्धान्त पर।

(११) परराष्ट्र-संबंध-क्षेत्र में उपलब्धियाँ

इसी प्रकार परराष्ट्र-संबंधों के क्षेत्र में उसी दिशा में कार्य हुआ, जिसका कुछ विवरण पहले दिया जा चुका है। जैसा कि पहले बताया गया है, राष्ट्रीयतावादियों द्वारा पराजित होने के समय पीकिंग-सरकार उन संधियों के पुनरीक्षण के संबंध में समझौता-वार्ताएँ करने में व्यस्त थी, जिन्हें राष्ट्रीयतावादी 'असमान' संधियाँ कहते थे। कुओमिनतांग ने पुनरीक्षण

की प्रक्रिया को पूरा किया। उसके नेताओं ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने प्रचार का मुख्य लक्ष्य ब्रिटेन को बनाया; अंशतः, इसलिए कि चीनियों के लिए ब्रिटेन पूँजीवादी साम्राज्यवाद का प्रतीक बन चुका था और अंशतः इसलिए भी कि हांगकांग में ब्रिटेन की जो स्थिति थी, उससे मनमुटाव व शत्रुता पैदा हो चुकी थी। हांगकांग में मल्लाहों की हड़ताल से संबंधित घटनाएँ तथा कैण्टन में बहिष्कार, सन् १९२५ में एक अंग्रेज के नेतृत्व में शंघाई में पुलिस द्वारा गोली-वर्षा, जिससे रक्तपात हुआ, सीमा-शुल्क सेवा के अंग्रेज अध्यक्ष द्वारा कैण्टन को अतिरिक्त आय में उसके अनुपात से हिस्सा देने से इनकार, वान्हसीन-काण्ड जहाँ ब्रिटेन के जहाजों ने गाँव पर इसलिए गोलाबारी की कि चीनी सैनिकों ने एक अंग्रेजी जहाज पर गोली चला दी थी––ये तथा ऐसी ही अन्य घटनाओं के कारण राष्ट्रीय चीन का ध्यान ब्रिटेन के विरुद्ध मुख्य शत्रु के रूप में केन्द्रित हो चुका था। इन घटनाओं की उचित सफाई या उनकी पृष्ठभूमि में विशिष्ट परिस्थितियाँ होने की बात से ध्यान कारवाइयों से नहीं हटा। साम्राज्यवाद अमूर्त्त प्रक्रिया या विचार है, जो जन-मानस की पकड़ के बाहर है। राष्ट्रीयतावादी प्रचारक को विभिन्न राष्ट्रों की विशिष्ट ठोस घटनाएँ चाहिए थीं, जिन पर वह साम्राज्यवाद के उदाहरण के रूप में ध्यान केन्द्रित कर सके। इस समय इन घटनाओं की आवश्यकता की पूर्ति ब्रिटेन ने कर दी थी।

दिसम्बर, १९२६ में विभिन्न राष्ट्रों के समक्ष यह प्रस्ताव रख कर ब्रिटेन ने राष्ट्रीयतावादियों को प्रसन्न करने का प्रयास किया कि वाशिंगटन-सम्मेलन के समझौतों से अधिक उदार व प्रगतिशील आधार पर एक संयुक्त नीति बनाने में वे सहयोग दें। अपने स्मृतिपत्र में, अन्य बातों के अतिरिक्त, ब्रिटेन ने यह सुझाव भी रखा कि वाशिंगटन-सम्मेलन के अति करों की तत्काल वसूली के लिए वे राजी हो जायँ, जैसे ही राष्ट्रीय सीमा-शुल्क कानून बन कर लागू होने के लिए तैयार हो जाय वे चीन को तत्काल सीमा शुल्क सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर दें; तथा पुनरीक्षित समझौतों के लागू होने के पहले मौजूद संधियों के लागू रहने पर जोर देते हुए भी वे राष्ट्रीय चीन की आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए संधि पुनरीक्षण वार्ता करने के लिए अपनी सहमति प्रकट करें।

ब्रिटिश प्रस्ताव पर विभिन्न राष्ट्र कोई कारवाई करते इसके पहले ही हैनकाउ का पतन हो चुका था और वहाँ वामपक्षीय-साम्यवादी शासन स्थापित हो चुका था। फिर भी, हैनकाउ व किउकिआंग में ब्रिटेन को प्राप्त रिआयतें जब हैनकाउ-शासन ने छीनीं, उस क्षेत्र की वास्तविक शासन-सत्ता के रूप में उसे स्वीकार कर ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने इन रिआयतों को चीन को वापस करने की शर्तें तय करने के लिए समझौते की बात उससे (हैनकाउ शासन से) शुरू की। इससे एक आंदोलन-सा चल गया और विदेशी प्रतिनिधि पीकिंग-सरकार को छोड़कर अन्य लोगों से समझौते की बातें करने लगे।

इससे नानकिंग-शासन को सन् १९२८ से पूर्व और अपनी सत्ता में देश को संगठित कर सन् १९२८ के बाद अनेक विदेशी संधि-राष्ट्रों से अलग-अलग समझौता-वार्ता करने का रास्ता साफ हो गया।

संधि-पुनरीक्षण का काम हाथ में लेने, नानकिंग-सरकार को पीकिंग-सरकार द्वारा अपनाये गये ढंग और उनकी उपादेयता की सुविधा तो मिल ही गयी थी। सन् १९२५ के सम्मेलनों में हुई बातचीत से यह संकेत मिल चुका था कि विदेशी राष्ट्र सीमा-शुल्क-संबंधी रिआयतें समाप्त करने के लिए जल्दी तैयार हो सकते हैं, राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त करने के लिए नहीं। सन् १९२५ के पीकिंग-सम्मेलन तथा दिसम्बर, १९२६ के ब्रिटिश प्रस्तावों से यह प्रकट हो चुका था कि राष्ट्र सीमा-शुल्क-संबंधी सर्वोच्च सत्ता चीन को देने को तैयार हैं, किन्तु राज्यक्षेत्रातीतता के प्रश्न पर विचार करने के लिए बने आयोग की सिफारिशें बिलकुल भिन्न थीं। चीन के परराष्ट्रमंत्री ने पहले उसी बात पर ध्यान देना बेहतर नीति माना, जो जल्दी प्राप्त हो सके। किन्तु बात शुरू करने के पहले सन् १९२७ की नानकिंग की घटना से उत्पन्न बाधा को दूर करना आवश्यक था। विदेशी प्रतिनिधि-समझौते की बात तब तक शुरू नहीं करना चाहते थे, जब तक राष्ट्रीयतावादी सरकार (सन् १९२८ के बाद यह राष्ट्रीय सरकार हो गयी थी) राष्ट्रीयतावादी सेना द्वारा नानकिंग में घुस कर विदेशी संपत्ति के नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए क्षतिपूर्ति न कर दे। यह आक्रमण २४ मार्च को हुआ था और अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली व जापान के प्रतिनिधियों ने ११ अप्रैल को परराष्ट्र-मंत्री को बिलकुल समान विरोध-पत्र भेजे, जिनमें माँग की गयी थी कि अपराधियों को दण्ड दिया जाय, सर्वोच्च सेनापति क्षमायाचना करें, इस बात का आश्वासन दिया जाय कि विदेशी-विरोधी आंदोलन व काररवाइयाँ रोकी जायँगी तथा धन-जन व संपत्ति की क्षति के लिए हरजाना दिया जाय। जब हैनकाउ-गुट से संघर्ष में नरम दल की विजय हुई, नानकिंग-सरकार ने इस संबंध में समझौता कर लेने की इच्छा प्रकट की। अमरीकी सरकार से पत्र-व्यवहार द्वारा २ अप्रैल, १९२८ को संतोषजनक समझौता हो गया। यह कहते हुए भी कि घटना साम्यवादी काररवाई के फलस्वरूप हुई थी, चीन सरकार ने उसका उत्तरदायित्व स्वीकार किया और क्षतिपूर्ति का आश्वासन दिया; अपनी ओर से अमरीकी प्रतिनिधि ने खेद प्रकट किया कि अमरीकी नागरिकों की सुरक्षा के लिए शक्ति-प्रयोग के लिए बाध्य होना पड़ा। अन्य राष्ट्रों से जो समझौते हुए वे भी इसी प्रकार के थे।

नानकिंग की घटना के संबंध में समझौता हो जाने पर, २५ जुलाई को, अमरीका ने एक नयी संधि कर ली, जिसके अनुसार चीन व अमरीका के बीच सीमा-शुल्क आदि संबंधी सभी पुरानी शर्तों को समाप्त कर परम-मित्र-राष्ट्र-सिद्धान्त के अनुरूप, चीन की

सीमा-शुल्क-संबंधी सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर ली गयी थी और १ जनवरी, १९२९ से यह नयी संधि लागू होने का निश्चय हुआ था; यह तिथि राष्ट्रीय सीमा-शुल्क-पद्धति कानून लागू करने के लिए पहले ही निश्चित हो चुकी थी। शुल्क-दर-पद्धति में चीन के स्वतंत्र होने के संबंध में इस प्रकार की संधियाँ सन् १९२८ में दस अन्य राष्ट्रों से भी हुईं, जिनमें ब्रिटेन, इटली व बेल्जियम भी शामिल थे। तिथि बाद में १ जनवरी की जगह १ फरवरी कर दी गयी और इस बीच जापान ने संधि होने से पूर्व ही इस निर्णय को स्वीकार कर लेने का आश्वासन दे दिया। इस प्रकार तत्काल तो अतिरिक्त राजस्व प्राप्त करने के लिए तथा अंततः चीन के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए जो अभी शैशवावस्था में ही थे, राष्ट्रीय शुल्क-पद्धति चालू करने के लिए पूर्ण स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जो लम्बा संघर्ष चला था उसकी सफल समाप्ति हो गयी। इसी प्रकार काफी समय तक प्रतिरोध करने के बाद विभिन्न राष्ट्र दरों के पुनरीक्षण के लिए भी राजी हो गये, यद्यपि, कुछ देशों ने अपनी संधियों में यह व्यवस्था करवा ली थी कि चीन-सरकार जल्दी से जल्दी लिकिन-प्रथा को समाप्त कर देगी।

अब केवल राज्यक्षेत्रातीतता की संधि-व्यवस्था समाप्त करने की बात रह गयी थी। इस दिशा में भी राष्ट्रीयतावादियों के सत्तारूढ़ होने के पहले ही कुछ सफलता मिल चुकी थी। महायुद्ध में चीन के शामिल होने से जर्मनी और रूसी क्रांति के फलस्वरूप रूस के नागरिकों के ये अधिकार समाप्त हो चुके थे। इन दो देशों के नागरिकों के ऊपर अपना अधिकार-क्षेत्र स्थापित करने में सफलता ने चीन को यह विश्वास दिला दिया था कि यह प्रथा अन्य देशों के नागरिकों के लिए भी समाप्त होनी ही चाहिए। आस्ट्रिया, फिनलैण्ड व पोलैण्ड से जो नयी संधियाँ हुईं, उनमें पीकिंग-सरकार ने राज्यक्षेत्रातीतता की शर्त शामिल नहीं होने दी। और राष्ट्रीयतावादी पीकिंग-सरकार की भाँति ही संकल्पबद्ध थे कि इस दृष्टि से सभी पुरानी संधियों का, उनकी दस-दस वर्ष की अवधियाँ समाप्त होते ही, पुनरीक्षण हो जाना चाहिए।

फलतः, सन् १९२८ में स्पेन व बेल्जियम से हुई संधियों में व्यवस्था कर दी गयी कि १ जनवरी, १९३० से इन देशों के नागरिक चीनी न्याय-व्यवस्था के अधिकारक्षेत्र में आ जायँगे, शर्त यह थी कि अन्य राष्ट्र भी इस व्यवस्था को स्वीकार कर लेंगे, या कम से कम वाशिंगटन-सम्मेलन में शामिल होने वाले देश राज्यक्षेत्रातीतता की व्यवस्था की समाप्ति को स्वीकार कर लेंगे। सन् १९२८ व सन् १९२९ में अन्य अनेक देशों ने यह व्यवस्था स्वीकार कर ली। किन्तु सन् १९२९ में जापान से हुई संधि में यह व्यवस्था शामिल नहीं हुई; जब अगस्त, १९२९, व उसके बाद, अमरीका, फ्रांस व ब्रिटेन से इस संबंध में बात चलायी गयी, उन्होंने सहानुभूति तो प्रकट की पर तत्काल इस व्यवस्था को स्वीकार करने

की जगह उसे धीरे-धीरे लागू करने को कहा। मुख्य विदेशी शक्तियों पर इस संबंध में दबाव डालने के लिए २६ दिसम्बर, १९२९ को केन्द्रीय राजनीतिक परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा राज्यपरिषद् को आदेश दिया कि उन सभी देशों के नागरिकों के राज्य-क्षेत्रातीतता के अधिकार १ जनवरी, १९३० से समाप्त कर दिये जायँ, जिन्हें ये तब तक प्राप्त रहे हों। अमरीका व जापान के समर्थन से ब्रिटेन ने इसके उत्तर में घोषणा की कि उसकी सरकार सिद्धान्ततः इस तिथि को राज्यक्षेत्रातीतता-प्रथा को समाप्त करने की प्रक्रिया का आरम्भ मानने को तैयार है। इसके बाद सन् १९३० में समझौते की बात-चीत चलती रही, पर कोई फल नहीं निकला। देश की आंतरिक राजनीति के दबाव के कारण, जब कि सन् १९३१ के वसन्त में राष्ट्रीय जन-सम्मेलन द्वारा संविधान स्वीकार होने की बात चल रही थी, चीन सरकार ने ऐसे विनियमों की घोषणा कर दी, जो १ जनवरी, १९३२ से लागू होने वाले थे और जिनके द्वारा विदेशियों को अपने अधिकार-क्षेत्र व नियंत्रण में लाने का काम पूरा होना था। आशा यह थी कि तब तक संधि-पुनरीक्षण का कार्य पूरा हो चुकेगा। किन्तु मंचूरिया में सितम्बर, १९३१ की घटनाओं और यांग्त्सी-क्षेत्र की अशान्त स्थिति के कारण संधि-पुनरीक्षण की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका और २९ दिसम्बर, १९३१ को वह आदेश स्थगित कर दिया गया, जिसके द्वारा राज्यक्षेत्रातीतता-संबंधी अधिकार समाप्त होने थे।

सन् १९२८ व सन् १९३३ के बीच राष्ट्रीय सरकार की उपलब्धियों के इस संक्षिप्त विवरण में पट्टे के क्षेत्रों व विदेशियों की बस्तियों की स्थिति के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। १ अक्तूबर १९३० को अंग्रेजों ने वीहाईवी को चीनी अधिकार में दिया था; वाशिंगटन-सम्मेलन के बाद समझौते की बात में लगातार व्याघात होते रहे थे। यह संतोषजनक स्थिति वाशिंगटन-सम्मेलन का ही अप्रत्यक्ष परिणाम था, चीन में राष्ट्रीयतावादियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व का परिणाम नहीं था, यद्यपि यह हुआ तभी जब राष्ट्रीयतावादियों का प्रभाव बढ़ रहा था। उन पट्टे के क्षेत्रों का हस्तान्तरण इस अवधि में नहीं हुआ जिनका प्रश्न वाशिंगटन-सम्मेलन में नहीं उठा था।

किन्तु, रिआयतों व बस्तियों के संबंध में कुछ प्रगति अवश्य हुई थी। हैनकाउ व किउक्यांग की बदली हुई स्थिति स्वीकार करने के उपरान्त ब्रिटेन ने सन् १९२९ में चिक्यांग व सन् १९३० में अमोय चीनी अधिकार में दे देने के समझौते कर लिये। सन् १९३१ में बेल्जियम ने टींटसीन में प्राप्त रिआयत के संबंध में भी ऐसा ही समझौता कर लिया। अब विदेशी शक्तियों के हाथ में तेरह बस्तियाँ व रिआयतें बची थीं। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी शंघाई की अंतरराष्ट्रीय बस्ती। यहाँ लगभग ४० हजार विदेशी नागरिक व लगभग दस लाख से अधिक चीनी लोग रहते थे। विदेशियों की

बस्ती होनेके नाते सन् १९२८ तक इसका शासन उन विदेशी करदाताओं द्वारा निर्वाचित स्थानीय स्वशासन-परिषद् द्वारा होता था, जिनकी संख्या विदेशी नागरिकों के दस प्रतिशत से कम थी। इस बस्ती से फ्रांसीसी बस्ती लगी हुई थी और उसके बाद चीनी बस्ती थी, जहाँ लगभग साढ़े बाईस लाख लोग रहते थे। चीन का सबसे बड़ा नगर, चीन के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक क्षेत्र के लिए आयात-निर्यात केन्द्र-तथा शुरू से ही उद्योगों का केन्द्र बन जाने के कारण शंघाई की इस बस्ती का महत्त्व अत्यधिक था और इसके ही कारण यहाँ कई समस्याएँ भी उत्पन्न हुई।

इस अंतरराष्ट्रीय केन्द्र का महत्त्व समझ में आने के बाद चीन ने शंघाई पर फिर से अपना नियंत्रण लागू करने की चेष्टा की। इस माँग पर सबसे अधिक जोर राष्ट्रीयतावादियों ने दिया और राष्ट्रीय सरकार भी इसके लिए लड़ी। केन्द्र का महत्त्व होने के कारण विदेशी सरकारों व नागरिकों ने नगर चीनियों के नियंत्रण में वापस करने की तात्कालिक माँग पर विचार करने से भी इनकार कर दिया। किन्तु ६ मई, १९२८ को यह तय हुआ कि शंघाई की स्थानीय स्वशासन-परिषद् में तीन चीनी प्रतिनिधि भी लिये जाया करें और बस्ती की विभिन्न प्रशासकीय समितियों में छः चीनियों को ले लिया जाय। सन् १९३० में परिषद् में दो और चीनी प्रतिनिधियों को लेने का निर्णय हुआ।

परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलने से शंघाई के प्रश्न को लेकर जो चीनी आंदोलन चल रहा था, वह समाप्त नहीं हुआ। अतएव, सन् १९२९ में परिषद् ने दक्षिण अफ्रीका के न्यायाधीश, रिचर्ड फीटम को पूरे मामले की जाँच कर सुधार के व्यावहारिक सुझाव देने को कहा। सन् १९३१ में न्यायाधीश का जो प्रतिवेदन आया, वह तत्काल नगर को चीनी नियंत्रण में दे देने की माँग के प्रतिकूल था। "कुछ छोटे-मोटे सुधारों के लिए लाभदायक सुझावों के अतिरिक्त इस जाँच का केवल यही फल निकला कि तथ्यों को करीने व सिलसिले से सजा कर रख दिया गया और कानून व सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ ऐसे तर्कसंगत निष्कर्ष निकाले गये, जो अपने-आपमें तो उपयुक्त थे, किन्तु चीनी राष्ट्रीय चेतना के तीव्रता से बढ़ने की पृष्ठभूमि में वे बिलकुल पुराने पड़ चुके थे।"[१५] किन्तु जाँच होना व उसका प्रतिवेदन आना, चीनियों को परिषद् में प्रतिनिधित्व देना, चीन के राष्ट्रीय औद्योगिक कानून को बस्ती में लागू करने में सहयोग के ढंग निकालने के लिए बस्ती के अधिकारियों का तैयार होना तथा अन्य बातों से यही प्रमाण मिलता था कि विदेशी अब चीन की राष्ट्रीय सरकार की प्रतिष्ठा व सम्मान करने लगे थे। पिछली सरकारों ने भी इन बातों के लिए प्रयत्न किया था, पर वे असफल रही थीं।

नानकिंग में राष्ट्रीय सरकार बनने के पाँच वर्ष बाद, संधियों के संबंध में स्थिति यह थी कि सीमा-शुल्क-पद्धति पर चीन की सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो चुकी थी तथा

राज्यक्षेत्रातीतता समाप्त करने का आंदोलन काफी आगे बढ़ गया था। दस देशों ने निश्चयपूर्वक अपने नागरिकों के लिए यह अधिकार लेना छोड़ दिया था। कुछ अन्य देश इस बात पर तैयार हो चुके थे कि वाशिंगटन-सम्मेलन में भाग लेने वाले राष्ट्र जब इस प्रथा के अंत के लिए राजी हो जायँगे, तब वे भी अपना यह अधिकार त्याग देंगे। अमरीका, जापान व ब्रिटेन इस प्रथा को धीरे-धीरे समाप्त करने के लिए सहमत हो गये थे। पट्टे का एक क्षेत्र चीन को वापस मिल चुका था; अनेक निवास-बस्तियाँ चीनी प्रशासन के अंतर्गत आ चुकी थीं; शंघाई में ऊपर लिखी सुविधाएँ चीनियों को प्राप्त हो गयी थीं। और यह प्रगति उस समय हुई थी, जब नानकिंग की सरकार लगातार भीतरी शत्रुओं से लड़कर अपने अस्तित्व की रक्षा कर रही थी। अतएव यह मानना होगा कि परराष्ट्र-संबंधों के क्षेत्र में नानकिंग-शासन की उपलब्धियाँ काफी थीं। निश्चय ही, इस प्रगति के लिए अंशतः पश्चिमी राष्ट्रों व जापान द्वारा अपनायी गयी सुलह की नीतियों को भी श्रेय है। किन्तु यह भी असंदिग्ध है कि परराष्ट्र-संबंधी विषयों के कुओमिनतांग के नियंत्रण में आने के बाद चीन ने जो निश्चयात्मक नीतियाँ अपनायीं, वे अंशतः विदेशियों की सुलह-नीति के लिए उत्तरदायी थीं। साथ ही, चीन के परराष्ट्र-संबंध सुधरने का काफी श्रेय उसके राजनयिक अधिकारियों को भी है—चाहे वे पीकिंग-शासन के रहे हों या नानकिंग-शासन के—जिन्होंने सन् १९२६ व उसके बाद के वर्षों में पश्चिमी राष्ट्रों व जापान से समझौता-वार्त्ताएँ चलायीं और उनमें सफलता प्राप्त की।

इक्कीसवाँ अध्याय

पूर्व और पश्चिम (१८३०--१९३०)

सन् १९३१ के बाद सुदूरपूर्व की स्थिति में जो परिवर्तन हुए, उन पर विचार के पूर्व, सुदूरपूर्व के राज्यों के पश्चिम से संबंधों तथा चीन व जापान पर पश्चिमी प्रभाव के परिणामों का अवलोकन उपयुक्त होगा। इससे सुदूरपूर्व के देशों में पश्चिम के नियंत्रण से मुक्त होने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति और अपनी राजनीति को यूरोपीय राजनीति से पृथक् रखने के प्रयासों को समझना सरल हो जायगा।

(१) पूर्व में पश्चिम की दिलचस्पी

इस संबंध में पहली और सबसे अधिक स्पष्ट बात है पूर्व पर पश्चिम के प्रभुत्व का आकार। सन् १९१४ तक कुस्तुंतुनिया से पीकिंग तक यूरोपीय नियंत्रण—पूर्णतः या अंशतः—स्थापित हो चुका था। भारत, बर्मा, फ्रांसीसी हिन्द-चीन आदि देशों में यह नियंत्रण गोचर या मूर्त्त था, क्योंकि वह क्षेत्रीय व शासकीय था। अन्यत्र इस नियंत्रण का स्वरूप वित्तीय था, जैसे कि ईरान, तुर्की व चीन में। क्षेत्रीय व राजनीतिक न होते हुए भी तथा अमूर्त्त होते हुए भी यह नियंत्रण ठोस और वास्तविक था।

पश्चिम जब पूर्व में आया, तब उसका मूल उद्देश्य केवल रेशम, मसाले, चाय आदि यहाँ की उपज प्राप्त करना था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय उपभोक्ता की आवश्यकताओं से अधिक माल-सामान बनना शुरू होने पर यह मूल दिलचस्पी इस सामान के लिए नये बाजार ढूँढ़ने की आवश्यकता में बदल गयी। उन्नीसवीं शताब्दी में भी पश्चिम को उष्ण कटिबन्ध की उपजों में दिलचस्पी रही अवश्य, पर वह बाजार खोजने की आवश्यकता की तुलना में गौण हो चुकी थी। औद्योगिक क्रांति के बाद, बाजार स्थापित होने पर यूरोपीय देशों के लोग अधिकाधिक संख्या में पूर्व के देशों में आने लगे और उनके लिए संतोष, सुरक्षा व आराम के साथ व्यापार कर सकने के लिए निवास का अधिकार प्राप्त करना आवश्यक हो गया। व्यापार-हित तथा इस आवश्यकता से उन देशों में, जहाँ पश्चिम का सीधा नियंत्रण स्थापित नहीं हुआ था, राज्यक्षेत्रातीतता तथा संधि सीमा-शुल्क की पद्धतियाँ आयीं। पूर्वी एशिया में ये देश थे श्याम, चीन, कोरिया व

जापान। भारत, बर्मा, हिन्द-चीन, बोर्नियो, मलेशिया, फिलीपींस आदि देशों का नियंत्रण किसी न किसी पश्चिमी राष्ट्र के हाथों में चला गया था और यूरोप के हितों व आवश्यकताओं की दृष्टि से राज्यक्षेत्रातीतता या सीमा-शुल्क-पद्धति आदि अनावश्यक थे।

वित्तीय या पूँजी लगाने की दिलचस्पी उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ही शुरू हुई। उस समय तक जापान यूरोपीय संरक्षण से मुक्त हो चुका था और फ्रांसीसी व बरतानवी अधिकार क्षेत्रों के बीच स्थित होने के फलस्वरूप काफी हद तक सुरक्षित होने के कारण श्याम की स्थिति में स्थायित्व आ गया था और वह अपनी अर्थ व न्याय-व्यवस्थाओं को आधुनिक पश्चिमी ढंग पर विकसित कर रहा था। कोरिया को जापान हड़प रहा था। अतएव ये तीनों देश तो यूरोपीय पूँजी नियंत्रण से बच गये, पर चीन नहीं बचा।

बाद में चीन ने विदेशी अंकुश हटाकर मनमाने ढंग से विकसित होने के लिए संघर्ष शुरू किया। इसके अतिरिक्त, भारत व फिलिपिनी द्वीप-समूह में विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया शुरू हुई। यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि यदि चीन व श्याम का अंतरराष्ट्रीय अस्तित्व इसीलिए बना रहा कि पश्चिमी राष्ट्रों में एक-दूसरे से ईर्ष्या थी और हित-साम्य नहीं था। जहाँ तक श्याम का संबंध था, ब्रिटेन व फ्रांस एक-दूसरे को रोके रहे। रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका, जर्मनी व जापान की चीन में ऐसी ईर्ष्या-स्पर्धाएँ थीं और इतना हित-वैषम्य था कि चीन का अस्तित्व कायम रह गया। किन्तु, चीन साम्राज्य व चीनी गणतंत्र और सन् १९३१ में चीनी राष्ट्रीय गणतंत्र लगातार अंतरराष्ट्रीय संकट का केन्द्र बना रहा, जब कि जापान अंतरराष्ट्रीय समाज का सशक्त सदस्य बन चुका था और सन् १९३३ में राष्ट्रसंघ से इस्तीफा देने के पूर्व वह संघ-परिषद् का स्थायी सदस्य था, जिससे उसकी परिवर्तित स्थिति व प्रतिष्ठा का पता लगता था। सन् १९३१ में आधुनिक दुनिया के प्रति चीन व जापान की क्या प्रतिक्रियाएँ थीं, उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ अनुपयुक्त न होगा। बाद के वर्षों में सुदूरपूर्व में जो घटनाएँ हुईं, इस विवरण से उनकी बदलती हुई दिशाओं का पता लग जायगा।

(२) चीन व जापान के विकास की तुलना

प्रतिक्रियाओं की भिन्नता का पहला कारण भूगोल था। जापान का क्षेत्र छोटा है और उसकी तुलना में चीन का विशाल, अपार। संचार-संवहन के साधन दोनों देशों में ही आदिम होते हुए भी नयी दुनिया का ज्ञान सारे जापान में अधिक तेजी से फैला और चीन में यह संभव भी नहीं था। इसी से संबद्ध जनसंख्या का प्रश्न था; यह ज्ञान जापान में थोड़े लोगों तक पहुँचाना था, चीन में विपुल जनसमुदाय को। जापान की सन् १८५० में जनसंख्या लगभग ३.३ करोड़ थी जो एक छोट-से क्षेत्र में घनी बसी हुई थी;

उसी समय चीन की आवादी ३५.४० करोड़ थी और विशाल क्षेत्र में फैली हुई थी। केवल यात्रा की दृष्टि से आधुनिक ज्ञान का प्रसार जापान की अपेक्षा चीन के लिए कई गुना बड़ा काम था। यदि दोनों देशों में रेलमार्ग, जहाज, रेडियो, तार, टेलीफोन आदि की व्यवस्था होती तो यह अंतर इतना बड़ा न लगता। किन्तु इन साधनों का विकास भी उस नयी व्यवस्था का अंग था, जो कि लायी जानी थी और इसलिए शुरू में यह विकास संभव नहीं था।

दूसरे, आधुनिक युग से पूर्व का जापान पश्चिम से संपर्क के समय एक नयी राजनीतिक व्यवस्था के लिए पहले से ही सचेष्ट था, जिससे सम्राट् शक्ति-सत्ता के केन्द्र होते और देश शोगुन की जगह उनकी सत्ता में एक होता। पश्चिमी कुलों के नेताओं का उद्देश्य राजनीतिक विकेन्द्रीकरण नहीं तोकूगावा की जगह स्वयं उनके अधीन एकीकरण था। देश के भीतर मौजूद इस चेतना व सक्रियता से उन नये विचारों की स्वीकृति का मार्ग प्रशस्त हुआ जो शोगुन के विरोधियों के उद्देश्यों के प्रतिकूल नहीं थे। विदेशों से संपर्क का पश्चिमी कुलों के प्रारम्भिक विरोध से कोई दूसरा अर्थ लगाना ठीक न होगा, क्योंकि यह विरोध अंशतः इष्टसिद्धि के लिए था और तोकूगावा-नियंत्रण को कमजोर करने के लिए हर संभव साधन का उपयोग कर लेने की इच्छा का ही प्रतीक था। इसके अतिरिक्त, वास्तविकता यह भी थी कि संधियाँ होने के पहले से ही नागासाकी होते हुए पश्चिमी विचार देश में आने लगे थे और डच-स्कूल के माध्यम से उनका प्रसार होने लगा था।

इस संबंध में जापान की स्थिति चीन से भिन्न थी। आधुनिक युग से पूर्व के चीन में कोई नयी धारा दृष्टिगोचर नहीं थी। मंचू-शासन निर्बल हो रहा था, किन्तु किसी सशक्त विरोध के कारण नहीं, स्वयं अपनी ही प्रभावहीनता के कारण। चीन के बौद्धिक जगत् में गति नहीं स्थिरता थी। बौद्धिक दृष्टि से बाहर के संपर्क से दीर्घकाल तक वंचित रहने से एक राष्ट्रव्यापी रूढ़िवादिता आ गयी थी और सभी वर्गों में फैल चुकी थी। किसी प्रगतिशील बौद्धिक आंदोलन से इस रूढ़िवादिता पर आघात नहीं हुआ था और राजवंश-विरोधी विप्लव भी नहीं हुए थे, जो राष्ट्रीय रूढ़िवादिता में कुछ खलबली पैदा करते; जो भी आंदोलन हुए थे, वे मूलतः आर्थिक थे और उनकी प्रेरणा भी आर्थिक ही थी।

इसके अतिरिक्त, जिन परिस्थितियों में चीन व जापान की संस्कृतियों का विकास हुआ था, उनका प्रभाव उन नये विचारों, संस्थाओं, यांत्रिक वस्तुओं की बाढ़ के प्रति हुई प्रतिक्रिया पर भी हुआ जो विदेशी व्यापारी, धर्म-प्रचारक व राजनयिक अधिकारियों के द्वारा आ रही थी। चीनी संस्कृति पूरी तरह देशज थी। बौद्ध प्रभाव को छोड़कर उस संस्कृति पर जो विदेशी प्रभाव पड़े थे, वे नगण्य थे। विदेशी प्रभाव से उन्मुक्त व प्रति-

रक्षित होने के कारण चीन में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना के कारण शिक्षित वर्ग भी यह समझने या स्वीकार करने में अक्षम हो चुका था कि यूरोप की अपेक्षा चीनी साम्राज्य आर्थिक व राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। दूसरी ओर जापानी संस्कृति के अनेक तत्त्व बाहर से आये व स्वीकार किये हुए थे। निश्चय ही, जापान ने इन बाहरी तत्त्वों का परिष्कार व सुधार भी किया था। किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जापान ने अपनी सांस्कृतिक कमियों को स्वीकार करने और उन्हें बाहरी तत्त्वों से पूरा करने से कभी अनिच्छा प्रकट नहीं की। उसका शिल्प व कला, (शिन्तोवाद छोड़कर) धर्म, प्रशासकीय सिद्धान्त, दर्शन-प्रणाली, लिपि——सभी या तो महाद्वीप से प्राप्त हुई थीं या महाद्वीप में प्रचलित विचारों के अनुरूप उनमें सुधार किया गया था। जापान के लिए उपयोगी विदेशी विचारों व प्रथाओं को अंगीकार करने में व दूसरों की अनुकृति में जापान को कोई मौलिक घृणा का आभास नहीं होता था। आधुनिक युग में केवल इतना अंतर आया था कि इन उपलब्धियों का स्रोत बदल गया था।

इन देशों में जो दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर था, जापान में शासक व शासित का स्पष्ट भेद होना, जिसके कारण जापान विदेशी विचारों आदि को चीन की अपेक्षा अधिक तत्परता से स्वीकार कर लेता था। जापान में सत्ता की आज्ञाकारिता की प्रवृत्ति बहुत विकसित थी, इसलिए, एक बार मार्ग निश्चित कर चुकने पर जापानी नेता बहुत जल्दी जनता को अपने साथ उस मार्ग पर ले चलते थे। इस संबंध में तीन बातें ध्यान देने की हैं——(१) पुनस्संस्थापना के पहले और बाद के संघर्षों में अत्यन्त योग्य नेताओं का जन्म हुआ; (२) पुनस्संस्थापना तथा उसके द्वारा शासन की बागडोर अपने हाथों में लेने के बाद इन नेताओं ने पश्चिम के देशों से खुलकर संपर्क बढ़ाया और जापान को सशक्त बनाने के लिए पश्चिम के विचारों आदि का खुलकर उपयोग करने का संकल्प किया, और (३) आज्ञापालन के सामन्ती कर्त्तव्य की जनता द्वारा स्वीकृति के कारण शासकों के लिए अपना कार्यक्रम लागू करना आसान हो गया; अन्यत्र किसी व्यक्तिवादी समाज में यह इतनी जल्दी संभव नहीं हो सकता था।

दूसरी ओर चीन में ऐसा नेतृत्व नहीं था, जिसे राष्ट्र स्वीकार करता और जिसमें राज्य के पुनस्संगठन व परिवर्तन के कार्यक्रम लागू करने की क्षमता होती। 'राजवंश विदेशी था और उसे जनता का वह सहयोग व समर्थन प्राप्त भी नहीं हो सकता था, जो सन् १८६७ के बाद जापान के राजवंश को प्राप्त हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में चीन में जो नेता थे, वे राज्य की निर्बलता कभी स्वीकार नहीं करते थे, आधुनिक अर्थ में चीन का असली पिछड़ापन समझ ही नहीं पाते थे और इसीलिए सन् १९०० के बाद तक वे परिवर्तन का कोई व्यापक कार्यक्रम नहीं चला पाये। जापान के शासकों ने जो किया,

चीनी शासक वह करने का प्रयास भी करते तो उन्हें जापान की अपेक्षा बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता, क्योंकि चीनी जनता अत्यधिक व्यक्तिवादी थी। जापान में शासकीय निर्देशन को स्वीकार करने की जो प्रवृत्ति थी, चीन में उसके बिलकुल विपरीत स्थिति थी। शासक-समुदाय जनता से पृथक्, ईश्वर से शासन का अधिकार प्राप्त, अलग वर्ग नहीं था। दूसरे शब्दों में, सत्ता की परंपरा का उतना ही बड़ा अभाव था, जितना कि जापान में परिलक्षित निष्ठा के उत्तराधिकार के अस्तित्व का। यदि शिक्षित-वर्ग में सांस्कृतिक श्रेष्ठता की भावना न भी होती तो भी, उसे जनता की कार्यप्रणाली व विचारों की लीक से निकालने में बड़ी कठिनाई होती; इसका एक ही उपाय था और वह था शिक्षा-प्रसार का धीमा तरीका व उदाहरण से जनता को परिवर्तन के लाभ बताने का तरीका।

फिर, राजनीतिक दृष्टिकोण से, जापान की प्राचीन प्रणाली और अब राज्य कहलाने वाले न्याय-सैनिक समाज के बीच बहुत अंतर भी नहीं था। जापान में जनतंत्र के सिद्धान्त समझाने और अपनाने में तो अवश्य देर लगी, किन्तु पूर्ण एकता वाले राजनीतिक समाज की स्थापना अपेक्षतया सरल कार्य था। किन्तु राजनीतिक दृष्टि से चीन अनाकार या स्वरूपहीन था। जैसा कि बताया जा चुका है, चीन का प्रशासन संकलित या एकीकृत था और अधिकारी परीक्षा द्वारा छाँटे जाते थे। किन्तु चीनी समाज से इस प्रशासकीय संगठन का बहुत कम संबंध था। अतएव सर्वसामर्थ्यवान राज्य की कल्पना चीन को जितनी विदेशी लगती थी, उतनी जापान को नहीं। चीन का समाज मूलतः राजनीतिक नहीं सांस्कृतिक समाज था, जब कि जापान में राजनीतिक दृष्टि से संगठित सत्ता का कार्य अधिक विकसित था।

अंततः, पश्चिम की पूर्व पर श्रेष्ठता का तब सबसे अधिक स्पष्ट प्रमाण सामरिक यंत्र-तंत्र थे। जापान जैसे युद्ध-प्रिय देश के लिए यह श्रेष्ठता तत्काल प्रकट थी और इससे उतनी ही श्रेष्ठ आर्थिक व्यवस्था लागू होने में सहायता मिली। एक ऐसे सामन्ती देश में जहाँ सामुराई जैसे योद्धाओं को सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती थी, यह स्वाभाविक भी था। किन्तु चीन को यह समझने में समय लगा कि पश्चिम के देश विकसित हैं, क्योंकि उनका सामरिक तंत्र श्रेष्ठ है। एक ऐसे देश के लिए जहाँ पेशेवर सैनिक समाज के निम्नतम स्तर पर रहते थे, यह स्वाभाविक भी था। कागोशीमा व शिमोनोसेकी पर हुई गोलाबारी से जापान की आंखें एकदम खुल गयीं, किन्तु इसी प्रकार की और इनसे बहुत बड़ी-बड़ी अनेक घटनाओं से चीन की केवल यही धारणा पुष्ट हुई कि विदेशी बर्बर या जंगली हैं। चूँकि विभिन्न देशों के बीच श्रेष्ठता या समता की परीक्षा सैन्य-शक्ति से ही होती थी। जापान फौरन अपनी शस्त्र-सज्जा करने लगा, अपनी सैन्य-शक्ति का उसने

प्रदर्शन किया और 'पिछड़े' देशों की पंक्ति से वह हट आया। यद्यपि देश के उत्तरोत्तर आधुनिक बनाने की प्रक्रिया तथा सैनिक-शक्ति बढ़ाने का काम साथ-साथ ही चला, जापान को सशक्त राष्ट्रों की पंक्ति में बैठने का सम्मान सैनिक-शक्ति के प्रदर्शन से ही प्राप्त हुआ, देश के आधुनिकीकरण से नहीं।

ऊपर लिखित सभी कारणों से जापान की अपेक्षा चीन के विकास में अधिक समय लगा और उसकी गति बहुत धीमी रही। पहली संधि पर हस्ताक्षर होने के १५ वर्ष के भीतर जापान आधुनिक बनने को तैयार हो चुका था, जब कि अपना दृष्टिकोण बदलने में चीन को ६० से अधिक वर्ष लगे। तब मंचू शासकों ने वह करना शुरू किया, जो जापान सन् १८६८ में ही शासन के क्षेत्र में कर चुका था। मंचू-शासकों ने राजनीतिक सुधारों का एक ऐसा कार्यक्रम बनाया, जिससे ऐसा संवैधानिक ढाँचा स्थापित किया जा सके, जिसमें राजतंत्र अक्षुण्ण रहे। जहाँ जापान सफल हुआ था, वहीं चीन असफल हुआ और इसका एक कारण यह भी था कि चीन ने यह कदम उठाने में बहुत देर कर दी थी; अन्य वे ही मौलिक चीन व जापान के भेद थे, जिनके कारण यह असफलता हुई। इसके अतिरिक्त चीन ने आर्थिक परिवर्तनों के लिए कोई वैसा व्यापक कार्यक्रम नहीं तैयार किया था जैसा कि जापान ने किया था; चीन ने केवल उन रेलमार्गों के विकास का कार्यक्रम बनाया था, जो शुरू में लाद दिये गये थे और विदेशी सुझाव पर ही उसने मुद्रा-सुधार की बात भी सोची थी।

किन्तु गणतंत्र की स्थापना के बाद पश्चिमी देशों के अनुरूप चीन ने जापान से अधिक राजनीतिक प्रगति कर ली। दोनों देशों ने ही शासन-संचालन के लिए लिखित रूप में संवैधानिकता स्वीकार की थी। चीन ने संवैधानिक प्रयोग सन् १९११ के बाद शुरू किये थे, ताकि जनता की इच्छा पर आधारित राजनीतिक संस्थाएँ निर्मित हो सकें, जबकि जापानी संविधान में व्यवस्था की गयी थी कि वंशपरंपरानुगत, उत्तराधिकारस्वरूप प्राप्त 'ईश्वरीय आज्ञा' से बने शासक की इच्छा सुचारु रूप से लागू हो सके। अतएव पश्चिम की राजनीतिक धारणाओं को स्वीकार कर जापान ने जब पुनस्संगठन किया तब उसने सत्ता के स्रोत-संबंधी कोई ऐसी धारणा नहीं अपनायी, जो देश की धारणा से बहुत भिन्न रही हो। अतएव यह मानना होगा कि जापान की संवैधानिकता की अपेक्षा चीन अपने गणतंत्रीय प्रयोग को देश की परंपरागत शासकीय धारणाओं से बहुत आगे तक ले गया।

इस तथ्य में भी जापान के राजनीतिक जीवन के पुनर्गठन की तीव्र गति का रहस्य छिपा है; जापान में राजनीतिक स्थायित्व बहुत शीघ्र आ गया था, यद्यपि लगता यही था कि उसने भी पश्चिम की संवैधानिक प्रणाली अपनायी है, जब कि चीन में स्थायित्व

की ओर बढ़ने में भी बहुत समय लगा। जापान में पुरानी संस्थाओं की नींव पर, पुरानी इमारत का ही काफी भाग कायम रखकर, कुछ जोड़-जाड़कर नया रंग कर दिया गया था। इसके विपरीत चीन में देश के संस्थागत जीवन की नींव तक आंदोलन पहुँच चुका था। गणतंत्र की स्थापना द्वारा अतीत से संबंध-विच्छेद का आंदोलन सन् १९११ के पहले से ही चला हुआ था और समाज में एक ठोस रचनात्मक शक्ति के रूप में शासन-तंत्र की कल्पना भी धीरे-धीरे जनता तक पहुँचती रही थी। इस आंदोलन की व्यापकता व प्रसार मंचू-राजवंश व एकतंत्र समाप्त करने के सीमित उद्देश्यों से बहुत अधिक था। यह समझना गलत होगा कि चीन में संघर्ष बिना ही परंपरा ने हार स्वीकार कर ली थी। इसके विपरीत, इस संघर्ष के कारण ही परिवर्तन की जड़ें समाज में गहरी बैठने लगी थीं; यदि सन् १९११ में ही नयी शक्तियों को तत्काल पूर्ण सफलता मिल गयी होती तो आंदोलन गहरा न पैठता। जिस शासन को स्थापित करने में उनका हाथ था, उसका नियंत्रण करने में असफलता के कारण ही सुन यात-सेन व कुओमिनतांग में उनके अनुयायी क्रांति-पथ पर अग्रसर होते गये और अंत में पश्चिमी प्रणाली का गणतंत्र लक्ष्य बन गया और सुन यात सेन-वाद पीछे पड़ गया। राजनीतिक संगठन व प्रक्रिया में नये कार्यक्रम में परंपरा व अर्वाचीन के समन्वय का प्रयास अवश्य हुआ था, किन्तु अधिकांशतः, गणतंत्र की स्थापना के बाद के वर्षों के अनुभव के आधार पर एक नयी दिशा में प्रयाण ही अधिक परिलक्षित था। इन दोनों बातों में ही पश्चिम के उपयुक्त अनुभव व विचारों की जगह चीन के ही अनुभव व विचारों के उपयोग की इच्छा अवश्य विद्यमान थी। किन्तु नये आंदोलन पर रूसी क्रांति के बाद पश्चिम में चली क्रांतिकारी धाराओं का प्रभाव पड़ चुका था। इस प्रकार सन् १९३१ का चीन, राष्ट्रीय आंदोलन के प्रारम्भ के युग की अपेक्षा पश्चिम की विचारधारा से अधिक प्रभावित हो चुका था।

पहली क्रांति के बाद राजनीतिक सत्ता जिन सैनिक-नेताओं के हाथों में पहुँच चुकी थी, वही अब भी कायम थी। किन्तु यह भी मंचू-शासन के समय से काफी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की प्रतीक थी, क्योंकि इससे सेना के प्रति पुराना दृष्टिकोण बदल गया था। नागरिक-सत्ता पर सैन्य-सत्ता का नियंत्रण जापान में परंपरागत होने के कारण अधिक स्थायी था, किन्तु चीन में यह क्रांतिकारी परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था और अतीत में इसकी कोई जड़ें नहीं थीं। देश के भीतर सत्ता के लिए संघर्ष और देश पर पश्चिम के राष्ट्रों और फिर जापान के लगातार दबाव के कारण चीन की विचारधारा में शक्तिपुंज के रूप में राज्य की कल्पना तेजी से घर करने लगी थी। किन्तु व्यवहारतः स्थापित होते हुए भी सैन्य-शक्ति की सत्ता का स्वाभाविक आधार चीन ने सिद्धान्ततः कभी स्वीकार नहीं किया था। अतः सैनिक शासन कायम रहने के बावजूद, राजनीतिक

विकास की धारणा का आधार युद्धपूर्व के पश्चिमी दृष्टिकोण द्वारा समर्थित यही परंपरागत विचार बना हुआ था, कि सैनिक शक्ति नागरिक शक्ति के अधीन रह कर उसके निर्देशन पर कार्य करे। कैण्टन, नानकिंग व अन्य क्षेत्रों में लगातार चलनेवाले संघर्षों तथा चीनी राजनीति की अराजकता व विश्रृंखलता को इस आधार पर नहीं समझा जा सकता, कि वह नागरिक सत्ता व सैनिक सत्ता के बीच की खाई के कारण था और न यह केवल सैनिक नेताओं की अपनी ईर्ष्या के ही कारण था। इसका एक बड़ा कारण सत्ता ग्रहण करने के बाद वर्ग, भाग या व्यक्ति के हित में उसके उपयोग के संबंध में गहरे मतभेद थे।

नये विचारों के कारण जो खाइयाँ चीन में बन गयी थीं, उनकी अभिव्यक्ति जापानी राजनीति में कभी नहीं होने दी गयी थी। सम्राट् के हस्तक्षेप से अनेक मतभेद व संघर्ष बच गये थे। सत्ता के लिए संघर्षशील सभी वर्ग सम्राट् की अंतिम सत्ता में निष्ठा रखते थे। इस प्रकार वहाँ राजनीतिक सत्ता में स्थायित्व आ गया था और नयी शक्तियों को आर्थिक व अन्य क्षेत्रों में विघटनकारी प्रभाव नहीं डालने दिया गया था।

आंतरिक व अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोणों से चीन व जापान के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर यह था कि उन्नीसवीं शताब्दी की संधि-प्रणाली से चीन को सन् १९३१ में जाकर लगभग पूर्ण छुटकारा मिला था, जबकि जापान इससे उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में ही छुटकारा पा चुका था; इस प्रकार यह अंतर कानूनी व राजनीतिक था। चीन राजनीतिक एकता व प्रभावकारी संगठन के लिए तब भी प्रयत्नशील था, जबकि जापान में सन् १८९४ में ही सुगठित संस्थाएँ बन चुकी थीं। सन् १९३१ में यह संदिग्ध था, कि चीन अपने पूरे क्षेत्र में विदेशियों के जान-माल की सुरक्षा की जिम्मेदारी ले सकता था जबकि जापान संधियों का जुआ उतारते ही संतोषजनक सुरक्षा-व्यवस्था स्थापित कर चुका था। जापान ने आधुनिक कानून बनाये थे और वहाँ आधुनिक न्याय-व्यवस्था कायम थी; चीन ने भी अनेक अदालतें स्थापित की थीं और कानून बनायें थे, किन्तु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण सारे देश में ये कानून लागू नहीं हो पा रहे थे। सीमाएँ संकुचित होने के बाद भी चीन का क्षेत्र इतना विशाल था, कि सभी स्तरों पर काफी संख्या में आधुनिक अदालतें स्थापित करने में काफी समय लगता।

अतएव चीन में इस दिशा में प्रगति होने के बाद भी यह स्वीकार करना होगा, कि जापान में जो राजनीतिक स्थायित्व सन् १८९४ में आ गया था, उस सीमा तक पहुँचे बिना ही और नयी न्याय-व्यवस्था पूरी तरह कायम किये बिना ही सन् १९३१ तक चीन ने संधियों का पुनरीक्षण करवा लिया था। इसका एक कारण था चीनी राष्ट्रीयता की उग्र दृढ़ता और दूसरा कारण था अपने सिद्धान्तों के विरुद्ध किसी स्थिति को कायम रखने के लिए काफी बल प्रयोग करने में विदेशी शक्तियों की अनिच्छा; इन्हीं कारणों से चीन

पुरानी संधि-प्रणाली बदलवाने में सफल हो गया था यद्यपि अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस व जापान चीन में अपने राज्यक्षेत्रातीतता के अधिकार अस्थायी रूप से कायम रखे हुए थे। यह माना जा सकता था कि अपनी क्षेत्रीय अविच्छिन्नता पर होनेवाले हमलों के खिलाफ यदि चीन टिक सका, तो वह राष्ट्रों के समाज में पूर्ण प्रभुतासंपन्न सदस्य की हैसियत से शीघ्र ही शामिल हो जायगा। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि आंतरिक अशांति तथा संधियों द्वारा लागू सीमाओं के बावजूद चीन राष्ट्रसंघ बनने के समय से ही उसका सदस्य था और बहुधा चुनाव द्वारा उसकी परिषद् का भी सदस्य हो जाता था।

(३) सुदूर पूर्व का आर्थिक विकास

जापान में जो आर्थिक परिवर्तन ५० वर्ष में ही प्रकट हो चुके थे उन्हें अपने यहाँ लाने में चीन को पहली संधि के बाद ९० वर्ष लगे। इनमें से कुछ परिवर्तन ऐसे थे, जो सन् १९३१ तक भी चीन के कुछ केन्द्रों तक ही सीमित थे और वहाँ भी विदेशियों की कारवाइयों के फलस्वरूप ही आये थे। इसके विपरीत पूरा का पूरा जापान ५० वर्ष के भीतर ही बदलने लगा था और इस परिवर्तन के पीछे विदेशियों की नहीं स्वयं जापान की ही प्रेरणा थी। विदेशी अधिकांशतः पृष्ठभूमि में पड़ गये थे। अपने आर्थिक जीवन को विदेशी प्रभाव से मुक्त करने की दिशा में चीन की अपेक्षा जापान की प्रगति बहुत अधिक थी। चीन में यही प्रवृत्तियाँ सन् १९२८ में प्रकट हुईं। तब भी सन् १९३१ में विदेशी चीन के आर्थिक जीवन पर उस सीमा से कहीं अधिक हावी थे, जो रूस-जापान युद्ध के बाद जापान में थी। चीन के आर्थिक जीवन में विदेशियों का भाग लेना कायम था और उसकी राशि बढ़ भी रही थी किन्तु, भाग लेने की शर्तें उसी तरह बदलने लगी थीं, जैसे वे जापान में बदल चुकी थीं। यह प्रगति बड़ी न होने पर भी महत्त्वपूर्ण थी। आर्थिक दृष्टिकोण से दोनों देश नयी दुनिया को समझने लगे थे और प्राचीन व्यवस्था बदल कर नयी व्यवस्था बनाने के संक्रमण काल में थे।

व्यापार-संबंधी जो आँकड़े ऊपर दूसरे संदर्भ में दिये जा चुके हैं, उनसे स्थिति पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती। पश्चिम के औद्योगिक देशों की चीन, जापान व औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों में दिलचस्पी उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक मुख्यतः बाजारों की दृष्टि से ही रह गयी थी। पश्चिम के यंत्रों के बढ़ते उत्पादन के फलस्वरूप एशिया की उपज प्राप्त करने की जगह अब मुख्य दिलचस्पी वहाँ अपना सामान बेचने में थी। कालान्तर में स्वयं यंत्र ही निर्यात की वस्तु बन गये और पश्चिमी संरक्षण से पूर्व वह सामान स्वयं अधिकाधिक मात्रा में बनाने लगा, जो पहले पश्चिम से आता था। जैसा पहले जापान में हो चुका था, भारत व चीन में करघों व तकुओं की संख्या बढ़ने लगी।

औद्योगिक उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में भी यही हुआ। जिस तरह पश्चिमी जगत् में ब्रिटेन औद्योगिक दृष्टि से सबसे पहले आगे बढ़ आया था उसी तरह पूर्वी जगत् में जापान सबसे आगे बढ़ गया था। किन्तु, सन्१९३१ तक पूर्वके अन्य देश भी अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ स्वयं बनाने लगे थे। इस सबसे व्यापारिक संबंधों का स्वरूप भर बदल गया था और पश्चिम के देशों की इन देशों में आर्थिक शक्ति कम नहीं हुई थी। कुछ देशी उद्योगपतियों को तो पश्चिम से पूंजी उधार मिल गयी थी, जिससे उन्होंने पश्चिम से उत्पादन-यंत्र खरीदे थे, किन्तु अधिकांशतः और बढ़ती मात्रा में पश्चिम के ही उद्योगपतियों ने पूर्व के देशों में आकर अपने कारखाने लगा लिये थे, जिससे वे स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामान वहीं बनाने लगे थे। इन सबसे पूर्व-पश्चिम संबंधों में संशोधन तो हुआ, किन्तु मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। एक तरह से पूर्व अब भी पश्चिम का करदाता था।

विचाराधीन युग के अंत तक पूर्व व पश्चिम का संतुलन मूलतः बिगाड़े बिना भी पूर्वीय देशों के औद्योगीकरण से एक अन्य प्रकार से भी व्यापार का स्वरूप बदला था। कपड़ा जैसा उपभोक्ताओं का सामान बेचने की जगह पश्चिम के औद्योगिक राज्य बिनाई-कताई की मशीनें बेचते थे और इस प्रकार जबकि एक प्रकार की वस्तुओं का बाजार संकुचित होता जा रहा था, उसके साथ ही दूसरी तरह के माल के लिए बाजार बढ़ता जा रहा था। पूर्व के देशों ने मशीनें बनाने के भारी उद्योग स्थापित नहीं किये थे, इससे विनिमय का परिवर्तित आधार उपलब्ध था। किन्तु इसके अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अंत तक चीन व जापान में उन वस्तुओं को पैदा करने की क्षमता और संकल्प प्रकट होने लगे थे, जिनके लिए पश्चिम के व्यापारियों ने माँग पैदा की थी, ताकि देश के भीतर उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार प्राप्त हो सकें। पूर्व के औद्योगिक विकास के साथ पहले का आर्थिक परावलम्बन समाप्त हो रहा था, क्योंकि अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्व के देश स्वयं ही अधिकाधिक सामान तैयार करने लगे थे।

इसके अतिरिक्त पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था कायम होने से चीन व जापान में पूंजी लगाने का स्वरूप बदलने लगा था। दोनों ही देशों में सन् १९३१ तक विशेषरूप से जापान में, विकास तथा उद्योग में लगने के लिए देश के भीतर ही धन उपलब्ध कर लेने की क्षमता आ रही थी। उद्योगों के लिए और ऋणों के रूप में भी विदेशी पूंजी आवश्यक रही थी, किन्तु सरकार व विकासमान उद्यागों के लिए पूंजी के आंतरिक स्रोत पर निर्भरता बढ़ती जा रही थी; यह पूंजी-बाजार पहले देश में था ही नहीं। चीन में जहाँ आर्थिक व राजनीतिक संघर्ष का अखाड़ा बन रहा था सन् १९०२ में ७८.७९ करोड़ अमरीकी डालर की विदेशी पूंजी लगी हुई थी, वह सन् १९३१ में बढ़कर ३२४.२५ करोड़ डालर

हो गयी थी। यह विकास काफी बड़ा था, किन्तु साथ ही स्वयं चीन के आंतरिक साधनों से इससे भी बड़ी राशि उद्योगों में लग चुकी थी। इसके अतिरिक्त विदेशी पूँजी में जापान द्वारा चीन व मंचूरिया में लगायी गयी पूँजी भी शामिल थी। सन् १९०२ में जापान की चीन में लगी पूँजी नगण्य, केवल १० लाख डालर थी, किन्तु अगले ३० वर्षों में यह बढ़कर ११.३६ करोड़ डालर हो गयी थी। चीन में लगी कुल विदेशी पूँजी का यह ३५.१ प्रतिशत थी। इसका अधिकांश मंचूरिया में लगा था, जो उस समय जापान की विशेष दिलचस्पी का क्षेत्र था। किन्तु पूँजी लगाने का यह काम महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि सुदूरपूर्व का एक देश जापान, अब इस सीमा तक पूँजी निर्यात कर रहा था।

नये आर्थिक संबंधों को आँकने के लिए इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी जो बाजार अभीतक पश्चिमी देशों की इजारेदारी समझे जाते थे, वहाँ अब जापान ने धावा बोल रखा था। पश्चिम के देशों में जापान का कच्चा या अर्ध-निर्मित माल ही नहीं पहुँच रहा था, वह तो बहुत दिन से हो रहा था और पश्चिम के देश स्वयं यह माल अपने यहाँ मँगाते थे; सन् १९२० के बाद से जापान इन बाजारों में कपड़ा व बिजली का सामान जैसा कारखानों द्वारा उत्पन्न माल भी भेज रहा था और गंभीर प्रतियोगिता उत्पन्न हो चुकी थी। पहले तो यह प्रतियोगिता भारत व मलाया जैसे एशिया के उन देशों में तथा अफ्रीका के गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में गंभीर रूप से प्रकट हुई, जिन्हें यूरोपीय देश अपने बाजार मानते थे। फिर यह माल पश्चिम के देशों के 'घरेलू' बाजारों में भी पहुँचने लगा। पूर्व व पश्चिम के संबंधों में व्यापार के ज्वार की इस प्रकार दिशा बदलना बहुत महत्त्वपूर्ण घटना थी।

सन् १९३१ तक व्यापार का ढंग भी बदलने लगा था और उससे भी पश्चिम व सुदूरपूर्व के देशों के बीच नये संबंधों की स्थापना और पूर्वस्थिति में परिवर्तन प्रकट होते थे। पहले चीन व जापान से होने वाले आयात-निर्यात-व्यापार का काम विदेशी कंपनियाँ ही करती थीं; अब प्रवृत्ति यही थी कि जितना अधिक हो सके विदेशी बिचवलिये से छुटकारा पाया जाय; इससे विदेशी आर्थिक प्रभाव या नियंत्रण का क्षेत्र और भी कम हो गया था। जापानी व्यापारिक संस्थान भारत, श्याम, फिलिपीन द्वीप समूह, मलाया, सुदूरपूर्व के उपनिवेश तथा अमरीका व अन्य पश्चिमी देशों में अपने माल की बिक्री स्वयं जाकर करने लगे थे। पूर्व के देशों में व्यापार बढ़ाकर जापान ने चीनी व्यापारी की ही जगह ली थी, पश्चिम के व्यापारियों की नहीं। इसका अवसर तब आया, जब चीन व विदेशस्थित चीनी दूकानों ने जापानी माल का बहिष्कार करना शुरू किया। जापानी व्यापारियों को अपना निर्यात कायम रखने के लिए स्वयं वितरण-व्यवस्था में उतरना पड़ा। स्वयं जापान में आयात-व्यापार अधिकाधिक मात्रा में जापानियों के हाथों में

आ रहा था और विदेशियों के हाथों से यह व्यापार निकल रहा था। यही बात चीन पर भी लागू थी, यद्यपि उसकी मात्रा अभी कम थी।

(४) सुदूर पूर्व में राष्ट्रीयता

इस परिवर्तन की आर्थिक प्रेरणा बहुत सीमित थी; अधिकांशतः यह राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई भावना का परिणाम था। इसी प्रकार पश्चिम द्वारा स्थापित और उसी के धन से चलने वाली धार्मिक संस्थाओं के विदेशी नियंत्रण की समाप्ति, विदेशियों द्वारा स्थापित तथा उन्हीं के धन से परिचालित शिक्षा-संस्थाओं का कड़ाई से निरीक्षण तथा विदेशों द्वारा स्थापित लोकोपकारक संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण चीन के लक्ष्य बन गये थे। जापान में ये लक्ष्य प्राप्त भी किये जा चुके थे। अब यह इच्छा बन गयी थी कि विदेशी का उपयोग तो कर लिया जाय पर उसके उपयोग में न आया जाय।

चीन व जापान में राजनीतिक व आर्थिक क्षेत्र में जो उग्र या दृढ़ राष्ट्रीयता प्रकट हुई, वह पश्चिमी संपर्क की ही धरोहर थी। कम से कम चीन में तो राज्य की समता व सार्वभौमिकता का सिद्धान्त पश्चिम से ही लिया गया था। पश्चिम से आये शिक्षकों, धर्म-प्रचारकों तथा राजनयिक अधिकारियों के साथ ही राज्य की राष्ट्रीय व समशील सत्ता होने की पश्चिमी विचारधारा भी चीन पहुँची थी। शुरू में इस विचारधारा को अपनाने में झिझक दिखायी दी थी, किन्तु बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में यह चीन के चिन्तन में बौद्धिक दृष्टि से आत्मसात् हो चुकी थी। दूसरे शब्दों में चीन की राष्ट्रीयता पहले तो उन राजनीतिक, आर्थिक व वित्तीय आक्रामक कारवाइयों के प्रति रक्षात्मक प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुई, जिनसे चीन के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया था, किन्तु, सन् १९३१ तक यह राष्ट्रीयता चीन की चेतना में व्याप्त हो चुकी थी, जिसका विशिष्ट आक्रामक कारवाइयों से ही संबंध नहीं रह गया था। एक संकटापन्न स्थिति से सुरक्षा की भावना के स्थान पर अब खोये हुए 'राष्ट्रीय' अधिकारों को वापस लेने के लिए आक्रमण की भावना आ गयी थी; विचारों की यह धारा सन् १९२५ व सन् १९३१ के बीच पलटी थी। किन्तु, यह एक विदेशी धारणा ही थी, जो चीन में आंदोलन के रूप में प्रकट हुई—चाहे उस आंदोलन का स्वरूप रक्षात्मक रहा हो या आक्रामक।

इसके विपरीत राज्यसत्ता-संबंधी राष्ट्रीयता का पश्चिमी दर्शन-पुनस्संस्थापना के पूर्व के जापान की विचारधारा से पूरी तरह मेल खाता था। शब्दावली भले ही नयी रही हो और विदेशों से आयी हो, पर विचारधारा विदेशी नहीं थी। इस प्रकार, चीन की अपेक्षा जापान महायुद्ध से पूर्व के सार्वभौम राष्ट्रीय राज्यों के अंतरराष्ट्रीय समाज में शामिल होने के लिए पहले से ही तैयार था।

दूसरी ओर, चीन ने जब पश्चिमी जगत् के राष्ट्रीयता के दर्शन को स्वीकार करना शुरू किया, तब तक राष्ट्रसंघ की स्थापना कर पश्चिम इस दर्शन से हट चुका था। कुछ समय तक धारा उग्र राष्ट्रीयता से अंतरराष्ट्रीयता की ओर बहती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंतरराष्ट्रीयता तथा अंतरराष्ट्रीय संबंधों में सैन्यवाद के उन्मूलन के नये दर्शन को चीन में, जापान की अपेक्षा अधिक पूर्ण और अधिक शीघ्रता पूर्वक स्वीकृति मिल गयी; जापान में पश्चिमी राज्यों की भाँति व्यवहार व विचार-संबंधी अनेक विरोधाभास प्रकट हुए। जहाँ तक चीन का संबंध था, इस स्वीकृति के दो बड़े आधार थे। एक तो इस नये दर्शन में तथा पश्चिमी संपर्क से पूर्व जो चीनी दर्शन था उसमें बड़ा साम्य था। विशेषतः चीनी विद्वान् विदेशों से लायी गयी प्रतियोगिता-मूलक राष्ट्रीयता को स्वीकार नहीं कर पाते थे, पर इस नयी विचारधारा को वह प्रसन्नता-पूर्वक स्वीकार कर रहे थे। परस्पर-विरोधी हितों व उनसे उत्पन्न विवादों को आपसी समझौतों द्वारा शांतिपूर्वक हल करने की बात चीन की मौलिक विचारधारा से अधिक मेल खाती थी, युद्ध तक पहुँचानेवाला संघर्ष का दर्शन उसके लिए विदेशी था। दूसरे, चीन बड़ा होते हुए भी राष्ट्रीय शक्ति के रूप में दुर्बल व पिछड़ा हुआ देश था। ऐसे राज्य को अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए शांतिपूर्ण समझौते का वह नया ढंग अधिक पसन्द था, जो महायुद्ध के पहले प्राप्त नहीं था। चीन ने सन् १९१४ के पहले भी अपने अस्तित्व के बचाव के लिए अंतरराष्ट्रीय कारवाई का आश्रय लेने का प्रयास किया था। उदाहरण के लिए चीन स्वयं इतनी शक्ति संचित कर लेने की जगह एक देश को दूसरे के विरुद्ध उभारना अधिक पसन्द करता था, जिससे वह न्याय की अपनी धारणा को मूर्त्त रूप दे सकता। परिस्थितियों के अंतर को ध्यान में रखा जाय, तो राष्ट्रसंघ द्वारा अपनाये गये ढंग इससे बहुत भिन्न नहीं थे। किन्तु जापान में स्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। वहाँ राष्ट्रीयता देशी थी और अंतरराष्ट्रीयता विदेशी और अंतरराष्ट्रीयता को आत्मसात् करने में उस देश को बड़ी कठिनाई थी।

अतएव जापान के लिए यह स्वाभाविक ही था, कि वह सन् १९३१ में नयी अंतर-राष्ट्रीयता का बहिष्कार कर राष्ट्रीयता के पुराने सिद्धान्त के ढंग को अपना ले। उस वर्ष तथा उसके बाद की जापानी कारवाइयों को उद्योगीकरण व बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्याओं के आर्थिक दबावों के संदर्भ में समझाने की प्रवृत्ति है; ये समस्याएँ भी जापान के पश्चिमी संपर्क की ही धरोहर थीं; किन्तु उसकी कारवाइयाँ समझने के लिए गहरे जाना होगा। यह सही है, कि जापान की जनसंख्या अधिक थी और उसके आर्थिक साधन सीमित थे; यह भी सही है कि मंचूरिया में उसके हित व अधिकार थे, जो चीन की नीतियों से संकट में पड़ रहे थे; किन्तु यह भी सही है, कि जापान ने अपने

वैध हितों की रक्षा के लिए शक्ति-प्रयोग के पूर्व नयी स्थापित अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। यह भी सही है, कि चीन द्वारा अंतरराष्ट्रीय संस्था की सहायता लिये जाने पर एक ऐसे समझौते का प्रस्ताव आया,[1] जिससे जापान के मूल दावे व घोषित आवश्यकताएँ पूरी हो जातीं, किन्तु जापान ने इस समझौते को ठुकरा दिया। इस समझौते को अस्वीकार करने के साथ ही जापान राष्ट्रसंघ से हट गया। प्रसारवादी राष्ट्रीय राज्य के परंपरागत ढंग जापान ने अपनाये, क्योंकि वहाँ की प्रभावी विचारधारा राष्ट्रीयता की थी, अंतरराष्ट्रीयता की नहीं।

दूसरी ओर चीन में जापान द्वारा मंचूरिया में की गयी काररवाई के संबंध में पहली प्रतिक्रिया यही हुई, कि पश्चिम व अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं को इस मामले के बीच में डाला जाय। सैनिक-शक्ति की दृष्टि से इस प्रतिक्रिया को प्रतिरोध-क्षमता में कमी के रूप में भी देखा जा सकता है और कहा जा सकता है, कि एक सशक्त राज्य का मुकाबला करने में निर्बल राज्य की यही प्रतिक्रिया होती है; किन्तु इस प्रतिक्रिया को पूरी तरह और संतोषजनक ढंग से समझने के लिए और व्यापक दृष्टि से देखना होगा। नानकिंग-शासन की प्रतिरोधहीन नीति का समर्थन उन सभी राज्यों में हुआ, जो या तो स्वभावतः ही राष्ट्रसंघ के प्रतिज्ञा-पत्र के सिद्धान्तों का समर्थन करते थे या जो देशरक्षा के लिए एक देश को दूसरे देश के विरुद्ध उभारने का ढंग अपनाते रहते थे। जो भी हो, सुदूरपूर्व में यथास्थिति कायम रखने के लिए पश्चिम की शक्ति के उपयोग की इच्छा प्रकट हुई। इस प्रकार एक ओर जापान सुदूरपूर्व के प्रश्न को हल करने के लिए पश्चिम के हस्तक्षेप को मूलतः अस्वीकार करता रहा और दूसरी ओर चीन इस विशिष्ट प्रश्न को हल कराने के लिए उन पश्चिमी देशों की सहायता चाहता था, जो अब तक सुदूरपूर्व में प्रबल थे। इस स्थिति में 'मंचूकुओ' के स्वतंत्र राज्य की सफल स्थापना के दो परिणाम निकले। एक ओर यूरोप से आयी अंतरराष्ट्रीयता की नयी शक्ति की अंतरराष्ट्रीय संबंधों में निर्बलता सिद्ध होने से चीन राष्ट्रीय शक्ति के राष्ट्रीय आधार को स्वीकार करने को बाध्य हुआ; दूसरी ओर, जापान यह समझ गया कि आधुनिक युग में वह यूरोप की परवाह किये बिना आगे कदम बढ़ा सकता है।

(५) सुदूर पूर्व के शक्ति-संबंध

वस्तुस्थिति यह है, कि सन् १९३१ तक सुदूरपूर्व में शक्ति-संतुलन बदल चुका था। शक्ति, पूर्ण निरपेक्ष नहीं सापेक्ष धारणा है और आपेक्षिक रूप में ही वह आँकी जाती है। किसी देश की सैनिक या नौ-सैनिक-शक्ति स्थायी बनी रहे और दूसरे किसी देश की इस बीच में सैन्यशक्ति बहुत अधिक विकसित हो जाय, तो निष्कर्ष यही निकाला जायगा

कि पहले देश की शक्ति क्षीण हो गयी या वह निर्बल हो गया। इस दृष्टिकोण से शक्ति-राजनीति में जापान की सैन्य-शक्ति बढ़ने से अन्य राष्ट्र निर्बल हो गये थे। सन् १८९५ में यूरोपीय राष्ट्रों की हस्तक्षेप की धमकी भर से जापान शिमोनोवे की संधि की शर्तें बदलने को बाध्य हो गया था। उस समय जापान अधिक से अधिक तीसरे दर्जे की शक्ति था। दस वर्ष बाद रूस से सफल टक्कर लेकर जापान शक्ति-स्तर पर बहुत ऊँचा चढ़ आया था, यद्यपि यह सफलता आंग्ल-जापानी समझौते और अमरीका के मैत्रीपूर्ण संबंधों के कारण ही संभव हुई थी। सन् १९१४ व सन् १९१८ के बीच यूरोप के देश महायुद्ध में अपनी सैनिक-शक्ति व्यय कर चुके थे, जबकि जापान की जल-थल सैन्य-शक्ति अक्षुण्ण थी। इस बीच वह एशिया महाद्वीप पर अपनी आर्थिक व राजनीतिक स्थिति भी मजबूत कर चुका था। वाशिंगटन-सम्मेलन में नौसैनिक अनुपात में जापान की शक्तिशाली स्थिति स्पष्ट हो गयी थी। अमरीका, ब्रिटेन व जापान ने वहाँ यह सिद्धान्त स्वीकार किया था, कि शक्ति का अनुपात ऐसा हो कि हर देश अपने क्षेत्र में किसी एक देश के हमले की स्थिति में सुरक्षित रहे। सम्मेलन के चीन-संबंधी प्रस्तावों में तो जापान को राजनीतिक दृष्टि से पीछे हटना पड़ा था, किन्तु नौसेना-अनुपात तथा किलेवन्दी-विरोधी समझौतों से जापान अपने साम्राज्यवादी हित-क्षेत्रों में पूर्ववत् छाया रहा था। इस प्रकार शक्ति की दृष्टि से जापान यूरोपीय राज्यों की अपेक्षा लगातार आगे बढ़ रहा था। इसका अर्थ था कि पश्चिम लगातार धीरे-धीरे (अकस्मात् नहीं) सुदूरपूर्व की घटनाओं के नियंत्रण व निर्देशन को खोता जा रहा था। जापान के शक्ति के रूप में उदय की कथा इस भाँति पश्चिम के सुदूरपूर्व में आपेक्षिक अस्त होने की कथा भी है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जापान कोरिया व मंचूरिया-संबंधी अपनी नीतियाँ केवल पश्चिमी देशों की सहमति और सहायता से ही कार्यान्वित कर पाता था, किन्तु सन् १९३१ में जापान को नियंत्रित रखने के लिए पश्चिमी देशों का संयुक्त, सामूहिक प्रतिरोध आवश्यक हो चुका था।

इस बात का, कि बीसवीं शताब्दी के पहले तीस वर्षों में जापान पश्चिमी देशों की तुलना में अपनी शक्ति लगातार बढ़ा रहा था, एक अपवाद भी था। यह अपवाद अमरीका का था, यद्यपि वह वास्तविक कम था दिखाऊ अधिक था। नौ-सैनिक दृष्टि से वाशिंगटन सम्मेलन के निश्चय के अनुसार अमरीका व ब्रिटेन की शक्ति समान कर देने से अमरीका की शक्ति में सैद्धान्तिक रूप से जापान की शक्ति तीन व पाँच के अनुपात में बढ़ाने की तुलना में अधिक वृद्धि हो गयी थी। सन् १९१४-१९१८ के महायुद्ध में भाग लेने के समय अमरीका की सैनिक-क्षमता और उसकी संभाव्य-शक्ति का प्रदर्शन अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा था और इसी प्रकार उसकी आर्थिक व वित्तीय शक्ति का बोध भी महत्त्वपूर्ण था। महायुद्ध

में शामिल होने से अमरीकी शक्ति पूरी तरह से उपयुक्त या क्षीण नहीं हुई थी और इसलिए युद्ध के बाद अन्य देशों की तुलना में (जापान को शामिल करके भी) अमरीका जितना सबल व सशक्त बचा था, उतना पश्चिमी देशों की तुलना में जापान भी नहीं था। वाशिंगटन सम्मेलन के सुदूरपूर्वीय निर्णयों से वहाँ की राजनीति के संबंध में निर्णय लेने की अमरीका की नयी क्षमता का पता लगता था। किन्तु अंतरराष्ट्रीय राजनीति में निर्णयात्मक स्थिति केवल वास्तविक या संभाव्य शक्ति-मात्र से नहीं आती, उसके लिए इस शक्ति के उपयोग की इच्छा भी होनी चाहिए। यह इच्छा वाशिंगटन-सम्मेलन के समय तो प्रकट हुई, किन्तु उसके पहले या बाद इस इच्छा के अस्तित्व का पता नहीं लगा।

सन् १९०१ से सन् १९३१ के वर्षों में अमरीकी राजनीति के अध्ययन से लगेगा, कि जो कुछ भी शक्ति अमरीका में थी, उसका सक्रिय उपयोग कर पूर्वी एशिया में उपयुक्त नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करवाने की इच्छा उसमें कभी नहीं रही। उसने 'उन्मुक्त द्वार' व चीन की अविच्छिन्नता की नीति प्रतिपादित कर दी और चीन के अंतरराष्ट्रीय संबंधों में इस नीति के लागू करने का मौखिक समर्थन अन्य राष्ट्रों से प्राप्त कर लिया। किन्तु जब कभी किसी देश ने इस नीति का उल्लंघन किया, तब उसके समर्थन के लिए हमेशा दूसरे देश ही सामने आये, अमरीका नहीं। मुक्का-आंदोलन के बाद जब रूस ने मंचूरिया में उन्मुक्त द्वार व चीनी अविच्छिन्नता के सिद्धान्तों के विरुद्ध स्थायी नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया, तब अमरीका नहीं जापान ने ही उसे रोका। पोर्ट्समाउथ संधि का रूजवेल्ट ने समर्थन किया था, क्योंकि वह समझते थे कि मंचूरिया में रूस व जापान एक दूसरे को रोके रहने में समर्थ होंगे। किन्तु जब हुआ इसके विपरीत और इन संभाव्य शत्रुओं ने मैत्री करके अपने-अपने क्षेत्र व नीतियों के संबंध में समझौते कर लिये; तब अमरीका ने राजनयिक प्रतिवाद तो किया; किन्तु अपनी नीति को लागू करवाने के लिए अपनी शक्ति का कोई उपयोग नहीं किया। बाद में टैफ्ट के शासनकाल में हुए प्रयासों के बावजूद अमरीकी पूंजी के लगाने के क्षेत्र के रूप में मंचूरिया का दरवाजा बन्द हो गया। अमरीका की नीतियों और प्रतिवादों की अवहेलना इसलिए भी की गयी कि लोग समझते थे कि मौखिक प्रतिवादों के आगे अमरीका बढ़ेगा ही नहीं। पूंजी लगाने के समान हित होने के कारण ब्रिटेन को इस मामले में घसीट लाने की कोशिश बेकार हो गयी, क्योंकि ब्रिटेन का जापान से समझौता था और अमरीका ब्रिटेन को वे आश्वासन देने को तैयार नहीं था जो जापान दे चुका था।

अपनी सुदूरपूर्वीय नीतियों को प्रभावकारी ढंग से लागू करवाने के लिए शक्ति-प्रदर्शन में अमरीकी अनिच्छा का एक कारण यह भी था, कि इस क्षेत्र में उसके भौतिक हित कम थे, जबकि कुछ अन्य क्षेत्रों में वे यहाँ की तुलना में बहुत अधिक थे। बीसवीं

शताव्दी के पहले तीस वर्षों में चीन में अमरीका की काफी पूँजी लग गयी थी पर अमरीका के लिए वह बड़े महत्त्व की कभी नहीं थी। सन् १९०२ में अमरीका ने १.९७ करोड़ डालर की पूँजी चीन में लगा रखी थी, सन् १९१४ में यह राशि बढ़कर ४.९३ करोड़ तथा सन् १९३१ में बढ़कर १९.६८ करोड़ डालर हो गयी थी, किन्तु सन् १९०२ में जितनी विदेशी पूँजी चीन में लगी थी, अमरीकी पूँजी उसका केवल २.५ प्रतिशत थी, जवकि ब्रिटेन की ३३, रूस की ३१.३ तथा जर्मनी की २०.९ तथा फ्रांस की ११.६ प्रतिशत थी। सन् १९१४ में अमरीकी प्रतिशत ३.१ हुआ और सन् १९३१ में केवल ६.१। इसी वीच जापानी पूँजी का प्रतिशत .१ से बढ़ कर ३५.६ हो चुका था और वह ब्रिटेन की टक्कर पर जा पहुँचा था। इससे प्रकट है कि पूँजी लागत की दृष्टि से अन्य देशों की तुलना में अमरीका के भौतिक हित चीन में नगण्य ही थे और इसीलिए किसी नीति को लागू करवाने में उसकी इतनी दिलचस्पी नहीं थी। इस निष्कर्ष को इस तथ्य से भी बल मिलता है, कि रूस को छोड़ कर शेष यूरोपीय देशों व अमरीका की चीन में पूँजी लागत के अनुपात में क्षेत्र-नियंत्रण बहुत कम था। "आम धारणा के विपरीत स्थिति यह थी कि मुख्य विदेशों द्वारा लगी पूँजी के मुकाबले में उनके अधीन क्षेत्र महत्त्वहीन थे। प्राध्यापक रेयर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मंचूरिया मिलाकर चीन में लगी विदेशी पूँजी का १.३ प्रतिशत अमरीका का, ४.३ प्रतिशत जर्मनी का, ४.८ प्रतिशत फ्रांस का और ५.९ प्रतिशत ब्रिटेन का था।"[२] अतएव यदि शक्ति के दृष्टिकोण से किसी देश की राष्ट्रीय नीति पूँजी लागत के आधार पर सशक्त या निर्बल आँकी जाती हो तो यह स्पष्ट है, कि अमरीका को अपनी नीति लागू कराने में कम दिलचस्पी होनी चाहिए थी। अमरीका की दिलचस्पी संभाव्य थी वास्तविक नहीं और संभाव्य हित व दिलचस्पी के लिए राजनयिक चालें तो चली जा सकती हैं, संभावनाओं तथा अभौतिक हितों की रक्षा में सेनाएँ उतारने में देश झिझकते हैं।

किन्तु व्यापार के दृष्टिकोण से अमरीका की चीन में दिलचस्पी लगातार बढ़ रही थी। चीन के साथ होनेवाले अमरीकी व्यापार की राशि सन् १९१२ में ७.१६ करोड़ हैकवान ताएल थी, जो सन् १९२० में २१.०३ करोड़, सन् १९२५ में २८.५७ करोड़ सन् १९३० में ३६.४३ करोड़ व सन् १९३१ में ४४.१५ करोड़ हो गयी थी। चीन से होनेवाले कुल व्यापार का अमरीकी प्रतिशत सन् १९१२ में ८.५ था, जो सन् १९३१ में बढ़कर १८.८ हो गया था। यह वृद्धि अमरीका द्वारा विदेशी बाजारों की लगातार खोज के फलस्वरूप हुई थी; इसके अतिरिक्त, महायुद्ध के समय यूरोपीय देशों ने सुदूरपूर्व के बाजारों में अपना माल भेजना रोक रखा था, जिससे अमरीका व जापान दोनों को प्रतियोगिता के अभाव में व्यापारिकि रूप में अपने पैर जमाने का अवसर मिल गया था; अमरीका उन देशों की जगह भी लेता जा रहा था, जिनके विरुद्ध चीन समय-समय पर

बहिष्कार के नारे लगाता रहता था। किन्तु चीन से होने वाले व्यापार में वृद्धि अमरीका की विश्वव्यापी व्यापार-वृद्धि का अंगमात्र थी; आँकड़ों से प्रकट यह वृद्धि पूरे अमरीकी व्यापार का एक नगण्य अंश थी। दूसरे क्षेत्रों में अमरीका की जितनी व्यापारिक दिलचस्पी थी, उतनी चीन में नहीं थी।

व्यापार व पूंजी लागत में प्रकट अमरीका की सुदूरपूर्व में भौतिक दिलचस्पी केवल चीन तक ही सीमित नहीं थी। बीसवीं शताब्दी के पहले तीन दशकों में अमरीका का जापान से व्यापार भी लगातार बढ़ा था। सन् १९१३ में यह व्यापार ३०.६ करोड़ येन का था, सन् १९२० में १४३.८ करोड़, सन् १९२५ में १६७ करोड़, सन् १९३० में ९४ करोड़ तथा सन् १९३१ में ७६.१ करोड़ येन का। जापान के व्यापार में अमरीका का प्रतिशत २२.५ से बढ़ कर ३२.२ प्रतिशत हो गया था। सबसे अधिक प्रतिशत सन् १९२९ में था, जब यह ३५.९ रहा था। इस प्रकार चीन से होनेवाले व्यापार के प्रतिशत की तुलना में जापान से हुए अमरीकी व्यापार का प्रतिशत अधिक था। यही बात पूंजी लगाने के संबंध में भी सही थी। सन् १९३० के अंत में जापान में लगी पूंजी का अनुमान विदेशी तथा घरेलू व्यवसाय के अमरीकी कार्यालय ने ४४.४६ करोड़ डालर लगाया था।[३]

किन्तु अमरीका के जापान से संबंधों और वहाँ पूंजी व व्यापार के वास्तविक या संभाव्य हितों की रक्षा के प्रश्न से वे अनोखी समस्याएँ नहीं उत्पन्न हुईं—न प्रत्यक्षतः और न अन्य देशों की नीतियों या कारवाइयों के फलस्वरूप अप्रत्यक्षतः—जो चीन में हुईं और जिनके कारण विशिष्ट नीतियों के प्रतिपादन और उनके कार्यान्वय की समस्याओं से उलझना पड़ा। सन् १८९४ के बाद जापान में न तो अमरीका ने और न किसी अन्य देश ने ऐसे विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त की थीं, जिनके लिए जापानी सरकार की नीतियों से खतरा पैदा हुआ हो और जिनकी रक्षा करनी पड़ी हो या दबाव में आकर जिन्हें छोड़ना पड़ा हो। जापान इतनी शक्ति संचित कर चुका था कि वह चीनी साम्राज्य में विशेष सुविधाओं की होड़ में न केवल पश्चिमी राष्ट्रों से अपनी रक्षा ही कर सकता, बल्कि वह स्वयं उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता में उतर भी सकता था। अतएव जहाँ तक जापान का संबंध था, अपनी नीतियों को लागू कराने के लिए शक्ति प्रयोग की इच्छा-अनिच्छा का महत्त्व जापान को छोड़ कर सुदूरपूर्व के शेष क्षेत्रों में नीति-भेद तक ही सीमित था।

(६) फिलिपिनी द्वीप-समूह

चीन में पूंजी तथा व्यापार की संभावनाओं तथा वहाँ धार्मिक, मानवीय तथा सांस्कृतिक कारवाइयों व दिलचस्पियों के अतिरिक्त फिलिपिनी द्वीप-समूह के अमरीकी साम्राज्य

में शामिल होने से अमरीका की सुदूरपूर्व की राजनीति में दिलचस्पी बढ़ चुकी थी। स्पेन से यह क्षेत्र लेने की माँग ही इस निगाह से की गयी थी, कि वहाँ के आर्थिक व राजनीतिक जीवन में अधिकाधिक भाग लिया जायगा। किन्तु इस प्रश्न पर अमरीकी जनमत में गहरा मतभेद हो गया, जो काफी सीमा तक दलगत राजनीति में परिलक्षित हुआ। डेमोक्रेटिक या जनतंत्र दल ने अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी घोषित किया और इसलिए फिलिपिनी स्वतंत्रता का पक्ष लिया; रिपब्लिकन या गणतंत्र दल ने, जो द्वीप-समूह पर आधिपत्य तथा उसके बाद कुछ समय तक सत्तारूढ़ था, दो शर्तों पर द्वीप-समूह को अंततः स्वतंत्रता देने का आश्वासन दिया : "..... जब अमरीका समझ लेगा कि वहाँ की जनता स्वतंत्रता कायम रख सकती है तब फिलिपिनी द्वीप-समूह को स्वतंत्र कर दिया जायगा; और यह स्वतंत्रता दे दी जायगी, यदि वहाँ की जनता तब भी स्वतंत्रता चाहे। रिपब्लिकन दल के नेताओं में इस बात पर कभी द्विधा या ढुलमुलपन नहीं आया, कि दोनों देशों की जनता के बीच स्थायी संबंध वांछनीय व विवेकपूर्ण है....."[४] किन्तु वास्तव में रिपब्लिकन व डेमोक्रेट, दोनों दल स्वतंत्रता को अंतिम लक्ष्य ही बनाकर चल रहे थे। फलतः द्वीप-समूह में तुरंत स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए आंदोलन चला और अमरीका में उन लोगों ने इसका समर्थन किया, जो अपने को साम्राज्यवाद-विरोधी कहते थे।

द्वीप-समूह के शासन में वहाँ की जनता शुरू से ही अमरीकियों से सम्बद्ध थी। सन् १९०२ में कानून बनाकर निर्वाचित विधानसभा की व्यवस्था कर दी गयी थी और जैसे ही समझा गया, कि वे अब उन कामों के लिए उपयुक्त हैं, स्थानीय निवासियों को निचली प्रशासकीय व सरकारी नौकरियों में लिया जाने लगा। जब तक अमरीका में रिपब्लिकन दल सत्तारूढ़ रहा, द्वीप-समूह में अधिक महत्त्वपूर्ण पद और इस लिए प्रभावकारी नियंत्रण अमरीकी अधिकारियों के हाथों में ही रहा, सैद्धान्तिक दृष्टि से भी और व्यावहारिक दृष्टि से भी। स्वतंत्रता के समर्थकों की लक्ष्य-प्राप्ति की दिशा में पहला महत्त्वपूर्ण कदम सन् १९१६ में उठाया गया, जब डेमोक्रेट दल के शासन ने जोंस-कानून बनाया। यह कानून और गवर्नर-जनरल हैरिसन का प्रशासन फिलिपिनी जनता के हाथों में शासन का नियंत्रण काफ़ी हदतक देने के माध्यम बने। सन् १९२० के चुनाव के बाद रिपब्लिकन दल फिर सत्ता में आ गया और प्रभावकारी अमरीकी नियंत्रण के लिए द्वीप-समूह में प्रशासकीय कदम उठाये गये; तर्क यह था, कि जब तक अमरीका का उत्तरदायित्व है, उस उत्तरदायित्व को निबाहने के लिए काफी अधिकार भी अमरीका के पास होने चाहिए।

हूवर-प्रशासन के अंत समय अमरीका में मन्दी आ जाने के कारण नयी आर्थिक परिस्थिति के फलस्वरूप नये राजनीतिक दृष्टिकोण अपनाये गये। राजनीतिक व नैतिक आधार पर फिलिपिनी स्वतंत्रता के समर्थकों को अमरीकी खेतिहर हितों के प्रतिनिधियों,

संगठित श्रमिकों के गुटों और खेती की उपज को बिक्री के योग्य बनानेवालों के गुटों का समर्थन आर्थिक आधार पर भी मिलने लगा—फिलिपिनी ही नहीं अमरीकी आर्थिक हितों के आधार पर भी ।

किन्तु तीस वर्षों के अमरीकी नियंत्रण के फलस्वरूप द्वीप समूह और अमरीका की अर्थ-व्यवस्थाओं में बड़े घनिष्ठ संबंध स्थापित हो चुके थे। यह संबंध सन् १९०९ के बाद दृढ़तर हो गये थे, जब दोनों देशों के बीच अबाध व्यापार और द्वीपसमूह व शेष दुनिया के बीच व्यापार बिलकुल बन्द कर देने की नीति अपनायी गयी थी। व्यापार-संबंधी आँकड़ों से यह घनिष्ठता स्पष्ट हो जाती है। द्वीपसमूह अमरीका के लिए बाजार के रूप में लगातार विकसित हो रहा था। "सन् १८९९ में अमरीका ११.५ लाख डालर का सामान फिलिपिनी द्वीप को भेज रहा था। सन् १९०८ तक, जो कि स्वतंत्र व्यापार का अंतिम वर्ष था, अमरीकी सामान की बिक्री मुश्किल से ५० लाख डालर तक पहुँच पायी थी; किन्तु नयी व्यापार नीति लागू होने के पहले वर्ष में ही यह व्यापार दुगुना हो गया था और सन् १९२९ में यह राशि ९,२५,९२,९५९ डालर के आश्चर्यजनक स्तर पर पहुँच गयी थी; यह वर्ष व्यापार की दृष्टि से चरम उत्कर्ष का था। व्यापारिक मन्दी के कारण सन् १९३३ तक द्वीप में अमरीकी आयात गिर कर इस राशि के आधे से भी कम रह गये थे, किन्तु सन् १९३४ में हालत कुछ सुधरी थी और राशि बढ़ कर ५,४६,८०,००० डालर हो गयी थी।"[५] फिलिपिनी उत्पादकों के लिए अमरीकी बाजार का महत्त्व और भी अधिक था; सन् १९३० में ७९ प्रतिशत, सन् १९३३ में ८७ प्रतिशत तथा सन् १९३४ में ८४ प्रतिशत निर्यात केवल अमरीका को हुआ था। स्थिति यह थी, कि अमरीका का काम तो द्वीप-समूह के बाजार के बिना भी चल सकता था, किन्तु, अपेक्षतया निर्यात की स्वतंत्रता मिल जाने से स्वयं द्वीप-समूह की हालत यह हो गयी थी कि वह पूरी तरह अमरीका के बाजार पर ही निर्भर हो चुका था। यह स्थिति अमरीकी नीति का ही परिणाम थी। इस आर्थिक अंतरावलम्बन के कारण इसमें संदेह किया जाने लगा था, कि अमरीका फिलिपिनी स्वतंत्रता का अपना वचन कभी भी पूरा करेगा या द्वीप स्वयं अमरीकी सीमा-शुल्क-व्यवस्था के बाहर जाना कभी पसन्द भी करेगा। सन् १९३० तक इस वचन को पूरा करने का समर्थन इस मूलतः राजनीतिक दृष्टि से ही होता रहा था, कि "गोरे लोगों की जिम्मेदारी" निवाहते हुए अमरीका का यह उत्तरदायित्व था, कि फिलिपिनी जनता को ऊपर उठाकर स्वशासन में प्रशिक्षित कर, उसे अंततः अपना राज अपने आप सम्हालने की जिम्मेदारी दी जा सके। स्वतंत्रता की यह भावना फिलिपिनी जनता की हितचिन्ता से ही उत्पन्न थी। द्वीप-समूह से चले आना अंतिम कर्त्तव्य था, आत्म-त्याग का असाधारण कृत्य था, अमरीका तथा अमरीकी जनता के हित में उठाया जानेवाला कोई कदम नहीं था।

फिलिपिनी जनता की चिन्ता कीं जगह अमरीकी उत्पादक के हितों की चिन्ता के नये दृष्टिकोण का प्रमाण तव मिला, जब स्मूट-हौले शुल्क-दर-व्यवस्था-संबंधी कानून में यह संशोधन रखा गया, कि "फिलिपिनी सामान पर आयात-कर लगाया जाय;"[६] अमरीका के उन उत्पादकों का हित अब खतरे में पड़ रहा था,जो वही सामान बनाते थे, जो द्वीप-समूह से आता था। इस प्रश्न पर समिति की बैठकों में विचार तक के लिए संशोधन पर विचार स्थगित हो गया। लगभग तत्काल ही सीनेट-सदस्य हाउज व कटिंग के एक विधेयक के फलस्वरूप प्रश्न शुल्क-दर से बदल कर फिलिपिनी स्वतंत्रता का हो गया। इस विधेयक में व्यवस्था थी कि पाँच वर्ष तक दोनों देश शुल्क दरें बढ़ाते जायँगे और इस अवधि की समाप्ति पर द्वीप की जनता इस बात पर मतदान करेगी, कि आर्थिक स्वाधीनता के प्रयोग के बाद वह राजनीतिक स्वाधीनता चाहती है या नहीं। इस विधेयक पर सन् १९३० से सन् १९३३ तक विचार जारी रहा। विधेयक को आर्थिक हित-दृष्टिकोण वाले गुट के अतिरिक्त किसानों के प्रतिनिधियों का भी समर्थन मिल रहा था, जब कि औद्योगिक उत्पादकों के प्रतिनिधि, जिन्हें द्वीप का बाजार भी चाहिए था और वहाँ का कच्चा माल भी, इसका विरोध कर रहे थे। विधेयक के राजनीतिक परिणामों में दिलचस्पी रखने वाले लोग भी दोनों पक्षों में शामिल थे। इस प्रकार आर्थिक हितों की दृष्टि से स्वतंत्रता के समर्थकों को स्वशासन के मौलिक अधिकार में विश्वास करने वालों का अनुमोदन व सहयोग प्राप्त हो गया था। दूसरी ओर विधेयक के विरोधियों को उन लोगों का सहयोग मिल गया था, जो कहते थे, कि द्वीप की जनता अभी स्वशासन के योग्य नहीं है और स्वतंत्रता वहाँ की जनता तथा अन्य औपनिवेशिक शक्तियों के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगी तथा इसकी अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया गलत होगी। सरकार के कार्यकारी पक्ष का भी यही मत था।

अंततः, हूवर के शासनकाल के अंतिम दिनों में उनके निषेधाधिकार प्रयोग के बावजूद हेअर-हाउज-कटिंग विधेयक स्वीकृत होने के उपरान्त, मार्च १९३४ में स्वतंत्रता-संबंधी विधेयक स्वीकार हो गया; फिलिपिनी प्रतिद्वन्द्विता से अपनी रक्षा करने के इच्छुक, स्वतंत्रता के समर्थक तथा स्वयं फिलिपिनी नेता यही माँग कर रहे थे। इस पहले वाले विधेयक से द्वीप की जनता को तत्काल मताधिकार मिल गया था। मत लेने पर जनता के बहुमत ने इस विधेयक के विरुद्ध मत दिया—इसलिए नहीं कि लोग स्वतंत्रता के विरुद्ध थे, बल्कि इसलिए कि स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए, जो कुछ शर्तें लगायी गयी थीं, वे उनके विरुद्ध थे। अमरीकी कांग्रेस में पुनर्विचार हुआ और टाइडिंग्स-मैकडफी कानून बन गया।

इस कानून के अनुसार फिलिपिनी विधानसभा या एक विशेष सम्मेलन द्वारा स्वतंत्रता के लिए सहमति प्रकट करने पर एक संविधान-सम्मेलन बुलाने की व्यवस्था की गयी थी। कानून में वर्णित कुछ शर्तों के अनुरूप ही संविधान का मसौदा बनना था और इसे अमरीकी

राष्ट्रपति का समर्थन भी प्राप्त होना था। संविधान तैयार हो गया, उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गयी और सन् १९३५ के अंत तक एक नयी राष्ट्रमंडलीय सरकार स्थापित हो गयी। नयी सरकार स्वतंत्र राज्य की सरकार नहीं थी, क्योंकि अमरीकी नियंत्रण की समाप्ति के लिए दस वर्ष की अवधि नियत कर दी गयी थी और इस अवधि में पूर्ण स्वतंत्रता के लिए आर्थिक संबंध समायोजित होने थे और वे तैयारियाँ भी होनी थीं, जिनसे नयी सरकार इस स्थिति को कायम रख सके।

यह वही समय था, जब एशिया में जापान की प्रसार काररवाइयों से सुदूरपूर्व के अंतरराष्ट्रीय संबंधों में उथल-पुथल हो रही थी। यदि फिलिपिनी स्वतंत्रता का प्रश्न अंतरराष्ट्रीय शांति व स्थायित्व के समय उठता तो उस पर भले प्रकार विचार हो सकता था क्योंकि, दोनों देशों के आर्थिक संबंधों तथा अन्य प्रभावों का संबंध एक तरह से एक ही देश पर पड़ता था और मामले की अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया नहीं होती थी। किन्तु तात्कालिक परिस्थितियों में, सुदूरपूर्व के क्षेत्र में राजनीतिक संबंधों पर प्रभाव पड़ने के कारण इस संबंध में हुए निर्णयों की अंतरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया होती थी। दस वर्ष की अवधि के बाद द्वीप के स्वतंत्र होने के निर्णय से सुदूरपूर्व की राजनीति में एक नया तत्व शामिल होता था, क्योंकि द्वीप स्वतंत्र इकाई के रूप में राजनीति में भाग लेता, जबकि अभी तक अमरीका के अधीन होने के कारण उसकी नीतियों का प्रभाव केवल अमरीका पर ही पड़ता था। अब प्रश्न द्वीप की जनता के सुचारु रूप से शासन-व्यवस्था चलाने की क्षमता का था। यदि शासन सुव्यवस्थित हो तो अन्य राष्ट्र अपने हितों व नागरिकों की रक्षा के लिए हस्तक्षेप करने का तर्क उपस्थित नहीं कर सकते थे। द्वीप की जनता को संभाव्य बाहरी आक्रमण से अपनी स्वाधीनता की रक्षा भी स्वयं ही करनी थी; यदि दस वर्ष की अवधि के बाद भी द्वीप के स्वरक्षा में असमर्थ होने पर अमरीका द्वारा उसकी रक्षा-व्यवस्था करने की अपेक्षा होती तो दूसरी बात थी। नये राष्ट्रमंडलीय शासन की स्थापना की शर्तें इस प्रकार थीं कि दस वर्ष की अवधि में ही अमरीका का यह नैतिक के अतिरिक्त अन्य प्रकारों का भी उत्तरदायित्व हो जाता कि अपने द्वारा दी गयी इस स्वतंत्रता की वह रक्षा करे। द्वीप में आंतरिक शांति व व्यवस्था कायम रखने के लिए हस्तक्षेप करने तथा नौ-सेना-संचालन के लिए जहाजी बेड़ों के लिए द्वीप में अड्डा बनाने और उसके संचालन का अधिकार अमरीका के लिए सुरक्षित था। इसके अतिरिक्त, दस वर्ष की अवधि के बाद भी द्वीप-समूह की स्थायी रूप से अतरराष्ट्रीय समझौते के आधार पर तटस्थ स्थिति कायम रखने की शर्त भी शामिल कर दी गयी थी। इस सबके कारण यह निष्कर्ष गलत होता कि फिलिपिनी राष्ट्रमंडलीय सरकार बनने के बाद तत्काल या कभी भी द्वीप के प्रति अमरीकी उत्तरदायित्व समाप्त होने की

स्थिति आ सकती थी। इससे तत्काल केवल यह हुआ कि अन्य राष्ट्रों की पृष्ठभूमि में अमरीका की स्थिति अनिश्चित-सी हो गयी।

सन् १९३१ व उसके बाद, जापान तथा संभवतः रूस को छोड़कर शेष देशों की नीतियाँ स्थायित्व की दिशा में प्रेरित थीं। तात्पर्य यह है कि ब्रिटेन, फ्रांस व नेदरलैंड अब प्रसारवादी नीतियाँ नहीं चला रहे थे। अमरीका के साथ, ये देश अपनी तात्कालिक राजनीतिक स्थिति की रक्षा में लगे थे। जैसा कि कहा जा चुका है, चीनी राष्ट्रीयता के दबाव के कारण चीन में यह स्थिति बदल रही थी। इस दृष्टि से, सन् १९३१ में, पश्चिम का ज्वार उतार पर था। फिलिपिनी द्वीप के बदले हुए राजनीतिक स्तर व तत्संबंधी अमरीकी नीति के परिवर्तन से चीन में पश्चिमी देशों की स्थिति पर प्रभाव नहीं पड़ता था। दूसरी ओर, चीन में हो रही तथा चीन के संबंध में हो रही घटनाओं का—चाहे वे आंतरिक रही हों या अंतरराष्ट्रीय-फिलिपिनी द्वीप सुदूरपूर्व के अन्य औपनिवेशिक क्षेत्रों के भविष्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव हो सकता था। सन् १९३१ के बाद यह प्रभाव जापान की चीन-संबंधी नीतियों तथा चीन में की गयी काररवाइयों के कारण अधिक पड़ा, चीनी राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप कम हुआ। इस प्रकार, जापान व जापानी प्रसार के संबंध में फिलिपिनी स्वतंत्रता एक समस्या बन गयी।

सन् १९३१ तक द्वीप-समूह में जापान की व्यापारिक स्थिति अमरीका के बाद सबसे अधिक मजबूत थी। इससे जापान को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ था, क्योंकि कुल व्यापार का यह केवल ७.२ प्रतिशत ही था। किन्तु यह स्पष्ट था कि जापान की व्यापारिक स्थिति इतनी गिरी होने का कारण अमरीका व द्वीप के बीच अबाध व्यापार से अमरीकी व्यापारियों को मिलने वाली वरीयता के कारण ही थी। यदि, विदेशी उत्पादकों के लिए 'उन्मुक्त द्वार' नीति अपनायी गयी होती तो द्वीप के बाजार का महत्त्व जापानी उत्पादकों के लिए बहुत बढ़ जाता। यदि फिलिपिनी सरकार अपने यहाँ जापानी बाजार के विस्तार को न रोकती या वहाँ सामान्य प्रशासन असफल न हो जाता—और इस प्रकार जापान को हस्तक्षेप करने का बहाना न मिल जाता—तो इस विस्तार से सुदूर-पूर्व की राजनीतिक शक्तियों का संतुलन बिगड़ने की कोई संभावना नहीं थी। इसके अतिरिक्त, जापानी विस्तार के क्षेत्र में स्वतंत्र फिलिपिनी राज्य के प्रवेश से भी यह राजनीतिक संतुलन बिगड़ सकता था। द्वीप-समूह को जापानी साम्राज्य में लाकर जापानी निर्यात के लिए वही वरीयता प्राप्त करने के लिए, जो पहले अमरीका को प्राप्त थी, द्वीप के व्यापार-प्रबन्धों पर नियंत्रण की इच्छा से भी संतुलन बिगड़ सकता था।

संभावनाओं की दृष्टि से, यह स्वीकार करना होगा कि संभाव्य बाजार के अतिरिक्त भी जापान की द्वीप में आर्थिक दिलचस्पी थी, और अब भी है। द्वीप में जनसंख्या बढ़ने

की गुंजाइश है। चीन, मंचूरिया तथा चोजेन में जिस निचले स्तर की प्रतियोगिता का सामना उसे करना पड़ा था, वह इस द्वीप में नहीं है और देशी जनता के मुकाबले में जापानी प्रवासी बहुत आसानी से टिक सकते थे। द्वीप के कुछ साधन प्रतियोगात्मक नहीं पूरक हैं और उनका शोषण जापान के लिए लाभदायक होता। अमरीकी निरीक्षण के समय ही दवाओ प्रान्त में सन के उत्पादन का जापान ने पूर्ण नियंत्रण कर रखा था। सन के अतिरिक्त द्वीप के लोहे, क्रोमाइट, लकड़ी, सोने आदि का भी जापान अपने साधनों के पूरक रूप में उपयोग कर सकता था। बाजार व शोषण हितों के अतिरिक्त, दक्षिणपूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागरीय क्षेत्रों के हवाई यातायात के केन्द्र के रूप में मनीला का महत्त्व बहुत बढ़ गया है और जिससे जापान व अन्य देशों के लिए उसका आर्थिक महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

इसके अतिरिक्त्र, उस समय जापानी साम्राज्य में शामिल फारमोसा के दक्षिणी छोर से फिलिपिनी द्वीप बहुत निकट थे। यदि द्वीप पर भी जापान का प्रभुत्व हो जाता तो जापान का सुरक्षात्मक परदा पूरा हो जाता और समुद्र के मार्ग से चीन में प्रवेश की संभावना समाप्त हो जाती। इससे जापानी संरक्षण के अन्य द्वीपों के शेष साम्राज्य से संबंधों में भी परिवर्तन होता। किन्तु, इस प्रकार के विस्तार से जापानी साम्राज्य का क्षेत्र दक्षिण-पूर्वी एशिया व प्रशान्त महासागर के क्षेत्र के ब्रिटेन व हालैण्ड के उपनिवेशों के बहुत निकट भी हो जाता। तब जापान व आस्ट्रेलिया के बीच केवल हॉलैण्ड के उपनिवेश ही व्यवधान रह जाते। इसके अतिरिक्त, जापान के फिलिपिनी द्वीप पर नियंत्रण स्थापित कर लेने से हिन्द-चीन में फ्रांस की स्थिति अ-धार्य हो जाती, विशेषकर, यदि दक्षिणपूर्वी चीन व हैनान पर भी जापानी नियंत्रण हो जाता। इससे यह निष्कर्ष स्पष्ट है कि फिलिपिनी द्वीप की स्थिति में कोई भी परिवर्तन, विशेषकर यदि इस परिवर्तन से अमरीका की जगह किसी अन्य औपनिवेशिक शक्ति द्वारा ले लेने की संभावना बढ़ती, तो सुदूरपूर्व व प्रशान्त क्षेत्र में हर पश्चिमी राष्ट्र की स्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण होता। सन् १९३१ से सन् १९४० तक जो परिस्थिति थी, जब जापान का विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर हो रहा था, उसमें फिलिपिनी द्वीप जापान के लिए ही रोक का काम कर रहे थे, अमरीका या किसी अन्य पश्चिमी देश के लिए उत्तर में चीन की ओर बढ़ने और अपने हितों का विस्तार करने के लिए अड्डे का काम नहीं कर रहे थे। इस प्रकार, सन् १९३१ के बाद सुदूरपूर्व की राजनीति में द्वीप-समूह की ऐतिहासिक भूमिका ही बदल चुकी थी।

(७) ब्रिटेन की स्थिति व हित

पूर्वी एशिया में जिन सामुद्रिक शक्ति वाले पश्चिमी देशों के क्षेत्रीय हित थे, उनमें से केवल अमरीका ही सन् १९३१ तक ऐसा था, जो इन क्षेत्रों से हट आने का विचार तक

कर रहा था। भारतीय राष्ट्रीयता के दबाव के कारण ब्रिटेन वहाँ डोमिनियन या औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने की दिशा में कुछ धीमी प्रगति अवश्य कर रहा था। उत्तरदायी शासन की स्थापना की ओर पहला कदम सन् १९०७-१९०९ के मिण्टो-मौर्ले सुधारों द्वारा उठाया गया था। सन् १९१४ के बाद ब्रिटेन के साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए महायुद्ध में भारत ने जो शानदार योगदान दिया, उससे भारतीय राष्ट्रीयतावादियों के दबाव के फलस्वरूप, सन् १९१७ में ब्रिटेन की सरकार ने आश्वासन दिया कि "ब्रिटेन के साम्राज्य के अविच्छिन्न अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की दिशा में कदम-कदम बढ़ने के लिए स्वशासन संस्थाओं का क्रमिक विकास" किया जायगा। इसके उपरान्त, सन् १९१८ में, मोण्टेग-चेम्सफर्ड प्रतिवेदन और सन् १९१९ में भारत-सरकार के नये कानून आये। इन कानूनों द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन-प्रणाली की व्यवस्था की गयी और कुछ विषय राज्यपाल व उसकी कार्यकारिणी-परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में रख दिये गये और कुछ निर्वाचित प्रान्तीय विधानसभाओं के उत्तरदायी मंत्रिमंडलों के सिपुर्द कर दिये गये। जहाँ तक पूरे देश के शासन का संबंध था वाइसराय का अबाध नियंत्रण था यद्यपि उसकी एक ऐसी सलाहकार-परिषद् की स्थापना की व्यवस्था की गयी थी, जिसमें कुछ सदस्य निर्वाचित होते और कुछ नामजद; इसके अतिरिक्त एक केन्द्रीय विधानसभा की भी व्यवस्था थी, जिसमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत था।

किन्तु इस कानून के बनने तक गंभीर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। कांग्रेस-दल द्वारा संगठित राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में आ गया था और उन्होंने विरोध के लिए सविनय अवज्ञा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध के उपाय निकाले थे। नयी व्यवस्था इस विरोध की पृष्ठभूमि में आयी। इस व्यवस्था का एक अंग दस वर्ष के भीतर, अनुभव के आधार पर इस व्यवस्था की जाँच व सुधार के सुझाव देने के लिए एक संसदीय आयोग का गठन भी था। अवधि समाप्त होने के दो वर्ष पूर्व ही आयोग—साइमन-आयोग—बना दिया गया। दुर्भाग्यवश, इस आयोग में कोई भारतीय सदस्य नहीं रखा गया और फलतः जाँच व सिफारिश के काम में आयोग को भारत का सक्रिय सहयोग बिलकुल प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि आयोग का प्रतिवेदन काफी बड़ा व सर्वांगीण था, उसकी सिफारिशों को भारतीय राष्ट्रीयतावादियों का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि उनमें स्वशासन या औपनिवेशिक स्वराज्य की व्यवस्था नहीं की गयी थी। प्रतिवेदन में प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त कर उत्तरदायी शासन का परिमाण बढ़ाने का सुझाव तो था, किन्तु केन्द्रीय शासन के संबंध में ऐसा कोई सुझाव नहीं था।

सन् १९२९ में ब्रिटेन में दूसरी बार श्रमिक दल की सरकार बनी और भारतीय जनमत को संतुष्ट करने के लिए, जो साइमन आयोग के गठन और उसकी सिफारिश से

अत्यधिक असंतुष्ट था, गोलमेज-सम्मेलन का सुझाव आया। भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य का आश्वासन ब्रिटेन से न मिलने के कारण पहले गोलमेज-सम्मेलन को महात्मा गांधी या उनके अनुयायियों का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। सविनय-अवज्ञा-आंदोलन चला और उसका इतना दबाव पड़ा कि सन् १९३१ में दूसरे गोलमेज-सम्मेलन के समय तक ब्रिटेन की नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। इस नीतिपरिवर्तन का एक कारण देशी राजाओं का पहले सम्मेलन के समय ही ब्रिटेन के आधिपत्य वाले भारत के साथ एक संघ बनाने का निश्चय और इसलिए ब्रिटेन के हितों की रक्षा का बेहतर साधन मिल जाना भी था; राष्ट्रीयतावादियों की तुलना में देशी राजाओं के हितों का साम्य ब्रिटेन के हितों के साथ ही था और अपेक्षा यह थी कि राजा अंग्रेजों के हितों की रक्षा करेंगे ही।

संसद् के विचारार्थ भारतीय संविधान प्रस्तुत होने के पूर्व तीन गोलमेज-सम्मेलन हुए। सन् १९३३ में भारतीय शासन के संबंध में एक श्वेत पत्र तैयार हुआ और सन् १९३५ में उसने कानून का रूप ले लिया। इस के अनुसार भारत के लिए संघीय शासन की व्यवस्था की गयी। संघ में मताधिकार कुछ विस्तृत हुआ और केन्द्र व प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की दिशा में कुछ और प्रगति हुई। किन्तु शासन के महत्त्वपूर्ण विषय अब भी विधान-सभाओं के अधिकार-क्षेत्र के बाहर थे। इस प्रकार पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य अब भी नहीं मिला और उसके लिए दबाव पड़ता रहा; सन् १९३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ जाने के कारण इस दबाव का प्रभाव बढ़ गया।

भारत की जिस राष्ट्रीयता ने औपनिवेशिक संबंध बदल दिये वह सुदूरपूर्व में जन्मी तो नहीं थी, किन्तु उस क्षेत्र की घटनाओं से उसे प्रेरणा अवश्य मिली थी। अपनी स्वतंत्रता कायम रखने तथा पश्चिमी राष्ट्रों से समता का स्तर प्राप्त करने में राष्ट्रीय जापान की सफलता, विशेषकर, सन् १९०४-१९०५ के युद्ध में रूस पर विजय से चीन व भारतीय राष्ट्रीयता को स्फूर्ति मिली थी। किन्तु इसके विपरीत, भारत के राजनीतिक विकास का बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक सुदूरपूर्व की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था।

किन्तु आर्थिक क्षेत्र में स्थिति भिन्न थी। राजनीतिक आंदोलन के साथ ही साथ भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए आर्थिक आंदोलन भी चल रहा था। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तथा उसके बाद अंग्रेजों ने बहुत पूँजी भारत में लगायी थी, साथ ही देशी पूँजी का भी विकास हुआ था। इससे भारत व ब्रिटेन के संबंधों में परिवर्तन तो हुआ ही था, सन् १९३० के बाद जापानी माल, विशेष कर वस्त्र, आना शुरू होने पर, उससे रक्षा में दिलचस्पी भी शुरू हो चुकी थी। आर्थिक दृष्टिकोण से भारत व ब्रिटेन के हित समान रूप से जापान-विरोधी थे, यद्यपि राजनीतिक दृष्टिकोण से जापान के उदाहरण से भारत के राष्ट्रीय आंदोलन को अंग्रेजों से स्वाधीनता प्राप्त करने की प्रेरणा मिली थी।

भारत व फिलिपिनी द्वीप-समूह में जिस प्रकार की राजनीतिक गतिविधि थी वह दक्षिणी-पूर्वी एशिया के उन देशों में—बर्मा छोड़ कर—कहीं भी परिलक्षित नहीं थी जहाँ अंग्रेजों का प्रभुत्व था। अंग्रेजों का नियंत्रण कायम ही नहीं था, सिंगापुर में मजबूत नौ-सैनिक व हवाई अड्डे बनने से वह सुगठित भी हो रहा था। औपनिवेशिक शक्ति के रूप में ब्रिटेन को कोई देशी चुनौती नहीं मिली थी, इसलिए, यद्यपि ब्रिटेन की अब क्षेत्रीय प्रसार की नीति नहीं थी, मलेशिया में पहले हुए प्रसार के फलस्वरूप प्राप्त क्षेत्र पर वह अपना आधिपत्य कायम रखने को दृढ़ संकल्प था। और, उस क्षेत्र में अन्य शक्तियों की जो स्थिति थी, ब्रिटेन को केवल खतरा तब हो सकता था जब जापान अपना प्रसार दक्षिण की ओर आरंभ कर देता। सन् १९३१ व उसके कुछ समय बाद तक ऐसी कोई संभावना नहीं दिखायी देती थी। जापान की दिलचस्पी के मुख्य क्षेत्र थे मंचूरिया व भीतरी मंगोलिया और वहाँ अंग्रेजों के हित अति सामान्य थे। दीवार के दक्षिण में राष्ट्रीयतावादियों के नेतृत्व में चीन खड़ा था। स्वयं चीन में ब्रिटेन के हित काफी गहरे थे। सन् १९३१ में चीन में जापान व ब्रिटेन की जितनी पूँजी लगी थी, वह लगभग बराबर-बराबर थी। जापान की अधिकांश पूँजी मंचूरिया में लगी थी, ब्रिटेन की चीन में, और पूँजी लगाने का मुख्य क्षेत्र था शंघाई। उन्नीसवीं शताब्दी भर ब्रिटेन व्यापार में अग्रणी रहा था, किन्तु हांगकांग को छोड़ दें, तो अब वह जापान व अमरीका से पीछे पड़ गया था। फिर भी, चीन में ब्रिटेन के पूँजी व व्यापार के हित इतने व्यापक थे कि उसका प्रभाव काफी था। चीनी राष्ट्रीयता ने जब दावे शुरू किये तो विदेशियों की स्थिति के पुनस्संगठन में ब्रिटेन ने प्रमुख भाग लिया था और इस प्रक्रिया में यह भी प्रकट हो गया था कि चीन में अपनी परंपरागत स्थिति कायम रखने की उसकी इच्छा अब भी कायम है। किन्तु सन् १९३१ में जो स्थिति थी, उससे प्रकट था कि आर्थिक व राजनीतिक दोनों दृष्टियों से चीन में ब्रिटेन अब विस्तारवादी नहीं, प्राप्त अधिकारों की रक्षा का इच्छुक ही है। किन्तु हितों की यह रक्षा जापान के विस्तार से नहीं, चीन की राष्ट्रीयता से थी, क्योंकि जापानी हित मूलतः मंचूरिया में केन्द्रित थे।

यदि टींटसीन में मिली रिआयत या शंघाई की अंतरराष्ट्रीय बस्ती को न गिना जाय तो एशिया में ब्रिटेन की क्षेत्रीय दृष्टि से सबसे उत्तर की चौकी हांगकांग ही थी। और सन् १९३१ में ब्रिटेन का हांगकांग से हटने या अपनी स्थिति के संबंध में कोई समझौता करने का कोई भी इरादा नहीं था। इस प्रकार मलेशिया के ब्रिटेन के अधिकार के क्षेत्रों को उत्तर से संकट होने की स्थिति में हांगकांग ही उसकी प्रथम, यद्यपि निर्बल, रक्षा-पंक्ति था। चीन में स्थित ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए भी वह एक फौजी अड्डा था। किन्तु रक्षा की दृष्टि से इसका महत्त्व चीन की स्थिति पर निर्भर करता था। किन्तु

हांगकांग के पीछे सिंगापुर तो था ही और ब्रिटेन के दक्षिणी उपनिवेशों व चीन या जापान के बीच समुद्र में फिलिपिनी द्वीप-समूह और महाद्वीप पर फ्रांसीसी हिन्द-चीन मौजूद थे। इस प्रकार ब्रिटेन की उत्तरी बोर्नियो, सरावाक, मलाया, सिंगापुर आदि उपनिवेशों में जो स्थिति थी उस पर हिन्द-चीन या फिलिपिनी द्वीप के स्थिति-परिवर्तन का प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार अमरीकी नीति का ब्रिटेन की सरकार के लिए बहुत बड़ा महत्त्व था। प्रशान्त महासागर के उसके उपनिवेशों के लिए भी इस नीति का काफी महत्त्व था, क्योंकि फिलिपिनी द्वीप-समूह तथा आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड के बीच केवल हालैण्ड के अधीन पूर्वी द्वीप-समूह ही थे। यदि फिलिपिनी द्वीप अपनी स्वतंत्रता अक्षुण्ण नहीं रख पाया और यदि, परिणामतः, वह किसी प्रसारवादी देश के नियंत्रण में आ गया तो संकट का विस्तार आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड तक हो जाता और इस प्रकार सुदूरपूर्व के शक्ति-संबंधों में ये देश भी निश्चय ही आ जाते।

(८) डच पूर्वी द्वीप-समूह

जापानी उपमा के अनुसार फिलिपिनी द्वीप डच अधिकार के पूर्वी द्वीप समूह के हृदय पर तनी हुई कटार था—और डच दृष्टिकोण से यदि यह कटार गलत हाथों में पहुँच जाती तो यह खतरनाक हथियार भी सिद्ध हो सकती थी। बहुधा यह भुला दिया जाता है कि प्रशान्त महासागर के पश्चिमी अंचल में हालैण्ड एक बड़ी औपनिवेशिक शक्ति के रूप में मौजूद था और उसके उपनिवेश वहाँ चार अक्षांशों में फैले हुए थे। उसके इस द्वीप-साम्राज्य का क्षेत्रफल ७,३३,४९४ वर्गमील था और जनसंख्या छः करोड़ से अधिक; यह क्षेत्र ब्रिटेन के अधीन पूर्वी एशिया से लेकर आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ था। पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैले हुए इस क्षेत्र से फिलिपिनी द्वीप का दक्षिणी भाग बहुत निकट था और सुदूरपूर्व के लिए यह एक कड़ी भी वन सकता था और अवरोध भी; कड़ी या अवरोध होना राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर था।

सन् १८१५ के वियना-सम्मेलन के उपरान्त उपनिवेशों की वापसी के बाद से उसके पूर्वीय साम्राज्य में हालैण्ड के आधिपत्य को किसी ने भी गंभीर चुनौती नहीं दी थी। इसका एक कारण तो यह था कि हालैण्ड यरोप या विश्व की राजनीति से संन्यास-सा ले चुका था। दूसरे उसने अपने साम्राज्य में प्रशासन सुचारु रूप से किया था और अन्य देशों को वहाँ शांति व व्यवस्था स्थापित करने के बहाने पहुँचने का अवसर नहीं मिला था। यूरोप के अन्य सशक्त देशों की प्रतिद्वंद्विता शुरू से ही चीन में शुरू हो जाने के कारण भी हालैण्ड अपनी वह स्थिति इस क्षेत्र में कायम रखने में समर्थ रहा था, जिसकी रक्षा की शक्ति उसमें नहीं थी। दूसरे शब्दों में, उन्नीसवीं शताब्दी व बीसवीं शताब्दी के पहले तीस

वर्षों में अन्य औपनिवेशिक शक्तियों के मुकाबिले में यदि हालैण्ड अपना साम्राज्य सुरक्षित रख सका तो यह अपनी शक्ति की बदौलत नहीं था।

और न यह इस कारण ही था कि उसके अधीन क्षेत्रों का मूल्य या महत्त्व ही इतना कम था कि अन्य देशों ने हालैण्ड को अछूता छोड़ दिया। बाजार की दृष्टि से क्षेत्र महत्त्वपूर्ण था और वहाँ के आयात सन् १९१३ में १७.५५ करोड़ डालर के थे, जो सन् १९२९ में बढ़कर ४३.१ करोड़ डालर के हो चुके थे। इस आयात का बड़ा भाग हालैण्ड से आता था, और अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी व जापान शेष भाग के लिए प्रतिद्वन्द्विता करते थे, जिसमें जापान लगातार आगे बढ़ रहा था; सन् १९३२ में जापान की ऐसी स्थिति हो चुकी थी कि वह हालैण्ड से भी आगे बढ़ने लगा था। किन्तु इस द्वीप-समूह का मुख्य महत्त्व वहाँ से शकर, चाय, कहवा, तम्बाकू, सुपारी जैसी कृषि उत्पत्ति तथा रबड़, खनिज तेल व पेट्रोल, टीन, नारियल व नारियल का तेल आदि औद्योगिक महत्त्व की वस्तुओं की प्राप्ति के कारण था। इस सबके कारण द्वीप-समूह व वहाँ के डच-प्रशासन में औद्योगिक देशों, विशेषकर जापान को बहुत दिलचस्पी हो गयी थी।

अपने उपनिवेशों में हालैण्ड का प्रशासन आर्थिक अधिक था, सामाजिक या राजनीतिक कम। तात्पर्य यह है कि सफल आर्थिक शोषण के लिए जितना हस्तक्षेप आवश्यक था, उससे अधिक हस्तक्षेप हालैण्ड वहाँ की देशी जनता के जीवन में नहीं करता था। कुछ भागों में यह प्रशासन देशी राजाओं के द्वारा होता था (जिन पर डच अधिकारियों का निरीक्षण रहता था) और अन्य भागों में डच स्वयं प्रशासन को अपने हाथों में लिये हुए थे। किन्तु जहाँ यह प्रशासन स्वयं डच अधिकारियों के हाथ में था, वहाँ भी वह देशी परंपराओं के अनुरूप और देशी मुखियाओं के द्वारा ही होता था। इससे पहले महायुद्ध के बाद तक हालैण्ड उन कठिनाइयों से बचा रह गया था, जो गणतंत्र व राष्ट्रीयता-संबंधी पश्चिमी विचारों को फैलाने से उत्पन्न होती थीं। दूसरी ओर, उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम २५ वर्षों में डच-प्रशासकों ने अपने अधीन देशी जनता की आर्थिक भलाई के प्रश्न में भी दिलचस्पी ली थी और नयी भूमि पर खेती शुरू करायी थी, सिंचाई का प्रबन्ध कर खेती की उपज बढ़ायी थी तथा देशी जनता के हितों व आवश्यकताओं को देखकर ही कृषि-प्रणाली का गठन किया था। यद्यपि भूमिका मुख्यतः शोषक की ही थी, जनता के हितों की ओर भी थोड़ा ध्यान दिया गया था।

इस प्रशासन से स्थायित्व लाकर तथा अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भाग न लेकर हालैण्ड-सरकार प्रभावकारी सैनिक या नौ-सैनिक शक्ति न रहते हुए भी अपना साम्राज्य कायम रखने में समर्थ हो गयी थी। इसका एक कारण यह भी था कि अन्य देश यह सोचते थे कि आर्थिक व राजनीतिक क्षेत्रों में जो प्रतिद्वन्द्वी हैं, उनके हाथों में जाने से अच्छा यही

है कि यह संपन्न क्षेत्र हालैण्ड के ही अधिकार में रहें। उदाहरण के लिए ब्रिटेन के हित में यही था कि जर्मनी या जापान की जगह इस क्षेत्र में हालैण्ड का ही अधिकार बना रहे। फिलिपिनी द्वीपों में अमरीका की जो स्थिति थी, उससे भी डच-क्षेत्रों को मूलतः सुरक्षा ही मिलती थी। किन्तु, सन् १९३१ के बाद जब जापानी साम्राज्य ने प्रशान्त महासागर व सुदूरपूर्व के क्षेत्रों में व्यापार व क्षेत्राधिपत्य के संबंध में आक्रामक नीति बरतनी शुरू की, तब उस क्षेत्र में दिलचस्पी रखने वाले अन्य देशों व हालैण्ड को एक नयी स्थिति का सामना करना पड़ा। फिर भी, यहाँ पर जिस बात पर जोर दिया जा रहा है वह यह है कि हालैण्ड भी अपने उपनिवेश छोड़ने के लिए बिलकुल तैयार नहीं था और इस बात में उसने अमरीका की फिलिपिनी नीति का अनुसरण करने की जगह ब्रिटेन की उपनिवेश-नीति का ही अनुसरण किया था।

(९) सुदूर पूर्व में फ्रांस

सुदूरपूर्व में क्षेत्राधिपत्य की दृष्टि से तीसरे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पश्चिमी देश, फ्रांस के संबंध में भी यही निष्कर्ष निकलता था। फ्रांसीसी हिन्द-चीन में कोचीन-चीन, कम्बोडिया, अन्नम, टोंगकिंग व लाओस के २,८४,९०० वर्गमील तथा २,१६,००,००० जनसंख्या (सन् १९३१ के आँकड़े) वाले क्षेत्र शामिल थे। इस प्रकार, फ्रांसीसी उपनिवेशों का यह सबसे बड़ा क्षेत्र ही नहीं था, वल्कि स्वयं फ्रांस से भी कुछ बड़ा और फ्रांस की आवादी की आधी आवादी वाला क्षेत्र भी था। इसके अतिरिक्त, इस क्षेत्र का महत्त्व आवादी या क्षेत्रफल में ही नहीं, वहाँ के आर्थिक साधनों में निहित था। चावल, काली मिर्च, चाय, दालचीनी जैसी कृषि-उपज के अतिरिक्त इस क्षेत्र से निर्यात होने वाली वस्तुओं में टीन, कोयला, रवड़, नारियल तथा जस्ता प्रमुख थे और जस्ते का तो यह प्रमुख निर्यात क्षेत्र था। सन् १९३१ में इस क्षेत्र का लगभग आधा आयात-व्यापार फ्रांस से था और इसका चौथाई निर्यात फ्रांस को होता था।

यद्यपि औपचारिक रूप से इस क्षेत्र में से केवल कोचीन-चीन ही उपनिवेश कहा जाता था और शेष संरक्षित क्षेत्र कहलाते थे, वास्तव में, यह सारा-का-सारा क्षेत्र ही फ्रांस के प्रशासकीय अधिकार में था, क्योंकि संरक्षित क्षेत्र में अधिकारियों के निर्देशन-अधिकार उतने ही प्रभावकारी थे, जितने कोचीन-चीन में राज्यपाल के। वास्तव में सारा प्रशासन गवर्नर-जनरल के अधीन केन्द्रीभूत था, जो हनोई में रहता था। सन् १९२३ के बाद उसके निरीक्षण-अधिकार दक्षिणी प्रशान्त महासागर के फ्रांसीसी आधिपत्य के द्वीपों तक में हो चुके थे। फ्रांस के आंतरिक शासन में उसकी स्थिति उपनिवेश-मंत्री की थी।

सन् १८८५ में टोंगकिंग के स्थायी रूप से चीन से अलग हो जाने के बाद से फ्रांस की

इस क्षेत्र में नीति यह थी कि प्राप्त क्षेत्रों को संगठित किया जाय, वहाँ के शासन में केन्द्रीकरण हो और सुदूरपूर्व के क्षेत्रों को फ्रांस में आत्मसात् कर लिया जाय। निश्चयं ही, संरक्षित क्षेत्रों में देशी प्रशासकीय ढाँचे को नाममात्र के शासकीय अधिकार देकर कायम रखा गया था और किसी हद तक उन्हें मजबूत भी बनाया गया था। जहाँ फ्रांस के हितों व आवश्यकताओं से विरोध नहीं था, वहाँ आंतरिक शासन स्थानीय परंपराओं व प्रथाओं के अनुरूप रखा गया था। चूँकि यह क्षेत्र क्रांतिकारी चीन से जुड़ा हुआ था और चूँकि श्याम स्वतंत्र होकर अपनी स्वाधीनता कायम रखे हुए था, इस क्षेत्र की जनता में, डच-उपनिवेशों की तुलना में बहुत अधिक मात्रा में पश्चिमी विचारों का समावेश हुआ था और फ्रांस को स्थानिक शासन-संस्थाओं की स्थापना की बढ़ती हुई माँग का सामना करना पड़ रहा था। इन माँगों की आंशिक पूर्ति गवर्नर-जनरल की परामर्शदात्री परिषद् स्थापित करके की गयी थी जिसमें स्थानीय प्रतिनिधि होते हुए भी स्थानीय देशी जनता के प्रतिनिधियों का अनुपात बहुत कम था। देशी संस्थाओं को मजबूत करके भी कुछ माँगों को टाला गया था। किन्तु इन प्रवृत्तियों के बावजूद, वास्तविकता यही थी कि, औपनिवेशिक शक्ति के रूप में फ्रांस की स्थिति को मजबूत करने की दिशा में ही काररवाई हो रही थी, वहाँ से हटने का कोई इरादा कहीं से प्रकट नहीं था।

टोंगकिंग में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद फ्रांस ने चीन के दक्षिणी-पूर्वी प्रान्तों की ओर अपनी निगाह डाली। फ्रांसीसी हिन्द-चीन से युन्नान प्रान्त जाने वाले रेल-मार्ग तथा क्वांग चू वान के पट्टा-क्षेत्र से यह प्रकट था कि फ्रांस चीन में अपने हितों व अपनी स्थिति की रक्षा में तत्पर है। रेलमार्ग-अधिकार, आर्थिक प्राथमिकताओं, पट्टा-क्षेत्रों तथा हैनान द्वीप के संबंध में इस समझौते से कि वह किसी अन्य देश को नहीं दिया जायगा, फ्रांस ने चीन में अपने हितों व दिलचस्पियों का एक अलग क्षेत्र बना रखा था। वाशिंगटन-सम्मेलन या उसके बाद के दशक में फ्रांस ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया था कि दिलचस्पी के अपने क्षेत्र में वह अपनी स्थिति का विकास—और संभव हुआ तो विस्तार—करना छोड़ देगा। इसके अतिरिक्त, टींटसीन व शंघाई में प्राप्त रिआयतों पर फ्रांस अब भी जमा बैठा था; चीन में पूँजी लगाने में भी फ्रांस की गहरी दिलचस्पी थी और जो पूँजी लगी थी, वह सीधी पूँजी लागत व सरकारी आभारों में लगभग बराबर-बराबर बँटी हुई थी। व्यापार में लगी कुल पूँजी सन् १९१४ में ६ करोड़ डालर थी जो सन् १९३१ में बढ़कर ९.५ करोड़ डालर हो चुकी थी, जब कि सरकारी आभारों में यह राशि, इसी अवधि में, गिर कर ११.१४ करोड़ से ९.७४ करोड़ डालर रह गयी थी। राजनीतिक दृष्टि से, इस राशि में, बेलजियम द्वारा लगायी गयी पूँजी जोड़ना भी आवश्यक है, जो बड़ी न होते हुए भी महत्त्वहीन नहीं थी। इस प्रकार, चीन में फ्रांस की भौतिक दिलचस्पी यद्यपि

कुछ अन्य देशों के अनुपात में ही कम हो रही थी, किन्तु तब भी वह काफी थी। किन्तु फ्रांस की स्थिति की मजबूत नींव हिन्द-चीन में ही थी। सुदूरपूर्व की घटनाओं के संबंध में फ्रांसीसी प्रतिक्रिया चीन-स्थित फ्रांसीसी हितों पर पड़ने वाले प्रभाव से नहीं, औपनिवेशिक साम्राज्य में फ्रांस की स्थिति पर पड़ने वाले प्रभाव से ही आँकी जा सकती थी।

(१०) संक्षेप

सन् १९३१ में पश्चिम की पूर्व में जो स्थिति थी, उसके संक्षिप्त विवरण में यह कहा जा सकता है कि एक ओर रूस के माध्यम से यूरोप उत्तरी एशिया में बढ़कर प्रशान्त महासागर तक पहुँच गया था और उसका प्रभुत्व दक्षिण में आमूर तक हो गया था, और दूसरी ओर, चीन की सीमा से लगे यूरोपीय उपनिवेश बीसवें दक्षिणी अक्षांश से लेकर पूर्व में प्रशान्त महासागर में फैले हुए थे। एशिया महाद्वीप से जापान दक्षिण की ओर फिलिपिनी द्वीप-समूह तक फैला हुआ था और स्वयं महाद्वीप पर, उसने कोरिया पर अधिकार, मंचूरिया में अधिभावी स्थिति व चीन में अन्य विदेशों की तुलना में बढ़ते हुए महत्त्व की आर्थिक दिलचस्पी पैदा करके, अपनी स्थिति बहुत मजबूत कर ली थी। फिलिपिनी द्वीप से हटने के अमरीकी निश्चय के बाद वहाँ के भविष्य के संबंध में एक प्रश्नवाचक चिह्न लगा हुआ था; और इसी प्रश्नवाचक चिह्न से ब्रिटेन, फ्रांस व हालैण्ड की भविष्य की नीतियों के प्रश्न-चिह्न भी जुड़े हुए थे, क्योंकि स्वतंत्र फिलिपिनी राज्य—एक ओर जापान व दूसरी ओर इन देशों के उपनिवेशों के बीच व्यवधान बन कर खड़ा हो रहा था। राष्ट्रीयता की भावना चीन में एकता व आधुनिकता की प्रक्रिया शुरू कर चुकी थी और इस प्रक्रिया के एक अंग के रूप में ही चीन में विदेशी हितों व दिलचस्पियों में बलात् परिवर्तन हो रहा था। एकता व आंतरिक संगठन से बढ़ती हुई शक्ति द्वारा चीन अपनी नियति व भविश्य पर स्वयं नियंत्रण करने और अंततः, सुदूरपूर्व की राजनीति में सबसे अधिक सबल शक्ति के रूप में उदय होने की दिशा में बढ़ रहा था। इस प्रयाण में, सैद्धांतिक दृष्टि से, उसे वाशिंगटन की नव-राष्ट्र-संधि से सहायता मिल रही थी, जिसमें उसे आश्वासन दिया गया था कि राजनीतिक अशांति समाप्त कर स्थायित्व प्राप्त करने और उससे सशक्त बन कर, संभवतः, अधिभावी स्थिति में आने के लिए उसे पूर्ण और अबाध अवसर दिया जायगा और विदेशी शक्तियाँ उसमें हस्तक्षेप न करेंगी। किन्तु उसी समय जापान की ओर से एक दूसरी ही धारा चलनी शुरू हो गयी, जिससे सुदूरपूर्व में दिलचस्पी रखने वाले सभी देशों व चीन की राजनीतिक समस्या ही बदल गयी।

परिशिष्ट

(पाद-टिप्पणियाँ)

अध्याय १

१. एस. डब्लू. विलियम्स—मिडिल किंगडम, जिल्द १, पृष्ठ २६३।

२. असैनिक सेवाओं-सम्बन्धी परीक्षा की प्रणालीं का आरम्भ हान राजवंश (ईसा पूर्व २०६ से २१४ ईसवी तक) के समय में हुआ, किन्तु यह सुव्यवस्थित हुई ति' आंग राजवंश (६१८–९०६ ईसवी)।

३. 'हवा और पानी' का सिद्धान्त। ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी और आकाश पर साधु और असाधु योनियों का प्रभाव होता है, अतः किसी गृह का निर्माण करने के लिए, या कब्र खोदने के लिए अथवा नगर का निर्माण करने के लिए भूमि का चुनाव करते समय इन बातों पर विचार कर लेना चाहिए।—के. एस. लातूरेते, दि डेवलपमेण्ट आव चाइना, पृष्ठ १२४।

४. गाँवों के नामकरण के प्रश्न पर ए. एच. स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'विलेज लाइफ इन चाइना', अध्याय ३ में भलीभाँति प्रकाश डाला है।

५. एन. बी. मोर्स—ट्रेड ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन आव चाइना, पृष्ठ ५१।

६. अध्याय ११ पृष्ठ २४९–२५० में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है।

७. सुधार-आन्दोलन पर आगे अध्याय ७, अनुभाग ८ में प्रकाश डाला गया है।

८. प्रभार की नियमित प्रणाली की व्यवस्था किय जाने के पूर्व प्रथम सन्धियों के काल तक की यह बात सही थी। आगे चलकर जब विदेशी माल पर लगनेवाले शुल्क से सम्बद्ध सेवा का पुनस्संघटन किया गया और उसमें निरीक्षकों के पद पर विदेशियों की नियुक्ति हुई तब कहीं जाकर भ्रष्टाचार का उन्मूलन हो सका।

९. स्थायी नियुक्ति की शर्त पर। देश के कुछ भागों में ऐसा रिवाज था कि मजिस्ट्रेट ही मुखिया के नाम का प्रस्ताव किया करता था। लेकिन इसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिए।

१०. पीछे पृष्ठ १२–१३ पर।

अध्याय २.

१. पूर्व की ओर रूस के प्रारम्भिक बढ़ाव के सम्बन्ध में देखिए, अध्याय १८, अनुभाग २।

२. एस. डब्लू. विलियम्स, मिडिल किंगडम, जिल्द २, पृष्ठ ३०३ ।

३. वही, पृष्ठ ३०७।

४. कोहोंग की स्थापना के बाद गवर्नर के अधीन सबसे प्रमुख अधिकार हो पो, जो राजस्वमंडल (हु पु) से लिया गया था और जिसके प्रति वह कैण्टन के सीमा-शुल्क आयुक्त के रूप में मुख्यतः जिम्मेदार था ।

५. टी. डेनेट—अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया, पृष्ठ ६३।

६. औसत आयात सन् १८०० से १८११ तक ४०१६ पेटियों का, १८११ से १८२१ तक ४४९४ पेटियों का (आई. मोर्स कृत इंटरनेशनल रिलेशंस, पृष्ठ १७६), १८२१से १८२८ तक ९७०८ पेटियों का, १८२८ से १८३५ तक १८७१२ पेटियों का (आई. मोर्स पृष्ठ १८२) था।

७. व्यापार अधीक्षक के रूप में जिन तीन व्यक्तियों की नियुक्ति हुई, उनमें लार्ड नेपियर वस्तुतः प्रथम व्यक्ति थे। चूँकि आरम्भ से अन्त तक वे ही अगुआ रहे, इसलिए इस तरह उनके नाम का प्रयोग हुआ है मानो ब्रिटिश प्रतिनिधि वे अकेले रहे हों।

८. एच. बी. मोर्स—इंटरनेशनल रिलेशंस, जिल्द १, पृष्ठ १२६-१२७ ।

९. मार्च १०, १८३९ ।

१०. वैसे प्रारम्भिक संघर्ष तो नवम्बर, १८३९ में ही हुए, किन्तु जून, १८४० में कहीं जाकर इतनी बड़ी सेना अंग्रेजों की इकट्ठी हो पायी कि युद्ध छेड़ा जा सके ।

११. डेनेटकृत 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' में उद्धृत, पृष्ठ १०७।

१२. डब्लू. सी. कास्टिन—ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड चाइना १८३३–१८६० (१९३६) पृष्ठ ४–७ ।

१३. डेनेट, पृष्ठ १६५; आई. मोर्स पृष्ठ ३२०–३२१।

१४. डी. एफ. सियांग—दि एक्सटेंशन आव इक्वल प्रिविलेजेज़ टु अदर नेशंस दैन दि ब्रिटिश आफ्टर दि ट्रीटी आव नानकिंग । चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १५, पृष्ठ ४४३। इसके पहले का उद्धरण भी पृष्ठ ४२८ पर दिये गये उसी लेख से है। चीनी सूत्रों के आधार पर लिखे गये इस लेख (पृष्ठ ४२२–४४४) में प्रश्न की भलीभाँति मीमांसा की गयी है। लेकिन उसी पत्रिका की जिल्द १६, पृष्ठ ७५–१०९ पर दिये गये टामस कार्ने के लेख 'दि सियांग डाकुमेंटस' में इससे भिन्न निष्कर्ष निकाला गया है।

१५. मुख्यतः इस कारण कि चीनी अधिकारी इस बात पर दृढ़ थे कि उन्हें 'किसी भी कीमत' पर पेकिंग जाने से रोका जाय।

१६. यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से अनुबद्ध नहीं थी और इसके कार्यान्वय के लिए परिषद्-आदेश शीघ्र ही जारी किये गये, किन्तु अंग्रेज वार्ताकारों ने यह समझ लिय था कि नानकिंग की सन्धि के अनुसार उनके नागरिकों को अपरदेशीयता के अधिकार प्राप्त हैं। अमेरिकन सन्धि में जो विस्तृत व्यवस्था थी उसके लिए विशेष रूप से इस कारण आग्रह किया गया था कि ब्रिटेन को हांगकांग देकर अलग से सुविधा प्रदान की गयी थी। जो भी हो, चीन के न्याय-प्रशासन में, जहाँ तक विदेशी नागरिकों का सवाल है, इतनी खामियाँ थीं कि अमेरिकनों को उससे टेरानोवा मामले के समय (१८२१) कठिनाई समझ में आयी और उन्होंने यह अनुभव किया कि विदेशी नागरिकों की रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

१८४४ से आजतक चीन में अपरदेशीयता के प्रश्न पर डब्लू. डब्लू. विलोबी ने 'फारेन राइट्स ऐण्ड इन्टररेस्ट्स इन चाइना', अध्याय २ में संक्षेपतः अच्छा विचार किया है। १८४४ की सन्धि के मूलपाठ के लिए देखिए—मेलाय, जिल्द १, पृष्ठ १९६–२१०।

१७. यह बात ध्यान में रखने की है कि सन्धियों के चीनी पाठ में 'नगर की भीतरी सीमा में' विदेशियों के निवास-संबंधी अधिकार की बात स्पष्ट रूप से नहीं आयी थी, यद्यपि कैण्टन म विदेशियों ने इस बात पर जोर दिया था। इसलिए कायदे से कहा जाय तो चीनियों की काररवाई से सन्धि की शर्तों की अवहेलना नहीं होती थी।

१८. झगड़े के समय तक उसकी रजिस्ट्री की अवधि समाप्त हो चुकी थी। लेकिन रजिस्ट्री का यह प्रश्न तो चीनियों ने अपनी बाद की काररवाइयों का औचित्य प्रमाणित करने के लिए मामले में सान लिया, क्योंकि उस समय तक उन्हें इसकी जानकारी नहीं थी। दूसरी बात यह कि जहाज उस समय हांगकांग जा रहा था, जहाँ उसके लाइसेंस का नवीनीकरण हो गया होता।

१९. ब्रिटेन और फ्रांस इस समय रूस के विरुद्ध एक हो गये थे (क्रीमिया का युद्ध)। इस प्रकार उनका यह सहयोग एक माने में पूर्व में भी अस्थायी यूरोपीय सहयोग के रूप में प्रकट हुआ।

२०. टाइलर डेनेट—अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया—पृष्ठ ५६१–५६३।

२१. प्रशान्त की ओर चीन के बढ़ाव के बारे में और विस्तृत विवरण अध्याय १८, अनुभाग १,२ में देखिए ।

२२. इन शक्तियों के प्रतिनिधि १८६० से ही पेंकिंग में रह रहे थे, किन्तु सम्राट् के पास तक उनकी प्रत्यक्ष पहुँच नहीं थी। विदेशी मामलों के सम्बन्ध में एक मण्डल (सुंगली यामेन) की स्थापना १८६१ में हुई, जो पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं था। इसके सदस्य प्रशासन की अन्य शाखाओं के प्रतिनिधि थे। इस मंडल के जिम्मे यह काम भी नहीं था कि वह बाहरी दुनिया के साथ सम्पर्क बढ़ाकर चीन का हित-साधन करे। इसके ठीक विपरीत यह बाहरी दुनिया से कम-से-कम सम्पर्क रखने की ही कोशिश करता था।

२३. १८९४ तक कितना परिवर्तन हो गया यह जानने के लिए देखिए, आगे अध्याय ३ अनुभाग ७ ।

अध्याय ३

१. इस प्रश्न पर वांग यू चुआन ने पैसिफिक अफेयर्स, जिल्द ९ के पृष्ठ २०१–२२० पर प्रकाशित 'दि राइज़ आव दि लैंड टैक्स ऐण्ड दि फाल आव डाइनेस्टीज़ इन चाइनीज़ हिस्ट्री' 'नामक लेख में अच्छी तरह विचार किया है।

२. डिप्लोमेटिक करेसपांडेंस, १८६४, पृष्ठ ८५९ से। टी. डेनेट ने 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' के पृष्ठ ३७५–३७६ पर इसे पूरे का पूरा उद्धृत किया है।

३. एच. बी. मोर्स—इंटरनेशनल रिलेशंस आव चाइनीज एम्पायर, पृष्ठ १८७ ।

४. डेनेट द्वारा पृष्ठ ३८५ पर उद्धृत ।

५. मोर्स—पृष्ठ २४२।

६. वही—पृष्ठ २४८।

७. वार्ड के मरने के वाद एक दूसरे अमेरिकन बर्गोविन को सेना की कमान सौंपी गयी। लेकिन इस व्यक्ति के मन में महत्त्वाकांक्षा जाग उठी, जो चीन सरकार के अधीन उसके सहायक अधिकारी के पद के अनुरूप नहीं थी, अतः बहुत दिन तक उसके हाथ में कमान नहीं रखी जा सकती थी। उसके विफल हो जाने पर अंग्रेजों ने कैप्टेन गार्डन को नामजद किया ।

८. मूलतः 'लिकिन' मतलब का ऐसा प्रभार जो माल के यातायात पर लगाया जाय। यह माल के मूल्य के हजारवें या अधिक भाग की दर से लगाया जाता था। लेकिन व्यापक रूप से तथा प्रचलित अर्थ में 'लिकिन' से वे सारे कर समझे जाने लगे जो अनेक रूपों में तथा अनेक राशियों में आन्तरिक व्यापार पर लगाये जाते

थे।——स्टैनली के. हार्नवेकचाइना टुडे : पोलिटिकल, पृष्ठ ४६०; नोट नम्बर ५ के रूप में एच. एस. क्विगले और जी. एच. ब्लेक्सली द्वारा 'दि फार ईस्ट' में पृष्ठ १२४ पर उद्धृत।

९. मोर्स——पृष्ठ ३०८।

अध्याय ४

१. प्राग्रेस आव आपान, पृष्ठ २१ ।

२. ग्युबिस——उपरि उद्धृत ग्रन्थ।

३. जी. बी. सैनसम——जापान ए कल्चरल हिस्ट्री (१९३१) पृष्ठ ४५५।

४. वही, पृष्ठ ४५७।

५. सैनसम ने उपरि उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ४६० पर एम. ताकिजावा की पुस्तक 'दि पेनिट्रेशन आव मनी इकानामी इन जापान (१९२७)' से विस्तृत उद्धरण दिया है।

६. वही——पृष्ठ ४६२

७. वही——पृष्ठ ४६०

८. व्यापारी वर्ग की वास्तविक स्थिति में हुए परिवर्तनों पर संक्षिप्त विचार के अतिरिक्त, देखिए पीछे, पृष्ठ ९२ ।

९. उपरि उद्धृत ग्रन्थ पृष्ठ ३८–३९ ।

१०. जे. डब्लू. फास्टर द्वारा 'अमेरिकन डिप्लोमेसी इन दि ओरियेन्ट' में पृष्ठ १५१–१५२ पर उद्धृत।

११. टी. डेनेट द्वारा 'अमेरिकंस इन ईस्टर्न एशिया' में पृष्ठ २६३–२६४ पर उद्धृत।

१२. डेनेट——उपरि उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २६४ ।

१३. फ़ास्टर——पृष्ठ १५२।

१४. जब तक अभियान की योजना परिपक्व हुई तब तक इसका मुख्य उद्देश्य सन्धि में दिये गये अधिकारों को कार्यान्वित कराने से बदलकर शोगुन के समर्थन में प्रहार करना हो गया। देखिए——पी. जे. ट्रीट, अर्ली रिलेशंस, अध्याय १०।

अध्याय ५

१. इसमें सबसे प्रधान चोशू निवासी किडो था। दूसरे लोग थे——सैगो, ओकुबो (सतसुमा सामुराय), इतागा की (तोसा) इतो (चोशू) और ओकुमा (हिज़ेन)। दरबार के अमीरों (अभिजातवर्गियों) के प्रतिनिधि राजकुमार इवाकुरा ने भी रेस्टोरेशन (पुनः स्थापन) और उत्तर-रेस्टोरेशन काल में प्रमुख भूमिका अदा की थी।

२. मैक-गोवर्न——माडर्न जापान, पृष्ठ ४६।

३. सांविधानिक आन्दोलन के सम्बन्ध में विचार करते समय इस शपथ और १८६८ के तथाकथित संविधान पर विचार किया जायगा।

४. मैके-लेरेन——पोलिटिकल हिस्ट्री आव जापान, अध्याय ३। मैक-लेरेन और नार्मन (जापांस इमर्जेंस ऐज़ ए माडर्न स्टेट, पृष्ठ ९४) दोनों का कहना है कि दाइम्यो को सामान्य राजस्व का आधा मिलता था। लेकिन दशमांश ठीक प्रतिशत प्रतीत होता है।

५. मैक-लेरेन——उपरि उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ७७।

६. वही——अध्याय ३।

७. देखिए——नार्मन, जापांस इमर्जेंस ऐज़ ए माडर्न स्टेट, पृष्ठ ९४–९६।

८. मैक-गोवर्न——माडर्न जापान, पृष्ठ ६१। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि विस्तार के सम्बन्ध में दूसरे वर्ग का विरोध इस कारण नहीं था कि वह इसको अवांछनीय मानकर अन्ततः अस्वीकार करता था, वरन् इसलिए कि वह पहले से पुनस्संघटन की आवश्यकता का अनुभव करता था। देखिए——आगे अध्याय ६।

९. मैक-गोवर्न——उपरि उद्धृत ग्रन्थ।

१०. यहां जिस अनुवाद का प्रयोग किया गया है, वह विलोनी और रोजर्स-कृत 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव गवर्नमेण्ट' के परिशिष्ट में मिलेगा।

११. बजट के सम्बन्ध में राजकुमार ईटों के विचार इतने रोचक और शिक्षाप्रद हैं कि उन्हें यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। उनका कहना है——'बजट एक प्रकार की माप है, जिसके अनुसार प्रशासनाधिकारियों को चालू वर्ष में व्यवस्था करनी चाहिए।......यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ठीक प्रकार से तैयार किया गया बजट वही है, जो बचत का न होकर घाटे का हो। यदि मंत्रियों से यह आशा नहीं की जाती कि वे कोई ऐसा खर्च, केवल इसलिए कि बजट में उसकी व्यवस्था नहीं है, करेंगे जो अनावश्यक हो तो ऐसा भी नहीं है कि विनियोजनों से अधिक या बजट में न दी गयी मदों या रकमों से अधिक खर्च करने में, जो अनिवार्य परिस्थितियों के कारण आवश्यक हो गया हो, उनके ऊपर कोई संविधानिक प्रतिबन्ध हो——स्टीड, जापान बाइ दि जापानीज़——पृष्ठ ५७।

१२. जैसा कि अध्याय ४ में बताया जा चुका है।

१३. इस बार वार्ता टोकियो के वजाय लन्दन में चली ताकि टोकियो की क्षुब्ध जनता उसे प्रभावित न कर सके।

१४. अध्याय ४, पृष्ठ ९७–९८।

१५. नार्मन—जापांस इमर्जेंस ऐज़ं ए माडर्न स्टेट, पृष्ठ १४३–१४४।

१६. वही, पृष्ठ १४४।

१७. लातूरेते—डेवलपमेंट आव जापान, पृष्ठ १६३।

अध्याय ६

१. अध्याय ४।

२. पहले चीन सरकार को अपना रुख निश्चित कर लेने की चेतावनी देने के बाद। सुंगली यामेन ने फ्रांसीसी राजदूत बेलोने से यह आशा प्रकट की थी कि फ्रांस मामले की तहकीकात और शान्तिपूर्ण वार्ता का कार्य अग्रसर करता रहेगा।—टी. एफ. सियांग, साइनो जापानीज़ रिलेशंस (१८७०–१८९४), चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १७, पृष्ठ ५३–५४।

३. सियांग, ऊपर उद्धृत ग्रंथ में, पृष्ठ ११।

४. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ६१।

५. टी. सी. लिन, ली हुंग-चांग—हिज़ कोरियन पालिसीज़ (१८७०–१८८५)। चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द १९, पृष्ठ २०३। प्रोफेसर लिन ने इसकी समानता आधुनिक युग में भी ब्रिटेन के औपनिवेशिक राज्यों और ब्रिटिश क्राउन (राजा) के बीच विद्यमान सम्बन्धों में ढूंढ़ निकाली है।

६. सियांग, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में, पृष्ठ ५३–५४।

७. मोर्स, इंटर नेशनल रिलेशंस, जिल्द ३, पृष्ठ ९।

८. मोर्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ९ पर। कमोडोर शुफेल्ट ने, ली के साथ हुए पत्राचार में, कहा था कि यतः कोरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है, अतः मैंने सन्धि वार्ता में चीन की सहायता प्राप्त कर ली थी। उन्होंने कोरिया के राजा का एक पत्र भी वाशिंगटन भेजा था, जिसमें कोरिया के राजा ने यह माना था कि कोरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है। यह दुर्भाग्य की बात है कि चीन की दृष्टि से इन पत्रों का कोई आधिकारिक महत्त्व नहीं था। इन सारे प्रश्नों के विस्तार से जानना हो तो देखिए—डेनेट, पृष्ठ ४५४–४६४ तथा सियांग, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ६८–७०। सियांग का कहना है कि ली हुंग-चांग ने कोरिया और पश्चिमी देशों के बीच में सन्धियाँ इसलिए सम्पन्न करायीं कि जापान प्रभाव-शून्य हो जाय।

९. हलबर्ट—पासिंग आव कोरिया, पृष्ठ ९३।

१०. मैक-केंजी—कोरियाज़ फाइट फार फ्रीडम, पृष्ठ २६–२७।

११. मोर्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ११। सियांग के अनुसार (ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में पृष्ठ ८०–८१) इस बार मुख्य प्रतिनिधि थे चेन-तांग। युआन शिह काई उस समय चीनी सैनिकों के कमाण्डर जनरल वु चाओ-यू के अधीन क्वार्टर-मास्टर पद पर थे। बाद में (१८८५ में) युआन रेज़िडेण्ट हो गये।

१२. मोर्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में, पृष्ठ १२ पर।

१३. श्री पेरिल के नाम २० मई, १८८० को सर आर. हार्ट द्वारा लिखा गया पत्र। मोर्स द्वारा पृष्ठ १६ पर उद्धृत।

१४. वही, पृष्ठ १८।

१५. ग्रेशम के नाम डेनबी का पत्र। फारेन रिलेशंस आव दि युनाइटेड स्टेट्स, १८९४, परिशिष्ट १, नंबर १२७, पृष्ठ २०।

१६. तिनत्सिन-सम्मेलन में पहले से नोटिस देने की बात तय हुई। लीहुंग चांग ने कहा कि मुझे यह सूचना मिल चुकी थी कि सैनिकों के प्रस्थान के पूर्व पेकिंग से नोटिस भेजी जा चुकी थी।

१७. इस बात को लेकर जापानी काररवाई पर काफी वाद-विवाद चला कि काउशिंग ब्रिटेन द्वारा भाड़े पर लिया गया जहाज था और उस पर ब्रिटिश झण्डा फहरा रहा था।

१८. सिवा इस बात पर विचार करने के कि चीन स्वयं इतना कमजोर और पिछड़ा था कि वह बाहरी हमले से न तो कोरिया की रक्षा कर सकता था न अपनी।

१९. ग्रेशम के नाम डेनबी का पत्र, फ़ारेन रिलेशंस आव दि युनाइटेड स्टेट्स, १८९४, परिशिष्ट १, नम्बर १७, पृष्ठ २४।

२०. युद्ध में पहली पराजय के बाद उसका मयूरपंख और पीत जैकेट उससे छिन गया तथा तिन्त्सिन के अपने पद से वह हटा दिया गया। लेकिन युद्ध का संचालन करते रहने के लिए उसे विवश किया गया।

२१. यह सन्धि २१ जुलाई १८९६ को हुई थी। इससे जापान को यह सुविधा हो गयी कि पश्चिमी राष्ट्रों की भाँति उसे भी चीन में सारी सहूलियतें मिल गयीं। इसके सिवा चीन ने जापान का यह अधिकार भी मान लिया कि वह सन्धि वाले बन्दरगाहों में अपने उद्योग खड़ा कर सकता है। 'अत्यन्त अनुग्रह प्राप्त राष्ट्र' वाली धारा के अन्तर्गत इस नये अधिकार का सामान्यीकरण किया गया। इसके परिणाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुए।

२२. डेनेट द्वारा पृष्ठ ४९९ पर उद्धृत।

अध्याय ७

१. सिवा उस अवधि के जब कि श्री बरलिंगम अमेरिकी दूतावास में प्रधान पद पर थे और जबकि नेतृत्व कुछ समय के लिए अमेरिकनों के हाथ में आ गया था।

२. अधिक विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, मेम्वायर्स, अध्याय ४।

३. ली हुंग-चांग पर यह भी आरोप है कि उसने लोभवश समझौता किया।

४. विलोबी—फ़ारेन राइट्स ऐण्ड इंटरेस्ट्स इन चाइना, पृष्ठ २९६-२९७।

५. ह्वाइट—मेम्वायर्स, पृष्ठ ९५।

६. 'चाइनीज़ ईस्टर्न' समझौते के अनुच्छेद १० के अनुसार यह व्यवस्था हुई कि चीन या रूस के बीच स्थल मार्ग से (रेल द्वारा) माल का जो भी आयात-निर्यात होगा उसके लिए सन्धि में तय जकात के अनुसार एक तिहाई काटकर शुल्क दिया जायगा। यह उम्मीद की गयी थी कि इससे व्यापार बढ़ेगा।

७. चीन इस बात के लिए तैयार हो गया कि शान्तुंग प्रान्त को विकसित करने के लिए यदि विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी तो वह पहले जर्मनी से माँगेगा तथा इस कार्य के लिए सामान भी जर्मनी से ही खरीदेगा। यदि जर्मनी की शर्तें भी अन्य देशों की भाँति ही अनुकूल हुई।

८. नियमित समुद्री सीमाशुल्क में हर १० में ४ के हिसाब से कमी की जाने की बात तय हुई।

९. ओवरलैच—फ़ारेन फिनांशल कण्ट्रोल इन चाइना, पृष्ठ ५।

१०. अध्याय ४, पृष्ठ ८८–९३।

११. वी. मूरकृत, डाइजेस्ट आव इण्टरनेशनल ला, पृष्ठ ५३५ (जर्मन सरकार के नाम प्रेषित पत्र से लिया गया)।

१२. इसके साथ ही यह इच्छा भी शामिल थी कि यदि शक्तियों के बीच चीन का विभाजन हुआ तो इस प्रदेश पर दावा किया जा सके।

१३. चीन के समुद्री सीमाशुल्क-सेवा में काम करनेवाले एक अंग्रेज श्री हिप्पस्ले के माध्यम से इस सर्कुलर की रचना में एक प्रकार से परोक्ष ब्रिटिश प्रभाव दिखाई पड़ता था। इसकी पूरी जानकारी के लिए देखिए, ग्रिस्वोल्डकृत 'दि फार ईस्टर्न पालिसी आव दि युनाइटेड स्टेट्स, अध्याय २। अमेरिकी नीति पर ब्रिटिश प्रभाव के बारे में उनके निष्कर्ष कुछ अतिरंजित प्रतीत होते हैं।

१४. हे-प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिए अन्य शक्तियों ने भी यह शर्त रखी।

१५. वी. मूर का डाइजेस्ट, पृष्ठ ५४५।

१६. चीन की एकमात्र आशा के रूप में अनूदित।

१७. मोर्स द्वारा दिये गये शासनादेशों की सूची, जिल्द ३, पृष्ठ १३७–१३९।

१८. वी. मूर का डाइजेस्ट, पृष्ठ ४८२।

अध्याय ८

१. यह दायित्व केवल इसलिए स्वीकार किया गया था कि जापान के विरुद्ध चीन की रक्षा की जाय, किन्तु चीन का यह समझना भी उचित ही था कि कम से कम रूस तो चीन का कोई भाग हड़पने की चेष्टा न करेगा।

२. पीछे, पृष्ठ १५२–१५३।

३. पीछे, पृष्ठ १६४।

४. यद्यपि प्रत्यक्षत: इस पर ३० जनवरी, १९०१ के पूर्व हस्ताक्षर नहीं हुए।

५. जापान सरकार ने आगे चलकर इस विशिष्ट स्थिति के लिए जोर डाला।

६. निश्चय ही, सिवा इसके कि हांगकांग पर पहले अधिकार कर लिया जाय। उसका शामिल होना अवश्य ही सामान्य एशियाई और साम्राज्यवादी गतिविधियों के अनुरूप था।

७. इसके सिवा यह भी था कि स्वयं यूरोप में इंग्लैण्ड और जर्मनी के सम्बन्धों में कटुता आती जा रही थी तथा यूरोप में कोई ऐसा राष्ट्र न था जिससे ब्रिटेन को पक्के समर्थन और सहायता का आश्वासन प्राप्त रहा हो। इसलिए जापान-ब्रिटेन सन्धि को विश्व तथा पूर्वी एशियाई रंगमंच की महत्त्वपूर्ण घटना समझना चाहिए।

८. आसाकावा—रूसो-जापानीज़ कानफ्लिक्ट, पृष्ठ २९८।

९. हार्नबेक—कानटेम्पोरैरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ २५३–२५४।

अध्याय ९

१. फ़ारेन फिनांशल कण्ट्रोल इन चाइना, पृष्ठ २७२।

२. मोर्स—ट्रेड ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन आव चाइना, ३१२–३२७। पृष्ठ २९७ के सामने जो सारणी दी हुई है वह देखने योग्य है।

३. अवश्य ही राजनय के कारण राष्ट्र की व्यापारिक और वित्तीय संस्थाओं का ध्यान ऐसे क्षेत्रों की ओर आकृष्ट हो सकता है जिनकी पहले उन्होंने उपेक्षा की हो तथा ध्यान जाने पर जिसमें नेतृत्व करने के लिए वे प्रवृत्त हो जायँ। एक ही बात जो वे नहीं कर सकते हैं वह है अपने नागरिकों के लिए सुविधाएँ प्राप्त कर लेना।

४. मैक-मरे—ट्रीटीज़ एटसेटरा, पृष्ठ १४–१५।

५. विलोबी——फ़ारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स इन चाइना, पृष्ठ ४८५–४८६।

६. आगे, पृष्ठ २५८।

७. समुद्री सीमा-शुल्क तथा कतिपय प्रान्तीय शुल्कों द्वारा भी प्राप्त। वैसे इनसे पहले भी युद्ध-संचालन के लिए ऋण प्राप्त हुआ था।

८. जापानी, फ्रांसीसी और रूसी व्यवस्थाओं में यही स्थिति थी।

९. पीछे, पृष्ठ १६७–१७०।

१०. जब तक कि हुकुआंग-ऋण का सारा ब्योरा तय नहीं हो गया।

११. मिलार्ड——अवर ईस्टर्न क्वेश्चन, पृष्ठ २५।

१२. विलोबीकृत 'फ़ारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स' में पृष्ठ ५०१ पर उद्धृत राष्ट्रपति विलसन की घोषणा से।

१३. यह उचित प्रतीत होता है कि क्रान्ति के बाद की चीनी वित्तीय समस्याओं पर यहाँ विचार न कर, आगे के अध्यायों में उन पर विचार किया जाय क्योंकि १९११ के बाद की राजनीतिक पद्धति के विकास के सन्दर्भ में इस पर विचार करने से बात सुविधापूर्वक समझ में आयेगी।

१४. जापान के हितों पर अध्याय १६ में अच्छी तरह विचार किया गया है।

अध्याय १०

१. अधोलिखित उद्धरण ब्लाण्ड और ब्लैक हाउसकृत 'चाइना अण्डर दि एम्परेस-डोवागर' पृष्ठ ४१९–४२४ से लिये गये हैं।

२. ऐसा समझा जाता है कि ली ऊआंगचांग के अधीन और नियंत्रण में आधुनिक ढंग की सेना थी, किन्तु इसे आधुनिक या राष्ट्रीय सेना नहीं माना जा सकता।

३. इस काल के सामाजिक और सामान्य आर्थिक परिवर्तनों पर अध्याय १२ में विचार किया गया है।

४. पीछे, पृष्ठ १७५–१७८।

५. आगे, पृष्ठ २४०–२४२।

६. चाइना ईयर बुक १९१२, पृष्ठ ३५३।

७. अमेरिकन फ़ारेन रिलेशंस (१९०८), नम्बर १००५, पृष्ठ १९२।

८. अमेरिकन फ़ारेन रिलेशंस (१९०८) नम्बर ९८९ में दिये गये विनियमों के अनुवाद से।

९. इस प्राधिकार का उपभोग उसे कुवांग सू की विधवा (नयी डोवागर सम्राज्ञी) के साथ मिलकर करना पड़ा।

१०. केण्ट—पासिंग आव दि मंचूज़, पृष्ठ ४३।
११. ब्लाण्ड—रिसेण्ट इवेण्ट्स ऐण्ड प्रेज़ेण्ट पालिसीज़ इन चाइना, पृष्ठ १४।
१२. ब्राउन—दि चाइनीज़ रिवोल्यूशन, पृष्ठ ३–४। इस बात पर जरा ध्यान दीजिए कि दुर्भिक्ष और सक्रिय क्रांति के स्थान एक ही थे।
१३. ब्लाण्ड, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १५।
१४. केण्ट, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ५८।
१५. वही, पृष्ठ ५९।
१६. वही, पृष्ठ ६०।
१७. राज्य-त्याग सम्बन्धी घोषणाओं के अनुवाद के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९१३), पृष्ठ ४८१–४८४।

अध्याय ११

१. राजनीतिक प्रणाली की जानकारी के लिए देखिए अध्याय १, अनुभाग ५।
२. नानकिंग परिषद् ही १९१३ के चुनावों तक सारा विधानी कार्य करती रही। इस चुनाव के फलस्वरूप ही सिनेट और प्रतिनिधि सभा अस्तित्व में आयी।
३. पीछे अध्याय १०, पृष्ठ २४६–२४७।
४. नानकिंग परिषद् द्वारा उस समय इस पद पर प्रतिष्ठित जब कि उसने युवान को राष्ट्रपति चुना। इसके साथ ही वह हुकुआंग के वाइसराय पद पर भी प्रतिष्ठित था।
५. विस्तृत विश्लेषण के लिए देखिए—विनाके, माडर्न कांस्टीट्यूशनल डेवलपमेंट इन चाइना (१९२२), पृष्ठ १४१–१४७।
६. बड़ी शक्तियों में केवल अमेरिका ने इस गणराज्य को मान्यता दी। तिब्बत का प्रश्न हल होने तक इंग्लैण्ड ने मान्यता रोक रखी थी।
७. मनोरंजक राष्ट्रपति-निर्वाचन-कानून में इसके लिए व्यवस्था की गयी थी।
८. प्रस्तावित संघटन का यही एक अंश था जो कभी अस्तित्व में नहीं आया।
९. देखिए, चाइना ईयर बुक (१९१६), पृष्ठ ६०६।
१०. आगे अध्याय १६, अनुभाग ४।
११. अध्याय १६, अनुभाग ५–६ में इन पर विचार किया गया है।
१२. नेशनल रिव्यू (चाइना), २८ अगस्त, १९१५।
१३. इस इश्तहार के अनुवाद के लिए देखिए—बी. एल. पुत्नम वील, दि फाइट फ़ार दि रिपब्लिक इन चाइना, अध्याय १०।

१४. युद्ध में चीन के योगदान के बारे में देखिए, आगे अध्याय १७।

१५. एच. एम. विनाके, माडर्न कांस्टीट्यूशनल डेवलपमेंट इन चाइना, पृष्ठ ३३८।

१६. इसमें घूस देना, सांसदिकों का मनोरंजन करना तथा संसद भवन के समक्ष सामूहिक प्रदर्शन भी शामिल हैं।

अध्याय १२

१. ऐरनाल्ड—चाइनाज़ पोस्टवार ट्रेड, एनल्स आव अमेरिकन एकेडेमी, नवम्बर १९२५, पृष्ठ ८२।

२. पिछले तीन वर्षों के उच्च निर्यात स्तर की अपेक्षा यह कम है, किन्तु १९२६ के मुकाबले अधिक है।

३. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६७१।

४. इस शर्त पर कि देशी उत्पादन उसी अनुपात में घटा दिया जाय।

५. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ५५२।

६. ये आँकड़े उस सारणी से लिये गये हैं जो जुलियन ऐरनाल्ड ने ऊपर उद्धत ग्रन्थ के पृष्ठ ८४ पर तथा ग्रोवर क्लार्क ने 'इकानामिक राइवलरीज़ इन चाइना (१९३२)' पृष्ठ १११ पर दिया है।

७. देखिए, इस अध्याय का अनुभाग ४।

८. ऐरनाल्ड—कामर्शियल हैंडबुक आव चाइना (१९१९), जिल्द २, पृष्ठ ३२२।

९. चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द ८, संख्या १ और २ में प्रकाशित जे० बी० टेलर का लेख 'चाइनीज़ रूरल इकानामी।' गरीबी की सीमा रेखा उन्होंने १५० डालर या इससे कम की वार्षिक आय पर रखी है।

१०. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २४४–२४५।

११. कई किस्मों में तो संस्थानों की संख्या १९२२ और १९३१ के बीच दूनी ही हुई, किन्तु कुछ में चौगुनी हो गयी।

१२. उद्योगीकरण के मार्ग में आनेवाली इन तथा अन्य प्रकार की बाधाओं की चर्चा पोलिटिकल साइंस क्वार्टरली, जिल्द ५२, पृष्ठ १८–५० पर प्रकाशित आर्चार्ड के 'कंट्रास्ट्स इन दि प्राग्रेस आव इण्डस्ट्रियलाइजेशन इन चाइना ऐण्ड जापान' में भलीभाँति की गयी है।

१३. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६५८ देखिए। जे० बी० काण्डलिफीकृत चाइना टुडे : इकानामिक, पृष्ठ १०५–११० भी देखा जा सकता है।

१४. टी. पी. मेंग और सिडनी गेंम्बल—प्राइसेज़, वेजेज़ ऐण्ड स्टैण्डर्ड आव लिविंग इन

पेकिंग (१९००–१९२४)। चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू जुलाई १९२६ के विशेषांक में प्रकाशित।

१५. वही, पृष्ठ ११०।

१६. वही, पृष्ठ १११।

१७. शंघाई चाइल्ड लेबरकमीशन की रिपोर्ट से। रिपोर्ट चाइना ईयर बुक (१९२४–१९२५)। पृष्ठ ५४५–५६१ पर पूर्ण रूप में प्रकाशित हुई है।

अध्याय १३

१. साइरस एच. पीक—नेशनलिज्म ऐण्ड एजुकेशन इन माडर्न चाइना, पृष्ठ ७१।

२. हु शिह—दि चाइनीज़ रेनेसाँ, पृष्ठ ७२–७३।

३. पीक, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ७१।

४. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६४३।

५. देखिए, चाइनीज़ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल साइंस रिव्यू, जिल्द ६, पृष्ठ ९७ पर प्रकाशित हुशिह का लेख। 'दि चाइनीज़ रेमेसां' नाम से प्रकाशित उनके विचारपूर्ण व्याख्यान भी देखे जा सकते हैं।

६. वही, पृष्ठ ९७।

७. वही, पृष्ठ ९९।

८. पीक, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३९ तथा उसके बाद के पृष्ठ। एम. टी. ज़ेड त्याउ कृत चाइना अवेकेंड, पृष्ठ ११ भी देखा जा सकता है।

९. सूटहिल—दि थ्री रेलिजंस आव चाइना, पृष्ठ ४९।

१०. सूटहिल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १४३।

११. वही, पृष्ठ १०८।

१२. चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ६१४।

१३. विलियम्स—चाइना येस्टर्डे ऐण्ड टुडे, पृष्ठ ३१०।

अध्याय १४

१. पीछे, अध्याय ५, अनुभाग ८।

२. ब्रायन—जापान फ्राम विदिन, पृष्ठ १९७।

३. इस कथन के सामान्यतया सच होते हुए भी यह बात जानने योग्य है कि प्राक्-आधुनिक युग के अनेक कालों में स्त्रियों की साहित्य तथा मनोरंजन विषयक गतिविधियाँ मान्य रही हैं।

४. अध्याय १५, अनुभाग ६।

५. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३९।

६. गुलिक--वर्किंग विमेन आव जापान, पृष्ठ १०५।

७. वही।

८. राबर्टसन-स्काट, फाउण्डेशंस आव जापान, पृष्ठ ३२९।

९. अध्याय १५, अनुभाग ९।

१०. राबर्टसन-स्काट, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ८८।

११. अध्याय १५, अनुभाग ७।

१२. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १४३।

१३. वही, पृष्ठ १४४।

१४. अध्याय १५, अनुभाग ४।

१५. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २४७।

१६. वही, पृष्ठ २१५।

१७. जापान ईयर बुक (१९२६), पृष्ठ १८७; (१९४०), पृष्ठ १५५; जापान-मंचूकुओ ईयर बुक (१९३७), पृष्ठ १३५-१३६।

१८. ब्रायन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ २६२।

१९. जापान ईयर बुक (१९२६)।

अध्याय १५

१. इस अध्यादेश में १९०८ में इस उद्देश्य से संशोधन किया गया कि सेवानिवृत्त अधिकारी काम पर लाये जा सकें, किन्तु इससे स्थल या नौ-सेना का नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ। आगे चलकर मूल व्यवस्था पुनः संस्थित हो गयी।

२. हार्नबेक---कांटेम्पोरैरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ १५२।

३. मे आइजी काल की समाप्ति के बाद। सम्राट् मत्सुहितो की मृत्यु १९१२ में हो गयी। उनके उत्तराधिकारी योशिहितो ने सिंहासनारूढ़ होने पर 'ताइशो' (महान् नीति परायण) की उपाधि ग्रहण की।

४. हार्नबेक, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १६७-१६८।

५. वही, पृष्ठ १६७।

६. इवासाकी---वर्किंग फोर्सेज़ इन जापानीज़ पालिटिक्स, पृष्ठ १०५।

७. जापान ईयर बुक (१९२१-१९२२), पृष्ठ ६२।

८. अध्याय ५, अनुभाग ८।

९. अध्याय १६ विशेष रूप से देखिए ।

१०. लैटन--एम्पायर्स आव दि फार ईस्ट, जिल्द २, पृष्ठ ९२६ ।

११. अध्याय १६, अनुभाग ३ ।

१२. सबसे अधिक निर्यात १९१७ में हुआ था जो कि ७,६९,१२९ कोकू था । पिछले १५ वर्षों के आयात सम्बन्धी आँकड़े घटते-बढ़ते रहे हैं--१९१६ में जहाँ यह ३,०९,१५८ ही कोकू था, वहाँ १९१८ में ४६,४७,१६८ कोकू था । जे. डब्लू. राबर्ट्सन-स्काट, फाउण्डेशंस आव आपान, पृष्ठ ३८८ ।

१३. ब्रायन--जापान फ्राम विद्नि, पृष्ठ ११८–११९ ।

१४. वृद्धि का यह क्रम १९३४ तक थोड़ी घट-बढ़ के साथ जारी रहा । इस अवधि में सर्वाधिक उत्पादन १९३३ में ७,०८,२९,११७ कोकू का था । आँकड़ों की विस्तृत जानकारी के लिंए देखिए, जापान-मंचुकुओ ईयर बुक (१९३७), पृष्ठ ३६६ ।

१५. राबर्ट्सन-स्काट, फाउण्डेशंस आव जापान, पृष्ठ ३७० ।

१६. वही, पृष्ठ १५३ ।

१७. राबर्ट्सन-स्काट, वही, पृष्ठ ३५९ ।

१८. वही, पृष्ठ ३५९–३६० ।

अध्याय १६

१. अध्याय ६ और ८ ।

२. अनुच्छेद ३ का मूलपाठ, जैसा कि जापान ईयर बुक (१९१५), पृष्ठ ५७० पर दिया हुआ है ।

३. जापान-ईयर बुक (१९२१-१९२२), पृष्ठ ५९०--५९१ ।

४. वही अपेक्षित स्थिति आगे के वर्षों में भी कायम रही । जापान ईयर बुक के बाद के संस्करण भी देखिए ।

५. इस दृष्टिकोण का विस्तृत प्रतिपादन कावाकानी और अडाची आदि लेखकों ने अपनी रचनाओं में किया है । क्लाइड द्वारा अपनी 'पुस्तक इण्टरनेशनल राइवलरीज़ इन मंचूरिया' में समस्या का जो विश्लेषण किया गया है वही इसका आधार है ।

६. टी. एफ. एफ. मिलार्ड जैसे अमेरिकन विधिवेत्ताओं की रचनाओं में भी यह दृष्टिकोण प्रकट हुआ है ।

७. देखिए, अध्याय ९ ।

८. २९ मई, १९१३ को हुए समझौते के अनुसार उन्हें नियमित सीमाशुल्क उगाही का दो-तिहाई ही देना पड़ता था ।

९. डाक-सुविधाओं का नियंत्रण भी इसलिए किया गया कि जिसमें विदेशियों को परेशानी हो और जापानियों को सहायता मिले ।

१०. हार्नबेक––कांटेम्पोरैरी पालिटिक्स इन दि फार ईस्ट, पृष्ठ २६२ ।

११. अन्तिम रूप से सर्वोच्च न्यायालय द्वारा १९२२ में निर्णीत । ताकाओ ओज़ावा बनाम संयुक्त राज्य अमेरिका ।

१२. देखिए, वील कृत इनडिस्क्रीट क्रानिकल फ्राम दि पैसिफिक ।

१३. अमेरिकन डिप्लोमैट इन चाइना, पृष्ठ १२३ । टी. ई. ला. फार्गुए कृत 'चाइना ऐण्ड दि वर्ल्ड वार' में हाल की ऐंग्लो-जापानी वार्ता का विवरण बहुत ही सावधानी के साथ दिया हुआ है ।

१४. अमेरिकन डिप्लोमेसी इन चाइना, पृष्ठ १२९ ।

१५. राइंस्ख, ऊपर उद्‌धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १३३ ।

१६. वही, पृष्ठ १३४ । पूँजीवादियों द्वारा समर्थित ओकुमा-सरकार की मूल माँगों में यह जो पाँचवाँ समूह सेना के दबाव से जोड़ा गया वह इस बात का स्पष्ट परिचायक था कि आर्थिक साम्राज्यवाद से भिन्न राजनीतिक साम्राज्यवाद का जोर ज्यादा है ।

१७. अध्याय ११ ।

१८. ए. डब्लू. ग्रिस्वोल्ड––दि फार ईस्टर्न पालिसी आव दि युनाइटेड स्टेट्स, पृष्ठ २१५-२१६ ।

अध्याय १७

१. वील द्वारा 'फाइट फार दि रिपब्लिक' में उद्‌धृत, पृष्ठ ३३२ ।

२. वील, पृष्ठ ३३४ ।

३. त्याऊ, चाइना अपेकेण्ड, परिशिष्ट बी, पृष्ठ ३९७ । सिनेट की परराष्ट्र सम्बन्ध समिति के समक्ष डाक्टर जान० सी० फर्गुसन द्वारा दिया गया वक्तव्य भी देखिए । फारेन राइट्स ऐण्ड इण्टरेस्ट्स इन चाइना (प्रथम संस्करण) नोट, पृष्ठ ३९२ पर विलोबी द्वारा उद्धृत ।

४. छात्र आन्दोलन के सम्बन्ध में अध्याय १३, अनुभाग ६ देखिए ।

५. इस बहिष्कार आन्दोलन का यह प्रभाव देखने में आया कि मई और सितम्बर के बीच जापान से सूत का आयात गिरकर १२ से ४ हजार पिकुल तक आ गया । अन्य पदार्थों का आयात भी इसी अनुपात में गिर गया था ।

६. चाइना ईयर बुक (१९२५), पृष्ठ ७८३–७८५ में दिये गये मूलपाठ से ।

अध्याय १८

१. मेम्वायर्स आव ए रिवोल्यूशन, पृष्ठ १६९ ।

२. अध्याय ७, अनुभाग २ ।

३. पहले तो पश्चिम के लोगों ने इस सैनिक टुकड़ी को बालशेविज्म का प्रतिकारक माना और यह आग्रह किया कि इसे हटाने के बजाय साइबेरिया पर नियन्त्रण स्थापित कर लेने दिया जाय। पहले तो इन लोगों ने इसे स्वीकार न किया, किन्तु जब इन पर हमला हुआ तो इन्हें अपनी प्रतिरक्षा करनी पड़ी। फलतः अनचाहे पर लोग साइबेरिया के मामले में फँस गये। इस देश पर उनका अधिकार तथा उनका यह कहना कि हमने पूँजीवाद के लिए इस पर कब्जा कर रखा है उनके लिए खतरनाक सिद्ध हुआ। रूसी उन्हें शंका और सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। वस्तुतः यही उनके लिए खतरनाक साबित हुआ न कि सशस्त्र जर्मनों और आस्ट्रियनों की उपस्थिति।

४. न्यूयार्क टाइम्स, करेण्ट हिस्ट्री, जिल्द ८, पृष्ठ ४६६–४६७।

५. वही।

६. ऐसा प्रतीत होता है कि यह काम अमेरिकी पूंजी के सामने चारा फेंकने के लिए किया गया। इसका उद्देश्य कदाचित् यह था कि रूस सरकार अमेरिका को सुविधा देकर इसके शोषण के लिए मार्ग प्रशस्त कर रही थी। उस वक्त यह कहा जा रहा था कि रूस की सरकार इस प्रकार जापान और अमेरिका को आपस में उलझा देने की आशा कर रही है।

७. निकोलेवस्क में हुए संघर्ष में कई सौ जापानी तथा बहुतेरे रूसी मारे गये। इस उपद्रव की बहुत कुछ जिम्मेदारी जापानियों पर है, जिन्होंने वहाँ स्थापित सरकार का स्वरूप निश्चित करने का प्रयास किया।

८. अनुच्छेद ५। मूलपाठ के लिए देखिए। मंचूरिया-सन्धियाँ और समझौते, कार्नेगी एनडाउमेण्ट फार इण्टरनेशनल पीस (१९२१), पृष्ठ ३२-३३।

९. अध्याय २०, अनुभाग १–३ ।

१०. फ्रांसीसी अनुवाद से अनूदित घोषणा के मूलपाठ के लिएं देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ८६८–८७०। यह जानने के लिए क्या यह उपवन्ध वस्तुतः मूल रूसी घोषणा में था तथा इस प्रश्न के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त करने के लिए देखिए आर. टी. पोलार्डकृत 'चाइनाज़ फारेन रिलेशन' (१९१७–१९३१), १९३३, अध्याय ५–६।

११. यह उपबन्ध एक उपबन्ध के रूप में बढ़ा दिया गया था जिसमें ऐसी ही सोव्रियत सन्धियाँ उसमें शामिल की जा सकें।

१२. इस समझौते का विरोध इस आधार पर किया गया था कि यह वाशिंगटन-सम्मेलन में स्वीकृत सिद्धान्तों के विपरीत पड़ता था। रूस में सुव्यवस्थित और एकीकृत राज्य की स्थापना तक अमेरिका ने उसको नैतिक संरक्षण देने का विचार अपनेपन में पल्लवित कर रखा था। संरक्षण का यह विचार चीनी-पूर्वी रेलवे के सम्बन्ध में कार्यान्वित भी किया गया था। अन्य पक्षों को अलग रखने का जो विरोध किया गया उसका कोई असर न हुआ। इस समझौते के अनुसार फ्रांसीसी बन्ध धारकों, रूसी एशियाई बैंक तथा मित्रों के नियन्त्रण काल में सामग्री और उपकरण आदि देने के कारण रेलवे प्रशासन पर दावा रखने वाले अमेरिकनों के हितों को संरक्षण देने की बात बिलकुल ही हवा हो गयी।

१३. इसके मूल पाठ के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२५), पृष्ठ ७९७–८००।

१४. अध्याय २०, अनुभाग ५।

अध्याय १९

१. हवाई सम्बन्धी अमेरिकी नीति के लिए देखिए, आई. पूरका डाइजेस्ट, पृष्ठ ४८३-४८८। यह बात कही जा सकती है कि इसमें और जापान की मंचूरियाई नीति में बहुत कुछ सादृश्य है।

२. इस अपवाद से ब्रिटेन को यह सुविधा प्राप्त हो गयी कि वह सिंगापुर की सुदृढ़ किलेबन्दी कर सके।

३. वाशिंगटन सम्मेलन के पहले और बाद में भी साइबेरिया की स्थिति के सम्बन्ध में पीछे अध्याय २८, अनुभाग ४–६ में विचार किया गया है।

४. कानफ्रेंस ऑन लिमिटेशन आव आरमामेंट, सिनेट डाकुमेंट नंबर १२६, पृष्ठ ४४४। आगे एस. डी. के सांकेतिक नाम से इसकी चर्चा की जायगी।

५. एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ४५४–४५५।

६. देखिए, अध्याय १६, अनुभाग २ तथा अध्याय ७, अनुभाग ७।

७. एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ६३०।

८. सिद्धान्तों और नीतियों के बारे में नौ शक्तियों के बीच हुई सन्धि के लिए देखिए एस. डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ८९५–८९६ पर उल्लिखित अनुच्छेद ३ और ४।

९. एक दूसरे अपवाद की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। वह है मौजूदा वायदों के बारे में प्रस्ताव। इसके अनुसार यह व्यवस्था हुई थी कि

चीन तथा विदेशी सरकारों के बीच जो भी समझौते हों उनकी शर्तों से सम्मेलन के सचिवालय को तथा शक्तियों को अवगत कराया जाय।

१०. चाइना ऐट दि कानफ्रेंस, पृष्ठ ३३८–३३९ ।

११. यह तय हुआ कि चीन उन सरकारी नोटों को जापान से छुड़ाने के लिए किसी विदेशी सूत्र से ऋण न लेगा ।

१२. अध्याय २०, अनुभाग ६ ।

१३. रिपोर्ट का मूल पाठ अमेरिकी परराष्ट्र विभाग ने प्रकाशित किया है (१९२७) । इसकी सिफारिशों के लिए देखिए, पृष्ठ १०७–१०९ ।

१४. मूलपाठ के लिए देखिए, एस डी. नम्बर १२६, पृष्ठ ८९७–९०१ ।

१५. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ८३७–८४९ तथा (१९२५), पृष्ठ १२९६–१३०० ।

१६. इसके अनुसार काररवाई करने का एक पक्षीय अधिकार प्राप्त हो गया।

अध्याय २०

१. ति'आंग लियांग–ली, इनर हिस्ट्री आव दि चाइनीज़ रिवाल्यूशन, पृष्ठ १३९ ।

२. सन–जाफ घोषणा के मूल्य पाठ के लिए देखिए, चाइना ईयर बुक (१९२४), पृष्ठ ८६३ ।

३. ति' आंग लियांग-ली, इनर हिस्ट्री, पृष्ठ १७७ । ति'आंग ने लिखा है कि सनयात सेन ने प्रेसिडेंसी (राष्ट्रपतित्व) को समाप्त कर देने का प्रस्ताव किया था, किन्तु प्रस्तावित दलीय संविधान पर रिपोर्ट देने के लिए जो समिति उन्होंने नियुक्त की थी उसने उनकी बात अनसुनी कर दी । ति'आंग का यह भी कहना है कि सनयात सेन ने दलीय संघटन का मसविदा स्वयं उपस्थित किया, जिसका मतलब यह हुआ कि इसे मैंने तैयार किया है, भले ही उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा न हो । इस प्रश्न पर तथा दलीय घोषणा-पत्र का मसविदा तैयार करने में रूसी प्रभाव पर राष्ट्रवादी चीनी लेखकों द्वारा व्यक्त किये गये मतों और लुई फिशर द्वारा 'दि सोवियत्स इन दि वर्ल्ड अफेयर्स' जिल्द २, पृष्ठ ६३६–६४० पर व्यक्त किये गये मत का तुलनात्मक अध्ययन मनोरंजक सिद्ध होगा ।

४. इस कागज़ की प्रामाणिकता और इसके प्रारूप के बारे में देखिए, एच. एफ. मैकनायर, चाइना इन रिवाल्यूशन, पृष्ठ ७९ । ति'आंग, इनर हिस्ट्री, पृष्ठ १९३–१९७ । इस 'वसीयत' का महत्त्व इसलिए उतना नहीं है कि इसमें क्या लिखा है, वरन् इसलिए है कि इसमें जिन कागज़-पत्रों की चर्चा आयी है उन्होंने राष्ट्रवादी चिन्तन को ठोस रूप दिया है।

५. यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस दृष्टि से जीवन-यापन के सिद्धान्तों के बारे में पहले दिये गये व्याख्यानों तथा बाद की अपूर्ण शृंखला वाले व्याख्यानों में स्पष्ट असंगतियाँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मारिस विलियम्स की पुस्तक 'सोशल इण्टर प्रिटेशन' पढ़ने के बाद सनयात सेन के विचार बदल गये।

६. यह १८ महीने तक जारी रहा।

७. हैंकाऊ और नानकिंग द्वारा अभियान जारी रखने का प्रयास किया गया, किन्तु इसमें इतनी ही सफलता मिली कि पहले जो कुछ हानि हुई थी उसके आँसू पुँछ गये।

८. हैंकाऊ सरकार द्वारा जब हैंकाऊ और क्यूकियांग में ब्रिटेन को प्राप्त सुविधाएँ रद्द कर दी गयीं तो उसकी परेशानी बढ़ गयी। टैंकाइ के परराष्ट्रमंत्री के रूप में यूजेन चेन ने जो घोषणाएँ कीं उनसे विदेशियों की आशंकाएँ कम नहीं हुई और न उन घोषणाओं का इरादा ही आशंका घटाने का था।

९. फेंग यू सियांग पीकिंग-तिन्त्सिन क्षेत्र पर कब्जा न कर ले, इस उद्देश्य से येन सि-शानको पहले ही उस पर अधिकार कर लेने का आदेश दे दिया गया।

१०. जापानी सैनिकों ने १९३७ में जब इस पर अधिकार कर लिया तो इसका नाम बदल कर पीकिंग कर दिया गया।

११. इसका मतलब था १९११ के बाद बनी हर सरकार के समक्ष उपस्थित मुख्य समस्या पर सीधा प्रहार।

१२. वहाँ वह राजनीतिक दृष्टि से १९३३ तक एक प्रकार से निष्क्रिय रहा। १९३३ में ही उसने जापान का लगातार विरोध करने की आवाज उठायी और युद्धविराम की शर्त पर समझौते की निन्दा की।

१३. इसी हैसियत में पहले हैंकाइ में वह रह चुका था।

१४. यह भी संभव था क्योंकि उसे शंघाई के बैंक मालिकों का विश्वास प्राप्त था।

१५. एच० एस क्विगले और जी. एच. ब्लैकसली रचित 'दि फार ईस्ट, ऐन इण्टर नेशनल सर्वे' पृष्ठ १६२।

अध्याय २१

१. लिटन आयोग द्वारा।

२. फ्रेडरिक वी-फील्ड द्वारा सम्पादित 'इकानामिक हैंडबुक आव पैसिफिक एरिया' १९३४, पृष्ठ ३५३। इस अध्याय में जो भी आँकड़े दिये गये हैं, सब इसी पुस्तक के हैं। प्रोफेसर सी० एफ० रेमर द्वारा अत्यन्त परिश्रम पूर्वक लिखी गयी पुस्तक 'फारेन इनवेस्टमेंट्स इन चाइना' (१९३३) भी देखिए।

३. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ ३६० ।

४. इनसाइक्लोपेडिया आव दि सोशल साइंसेज़, जिल्द १२, पृष्ठ ११०–१११ ।

५. ग्रेसन किर्क, फिलिपाइन इनडिपेंडेंस, १९३६, पृष्ठ ६० ।

६. किर्क, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृष्ठ १०३ । अध्याय ५ में कांग्रेस द्वारा इस प्रश्न पर हुए विचार का विश्लेषण किया गया है।

७. श्री मांटेगू द्वारा हाउस आव कामंस में दिये गये वक्तव्य से जी.एन. स्टाइगर द्वारा हिस्ट्री आव दि फार ईस्ट (१९३६), पृष्ठ ८०७ पर उद्धृत । मांटेगू–चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में इस बात की सिफ़ारिश की गयी थी कि सावधानी से, किन्तु अधिकाधिक अधिकार निर्वाचित केन्द्रीय और प्रान्तीय परिषदों को समर्पित किये जायँ। देखिए, इनसाइक्लोपेडिया आव दि सोशल साइंसेज, जिल्द ७, पृष्ठ ६६९ ।